श्री आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला-पुष्प

श्रीविद्यानंद-स्वामिविरचितः

त्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकारः

(भाषाटीकासमन्वितः)

[तृतीयखंड]

— टीकाकार —

श्रीतर्करत्न, सिद्धांतमहोदधि, न्यायदिवाकर, स्याद्वादवारिधि, दार्शनिकशिरोमणि,

श्री पं. माणिकचंदजी कौंदेय न्यायाचार्य.

— संपादक व प्रकाशक —

पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

(विद्यावाचस्पति-न्यायकाव्यतीर्थ)

ऑ. मंत्री आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला सोलापुर.

— मुद्रक —

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

कल्याण पॉवर प्रिंटिंग प्रेस, कल्याणभवन, सोलापुर.

संपादकीय वक्तव्य

पाठकोंके करकमलोंमें आज तत्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकारके तृतीय खंडको देनेमें हमें परम हर्ष होता है। हम जानते हैं कि इस खंडके प्रकाशनकी हमारे स्वाध्यायप्रेमियोंको कुछ अधिक समय प्रतीक्षा करनी पडी, जिसके लिए हम क्षमा चाहते हैं। गत वर्ष हमारे पूज्य ज्येष्ठ भ्राता पं. लोकनाथजी शास्त्रीके आकस्मिक वियोगके कारण हमारे ऊपर जो संकट उपस्थित हुआ, उससे मनस्थिति अनुकूल न रहनेके कारण हम इस कार्यमें अधिक योगदान न करसके। हमारी विकलताके कारण मनकी स्थिति उत्साह पूर्ण न थी, अन्य भी कुछ कारणोंसे इस कार्यमें विलंब हुआ। इस विवशताके लिए पश्चात्तापके सिवाय हम क्या कर सकते हैं।

प्रकृत-ग्रंथका महत्व

प्रकृत ग्रंथके महत्वको पुनः पुनः लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवदुमास्वामीका तत्वार्थसूत्र जैन तत्वज्ञानका प्राण है। हिंदू संप्रदायमें भगवद्गीताके लिए जो आदरणीय स्थान है, उससे भी अधिक महत्वपूर्ण स्थान जैन संप्रदायमें तत्वार्थसूत्रके लिए है। वह एक आदर्श आगम ग्रंथ है। इसीलिए अनेक उद्भट आचार्योंने उक्त ग्रंथका ही विवेचन गद्यपद्यात्मकरूपमें करनेमें ही अपने समय एवं बुद्धिकौशल्यका सदुपयोग किया है। महर्षि विद्यानंदस्वामीने भी इस परमागमके जटिल गुत्थियोंको अपनी स्वतंत्र शैलीसे सुलझानेके लिए इस ग्रंथकी रचना की है एवं तत्वजिज्ञासु बंधुवोंके लिए परम उपकार किया है, इसमें कोई संदेह नहीं है। संस्कृतके प्रगाढ विद्वानोंको मूल ग्रंथके अध्ययनसे परम आनंद होगा ही। परंतु इस संस्करणके प्रकाशनसे देशभाषाभिज्ञ स्वाध्याय प्रेमियोंका भी उपकार हो रहा है। जिसका श्रेय श्रीतर्करत्न, सिद्धान्तमहोदधि पं. माणिकचंदजी न्यायाचार्यको है, जिन्होने अत्यंत सरल, विस्तृत भाषा टीका लिखनेमें सतत वर्षों अथक परिश्रम कर अपनी विद्वत्ताका सदुपयोग किया है।

प्रथम खंडमें केवल एक सूत्रकी व्याख्या वार्तिकसहित दी गई है। दूसरे खंडमें आगेके सात सूत्रोंकी व्याख्या आगई है, 'सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनादि' सूत्रतकका विवेचन उस खंडमें हमारे प्रेमी पाठक देख चुके हैं। अब इस तीसरे खंडमें नौवें सूत्रसे लेकर २० वें सूत्रतक अर्थात् 'श्रुतंमतिपूर्वं द्व्यनेक द्वादशभेदम्' इस सूत्रतकका विवेचन आचुका है। करीब ६५० पृष्ठोंका हम एक एक भाग कर रहे हैं। इस हिसाबसे पहिले अध्यायकी समाप्तिमें और दो भाग होंगे अर्थात् प्रथमाध्याय पांच खंडोंमें समाप्त हो सकेगा, ऐसा अनुमान है। फिर नौ अध्याय शेष रहेंगे, उन्हे हम आगे दो खंडोंमें विभक्त करेंगे। इस प्रकार यह समग्र ग्रंथ सात खंडोंमें पूर्ण हो जायगा। इस वक्तव्यसे हमारे पाठक इस ग्रंथकी महत्ताका अनुभव किये बिना न रहेंगे। इसके प्रकाशनसे साहित्यसंसारका महदुपकार

हुआ है, इसे हम अपनी लेखनीसे लिखें यह शोभास्पद नहीं हो सकेगा। इसलिए हम समाजके प्रथितयश तीन महान् विद्वानोंकी सम्मति इस संबंधमें यहां उद्धृत करते हैं, जिससे इस प्रकाशनकी उपयोगिताका अनुभव होगा।

श्री न्यायालंकार, वादीभकेसरी, विद्यावारिधि, पं. मक्खनलालजी शास्त्री 'तिलक' आचार्य-गोपाल दिगंबर जैन सिद्धांत विद्यालय मोरेना

श्रीतत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कार, दि. जैन ग्रन्थोंमें एक महान् दार्शनिक ग्रन्थ है। तत्त्वार्थसूत्रपर उसे एक महाभाष्य कहा जाय तो उसके अनुरूप ही होगा। वह अत्यन्त गम्भीर एवं अत्यन्त क्लिष्ट है। ऐसे जटिल गहन ग्रन्थकी हिन्दी टीका जितनी सुंदर, सरल, एवं सफल बनी है, यह देखकर मेरा चित्त अतीव प्रमुदित हो जाता है। मैंने उसके प्रथम और द्वितीय भागकी उन क्लिष्टपंक्तियोंकी भी हिन्दी टीका देखी, जिनका मर्म अच्छे २ विद्वान् भी समझ नहीं पाते हैं। जैसा यह महान् ग्रन्थराज है वैसा ही महान् विद्वान् उसके हिन्दी टीकाकार हैं। सिद्धान्तमहोदधि, तर्करत्न, स्याद्वादवारिधि, न्यायदिवाकर, दार्शनिकशिरोमणि, श्रीमान् पं. माणिकचंदजी न्यायाचार्य महोदयको समाजमें कौन नहीं जानता है। वे प्रमुख विद्वानोंमें गणनीय विद्वान् हैं। उनका विद्वत्व प्रखर, सूक्ष्मतत्वस्पर्शी एवं शास्त्रीय-तलस्पर्शी है। हिन्दी टीकामें अनेक गुत्थियोंका उन्होंने सरलताके साथ स्पष्टीकरण किया है। कहींपर ग्रंथाशय विपरीत हुआ हो, अथवा ग्रंथनिहित तत्त्वोंका यथार्थतापूर्ण विशद अर्थ करनेमें कमी रह गई हो, ऐसा मुझे इस हिन्दी टिकामें कहींपर देखनेमें नहीं आया। इसलिए एक दार्शनिक महान् ग्रंथराजकी इस हिन्दी टीकाको मैं सांगोपांग, एवं महत्त्वपूर्ण समझता हूं। इस टीकाके करनेमें श्रीमान् न्यायाचार्य महोदयका कुशाग्र-बुद्धिबलपूर्ण परिश्रम अत्यंत सराहनीय है।

श्रीविद्वान् संयमी क्षु. सिद्धसागरजी महाराज

श्लोकवार्तिककी हिन्दी टीका मूलसहित सोलापुरसे प्रकाशित हो रही है। इस टीकामें जो विशद स्पष्टीकरण किया गया है, वह पं. माणिकचंद्र न्यायाचार्यकी अपूर्व प्रतिभा और अगाध विद्वत्ताका प्रतीक है। हमने इसका दो बार स्वाध्याय किया है, हमें बडी प्रसन्नता हुई। इसमें पण्डितों और त्यागीवर्गके सीखनेकी बहुतसी सामग्री है। पण्डितवर्यका प्रयास बहुत अंशोंमें सफल हुआ है। जो आत्माके सुखमय मार्गका अनुसरण करना चाहते हैं वे इसे पढकर अवश्य लाभ उठावें। समालोचक बालकी खाल भी निकाल सकता है। किन्तु उससे साहित्य प्रगतिको प्राप्त नहीं होता है। यहां हमने जो कुछ लिखा है वह गुणानुरागसे लिखा है। इसको पढकर आप यह विशेष प्रकारसे समझेंगे कि सद्धर्म किसी प्रकारसे भी कष्टप्रद नहीं होता है और रत्नत्रय धर्मसे होनेवाला सुख मोक्षसुखका ही अंश है। अरहंत सच्चा वक्ता है और वाद स्याद्वादरूप होनेसे

किसी भी प्रमाणसे बाधाको प्राप्त नहीं होता है, यह अच्छी तरह समझ सकते हैं। सम्यग्दर्शन आदिकके लक्षणका विवेचन जीको लगता है। वह तो कण्ठाग्र करने योग्य भी है और कार्यान्वित करने योग्य भी। उनके परिश्रमको जनता आदरभावसे देखें।

श्रीविद्वद्वर्य पं. अजितकुमारजी शास्त्री–संपादक जैनगजट देहली.

तत्त्वार्थसूत्र जैनदर्शनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। श्री विद्यानन्द आचार्यने इस सूत्र ग्रन्थपर संस्कृत भाषामें उच्च तार्किकढंगसे 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' नामक टीका ग्रन्थ लिखा है। श्लोकवार्तिक उच्च कोटिका न्यायका ग्रन्थ है, जो कि साधारण विद्वानोंके अगम्य है।

श्रीमान् तर्करत्न, सिद्धान्तमहोदधि, स्याद्वादवारिधि, न्यायदिवाकर पं. माणिकचंद्रजी न्यायाचार्य प्रसिद्ध तार्किक दार्शनिक विद्वान् हैं। आपने इस ग्रन्थका अध्यापन अनेक वार किया है। दि. जैन समाजमें इस समय जो विद्वान दीख रहे हैं, उनमेंसे अधिकांश विद्वानोंने प्रमेयकमलमार्तण्ड, अष्टसहस्री तथा श्लोकवार्तिक ये तीनों उच्च कोटिके ग्रन्थ पूज्य पंडितजीसे अध्ययन किये हैं। अतः श्लोकवार्तिक पू. पंडितजीका बहुत अच्छा अभ्यस्त ग्रन्थ है।

आपने इस ग्रन्थको संस्कृत भाषासे अनभिज्ञ विद्वानोंके लिये स्वाध्याय उपयोगी ग्रंथ बनानेके उद्देश्यसे इस दुर्बोधगहन ग्रन्थकी **तत्त्वार्थचिंतामणी** नामक सवालाख श्लोक प्रमाण सुन्दर सरल प्रामाणिक टीका लिखी है। संस्कृत भाषाको हिन्दी भाषामें अनुवाद करना कितना कठिन कार्य है, इसको भुक्तभोगी ही समझते हैं। फिर श्लोकवार्तिक जैसे महान् दार्शनिक तथा तार्किक संस्कृत ग्रन्थको हिन्दी भाषामें अनुवाद करना तो और भी अधिक कठिन कार्य है। इस दुष्कर कार्यको पूज्य पंडितजी ही कर सकते थे। पू. पंडितजीने श्लोकवार्तिककी टीका इस तन्मयतासे की है कि आपको इस तपस्यामें अपने सुखीजीवनके आधारभूत स्वास्थ्यकी अनेक वर्षोंतक उपेक्षा करनी पडी। किन्तु इस कठिन परिश्रमके फलस्वरूप जो अनुपम साहित्यिक भेट जैन समाजको मिली हैं, वह सुदीर्घ कालतक पंडितजी साहबका नाम सादर अमर रक्खेगी तथा विज्ञ मानवसमाजको उच्चकोटीका मानसिक भोजन प्रदान करती रहेगी।

यह टीका सरल, सुन्दर तथा प्रामाणिक है। प्रत्येक ग्रन्थभण्डारमें श्लोकवार्तिककी यह टीका तत्त्वार्थचिन्तामणी अवश्य विराजमान रहनी चाहिए।

उपर्युक्त विद्वद्रत्नत्रयोंके सुसम्मतिसे हमारे पाठक इस प्रकाशनका महत्व, उपयोग, श्रम, श्रेय सब कुछ समझ सकते हैं। किसी भी प्रकाशनका महत्व व समादर विद्वान् ही कर सकते हैं। क्योंकि सामान्यजनताको वह दुर्बोध विषय है। विद्वानोंने इस कृतिका सादर स्वागत किया है। इससे हम ग्रंथकार टीकाकार एवं प्रकाशकपरिवारके श्रमको सार्थक समझते हैं।

स्वविषय

इतने बडे प्रकाशनभारको अपने कंधेपर लेनेमें संस्थाने विशेष धैर्य दिखाया है, यह कहनेमें हमें संकोच नहीं होता है। प्रकाशन कार्यके लिए वर्तमानमें कितनी असुविधा है, सर्व साधन सामग्री मिलानेमें कितना कष्ट होता है, सर्व पदार्थोंकी कितनी महर्घता है यह सब जानते हैं ऐसी स्थितिमें भी इतने बडे ग्रंथके प्रकाशनका साहस हमारी संस्थाने किया है।

इस महान् ग्रंथके प्रत्येक खंडमें करीब ८ से ९ हजार रूपये तक संस्थाको खर्च करने पडते हैं। अर्थात् प्रत्येक पुस्तककी लागत कीमत ९) है। करीब ५०० प्रति हम हमारे सदस्योंको, त्यागी, विद्वान् एवं संस्थावोंको विनामूल्य भेट स्वरूप दे रहे हैं। अर्थात् पांचसौ प्रतियोंका मूल्य संस्थासे चला जाता है, एक पैसा भी वसूल नहीं होता है। बाकी रही हुई पाचसौ प्रतियोंकी पूर्ण बिक्री हुई तो हमारी आधी रकम उठ सकती है। २५) शेकडा कमीशन पुस्तक विक्रेतावोंको, विज्ञापन वगैरहका खर्च आदि करनेके बाद हमें लागतमूल्य भी नहीं मिलता है। जिसमें पांचसौ प्रति हमारे माननीय चुने हुए सदस्योंको पहुंचनेके बाद हमसे मूल्यसे मंगानेवाले तो कौन हैं, कुछ इन गिने स्वाध्यायप्रेमी मंगाते हैं। बाकी कुछ पत्र विना मूल्य भेजनेके लिए जरूर आते रहते हैं। ऐसी हालतमें बाकी बची हुई प्रतिया बिककर आधी रकम संस्थाके कोषमें जमा हो जाय, इसमें कितने समय लगेंगे, इसे पाठक स्वयं ही सोचें। अतः हम इस कार्यमें संस्थाके हानि लाभकी कोई भी बातको न सोचकर शुद्ध साहित्यप्रचारकी दृष्टिसे ही इस कार्यको कर रहे हैं। इसमें कर्तव्यपालनकी ही दृष्टि है, और कुछ नहीं। ऐसी स्थितिमें हमारे माननीय सदस्य एवं धर्म बंधुवोंसे कुछ निवेदन करना अपना परम कर्तव्य समझते हैं। यदि उन्होंने इस निवेदनपर ध्यान नहीं दिया तो संस्थाको हानि उठानी पडेगी। संस्थाको आपत्तिसे बचानेमें वे हमारी सहायता निम्न मार्गसे करेंगे ऐसी आशा हम करें तो अनुचित नहीं होगा।

(१) हमारे प्रेमी पाठक एवं माननीय सदस्य ग्रंथमालाके अधिकसे अधिक स्थायी सदस्य बढानेमें सहायता करें। प्रत्येक सदस्य आगामी खंडके प्रकाशनसे पहिले दो सदस्य बना देनेकी प्रतिज्ञासे बद्ध हो जाय तो एक वर्षके भीतर हजार स्थायी सदस्य बन सकते हैं। १०१) देनेवाले स्थायी सदस्योंको अभीतकके प्रकाशित ग्रंथोंमेंसे उपलब्ध १५-२० ग्रंथोंके अलावा तत्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारके पूरे सेट ८४) मूल्यके मिल जाते हैं। अर्थात् १०१) रूपये तो इस ग्रंथके प्रकाशनसे ही वसूल होते हैं। बादके ग्रंथ तो विनामूल्य मिलते ही जायेंगे। ऐसी हालतमें हमारे समाजके धर्मबंधु इस लाभप्रद ही नहीं, ज्ञानसमृद्धिकी योजनासे लाभ उठाकर संस्थाके स्थैर्यमें सहायता करेंगे ऐसी पूर्ण आशा है।

(२) जो स्थायी सदस्य नहीं बन सकते हों वे इस तत्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार ग्रंथकी कुछ प्रतियोंको लेकर समाजके विद्वान्, संस्थायें, जिनमंदिर, सार्वजनिक संस्थायें, जैनेतर जिज्ञासु विद्वान्,

साधुसंत, विदेशमें धर्मप्रचार आदिके लिये भेट देकर जैनतत्वज्ञानकी प्रभावनामें मदत करें। इस श्रुतसेवासे भी महान् कार्य होगा। इस रूपसे हमारे कार्यमें मदत कर सकते हैं।

(३) जो दानी सज्जन इस महान् कार्यके महत्वको जानकर अपनी ओरसे एक खंडके पूर्ण व्ययको देकर प्रकाशित कराना चाहते हैं, उसे हम साभार स्वीकार कर उनका चरित्र व चित्र उक्त खंडमें प्रकाशित करेंगे। जो पूर्ण भार लेना नहीं चाहें अंशतः हजार दो हजार ही मदत करना चाहें तो वह भी सधन्यवाद स्वीकृत होगा।

इस प्रकार धर्मप्रेमी सज्जन इस पवित्र कार्यमें विविध मार्गसे सहायता कर सकते हैं। हमारा कर्तव्य निवेदन करनेका है, किया है, देखें कौन आगे आते हैं। क्योंकि श्रुतभक्तिमें स्वयंस्फूर्तिसे प्रदत्त दानका ही यथार्थ फल होता है। श्रुतभक्तिका फल केवलज्ञानकी प्राप्ति है, अन्यथा वह अनंत–भवोमें भी दुर्लभ है।

इतनी सब कठिनाईयोंके बीचमें भी हम हमारी संस्थाके माननीय सुयोग्य अध्यक्ष **धर्मवीर रा. ब. केप्टन सर सेठ भागचंदजी सोनी** महोदयकी सतत प्रेरणा, सहानुभूति एवं सत्परामर्शपूर्ण सहायतासे इस कार्यमें आगे बढ रहे हैं। और शीघ्र ही आगेके खंडोंका भी प्रकाशन होकर पाठकोंके हात यह ग्रंथराज पहुंचेगा।

इस खंडका समर्पण.

हमने प्रथम खंडका समर्पण परमपूज्य प्रातःस्मरणीय विश्ववंद्य चारित्रचक्रवर्ति **आचार्य शांतिसागर महाराजके** करकमलोंमें, दूसरे खंडका समर्पण अनेकोपाधिविभूषित दानवीर ती. भ. शि. **सर सेठ हुकुमचंदजीके** करकमलोंमें उनकी हीरकजयंतीके अवसरपर किया था। इस तीसरे खंडका समर्पण श्रीमुनिराज **तपोनिधि आचार्य नमिसागर** महाराजके करकमलोंमें किया गया है। आचार्य महाराज आज कठिन तपस्वी एवं घोर परीषहजयी साधु हैं। उन्होंने उत्तरभारतके अपने विहारसे असंख्य जीवोंका कल्याण किया है। श्री परमपूज्य प्रातःस्मरणीय स्व. **आचार्य कुंथुसागर महाराजके** वे सहयोगी मुनिराज थे। उनके प्रति आपका विशेष आदर था। आचार्य कुंथुसागर महाराजकी स्मृतिमें संचालित इस संस्थापर भी पूज्य महाराजकी शुभाशिर्वादपूर्ण दृष्टि है। अतएव उनके करकमलोंमें आज यह ग्रंथ समर्पित हो रहा है। इसका हमें हर्ष है और इसमें औचित्य भी है।

प्रकृतखंडका विषयपरिचय

इस तीसरे खंडमें ' मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ' इस सूत्रसे प्रारंभ कर ज्ञानका स्वरूप और भेदोंका विवेचन किया है। वार्तिककारने प्रथमसूत्रकी व्याख्यामें मति आदिके क्रम पूर्वक कथनकी उपपत्ति दिखाकर मति आदियोंको यथार्थज्ञान सिद्ध किया है। इसी प्रसंगमें प्रत्येक पदार्थका स्वरूप सामान्य, विशेष, कथंचित् भेद, अभेदके रूपमें सिद्ध किया है। सामान्य विशेष

दोनों ही पदार्थके स्वरूप हैं एवं वे दोनों एकत्र अविनाभावरूपसे रहते हैं। मतिश्रुतादिकमें ज्ञान सामान्यपना होनेपर भी सभी अपने २ स्वरूपसे भिन्न हैं। इस बातको प्रतिपादन कर आचार्यने प्रत्यक्ष आदि सभी ज्ञानोंको स्वांशमें परोक्ष माननेवाले मीमांसकोंके, ज्ञानांतरोंसे ज्ञानका प्रत्यक्ष माननेवाले नैयायिकोंके, ज्ञानको अचेतन कहनेवाले सांख्योंके, मतका बहुत खूबीके साथ निरास किया है। पांचों ही ज्ञानोंके वैशद्यमें तारतम्य व क्रमवृद्धित्वका सयुक्तिक कथन यहां किया गया है। इस सूत्रकी व्याख्या ५८ वार्तिकोंसे की गई है। इससे आगे इन पांच ज्ञानोंको प्रमाण सिद्ध करनेके लिए आगेके सूत्रका अवतार किया गया है कि 'तत्प्रमाणे'। इस सूत्रकी व्याख्यामें आचार्य विद्यानंदि महोदयने १८५ वार्तिकोंकी रचना की है। सबसे पहिले पांचों ज्ञान प्रमाणस्वरूप हैं, यह सिद्ध करते हुए महर्षिने अन्य मतोंमें स्वीकृत एक दो तीन आदि प्रमाणोंमें प्रमाणके सभी भेद अंतर्भूत नहीं होते हैं। इसलिए इस सूत्रके द्वारा प्रमाणके स्थूल भेद व स्वरूपका स्पष्ट निर्देश किया गया है, इससे अन्य सर्व विवादोंका अंत हो जाता है। जड इंद्रियोंको प्रमाण माननेवालोंका भी निराकरण ज्ञानको प्रमाण माननेसे हो जाता है। वैशेषिकोंके द्वारा माना हुआ सन्निकर्ष भी प्रमाण नहीं है, सर्वथा भिन्न ऐसे ज्ञान और आत्मा भी प्रमाण नहीं है। प्रमिति, प्रमाण और प्रमाताका सर्वथा भेद नहीं है, सर्वथा अभेद भी नहीं है। कथंचित् भेद है। कथंचित् अभेद है, इत्यादि विवेचनके साथ स्याद्वादसिद्धांतसे इस विषयको बखूबी सिद्ध किया है।

बौद्धोंके द्वारा स्वीकृत तदाकारता भी प्रमाण नहीं है, तादूप्य, तदुत्पत्ति और तदध्यवसाय ये तीनों ज्ञानके विषयको अव्यभिचरितरूपसे नियम नहीं करासकते हैं। सन्निकर्ष और तदाकारता आदिमें भी अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेक व्यभिचार होते हैं। स्वसंवेदनाद्वैत भी प्रमाण नहीं हो सकता है, सम्यक्ज्ञानका प्रकरण होनेसे मिथ्याज्ञान, संशय आदिको भी प्रमाणता नहीं है। सम्यक्शब्दका अर्थ प्रशस्त है, अविसंवाद है। जितने अंशमें अविसंवादकत्व है उतने अंशमें प्रामाण्य है। मतिश्रुतको एकदेश प्रामाण्य है, अवधिमनःपर्ययको स्वविषयमें पूर्णरूपसे प्रमाणता है। केवलज्ञानको सर्व पदार्थोंमें सर्वांशमें पूर्णरूपसे प्रमाणता है, इत्यादि प्रकारसे ज्ञानपंचकमें प्रमाणपना किस प्रकार घटित होता है इसका विस्तृत विचार किया गया है। प्रसंगवश स्मृति प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान आदि भी इन्हीं प्रमाणद्वयमें ही अंतर्भूत होते हैं, उन्हे स्वतंत्र माननेकी आवश्यकता नहीं है, इसका विचार चलाकर प्रमाणकी उत्पत्ति स्वतः है या परतः, इसका भी विवेचन सयुक्तिक किया है। साथमें इस विषयपर अन्यदर्शनकारोंकी मान्यतापर भी विचार कर उसमें दोष दिया है। यहांपर विद्यानंद स्वामीकी प्रमाणाप्रमाणकी व्यवस्थाका निरूपणकौशल सचमुचमें हृदयंगम है।

अग्रिमसूत्रमें आदिके दो ज्ञान मतिश्रुत उसे परोक्ष प्रमाणके रूपमें समर्थन किया है। यहांपर आचार्यने अन्य वादियोंके द्वारा स्वीकृत अनेक प्रकारके फुटकर ज्ञानोंको केवल मतिश्रुतमें अंतर्भूतकर परोक्ष प्रमाणमें ही उन्हे गर्भित किया है।

परोक्ष व प्रत्यक्ष शब्दकी निरुक्तिके साथ मति श्रुतज्ञानको परोक्ष और शेष तीन ज्ञानोंको प्रत्यक्ष सिद्ध करते हुए अन्य वादियोंके द्वारा माने हुए सर्व लक्षणोंमें दोषका उद्घाटन किया गया है। इसके बाद 'मतिस्मृतिसंज्ञाचिंताभिनिबोध इत्यनर्थांतरम्' के प्रतिपादनसे मतिज्ञानका विस्तृत विवेचन किया है। स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदि जितने भी भेद दृष्टिगोचर होते हैं वे सब मतिज्ञानमें या मतिज्ञानके इन भेदोंमें अंतर्भूत होते हैं। इसलिए मतिज्ञानके इन प्रकारोंका नामनिर्देश किया है। स्मृति आदिकको नहीं माननेवाले वादियोंके सिद्धांतको उद्धृत कर उसमें अनर्थपरंपराका प्रदर्शन किया है। मतिज्ञान और उसके भेदोंको बहुत ही सुंदर विश्लेषणके द्वारा आवश्यक एवं अनिवार्य सिद्ध करते हुए महर्षिने करीब ४०० वार्तिकोंसे प्रकरणका विस्तार किया है, धन्य है।

इसी प्रकार मतिज्ञानके भेदोंको प्रतिपादन करनेके लिए ' अवग्रहेहावायधारणाः ' सूत्रकी व्याख्या करके मतिज्ञानका विषय, और तारतम्य आदिके द्वारा सुसंगत कथन किया है। इसी प्रसंगमें चक्षु और मनको अप्राप्यकारी सिद्ध करनेके लिए सिद्धांतसमर्थित युक्ति और तर्कसे आचार्य विद्यानंदि स्वामीने जो कौशल दिखाया है, उसे प्रकरणमें अध्ययन करते हुए परमानंद होता है। इस प्रकरणमें अन्य वादियोंकी मान्यताका भी सुंदर विवेचन किया गया है। मतिज्ञानके संबंधमें सांगोपाग, विस्तृत विचारके बाद मूलगत श्रुतज्ञानके संबंधमें, उसके भेदप्रभेदोंके संबंधमें विचार किया गया है। श्रुतज्ञानके अंगबाह्य अंगप्रविष्ट आदि भेदोंको प्रतिपादन करते हुए श्रुत- ज्ञानकी प्रामाणिकताको सुंदर ढंगसे सिद्ध किया है।

इसी प्रकरणके साथ यह भाग समाप्त होता है। इस प्रकार इस खंडमें अनेक महत्वपूर्ण प्रकर- णोंका विवेचन है। दो शब्दोंसे कहा जाय तो करीब ६५० पृष्ठोंमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका ही विचार है, इससे वार्तिककार और टीकाकारकी विद्वत्ता सहजवेद्य हो सकती है। उसके साथ ही मूल सूत्रकार उमास्वामी महाराजकी अगाधविद्वत्ताका भी पता लगता है। उन्होने गागरमें सागर भर दिया है। ग्रंथकी महत्ताका अनुभव उन प्रकरणोंको स्वयं स्वाध्याय करनेसे ही होता है। तत्वार्थसूत्रके मर्मको समझनेके लिए यह सबसे महान् ग्रंथ है। हिंदी टीकाकार विद्वान् पंडितजीने तो इस महान् कठिन ग्रंथ को सर्व साधारणके लिए भी सहजवेद्य बना दिया है, जिसे साहित्य- संसार कभी भूल नहीं सकता है।

आचार्यश्रीके प्रति श्रद्धांजलि

परमपूज्य, प्रातःस्मरणीय विश्ववंद्य आचार्य कुंथुसागर महाराजकी स्मृतिमें ही यह संस्था संचालित हो रही है। आचार्यश्रीकी आतरिक भावना यह थी कि जैनधर्मके द्वारा ही लोककल्याण हो सकता है, वही विश्वबंधुत्वको प्रस्थापित करनेके लिए समर्थ है, परंतु उसे लोकके सामने योग्य मार्गसे प्रतिपादन करनेकी आवश्यकता है, उसके मार्मिक तत्वोंके रहस्य विश्वके सामने खोलकर

रखनेकी जरूरत है। तभी यह सार्वधर्म आज भी विश्वधर्म सिद्ध हो सकता है। यदि यह कार्य जैनाचार्योंके द्वारा साध्य हुआ तो असंख्य भव्यजीवोंका कल्याण होगा, धर्मका उद्योत होगा, लोकमें शांतिका साम्राज्य स्थापित होगा। यथार्थ अर्थमें धर्मका साक्षात्कार होगा।

इसी दृष्टिकोणको सामने रखकर परमपूज्य आचार्यश्रीने करीब ४० ग्रंथोंका निर्माण अत्यल सरळ पद्धतिसे, लोकबोधके हेतु किया है जो कि ग्रंथमालाके तत्वावधानमें प्रकाशित हो चुके हैं। उन्हीकी भावनाके अनुरूप इस महत्प्रकाशनके कार्यमें भी हम आगे बढ रहे हैं। हमें सफलता मिल रही है, इसका हमें हर्ष है। इस सफलताका अभिमान हमें इसलिये है कि हमारे समाजके गुणग्राही विद्वद्वर्ग इस संबंधमें आनंद व्यक्त कर रहे हैं। स्वाध्यायप्रेमी संतोषकी सूचना दे रहे हैं, साधुसंत शुभाशीर्वाद दे रहे हैं। यह सब परमप्रभावक स्व. आचार्यश्रीके तपोबलका ही फल है। अतः इस अवसरमें हम पूज्यश्रीके परोक्ष चरणोंमें हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पण करते हैं।

हमारा निवेदन

इस गुरुतर कार्यमें सर्वश्रेणीके सज्जनोंकी सहायता अपेक्षणीय है। कार्य महान् है, शक्ति अल्प है। अतः प्रमादका होना सुतरां संभव है। हमारे हितैषी मित्र व गुरुजन विद्वज्जनोंसे यह निवेदन है कि वे समय समयपर इस कार्यके लिए उपयुक्त सूचना व परामर्श देते रहें। उनका परमादरपूर्वक उपयोग किया जायगा। प्रमादसे कोई दोष रह गया हो तो उसे प्रेमके साथ सूचित करें, ताकि उसका यथासमय संशोधन होसके, छद्मस्थ व्यक्तियोंसे सर्व गुणसंपन्न कार्यकी अपेक्षा करना ही एक महान् अपराध है।

इस परमपावन कार्यमें जिन २ व्यक्तियोंका हमें सहयोग प्राप्त हुआ उन सबका हम हृदयसे आभार स्वीकार करते हैं, एव पुनश्च उसी भावनाको दुहराते हैं कि श्रीमानोंकी सहायतासे, धीमानोंकी सद्भावनासे, गुरुजनोंके शुभाशिर्वादसे, साधुसंतोंकी शुभ कामनासे एवं सबसे अधिक परमपूज्य आचार्य कुंथुसागर महाराजके परोक्ष प्रबलप्रसादसे यह कार्य उत्तरोत्तर उत्कर्षशील हो एवं हम इस दर्शनसागरके तटपर त्वरित व निरंतराय पहुंचनेमें सफल हों, यही श्री अर्हत्परमेश्वरकी सन्निधिमें प्रतिनित्यकी प्रार्थना है।

विनीत—

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री.

ऑ. मंत्री—आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला सोलापुर.

——x——

श्रीविद्यानंद–स्वामिविरचितः

तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकारः

तत्त्वार्थचिंतामणिटीकासहितः

(तृतीयखंडः)

सम्यग्दर्शनके निरूपण अनन्तर सम्यग्ज्ञानका प्रकरण उठाते हैं प्रथम ही सम्यग्ज्ञानके भेदोंका प्रतिपादक सूत्र कहा जाता है।

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥ १ ॥

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, और केवलज्ञान ये पांच समीचीन ज्ञान हैं।

किमर्थमिदं सूत्रमाहेत्युच्यते—

इस सूत्रको उमास्वामी महाराज किस प्रयोजनके लिये कह रहे हैं, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्रीविद्यानन्द स्वामी करके उत्तर कहा जाता है।

अथ स्वभेदनिष्ठस्य ज्ञानस्येह प्रसिद्धये।
प्राह प्रवादिमिथ्याभिनिवेशविनिवृत्तये ॥ १ ॥

इस सम्यग्दर्शनके प्रकरणके अनन्तर अब अपने भेदोंमें ठहरनेवाले ज्ञानकी प्रसिद्धिके लिये और अनेक प्रवादियोंके झूंठे अभिमानसे हुये कदाग्रहकी निवृत्ति करनेके लिये यहां यह सूत्र स्पष्टरूपसे निरूपण किया गया है।

न हि ज्ञानमन्वयमेवेति मिथ्याभिनिवेशः कस्यचिन्निवर्तयितुं शक्यो विना मत्यादिभेदनिष्ठसम्यग्ज्ञाननिर्णयात् तदन्यमिथ्याभिनिवेशवत्, न चैतस्मात्सूत्राहते तन्निर्णय इति सूक्तमिदं संपश्यामः।

मति, श्रुत आदि भेदोंमें ठहरे हुए सम्यग्ज्ञानके निर्णय किये विना किसी वादीका ज्ञान अन्वयरूप ही है ऐसा झूठा आभिमानिक आग्रह कथमपि निवृत्त नहीं किया जा सकता है, जैसे कि उससे अन्य दूसरे चार्वाक, बौद्ध, आस्तिकोंके मिथ्या श्रद्धान नहीं हटाये जा सकते हैं, तथा इस सूत्रके विना मति आदि भेदवाले उस सम्यग्ज्ञानका निर्णय कैसे भी नहीं होता है। इस कारण यह सूत्र उमास्वामी महाराजने बहुत अच्छा कहा है, ऐसा हम भले प्रकार समझ रहे हैं। भावार्थ—अनेक मीमांसक आदि प्रवादियोंके यहां ज्ञानके विषयमें भिन्न भिन्न प्रकारके मन्तव्य हैं। कोई ज्ञानको अन्वय स्वरूप ही मानते हैं, सम्यग्ज्ञान, मिथ्याज्ञान, कोई भेद नहीं है। सब ज्ञानोंमें ज्ञानपना एकसा है। ज्ञान स्वयं परोक्ष है, ज्ञानजन्य ज्ञाततासे ज्ञानका अनुमान किया जा सकता है। बौद्ध प्रमाणज्ञानके प्रत्यक्ष परोक्ष दो भेद मानते हैं। श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान उनको इष्ट नहीं है। चार्वाक केवल इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षको ही मानते हैं। वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानते हुये ज्ञानको स्वसंवेदी नहीं इच्छते हैं। सांख्यमती प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण इन तीन ही प्रकारके ज्ञानको मानते हैं। नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शाब्द इन चार प्रमाणोंको मानकर दूसरे ज्ञानसे ज्ञानका प्रत्यक्ष होना अभीष्ट करते हैं। अर्थापत्ति और अभावसे सहित पांच, छः प्रमाणोंको माननेवाले प्रभाकर जैमिनीय मतके अनुयायी सर्वज्ञप्रत्यक्षका निषेध करते हैं। इन सब मिथ्याश्रद्धानोंकी निवृत्तिके लिये भेदयुक्त ज्ञानका सूत्रण करना अत्यावश्यक है। सभी मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान अपने स्वकीय ज्ञानशरीरको भी अर्थके समान उसी समय जान लेते हैं, ज्ञानके इस स्वप्रकाशकत्व धर्मको जैन ही स्वीकार करते हैं। यद्यपि ब्रह्माद्वैतवादी भी ज्ञानको स्वसंवेदी मानते हैं, किंतु उनके यहां निरंश एक एक ज्ञानमें भत्ता, वेद्य, वेदक, वित्ति, ये तीन अंश कहां सिद्ध हो सकते हैं? यह तो स्याद्वाद सिद्धान्तकी ही अपार महिमा है जो कि एकमें प्रसन्नतापूर्वक अनेक समाजाते हैं।

किं पुनरिह लक्षणीयमित्युच्यते;—

फिर इस प्रकरणमें किसका लक्षण करने योग्य है? ऐसी आकांक्षा होनेपर कहा जाता है कि—

ज्ञानं संलक्षितं तावदादिसूत्रे निरुक्तितः।
मत्यादीन्यत्र तद्भेदाल्लक्षणीयानि तत्त्वतः॥ २॥

आदिके " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः " इस सूत्रमें ज्ञान तो ज्ञान शब्दकी निरुक्तिसे भले प्रकार लक्षणयुक्त कर दिया गया है। वहांसे उसका अवधारण कर लेना। यहां उस ज्ञानके प्रकार होनेसे मति, श्रुत, आदिकोंका तो वस्तुतः लक्षण करना चाहिये। " यथा नामा तथा गुण " इस नीतिसे मति आदिकोंका भी प्रकृति प्रत्ययद्वारा निर्वचन करके निर्दोष लक्षण बन जाता है।

न हि सम्यग्ज्ञानमत्र लक्षणीयं तस्यादिसूत्रे ज्ञानशब्दनिरुक्त्यैवाव्यभिचारिण्या लक्षितत्वात्, तद्भेदमाश्रित्य मत्यादीनि तु लक्ष्यंते तन्निरुक्तिसामर्थ्यादिति बुध्यामहे। कथं ?

इस अवसर पर सम्यग्ज्ञानका लक्षण करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि उसका आदिसूत्रमें ही ज्ञान शब्दकी व्यभिचारदोषरहित निरुक्ति करके लक्षण किया जाचुका है। हॉं, उस ज्ञानके भेदोंका आश्रयकर मति, श्रुत, आदिक ज्ञान तो उनकी शब्दनिरुक्तिकी सामर्थ्यसे लक्षणयुक्त होजाते है, इस प्रकार हम समझ रहे हैं। तभी तो ग्रन्थकार श्री उमास्वामी महाराजने सम्यग्दर्शनके समान मति आदिकोंके न्यारे न्यारे लक्षण सूत्र नहीं बनाये हैं। शब्दनिरुक्तिका व्यभिचार हो तब तो रूढि अर्थ करना समुचित है, अन्यथा नहीं। मति आदिका शब्दनिरुक्तिसे ही लक्षण कैसे निकलता है ? सो सुनिये–

मत्यावरणविच्छेदविशेषान्मन्यते यया।
मननं मन्यते यावत्स्वार्थं मतिरसौ मता ॥ ३ ॥

मति ज्ञानको आवरण करनेवाले कर्मके क्षयोपशमरूप विशेषविच्छेद होजानेसे जिस करके अवबोध किया जाता है वह मति है " मन–ज्ञाने " इस दिवादिगणकी धातुसे करणमें क्तिन् प्रत्यय करके मति शब्द साधा गया है। आत्माका स्व और अर्थकी ज्ञप्तिका साधकतमरूप परिणाम विशेष मतिज्ञान है अथवा मननं मतिः इस प्रकार मन धातुसे भावमें क्ति प्रत्यय कर मति शब्द बनाया गया है। आत्माकी अर्थोंका जाननारूप परिणति मति ज्ञप्ति है अथवा मन्यते या सा इति मतिः, जबतक स्वका यानी स्वयं ज्ञानका और अर्थका आत्मा ज्ञान करता है वह आत्माका स्वतंत्रपरिणाम मतिज्ञान माना गया है। इस प्रकार कर्त्तामें क्ति प्रत्यय कर स्वतंत्र आत्मा परिणामी मतिज्ञान होजाता है। इन तीन निरुक्तियोंसे पर्याय और पर्यायीकी भेद अभेदविवक्षा होजानेपर स्वतंत्रता, निर्वर्त्यपना, शुद्ध धात्वर्थरूप आदि परिणतियां घटित होजाती हैं। अत. स्याद्वाद सिद्धान्तमें कोई विरोध नहीं है। देवदत्त हाथसे अपने शिरको दाब रहा है। वृक्ष फलोंके बोझसे शाखाओंको झुका रहा है। आदि स्थानोंपर स्वतन्त्रता और परतन्त्रताकी विवक्षायें वस्तुपरिणतिके अनुसार होजाती हैं।

श्रुतावरणविश्लेषविशेषाच्छ्रवणं श्रुतम्।
शृणोति स्वार्थमिति वा श्रूयतेस्मेति वागमः ॥ ४ ॥

श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमरूप विगमविशेषसे श्रवण करना श्रुत है। यह भावमें क्त प्रत्यय करके श्रुत शब्दको साधा गया है। इससे वाच्य अर्थकी शब्दजन्य प्रतिपत्ति करना श्रुतज्ञान पडा। अथवा जो स्वतन्त्रतासे स्व और अर्थको संकेत गृहीत किये गये शब्द द्वारा सुनता है वह श्रुत है। यह कर्तामें क्त प्रत्यय कर श्रुत शब्द बनाया जाता है अथवा जो वाच्य अर्थ आप्त वाक्य द्वारा सुना

जा चुका है, वह अपने और बाह्य अर्थको जाननेवाला आगमज्ञानरूप श्रुतज्ञान है। इस प्रकार कर्ममें क्त प्रत्यय कर श्रुतज्ञानका लक्षण किया गया है। अनेकान्त मतके अनुसार एक द्रव्यकी अनेक प्रकार परिणतियां होती हैं। एक मनुष्य शरीरमें विराजमान आत्मा कहीं तो अपने प्रयत्नसे रक्त प्रवाह कर रहा है। क्वचित् धातु उपधातुओंको रोक कर साधे बैठा है। कहीं पसीना, मल, आदिके बढ जानेपर उनको निकाल देता है। फोडा, फुंसी होजानेसे उस स्थानपर अपनी सहायता (मदद) भेजता है। भुक्त पदार्थका पित्त, अग्नि द्वारा पाचन कर प्रत्येक स्थानके उपयोगी रस आदिको वितीर्ण कर रहा है। सोजानेपर भी शरीर प्रकृति द्वारा आत्माका कार्य और भी अधिक चालू होजाता है। छोटासा कांटा लग जानेपर निकालो, निकालो, जल्दी दौडो आदि कहते हुए ही मानू आत्माके प्रयत्न काम करनेके लिये झुक पडते हैं और उस कांटेको निकाल फेंकते हैं। अधिक फस जानेपर शत्रुका निकालना कठिनतम होजाता है और कभी कभी तो बलाढ्य शत्रुओंके साथ परस्पर द्वन्द्व युद्ध मच जानेपर आत्माका परलोकवास भी हो जाता है। वृक्षोंमें बैठी हुई आत्मा नाम कर्मके अनुसार फूल, पत्ते, फल, गुठली आदि अवयवोंको जिस अव्यक्त पुरुषार्थसे बनाती है, उसको देखकर आश्चर्य समुद्रमें निमग्न होना पडता है। इन सब विचित्र परिणतिओंके लिए किसी आत्माको प्रमाणपत्र (सर्टीफिकट) देनेकी आवश्यकता नहीं है। क्यों कि एकेंद्रिय जीवोंसे लेकर पंचेंद्रिय पर्यन्त प्राणी एकसे एक बढिया कार्यको करनेमें संलग्न हो रहे हैं। कौन किसको किस विशिष्ट गुणके उपलक्षमें प्रशंसापत्र देवें ? इसी प्रकार आत्माकी अभ्यन्तर श्रुतज्ञानरूप परिणतियां अव्यक्तरूपसे बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक पुरुषार्थोंसे हो रही हैं। अनेक कार्योंमें कर्म भी प्रधानरूपसे कारण है। किन्तु तो भी आत्मा ठलुआ नहीं बैठा है, कर्म निमित्त है और आत्मा उपादान है।

अवध्यावृतिविध्वंसविशेषादवधीयते।
येन स्वार्थोवधानं वा सोवधिर्नियतस्थितिः॥ ५॥

अवधिज्ञानको रोकनेवाले अवधिज्ञानावरण कर्मके सर्वघातिस्पर्धकोंका उदयाभावरूप क्षय और भविष्यमें उदय आनेवाले सर्वघातिस्पर्धकोंका वहीं रुके रहना रूप उपशम, यानी उदीरणाको रोके रहना यह कार्य करना भी आवश्यक और बडा कठिन है। अत. उपशमको कारण कोटिमें डाल दिया है तथा देशघातिस्पर्धकोंका उदय ऐसे क्षयोपशमरूप विध्वंसविशेषसे स्व और अर्थका जिस करके मर्यादाको लिये हुए प्रत्यक्षज्ञान किया जाता है, वह अवधिज्ञान है। अथवा मर्यादाको लिये प्रत्यक्षज्ञान करना भी वह अवधिज्ञान है। इस प्रकार अव उपसर्ग पूर्वक " डुधाञ् धारण पोषणयो " धातुसे करण या भावमें क्ति प्रत्ययकर अवधि शब्द बनाया है। वह अवधिज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादाको नियत कर व्यवस्थित हो रहा है।

यन्मनः पर्ययावारपरिक्षयविशेषतः ।
मनःपर्ययणं येन मनःपर्येति योपि वा ॥ ६ ॥
स मनःपर्ययो ज्ञेयो मनोत्रार्था मनोगताः ।
परेषां स्वमनो वापि तदालंबनमात्रकम् ॥ ७ ॥

जो ज्ञान मनःपर्ययज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमरूप विशेष परिक्षयसे अपने या दूसरेके मनमें ठहरे हुये पदार्थोंका जानलिया जाता है या मनोगत पदार्थोंका जिस करके अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान करलिया जाता है, वह मनःपर्यय है अथवा जो ज्ञान मनमें तिष्ठे हुये पदार्थोंको चारों ओरसे स्वतंत्रता पूर्वक प्रत्यक्ष जानता है वह भी मनःपर्यय ज्ञान समझना चाहिये। इस प्रकार मनः उपपदके साथ परि उपसर्ग पूर्वक इण् गतौ धातुसे कर्म, करण, और कर्त्तामें अच् प्रत्यय करनेपर मनःपर्यय शद्ब बना है। यहा मनमें स्थित होरहे पदार्थोंका मनः शद्बसे ग्रहण किया गया है। अन्य जीवोंका मन अथवा अपना भी मन उस मन. पर्ययज्ञानका केवल आलंबन (सहारा) है, जैसे कि किसी मुग्ध या स्थूलदृष्टि पुरुषको द्वितीयाके चन्द्रमाका अवलोकन करानेके लिये वृक्षकी शाखाओंके मध्यमेंसे या बादलोंमेंसे लक्ष्य बंधाया जाता है। वहा शाखा या बादल केवल वृद्धयष्टिकाके समान अवलंब मात्र है। वस्तुतः ज्ञान तो चक्षुसे ही उत्पन्न हुआ है, इसी प्रकार अतीन्द्रिय मनःपर्यय ज्ञान तो आत्मासे ही उत्पन्न होता है किन्तु स्वकीय परकीय मनका अवलंब कर ईहा मतिज्ञान द्वारा संयमी मुनिके विकल प्रत्यक्षरूप मनःपर्ययज्ञान होता है।

क्षायोपशमिकज्ञानासहायं केवलं मतम् ।
यदर्थमर्थिनो मार्गं केवंते वा तदिष्यते ॥ ८ ॥

केवल शद्बका अर्थ किसीकी भी सहायता नहीं लेनेवाला पदार्थ है। यह केवलज्ञान अन्य चार क्षायोपशमिक ज्ञानोंकी सहायताके विना आवरणरहित केवल आत्मासे प्रकट होनेवाला माना गया है। अथवा स्वात्मोपलब्धिके अभिलाषी जीव जिस सर्वज्ञताके लिये मार्गको सेवते हैं, वह केवलज्ञान इष्ट किया गया है। दोनों ही निरुक्तिया अच्छी हैं।

मत्यादीनां निरुक्त्यैव लक्षणं सूचितं पृथक् ।
तत्प्रकाशकसूत्राणामभावादुत्तरत्र हि ॥ ९ ॥
यथादिसूत्रे ज्ञानस्य चारित्रस्य च लक्षणम् ।
निरुक्तेर्व्यभिचारे हि लक्षणांतरसूचनम् ॥ १० ॥

मति आदिक ज्ञानोंका पृथक् पृथक् लक्षण तो शब्दकी निरुक्ति करके ही श्रीउमास्वामी आचार्यने सूचित करदिया है। क्योंकि तभी तो उन मति आदिके लक्षणको प्रकाशनेवाले सूत्रोंका उत्तर ग्रन्थमें अभाव है। जैसे कि आदिके सूत्रमें ज्ञान और चारित्रका लक्षण शब्दनिरुक्तिसे ही सूचित कर दिया है, हां, प्रकृति, प्रत्यय, द्वारा शब्दकी निरुक्ति करनेसे वाच्य अर्थमें यदि व्यभिचार दोष आवे तब तो लक्षणोंको सूचन करनेवाले अन्य सूत्रोंका बनाना आवश्यक है। जैसे कि सम्यग्दर्शनका लक्षण सूत्र द्वारा बनाया गया है, अन्यथा नहीं। विद्वान्को उचित है कि पहिले शब्द ही ऐसा उच्चारण करे जिससे कि अर्थका झटिति बोध हो जाय। हां, क्वचित् पारिभाषिक, सांकेतिक, शब्दोंका व्याख्यान भी करना पडता है। कारण कि शब्दसंख्यात है और प्रतिपाद्य अर्थ असंख्यात हैं, तथा परम्परासे ज्ञेय अर्थ अनन्त भी हैं। ऐसी दशामें कहीं कहीं लक्षण भी करना पडता है। तभी अन्तरङ्ग ज्ञानावरणपटलका विनाश होकर जीवोंके ज्ञाननेत्र उन्मीलित होते हैं।

न मत्यादीनां निरुक्तिस्तल्लक्षणं व्यभिचरति ज्ञानादिवत् न च तदव्यभिचारेपि तल्लक्षणप्रणयनं युक्तमतिप्रसंगात् सूत्रातिविस्तरप्रसक्तिरिति संक्षेपतः सकललक्षणप्रकाशनावहितमनाः सूत्रकारो न निरुक्तिलभ्ये लक्षणे यत्नांतरमकरोत्।

मति, श्रुत आदि शब्दोंकी निरुक्ति उन अपने अपने लक्षणोंका व्यभिचार नहीं करती है, जैसे कि ज्ञान, चारित्र, प्रमाण, आदिका निर्वचन करना ही अपने निर्दोष लक्षणको लिये हुए हैं, और उनका व्यभिचार दोष न होनेपर, भी उनके लक्षणोंकी पुनः सूत्रों द्वारा रचना करना युक्त नहीं है, अन्यथा अतिप्रसंग हो जायगा। यानी प्रसिद्ध होरहे क्रिया शब्द और लक्षण घटित सरल शब्दोंके भी पुनः लक्षणसूत्र बनाना अनिवार्य होगा। और ऐसा होनेसे सूत्रग्रन्थके अधिक विस्तृत होजानेका प्रसंग होगा। टीकाग्रन्थ और उसकी भी टीका विवरणसे सूत्रग्रन्थ बहुत बढ जायगा। इस कारण संक्षेपसे सम्पूर्ण पदार्थोंके लक्षणको प्रकाशनमें जिनका मन संलग्न होरहा है, ऐसे सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज निरुक्तिसे ही प्राप्त करलिये गये लक्षणमें पुनः व्यर्थ दूसरा प्रयत्न नहीं करते भये। महामना गम्भीर पुरुषोंका प्रयत्न हितकारक सफल कार्योंमें व्यापृत होता है ठलुआपनके व्यर्थ कार्योंमें नहीं।

स्वंतत्वाल्पाक्षरत्वाभ्यां विषयाल्पत्वतोपि च।
मतेरादौ वचो युक्तं श्रुतात्तस्य तदुत्तरम् ॥ ११ ॥
मतिसंपूर्वतः साहचर्यात् मत्या कथंचन।
प्रत्यक्षत्रितयस्यादाववधिः प्रतिपाद्यते ॥ १२ ॥

सर्वस्तोकविशुद्धित्वात्तुच्छत्वाच्चावधिध्वनेः ।
ततः परं पुनर्वाच्यं मनः पर्ययवेदनम् ॥ १३ ॥
विशुद्धतरतायोगात्तस्य सर्वावधेरपि ।
अंते केवलमाख्यातं प्रकर्षातिशयस्थितेः ॥ १४ ॥
तस्य निर्वृत्त्यवस्थायामपि सद्भावनिश्चयात् ।
तेनैव पंचमं ज्ञानं विधेयं मोक्षकारणं ॥ १५ ॥

इकारान्त उकारात शब्दोंकी व्याकरणमें सु संज्ञा है, सु सज्ञावाले पदोंका द्वन्द्व समासमें पूर्व निपात हो जाता है। मति, श्रुत, अवधि, मन.पर्यय और केवल इन शब्दोंका कैसे भी आगे पीछे प्रयोग कर यदि द्वन्द्व किया जायगा तो सुसंज्ञान्तपद होनेके कारण मति शब्दका पूर्वमें प्रयोग हो जायगा और अल्प अच् या अल्प अक्षर होनेके कारण भी मतिका पूर्वमें प्रयोग करना आवश्यक है तथा सर्व ज्ञानों या श्रुतज्ञानकी अपेक्षा अल्पविषयक धारणपना होनेसे भी मति पदका श्रुतसे आदिमें वचन बोलना युक्त है। उस मतिज्ञानके पश्चात् श्रुतका प्रयोग करना ठीक है, श्रुतज्ञानके पूर्वमें भले प्रकार मतिज्ञान होता है और किसी अपेक्षा मतिज्ञानके साथ श्रुतज्ञानका सहचरपना भी है। अत: कार्यकारण भावरूप प्रत्यासत्ति या सहचर सम्बन्धसे भी मतिके उत्तरकालमें श्रुतका वचन जच जाता है। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इन तीन संख्यावाले प्रत्यक्षोंकी आदिमें संपूर्ण प्रत्यक्षोंकी अपेक्षा थोडी विशुद्धि होनेके कारण तथा अवधि शब्दमें मात्राओंका थोडापन होनेके कारण अवधि पहिले कहा गया है। अवधि शब्द सुसंज्ञावाला भी है, उससे पीछे फिर मन पर्ययज्ञानका प्रयोग करना उचित है। क्योंकि सर्वावधिसे भी उस मन.पर्ययज्ञानके अति अधिक विशुद्धताका योग है। इस अवसरपर यदि गोम्मटसारके सिद्धान्तको मिलाया जाय तो अन्तर दीखता है। श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने सर्वावधिका विषय द्रव्य एक परमाणु माना है। किन्तु सूत्रकारकी अकलंक व्याख्याके अनुसार कार्माणद्रव्यका अनन्तवा भागरूप लम्बा चौडा स्कन्ध सर्वावधि ज्ञानका विषय सिद्ध है। गोम्मटसारमें विस्रसोपचयसे रहित अष्टकर्मोंके समयप्रबद्धका अनन्तवा भागरूप स्कंध (टुकडा) [illegible] उत्कृष्ट विषय [illegible] किया है। लगभग यही राजवार्तिकका मन्तव्य है। किन्तु गोम्मटसारके [illegible] सर्वावधिके विषय एक परमाणु [illegible] यह अनन्तवा भाग तो नहीं, प्रत्युत उससे अनन्तगुणा बडा [illegible] है। इन आचार्योकी आम्नाय अनुसार चले आये हुये मतभेदको एक पक्षपर ले आनेका हम [illegible] अधिकार प्राप्त नहीं [illegible]। दोनों ही [illegible] हैं। उमास्वामी महाराजके आम्नाय अनुसार [illegible] अधिक [illegible] है. तथा ज्ञानकी वृद्धिका प्रकर्ष होते होते केवलज्ञानमें [illegible] अतिशय [illegible] होता है। इस कारण सम्पूर्ण ज्ञानोंके अन्तमें केवलज्ञानका कथन

किया है। दूसरी बात यह है कि उस केवलज्ञानका मोक्ष अवस्थामें भी अनन्तकालतक विद्यमान रहनेका निश्चय है। तिस कारण ही मोक्षके कारण पाचवें ज्ञानका अनुष्ठान अन्ततक करने योग्य है। इस प्रकार पाच ज्ञानोंके क्रमसे प्रयोग करनेमें श्रीविद्यानन्द आचार्यने संगति बता दी है। इन बातोंसे सूत्रकारके अन्तरङ्ग महान् पाण्डित्यका सहजमें अनुमान किया जा सकता है। साथमें उस पाण्डित्यको समझनेवालेका भी ॥

न हि सूत्रेस्मिन्मत्यादिशद्वानां पाठक्रमे यथोक्तहेतुभ्यः शद्वार्थन्यायाश्रयेभ्योऽन्येपि हेतवः किं नोक्ता इति पर्यनुयोगः श्रेयांस्तदुक्तावप्यन्ये किन्नोक्ता इति पर्यनुयोगस्यानिवृत्तेः कुतश्चित्कस्यचित्क्वचित्संप्रतिपत्तौ तदर्थहेत्वंतरावचनमिति समाधानमपि समानमन्यत्र ।

इस सूत्रमें मति आदि शद्वोंके पाठक्रममें शद्वसम्बन्धी और अर्थसम्बन्धी न्यायके आश्रय अनुसार होनेवाले जिस प्रकारके कहे हुये हेतुओंसे अन्य भी कारण श्रीविद्यानन्द स्वामीने क्यों नहीं कहे ? इस प्रकार किसीका कटाक्षसहित प्रश्न उठाना अधिक श्रेष्ठ नहीं है, यानी कुछ अच्छा नहीं है। क्योंकि उन अन्य हेतुओंके कहनेपर भी उनसे अन्य हेतु क्यों नहीं कहे इस प्रकारका कुचोद्य करना फिर भी निवृत्त नहीं हो सकता है। यदि किसी भी हेतुसे किसी भी श्रोताको कहीं भी भले प्रकार प्रतिपत्तिके होचुकनेपर पुनः उसके लिये अन्य हेतुओंका व्यर्थ वचन नहीं किया जाता है। इस प्रकार समाधान करोगे तो अन्यत्र यानी पहले कटाक्षमें भी यही समाधान समान रूपसे लागू होजायगा। भावार्थ—मति आदिक शद्वोंके पहिले पीछे प्रयोग करनेमें वार्तिककारने दो दो तीन तीन हेतु बता दिये हैं। इनसे अतिरिक्त भी हेतु कहे जासकते हैं, जैसे कि विशेषविशेषरूपसे संयमकी वृद्धि होनेपर ही मति आदि ज्ञानोंकी क्रमसे पूर्णता होती है या उत्तरोत्तर ज्ञानोंमें बहिरंग कारणोंकी अपेक्षा कमती कमती होती जाती है किन्तु पदोंके पूर्वापर प्रयोग करनेमें जिस किसी शिष्यको जिस किसी भी उपायसे संतोषजनक प्रतिपत्ति होजाय तो फिर इस अल्पसार कार्यके लिये लम्बे चौडे शास्त्रार्थकी या सभी हेतुओंके बतानेकी आवश्यकता नहीं समझी जाती है। जितना कह दिया उतना ही पर्याप्त है। बहुतसा मूल्यवान् माल गुरुओंकी गाठमें पडा रहता है। सबका अपव्यय नहीं कर दिया जाता है।

ज्ञानशद्वस्य संबंधः प्रत्येकं भुजिवन्मतः ।
समूहो ज्ञानमित्यस्यानिष्टार्थस्य निवृत्तये ॥ १६ ॥

विधेय पदका अन्वय कहीं तो समुदायमें होता है जैसे कि अमुक ग्रामके निवासी मनुष्योंपर स्वच्छता न रखनेके कारण सौ रुपये दण्ड किया जाता है। यहां प्रत्येक मनुष्यपर राजाकी ओरसे सौ सौ रुपये दण्ड नहीं है। किन्तु सम्पूर्ण ग्रामनिवासियोंके ऊपर सामूहिक केवल सौ रुपये दण्ड है और कहीं प्रत्येकमें भी विधेयदलका अन्वय होता है, जैसे कि देवदत्त जिनदत्त और इन्द्रदत्तको भोजन

करा देना। यहा प्रत्येकको तृप्तिपूर्वक भोजन कराया जाता है। अतः यहा भी मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, और केवल इन पाचोंमें प्रत्येकरूपसे भोजनके समान ज्ञान शद्बका सम्बन्ध करना माना गया है। उस कारण पाचोंका समुदाय एक ज्ञान है, इस प्रकार इस अनिष्ट अर्थकी निवृत्ति हो जाना प्रयोजन सधजाता है। ये पाचों अकेले अकेले स्वतत्र पाच ज्ञान हैं।

मत्यादीनि ज्ञानमित्यनिष्टार्थो न शंकनीयः, प्रत्येकं ज्ञानशद्बस्याभिसंबंधाद्भुजिवत्। न चायमयुक्तिकः सामान्यस्य स्वविशेषव्यापित्वात् सुवर्णत्वादिवत्। यथैव सुवर्णविशेषेषु कटकादिषु सुवर्णसामान्यं प्रत्येकमभिसंबध्यते कटकं सुवर्णं कुंडलं सुवर्णमिति। तथा मतिर्ज्ञानं, श्रुतं ज्ञानं, अवधिर्ज्ञानं, मनःपर्ययो ज्ञानं, केवलं ज्ञानमित्यपि विशेषाभावात्।

मति आदिक पाचोंका सत्तूके समान मिला हुआ एक पिण्ड होकर एक ज्ञान है, इस प्रकारके अनिष्ट अर्थ हो जानेकी शंका नहीं करना चाहिये। क्योंकि पाचोंमेंसे प्रत्येक प्रत्येकमें ज्ञान शद्बकी भोजनक्रिया करानेके समान चारों ओर सम्बन्ध हो रहा है। यह कहना युक्तियोंसे रहित नहीं है। क्योंकि सुवर्णत्व, मृत्तिकात्व आदिके समान सामान्य पदार्थ अपने विशेषोंमें व्याप रहा है। जिस ही प्रकार सुवर्णके विशेष परिणाम कडे, केयूर, कुंडल, आदिकोंमें सामान्य रूपसे सुवर्णपना प्रत्येकमें सब ओरसे संबद्ध है। खडुआ सोना है। कुंडल सोना है, बाजू सोना है, इत्यादि। इसी प्रकार मतिनामक ज्ञान है, श्रुत भी ज्ञान है तथा अवधि भी एक ज्ञानविशेष है एवं मनःपर्ययरूप ज्ञान है, केवल भी पूरा ज्ञान है। इन विशेष विशेष ज्ञानोंमें भी सामान्य ज्ञानपनेका सम्बन्ध हो रहा है। कोई अन्तर नहीं है।

सामान्यबहुत्वमेवं स्यादिति चेत्, कथंचिन्नानिष्टं सर्वथा सामान्यैकत्वे अनेकस्वाश्रये सकृद्वृत्तिविरोधादेकपरमाणुवत्। क्रमशस्तत्र तद्वृत्तौ सामान्याभावप्रसंगात् सकृदनेकाश्रयवर्तिनः सामान्यस्योपगमात्। न चैकस्य सामान्यस्य कथंचिद्बहुत्वमुपपत्तिविरुद्धं बहुव्यक्तितादात्म्यात्।

जैनोंके इस प्रकार कहनेपर तो प्रत्येक विशेषमें पूर्णरूपसे व्यापने वाले सामान्य भी बहुत बन जावेंगे ऐसा कटाक्ष करनेपर तो हम जैन कहते हैं कि इस प्रकार सामान्यका कंथचित् बहुतपना हमको अनिष्ट नहीं है। हॉ, सभी प्रकार सामान्य (जाति) का एकपना माननेपर तो वैशेषिकोंके यहॉं एक निरंश सामान्यका अनेक अपने आश्रयोंमें एक ही समय पूर्णरूपसे वर्तनका विरोध होगा जैसे कि एक परमाणु एक ही समय अनेक स्थानोंपर नहीं ठहर सकता है। यदि उन अनेक आश्रयोंमें उस सामान्यकी क्रम क्रमसे वृत्ति मानी जावेगी तो वैशेषिकोंके द्वारा माने गये लक्षण अनुसार सामान्यके अभावका प्रसंग होगा। वैशेषिकोंने एक ही समय अनेक आश्रयोंमें ठहरनेवाला सामान्य पदार्थ स्वीकार किया है। "नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यं" जो नित्य है एक है और सकृत् अनेकोंमें अनुगत-

रूपसे रहता है वह सामान्य है। किन्तु जैन सिद्धान्त अनुसार सदृशपरिणाम और ऊर्ध्व अंश परिणामको सामान्य माना है। वह व्यक्तियोंसे कथंचित् अभिन्न है। एक सामान्यको बहुत व्यक्तियोंके साथ तादात्म्य हो जानेके कारण कथंचित् बहुतपना प्रमाणसाधनिकाओंसे विरुद्ध नहीं है।

यमात्मानं पुरोधाय तस्य व्यक्तेरतादात्म्यं यं च तादात्म्यं तौ चेद्भिन्नौ भेद एव, नो चेदभेद एवेत्यपि ब्रुवाणो अनभिज्ञ एव। यमात्मानमाश्रित्य भेदः संव्यवह्रियते स एव हि भेदो नान्यः, यं चात्मानमवलंब्याभेदव्यवहारः स एवाभेद इति तत्प्रतिपत्तौ कथंचिद्भेदाभेदौ प्रतिपन्नावेव तदप्रतिपत्तौ किमाश्रयोऽयमुपालंभः स्यात् प्रतिपत्तिविषयः ?।

जिस स्वरूपको आगे करके उस सामान्यका व्यक्तिसे तदात्मकपना नहीं है और जिस स्वरूपको आगे धरके सामान्यका व्यक्तियोंके साथ तादात्म्य है, यदि सामान्य और वे दोनों स्वरूप परस्परमें भिन्न हैं, तब तो सामान्य और व्यक्तियोंका भेद ही ठहरेगा, यदि वे दोनों स्वरूप परस्परमें अभिन्न हैं तो सामान्य और विशेष व्यक्तियोंमें सर्वदा अभेद ही ठहरेगा, इस प्रकार भी कहनेवाला शंकाकार जैनसिद्धान्तको भले प्रकार नहीं समझनेवाला ही है। कारण कि जिस स्वरूपका आसरा लेकर भेदका अच्छा व्यवहार किया जाता है वह स्वरूप ही भेदरूप है। अन्य धर्म और धर्मी भेद रूप नहीं हैं तथा जिस आत्मस्वरूपका अवलम्ब लेकर व्यक्ति और सदृशपरिणामोंका अभेद व्यवहार किया जाता है वही अभेद है। उनका अन्य शरीर अभेद रूप नहीं है। भेद अभेद तो आपेक्षिक धर्म हैं। इस प्रकार उनकी प्रतीति होनेपर कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद समझ लिये गये ही कहने चाहिये। यदि उन स्वरूपोंकी प्रतिपत्ति शंकाकारको नहीं हुई तो किसका आश्रय लेकर यह उलाहना देना प्रतिपत्तिका विषय हो सकेगा ? बताओ ?। तुमने स्वयं ही कथंचित् भेदाभेदको स्वीकार करलिया दीखता है।

पराभ्युपगमाश्रय इति चेत् स यदि तवात्रासिद्धः कथमाश्रयितव्यः। अथ सिद्धः कथमुपालंभो विवादाभावात्। अथ परस्य वचनादभ्युपगमः सिद्धः स तु सम्यग्मिथ्या चेति विवादसद्भावादुपालंभः श्रेयान् दोषदर्शनात् गुणदर्शनात् क्वचित्समाधानवदिति चेत्, कस्य पुनर्दोषस्यात्र दर्शनं ? अनवस्थानस्येति चेन्न, तस्य परिहृतत्वात्। विरोधस्येति चेन्न, प्रतीतौ सत्यां विरोधस्यानवतारात्। संशयस्येति चेन्न, चलनाभावात्।

यदि सर्वथा भेदवादी या अभेदवादी शंकाकार यों कहें कि हमने दूसरे वादी जैनोंके माने हुये कथंचित् भेद अभेदका आश्रय लेकर भेद अभेदको जानकर ही यों उलाहना दिया ऐसा मानने पर तो हम कहेंगे कि वह जैनोंका स्वीकार करना यदि तुमको इस प्रकरणमें असिद्ध है, तब तो वह कैसे आश्रयणीय हो सकेगा ? अब उन जैनोंके वहां इष्ट किये गये कथंचित् भेद अभेदके

स्वीकारको यदि सिद्ध मानोगे, तो वह उलाहना कैसे हुआ ? क्योंकि प्रमाणसिद्ध पदार्थमें किसीको विवाद नहीं हुआ करता है। इसपर यदि तुम्हारा यह नया आक्षेप होय कि दूसरे जैनोंके कथन मात्रसे उनके स्वीकार करनेको हमने थोडी देरके लिये सिद्ध मान लिया है, किन्तु वह समीचीन या मिथ्या है ? इसमें विवाद विद्यमान है। इस कारण दोषोंके दीख जानेसे उलाहना देना बहुत ठीक है, जैसे कि गुणोंके दीख जानेसे कहीं समाधान करना श्रेष्ठ हो जाता है। इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन पूंछते हैं कि फिर कौनसे दोषका इस कथंचित् भेद अभेदमें दीखना होरहा है ? बताओ तो सही भाइओ ! अनवस्था दोषका दीखना कहो, यह तो ठीक नहीं, क्योंकि उस अनवस्था दोषका परिहार पहले प्रकरणोंमें किया जा चुका है। कथंचित् भेद अभेदमें विरोध दोषका दीखना यह भी ठीक नहीं पडेगा, क्योंकि अनुपलम्भ होनेसे विरोध साधा जाता है। दोनों धर्मोंकी एक स्थान में प्रतीति होनेपर तो विरोधदोष नहीं उतरता है। भेद अभेदके अनेकान्तमे संशय दोषका दीखना यह तो नहीं सम्भवता है। क्योंकि एक धर्मीमें चलायमान दो आदि वस्तुओंकी प्रतिपत्ति कर लेना संशयज्ञान है। किन्तु यहां कथंचित् भेद अभेदमें प्रतिपत्तियोंका चलितपना नहीं है।

वैयधिकरणस्यापि न दर्शनं, सामान्यविशेषात्मनोरेकाधिकरणतयावसायात्। संकरव्यतिकरयोरपि न तत्र दर्शनं तद्व्यतिरेकेणैव प्रतीतेः। मिथ्याप्रतीतिरियमिति चेन्न, सकलबाधकाभावात्।

न्यारे न्यारे भेद और अभेदका भिन्न भिन्न ही अधिकरण होगा। इस प्रकारके वैयधिकरण दोषका भी दर्शन नहीं है। क्योंकि सामान्यरूप विशेषस्वरूपका एक अधिकरणमें रहनेपने करके निर्णय हो रहा है, उन भेद अभेदोंमें दोनों धर्मोंकी युगपत् प्राप्ति हो जानारूप संकर और परस्परमें धर्मोका विषय गमनरूप व्यतिकर दोषोंका भी दीखना नहीं है। क्योंकि उन संकीर्णपन और व्यतिकीर्णपनरूपसे अतिरिक्तस्वरूप करके ही कथंचित् भेद अभेदकी प्रतीति हो रही है। यह प्रतीति तो मिथ्या है, यह न कहना। क्योंकि संपूर्ण बाधकप्रमाणोंका अभाव है। घटको जाननेवाले आत्मा से घटज्ञान अभिन्न है, क्योंकि न्यारा नहीं किया जा सकता है। तथा आत्माके नहीं नष्ट होते हुये भी घटज्ञान विघट जाता है। इस कारण आत्मासे घटज्ञान भिन्न है। ऐसे ही सामान्य और विशेषमें भी लगा लेना। यानी कथंचित सामान्य विशेष भी एकमएक हो रहे हैं।

विशेषमात्रस्य सामान्यमात्रस्य वा परिच्छेदकप्रत्ययः बाधकमिति चेन्न, तस्य जातुचित्तदपरिच्छेदित्वात्, सर्वजात्यंतरस्य सामान्यविशेषात्मनो वस्तुनस्तत्र प्रतिभासनात् प्रत्यक्षपृष्ठभाविनि विकल्पे तथा प्रतिभासनं न प्रत्यक्षे निर्विकल्पात्मनीति चेन्न, तस्यासिद्धत्वात् सर्वथा निर्विकल्पस्य निराकरिष्यमाणत्वात्।

" प्रमेयद्वैविध्यात् प्रमाणद्वैविध्यं " के अनुसार प्रत्यक्षप्रमाणसे विशेष और अनुमानसे सामान्यको विषय हुआ माननेवाला यदि यहां कोई यों कहें कि केवल विशेषका और अकेले रीते

सामान्यका परिच्छेद करनेवाला ही ज्ञान होता है, दोनोंको कोई भी एक ज्ञान नहीं जान पाता है। अतः सामान्य और विशेषको अभेदरूपसे जाननेवाले जैन अभिमत ज्ञानका बाधक है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि वह समीचीन ज्ञान कभी भी उन अकेले सामान्य या रीते विशेषको परिच्छेद करनेवाला नहीं है। उस प्रतीतिमें तो सम्पूर्ण एकान्तोंसे निराली ही जातिवाली सामान्य, विशेष, आत्मक वस्तुका प्रतिभास हो रहा है। इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि सर्वथा भेद अभेदसे तीसरी ही जातिके कथंचित् भेद अभेदको लिये हुये सामान्य विशेषरूप पदार्थका उस प्रकार प्रतिभास हो जाना तो प्रत्यक्ष प्रमाणके पीछे होनेवाले झूंठे विकल्प ज्ञानमें होता है। ठीक वस्तुको जाननेवाले निर्विकल्पस्वरूप प्रत्यक्ष ज्ञानमें तो सामान्य विशेष आत्मक वस्तु नहीं प्रतिभासती है। अब ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष असिद्ध है। सभी प्रकार ज्ञानोंके निर्विकल्पक होनेका भविष्य ग्रन्थमें हम निराकरण करनेवाले हैं। सभी ज्ञान साकार हो रहे सन्ते सविकल्प हैं।

अनुमानं बाधकमिति चेन्न, तस्य विशेषमात्रग्राहिणोऽभावात् सामान्यमात्रग्राहिवत्। सामान्यविशेषात्मन एव जात्यंतरस्यानुमानेन व्यवस्थितेः। यथा हि। सामान्यविशेषात्मकमखिलं वस्तु, वस्तुत्वान्यथानुपपत्तेः। वस्तुत्वं हि तावदर्थक्रियया व्याप्तं सा च क्रमयौगपद्याभ्यां, ते च स्थितिपूर्वापरभावत्यागोपादानाभ्यां, ते च सामान्यविशेषात्मकत्वेन सामान्यात्मनोपाये स्थित्यसंभवात्। विशेषात्मनोऽसंभवे पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानस्यानुपपत्तेः। तदभावे क्रमयौगपद्यायोगादनयोरर्थक्रियानवस्थितेः न कस्यचित्सामान्यैकांतस्य विशेषैकांतस्य वा वस्तुत्वं नाम खरविषाणवत्।

सामान्य, विशेष, आत्मक वस्तुको जाननेवाले ज्ञानका बाधक प्रमाण अनुमान है, यह तो न कहना। क्योंकि केवल विशेषोंको ही ग्रहण करनेवाले उस अनुमानका अभाव है, जैसे कि केवल सामान्यको ही ग्रहण करनेवाला अनुमान नहीं सिद्ध है। प्रत्युत सर्वथाभेद अभेदोंसे भिन्न तीसरी जातिवाले सामान्य विशेष आत्मक ही वस्तुकी अनुमान प्रमाण करके ग्रहण व्यवस्था होरही है। वह जिस प्रकार है सो सुनिये। सम्पूर्ण वस्तुयें (पक्ष) सामान्य और विशेष अंशोंके साथ तदात्मक हो रही हैं (साध्य) अन्यथा वस्तुपना नहीं बन सकता है (हेतु) इस हेतुका आचार्य समर्थन करते हैं कि पहले इस बातको। समझो कारण कि वस्तुपना तो अर्थक्रियारूप साध्यसे व्याप्त हो रहा है और वे अर्थक्रियायें अर्थमें क्रमसे होंगी अथवा युगपत् होंगी। अत वे अर्थक्रियायें क्रम और यौगपद्यसे व्याप्त हो रही हैं तथा वे दोनों क्रमयौगपद्य भी ध्रौव्यके साथ रहनेवाले पूर्वस्वभावोंका त्याग और उत्तर स्वभावोंका ग्रहण करनारूप परिणामसे व्याप्त हैं और वे स्थितिसहित हान उपादानत्रय भी सामान्य, विशेष, आत्मकपनेके साथ व्याप्ति रखते हैं। क्योंकि वस्तुके सामान्य

स्वरूपका निषेध करनेपर स्थिति होना असंभव है और वस्तुके विशेष स्वरूपका सम्भव न माननेपर पूर्वस्वभावोंका त्याग और उत्तर स्वभावोंका ग्रहण करना नहीं बनता है तथा तिस परिणामके न होनेपर क्रमयौगपद्यका अयोग होजानेसे इन केवल सामान्य और केवल विशेषमें अर्थक्रिया होनेकी व्यवस्था नहीं होगी। इस कारण किसी भी सामान्य एकान्तको अथवा केवल विशेष एकान्तको वस्तुपना नाममात्रको भी नहीं है जैसे कि दोनोंसे रहित खरविषाण अवस्तु है, उसीके समान विशेषरहित सामान्य या सामान्यरहित विशेष भी अवस्तु है (निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत् सामान्य-रहितत्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि) यहां वस्तुका व्यापक अर्थक्रिया और अर्थक्रियाका व्यापक क्रमयौग-पद्य है तथा क्रमयौगपद्योंके व्यापक स्थितिपूर्वक पूर्वापर स्वभावोंके त्याग उपादान हैं । उन त्याग उपादानोंका व्यापक सामान्यविशेष आत्मकपना है । अन्तिम व्यापकके न माननेसे पहिलेके सब व्याप्य न माने जासकेंगे । ऐसी दशामें कोई भी अर्थक्रिया नहीं बन सकती है । अर्थक्रियाके विना फिर वस्तुपन कहां रहा ? ।

न हि सामान्यं विशेषनिरपेक्षं कांचिदप्यर्थक्रियां संपादयति, नापि विशेषः सामा-न्यनिरपेक्षः, सुवर्णसामान्यस्य कटकादिविशेषाश्रयस्यैवार्थक्रियायामुपयुज्यमानत्वात् कटका-दिविशेषस्य च सुवर्णसामान्यानुगतस्यैवेति सकलाविकलजनसाक्षिकमवसीयते । तद्वदिह ज्ञानसामान्यस्य मत्यादिविशेषाक्रांतस्य स्वार्थक्रियायामुपयोगो मत्यादिविशेषस्य च ज्ञान-सामान्यान्वितस्येति युक्ता ज्ञानस्य मत्यादिषु प्रत्येकं परिसमाप्तिः । ततश्च मत्यादिसमूहो ज्ञानमित्यनिष्टोर्थो निवर्तितः स्यात् ।

अकेला सामान्य अपने विशेषोंकी नहीं अपेक्षा रखता हुआ किसी भी अर्थक्रियाका संपादन नहीं कर सकता है । ब्राह्मण, म्लेच्छ, भोगभूमिया, आदि विशेषव्यक्तियोंसे रहित सामान्य मनुष्य कोई वस्तु नहीं है फिर भला वह अर्थक्रियाको कैसे करेगा ? तथा अकेला विशेष भी सामान्यकी नहीं अपेक्षा रखता हुआ किसी भी अर्थक्रियाको नहीं बना सकता है, जैसे कि मनुष्यपनेसे रहित ब्राह्मण आदिक व्यक्तियां न कुछ होती हुई किसी कामकी नहीं हैं। खडुआ, बरा, हंसुली आदि विशेष परिणतियोंके आश्रय होता हुआ ही सुवर्ण सामान्य अर्थक्रियाको करनेमें उपयुक्त हो रहा है, तथा कडे, बाजू आदिक विशेष भी सुवर्णपन सामान्यसे अन्वित हो रहे संते ही अर्थक्रिया करनेमें उपयोगी बन रहे हैं।-यह एक जीवको भी न छोडकर अविकलरूपसे सम्पूर्ण मनुष्योंकी साक्षी (गवाह) पूर्वक निश्चित किया जा रहा है । उसीके समान इस प्रकरणमें मति आदिक विशेषोंसे घिरे हुये ही ज्ञानसामान्यका प्रमितिरूप अपनी अर्थक्रिया करनेमें उपयोग हो रहा है और ज्ञान सामान्यासे अन्वित हो रहे हुये मति आदि विशेषोंका अपनी अपनी अर्थक्रिया करनेमें लक्ष्य लग रहा है । इस कारण कारिकाके अनुसार ज्ञानशद्बकी मति, श्रुत, आदिक प्रत्येकमें चारों ओरसे

समाप्ति (घेरा) करदेना और तिसमे मति, श्रुत, आदि सबका समुदाय एक ज्ञान है यह अनिष्ट अर्थ निवृत्त करा दिया जाय ।

कुतोयमर्थोऽनिष्टः ? केवलस्य मत्यादिक्षयोपशमिकज्ञानचतुष्टयासंपृक्तस्य ज्ञानत्वविरोधात् । मत्यादीनां चैकशः सोपयोगानामुक्तज्ञानांतरासंपृक्तानां ज्ञानत्वव्याघातात् तस्य प्रतीतिविरोधाच्चेति निश्चीयते ।

कोई जैनोंसे पूछता है कि पांचोंको मिला करके एक ज्ञानपना हो जाना यह अर्थ जैनोंको किस कारणसे अनिष्ट है ? बताओ । इसका उत्तर श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि प्रतिपक्षी कर्मोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुये मति, श्रुत, अवधि, और मन पर्यय इन चारों ज्ञानोंके साथ नहीं सम्पर्क रखनेवाले केवलज्ञानको ज्ञानपनेका विरोध होगा, अर्थात्-छठवेंसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक किसी एक मुनिमहाराजके चारों ज्ञान लब्धिरूपसे एक समयमें भले ही हो जाय, किन्तु ज्ञानावरणके क्षय होनेपर उत्पन्न हुये केवलज्ञानका उक्त चारों ज्ञानसे साहचर्य नहीं है । केवलज्ञान तो केवल ही रहेगा । जिन चारों ज्ञानोंमें देशघाति प्रकृतियोंके उदयको कारणता प्राप्त है, ज्ञानावरणके सर्वथा क्षय हो जानेपर तेरहवें गुणस्थानके आदिमें उत्पन्न हुआ केवलज्ञान भला उसकी सहयोगिता कर भी कैसे सकेगा ? कहना यह है कि उपयोगस्वरूप मति आदि चार ज्ञान भी तो एक समयमें नहीं पाये जासकते हैं, अतः उन चारोंको भी मिलाकर एक ज्ञानपना असम्भव है । लब्धिरूप नहीं किन्तु उपयोग सहित हो रहे मति, श्रुत आदि एक एक ज्ञानका जो कि कहे हुये उपयोग सहित अन्य श्रुत आदिसे अछूते हो रहे हैं उनको ज्ञानपनेका व्याघात हो जावेगा तथा मति आदिक एक एकको जब ज्ञानपना प्रतीत हो रहा है तो समुदितको एक ज्ञानपनेका प्रतीतियोंसे विरोध है ऐसा निश्चय किया जा रहा है । एक समयमें दो उपयोग नहीं होते हैं । हां, ज्ञानोंकी चार और दर्शनोंकी तीन इस प्रकार सात लब्धिया किसी मुनि महाराजके भले ही हो जायें, मन पर्ययको छोडकर छह लब्धिया तो नारकी और पशुओंके भी पाई जा सकती हैं । किन्तु उपयोग तो अकेले मतिज्ञानके भी दो रासनप्रत्यक्ष या स्पर्शन प्रत्यक्ष एक समयमें नहीं होते हैं । भुरभुरी कचौडीके खानेपर भी उपयोगस्वरूप पाच ज्ञान क्रमसे ही होते हुए माने गये हैं । अवग्रह ईहा आदि भी आत्मामें क्रमसे उपजते हैं ।

किं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलान्येव ज्ञानमिति पूर्वावधारणं द्रष्टव्यं तानि ज्ञानमेवेति परावधारणं वा तदुभयमविरोधादित्याह ।

यहा प्रश्न है कि इस सूत्रमें मति, श्रुत, अवधि, मन.पर्यय और केवल ये ही ज्ञान हैं । इस प्रकार क्या उद्देश्यदलके साथ पहला अवधारण देखना चाहिये ? अथवा वे मति आदिक ज्ञान ही हैं ! क्या इस प्रकार उत्तर विधेयदलमें एव लगा कर अवधारण करना आवश्यक है ? आप जैनोंने पहले ही कह दिया है कि जिन वाक्योंमें एवकार नहीं भी दीखे उनमें भी उपरिष्टात् देख

लेना चाहिये। इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि वे दोनों ही अवधारण विरोध न होनेके कारण हमको अभीष्ट हैं। इसी बातको वार्तिकद्वारा कहते हैं।

मत्यादीन्येव संज्ञानमिति पूर्वावधारणात्।
मत्यज्ञानादिषु ध्वस्तसम्यग्ज्ञानत्वमूह्यते ॥ १७ ॥
संज्ञानमेव तानीति परस्मादवधारणात्।
तेषामज्ञानतापास्ता मिथ्यात्वोदयसंसृता ॥ १८ ॥

मति, श्रुत, आदिक पाचों ही समीचीन ज्ञान हैं। इस प्रकार पूर्वके अवधारणसे कुमति, कुश्रुत और विभंगमें सम्यग्ज्ञानपन नष्ट कर दिया गया। विचार लिया जाता जाता है तथा वे मति आदिक सम्यग्ज्ञान ही हैं। इस प्रकार पिछले अवधारणसे मिथ्यात्व कर्मके उदय करके संसरण करती हुई अज्ञानता उनमें से दूर करदी गयी समझ लेना चाहिये। भावार्थ—चौथेसे लेकर बारहवें गुणस्थानतक संभवनेवाले मति, श्रुत, अवधि और छठेसे लेकर बारहवेंतक सम्भवते मनःपर्यय तथा तेरहें, चौदहवें और सिद्ध अवस्थामें अवश्य पाये जा रहे, केवलज्ञान इन पाचोंको ही सम्यग्ज्ञानपना है। पहले और दूसरे गुणस्थानके कुमति, कुश्रुत, विभंगको और तीसरे गुणस्थानके मिश्रज्ञानोंको समीचीन ज्ञानपना नहीं है, तथा वे मति आदि पाचों सम्यग्ज्ञान नहीं हैं, अज्ञान या कुज्ञानरूप नहीं है।

न ह्यत्र पूर्वापरावधारणयोरन्योन्यं विरोधोस्त्येकतरव्यवच्छेदस्यान्यतरेणानपहरणात् नापि तयोरन्यतरस्य वैयर्थ्यमेकतरसाध्यव्यवच्छेदस्यान्यतरेणासाध्यत्वादित्यविरोध एव।

इस सूत्रके " देवनारकाणामुपपाद. " के समान पूर्व अवधारण और उत्तर अवधारणोंका परस्परमें विरोध नहीं है। क्योंकि दोनोंमें से एकद्वारा व्यवच्छेदको प्राप्त हुये का शेष दूसरे करके दूरीकरण नहीं होता है। इस ही कारण इन दोनोंमेंसे किसी एक अवधारणका व्यर्थपना भी नहीं है। क्योंकि दोनोंमेंसे किसी एकके द्वारा साधा गया व्यवच्छेद होनारूप कार्य शेष दूसरे एक करके असाध्य है। इस प्रकार दोनों एवकारोंमें परस्पर अविरोध ही रहा। देवनारकियोंके ही उपपाद जन्म होता है। और उपपाद जन्म ही देवनारकिओंके होता है। यहा भी विरोध नहीं।

किं पुनरत्र मतिग्रहणात् सूत्रकारेण कृतमित्याह—

इस सूत्रमें मति शब्दके ग्रहण करनेसे सूत्रकारने फिर क्या किया है, इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर विद्यानंद आचार्य समाधानको स्पष्ट कहते हैं।

मतिमात्रग्रहादत्र स्मृत्यादेर्ज्ञानता गतिः।
तेनाक्षमतिरेवैका ज्ञानमित्यपसारितम् ॥ १९ ॥

सानुमा सोपमाना च सार्थापत्त्यादिकेत्यपि ।
संवादकत्वतस्तस्याः संज्ञानत्वाविरोधतः ॥ २० ॥

मतिज्ञानके सभी भेद प्रभेदोंका यहां मतिसे ग्रहण हो जाता है, इस कारण स्मृति, तर्क, प्रत्यभिज्ञान आदिको ज्ञानपना जान लिया जाता है। उससे इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान ही एक मतिज्ञान है, ऐसे चार्वाकके सिद्धान्तका निवारण कर दिया गया समझो तथा अनुमानसहित इन्द्रियजन्य ज्ञान (प्रत्यक्ष) ये दो ही मतिज्ञान हैं, यह वैशेषिक या बौद्धोंका मत भी दूर हो जाता है। अनुमान और उपमान सहित होती हुई इन्द्रियजन्य मति ही प्रमाण है। अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, शाब्द, अभाव, सभव, ऐतिह्य, आदिसे सहित होती हुई इन्द्रियमतिप्रमाण हैं। इस प्रकार तीन, चार, पाच, आदि प्रमाणोंके माननेवाले कपिल, नैयायिक, आदिकोंका मन्तव्य भी निवारित हो जाता है। क्योंकि इनमेंसे किसीने भी स्मृति या तर्कज्ञानको प्रमाण नहीं माना है। किन्तु सफलप्रवृत्तिका जनकपना रूप सम्वादकपनेसे उन स्मृति आदिकको भी समीचीन ज्ञानपनेका कोई विरोध नहीं है। जैनसिद्धान्तके अनुसार मतिके पेटमें इन्द्रियजन्य बुद्धिया स्मृति, व्याप्तिज्ञान, उपमान, वैसादृश्य ज्ञान, अर्थापत्ति, आदि सब समा जाते हैं।

अक्षमतिरेवैका सम्यग्ज्ञानमगौणत्वात् प्रमाणस्य नानुमानादि ततोर्थनिश्चयस्य दुर्लभत्वादिति केषांचिद्दर्शनं। सानुमानसहिता सम्यग्ज्ञानं स्वलक्षणसामान्ययोः प्रत्यक्षपरोक्षयोरर्थयोः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामवगमात् ताभ्यां तत्परिच्छित्तौ प्रवृत्तौ प्राप्तौ च विसंवादाभावादित्यन्येषां। सैवानुमानोपमानसहिता सम्यग्ज्ञानं, उपमानाभावे तथा चात्र धूम इत्युपनयस्यानुपपत्तेरिति परेषां। सैवानुमानोपमानार्थापत्त्यभावसहितागमसहिता च सम्यग्ज्ञानं तदन्यतमापायेर्थापरिसमाप्तेरितीतरेषां। तन्मतिमात्रग्रहणादपसारितं।

स्पर्शन आदि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ मतिज्ञान ही एक सम्यग्ज्ञान है। क्योंकि प्रमाण गौणपनेसे रहित होता है। संसारमें प्रमाण ही तो न्यायाधीशके समान प्रधान है। अनुमान, स्मृति, आदिक तो प्रत्यक्षकी सहायता चाहते हैं। अतः गौण होनेसे प्रमाण नहीं हैं। तथा उन अनुमान आदिकसे अर्थका निश्चय होना दुर्लभ है। इस प्रकार किन्हीं बृहस्पति मतके अनुयायियोंका चार्वाक दर्शन है। तथा वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष तो अनुमानसहित होता हुआ सम्यग्ज्ञान है। यानी प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण हैं। स्वलक्षण तो प्रत्यक्षसे ज्ञेयरूप अर्थ है और सामान्य परोक्षरूप अर्थ है। प्रमेय विषयके भेदसे प्रमाणोंका भेद होना माना गया है। स्वलक्षणरूप प्रत्यक्षयोग्य विषयकी तो प्रत्यक्षप्रमाणसे ज्ञप्ति हो जाती है। और सामान्यरूप परोक्ष विषयकी अनुमान प्रमाणसे ज्ञप्ति हो जाती है। ज्ञान द्वारा जिसको जाना जाय उसीमें प्रवृत्ति की जाय और उस ही विषयकी प्राप्ति होवे, उस ज्ञानको सम्वादी कहते हैं। जाना जाय किसीको, प्रवृत्ति होय अन्यमें

तथा तीसरा विषय हाथ लगे यह विसम्वाद है। उन प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंसे उन स्वलक्षण और सामान्य विषयोंकी ज्ञप्ति, प्रवृत्ति और प्राप्ति करनेमे विसम्वाद नहीं हो रहा है। इस प्रकार अन्य विद्वान् बौद्धोंका मत है। अनुमान प्रमाण और उपमान प्रमाणसे सहित वह इन्द्रिय मति ही सम्यग्ज्ञान हैं। क्योंकि बौद्धोंके सदृश यदि हम भी उपमानको न मानेंगे तो उस प्रकार ' वह्निके साथ व्याप्ति रखनेवाला वैसा ही धूम यहा हैं ' इस उपनय वाक्यकी सिद्धि न हो सकेगी। अतः अनुमानके पाच अवयवोंमेंसे उपनयके बिगड जानेपर भला अनुमान प्रमाण कैसे स्थित रह सकेगा? इस कारण तीनको प्रमाण मानना चाहिये। यह अन्य लोगोंका मत है। आगमको मिलाकर चार ही प्रमाणोको माननेवाले नैयायिक हैं। तथा अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और अभावोंसे सहित हुई और आगमसे भी सहित हुई वह अक्षमति (प्रत्यक्ष) ही सम्यग्ज्ञान है। क्योंकि इन उक्त प्रमाणोंमेंसे एकके भी अभाव हो जानेपर ज्ञान होनारूप प्रयोजनकी परिपूर्णता नहीं होने पाती है। इस प्रकार इतर (उक्तोसे न्यारे) मीमासकोंका सिद्धान्त है। वे सब अन्य मतियोंके दर्शन सम्पूर्ण (उन) मतिज्ञानोंके ग्रहण करनेसे दूर कर दिये जाते हैं। जिसमें कि प्रमाणतारूपसे स्मृति और तर्क प्रविष्ट हो रहे हैं।

ततः स्मृत्यादीनां सम्यग्ज्ञानतावगमात् तथावधारणाविरोधात्। न च तासां प्रमाणत्वं विरुद्धं संवादकत्वात्। दृष्टप्रमाणाद्गृहीतग्रहणादप्रमाणत्वमिति चेन्न, इष्टप्रमाणस्याप्यप्रमाणत्वप्रसंगादिति चेतयिष्यमाणत्वात्।

तिस कारण स्मृति, तर्क, आदिकोंको सम्यग्ज्ञानपनेका निर्णय हो जानेसे तिस प्रकार दोनों ओरके अवधारणोंका कोई विरोध नहीं आता है। उन स्मृति, आदिकोंको प्रमाणपना विरुद्ध नहीं है। क्योंकि स्मृति आदिक ज्ञान सम्वाद करानेवाले हैं। जैसे कि प्रत्यक्षज्ञान। यदि यहां कोई यों कहें कि प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा ग्रहीत किये गये विषयका ग्रहण करनेवाले होनेसे स्मृति, तर्क, आदिको प्रमाणपना नहीं है, आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि यों तो अपने अपने इष्ट प्रमाणोंको भी अप्रमाणपनेका प्रसंग होगा, इस बातको भविष्य ग्रन्थमें भले प्रकार चेता दिया जायगा। भावार्थ—चार्वाकोंके यहा अन्य गुरु, माता, पिता या दूर देशवर्ती मनुष्योंके भूत, भविष्यत्, वर्तमानकालके प्रत्यक्षोंमें प्रमाणपना अगौणत्व हेतु द्वारा अनुमानसे ही आसकेगा, स्वयं बृहस्पतिके भूत भविष्यत् प्रत्यक्षोंको प्रमाणपन सिद्ध करनेमें अनुमानकी शरण लेनी पडेगी, अनुमान तो व्याप्ति ज्ञानसे ग्रहीत किये गये विषयोंमें ही प्रवर्तता है। इस प्रकार चार्वाकोंके इष्ट प्रत्यक्षमें कथंचित् गृहीतको ग्रहण करनेवालापन होनेसे प्रमाणपना न आसकेगा। बौद्ध, नैयायिक, आदि द्वारा इष्ट किये गये अनुमान, आगम, आदि ज्ञानोंमें तो कथंचित् गृहीतका ग्राहकपना है ही। अतः सर्वथा अगृहीतको ही जानना इनमें नहीं रहा। हा, कुछ गृहीत कुछ अगृहीतको

जाननेवाले भी यदि प्रमाण माने जायेंगे तब तो सबसे पहले स्मरण और व्याप्तिज्ञान आदि प्रमाणके स्थानोंको घेर लेंगे । कोई निरोधक नहीं है ।

श्रुतग्राचात्र किं कृतमित्याह ।

श्रुत शब्द करके यहा सूत्रमें क्या किया गया है, ऐसी जाननेकी इच्छा होनेपर आचार्य महाराज वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं ।

श्रुतस्याज्ञानतामिच्छंस्तद्वाचैव निराकृतः ।
स्वार्थेक्षमतिवत्तस्य संविदित्वेन निर्णयात् ॥ २१ ॥

जो चार्वाक, बौद्ध, नास्तिक, आदि वादी श्रुतज्ञानको प्रमाणपना नहीं चाहते हैं, उन वादियोंका उस सूत्रोक्त श्रुत शब्द करके ही खण्डन करदिया गया है । इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ प्रत्यक्षज्ञान जैसे अपने और अपने विषयके जाननेमें सम्वादी होनेके कारण प्रमाणरूप मानागया है, उसीके समान स्व और अर्थके जाननेमें सम्वादीपन होनेके कारण श्रुतज्ञानका भी प्रमाणपनेसे निर्णय है । नास्तिकवादी भी चिठ्ठी, सम्वादपत्र, पुस्तकें, आदिको वाचकर तथा माता, पिता, गुरु, मित्र, पुत्र, स्त्री आदिके वाक्योंको सुनकर अर्थान्तरका ज्ञान करता है, यही तो श्रुतज्ञान है । बौद्धोंके भी अनेक ग्रन्थ हैं । उनको पढकर जो होगा वही तो श्रुतज्ञान है, चार्वाकोंके भी शास्त्र हैं । शब्दसे जन्य ज्ञानको माने विना गूंगे और कहनेवाले महान् वक्तामें कोई विशेषता नहीं । मूर्खको पण्डित बतानेमें या बालकको उत्तरोत्तर ज्ञानशाली बतानेमें शब्द ही प्रधान कारण हैं । पशुपक्षियों तकमें शब्दसे उत्पन्न हुआ वाच्य अर्थका ज्ञान देखा जाता है । हा, कहीं कहीं विसम्वाद हो जानेसे सभी श्रुतज्ञानोंको यदि अप्रमाण कहा जायगा तब तो सीपमें चादीका ज्ञान होना एक चद्रमाको दो जान लेना आदि प्रत्यक्षोंके अप्रमाण हो जानेसे सभी प्रत्यक्ष अप्रमाण हो जायगे । हा, प्रत्यक्षाभासके समान श्रुतज्ञानाभास भी मान लिया जायगा ।

न हि श्रुतज्ञानमप्रमाणं क्वचिद्विसंवादादिति ब्रुवाणः स्वस्थः प्रत्यक्षादेरप्यप्रमाणत्वापत्तेः । संवादकत्वात्तस्य प्रमाणत्वे तत एव श्रुतं प्रमाणमस्तु, न हि ततोर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोर्थक्रियाया विसंवाद्यते प्रत्यक्षानुमानत इव श्रुतस्याप्रमाणतामिच्छन्नेव श्रुतवचनेन निराकृतो द्रष्टव्यः ।

श्रुतज्ञान अप्रमाण है, क्योंकि कहीं कहीं विसम्वाद हो जाता है । अर्थात्—गप्पाष्टकें, उपन्यास पुस्तकें, कवियोंकी उत्प्रेक्षायें, आदि अनेक अशोमें झूठी पडती हैं । छोटे बालकोंसे सताया गया वृद्ध मनुष्य झूठ बोल देता है कि नदीके किनारे लड्डुओंके ढेर लग रहे हैं । हे लडके, तुम लोग वहा

दौड जाओ। कभी कभी जिसको जानते हैं उसमें प्रवृत्ति और प्राप्ति भी नहीं होती है। अतः श्रुतज्ञान प्रमाण नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार कहनेवाला वादी स्वस्थ नहीं है। मत्तके समान अव्यवस्थित होकर करनेवाला है। क्योंकि योंतो यानी कहीं कहीं विसम्वाद हो जानेसे सभी ज्ञानोंमें यदि अप्रमाणपना धर दिया जायगा, गधे, घोडे सब एक भावसे हाके जायेंगे " टकासेर भाजी टकासेर खाजा " बेचा जायगा, तब तो प्रत्यक्ष, अनुमान, आदिकोंको भी अप्रमाणपनेकी आपत्ति आवेगी, ये भी तो कोई कहीं, विसम्वादी हो रहे हैं। यदि झूंठे ज्ञानोंको टालकर उन सच्चे ज्ञानोंमें सम्वादकपनेसे प्रमाणपना मानोगे तो तिस ही कारण श्रुतज्ञान भी प्रमाण हो जाओ। कारण कि उस श्रुतज्ञानसे अर्थको जानकर प्रवर्तनेवाला पुरुष अर्थक्रियामें विसम्वादी नहीं होता है। जैसे कि प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे अर्थको जानकर प्रवृत्ति करनेवाला पुरुष ठगाया नहीं जाता है। हा, प्रमाणपन और अप्रमाणपनका विवेक करना आवश्यक है। यहा सूत्रमें श्रुतवचन करके श्रुतज्ञानकी अप्रमाणताको चाहनेवाला पुरुष ही परास्त कर दिया गया विचार लेना चाहिये या इस विषयको स्पष्ट देख लेना चाहिये।

अत्रावध्यादिवचनात् किं कृतमित्याह।

इस सूत्रमें अवधि आदि अर्थात् अवधि, मनःपर्यय, और केवलज्ञान के कथनसे क्या किया गया है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य व्याख्यान करते हैं।

जिघ्रत्यतींद्रियज्ञानमवध्यादिवचोबलात्।
प्रत्याख्यातसुनिर्णीतबाधकत्वेन तद्गतेः ॥ २२ ॥

जो चार्वाक जडवादी इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षको ही मानते हैं, अतीन्द्रियप्रत्यक्षको स्वीकार नहीं करते हैं, किंतु उन अतीन्द्रियज्ञानोंके बाधक कारणोंका प्रत्याख्यान भले प्रकार निर्णीत हो चुका है, अतः उन अतीन्द्रिय प्रत्यक्षोंकी सिद्धि हो जाती है। जगत्में बाधकोंके असंभवका भले प्रकार निर्णय हो जानेसे पदार्थोंकी सत्ता मानली जाती है। करोडपति धनिकके रुपयोंको एक एक कर कौन ठलुआ गिननेको बैठे हैं? केवल बाधकाभावसे कोटि अधिपतिकी सत्ता मानली जाती है। सम्भावनावश असंख्य पदार्थोंको बाजार या देशान्तर कालान्तरोंमें साधारण लोग जान रहे हैं। उसमें भी बाधकोंका नहीं उपस्थित होना ही निर्णायक है। औषधियोंमें रोगको दूर करनेकी शक्तियोंका बहिरंग इन्द्रियोंसे जन्य प्रत्यक्षज्ञान नहीं है। फिर भी बाधकोंके खण्डन किये जा चुकनेका भली भाति निर्णय हो जानेसे अनुमान द्वारा शक्तियोंका ज्ञान कर लिया जाता है। प्रथमसे ही उपादानोंमें कार्यका ज्ञान भी योंही होता है। इस सूत्रमें अवधि आदिकके वचनकी सामर्थ्यसे अतीन्द्रिय ज्ञानोंके उपादान करनेकी गन्ध आरही है, बहिरंग इन्द्रियोंका अतिक्रम कर

केवल आत्माकी सहायतासे उत्पन्न हुये अतीन्द्रिय ज्ञान हैं, जैसे कि अन्य लोगोंने भावनाज्ञान या योगिप्रत्यक्षको माना है। कल मेरा भाई आवेगा, चांदीका भाव चढ जायगा, कुछ दिनमें लढाई ठनेगी, कुछ आपत्ति आनेवाली है, इत्यादि ज्ञान यद्यपि श्रुतज्ञान हैं, फिर भी मन इन्द्रियद्वारा विशेष उपयोग लग जानेसे किन्हींने इनको प्रत्यक्षसदृश माना है। जैनोंमें भी स्वानुभूतिको केवलज्ञान सदृश कहीं कहीं लिख दिया है, बात यह है कि अतींद्रिय प्रत्यक्षोंका मानना दार्शनिकोंको अनिवार्य पडेगा।

सिद्धे हि केवलज्ञाने सर्वार्थेषु स्फुटात्मनि।
कात्स्न्र्येन रूपिषु ज्ञानेष्ववधिः केन बाध्यते ॥ २३ ॥

सोनेमें किट्ट कालिमाके समान अज्ञान, कषाय, आदि दोष और ज्ञानावरण आदि पौद्गलिक आवरणोंकी हानि क्रमक्रमसे बढती हुयी देखी जा रही है। अतः वह किसी आत्मामें पूर्ण रूपसे भी हो चुकी है। जिस आत्मामें आवरण सर्वथा नहीं हैं, वही लोकालोकको जाननेवाला केवलज्ञानी है, तथा सूक्ष्म, व्यवहित, और विप्रकृष्ट पदार्थ (पक्ष) किसी न किसीके प्रत्यक्ष हैं। (साध्य) हम लोगोंके अनुमान, आगमोंद्वारा जाने गये होनेसे (हेतु) जैसे कि अग्नि, इन्दौर, पुराने बाबा, आदि किसी न किसीके प्रत्यक्ष हैं [थे]। इस प्रकार त्रिकाल त्रिलोकवर्ती सम्पूर्ण पदार्थोंमें अत्यन्त विशदस्वरूप ज्ञान करनेवाले केवलज्ञानके सिद्ध हो जानेपर यथायोग्य संसारी जीव और पौद्गलिक रूपी पदार्थोंहीमें पूर्णरूपसे विशद हो रहे, ज्ञानोंमें भला अवधिज्ञान किसके द्वारा बाधा जा सकता है? अर्थात् सबको स्पष्ट जाननेवाला केवलज्ञान जब सिद्ध हो चुका तो केवल रूपीपदार्थोंको स्पष्टरूपसे जाननेवाला अवधिज्ञान तो सुलभतासे सिद्ध हो जाता है। " सहस्रे पञ्चाशत् " सहस्रमें पचास तो अवश्य हैं।

परचित्तागतेष्वर्थेष्वेवं संभाव्यते न किम्।
मनःपर्ययविज्ञानं कस्यचित्प्रस्फुटाकृति ॥ २४ ॥

जब केवलज्ञान सिद्ध हो चुका तो इसी प्रकार दूसरेके या अपने चित्तोंमें प्राप्त हुये अर्थोंमें किसी आत्माके अधिक विशद आकारोंवाला हो रहा, मनःपर्यय ज्ञान क्यों नहीं सम्भवनीय है? अर्थात् सबका दादा गुरु केवलज्ञान प्रसिद्ध हो चुका है तो उसके शिष्यसमान अवधि, मनःपर्यय, तो क्लूस हैं। अपने और पराये मनद्वारा व्यक्त अव्यक्तरूपसे चीते, नहीं चीते, अधचीते यथायोग्य ढाई द्वीपके पदार्थोंका विशद प्रत्यक्ष करनेवाला विकल्पयुक्त मनःपर्यय ज्ञान किसी संयमीके हो जाता है।

स्वल्पज्ञानं समारभ्य प्रकृष्टज्ञानमंतिमम्।
कृत्वा तन्मध्यतो ज्ञानतारतम्यं न हन्यते ॥ २५ ॥

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके अपने सम्भवे हुये छह हजार बारह बारह जन्म मरण कर अन्तमें तीन मोडाकी गतिसे मरनेका प्रकरण प्राप्त होनेपर विग्रह गतिके पहले समयमें सबसे छोटा जघन्य ज्ञान होता है। संक्लेशकी कुछ हीनता हो जानेसे दूसरे समयमें ज्ञान बढ जाता है। अक्षरके अनन्तवें भाग स्वल्पज्ञानका प्रारम्भ कर अनन्तवार छह वृद्धियोंके अनुसार अन्तिम प्रकर्षताको प्राप्त हुए केवलज्ञानतक अतिशय करके करके उनके मध्यरूपसे होनेवाले ज्ञानोंका तारतम्य किसीके द्वारा नहीं बाधित होता है। अर्थात्–गजभरके कपडेसे लेकर चालीस गजतकके थानमें मध्यवर्ती गजोंसे नपे हुये वस्त्र भी हैं। छटाकसे लेकर सेरभरतकके चूनमें मध्यवर्ती तोलोंका भी सद्भाव है। इसी प्रकार निरावरण जघन्य ज्ञान और केवलज्ञानके बीचमें होनेवाले देशप्रत्यक्षरूप अवधिमनःपर्ययोंकी सिद्धि हो जाती है। अथवा मति श्रुत और केवलज्ञानके मध्यवर्ती अवधि मनःपर्यय तो " तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते " इस परिभाषाके अनुसार उपात्त हो जाते हैं।

न ह्येवं संभाव्यमानमपि युक्त्यागमाभ्यामवध्यादिज्ञानत्रयमतींद्रियं प्रत्यक्षेण बाध्यते तस्य तदविषयत्वाच्च। नाप्यनुमानेनार्थापत्त्यादिभिर्वा तत एवेत्यविरोधः सिद्धः।

युक्ति और आगमोंके द्वारा इस उक्त प्रकार सम्भावना किये जा रहे भी अवधि आदिक तीन अतीन्द्रिय ज्ञान तुम्हारे बाहःइन्द्रियजन्य प्रत्यक्षों करके तो बाधित नहीं होते हैं। क्योंकि वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष उन अतींद्रिय ज्ञानोंको विषय नहीं करता है। जो ज्ञान जिसको विषय नहीं करता है, वह उसका साधक या बाधक नहीं होता है। जैसे कि चाक्षुष ज्ञानका बाधक रासन ज्ञान नहीं होता है। तथा अनुमान प्रमाण करके अथवा अर्थापत्ति, उपमान, आदि प्रमाणों करके भी तिस ही कारण यानी उनको विषय करनेवाले न होनेसे अवधि आदि तीन प्रत्यक्षोंको बाधा प्राप्त नहीं होती है। इस प्रकार अतीन्द्रिय प्रत्यक्षके साथ अनुमान आदि प्रमाणोंका अविरोध सिद्ध होगया। समीचीनज्ञान तो परस्परमें विरोधको नहीं रखते हुये प्रत्युत सहायक हो जाते हैं। प्रमाणसंप्लव माना गया है। तथा प्रमाणोंकी भी प्रमाणोंसे ही सिद्धि होती है। एक रोगीकी चिकित्सा सुमतिवाले अनेक वैद्य कर सकते हैं। तथा वैद्यके बीमार होनेपर अन्य वैद्योंसे उसकी चिकित्सा (इलाज) की जाती है।

कश्चिदाह, मतिश्रुतयोरेकत्वं साहचर्यदेकत्रावस्थानादविशेषाच्चेति तद्विरुद्धं साधनं तावदाह।

कोई स्पष्टवक्ता प्रश्न कर रहा है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों साथ साथ रहते हैं। और एक आत्मामें दोनों अवस्थान करते हैं, तथा दोनोंमें कोई विशेषता भी नहीं है। इन हेतुओंसे मति और श्रुतका एकपना हो जाओ। इस प्रकार कह चुकनेपर सबसे पहले आचार्य यह स्पष्ट दोष कहते हैं कि मति और श्रुतके अभेदको साधनेवाले हेतु विरुद्ध हैं। सुनिये—

न मतिश्रुतयोरैक्यं साहचर्यात्सहास्थितेः ।
विशेषाभावतो नापि ततो नानात्वसिद्धितः ॥ २६ ॥

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका सहचरपनेसे अथवा एक आत्मामें साथ साथ स्थिति होनेसे एकपना नहीं है तथा परस्परमें विशेषता न होनेसे भी एकपना जो साधागया है सो ठीक नहीं है। क्योंकि तिन हेतुओंसे तो प्रत्युत नानापनकी सिद्धि होती है, जैसे कि अमावस्याके दिन सूर्य और चन्द्रमाका सहचरपना अनेकपनके साथ व्याप्ति रखता है, एक आत्मामें ज्ञान, सुख, तथा एक आम्र फलमें रूप और रसका अवस्थान हो रहा है, किन्तु वे अनेक हैं। इसी प्रकार सजातीय गौओं या रुपयोंमें अनेकपना होनेपर ही अविशेषता देखी जाती है।

साहचर्यादिसाधनं कथंचिन्नानात्वेन व्याप्तं सर्वथैकत्वे तदनुपपत्तेरिति तदेव साधयेन्मतिश्रुतयोर्न पुनः सर्वथैकत्वं तयोः कथंचिदेकत्वस्य साध्यत्वे सिद्धसाध्यतानेनैवोक्ता ।

प्रश्नकर्त्ताके द्वारा एकपना साधनेमें दिये गये साहचर्य आदि हेतु तो विरुद्ध हैं। वे तीनों हेतु कथंचित् नानापनके साथ व्याप्त हो रहे हैं। सर्वथा एकपन माननेपर वे सहचरपना आदिक नहीं बन पाते हैं। इस कारण वे हेतु उस कथंचित् नानापनको ही साधेंगे, किन्तु फिर मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके सर्वथा एकपनेको नहीं। हां, उन दोनों ज्ञानोंमें कथंचित् एकपनेको साध्य करनेपर तो हम जैनोंको सिद्धसाध्यता है। यह इस कथंचित् अनेकत्वके साथ हेतुओंकी व्याप्तिका समर्थन कर देनेसे कह दी गयी समझ लेना चाहिये।

साहचर्यमसिद्धं च सर्वदा तत्सहास्थितिः ।
नैतयोरविशेषश्च पर्यायार्थनयार्पणात् ॥ २७ ॥

और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे विचारा जाय तब तो वे तीनों हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास हैं। कारण कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानरूप पर्यायें आत्मामें क्रमसे ही होती हैं। अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी आदि नक्षत्रोंके उदयसमान क्रमवर्त्ती पर्यायोंमें व्यक्तिरूपसे सहचरपना नहीं है। तथा सदा ही आत्मामें उन पर्यायोंकी साथ साथ स्थिति भी नहीं है। एक समयमें छद्मस्थ जीवोंके दो उपयोग नहीं हो पाते हैं। तथा मति और श्रुतमें पर्यायदृष्टिसे अविशेषपना भी नहीं है, किन्तु बडा भारी अन्तर है। श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने " सुदकेवलं च णाणं दोण्णिवि सरिसाणि होंति बोहादो। सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं ॥ " इस गाथा द्वारा केवलज्ञानके सदृश श्रुतज्ञानको माना है। आठवेंसे लेकर बारहवें तक गुणस्थानोंमें प्रधानरूपसे श्रुतज्ञान ही ध्यानका स्वरूप धारण कर कर्मप्रकृतियोंको काट रहा है। हां, मतिज्ञानमें शुद्धआत्माका मानस प्रत्यक्ष होना

सभी श्रुतज्ञानोंसे बढिया पदार्थ है, फिर उसमें भी श्रुतका अभ्यास कारण है । किन्तु मतिज्ञान तो इतना व्यापक नहीं है । अतः पक्षमें नहीं ठहरनेके कारण उक्त तीनों हेतु असिद्ध हैं ।

सामान्यार्पणायां हि मतिश्रुतयोः साहचर्यादयो न विशेषार्पणायां पौर्वापर्यादिसिद्धेः । कार्यकारणभावादेकत्वमनयोरेवं स्यादिति चेत् न ततोपि कथंचिद्भेदसिद्धेस्तदाह ।

सामान्यकी अपेक्षा विचारा जाय तो मतिश्रुत ज्ञानोंमें सहचरपना आदि धर्म ठहर जाते हैं, किन्तु विशेष परिणामोंकी विवक्षा करनेपर तो पहिले पीछे होनापन आदिकी सिद्धि हो रही है । यदि कोई यों कहे कि मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है, इस प्रकार पूर्वापर पदार्थोंमें कार्यकारण भाव होनेसे इन मतिश्रुतका एकपना हो जावेगा, आचार्य कहते हैं कि यों तो न कहना । क्योंकि तिस कार्य कारण भावसे भी उनमें कथंचित् भेद ही सिद्ध होगा । उसको आचार्य वार्तिकद्वारा स्पष्ट कहते हैं । सुनो—

कार्यकारणभावात्स्यात्तयोरेकत्वमित्यपि ।
विरुद्धं साधनं तस्य कथंचिद्भेदसाधनात् ॥ २८ ॥

कार्यकारण भाव होनेसे उन श्रुतज्ञान और मतिज्ञानमें अभेद है, इस अनुमानका हेतु भी विरुद्ध हेत्वाभास है । क्योंकि वह कार्यकारणभाव तो कथंचित् भेदका साधन करता है । सर्वथा एक हो रहे घट, घट, या ज्ञान, ज्ञानका कार्यकारणभाव नहीं माना गया है । अतः एकत्वरूप साध्यसे विपरीत कथंचित् भेदके साथ व्याप्तिको रखनेके कारण तुम्हारा कहा गया कार्यकारणभाव-हेतु विरुद्ध है ।

न ह्युपादानोपादेयभावः कथंचिद्भेदमंतरेण मतिश्रुतपर्याययोर्घटते यतोस्य विरुद्धसाधनत्वं न भवेत्, कथंचिदेकत्वस्य साधने तु न किंचिदनिष्टम् ।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानरूप पर्यायोंका कारण कार्यरूपसे हो रहा उपादान उपादेयपना कथंचित् दोनोंमें भेदको माने विना नहीं घटित होता है जिससे कि इस कार्यकारणभाव हेतुको विरुद्ध हेत्वाभासपना न हो सके । हां, कथंचित् एकपनेका दोनोंमें साधन कियाजाय तब तो हम स्याद्वादियोंके यहां कोई अनिष्ट नहीं है । द्रव्यकी पूर्वपर्याय उपादान होती है और उस द्रव्यकी उत्तरपर्याय उपादेय होती है । मतिके एक समय ही पीछे श्रुतज्ञान होता है, अतः मति उपादान है, श्रुत उपादेय है । किन्तु उत्पत्तिकी अपेक्षा श्रुतज्ञानका मतिज्ञान निमित्तकारण है । क्योंकि श्रुतज्ञानकी धारामें कैई क्षण पूर्वमें रहनेवाला मतिज्ञान भी कारण माना गया है ।

गोचराभेदतश्चेन्न सर्वथा तदसिद्धितः ।
श्रुतस्यासर्वपर्यायद्रव्यग्राहित्ववाच्यपि ॥ २९ ॥

केवलज्ञानवत्सर्वतत्त्वार्थग्राहितास्थितेः ।
मतेस्तथात्वशून्यत्वादन्यथा स्वमतक्षतेः ॥ ३० ॥

पुनः कोई यदि यों कहे कि मति और श्रुतके विषय एक हैं, इस कारण वे दोनों एक हो जायेंगे। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना, क्योंकि उसमें सभी प्रकार विषयोंका अभेद पाया जाना असिद्ध है। अत विषय अभेद भी हेतु स्वरूपासिद्ध नामक हेत्वाभास हुआ। श्रुतज्ञानको असर्व पर्याय और सर्वद्रव्योंके ग्राहकपनेका वचन होते हुये भी केवलज्ञानके समान सम्पूर्ण तत्त्वार्थोंकी ग्राहकता सिद्ध हो रही है और मतिज्ञानको तिस प्रकार परोक्षरूपसे सम्पूर्ण अर्थोंकी ग्राहकतापनका अभाव है। अन्यथा यानी ऐसा नहीं मानकर दूसरे प्रकारोंसे माननेपर तो बौद्ध, नैयायिक, मीमांसक, आदि वादियोंको भी जैनोंके समान अपने सिद्धान्तोंकी क्षति प्राप्त होगी।

" मतिश्रुतयोर्निबंधो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु " इति वचनाद्गोचराभेदस्ततस्तयोरेकत्वमिति न प्रतिपत्तव्यं सर्वथा तदसिद्धेः । श्रुतस्यासर्वपर्यायद्रव्यग्राहित्ववचनेपि केवलज्ञानवत्सर्वतत्त्वार्थग्राहित्ववचनात् । " स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने " इति तद्व्याख्यानात् ।

श्री उमास्वामी महाराजका सूत्र है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विषयनिबन्ध सम्पूर्ण द्रव्य और असम्पूर्ण पर्यायोंमें है। इस कथन द्वारा विषयका अभेद मानकर फिर उस विषय अभेदसे उन मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका एकपना साधा जाय, यह तो नहीं समझना चाहिये। क्योंकि सभी प्रकार वह विषयोंका अभेद असिद्ध है। देखिये, श्रुतज्ञानको अल्पपर्यायें और सम्पूर्ण द्रव्योंके ग्राहकपनका वचन होते हुये भी केवलज्ञानके समान सम्पूर्ण तत्त्वार्थोंके ग्राहकपनका वचन है। श्री समन्तभद्राचार्यने आप्तमीमांसामें उमास्वामी महाराजके उस सूत्रका इस प्रकार व्याख्यान किया है कि स्याद्वाद यानी श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही सम्पूर्ण तत्त्वोंका प्रकाश करनेवाले हैं। भेद इतना ही है कि श्रुतज्ञान परोक्षरूपसे सम्पूर्ण पदार्थोंको जानता है और केवलज्ञान सम्पूर्ण पदार्थोंको प्रत्यक्ष रूपसे जानता है, किन्तु इसका विशेष विवरण अष्टसहस्रीमें किया गया है।

न मतिस्तस्यास्तर्कात्मिकायाः स्वार्थानुमानात्मिकायाश्च तथा भावराहित्वात् । न हि यथा श्रुतमनंतव्यंजनपर्यायसमाक्रांतानि सर्वद्रव्याणि गृह्णाति न तथा मतिः । स्वमतसिद्धांतेऽस्याः वर्णसंस्थानादिस्तोकपर्यायविशिष्टद्रव्यविषयतया प्रतीतेः । स्वमतविरोधोपि तस्यान्यथैवावतारात् तयोरसर्वपर्यायद्रव्यविषयत्वमात्रमेव हि स्वसिद्धांते प्रसिद्धं न पुनरनंतव्यंजनपर्यायाशेषद्रव्यविषयत्वमिति तद्व्याख्यानमप्यविरुद्धमेव बाधकाभावादिति न विषयाभेदस्तदेकत्वस्य साधकः ।

किन्तु मतिज्ञान तो ऐसा श्रुतके सदृश नहीं है, तर्कस्वरूप अथवा स्वार्थानुमानस्वरूप भी उस मतिज्ञानमें सबसे बडे मतिज्ञानको तिसप्रकार श्रुतज्ञानके समान सर्व तत्त्वोंका ग्राहकपना नहीं है, जिस प्रकार अनन्त व्यंजनपर्यायोंसे चारों ओर घिरे हुये संपूर्ण द्रव्योंको श्रुतज्ञान ग्रहण करता है। तिस प्रकार मतिज्ञान नहीं जानता है। अपने जैनमतके सिद्धान्तमें वर्ण, रस, संस्थान, आदि मोटी मोटी थोडीसी पर्यायोंसे विशिष्ट हो रहे द्रव्यको विषय करनेपनसे इस मतिज्ञानकी प्रतीति हो रही है। अतः अपने मतसे विरोध भी आता है। क्योंकि उसका दूसरे प्रकार ही व्याख्यान द्वारा अवतार है। उन मति और श्रुत दोनोंके केवल असर्व पर्याय और द्रव्योंको विषय करनापन ही अपने सिद्धान्तमें प्रसिद्ध हो रहा है। किंतु फिर दोनोंको अनन्त व्यंजनपर्याय और सम्पूर्ण द्रव्योंको विषय करलेनापन नहीं माना गया है। यानीं अकेला श्रुतज्ञान ही अनन्त व्यंजनपर्यायोंसे सहित सम्पूर्ण द्रव्योंको जान सकता है। इस प्रकार उस सूत्रका व्याख्यान करना भी अविरुद्ध ही पडता है। क्योंकि कोई बाधक प्रमाण नहीं है। इस कारण विषयका अभेद होना उन मति, श्रुतज्ञानोंके एकपनका साधक नहीं है। कहा समुद्र और कहा सरोवर।

इंद्रियानिंद्रियायत्तवृत्तित्वमपि साधनम्।
न साधीयोप्रसिद्धत्वाच्छ्रुतस्याक्षानपेक्षणात्॥ ३१॥

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका अभेद सिद्ध करनेके लिये दिया गया बहिरंग इन्द्रिय और अन्तरंग इन्द्रियके अधीन होकर प्रवर्त्तना रूप हेतु भी अधिक अच्छा नहीं है। क्योंकि पक्षमें नहीं रहनेके कारण सुलभतासे असिद्ध हेत्वाभास है। श्रुतज्ञानको स्पर्शन आदि बहिरंग इंद्रियोंकी कथमपि अपेक्षा नहीं है। यों परम्परासे विचारा जाय तब तो मोक्षको बंधकी अपेक्षा है। अन्न, फल, आदि भक्ष्य पदार्थोंको अभक्ष्य मलमूत्र युक्त खातकी अपेक्षा है। प्रकाशको अन्धकारकी अपेक्षा है। वस्तुतः न्यायशास्त्रकी दृष्टिसे देखा जाय तो परम्परासे कारण पडनेवाले पदार्थोंको प्रकृत कार्यका कारणपना ही प्राप्त नहीं है। पितामह [बाबा] अपनी पौत्री [नातिनी] को बेटी कह देता है। किंतु पुत्रवधूको स्वपत्नी कहनेसे महान पापका भागी होकर लोकनिंद्य हो जायगा। भाइयो! लोकप्रसिद्ध स्थूलव्यवहारके अनुसार सूक्ष्मकार्य कारणभावको न घसीटो।

मतिश्रुतयोरेकत्वमिंद्रियानिंद्रियायत्तवृत्तित्वादित्यपि न श्रेयः साधनमसिद्धत्वात्। साक्षादक्षानपेक्षत्वाच्छ्रुतस्य, परंपरया तु तस्याक्षापेक्षत्वं भेदसाधनमेव साक्षादसाक्षादक्षापेक्षयोर्विरुद्धधर्माध्यासासिद्धेः॥

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान [पक्ष] में एकपनाही है। (साध्य) इन्द्रिय और मनके अधीन होकर प्रवृत्ति करनेवाले होनेसे (हेतु) अर्थात्—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनोंके कारण इन्द्रिय

और मन है। आचार्य कहते हैं कि यह हेतु भी श्रेष्ठ नहीं है। क्योंकि इसमें स्वरूपासिद्ध दोष है। साक्षात् अव्यवहित रूपसे श्रुतज्ञान इन्द्रियोंकी अपेक्षा नहीं करता है। हां, परम्परासे तो उस श्रुतज्ञानको बहिर् इन्द्रियोंकी अपेक्षा है, किन्तु एतावता उनके भेदकी ही सिद्धि होगी, मतिज्ञानको साक्षात् रूपसे बहिरंग इन्द्रियोंकी अपेक्षा है। और श्रुतज्ञानको व्यवहितरूपसे बहिरंग इन्द्रियोंकी अपेक्षा है। इस प्रकार विरुद्धधर्मोंसे आरूढपनेकी सिद्धि हो जानेसे मति और श्रुतमें भेद सिद्ध हो जायगा। अतः उक्त हेतु विरुद्ध भी हुआ।

नानिंद्रियनिमित्तत्वादीहनश्रुतयोरिह ।
तादात्म्यं बहुवेदित्वाच्छ्रुतस्येहाव्यपेक्षया ॥ ३२ ॥
अवग्रहगृहीतस्य वस्तुनो भेदमीहते ।
व्यक्तमीहा श्रुतं त्वर्थान् परोक्षान् विविधानपि ॥ ३३ ॥

एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रियजीवोंतक अवग्रह मतिज्ञान ही पाया जाता है। ईहा, अवाय, धारणा तो संज्ञी जीवोंके ही होते हैं। इस प्रकरणमें ईहामतिज्ञान और शब्दजन्य वाच्य अर्थ ज्ञानरूप श्रुतज्ञानका निमित्त कारण मन है। अतः मति और श्रुतमें मनको निमित्तपना हो जानेसे दोनोंका तादात्म्य है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्यों कि ईहा मतिज्ञानकी अपेक्षासे श्रुतज्ञान बहुत अधिक विषयको जाननेवाला है। अवग्रहसे ग्रहण की गयी वस्तुके विशेष अंशोंमें संशय होनेपर उसके निरासको लिये प्रवर्त्तता हुआ और तव्यप्रत्ययान्तसे कहा गया ऐसा ईहा ज्ञान वस्तुके केवल थोडे भेद अंशका प्रकटरूपसे ईहन करता है। और श्रुतज्ञान तो नाना प्रकारके परोक्ष अर्थोंको भी जानता है। कहां तो बिन्दुमात्र ईहा ज्ञानका विषय और कहां श्रुतज्ञानका समुद्रसमान अपरिमित विषय। ऐसी दशामें भला ईहामतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों एक कैसे हो सकते हैं ? अर्थात्-नहीं हो सकते हैं। यों तो सभी ज्ञानोंमें उपादान कारण एक आत्मा है। इतने ही से क्या सभी ज्ञान एक हो जायगे ? कभी नहीं।

न हि यादृशमनिंद्रियनिमित्तत्वमीहायास्तादृशं श्रुतस्यापि । तन्निमित्तत्वमात्रं तु न तयोस्तादात्म्यगमकमविनाभावाभावात् सत्त्वादिवत् ।

यद्यपि ईहा मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों ही मनसे होते हैं। किन्तु जिस प्रकारका ईहाज्ञानका निमित्तपना मनको प्राप्त है, उस सरीखा श्रुतज्ञानका भी निमित्तपना मनमें नहीं है। कुलालका घटको और पुत्रको उत्पन्न करनेमें निमित्तपना न्यारा न्यारा है। हां, केवल सामान्यरूपसे उस मनका निमित्तपना तो उन मति और श्रुतके तादात्म्यकपनका गमक हेतु नहीं है। क्योंकि प्रकरणप्राप्त हेतु और साध्यकी अविनाभावरूप व्याप्ति नहीं बनती है। जैसे कि सामान्यधर्म सत्ता या द्रव्यत्व आदि

हेतुओंसे जड चेतन, आकाश पुद्गल, मुक्त, संसारी, आदिमें एकपना नहीं साधा जाता है। पशुपनसे गधे और घोडेमें सर्वथा एकपना साधनेवाला पहिली श्रेणीका मूर्ख है ।

केचिदाहुर्मतिश्रुतयोरेकत्वं श्रवणनिमित्तत्वादिति, तेपि न युक्तिवादिनः। श्रुतस्य साक्षाच्छ्रवणनिमित्तत्वासिद्धेः तस्यानिंद्रियवत्त्वाद्दृष्टार्थसजातीयविजातीयनानार्थपरामर्शनस्वभावतया प्रसिद्धत्वात् ।

कोई वादी यहां इस प्रकार कहरहे हैं कि कर्ण इन्द्रियको निमित्त पाकर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं, इस कारण दोनोंका एकपना है, ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसा कहनेवाले वे वादी भी युक्तिपूर्वक कहनेकी टेव रखनेवाले नहीं हैं । क्योंकि कर्णइन्द्रियको साक्षात् निमित्त मानकर श्रुतज्ञानका उत्पन्न होना असिद्ध है । कर्णइन्द्रियजन्य मतिज्ञानमे तो अव्यवहित रूपसे निमित्तकारण कर्ण इन्द्रिय है। हां, बहुतसे श्रुतज्ञान शद्बको सुनकर वाच्य अर्थकी ज्ञप्तिके लिये उत्पन्न होते हैं। उनमें परम्परासे कर्णइन्द्रिय कारण है। कानसे शद्बोंको सुनकर कर्णजन्य मतिज्ञान होता है, पश्चात् संकेत ग्रहणका स्मरण होता है, पुनः वाच्य अर्थका ज्ञान हुआ श्रुतज्ञान समझा जाता है। "श्रुतमनिन्द्रियस्य" इस सूत्रके अनुसार उस श्रुतज्ञानकी अनिन्द्रियवान्पना यानी मनको निमित्त मानकर उत्पन्न होनेपन और प्रत्यक्षसे नहीं देखे गये सजातीय और विजातीय अनेक अर्थोंका विचार करनारूप स्वभावोंसे सहितपने करके प्रसिद्धि होरही है ।

श्रुत्वावधारणाद्ये तु श्रुतं व्याचक्षते न ते तस्य श्रोत्रमतेर्भेदं प्रख्यापयितुमीशते । श्रुत्वावधारणाच्छ्रुतमित्याचक्षाणाः शद्बं श्रुत्वा तस्यैवावधारणं श्रुतं सम्प्रतिपन्नास्तदर्थस्यावधारणं तदिति प्रष्टव्याः । प्रथमकल्पनायां श्रुतस्य श्रवणमतेरभेदप्रसंगोऽशक्यप्रतिषेधः, द्वितीयकल्पनायां तु श्रोत्रमतिपूर्वमेव श्रुतं स्यान्नेद्रियांतरमतिपूर्वं । तथाहि —

शद्बको सुनकर निर्णय करनेसे श्रुतज्ञान होता है, इस प्रकार जो श्रुतका व्याख्यान करते हैं वे वादी तो उस श्रुतज्ञानका कर्णइन्द्रियजन्य मतिज्ञानसे भेदको प्रसिद्ध करानेके लिये समर्थ नहीं हैं। हम जैनोंको उनसे पूंछना चाहिये कि सुन करके अवधारण करनेसे श्रुतज्ञान होता है । इस प्रकार व्यक्त कहनेवाले वादी शद्बको सुनकर उसी शद्बके निर्णयको श्रुतज्ञान समझ बैठे हैं ? अथवा इस शद्ब द्वारा कहे गये वाच्य अर्थके निर्णयको श्रुतज्ञानपनेका विश्वास कर रहे हैं। बताओ। पहिली कल्पना लेनेपर तो श्रुतज्ञानका कर्ण इन्द्रियजन्य मतिज्ञानसे अभेद हो जानेके प्रसंगका कोई निषेध नहीं कर सकता है। क्योंकि शद्बका श्रावण प्रत्यक्ष मतिज्ञान है और उसीको तुमने श्रुतज्ञान कह दिया है । हां, दूसरी कल्पना स्वीकार करनेपर तो कुछ कुछ ठीक दीखता है । किन्तु इतना दोष है कि अकेले कर्ण इन्द्रियजन्य मतिज्ञानको ही कारण मानकर श्रुतज्ञान उत्पन्न हो सकेगा ।

अन्य रसना, घ्राण, स्पर्शन, नेत्र, और मन इन्द्रियसे उत्पन्न हुये मतिज्ञानरूप कारणोंसे श्रुतज्ञान नहीं हो सकेगा। इसी बातको स्पष्टकर दिखलाते हैं।

शब्दं श्रुत्वा तदार्थानामवधारणमिष्यते।
यैः श्रुतं तैर्न लभ्येत नेत्रादिमतिजं श्रुतम्॥ ३४॥

शब्दको सुन करके उसके वाच्य अर्थोंका निश्चय ही श्रुतज्ञान जिन वादियोंके द्वारा माना जाता है, उन करके नेत्र आदि इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न हुये मतिज्ञानसे बनाये गये श्रुतज्ञानका लाभ न किया जायगा। किन्तु देखा जाता है कि स्पर्शन इन्द्रियोंसे रूखे, चिकने, ठण्डे, आदिको जानकर उनसे दूसरे अर्थ ईंट, मलाई, मखमल, आदि अर्थोंका अंधेरेमें श्रुतज्ञान हो जाता है। रसना इन्द्रियसे मीठापन आदि रस या रसवान् स्कन्धोंको चख कर रसोंके तारतम्यरूप अन्य पदार्थोंका यानी पहिले आमसे यह अधिक मीठा आम है और अमुक आम न्यून रसवाला था, ऐसे ज्ञान हो जाते हैं, अथवा इन लड्डुओंमें खाड अधिक है तथा दूसरे लड्डुओंमें बूंदी कमती है, फलाने हलवाईके ये बनाये हुये हैं, आदि। एवं घ्राण इन्द्रियसे सुगंध दुर्गंध या गन्धवान् द्रव्यका मतिज्ञान करके पीछे उस इत्रके निर्मापक कर्त्ता, स्थान, भाव, गन्ध, तारतम्य, आदि अर्थान्तरोंका श्रुतज्ञान हो जाता है। नेत्रद्वारा काले, नीले आदि रूपोंको देखकर उन अर्थोंके सजातीय विजातीय अन्य पदार्थोंका श्रुतज्ञान होता देखा जाता है। कर्ण इन्द्रियद्वारा शब्दको सुनकर वाच्य अर्थका ज्ञान तो आप मानते ही हैं। इसी प्रकार अंतरंग इन्द्रिय मनसे सुख, दु.ख, वेदना, आदिका मानस मतिज्ञान किये पीछे रोगका या इष्ट, अनिष्ट, पदार्थोंके ग्रहण, त्यागका परामर्शरूप श्रुतज्ञान होता रहता है। सङ्कल्प विकल्प करनेवाले जीवोंके या न्यायशास्त्रके विचारनेमें उपयोग रखनेवाले विद्वानोंके तो मानस मतिज्ञानसे उत्पन्न हुए असंख्य श्रुतज्ञान उत्पन्न होते रहते हैं। उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणीमें मानस मतिज्ञानको व्यवहित, अव्यवहित, रूपसे कारण मानकर हुये अनेक श्रुतज्ञानोंका समुदाय रूप ध्यान है। अतः केवलशब्दको सुनकर वाच्य अर्थके ज्ञान होनेको ही श्रुतज्ञान नहीं समझना, किन्तु अन्य इन्द्रियोंसे भी मतिज्ञान होकर पीछे श्रुतज्ञान होते हैं। श्रुतज्ञानको भी कारण मानकर अन्य श्रुतज्ञान होते जाते हैं। जैसे कि घट शब्दको सुनकर मिट्टीके घडेका ज्ञान हुआ। पीछे जल धारण शक्तिका ज्ञान दूसरा श्रुतज्ञान हुआ, यह श्रुतज्ञानसे जन्य श्रुतज्ञान है। अथवा नेत्रोंसे दूरवर्ती धुयेंको देखकर उससे भिन्न अग्निका ज्ञान होना प्रथम श्रुतज्ञान हुआ। तथा वह प्रदेश उष्ण है। यह दूसरा श्रुतज्ञान हुआ। इस प्रकार पहिले पहिले श्रुतज्ञानोंसे हजारों श्रुतज्ञान उत्पन्न होते रहते हैं। संज्ञी जीवके होनेवाले चारों ध्यानोंमें अन्तर्मुहूर्त तक यही धारा चलती रहती है। बहुत पहिले समयमें हुआ मतिज्ञान उन श्रुतज्ञानोंका कारण मान लिया जाता है, जैसे कि मन पर्यय ज्ञान और श्रुतज्ञानका परम्परासे कारण दर्शन हो जाता है। रूपके ज्ञान या रसके ज्ञानमें जैसे चक्षु, अचक्षुदर्शन

अव्यवहित कारण हैं, वैसे श्रुत और मनःपर्ययमें नहीं । पहिले दर्शन होता है पीछे मतिज्ञान उसके पीछे श्रुतज्ञान और कभी कभी अनेक श्रुतज्ञान भी होते रहते हैं । उनमें वह पहिले हुआ दर्शन ही परम्परासे कारण माना जाता है । इसी प्रकार पहिले दर्शन पुनः ईहा मतिज्ञान, पश्चात् मनःपर्यय ज्ञान होता है । प्रकरणमें छऊं इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुये मतिज्ञानके पश्चात् अर्थान्तरोंका ज्ञान होना रूप श्रुतज्ञान माना गया है ।

यदि पुना रूपादीनुपलभ्य तदविनाभाविनामर्थानामवधारणं श्रुतमित्यपीष्यते श्रुत्वावधारणात् श्रुतमित्यस्य दृष्ट्वावधाणात् श्रुतमित्याद्युपलक्षणत्वादिति मतं तदा न विरोधः प्रतिपत्तिगौरवं न स्यात् ।

यदि तुम फिर यह कहो कि रूप, रस, स्पर्श, आदिकोंके साथ अविनाभाव रखनेवाले अन्य अर्थोंका अवधारण करना भी श्रुतज्ञान है, यह भी हमको इष्ट है । सुनकरके अवधारण करनेसे श्रुतज्ञान होता है यह तो उपलक्षण है । किन्तु देखकरके, छू करके, सूंघ करके, चाख करके और मानस मतिज्ञान करके भी श्रुतज्ञान होते हैं । रोटी खवादो, यहां रोटी पदसे दाल, साग, चटनी, मोदक आदि सबका ग्रहण है । कौआसे दही की रक्षा करना, यहां कौआ पदसे दहीको बिगाडनेवाले बिल्ली, कुत्ता, चील, आदि सबका ग्रहण है, ऐसे ही यहां भी रूप आदिकोंके मतिज्ञानोंका ग्रहण करना चाहिये । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार मन्तव्य होय तब तो हम जैनोंको कोई विरोध नहीं है । उपलक्षण माननेसे प्रतिपत्ति करनेमें गौरव भी नहीं होवेगा । अन्यथा एक एकका नाम लेनेसे शिष्यको समझनेमें भारी बोझ पडता ।

न चैवमपि मतेः श्रुतस्याभेदः सिध्येत् तल्लक्षणभेदाच्चेत्युपसंहर्तव्यम् ।

और इस प्रकार भी मतिज्ञानसे श्रुतज्ञानका अभेद सिद्ध नहीं हो पावेगा । क्योंकि उन दोनोंके लक्षण न्यारे न्यारे हैं । इस प्रकार यहां चलाये गये प्रकरणका अब सकोच करना चाहिये अर्थात्— सुनना, चाटना, छूंना आदि इन्द्रियजन्य ज्ञान मतिज्ञान हैं और इन मतिज्ञानोंसे पीछे होनेवाला अर्थनिर्णय श्रुतज्ञान है । अर्थसे अर्थान्तरके ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं । जहां कार्यकारणकी अभेदविवक्षा है वहां धूमसे अग्निका ज्ञान होना अभिनिबोध मतिज्ञान है और भेदविवक्षा होनेपर धूमसे अग्निका ज्ञान श्रुतज्ञान है । इस प्रकार लक्षणके भेदसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका भेद है ।

तस्मान्मतिः श्रुताद्भिन्ना भिन्नलक्षणयोगतः ।
अवध्यादिवदर्थादिभेदाच्चेति सुनिश्चितम् ॥ ३५ ॥

इस कारण मतिज्ञान भिन्न भिन्न लक्षणका सम्बन्ध होनेके कारण श्रुतज्ञानसे भिन्न है जैसे कि अवधि आदिक ज्ञान श्रुतज्ञानसे भिन्न हैं अथवा जैसे अवधि आदिकसे मतिज्ञान भिन्न है वैसे

श्रुतसे भी भिन्न है तथा विषयरूप अर्थ, कारण आदिके भेदोंसे भी मतिज्ञान, श्रुतज्ञानोंका भेद है, यह बात भले प्रकार निश्चित करदी गयी है।

यथैव ह्यवधिमनःपर्ययकेवलानां परस्परं मतेः स्वलक्षणभेदोऽर्थभेदः कारणादिभेदश्च सिद्धस्तथा श्रुतस्यापीति युक्तं तस्य मतेर्नानात्वमवध्यादिवत् । ततः सूक्तं मत्यादिज्ञानपंचकम् ।

जैसे ही अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानका परस्परमें तथा मतिज्ञानकी अपेक्षासे अपने अपने लक्षणोंका भेद है, जानने योग्य विषयका भेद है, कारण क्षयोपशम,उत्पत्तिक्रम आदिकों भेद सिद्ध होरहा है, इस ही प्रकार श्रुतज्ञानका भी मतिज्ञानसे स्वलक्षण आदिकी अपेक्षा भेद है। इस कारण उस श्रुतज्ञानको अवधि आदिके समान मतिज्ञानसे भिन्नपना युक्त है। तिस कारण उमास्वामी महाराजने मति आदिक न्यारे न्यारे पाच ज्ञान बहुत अच्छे कहे हैं, ऐसे निर्दोष सूत्रोंको सुनकर सभी वादी प्रतिवादियोंको प्रसन्न होनेका अवसर प्राप्त हो जाता है।

सर्वज्ञानमनध्यक्षं प्रत्यक्षोऽर्थः परिस्फुटः ।
इति केचिदनात्मज्ञाः प्रमाणव्याहतं विदुः ॥ ३६ ॥

प्रत्यक्ष, अनुमान आदि सब ही ज्ञान परोक्षरूप हैं। यानी जैनोंके सिद्धात अनुसार सभी प्रत्यक्ष, अनुमान, संशय, विपर्यय आदि ज्ञानोंका स्वांशमें स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना हम मीमासकोंको इष्ट नहीं है। हा, स्वयंको प्रत्यक्ष न करनेवाला प्रत्यक्षप्रमाण स्वय अंधेरेमें पडा होकर भी घट, पट, आदि पदार्थोंका अधिक स्पष्टतासे प्रत्यक्ष कर लेता है। जैसे कि आखके चकाचौंदको बचानेके लिए दीपककी लौका आवरण कर देनेपर दीपकका प्रत्यक्ष तो नहीं होता है, किन्तु उससे प्रकाशित पदार्थोंका प्रत्यक्ष हो जाता है। यशकी चाह नहीं कर ठोस उपकारको करनेवाला सेठ जैसे गुप्त दान करता है, दिनमें कार्य करनेवाले सर्वदा सूर्यको ही नहीं देखते रहते हैं, फिर भी सूर्यसे प्रकाशित अर्थोंका स्पष्ट प्रत्यक्ष हो रहा है, इसी प्रकार परोक्ष ज्ञानोंसे भी प्रत्यक्ष स्वरूप ज्ञप्ति हो सकती है। अनुमान आदिक परोक्षोंसे परोक्ष ज्ञप्ति तो जैनोंने भी मानी है। हाँ, उन अनुमान आदिकोंका स्वांशमें प्रत्यक्ष ज्ञान और विषय अंशमें परोक्ष ज्ञान माना है। अर्धजरतीय न्यायसे यह ज्ञानोंका स्वांशमें प्रत्यक्ष होना हमको इष्ट नहीं है। इस प्रकार कोई मीमासक कह रहे हैं। आचार्य कहते हैं कि ज्ञानस्वरूप अपनी आत्माको नहीं जानते हुए वे भी प्रमाणोंसे व्याघात दोषको प्राप्त हुए अर्थको समझ बैठे हैं, यह उनकी अन्धबुद्धिकी बलिहारी है।

परोक्षा नो बुद्धिः प्रत्यक्षोऽर्थः स हि बहिर्देशसंबद्धः प्रत्यक्षमनुभूयत इति केचित् संप्रतिपन्नास्तेप्यनात्मज्ञाः प्रमाणव्याहताभिधायित्वात् ।

हम लोगोंकी सम्पूर्ण बुद्धिया परोक्ष हैं, किंतु स्वांशमें परोक्ष हो रहे, प्रत्यक्ष -प्रमाणके विषय घट, पट, आदिक पदार्थ प्रत्यक्ष हैं। जिस कारण कि वह अर्थ बाहरके देशोंमें सम्बन्धित हो रहा प्रत्यक्षरूप अनुभवा जा रहा है। किन्तु अन्तरंगके ज्ञान तो प्रत्यक्षरूप नहीं जाने जा रहे हैं। इन्द्रिओंका प्रत्यक्ष नहीं होते हुए भी उनके द्वारा स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, अथवा इनसे विशिष्ट अर्थोंका और शब्दका प्रत्यक्ष हो जाता है। नेत्रमें सन्मुखस्थित पदार्थके पडे हुए प्रतिबिंबको कोई नहीं देखता है, किन्तु उसके बलबूतेपर हुई चाक्षुषज्ञप्तिको सर्व जानते हैं। इस प्रकार कोई भट्ट या प्रभाकर, मीमांसक भले प्रकार विश्वास कर बैठे हैं। किन्तु वे भी आत्मतत्त्वको जाननेवाले नहीं हैं। क्योंकि प्रमाणोंसे व्याहत हो रहे पदार्थोंका कथन कर रहे हैं। बाल, गोपाल, पशु, पक्षियों तकमें अपने अपने ज्ञानोंका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना देखा जाता है। तभी तो कभी कभी उन ज्ञानोंका स्मरण होना और प्रत्यभिज्ञान होना बनता है। धारणारूपसे प्रत्यक्ष हुये विना किसीकी स्मृति या प्रत्यभिज्ञान नहीं हो पाते हैं। चौइन्द्रिय बर्र, मधुमक्षिका आदिक भी अपने नियत छत्तों [घरों] को लौटती हैं, स्मरण रखती हैं। किंतु यह सब वासनायुक्त अवग्रहरूप मतिज्ञान है। छोटा ज्ञान भी बडे बडे चमत्कारक कार्योंको कर देता हैं। थोडे ज्ञानवाले पंडित पुज जाते हैं और विशेष ज्ञानी वैसा बहिरंगमें चमत्कार नहीं दिखा सकते हैं। स्वयं तत्त्वान्वेष करते बैठते हैं। ईहा, अवाय, धारणा तो संज्ञी जीवोंके ही होते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी जीवोंका तीव्र अनुभागवाली कषायसे मिश्रित हुआ ज्ञान ही गृह बनाना, बच्चे बनाना, बच्चोंके शरीर उपयोगी सम्मूर्छन करनेवाले पदार्थोंको ढूंढ निकालना आदि आश्चर्यकारक कार्योंको करा देता है।

प्रत्यक्षमात्मनि ज्ञानमपरत्रानुमानिकम् ।
प्रत्यात्मवेद्यमाहंति तत्परोक्षत्वकल्पनाम् ॥ ३७ ॥

अपनी आत्मामें तो वह ज्ञान स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे प्रतिभास रहा ही है। और दूसरे यज्ञदत्त, जिनदत्त, आदि आत्माओंमें उत्पन्न हुआ ज्ञान उन उनको प्रत्यक्ष द्वारा दीख रहा है, इस बातको हम अनुमान द्वारा जान लेते हैं। अतः प्रत्येक आत्मामें स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे जाने जा रहे ज्ञानका प्रत्यक्षपना उस ज्ञानके परोक्षपनकी कल्पनाको सब ओरसे नष्ट कर देता है। भावार्थ—सर्वज्ञको तो सभी पदार्थोंका प्रत्यक्ष है। अतः अपने ज्ञानका प्रत्यक्ष तो अवश्य होगा ही और अपने ज्ञानका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष बालकोंतकको हो रहा है। तथा धीमान् जीव दूसरे आत्माओंमें उत्पन्न हुये ज्ञानोंका स्वयं अपने अपने द्वारा प्रत्यक्ष हो जानेका अनुमान कर लेते हैं। जैसे कि अपनी मस्तक पीडाका प्रत्यक्ष कर दूसरोंकी मस्तक पीडाके प्रत्यक्ष दुःख अनुभवको करके अन्य जन अनुमानसे जान लेते हैं। अतः सम्पूर्ण ज्ञान स्वांशको जाननेमें प्रत्यक्ष प्रमाणरूप हैं।

साक्षात्प्रतिभासमानं हि प्रत्यक्षं स्वस्मिन् विज्ञानमनुमेयमपरत्र व्याहारादेरिति प्रत्यात्मवेद्यं सर्वस्य ज्ञानपरोक्षत्वकल्पनामाहंत्येव । किंच—

जिस कारण कि अपनेमें तो साक्षात् रूपसे प्रत्यक्ष प्रतिभास रहा ज्ञान है ही और दूसरोंकी आत्मामें अपने अपने ज्ञानका प्रत्यक्षपना हम वचनकुशलता, चेष्टा, प्रवृत्ति, स्मरण होना आदिकसे अनुमान कर लेते हैं, इस कारण प्रत्येक आत्माओंमें अपने अपने स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे जाना जा रहा ज्ञान सभी ज्ञानोंके स्वांशमें परोक्षपनकी कल्पनाको समूल चूल नष्ट कर ही देता है। अथवा सभी वादियों द्वारा माने गये अपने द्वारा ही ज्ञानके प्रत्यक्ष न होनेपनको वह प्रत्यक्षरूप अनुभव किया जा रहा ज्ञान खण्डन कर देता है। ऐसी अधिक प्रसिद्ध बातको सिद्ध करनेके लिये हम विशेष परिश्रम या चिन्ता क्यों करें ? दूसरी बात यह है कि—

विज्ञानस्य परोक्षत्वे प्रत्यक्षोऽर्थः स्वतः कथम् ।
सर्वदा सर्वथा सर्वः सर्वस्य न तथा भवेत् ॥ ३८ ॥

विज्ञानको सर्वथा परोक्ष माननेपर सभी जीवोंके सदा, सभी प्रकारसे, सम्पूर्ण पदार्थ तिस प्रकार स्वतः ही क्यों न प्रत्यक्ष हो जावें । भावार्थ—देवदत्तको जैसे अपना ज्ञान परोक्ष है, और उस परोक्षज्ञान द्वारा देवदत्तको जैसे घटका प्रत्यक्ष हो जाता है, उसी प्रकार इन्द्रदत्त, चन्द्रदत्त आदिकोंको भी देवदत्तका ज्ञान परोक्ष है । यानी देवदत्तको जैसे अपने ज्ञानकी ज्ञप्ति (इल्म) नहीं है, वैसे ही इन्द्रदत्त आदिको भी देवदत्तके ज्ञानकी ज्ञप्ति नहीं है, तो फिर देवदत्तको ही सहारनपुरमें घट, पट आदिकोंका प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाय और उस देवदत्तके परोक्ष ज्ञान द्वारा बम्बईमें बैठे हुये इन्द्रदत्त आदिको उन घट आदिकोंका ज्ञान नहीं होय, इसका नियामक कौन है ? बताओ। परोक्षज्ञानसे तो सब जीवोंको सदा, सभी प्रकार सम्पूर्ण अर्थोंका प्रत्यक्ष होते रहना चाहिये। आत्मामें भिन्न पडे परोक्ष ज्ञानोंपर सबका एकसा अधिकार है । सभी जीव दूसरोंके परोक्ष ज्ञानसे तज्ज्ञेयपदार्थोंकी ज्ञप्तिया कर बैठेंगे । छुट्टी दे देनेपर अन्धेरेमें चाहे जो मन चला पुरुष चाहे जिस पदार्थपर अधिकार (कब्जा) कर सकता है ।

ग्राहकपरोक्षत्वेपि सर्वदा सर्वथा सर्वस्य पुंसः कस्यचिदेव स्वतः प्रत्यक्षोऽर्थ कश्चित्कदाचित्कथंचिदिति व्याहततरां ।

पदार्थोंका ग्रहण करनेवाले ज्ञानको परोक्षपना होते हुये भी सदा सभी प्रकार सभी जीवोंमेंसे किस ही एक जीवके किस ही समय किसी प्रकार किसी एक अर्थका ही स्वतः प्रत्यक्ष होवे यह तो पूर्वापर वचनोंका प्रकृष्ट रूपसे अत्यधिक व्याघात हो रहा है। जैसे कि घास खोदनेवालेकी झोपडीमें चार हाथ नीचे भूमिमें धन गढा हुआ है । किन्तु उस गंवारको धनका ज्ञान न होनेसे

वह लखपति नहीं कहा जाता है। यदि हजारों स्थानोंपर गढे हुये अज्ञात भूमिधनसे ही मनुष्य धनाढ्य बन जावें, तब तो उस धनसे सभी कोई धनाढ्य बन सकते हैं। कोई रोकनेवाला नहीं है। ऐसी दशामें किसी एक ही को धनपति कहना और अन्योंको धनपति न कहना व्याघात दोष युक्त है। अंधेरेमें भिन्न पडी हुयी सर्वसाधारण सम्पत्तिपर सबका एकसा अधिकार होना चाहिये। पक्षपात करनेवाला पीटा जायगा।

ततः परं च विज्ञानं किमर्थमुपकल्प्यते।
कादाचित्कत्वसिध्यर्थमर्थज्ञप्तेर्न सा परा ॥ ३९ ॥
विज्ञानादित्यनध्यक्षात् कुतो विज्ञायते परैः।
लिंगाच्चेत्तत्परिच्छित्तिरपि लिंगांतरादिति ॥ ४० ॥
क्वावस्थानमनेनैव तत्रार्थापत्तिराहता।
अविज्ञातस्य सर्वस्य ज्ञापकत्वविरोधतः ॥ ४१ ॥

एक बात यह भी है कि मीमांसकके यहां अर्थकी ज्ञप्ति यदि प्रत्यक्षरूप हो रही है तो उससे न्यारा करणज्ञान पुनः किस प्रयोजनके लिए कल्पित किया जा रहा है? यदि मीमांसक यों कहें कि अर्थज्ञप्तिके कभी कभी होनेपनकी सिद्धिके लिए प्रमाणात्मक करणज्ञान एक द्वार माना गया है। इसपर हम जैनोंका यह कहना है कि वह अर्थज्ञप्ति तो ज्ञानसे भिन्न कोई न्यारी वस्तु नहीं है। यदि परोक्ष करणज्ञानसे प्रत्यक्षज्ञप्तिको भिन्न माना जायगा तो बताओ वह दूसरों करके कैसे जानी जा सकेगी? यदि किसी अविनाभावी हेतुसे उस अर्थज्ञप्तिका ज्ञान करोगे तो उस हेतुका ज्ञान भी अन्य हेतुओंसे जाना जा सकेगा और उन तीसरे हेतुओंका ज्ञान भी चौथे आदि हेतुओंसे ज्ञात होगा। इस प्रकार भला कहां अवस्थिति होगी? यों तो अनवस्था दोष हो जायगा। इस कथनसे अर्थापत्तिके द्वारा हेतुओंका ज्ञान माननेपर अनवस्था हो जानेके कारण वहां अर्थापत्ति भी मर गई समझ लेनी चाहिये। नहीं जाने हुये सब ज्ञापकोंको ज्ञापकपनका विरोध है। "नाज्ञातं ज्ञापकं"। अर्थज्ञप्ति और उसको जतानेवाले हेतु ज्ञापक हैं। इस कारण उनका ज्ञान होना आवश्यक है। कारक हेतु तो अज्ञात होकर भी कार्यको कर देता है। किन्तु ज्ञापक हेतु तो ज्ञात हुआ ही अन्य पदार्थको समझाता है। अन्यथा नहीं।

स्वतः प्रत्यक्षादर्थात्परं विज्ञानं किमर्थं चोपकल्पित इति च वक्तव्यं परैः कादाचित्कत्वसिध्यर्थमर्थज्ञप्तेरिति चेत्, उच्यते। न सा पराविज्ञानात् ततो नाध्यक्षा सती कुतो विज्ञातव्या? लिंगाच्चेत्तत्परिच्छित्तिरपि लिंगांतरादेव इत्येतदुपस्थापनविरोधाविशेषात्। अर्थापत्त्यंतरात्तस्य ज्ञानेनवस्थानात्।

जब कि अर्थका अपने आप ही प्रत्यक्ष हो रहा है, तो उससे भिन्न परोक्षविज्ञान किसलिये कल्पित किया है ? यह उन प्रतिपक्षी मीमांसकोंकी ओरसे कहकरके स्पष्टीकरण होना चाहिये। यदि अर्थकी ज्ञप्तिके कभी कभी होनेपनकी सिद्धिके लिये परोक्षज्ञानकी कल्पना करोगे तो हम कहते हैं कि वह अर्थज्ञप्ति विज्ञानसे न्यारी तो है नहीं। तिस कारण परोक्षरूप विज्ञानसे अभिन्न अनध्यक्ष होती हुई वह अर्थज्ञप्ति भला फिर किससे जानने योग्य है ? बताओ। यदि हेतुसे उस अर्थज्ञप्तिका ज्ञान करोगे तो उस ज्ञापक हेतुकी ज्ञप्ति भी अन्य लिंगसे ही होगी और उस लिंगकी भी अन्य हेतुओंसे ज्ञप्ति होगी। इस प्रकार यह अनेक हेतुमालाओंके उठानेसे विरोध उपस्थित होगा। नहीं जाना गया पन सब हेतुओंमें विशेषता रहित है। यदि अन्य अर्थापत्तियोंसे उसका ज्ञान करोगे तो अनवस्था हो जायगी। इस कारण ज्ञानका स्वतः प्रत्यक्ष होना मानो। ज्ञान जब घट, पट आदिको जानता है, तभी अपनी उन्मुखतासे स्वयंको भी जानता रहता है।

एतेनोपमानादेस्तद्विज्ञानेप्यनवस्थानमुक्तं सादृश्यादेरज्ञातस्योपमानाद्युपजनकत्वासंभवात् ज्ञानेप्युपमानांतरादिपरिकल्पनस्यावश्यंभावित्वात्। तदेवं प्रमाणविरुद्धं संविदंतोऽनात्मज्ञा एव।

इस कथनसे उपमान, व्याप्तिज्ञान, आदिसे उन लिंगोंका ज्ञान करनेपर भी अनवस्था दोष कह दिया गया समझ लेना। क्योंकि उपमान ज्ञानका जनक सादृश्य है। व्याप्तिज्ञानके जनक उपलम्भ अनुपलम्भ हैं। संकेत ग्रहण किया गया शब्द तो आगमका जनक है। इन सबको जाननेकी आवश्यकता है तभी उपमान आदि ज्ञान प्रवर्तते हैं। विना जाने हुये सादृश्य आदिको उपमान आदिका जनकपना असम्भव है। इस कारण उन सादृश्य आदिको जाननेमें भी अन्य उपमान आदिकोंकी कल्पना अवश्य होवेगी और यों अनवस्था दोष होवेगा। तिस कारण इस प्रकार प्रमाणसे विरुद्ध हो रहे पदार्थोंकी सम्प्रतिपत्ति करनेवाले मीमांसक अनात्मज्ञ ही हैं। यानी स्वयं अपनेको भी नहीं जान रहे हैं। यहांतक छत्तीसवीं कारिकाका उपसंहार कर दिया है।

ज्ञाताहं बहिरर्थस्य सुखादेश्चेति निर्णयात्।
स्वसंवेद्यत्वतः पुंसो न दोष इति चेन्मतम् ॥ ४२ ॥
स्वसंवेद्यांतरादन्यद्विज्ञानं किं करिष्यते।
करणेन विना कर्तुः कर्मणि व्यावृतिर्न चेत् ॥ ४३ ॥
स्वसंवित्ति क्रिया न स्यात् स्वतः पुंसोर्थवित्तिवत्।
यदि स्वात्मा स्वसंवित्तावात्मनः करणं मतम् ॥ ४४ ॥

स्वार्थवित्तौ तदेवास्तु ततो ज्ञानं स एव नः ।
प्रत्यक्षं वा परोक्षं तज् ज्ञानं द्वैविध्यमस्तु ते ॥ ४५ ॥

आत्माका प्रत्यक्ष माननेवाले भट्ट और फलज्ञानका प्रत्यक्ष माननेवाले प्रभाकर दोनों ही मीमांसक पंडित करणज्ञानको परोक्ष मानते हैं। आत्मा बहिरंग घट, पट, आदि अर्थ और सुख, इच्छा, ज्ञान, आदि अन्तरंग अर्थोका ज्ञाता हूं, इस प्रकार निर्णय होजानेसे आत्माका स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे जाना गया मन अनुभूत हो रहा है, अतः कोई दोष नहीं है। भावार्थ—करणज्ञान भले ही परोक्ष रहे, किन्तु प्रत्यक्ष आत्मासे घट, पट, आदि अर्थोंकी प्रत्यक्ष ज्ञप्ति होजावेगी कोई दोष नहीं आता है, आचार्य कहते है कि यदि इस प्रकार मीमांसकका मत है तो हम कहते हैं कि स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे जानलिये गये अन्तरंग प्रत्यक्षस्वरूप आत्मासे न्यारा मानागया विज्ञान भला किस कार्यको करेगा ? बताओ। यानी जब आत्मा प्रत्यक्षरूप सतत प्रतिभास रहा है तो करणज्ञान मानना व्यर्थ है, इसपर तुम मीमांसक यदि यों कहो कि कर्त्ता आत्माका करणके विना कर्म करनेमें व्यापार नहीं होता है, जैसे कि कुठारके विना बढई काठको नहीं फाड सकता है, इसपर तो हम जैन कहेंगे कि तब तो आत्माकी अर्थवेदनके समान स्वयं स्वको जाननेकी क्रिया न हो सकेगी। क्योंकि भाट्टोंने आत्माके प्रत्यक्ष करनेमें न्यारा करणज्ञान माना नहीं है। यानी अर्थके वेदनमें आत्माको जैसे करण ज्ञानकी अपेक्षा है वैसे ही स्वयं अपनेको जाननेमें भी न्यारे करणज्ञानकी अपेक्षा होगी और फिर उस करणज्ञानवाले कर्त्ता आत्माको भी स्वके जाननेके लिये अन्य करणज्ञानकी आकांक्षा पडेगी, इस ढंगसे एक शरीरमें अनेक प्रमाता मानने पडेंगे और अनवस्था भी हो जायगी। यदि आत्माका स्वकी संवित्ति करनेमें स्वयं आत्मा ही करण माना जायगा, तब तो स्व और अर्थकी ज्ञप्तिमें भी वही आत्मा करण हो जाओ। इस कारण वही आत्मा तो हम स्याद्वादियोंके यहां ज्ञानस्वरूप है। और वह ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपसे दो प्रकारपनेको व्यापकर धार रहा है।

न सर्वथा प्रतिभासरहितत्वात् परोक्षं ज्ञानं करणत्वेन प्रतिभासनात्। केवलं कर्मत्वेनाप्रतिभासमानत्वात् परोक्षं तदुच्यत इति कश्चित् तं प्रत्युच्यते।

सभी प्रकार प्रतिभासोंसे रहित होनेके कारण ज्ञान परोक्ष है, यह नहीं समझना। किन्तु करणपने करके उस प्रमाणज्ञानका प्रतिभास हो रहा है। हां, केवल कर्मपनेसे प्रतिभासमान नहीं होनेके कारण वह करणज्ञान परोक्ष कहा जाता है। अर्थात्—लोकमें प्रमितिक्रियाके कर्मका प्रत्यक्ष होना माना गया है। प्रमितिके कर्त्ता, करण और फलज्ञानके प्रतिभासमान होते हुये भी उनका प्रत्यक्ष होना इष्ट नहीं हैं। काठ छिदता है। बढई, वसूला, छीलना, ये नहीं छिलते हैं, इस प्रकार कोई मीमांसक कह रहा है। उसके प्रति आचार्य महाराज करके समाधान वचन कहा जाता है।

कर्मत्वेनापरिच्छित्तिरप्रत्यक्षं यदीष्यते ।
ज्ञानं तदा परो न स्यादध्यक्षस्तत एव ते ॥ ४६ ॥

प्रमितिके कर्मपनेसे ज्ञानपदार्थकी परिच्छित्ति न होना यदि उस ज्ञानका अप्रत्यक्ष माना जाता है तब तो इस ही कारण तुम्हारे मतमें कर्मपनेसे भिन्न कर्त्ता आत्माका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होसकेगा। किन्तु कुमारिलभट्टने आत्माका प्रत्यक्ष माना है और गुरु कहे जानेवाले पंडित प्रभाकरने फल ज्ञानका प्रत्यक्ष होना माना है। किन्तु ये दोनों ही कर्त्ता और फल हैं। प्रतिभास क्रियाके कर्म तो नहीं हैं, इतना बडा पूर्व-अपरका विरोध भला कहां निभ सकेगा? छोटी बातकी तो पोल कुछ चल भी जाय।

यदि पुनरात्मा कर्तृत्वेनेव कर्मत्वेनापि प्रतिभासतां विरोधाभावादेव। ततः प्रत्यक्षमस्तु अर्थो अनंशत्वान्न ज्ञानं कारणं कर्म च विरोधादित्याकूतं, तत एवात्मा कर्ता कर्म च माभूदित्यप्रत्यक्ष एव स्यात्।

यदि मीमांसकोंका फिर इस प्रकार चेष्टित होय कि कर्त्तापनके समान कर्मपनेसे भी आत्माका प्रतिभास होजाओ कोई विरोध नहीं है, इस कारण वह आत्मा प्रत्यक्ष अर्थ होजाओ, किन्तु ज्ञान तो निरंश पदार्थ है, अत विरोध होनेके कारण वह कारण और कर्म दोनों नहीं हो सकता है। जो अर्थ कर्म है वह करण नहीं है और जो ज्ञान करण है वह कर्म नहीं हो सकता है, मीमांसकोंकी ऐसी चेष्टा होनेपर तो हम जैन कहते हैं कि तिस ही विरोध हो जानेके कारण आत्मा भी कर्त्ता और कर्म न होवे, निरंश आत्मामें कर्त्तापन और कर्मपन दो विरुद्ध धर्म नहीं ठहर सकते हैं। इस कारण भट्टोंके यहां आत्माका भी प्रत्यक्षज्ञान नहीं हो सकेगा। आत्मा प्रत्यक्ष ही रहा, जो कि इष्ट नहीं है।

तथास्त्विति मतं ध्वस्तप्रायं न पुनरस्य ते ।
स्वविज्ञानं ततोऽध्यक्षमात्मवदवतिष्ठते ॥ ४७ ॥

प्रभाकर मीमांसक आत्माका प्रत्यक्ष न होना इष्ट करते हैं। अत प्रसन्नतापूर्वक वे कहते हैं कि आत्मा तिस प्रकार अप्रत्यक्ष ही बना रहो। हमको लाभ ही है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह मत भी प्राय. करके पूर्वप्रकरणोंमें खण्डित कर दिया है। यहां फिर इसका निरास नहीं किया जाता है। तिस कारण आत्माके समान उस आत्माका विज्ञान भी प्रत्यक्षरूप अवस्थित हो रहा है। सभी ज्ञान स्वको जाननेमें प्रत्यक्षरूप हैं।

अप्रत्यक्षः पुरुष इति मतं प्रायेणोपयोगात्मकात्मप्रकरणे निरस्तमिति नेह पुनर्निरस्यते। ततः प्रत्यक्ष एव कथंचिदात्माभ्युपगंतव्यः। तद्विज्ञानं प्रत्यक्षमिति व्यवस्था श्रेयसी प्रतीत्यनतिक्रमात्।

आत्माका प्रत्यक्ष नहीं होता है। इस प्रकारके मतको हम बहुलता करके उपयोग स्वरूप आत्माको साधनेवाले आद्य प्रकरणमें निरस्त कर चुके हैं। इस कारण फिर उस आत्माके अप्रत्यक्षपनेका यहां निरास नहीं करते हैं। भावार्थ—पहिले सूत्रके अवतार प्रकरणमें " कर्तृरूपतयावित्तेः " से लेकर " कथंचिदुपयोगात्मा " इस वार्तिकतक मीमांसकोंके प्रति आत्माका प्रत्यक्ष होना सिद्ध कर दिया है। तिस कारण कथंचित् प्रत्यक्षरूप ही आत्मा स्वीकार करना चाहिये। उसका विज्ञान रूप परिणाम भी प्रत्यक्ष है। इस प्रकार व्यवस्था करना मीमांसकोंको श्रेष्ठ पडेगा। क्योंकि इसमें प्रतीतियोंका अतिक्रमण नहीं है। प्रतीतिसिद्ध पदार्थोंको स्वीकार कर लेना सज्जनोंका स्वधर्म है।

प्रत्यक्षं स्वफलज्ञानं करणं ज्ञानमन्यथा।
इति प्राभाकरी दृष्टिः स्वेष्टव्याघातकारिणी ॥ ४८ ॥
कर्मत्वेन परिच्छित्तेरभावो ह्यात्मनो यथा।
फलज्ञानस्य तद्वच्चेत्कुतस्तस्य समक्षता ॥ ४९ ॥
तत्कर्मत्वपरिच्छित्तौ फलज्ञानांतरं भवेत्।
तत्राप्येवमतो न स्यादवस्थानं क्वचित्सदा ॥ ५० ॥

प्रमितिके जनक ज्ञानको करण ज्ञान कहते हैं। और उस करणज्ञानसे उत्पन्न हुये अधिगमको फलज्ञान मानते हैं। आत्मामें उत्पन्न हुये फलज्ञानका स्वयं प्रत्यक्ष हो जाता है। किन्तु करणज्ञान दूसरे प्रकार है। यानी करणज्ञानका प्रत्यक्ष नहीं होता है। इस प्रकार प्रभाकरोंका दर्शन (सिद्धान्त) तो अपने ही इष्टतत्त्वोंका व्याघात करनेवाला है। क्योंकि जिस प्रकार आत्माकी कर्मपनेकरके परिच्छित्ति होनेका अभाव है, अतः आत्माका प्रत्यक्ष हो जाना नहीं माना है, तिस आत्माके ही समान फलज्ञानकी भी यदि कर्मपनेसे ज्ञप्ति नहीं होती हुयी मानी जावेगी तो उस फलज्ञानका प्रत्यक्ष हो जानापन कैसे सिद्ध हुआ ? बताओ। यदि फलज्ञानका प्रत्यक्ष होजाय इसलिये उस फलज्ञानमें भी कर्मपनेकी परिच्छित्ति करलोगे तब तो अर्थके समान कर्म बने हुये फलज्ञानका अधिगम होना रूप दूसरा फलज्ञान मानना पडेगा और उस फलज्ञानका भी प्रत्यक्ष तभी हो सकेगा, जब कि उस फलज्ञानको प्रमितिका कर्म बनाया जाय। कर्म बनानेपर तो फिर तीसरे फलज्ञानकी आकांक्षा होवेगी और वह तीसरा फलज्ञान भी कर्म होगा। इस प्रकार वहां भी आकांक्षा शान्त न होनेसे कहीं दूर चलकर भी सदा अवस्थान नहीं होगा। अतः अनवस्था हो जायगी।

फलत्वेन फलज्ञाने प्रतीते चेत्समक्षता।
करणत्वेन तद्ज्ञाने कर्तृत्वेनात्मनीष्यताम् ॥ ५१ ॥

अनवस्थाके निवारणार्थ फलज्ञानकी कर्मपनेसे प्रतीतिको न मानकर फलज्ञानके फलपने करके ही प्रतीत हो जानेपर प्रत्यक्षता मान ही जाती है। इस प्रकार मीमांसकोंके कहनेपर तो हम बोलेंगे कि करणज्ञानकी करणपनेसे प्रतीति हो जानेपर उसका प्रत्यक्ष होना मान लो, तथा कर्त्तापनसे आत्माके प्रतीत हो जानेपर आत्माका भी प्रत्यक्ष होना तुम प्रभाकरोंको इष्ट कर लेना चाहिये। अर्थात्—जो कर्म है, उसका ही प्रत्यक्ष होता है। यह एकान्त तो नहीं रहा। प्रभाकरोंके यहां फल ज्ञानको कर्म नहीं भी माना गया है, फिर भी उसका प्रत्यक्ष हो जाता है। उसी फलज्ञानके समान करणज्ञान और आत्माका भी प्रत्यक्ष हो जाओ। तथा भट्टोंके यहां भी कर्मको जाननेकी व्याप्ति जब न रही तो आत्माके प्रत्यक्ष हो जाने समान फलज्ञान और करणज्ञानका भी प्रत्यक्ष होजाओ, स्वसंवेदन द्वारा वे भी अपनेको स्वयं जान लेवें।

तथा च न परोक्षत्वमात्मनो न परोक्षता।
करणात्मनि विज्ञाने फलज्ञानत्ववेदिनः॥ ५२॥

तिस कारण आत्माका परोक्षपना नहीं घटित होता है और करणस्वरूप प्रमाणज्ञानमें भी परोक्षपना नहीं आता है। फलज्ञानका प्रत्यक्षवेदन माननेवाले प्रभाकरको आत्मा और करण ज्ञानका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना अभीष्ट करना चाहिये, कोरा आग्रह करना व्यर्थ है। भट्टके समान प्रभाकरको भी अपने व्याघातक मार्गका परित्याग कर देना चाहिये।

साक्षात्करणज्ञानस्य करणत्वेनात्मनि स्वकर्तृत्वेन प्रतीतावपि न प्रत्यक्षता, फलज्ञानस्य फलत्वेन प्रतीतौ प्रत्यक्षमिति मतं व्याहतं। ततः स्वरूपेण स्पष्टप्रतिभासमानत्वात् करणज्ञानमात्मा वा प्रत्यक्षः स्याद्वादिनां सिद्धः फलज्ञानवत्।

करणज्ञानकी करणपने करके साक्षात् प्रत्यक्षरूप प्रतीति होनेपर भी और आत्माकी कर्त्तापनसे विशद प्रतीति होनेपर भी उन करणज्ञान और आत्माका प्रत्यक्ष होना नहीं माना जाता है। किंतु फलज्ञानकी फलपनेसे प्रतीति होनेपर भी उसका प्रत्यक्ष होना पक्षपातवश मान लिया जाता है। इस प्रकार प्रभाकरोंका मत व्याघात दोषयुक्त है। अर्थात्–प्रमिति क्रियाका कर्मपना न होनेसे यदि प्रमाणात्मक करणज्ञान और आत्मा प्रमाताका प्रत्यक्ष न मानोगे तो फलज्ञानका भी प्रत्यक्ष होना नहीं मानो तथा यदि फलज्ञानका प्रत्यक्ष मानते हो तो करणज्ञान और आत्माका भी प्रत्यक्ष मानो, अधूरी बात माननेमें व्याघात आवेगा। तिस कारण फलज्ञानके समान अपने स्वरूप करके ही स्पष्ट प्रतिभास रहे होनेके कारण करणज्ञान अथवा आत्मा स्याद्वादियोंके यहां प्रत्यक्षस्वरूप सिद्ध हैं। यही प्रभाकर मीमांसकोंको अनुकरणीय है।

ज्ञानं ज्ञानांतराद्वेद्यं स्वात्मज्ञप्तिविरोधतः।
प्रमेयत्वाद्यथा कुंभ इत्यप्यश्लीलभाषितम्॥ ५३॥

ज्ञानांतरं यदा ज्ञानादन्यस्मात्तेन वेद्यते ।
तदानवस्थितिप्राप्तेरन्यथा ह्यविनिश्चयात् ॥ ५४ ॥
अर्थज्ञानस्य विज्ञानं नाज्ञातमवबोधकम् ।
ज्ञापकत्वाद्यथा लिंगं लिंगिनो नान्यथा स्थितिः ॥ ५५ ॥

नैयायिकोंका कहना है कि ज्ञान (पक्ष) दूसरे ज्ञानसे जानने योग्य है (साध्य) क्योंकि वह प्रमेय (हेतु) है । जैसे कि घट (दृष्टांत) । ज्ञानके स्वकीय शरीरमें स्वके द्वारा स्वका ज्ञान नहीं हो पाता है । कितनी ही पैनी तलवार हो स्वयं अपनेको नहीं काट सकती है । तैसे ही ज्ञानके स्वरूपमें स्वयं ज्ञान होनेका विरोध है । हां, दूसरे ज्ञानसे प्रकृत ज्ञानका प्रत्यक्ष हो सकता है, आचार्य कहते हैं कि यह भी कहना गंवारोंकासा कथन है । क्योंकि जब दूसरे ज्ञानसे प्रथम ज्ञानका संवेदन होना माना जायगा तब तो दूसरे ज्ञानका भी तीसरे ज्ञानसे वेदन माना जायगा, इस प्रकार चौथे या पांचवें आदि संवेदनज्ञानोंकी आकांक्षा बढ जानेसे अनवस्था दोषकी प्राप्ति होगी । अन्यथा यानी अनवस्था दोषके निवारणार्थ तीसरे, चौथे आदि ज्ञानोंसे नहीं विशेषतया निश्चय किये गये ही दूसरे ज्ञानसे यदि पहिले अर्थज्ञानका विज्ञान होना मान लिया जायगा तो तीसरे ज्ञानसे नहीं जान लिया गया दूसरा ज्ञान भला पहिले ज्ञानका बोधक कैसे होगा ? जब कि पहिला अर्थज्ञान दूसरे ज्ञानज्ञानसे जान लिया गया होकर ही अर्थको जानता है । इसी प्रकार दूसरा तीसरेसे तीसरा चौथे आदिसे ज्ञात हुये ज्ञान पूर्वके ज्ञानोंको जान सकेंगे । अज्ञात विज्ञान किसीका बोधक नहीं होता है । क्योंकि वह ज्ञापक हेतु है । जैसे कि अंधे या सोते हुए मनुष्यको धूमकी सत्तासे अग्निका ज्ञान नहीं हो पाता है । किन्तु जान लिया गया ही धूम हेतु अग्निसाध्यका ज्ञापक है । सभी ज्ञापक ज्ञात होते हुये ही अन्य ज्ञेयोंके ज्ञापक होते हैं । अन्य प्रकारसे व्यवस्था नहीं है । अतः अनवस्था दोष हो जानेसे ज्ञान दूसरे ज्ञानोंसे वेद्य नहीं है । किन्तु स्वसंवेद्य हैं । सूर्य या दीपक स्वका भी प्रकाशक है ।

न ह्यर्थज्ञानस्य विज्ञानं परिच्छेदकं कारकं येनाज्ञातमपि ज्ञानांतरेण तस्य ज्ञापकं स्यात् अनवस्थापरिहारादिति चिंतितप्रायम् ।

पहिले अर्थज्ञानको जाननेवाला दूसरा विज्ञान कोई कारक हेतु तो नहीं है, जिससे कि तीसरे आदि ज्ञानोंसे नहीं ज्ञात होता हुआ भी उस पहिले अर्थज्ञानका ज्ञापक हो जाता, और नैयायिकोंके यहां आनेवाली अनवस्थाका परिहार होजाता । किन्तु ज्ञान, शद्व, लिंग, आदिक तो ज्ञापक हेतु हैं । कारक हेतुओंको जाननेकी आवश्यकता नहीं है । विना जाने हुये कांटा लग गया या अग्नि छूगयी अथवा पैर फिसलगया तो वे कांटे आदिक पदार्थ स्वजन्यवेदना कार्यको अवश्य पैदा करेंगे । तुम्हारे नहीं जाननेकी प्रार्थना नहीं स्वीकृत होगी । कारक हेतु अपनेको ज्ञात करलेनेकी

प्रतीक्षा नहीं करते हैं। तुम जानो या न जानो वे तो अपने कार्य करनेमें सदा तत्पर रहते हैं। एक दृष्टान्त है कि एक अफीमची रातको देरीसे सोकर दुपहरको उठे। किसी मनुष्यने पूंछा कि आप आज बहुत देरसे उठे, तिसपर अहिफेनको खानेवाला उत्तर देता है कि हम तो ठीक समयपर उठे किन्तु हम क्या करें गलतीसे आज सूर्यका उदय छह घंटे पहिले ही होगया है। इस उत्तरको सुनकर उपस्थित जनोंमें महान् हास्यकोलाहल हुआ। बात यह है कि कारक हेतु अज्ञात होकर भी कार्य निमग्न रहते हैं। किन्तु ज्ञापक हेतु ज्ञानान्तरसे ज्ञात हुये ही ज्ञापक हो सकते हैं। इन बातोंकी हम पूर्व प्रकरणोंमें बहुत पनेसे चिंतना करचुके हैं यहा प्रकरणको नहीं बढाते हैं।

प्रधानपरिणामत्वात् सर्वं ज्ञानमचेतनम् ।
सुखक्ष्मादिवदित्येके प्रतीतेरपलापिनः ॥ ५६ ॥
चेतनात्मतया वित्तेरात्मवत्सर्वदा धियः ।
प्रधानपरिणामत्वासिद्धेश्चेति निरूपणात् ॥ ५७ ॥
तत्त्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं चेतनमंजसा ।
सम्यगित्यधिकाराच्च संमत्यादिकभेदभृत् ॥ ५८ ॥

कपिल मतके अनुयायी कहते हैं कि सम्पूर्णज्ञान (पक्ष) अचेतन हैं (साध्य)। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी साम्य अवस्थारूप प्रकृतिका परिणामपना होनेसे (हेतु) सुख, दुःख, मोह, पृथ्वी, जल, आदिके-समान (दृष्टान्त), इस प्रकार जो कोई एक सांख्य कह रहे हैं, वे भी प्रतीतिका अपलाप (छिपाना) कर रहे हैं। क्योंकि आत्माके समान ज्ञानका सदा चेतनपने करके संवेदन हो रहा है। इस कारण प्रधानका परिणामपना ज्ञानमें असिद्ध है। असिद्ध हेत्वाभास तो साध्यको सिद्ध नहीं कर पाता है। वस्तुतः ज्ञान तो आत्मका परिणाम है। ज्ञान और चैतन्य एक ही है। इन बातोंका हम पहिले सूत्रके अवतार प्रकरणमें निरूपण कर चुके हैं। तिस कारण अबतक सिद्ध हुआ कि वह अपनेको और अर्थको निश्चय स्वरूप जाननेवाला ज्ञान साक्षात् चेतन स्वरूप है। तथा सम्यक् इस पदका अधिकार (अनुवृत्ति) चले आनेके कारण सम्यक् मति, सम्यक् श्रुत आदि भेदोंको धारण करनेवाला वह ज्ञान है। अर्थात्—अपने और अर्थको एक ही समयमें जाननेवाले मति आदिक पांच चैतन्य रूप ज्ञान हैं।

इस सूत्रके प्रकरणोंकी स्थूलरूपसे सूची इस प्रकार है कि प्रथम ही अनेक प्रवादियोंके मिथ्या हठको दूर करनेके लिये उमास्वामी महाराजके सूत्रका अवतारण कर शद्बकी निरुक्तियोंसे ही पाचों ज्ञानोंके लक्षण दिखलाये गये हैं। पुनः ज्ञानोंके क्रमपूर्वक कथनकी उपपत्ति कर मति आदिकमें ज्ञानशद्बका अन्वय किया है। यहां सामान्य, विशेष, या कथंचित् भेद, अभेदका

प्रत्येक पदार्थमें प्रदर्शन कर विरोध आदि दोषोंका परिहार किया है। सामान्य और विशेष दोनों ही वस्तुके परिणाम होते हुये अविनाभाव रूपसे एकत्र रहते हैं। सूत्रमें दोनों ओरसे अवधारणको इष्टकर स्मृति, व्याप्तिज्ञान, आदिका मतिसे ग्रहण करना पुष्ट किया है। स्मृति आदिक ज्ञान प्रमाण हैं। श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, आदिका मण्डन कर मति और श्रुतके एक हो जानेपनका खण्डन किया है। वास्तवमें विचारा जाय तो पोखर और समुद्रके समान मति, श्रुत, न्यारे न्यारे हैं। छह छह इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुये मतिज्ञानसे गृहीत विषयोंके सजातीय, विजातीय अन्य पदार्थोंको जाननेवाला श्रुतज्ञान होता है। आगे चलकर प्रत्यक्ष आदि सभी ज्ञानोंको स्वांशमें परोक्ष माननेवाले मीमांसकोंके सिद्धान्तका निरास करके मिथ्याज्ञान, सम्यग्ज्ञान, सभी ज्ञानोंका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना साधा है। आत्मा या फलज्ञानके समान करणज्ञान भी स्वसंवेद्य है। प्रमितिके कर्मका ही प्रत्यक्ष होना यह एकान्त प्रशस्त नहीं है। ज्ञानांतरोंसे ज्ञानका प्रत्यक्ष माननेवाले नैयायिकका निराकरण कर ज्ञानको अचेतन कहनेवाले सांख्य सिद्धान्तका खण्डन किया है। चैतन्य और ज्ञान ये दो पदार्थ नहीं हैं। कपिलोंने प्रकृतिका परिणामज्ञान और आत्माका स्वभाव चैतन्य इष्ट किया है। वह भ्रममूलक है। जगत्में समीचीन ज्ञान पांच ही हैं। ज्ञानके विषयोंकी तारतम्यरूप वृद्धि और ज्ञानके विशदपन सम्बंधी अतिशयकी क्रम क्रमसे वृद्धि होती देखी जाती है। वह मतिज्ञानसे प्रारम्भ होकर अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानको मध्यमें लेती हुयी केवलज्ञानतक प्रकर्षयुक्त हो जाती है। जैसे कि परमाणु या अवसन्नासन्नसे प्रारम्भ कर पर्वत, समुद्र आदिको मध्यमें नापता हुआ परिमाणका अतिशय आकाश तक पहुंच जाता है। अन्तमें भव्य जीवोंको परम पुरुषार्थ केवलज्ञानकी प्राप्ति रूप मोक्ष उपादेय है। मति, आदिक केवलज्ञानपर्यंत पांचों ही ज्ञान समीचीन हैं।

समारोपास्तत्वग्रहपरिधिलक्ष्माणि जहतः।
सदा लोकालोकाववगमयतोऽनन्तकलिनः॥
सुधांशोर्मत्यादेर्दुरितजलदानावृततनोः।
प्रभा ज्योत्स्ना भिन्द्यात्तम इव महामोहमभितः॥ १॥

—x—

श्री उमास्वामी महाराज उन ज्ञानोंके विधेय अंशको दिखलानेके लिये सूत्रका अवतार करते हैं।

तत्प्रमाणे ॥ १० ॥

स्व और अर्थका व्यवसाय करनेवाले वे पांचो ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाणरूप हैं।

कुतः पुनरिदमभिधीयते— ।

फिर यह सूत्र किस कारण कहा जारहा है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं ।

स्वरूपसंख्ययोः केचित्प्रमाणस्य विवादिनः ।
तान्प्रत्याह समासेन विदधत्तद्विनिश्चयम् ॥ १ ॥
तदेव ज्ञानमास्थेयं प्रमाणं नेंद्रियादिकम् ।
प्रमाणे एव तद्ज्ञानं नैकत्र्यादिप्रमाणवित् ॥ २ ॥

प्रमाणके स्वरूप और संख्यामें विवाद करनेकी टेव रखनेवाले कोई प्रतिवादी विवाद कर रहे हैं । उनके प्रति उस प्रमाणके स्वरूप और संख्याका सक्षेपसे विशेष निश्चयको कराते हुये उमास्वामी महाराज " तत्प्रमाणे " सूत्रका स्पष्ट उच्चारण करते हैं । अर्थात्-वे पाच समीचीन ज्ञान ही प्रमाण हैं । यह तो प्रमाणका लक्षण है । और वे प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्षरूप हैं । यह प्रमाणकी संख्याका निर्णय है । इस सूत्रमें वे पाच ज्ञान ही प्रमाण हैं । इस प्रकार उद्देश दलमें एवकार लगानेसे इन्द्रिय, सन्निकर्ष, आदिक प्रमाण नहीं बन पाते हैं, यह विश्वास कर लेना चाहिये तथा वे ज्ञान दो प्रमाणरूप ही हैं । ऐसा उत्तर विधेय दलमें एव लगानेसे एक, तीन, चार आदि प्रमाणोंके न होनेकी संवित्ति कर लेना । वे ज्ञान दो ही प्रमाण हैं ।

प्रमाणं हि संख्यावन्निर्दिष्टमत्र तत्त्वसंख्यानाद्द्विवचनान्तप्रयोगात् । तत्र तदेव मत्यादिपंचभेदं सम्यग्ज्ञानं प्रमाणमित्येकं वाक्यमिंद्रियाद्यचेतनव्यवच्छेदेन प्रमाणस्वरूपनिरूपणपरं । तन्मत्यादिज्ञानं पंचविधं प्रमाणे एवेति द्वितीयमेकत्र्यादिसंख्यांतरव्यवच्छेदेन संख्याविशेषव्यवस्थापनप्रधानमित्यतः सूत्रात्प्रमाणस्य स्वरूपसंख्याविवादनिराकरणपुरःसरनिश्चयविधानात् इदमभिधीयत एव ।

इस सूत्रमें तत्त्वोंकी सख्याके समान सख्यावाले प्रमाणका कथन किया है । क्योंकि नपुसक लिंग प्रमाणशद्वका प्रथमाके द्विवचन " औ " विभक्तिको अन्तमें लगाये हुये प्रमाण पदका प्रयोग किया गया है । अत सख्यासे सहित हो रहा प्रमाण कहा जा चुका है तहा मति आदिक पाच भेदवाले वे ही सम्यग्ज्ञान प्रमाण हैं, इस प्रकार पूर्वदलमें एव लगाकर एक वाक्य बनाना जो कि इन्द्रिय, सन्निकर्ष, ज्ञातृव्यापार आदि अचेतन पदार्थोंका व्यवच्छेद करके प्रमाणके स्वरूपको निरूपण करनेमें तत्पर हो रहा है । तथा वे मति आदिक पाच प्रकारके ज्ञान दो प्रमाणरूप ही हैं, इस प्रकार उत्तरदलमें एव लगाकर दूसरा वाक्य बनाना जो कि चार्वाक, सांख्य, आदिकों करके मानी गयी एक, तीन, चार, पाच आदि अन्य संख्यायोंका निराकरण कर ठीक ठीक विशेष संख्याकी व्यवस्था करानेका प्रधान कार्य कर रहा है । इस सूत्र द्वारा प्रमाणके स्वरूप और सख्यामें

पडे हुये विवादोंका निराकरणपूर्वक ठीक ठीक स्वरूपका निश्चय और संख्याका विधान कर देनेसे यह सूत्र कहा ही जा रहा है। अर्थात्—उक्त दोनों कार्य इस सूत्रमे ही हो सकते हैं। अन्यथा नहीं।

ननु प्रमीयते येन प्रमाणं तदितीरणम् ।
प्रमाणलक्षणस्य स्यादिंद्रियादेः प्रमाणता ॥ ३ ॥
तत्साधकतमत्वस्याविशेषात्तावता स्थितिः ।
प्रामाण्यस्यान्यथा ज्ञानं प्रमाणं सकलं न किम् ॥ ४ ॥

यहां " प्रमाकरणं प्रमाणं " प्रमितिके करणको प्रमाण कहनेवाले नैयायिक या सांख्य कहते हैं कि जिस करके प्रमा की जाय वह प्रमाण है, इस प्रकार प्रमाणका लक्षण कथन करना चाहिये था, जिससे कि इंद्रिय, सन्निकर्ष, आदिको प्रमाणपना बन जाता है। ज्ञानके समान इन्द्रिय आदिको भी उस ज्ञप्तिक्रियाका प्रकृष्ट उपकारकरूप साधकतमपना अन्तररहित है। प्रमितिके साधकतमपनेसे ही प्रमाणपनेकी स्थिति है, तितनेसे ही प्रमाणलक्षणकी परिपूर्णता होजाती है। अन्यथा यानी प्रमाणके लक्षणमें यदि ज्ञानको डालदिया जायगा तो सभी संशय, आदि ज्ञान भी क्यों नहीं प्रमाण बन जावें, जो कि जैनोंको भी इष्ट नहीं हैं।

इंद्रियादिप्रमाणमिति साधकतमत्वात्सुप्रतीतौ विशेषणज्ञानवत् यत्पुनरप्रमाणं तन्न साधकतमं यथा प्रमेयमचेतनं चेतनं वा शशधरद्वयविज्ञानमिति प्रमाणत्वेन साधकतमत्वं व्याप्तं न पुनर्ज्ञानत्वमज्ञानत्वं वा तयोः सद्भावेपि प्रमाणत्वानिश्चयादिति कश्चित् ।

पूर्वपक्षी वादीकी उक्त कारिकाओंका विवरण इस प्रकार है कि इन्द्रिय, सन्निकर्ष, आदिक (पक्ष) प्रमाण हैं (साध्य)। समीचीन प्रतीति करनेमें प्रकृष्ट उपकारक होनेसे (हेतु) जैसे कि विशेषणका ज्ञान विशेष्यकी प्रमिति करानेमें साधकतम हो जानेसे प्रमाण माना गया है। (अन्वयदृष्टान्त) मनुष्य सामान्यका ज्ञान होनेपर फिर दण्डके दीख जानेसे दण्डी मनुष्यका ज्ञान हो जाता है। वैशेषिकोंने उस विशेष्यका ज्ञान करानेमें दण्ड ज्ञानको करण माना है। व्यतिरेक व्याप्ति यों है कि जो जो फिर प्रमाण नहीं हैं, वह प्रमाका साधकतम भी नहीं है। जैसे कि घट, पट आदिक जड प्रमेय हैं। अथवा एक चन्द्रमामें हुये चन्द्रद्वयका ज्ञान चेतन होता हुआ भी प्रमाण नहीं है (दो व्यतिरेक दृष्टान्त)। इस प्रकार प्रमाणपनेसे प्रमितिका साधकतमपना व्याप्त हो रहा है, किन्तु फिर ज्ञानपना अथवा अज्ञानपना व्याप्त नहीं है। क्योंकि उनके विद्यमान होनेपर भी प्रमाणपनेका निश्चय नहीं हो रहा है। अर्थात्—संशय, विपर्यय, ये ज्ञान तो हैं, किन्तु प्रमाण नहीं है और जड घट, पट, आदि अज्ञानरूप भी किसीके द्वारा प्रमाण नहीं माने गये हैं। इस प्रकार कोई प्रतिवादी कह रहा है।

तत्रेदं चिंत्यते तावदिंद्रियं किमु भौतिकम् ।
चेतनं वा प्रमेयस्य परिच्छित्तौ प्रवर्त्तते ॥ ५ ॥
न तावद्भौतिकं तस्याचेतनत्वाद् घटादिवत् ।
मृतद्रव्येंद्रियस्यापि तत्र वृत्तिप्रसंगतः ॥ ६ ॥

तिस शंका या नैयायिक द्वारा स्वसिद्धान्त अवधारणके प्रकरणमें प्रतिवादीके सन्मुख आचार्य महाराज प्रथम ही यह विचार करते हैं कि आपने इन्द्रियको प्रमाण माना, उसमें हमें यह पूछना है कि क्या पृथ्वी, आदिसे बनी हुयीं पौद्गलिक इन्द्रियाँ प्रमेयकी परिच्छित्ति करनेमें प्रवर्त्त रही हैं? अथवा क्या आत्माका परिणामरूप चेतन इन्द्रिया प्रमेयकी परिच्छित्तिमें साधकतम हो रही हैं? बताओ। तहां प्रथमपक्षके अनुसार पौद्गलिक चक्षु आदिक इन्द्रिया तो प्रमाके करण नहीं हैं। क्योंकि घट, पट, आदि जड पदार्थोंके समान वे अचेतन हैं। अचेतन पदार्थ तो परिच्छित्तिका करण नहीं हो सकता है। अन्यथा मृतपुरुषकी जडद्रव्यस्वरूप इन्द्रियोंको भी उस परिच्छित्तिके करानेमें प्रवृत्ति होनेका प्रसंग हो जायगा।

प्रमात्राधिष्ठितं तच्चेत्तत्र वर्तेत नान्यथा ।
किं न स्वापाद्यवस्थायां तदधिष्ठानसिद्धितः ॥ ७ ॥
आत्मा प्रयत्नवांस्तस्याधिष्ठानान्नाप्रयत्नकः ।
स्वापादाविति चेत्कोयं प्रयत्नो नाम देहिनः ॥ ८ ॥
प्रमेये प्रमितावाभिमुख्यं चैतदचेतनम् ।
यद्यकिंचित्करं तत्र पटवत् किमपेक्ष्यते ॥ ९ ॥
चेतनं चैतदेवास्तु भावेंद्रियमबाधितम् ।
यत्साधकतमं वित्तौ प्रमाणं स्वार्थयोरिह ॥ १० ॥

प्रमितिके कर्त्ता आत्मासे अधिष्ठित होकर वे इन्द्रियाँ उस प्रमारूप कार्य करनेमें प्रवर्त्तेगी अन्यथा यानी प्रमाताके अधिकारमें प्राप्त हुये विना वे नहीं प्रवर्तेगीं। मृत शरीरमें रहनेवाली इन्द्रियोंका अधिष्ठाता आत्मा नहीं रहा है। अत वे परिच्छित्तिरूप कार्यको नहीं करतीं हैं। इस प्रकार नैयायिकोंके कहनेपर तो हम जैन प्रतिपादन करते हैं कि स्वप्न, मूर्च्छा, मृगी रोग, आदि अवस्थाओंमें उस आत्माके अधिष्ठातापनकी सिद्धि हो रही है तो फिर उस अवस्थामें इन्द्रियाँ क्यों नहीं परिच्छित्तिको करतीं हैं? बताओ। यदि आप नैयायिक यों कहें कि बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करनेवाला

आत्मा उनका अधिष्ठापक है, स्वप्न आदिकमें प्रयत्नरहित आत्मा तो अधिष्ठाता नहीं बन रहा है, इस कारण मूर्छा आदि अवस्थामें इन्द्रियाँ अधिष्ठाताके पुरुषार्थ विना प्रमितिकार्यको नहीं करती हैं। इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन तुमसे पूंछते हैं कि शरीरधारी आत्माका यह प्रयत्न भला क्या वस्तु पडता है ? बताओ। प्रमेय विषयमें प्रमितिको उत्पन्न करनेमें आत्माका अभिमुखपना यदि प्रयत्न है ! तब तो यह अभिमुखपना अचेतन हुआ। पटके समान अचेतन पदार्थ उस परिच्छित्तिक्रियामें कुछ भी न करता हुआ अकिंचित्कर है। वह अकिंचित्कर अचेतन भला क्यों अपेक्षणीय होगा ? यदि आत्मामें प्रमितिके निमित्त अभिमुखपना यदि चेतन है तब तो यह चेतन पदार्थ ही बाधारहित होता हुआ भाव इन्द्रिय होजाओ, जो कि चेतनस्वरूप, भाव इन्द्रियाँ यहां स्व और अर्थकी प्रमा करनेमें साधकतम होती हुयी प्रमाण हैं। इससे तो चेतनको ही प्रमाण माननेवाला जैनसिद्धान्त पुष्ट हुआ।

एतेनैवोत्तरः पक्षः चिंतितः संप्रतीयते।
ततो नाचेतनं किंचित्प्रमाणमिति संस्थितम् ॥ ११ ॥

इस ही उक्त कथनसे यानी चेतन परिणामको ही प्रमाणपनकी पुष्टि कर देनेसे दूसरा पक्ष भी विचारित कर दिया गया, भले प्रकार जाना जारहा है। अर्थात्—पहिले इन्द्रियोंमें जड और चेतनके दो पक्ष उठाये थे, वहांके प्रथमपक्षका परामर्श हो चुका। अब दूसरे पक्षका भी सिद्धसाध्यता दोष हो जानेके कारण विचार करा दिया गया समझ लो। तिस कारण कोई भी अचेतन पदार्थ प्रमाण नहीं है। यह सिद्धान्त भले प्रकार स्थित होगया है।

प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणमिति करणसाधनत्वविवक्षायां साधकतमं प्रमाणमित्यभिमतमेव अन्यथा तस्य करणत्वायोगात्। केवलमर्थप्रमितौ साधकतमत्वमेवाचेतनस्य कस्यचिन्न संभावयाम इति भावेंद्रियं चेतनात्मकं साधकतमत्वात् प्रमाणमुपगच्छामः। न चैवमागमविरोधः प्रसज्यते, " लब्ध्युपयोगौ भावेंद्रियं " इति वचनात् उपयोगस्यार्थग्रहणस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः।

प्रमिति की जाय जिस करके वह प्रमाण है, इस प्रकार करणमें अनट् प्रत्यय कर साधा गया प्रमाण हम जैनोंको अभीष्ट है ही, करणमें साधेगयेपन की विवक्षा होनेपर वह प्रमितिक्रियाका प्रकृष्ट उपकारक है अन्यथा यानी प्रमितिका साधकतम न माननेपर उसको करणपना करना युक्त न होगा। हां, केवल यह विशेष है कि पदार्थोंकी प्रमिति करनेमें किसी भी अचेतन पदार्थको साधकतमपना ही हमारी संभावनामें नहीं आरहा है। इस कारण प्रमाका साधकतमपना होनेके कारण चेतनस्वरूप भावइन्द्रियोंको हम प्रमाण स्वीकार करते हैं। इस प्रकार माननेपर हमें अपने आगमसे विरोध आनेका कोई प्रसंग नहीं प्राप्त होता है। क्योंकि क्षयोपशमसे उत्पन्न हुयी विशुद्धिरूप लब्धि और उससे उत्पन्न हुआ निराकार दर्शन और साकार ज्ञानस्वरूप उपयोग ये भाव इन्द्रियां हैं, ऐसा

उमास्वामी महाराजका वचन है । अर्थोंका विकल्पसहित ग्रहण करना-रूप ज्ञान उपयोगको प्रमाणपना सिद्ध है ।

अर्थग्रहणयोग्यत्वमात्मनश्चेतनात्मकम् ।
सन्निकर्षः प्रमाणं नः कथंचित्केन वार्यते ॥ १२ ॥
तथा परिणतो ह्यात्मा प्रमिणोति स्वयं प्रभुः ।
यदा तदापि युज्येत प्रमाणं कर्तृसाधनम् ॥ १३ ॥

आत्माकी चेतनस्वरूप अर्थग्रहण योग्यता यदि सन्निकर्ष है तो यह सन्निकर्ष हम जैनोंके यहां प्रमाण है, इस सन्निकर्षका किसी भी ढंगसे किसीके द्वारा निवारण नहीं किया जासकता है। तब इस प्रकार अर्थको ग्रहण करनेकी योग्यतारूप परिणतिसे परिणमन करता हुआ आत्मा स्वयं स्वतंत्र समर्थ होकर भले प्रकार जान रहा है, तब भी कर्त्तामें अनट् प्रत्यय कर साधा गया प्रमाण चेतनस्वरूप हो पडता है, सन्निकर्षका सिद्धान्त लक्षण योग्यता ठीक पडेगा, संयोग आदिकमें अनेक दोष आते हैं ।

सन्निकर्षः प्रमाणमित्येतदपि न स्याद्वादिना वार्यते कथंचित्तस्य प्रमाणत्वोपगमे विरोधाभावात् । पुंसोऽर्थग्रहणयोग्यत्वं सन्निकर्षो न पुनः संयोगादिरिष्टः । न ह्यर्थग्रहणयोग्यतापरिणतस्यात्मनः प्रमाणत्वे कश्चिद्विरोधः कर्तृसाधनस्य प्रमाणस्य तथैव च घटनात् । प्रमात्रात्मकं च स एव प्रमाणमिति चेत्, प्रमातृप्रमाणयोः कथंचित्तादात्म्यात् ।

सन्निकर्ष प्रत्यक्ष प्रमाण है यह मत भी स्याद्वादी करके नहीं निवारा जाता है । किसी अपेक्षा उस सन्निकर्षको. प्रमाणपन स्वीकार करनेमें हमें विरोध नहीं आता है । आत्माकी अर्थोंको ग्रहण करनेकी योग्यता ही तो सन्निकर्ष है, फिर कोई वैशेषिकों द्वारा माने गये संयोग, संयुक्त समवाय, आदिक तो अभीष्ट सन्निकर्ष नहीं हैं । जिस समय आत्मा अर्थके ग्रहण करनेकी योग्यतारूप परिणाम कर रहा है, ऐसे आत्माको प्रमाणपन हो जानेमें कोई विरोध नहीं है । कर्त्तामें साधे गये प्रमाण शब्दकी तिस प्रकार आत्माके ही वाच्य होनेपर अच्छी घटना होती है । प्रमाण, प्रमिति, प्रमाता, और प्रमेय ये स्वतंत्र एक दूसरेसे न्यारे चार तत्त्व हैं, इस बातको स्याद्वादी स्वीकार नहीं करते हैं । जैसे कि पृथ्वी, अप, तेज, वायु ये स्वतंत्र चार तत्त्व नहीं हैं । क्योंकि परस्परमें सकरपनेसे परिणाम होना या उपादान उपादेयपना देखा जाता है । जैसे वायु पानी (मेघ जल) बन जाती है, पानी फल पुष्प काठरूप हो जाता है, काठ अग्नि बन जाता है, अग्नि फिर भस्मरूप पृथ्वी बन जाती है, इसी प्रकार प्रमाता भी प्रमेय और प्रमाण बन जाता है । प्रमाण भी प्रमेय हो जाता है । प्रमिति भी प्रमेय बन जाती है । आत्माके विभिन्न परिणामोंके अनुसार यह व्यवस्था हो रही है ।

यदि यहां कोई भेदवादी वैशेषिक यों कहें कि यों तो जो ही आत्मा प्रमाता स्वरूप है, वही प्रमाण कह दिया गया है, वही प्रमाता तो प्रमाण नहीं हो सकता है। ऐसा कहनेपर तो वही हमारी जैनोंकी सिंहगर्जना है कि प्रमाता और प्रमाणमें किसी अपेक्षासे तादात्म्य सम्बन्ध है। अर्थग्रहणयोग्यता परिणतिसे परिणाम कर रहा आत्मा स्वतंत्र प्रमाता है। और उसका लब्धि और उपयोगरूप परिणाम तो करण होता हुआ प्रमाण है। तथा अज्ञाननिवृत्तिरूप परिणति प्रमिति है। अपनेको जानते समय स्वयं प्रमेयरूप भी है।

प्रमाता भिन्न एवात्मप्रमाणाद्यस्य दर्शने।
तस्यान्यात्मा प्रमाता स्यात् किन्न भेदाविशेषतः॥ १४॥

जिस वैशेषिक या नैयायिकके मतमें प्रमाणसे प्रमाता आत्मा सभी प्रकार भिन्न ही माना गया है, उसके दर्शन (सिद्धान्त) मे दूसरा आत्मा प्रमाता क्यों न हो जावे। क्योंकि भेद तो विशेषतारहित एकसा है। अर्थात्—देवदत्त प्रमाता प्रत्यक्ष प्रमाणसे घटको जान रहा है। यहां जैसे देवदत्तसे प्रत्यक्ष प्रमाण भिन्न है। उसी प्रकार जिनदत्तसे भी वह प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वथा भिन्न है। ऐसी दशामें एकसा भेद होनेके कारण देवदत्तके समान जिनदत्त घटका प्रमाता क्यों न हो जावे तथा ईश्वरसे भिन्न पडे हुये उसके प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा गलीका पुरुष भी सर्वज्ञ बन बैठेगा। सूर्य, चन्द्र आदिके समान भिन्न पडे हुये ज्ञानोंपर सबका एकसा अधिकार है।

प्रमाणं यत्र संबद्धं स प्रमातेति चेन्न किम्।
कायः सम्बन्धसद्भावात्तस्य तेन कथंचन॥ १५॥

जिस आत्मामें समवाय संबन्धसे प्रमाण जुड गया है, वह प्रमाता बनेगा, अन्य जिनदत्त, या गलीका मनुष्य आदि प्रमाता नहीं बन सकेंगे। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो समाधान न करना क्योंकि यों तो उस ज्ञानका शरीरके साथ भी किसी अपेक्षा स्वाश्रयसंयोगसम्बन्ध विद्यमान है। ऐसी दशामें वह देवदत्तका शरीर ही प्रमाता क्यों नहीं होजावे। अर्थात्—देवदत्तके भिन्नज्ञानका जैसे देवदत्तमें समवाय सम्बन्ध है, वह उसी प्रकार देवदत्तके शरीरमें भी ज्ञानका स्वसमवायी संयोग सम्बन्ध है। स्वसे लिया ज्ञान उसके समवायवाला देवदत्तका आत्मा है, उस आत्मासे देवदत्तके शरीरका संयोग हो रहा है। अतः देवदत्तकी काय भी ज्ञानसे सम्बन्ध होनेके कारण प्रमाता बन जाओ तथा देवदत्तका ज्ञान स्वाश्रय संयोगसम्बन्धसे जिनदत्तकी आत्मामें भी सम्बन्धित हो रहा है। अतः देवदत्तके ज्ञान द्वारा जिनदत्त भी प्रमाता बन जाओ, अथवा देवदत्तसे भिन्न पडा हुआ ज्ञान उसके शरीर या जिनदत्तमें समवाय सम्बन्धसे वर्तजाओ " कारी कन्या सहस वर " ऐसा प्रवाद प्रसिद्ध है। एक बात यह भी है कि प्रत्यक्षके प्रकरणमें सन्निकर्ष प्रमाण माना है। इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्षके सम्बन्धी इन्द्रिय और अर्थ पडेंगे, किन्तु वे प्रमाता नहीं माने हैं।

प्रमाणफलसम्बन्धी प्रमातैतेन दूषितः ।
संयुक्तसमवायस्य सिद्धेः प्रमितिकाययोः ॥ १६ ॥

इस उक्त कथनसे प्रमाण और फल दोनोंका सम्बन्धी आत्मा प्रमाता है। यह भी दूषित पक्ष कह दिया गया समझ लेना। क्योंकि प्रमिति और कायका भी संयुक्त-समवायसम्बन्ध सिद्ध हो रहा है। द्रव्य और दूसरे द्रव्यका सयोग सम्बन्ध वैशेपिकोंने माना है। काय द्रव्यका आत्म-द्रव्यके साथ संयोग है। और कायसंयुक्त आत्मामें प्रमितिका समवाय है। अतः प्रमितिका सम्बन्ध माननेपर भी शरीरके प्रमाता बन जानेका निवारण वैशेषिक नहीं कर सकते हैं।

ज्ञानात्मकप्रमाणेन प्रमित्या चात्मनः परः ।
समवायो न युज्येत तादात्म्यपरिणामतः ॥ १७ ॥
ततो नात्यंतिको भेदः प्रमातुः स्वप्रमाणतः ।
स्वार्थनिर्णीतरूपायाः प्रमितेश्च फलात्मनः ॥ १८ ॥
तथा च युक्तिमत्प्रोक्तं प्रमाणं भावसाधनम् ।
सतोपि शक्तिभेदस्य पर्यायार्थादनाश्रयात् ॥ १९ ॥

ज्ञानस्वरूप प्रमाण और प्रमितिके साथ आत्माका तादात्म्य परिणामरूप सम्बन्धसे न्यारा कोई समवायसम्बन्ध युक्त नहीं है। अर्थात्—अपने शरीर या अन्य आत्माओंके प्रमाता बननेका निवारण तभी हो सकता है, जब कि आत्माका ज्ञान और ज्ञप्तिके साथ तादात्म्य माना जाय। तदात्मक परिणतिके अतिरिक्त कोई समवाय संबंध सिद्ध नहीं है। तिस कारण प्रमाताका अपने प्रमाणसे सर्वथा भेद नहीं है। तथा अपना और अर्थका निर्णय करनारूप फलस्वरूप प्रमितिका भी प्रमाताके साथ अत्यन्तरूपसे होनेवाला भेद नहीं है। और तैसा होनेपर हमने पहिले वार्तिकोंमें भावद्वारा साधे गये प्रमाणको युक्तिसहित बहुत अच्छा कह दिया है। विद्यमान भी हो रहीं भिन्न भिन्न शक्तियोंका पर्यायार्थिक नयसे नहीं आश्रय करनेके कारण शुद्धप्रमिति ही प्रमाण हो जाती है। इस प्रकार विवक्षाके वश प्रमाण, प्रमाता, प्रमिति, और प्रमेय सब एकम एक हो रहे हैं। जैसे कि सद्गृहस्थके कुटुम्बमें आपेक्षिक प्रधानताको रखते हुये सब कुटुम्बीजन परस्पर मिल रहे हैं।

सर्वथा प्रमातुः प्रमितिप्रमाणाभ्यामभेदादेवं तद्विभागः कल्पितः स्यान्न पुनर्वास्तव इति न मंतव्यं, कथंचिद्भेदोपगमात्। सर्वथा तस्य ताभ्यां भेदादुपचरितं प्रमातुः प्रमिति-प्रमाणत्वं न तात्त्विकमित्यपि न मंतव्यं कथंचित्तदभेदस्यापीष्टेः। तथाहि—

यदि यहांपर कोई यों कहें कि इस प्रकार आप जैनोंके यहां प्रमिति और प्रमाणके साथ प्रमाताका जब सर्वथा अभेद हो गया तो फिर उनका प्रमिति, प्रमाण और प्रमातारूपसे विभाग करना तो कल्पित ही होगा, वास्तविक विभाग न हो सकेगा, आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं मानना चाहिये। क्योंकि हम जैनोंने सर्वथा अभेद नहीं माना है। किन्तु कथंचित् भेद स्वीकार किया है। तभी तो प्रमिति, प्रमाण और प्रमाता, तीन न्यारे न्यारे विभाग हैं। इस पर सर्वथा भेदवादी यदि यों कहें कि उस आत्माका उन प्रमिति और प्रमाणके साथ सर्वथा भेद हो जानेसे फिर प्रमाताको ही प्रमितिपना और प्रमाणपना तो उपचरित (गौण) ही होगा। प्रमाताको प्रमिति या प्रमाणसे तदात्मकपना वास्तविक नहीं हो सकेगा, जैसा कि आप जैन लोग इष्ट करते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी नहीं मानना चाहिये। क्योंकि किसी अपेक्षा उनके अभेदको भी हमने इष्ट किया है। इस प्रकारको दृढ कहकर दिखलाते हैं।

स्यात्प्रमाता प्रमाणं स्यात्प्रमितिः स्वप्रमेयवत्।
एकांताभेदभेदौ तु प्रमात्रादिगतौ क नः॥ २०॥
एकस्यानेकरूपत्वे विरोधोपि न युज्यते।
मेचकज्ञानवत्प्रायश्चिंतितं चैतदंजसा॥ २१॥

प्रमाता अपनेको जानते समय जैसे स्वयं अपना प्रमेय बन जाता है, वैसे ही वह प्रमाता कथंचित् प्रमाणरूप भी है, और कथंचित् प्रमितिस्वरूप भी है। प्रमाता, प्रमिति, प्रमाण और प्रमेयमें एकान्तरूपसे प्राप्त हो रहे सर्वथा भेद अभेदोंको तो हमने कहां माना है? भावार्थ— स्याद्वादियोंके यहां प्रमाता आदिकमें एकान्तरूपसे भेद अभेद नहीं माने गये हैं। एक पदार्थको अनेकरूप माननेमें विरोध दोष देना भी युक्त नहीं है, जैसे कि बौद्ध या नैयायिकोंके द्वारा माने गये एक चित्रज्ञानमें अनेक नील, पीत, आदि आकार प्रतिभास रहे हैं। उसीके समान एक आत्मामें वास्तविक परिणतिके अनुसार प्रमेयपन, प्रमितिपन आदि स्वभाव बन जाते हैं। इस तत्त्वकी हम अवतार प्रकरणमें विस्तारके साथ प्रायः विचारणा कर चुके हैं।

यथैव हि मेचकज्ञानस्यैकस्यानेकरूपमविरुद्धमबाधितप्रतीत्या रूढत्वात् तथात्मनोपि तदविशेषात्। न ह्ययमात्मार्थग्रहणयोग्यतापरिणतः सन्निकर्षाख्यं प्रतिपद्यमानोऽबाधप्रतीत्यारूढो न भवति येन कथंचित्प्रमाणं न स्यात्। नाप्ययमव्यापृतावस्थोऽर्थग्रहणव्यापारांतरस्वार्थविदात्मको न प्रतिभाति येन कथंचित्प्रमितिर्न भवेत्। न चायं प्रमितिप्रमाणाभ्यां कथंचिदर्थांतरभूतः स्वतंत्रो न चकास्ति येन प्रमाता न स्यात्।

कारण जिस ही प्रकार एक समूहालम्बन ज्ञान या चित्रज्ञानके अनेक स्वरूप होना अविरुद्ध है। क्योंकि बाधारहित प्रतीति करके वे अनेक स्वभाव एकमें आरूढ हो रहे जाने जाते हैं, तिस ही प्रकार एक आत्माके भी वह अनेकरूपपना अविरुद्ध है, कोई अन्तर नहीं है, जैसे विभुक्षा या पिपासा तथा रिक्तकोष्ठता आदि परिणतिके होनेपर ही देवदत्त खाता, पीता है। अजीर्ण या महारोग अथवा परितृप्त अवस्थामें वैसी शारिरिक परिणतिके हुए बिना नहीं खाता पीता है। उसी प्रकार अर्थग्रहण योग्यतारूप परिणामसे विवर्त्त करता हुआ आत्मा सन्निकर्ष इस संज्ञाको प्राप्त कर रहा हुआ निर्बाध प्रतीतिमें आरूढ नहीं हो रहा है। यह नहीं समझना जिससे कि वह विलक्षण सन्निकर्ष रूप आत्मा कथंचित् प्रमाण न हो जाय, यानी सन्निकर्ष प्रमाणरूप आत्मा है। तथा यह आत्मा क्रियात्मक व्यापाररूप अवस्थासे रहित होकर अन्य अर्थग्रहणरूप व्यापारमें निमग्न हुआ स्व और अर्थकी प्रमिति स्वरूप नहीं दीख रहा है, यह भी नहीं समझना जिससे कि वह आत्मा कथंचित् प्रमिति रूप न हो सके। अर्थात्—आत्मा ही विशेष अवस्थामें प्रमितिरूप है। एवं यह आत्मा प्रमिति और प्रमाणसे कथंचित भिन्न हो रहा स्वतंत्र नहीं जगमगा रहा है। यह भी नहीं समझना, जिससे कि प्रमाता न हो सके। भावार्थ—" स्वतंत्रः कर्त्ता " स्वतंत्र आत्मा प्रमाता भी है।

संयोगादि पुनर्येन सन्निकर्षोऽभिधीयते।
तत्साधकतमत्वस्याभावात्तस्याप्रमाणता ॥ २२ ॥
सतींद्रियार्थयोस्तावत्संयोगे नोपजायते।
स्वार्थप्रमितिरेकांतव्यभिचारस्य दर्शनात् ॥ २३ ॥
क्षितिद्रव्येण संयोगो नयनादेर्यथैव हि।
तस्य व्योमादिनाप्यस्ति न च तज्ज्ञानकारणम् ॥ २४ ॥

जैसे वैशेषिकोंने (१) संयोग (२) संयुक्तसमवाय (३) संयुक्तसमवेतसमवाय (४) समवाय (५) समवेतसमवाय (६) विशेषणविशेष्यभाव ये छह लौकिक सन्निकर्ष कहे हैं तथा (१) सामान्य लक्षण (२) ज्ञान लक्षण (३) योगज लक्षण नामक तीन अलौकिक सन्निकर्षोंका कथन किया है। उन सन्निकर्षोंको उस प्रमाका साधकतमपना न होने कारण प्रमाणपना नहीं है। अन्वयव्यभिचार देखा जाता है। कारणके होने पर कार्यका होना अन्वय है। किन्तु इन्द्रिय और अर्थका संयोग होते हुये भी स्व और अर्थकी प्रमा नहीं उत्पन्न हो रही है। एकान्त रूपसे व्यभिचार देखा जाता है। जैसे घट, पट आदि पृथ्वी द्रव्यके साथ चक्षु, स्पर्शन, आदि इन्द्रियोंका जैसा ही संयोग है, वैसा ही उन चक्षु आदिकोंका आकाश, आत्मा, आदिकके साथ भी

संयोग सम्बन्ध है। वैशेषिकके मतमें चक्षुइन्द्रिय तेजो द्रव्य है। स्पर्शन इन्द्रिय वायुकी बनी हुयी वायु द्रव्य है। रसना इन्द्रिय जलीय है। पृथ्वी द्रव्यका विकार घ्राण इन्द्रिय है। कानके भी भीतर छेदमें रहनेवाला आकाशद्रव्य श्रोत्र इन्द्रिय है। द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ सयोग सम्बन्ध माना गया है। वह आकाश और नेत्रका तथा स्पर्शन इन्द्रिय और आत्माका है ही, फिर आकाशका चाक्षुष प्रत्यक्ष और आत्माका स्पर्शन प्रत्यक्ष या दोनोंके दोनो प्रत्यक्ष क्यों न होजाय? किन्तु वह सयोग तो उन आकाश आदिके ज्ञानका कारण नहीं माना गया है। यह अन्वयव्यभिचार हुआ।

संयुक्तसमवायश्च शब्देन सह चक्षुषः।
शब्दज्ञानमकुर्वाणो रूपचित्चक्षुरेव किम् ॥ २५ ॥
संयुक्तसमवेतार्थसमवायोप्यभावयन्।
शब्दत्वस्य न नेत्रेण बुद्धिं रूपत्ववित्करः ॥ २६ ॥

तथा जिस प्रकार घटसे चक्षु संयुक्त हो रही है, और घटमें रूपका समवाय है, अतः चक्षु इन्द्रियका रूपके साथ सयुक्तसमवाय नामका परम्परा-सम्बन्ध सन्निकर्ष प्रमाण होता हुआ, रूपज्ञानका करण है, उसी प्रकार चक्षुका शब्दके साथ भी संयुक्तसमवाय सम्बन्ध है। चक्षुसे संयुक्त आकाश है। और वैशेषिकोंने आकाशमें शब्दका समवाय सम्बन्ध माना है। किन्तु वह संयुक्तसमवाय जब शब्दके चाक्षुष ज्ञानको नहीं कर रहा है, तो सयुक्तसमवाय द्वारा चक्षु इन्द्रिय भला रूप ज्ञान क्यों करावे? इसी प्रकार चक्षुका रूपत्व जातिके साथ संयुक्तसमवेत-समवाय है। वैशेषिकोंने जिस इन्द्रियसे जो जाना जाता है, उसमें रहनेवाला सामान्य भी उसी इन्द्रियसे जाना जाता माना है। चक्षुसे सयुक्त घट है, घटमें समवाय सम्बन्धसे रूप वर्त्त रहा है और रूपमें रूपत्व जातिका समवाय है। अतः चक्षुका रूपत्वके साथ सयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष है। उसीके समान शब्दत्वके साथ भी यही सन्निकर्ष है। चक्षुसे संयुक्त आकाश है। आकाशमें समवेत शब्द है। और शब्दगुणमें शब्दत्व जातिका समवाय है। फिर नेत्र करके रूपत्वकी वित्तिके समान शब्दत्वकी बुद्धिको वह सन्निकर्ष क्यों नहीं कराता है? बताओ। कारणके होते हुये भी कार्य नहीं हुआ, यह अन्वयव्यभिचार है।

श्रोत्रस्याद्येन शब्देन समवायश्च तद्विदम्।
अकुर्वन्नन्त्यशब्दस्य ज्ञानं कुर्यात्कथं तु वः ॥ २७ ॥
तस्यैवादिमशब्देषु शब्दत्वेन समं भवेत्।
समवेतसमवायं सद्विज्ञानमनादिवत् ॥ २८ ॥

अंत्यशब्देषु शब्दत्वे ज्ञानमेकांततः कथम् ।
विदधीत विशेषस्याभावे यौगस्य दर्शने ॥ २९ ॥

चौथा सन्निकर्ष कर्णविवरमें रहनेवाले आकाशद्रव्यरूप श्रोत्रका शब्द गुणके साथ समवाय सम्बन्ध है, आदिमें उच्चारण किये गये शब्दके साथ हो रहा, समवाय उस प्रथम उच्चरित शब्दके ज्ञानको न करता हुआ तुम वैशेषिकोंके यहां अन्तिम शब्दके ज्ञानको कैसे करा सकेगा ? भावार्थ— देवदत्त यह चार स्वर पाच व्यंजनवाला शब्द युगपत् तो बोला नहीं जा सकता है । क्यों कि तालु आदिक स्थान और आत्माके अनेक प्रयत्नोंसे उत्पन्न होनेवाले न्यारे न्यारे अक्षरक्रमसे ही कहे जा सकते हैं । दे अक्षरका उच्चारण करते समय व नहीं है और व वर्णको बोलते समय " दे " नष्ट हो चुका है । अत. संस्कारयुक्त अन्त्य वर्ण शाब्दबोधका हेतु माना गया है । ऐसी दशामें त का ज्ञान होनेपर समवाय सन्निकर्ष द्वारा पूर्व वर्णोंका ज्ञान क्यों नहीं होता है ? बताओ। आकाश तो नित्य और व्यापक है ? पाचवा सन्निकर्ष कर्ण इन्द्रियका शब्दत्वके साथ समवेत समवाय है । कर्णरूप आकाशमें शब्द गुण समवाय सम्बन्धसे वर्त्तमान है और शब्द गुणमें शब्दत्व जातिका समवाय है । आदि वर्णमें नहीं किन्तु अन्तिम शब्दमें रहनेवाले शब्दत्वका समवेत समवाय द्वारा जैसे श्रावण प्रत्यक्ष होता है, उसीके समान आदिमें उच्चारण किये गये शब्दोंमें रहनेवाले शब्दत्वका विद्यमान समवेत समवाय संनिकर्ष होरहा क्यों नहीं श्रावण प्रत्यक्षको कराता है ? आदिके शब्दोंको छोडकर अन्त्य शब्दोंमें ज्ञान करानेके समान आदि शब्दके शब्दत्वका भी ज्ञान करादेवे । जब वैशेषिकोंके दर्शनमें ऐसी कोई विशेषता नहीं है तो फिर अन्तिम शब्दोंमें रहनेवाले शब्दत्वका ही एकान्तरूपसे ज्ञान वह सन्निकर्ष कैसे कर देवेगा ? यह चौथे पाचवे सन्निकर्षका अन्वयव्यभिचार हुआ ।

×तथाऽभाव(श्च) संयुक्तविशेषणतया दृशा ।
ज्ञानेनाधीयमानेपि समवायादिवित्कुतः ॥ ३० ॥

अभाव और समवायके प्रत्यक्ष करानेमें संयुक्त विशेषणता, संयुक्तसमवेत विशेषणता, आदि सन्निकर्ष माने हैं । चक्षुके साथ भूतल संयुक्त है । और भूतलमें घटका अभाव विशेषण हो रहा है अथवा आममें रसका समवाय है । रसमें रूपत्वका अभाव विशेषण हो रहा है । अतः चक्षुसे रसमें संयुक्त समवेतविशेषणता सन्निकर्षद्वारा रूपत्वका अभाव जानलिया जाता है । तथा रूपत्व, रसत्व आदिमें घट आदिकका अभाव तो संयुक्तसमवेत–समवेतविशेषणता सन्निकर्षसे जान लिया जाता है । घटाभावमें पटाभावका प्रत्यक्ष संयुक्तविशेषण विशेषणतासे हो जाता है । चक्षुसे संयुक्त भूतल है । भूतलमें स्वरूपसम्बन्धसे घटाभाव विशेषण है । और घटाभावमें पटाभाव विशेषण

× तथागतस्य इति मुद्रित पुस्तके.

हो रहा है। इसी प्रकार घटमें रहनेवाले समवायके साथ चक्षुका संयुक्त विशेषणता सम्बन्ध है। रूपमें रहनेवाले समवायके साथ संयुक्तसमवेत-विशेषणता है। और रूपत्व जातिमें ठहरे हुये समवायके साथ चक्षुका संयुक्तसमवेत-समवेतविशेषणता संनिकर्ष वैशेषिकोंने माना है। द्रव्य द्रव्य होनेसे चक्षु और घटका संयोग सम्बन्ध है। चक्षु संयुक्तघटमें रूपगुण समवायसे वर्त रहा है। उस समवेतरूपमें रूपत्वका समवाय है। रूपत्वमें प्रतियोगिता सम्बन्धसे समवाय विशेषण हो रहा है। प्रकरणप्राप्त कारिकाका यह अर्थ है कि नेत्रके साथ संयुक्त विशेषणता सम्बन्ध करके ज्ञान द्वारा तिस प्रकार जान लेनेपर भी समवाय, स्वरूप, विशेषणता, आदि उत्तरोत्तर बढ रहे सम्बन्धोंकी वित्ति कैसे करोगे ? जैसे कि संयोग और समवायको सन्निकर्ष द्वारा जानना आवश्यक है। वैसे ही स्वरूपसम्बन्ध, विशेषणतासम्बन्ध, आदिका जानना भी वैशेषिकोंको आवश्यक हो जायगा। और उनके जाननेका तुम्हारे पास कोई उपाय नहीं है। अनवस्था भी होगी।

योग्यतां कांचिदासाद्य संयोगादिरयं यदि।
क्षित्यादिवित्तदेव स्यात्तदा सैवास्तु संमता ॥ ३१ ॥
स्वात्मा स्वावृतिविच्छेदविशेषसहितः क्वचित्।
संविदं जनयन्निष्टः प्रमाणमविगानतः ॥ ३२ ॥
शक्तिरिंद्रियमित्येतदनेनैव निरूपितं।
योग्यताव्यतिरेकेण सर्वथा तदसंभवात् ॥ ३३ ॥

संयोग, संयुक्तसमवाय, आदि संनिकर्षोंका पूर्वमें दिये हुये व्यभिचार दोषके निवारणार्थ यदि वैशेषिक यों कहें ये संयोग आदिक किसी विशेष योग्यताको प्राप्त करके पृथ्वी, जल, आदिकी वित्ति कराते हैं। आत्मा, आकाश, रसत्व, शद्बत्व, रसाभाव, आदिकी योग्यता न होनेसे चक्षु इन्द्रियके द्वारा प्रमा नहीं होने पाती है। तब तो हम जैन कहेंगे कि वह योग्यता ही हम तुम सबको भले प्रकार स्वीकृत हो जाओ। अपना आत्मा ही अपने ज्ञानावरण कर्मोंके क्षयोपशम विशेषसे युक्त हो रहा किसी योग्य-पदार्थमें ज्ञानको उत्पन्न कराता हुआ अनिंदित मार्गसे प्रमाणभूत इष्ट कर लिया गया है। मीमांसकोंकी शक्तिरूप इन्द्रियोंका भी इस उक्त कथन करके ही निरूपण कर दिया गया समझ लेना। क्योंकि योग्यतासे अतिरिक्त उन शक्तिरूप इन्द्रियोंका सभी प्रकारसे असम्भव है। भावार्थ—कितना भी उपाय करो, ज्ञान द्वारा नियत पदार्थको जाननेमें नियामक योग्यताका ही सबको शरण लेना पडेगा। वह योग्यता आत्माकी लब्धिरूप परिणति है। अत

आत्मा ही भाव इन्द्रिय द्वारा चक्षु आदिकों करके नियत पदार्थोंको जान रहा है । संयोग आदिक तो अन्यथा सिद्ध हैं । करण नहीं है ।

सन्निकर्षस्य योग्यताख्यस्य प्रमितौ साधकतमस्य प्रमाणव्यपदेश्यं प्रतिपाद्यमानस्य स्वावरणक्षयोपशमविशिष्टात्मरूपतानिरूपणेनैव शक्तेः इंद्रियतयोपगतायास्सा निरूपिता बोद्धव्या तस्या योग्यतारूपत्वात् । ततो व्यतिरेकेण सर्वथाप्यसंभवात् सन्निकर्षवत् । न हि तद्व्यतिरेकः सन्निकर्षः संयोगादिः स्वार्थप्रमितौ साधकतमः संभवति व्यभिचारात् ।

प्रमिति करनेमें प्रकृष्ट उपकारी हो रहे योग्यता नामक सनिकर्षको प्रमाणपनके व्यवहार योग्यपनको समझनेवाले वादीके द्वारा स्वावरणके क्षयोपशमसे विशिष्ट आत्मस्वरूपके निरूपण करके ही इन्द्रियपने करके वह शक्ति स्वीकार कर ली गयी है, यह तो अपने आप निरूपण कर दिया समझ लेना चाहिये । क्योंकि वह शक्ति योग्यता रूप ही तो है । उस योग्यतासे भिन्न हो करके सभी प्रकार इन्द्रिय शक्तिका असम्भव है । जैसे कि योग्यताके सिवाय सनिकर्ष कोई वस्तु नहीं पडता है । उस योग्यतारूप सनिकर्षसे अतिरिक्त नैयायिकों द्वारा माने गये संयोग संयुक्तसमवाय आदि सन्निकर्ष तो स्व और अर्थकी प्रमा करानेमें साधकतम नहीं सम्भव रहे हैं । क्योंकि व्यभिचार दोष होता है, जो कि कहा जा चुका है ।

तत्र करणत्वात्सन्निकर्षस्य साधकतमत्वं तद्वदिंद्रियशक्तेरपीति चेत्, कुतस्तत्करणत्वं ? साधकतमत्वादिति चेत् परस्पराश्रयदोषः । तद्भावाभावयोस्तद्वत्तासिद्धेः साधकतमत्वमित्यपि न साधीयोऽसिद्धत्वात् । स्वार्थप्रमितेः सन्निकर्षादिसद्भावेप्यभावात्, तदभावेपि च भावात् सर्वविदः ।

उस प्रमितिमें करण हो जानेके कारण सनिकर्षको साधकतमपना है । और उसीके समान इन्द्रिय शक्तियोंको भी साधकतमपना प्राप्त हो जाता है इस प्रकार प्रतिवादियोंके कहनेपर तो हम जैन पूछेंगे कि किस कारणसे उन दोनोंको करणपना है ? बताओ। यदि क्रियासिद्धिमें प्रकृष्ट उपकारक होनेसे करणपना कहोगे तब तो अन्योन्याश्रय दोष है । साधकतम होनेसे करणपना और करणपनेसे क्रियाका साधकतमपना माना गया है । यदि अन्योन्याश्रयके निवारणार्थ उस करणके होनेपर उस कार्यका होना और न होनेपर नहीं उत्पन्न होनेकी सिद्धिसे साधकतमपना कहा जाय यह भी बहुत अच्छा नहीं है । क्योंकि सयोग आदिक संनिकर्ष और इन्द्रिय शक्तिका स्व और अर्थकी प्रमितिके साथ अन्वय और व्यतिरेक सिद्ध नहीं हैं । आत्मा, रस, रसत्व, आदिके साथ चक्षुका सयोग, सयुक्तसमवाय, सयुक्तसमवेतसमवाय, सन्निकर्ष होते हुये भी अथवा इन्द्रिय शक्तिके विद्यमान होनेपर भी स्व और अर्थकी प्रमिति हो जानेका अभाव है । तथा भूत भविष्यत्, दूरवर्ती आदि पदार्थोंके साथ सर्वज्ञकी इन्द्रियोंका उन सयोग आदि सन्निकर्षोंके नहीं होते हुये भी सर्वज्ञको स्व और अर्थकी प्रमिति हो जाती है । ये अन्वय व्यभिचार और व्यतिरेक व्यभिचार दोष आते हैं ।

कथं वा प्रमातुरेवं साधकतमत्वं न स्यात् । न हि तस्य भावाभावयोः प्रमितेर्भावाभाववत्त्वं नास्ति ? साधारणस्यात्मनो नास्त्येवेति चेत् संयोगादेरिंद्रियस्य च साधारणस्य सा किमस्ति ? तस्यासाधरणस्यास्त्येवेति चेत्, आत्मनोप्यसाधारणस्यास्तु ।

दूसरी बात यह है कि करणके भाव अभाव होनेपर कार्यके भाव अभाव हो जानेसे ही यदि करणपना व्यवस्थित हो जाय तो इस प्रकार प्रमाता आत्माको साधकतमपना क्यों नहीं हो जावेगा । देखिये ! स्वतंत्रकर्त्ता होनेसे आत्मास्वरूप कारणके साथ भी स्वार्थप्रमितिका अन्वय व्यतिरेक बन जाता है । उस आत्मा स्वरूप कारणके होनेपर प्रमितिका भाव, उस आत्माके अभाव होनेपर प्रमितीका अभावसहितपना नहीं होय सो नहीं समझना । किन्तु आत्माके भाव अभाव होनेपर प्रमितिका भाव अभावसहितपना है ही । यदि तुम यों कहो कि साधारणरूपसे आत्माके भाव अभाव होनेपर प्रमितिका भाव अभाव नहीं है। अर्थात्—चाहे जिस कीट, पतंग, आदिकी आत्माके साथ परमाणु, व्याकरण, न्याय, आदिके ज्ञानका अन्वय व्यतिरेक तो नहीं बनता है । इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन भी कटाक्ष करेंगे कि चाहे जिस संयोग समवाय, आदि सन्निकर्ष और कोई भी इंद्रिय इन साधारण कारणोंका क्या ज्ञानके साथ वह भाव अभावरूप अन्वय-व्यतिरेक भाव है ? तुम ही बताओ । यदि तुम यह कहो कि उन कोई कोई विशिष्ट सन्निकर्ष और असाधारण इन्द्रियोंका अर्थप्रमितिके साथ भाव अभावपना है ही, तब तो हम जैन भी कहेंगे कि कोई कोई विशिष्ट असाधारण आत्माके साथ भी प्रमितिका भाव अभावपना है ही, तो पुन. आत्मा भी प्रमितिका करण वैसे ही क्यों नहीं हो जावे ? जसे कि वैशेषिकोंने सन्निकर्षको और मीमांसकोंने इन्द्रियको करण माना है ।

प्रमातुः किमसाधारणत्वमिति चेत्, सन्निकर्षादेः किम् ? विशिष्टप्रमितिहेतुत्वमेवेति चेत्, प्रमातुरपि तदेव । तस्य सततावस्थायित्वात् सर्वप्रमितिसाधारणकारणत्वसिद्धेर्न संभवतीति चेत्, तर्हि कालांतरस्थायित्वात्संयोगादेरिंद्रियस्य च तत्साधारणकारणत्वं कथं न सिध्येत् ? तदसंभवनिमित्तं । यदा प्रमित्युत्पत्तौ व्याप्रियते तदैव सन्निकर्षादि तत्कारणं नान्यदा इत्यसाधारणमिति चेत्, तर्हि यदात्मा तत्र व्याप्रियते तदैव तत्कारणं नान्यदा इत्यसाधरणो हेतुरस्तु । तथा सति तस्या नित्यत्वापत्तिरिति चेत् नो दोषोयं, कथंचित्तस्या नित्यत्वसिद्धेः सन्निकर्षादिवत् । सर्वथा कस्यचिन्नित्यत्वेऽर्थक्रियाविरोधादित्युक्तप्रायं ।

प्रमाता आत्माके असाधारणपना क्या है ? इस प्रकार पूछनेपर तो हम भी प्रश्न करते हैं कि सन्निकर्ष, इन्द्रियवृत्ति, आदिके भी असाधारणपना क्या है ? बताओ । तिसपर यदि तुम वैशेषिक या मीमांसक यह उत्तर कहो कि प्रमितिका विशेषोंसे सहित हुआ हेतुपना ही सन्निकर्ष आदिकी असाधारणता है, तब तो प्रमिति कर्त्ता आत्माका भी असाधारणपना वही यानी प्रमितिका विशिष्ट हेतुपना ही हो जाओ । इसपर यदि वैशेषिक या मीमांसक यदि यों कहें कि वह नित्य आत्मा तो

सर्वदा अवस्थित रहता है। इस कारण सपूर्ण अनुमिति, उपमिति, शाब्दबोधरूप प्रमितियोंका साधारणरूपसे कारणपना उसको सिद्ध हो रहा है। अत प्रमाताको असाधारण कारणपना नहीं सम्भवता है। विशिष्ट क्रियाको कर रहा विशेषसमयवर्ती पदार्थ ही करण होता है। क्रियाके अतिरिक्त समयोंमें भी अधिक देरतक ठहररहा तो साधारणकारण हो जाता है। "अतिपरिचयादवज्ञा"। इस प्रकार कहनेपर तो पुन हम जैन कहेंगे कि तब तो बहुत देर तक ठहरनेवाले होनेसे सयोग आदि संनिकर्ष, और इन्द्रियको भी उस प्रमाका साधारणकारणपना क्यों नहीं सिद्ध होगा? जो कि उस असाधारण कारणपनेके असम्भव यानी साधारणपनेका निमित्त है। इसपर वैशेषिक यदि कहें कि जब प्रमितिकी उत्पत्तिमें सन्निकर्ष आदिक व्यापार कर रहे हैं, तभी वे उसके कारण माने जाते हैं। अन्य समयोंमें हो रहे कालान्तर स्थायी भी। सन्निकर्ष आदिक तो कारण नहीं हैं। इस प्रकार सन्निकर्ष और इन्द्रियोंमें असाधारणकारणपना बन जाता है। यों वैशिषिकोंके कहनेपर तो हम जैन भी कह देंगे कि तब तो नित्य भी आत्मा जिस समय उस प्रमितिको उत्पन्न करनेमें व्यापार कर रहा है तब ही उस प्रमाका कारण है। अन्य समयोंमें वह नित्य भी आत्मा कारण नहीं है। इस ढंगसे सन्निकर्ष आदिके समान आत्मा भी असाधारण कारण हो जाओ। अर्थात्- आत्मा भी प्रमितिका कारण बन वैठेगा। यदि तिस प्रकार होनेपर उस आत्माको अनित्यपनेका प्रसग होगा इस प्रकार डरकर तुम वैशेषिक कहोगे तो हम जैन कहते हैं कि यह आत्माके अनित्य हो जानेका प्रसंग हमारे यहां कोई दोष नहीं है। उस परिणामी आत्माको सन्निकर्ष आदिके समान कथंचित् अनित्यपना सिद्ध है। हां, सभी प्रकारोंसे किसी आत्मा आदिको नित्यपना माननेपर अर्थक्रिया होनेका विरोध है। इस बातको हम कई बार कहचुके हैं। अर्थात्—प्रमितिमें व्यापार करते समय आत्मा न्यारा है और आगे पीछेका आत्मा निराला है। फिर क्या कारण है कि सन्निकर्ष और इन्द्रियोंको तो करण माना जाय, किन्तु आत्माको करण नहीं माना जाय। हमको कोई विशेष हेतु नियामक नहीं दीख रहा है।

प्रमाणं येन सारूप्यं कथ्यतेऽधिगतिः फलम्।
सन्निकर्षः कुतस्तस्य न प्रमाणत्वसंमतः॥ ३४॥

जिस बौद्धकरके ज्ञानका अर्थके आकार होजानापन प्रमाण कहा जाता है और अर्थकी अधिगति प्रमाणका फल मानागया है, उसके यहा सन्निकर्ष भी प्रमाणपनेसे क्यों नहीं भले प्रकार मानलिया गया कहना चाहिये। अर्थात्—दर्पणमें घटके प्रतिबिम्ब पड जानेपर वह घटका आकार माना जाता है, वैसे ही प्रकाशक ज्ञानमें घट, पट, आदिकोंके आकार पड जानेसे वे घट, पट, के ज्ञान कहे जाते हैं, अतः तदाकारता प्रमाण है और अर्थकी अधिगति उसका फल है, यह बौद्धोंका मत है तथा आत्मा, मन, इन्द्रिय, और अर्थ, इन चार तीन या दोके सन्निकर्षसे अर्थज्ञप्ति होना

नैयायिकोंका मत है, ज्ञानमें अर्थका सन्निकर्ष होनेपर ही प्रतिबिम्ब (आकार) पड सकेगा, ऐसी दशामें साक्षात् या परम्परासे सम्बन्धित होकर आकार डालनेवाले पदार्थोंके ज्ञानमें सन्निकर्ष भी उस बौद्धके यहां प्रमाणपनेसे भले प्रकार माना गया हो जाना चाहिये । किन्तु बौद्धोंने सन्निकर्षको प्रमाण माना नहीं है ।

सारूप्यं प्रमाणमस्याधिगतिः फलं संवेदनस्यार्थरूपतां मुक्त्वार्थेन घटयितुमशक्तेः । नीलस्येदं संवेदनमिति निराकारसंविदः केनचित्प्रत्यासत्तिविप्रकर्षासिद्धेः सर्वार्थेन घटनप्रसक्तेः सर्वैकवेदनापत्तेः । करणादेः सर्वार्थसाधारणत्वेन तत्प्रतिनियमनिमित्तत्वानुपपत्तेरित्यपि येनोच्यते तस्य सन्निकर्षः प्रमाणमधिगतिः फलं तस्मादंतरेणार्थघटनासंभवात् ।

बौद्ध कह रहे हैं कि ज्ञानमें अर्थका पड गया सदृश आकारसहितपना प्रमाण है । क्योंकि प्रमाणस्वरूप उस तदाकारतासे ही ज्ञान नियत पदार्थोंको जानता है । और पदार्थोंकी ज्ञप्ति हो जाना इस प्रमाणका फल है । देवदत्तका धन है । जिनदत्तका घोडा है । यहां स्वस्वामिसम्बन्ध ही देवदत्त और धनका तथा जिनदत्त और घोडेका योजक है । इसी प्रकार घट और ज्ञानका योजक उस घटका ज्ञानमें आकार पड जाना है । अन्यथा ज्ञान तो आत्मास्वरूप अन्तरंग चेतन तत्त्व है । और घट विचारा बहिरंग जड पदार्थ है । घटका ज्ञान यह व्यवहार ही अलीक हो जाता । देवदत्तके कमरेमें घोडेकी तसवीर टंगी हुयी है । किसीने प्रश्न किया कि यह तसवीर किसकी है ? इसका उत्तर घोडेकी तसवीर है, मिलता है । यहां घोडेका और उस चित्रका योजक सम्बन्ध केवल तदाकारता ही है । भले ही उस चित्रका स्वामी देवदत्त है । यही ढंग घटज्ञान और पटज्ञानमें लगा लेना " अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम् । तस्मात् प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता " ज्ञानका अर्थके साथ सम्बन्ध करानेके लिये अर्थरूपताको छोडकर अन्य कोई समर्थ नहीं है । यानी सविकल्पकज्ञान अर्थके साथ निर्विकल्पक बुद्धिको तदाकारताके द्वारा जोड देता है । उस तदाकारतासे अर्थकी ज्ञप्ति हो जाती है । अतः ज्ञानमें ज्ञेय अर्थका पडा हुआ आकार ही प्रमाण (प्रामाण्य) है । यह नीलका सम्वेदन है । यह पीतका सम्वेदन है । इस प्रकार उन नील, पीत, का ज्ञानोंमें आकार पड जानेसे ही षष्ठीविभक्ति द्वारा सम्बन्धयोजक व्यवहार होता है । यदि ज्ञानमें अर्थका आकार पडना नहीं माना जायगा तो निराकार ज्ञानका किसी पदार्थके साथ निकटपन और दूरपन तो असिद्ध है । इस कारण सभी पदार्थोंके साथ उस ज्ञानकी योजना होनेके कारण सभी पदार्थोंका एक ज्ञान हो जानेकी आपत्ति होगी अर्थात्—सूर्य या चन्द्रमाको सभी जीव अपना अपना कह सकते हैं । उनमें किसीके आधिपत्यकी नियत छाप नहीं लगी हुयी है । वैसे ही आकाररहितज्ञानें भी सभी विषयोंके जाननेका अधिकारी हो जाओ निराकार ज्ञानके लिये दूरवर्त्ती निकटवर्ती और भूत, भविष्यत्के सभी पदार्थ एकसे हैं । किसीके

साथ कोई विशेष नाता तो नहीं है। ऐसी दशामें एक ही ज्ञानके द्वारा सभी पदार्थोंकी ज्ञप्ति हो जावेगी। इन्द्रिय, मन आदिक तो सभी अर्थोंके ज्ञानमें साधारण कारण हैं। इस कारण उस ज्ञानका प्रतिनियम करानेके निमित्त वे नहीं बन सकते हैं। अतः घटज्ञानका घट ही और पटज्ञानका पट ही विषय है। इसका नियम करनेवाली ज्ञानमें पडी हुयी तदाकारता ही है। आचार्य कहते हैं कि यह भी जिस बौद्ध करके कहा जा रहा है, उसके यहाँ संनिकर्ष प्रमाण हो जाय और अधिगति उसका फल हो जावे। क्योंकि उस सन्निकर्षके विना अर्थके साथ ज्ञानका जुडना असम्भव है। बौद्धजन नील स्वलक्षण, पीत स्वलक्षणको ही वस्तुभूत मानते हैं। घट, पट, स्थूल अवयविओंको यथार्थ नहीं मानते हैं। अतः नीलका ज्ञान पीतका ज्ञान ऐसा उन्होंने कहा था।

साकारस्य समानार्थसकलवेदनसाधारणत्वात् केनचित्प्रत्यासत्तिविप्रकर्षेऽसिद्धे सकलसमानार्थेन घटनप्रसक्तेः सर्वसमानार्थैकवेदनापत्तेः, तदुत्पत्तेरिंद्रियादिना व्यभिचारान्नियामकत्वायोगात्।

बौद्धोंने ज्ञानद्वारा नियत विषयोंको जाननेमें तदाकारता, तदुत्पत्ति, और तदध्यवसाय ये तीन नियामक हेतु कहे हैं। आचार्य महाराज उनमें दोष दिखाते हैं कि बौद्ध यदि तदाकारतासे उस विषयको जाननेकी व्यवस्था करेंगे तो तदाकारताको सम्पूर्ण समान अर्थोंके ज्ञान करानेमें साधारणपना होनेके कारण किसी एक ही विवक्षित पदार्थके साथ निकटपना और दूरपना जब सिद्ध नहीं है तो संपूर्ण ही समान अर्थोंके साथ सम्बन्धित हो जानेका प्रसंग हो जानेसे सभी समान अर्थोंका एक ज्ञान हो जानेकी आपत्ति होगी। भावार्थ—मशीनमें ढले हुए एक रुपये का छूना या देखनारूप ज्ञान होनेपर उसी सन्के ढले हुये समान मूर्तिवाले एकसे सभी देशान्तरोंमें फैले या सन्दूकमें रक्खे भूमिमें गढे हुये रूपयोंका चाक्षुष या स्पार्शन हो जाना चाहिये, तैसे ही एक घडेके देख-लेनेपर उस घटके सदृश सभी घटोंका ज्ञान हो जाना चाहिये, क्योंकि बौद्ध मत अनुसार उनकी ज्ञप्तिका प्रधान कारण तदाकारता तो ज्ञानमें पड चुकी है। समान आकारवाले पदार्थोंके चित्र (तसवीर) एकसे होते हैं। ईसवीय सन् १९२८ में ढले हुये पंचम जार्जकी मूर्तिसे युक्त एक रुपयेकी तसवीर जैसी होगी वही चित्र उस सालके ढले हुये अन्य रुपयोंका भी होगा। फिर एक रुपयेको देखकर उस सालके ढले हुये सदृश सभी देशान्तरोंमें फैले हुये रुपयोंका उसी समय चाक्षुष ज्ञान क्यों नहीं हो जाता है ? इसका उत्तर बौद्ध यदि यों कहें कि हम तदुत्पत्तिको ज्ञान द्वारा नियत व्यवस्था करनेमें नियामक मानते हैं। अर्थात्—जो ज्ञान जिस पदार्थसे उत्पन्न होगा उसीको जानेगा अन्यको नहीं। सन्मुख रखे हुये एक रुपयेसे उत्पन्न हुआ ज्ञान उस ही रुपयेको जान सकता है। अन्य सदृश रुपयोंको नहीं। क्योंकि वह ज्ञान अन्य समान रुपयोंसे उत्पन्न नहीं हुआ है। ज्ञान अपने उत्पादक कारणरूप विषयको जानता है। " नाकारणं विषयः " जो ज्ञानका कारण नहीं है वह ज्ञानका विषय नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर समान अर्थोंके जान-

नेका व्यभिचार दोष तो दूर हो गया किन्तु इन्द्रिय, पुण्य, पाप, आकाश, आदि करके व्यभिचार दोष लग गया अर्थात्—इन्द्रिय, क्षयोपशम, पुण्य, आदि कारणोंसे ज्ञान उत्पन्न होता है। किन्तु उनको जानता तो नहीं है। अतः इन्द्रिय आदिकसे व्यभिचार हो जानेके कारण तदुत्पत्तिको नियम करानेपनका अयोग है। यदि बौद्ध इन्द्रिय आदिक करके हुये व्यभिचारका निवारण साकारतासे करें, यानी तदाकारता और तदुत्पत्ति दोनोको हम नियामक मानते हैं। इन्द्रिय आदिकोंमें तदुत्पत्ति है। यानी इन्द्रिय, पुण्य, आदिसे ज्ञानकी उत्पत्ति है। किन्तु ज्ञानमें उनका आकार न पडनेसे तदाकारता नहीं है। अतः व्यभिचार दोष नहीं आता है। तथा सदृश अर्थोंकी तदाकारता तो ज्ञानमें है किन्तु उन सदृश अर्थोंसे ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है। अतः उनको नहीं जानता है। इस प्रकार तदुत्पत्ति और तदाकारता दोनोंको नियामक माननेपर भी समान अर्थके ज्ञानके अव्यवहित उत्तरवर्ती ज्ञानसे व्यभिचार दोष लग जायगा। यह ज्ञान समान अर्थके ज्ञानसे उत्पन्न हुआ है। और समान अर्थके ज्ञानका आकार भी उसमें पडा है। फिर अन्य देशान्तरवर्ती पुरुषोंमें हो रहे या अपनेको कभी हुये समान अर्थोंके ज्ञानको क्यों नहीं जानता है ? बताओ। घटज्ञानके पीछे हुआ ज्ञान उस घटज्ञानको जान सकता है। किन्तु दूसरे सदृश घटके ज्ञानको नहीं जान सकता है। बौद्धोंके मत अनुसार ज्ञानको बीचमें देकर समान अर्थके समनन्तर ज्ञानमें तदुत्पत्ति और तदाकारता तो घट जाती है। अथवा समान अर्थके ठीक अव्यवहित पूर्ववर्ती ज्ञानसे दोनों तदाकारता, तदुत्पत्तिका व्यभिचार उठा सकते हो।

तदध्यवसायस्य मिथ्यात्वसमनंतरप्रत्ययेन कुतश्चित् सिते शंखे पीताकारज्ञानजनिताकारज्ञानस्य तज्जन्मादिरूपसद्भावेपि तत्र प्रमाणत्वाभावदिति कुतो न संमतं।

उस व्यभिचार दोषके दूर करनेके लिये बौद्ध तदध्यवसायकी शरण लेते हैं। अर्थात्—पीछे होनेवाले विकल्प ज्ञानसे जिस विषयका अध्यवसाय होगा, पूर्ववर्ती निर्विकल्पक ज्ञानका वही विषय नियत समझा जावेगा। अर्थके ज्ञानके उत्तरकालभावी ज्ञानमें सदृश अन्य अर्थके ज्ञानका अध्यवसाय नहीं है। अतः उसको नहीं जान पाता है। सिद्धान्ती कह रहे हैं कि इस प्रकार तदुत्पत्ति, तदाकार, और तदध्यवसाय, इन तीनोंको भी ज्ञानके द्वारा नियत पदार्थोंकी व्यवस्था करनेमें नियामकपना नहीं है। क्योंकि यों तो अपना उपादान कारण पूर्वज्ञान भी ज्ञानका विषय हो जाना चाहिये। पूर्वज्ञानसे उत्तरज्ञानकी उत्पत्ति भी है। पूर्वज्ञानका आकार भी उत्तरज्ञानमें पडा हुआ है, जैसे कि प्रतिबिम्ब पडे हुये दर्पणका यदि दूसरे दर्पणमें प्रतिबिम्ब लिया जाय तो पूर्वदर्पणका भी प्रतिबिंब दूसरे दर्पणमें आजाता है। उत्तरवर्ती ज्ञानमें प्रथम ज्ञानका अध्यवसाय भी हो जाता है तो फिर पूर्वज्ञानको उत्तरज्ञानको क्यों नहीं विषय करता है ? बताओ। दूसरा अतिप्रसंग दोष है कि शुक्ल शंखमें किसी कारणवश कामलरोगवाले पुरुषको प्रथम ही " पीला शंख है " ऐसा मिथ्याज्ञान हुआ, उसके अनन्तर ही ज्ञानसे उत्पन्न हुआ दूसरा

ज्ञान हुआ, जो कि पहिले ज्ञानसे उत्पन्न है। पहिले ज्ञानका आकार भी उसमें है। तथा पहिले ज्ञानका अध्यवसाय करनेवाला भी है। अतः पहिले पीत आकारको जाननेवाले ज्ञानसे उत्पन्न हुए दूसरे पीत आकारवाले ज्ञानके तदुत्पत्ति, तदाकारता और तदध्यवसाय स्वरूपके विद्यमान होनेपर भी उसमें प्रमाणपना नहीं माना गया है। बौद्धोंके विचार अनुसार तो तीनों नियामकोंके होनेसे उसमें प्रमाणपनेका प्रसंग आता है। अतः तदध्यवसायका मिथ्याज्ञानके पीछे होनेवाले ज्ञानसे व्यभिचार है। इसका विचार कुछ प्रथम भी कर दिया था। इस कारण तदाकारताको प्रमाण कहनेवाले बौद्धने सन्निकर्षको क्यों नहीं प्रमाणपनेसे अभीष्ट किया ? तदाकारता और सन्निकर्ष दोनोंका फल अधिगति मिल ही जाती है।

सत्यपि सन्निकर्षेऽर्थाधिगतेरभावान्न प्रमाणमिति चेत्।

यदि बौद्ध यों कहें कि सन्निकर्ष तो प्रमाण नहीं हो सकता है। क्योंकि उसमें अन्वयव्यभिचार है, सन्निकर्ष होते हुये भी अर्थकी अधिगति नहीं हो रही है। इस प्रकार कहनेपर तो हम कहते हैं कि—

सन्निकर्षे यथा सत्यप्यर्थाधिगतिशून्यता।
सारूप्येपि तथा सेष्टा क्षणभंगादिषु स्वयम् ॥ ३५ ॥

जिस प्रकार सन्निकर्षके होते हुए भी अर्थज्ञप्तिकी शून्यता देखी जाती है, उसी प्रकार क्षणिकत्व आदिमें तदाकारता होते हुए भी अर्थज्ञप्तिका वह अभाव स्वयं बौद्धोंने अभीष्ट किया है। अर्थात्-जैसे वैशेषिकों द्वारा माने गये सन्निकर्षमें अन्वयव्यभिचार आनेसे तुम बौद्ध प्रमाका कारणपना नहीं मानते हो, वैसे ही तुम बौद्धोंके माने हुए सारूप्यमें भी अन्वयव्यभिचार आता है। देखिये। स्वलक्षण वस्तुका क्षणिकपना तदात्मक स्वरूप है। अतः स्वलक्षणसे उत्पन्न हुए ज्ञानमें जब स्वलक्षणका आकार पड गया है, तो उससे अभिन्न क्षणिकपनेका भी आकार पड चुका है। ऐसी दशामें क्षणिकपनका आकार होते हुए भी निर्विकल्पक ज्ञानद्वारा क्षणिकत्वकी अधिगति होना बौद्धोंने स्वयं नहीं माना है। किन्तु सत्त्व कृतकत्व, हेतुओंसे उत्पन्न हुये अनुमान द्वारा क्षणिकपनका ज्ञान इष्ट किया है। क्षणिकपना कल्पितधर्म तो है ही नहीं जिसका कि आकार ज्ञानमें न पडे। कल्पित धर्म माननेपर तो सभी अर्थ परमार्थरूपसे क्षणिक नहीं हो सकेंगे तथा व्यतिरेकव्यभिचार भी होता है। भूत, भविष्यत्, तथा अतिदूरवर्ती पदार्थोंका आकार न पडते हुए भी बुद्धज्ञान द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंकी अधिगति होना इष्ट कर लिया है। सौत्रान्तिकोंने अपने इष्टदेवता सुगतको सर्वज्ञ माना है। यद्यपि जैनोंने भी ज्ञानको साकार माना है। किन्तु यहां आकारका अर्थ विकल्प करना है। प्रतिबिम्ब पडना नहीं। आत्माका ज्ञानगुण ही अर्थोंकी विकल्पना करता है। दर्शन, सुख, वीर्य,

आदि गुण तो विकल्पनायें नहीं करते है। यदि उनको समझना या समझाना होगा तो उनका ज्ञान द्वारा उल्लेख हो सकता है। अन्यदा आत्मामें स्वांशपरिणत हो रहे बैठे रहो।

यथा चक्षुरादेराकाशादिभिः सत्यपि संयोगादौ सन्निकर्षे तदधिगतेरभावस्तथा क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादिभिर्दानादिसंवेदनस्य सत्यपि सारूप्ये तदधिगतेः शून्यता स्वयमिष्टैव तदालंबनप्रत्ययत्वेपि तस्य तच्छून्यतावत्। "यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता" इति वचनात्। ततो नायं सन्निकर्षवादिनमतिशेते। किं च।

जिस प्रकार वैशेषिकमतमें माने जा रहे तेजोद्रव्य चक्षु, जलद्रव्य रसना आदि इन्द्रियोंका आकाश, आत्मा, आदि द्रव्योंके साथ संयोग संनिकर्ष विद्यमान हो रहा है, तथा रूप, रूपत्वके समान रस, रसत्व या ज्ञान, ज्ञानत्व, आदिके साथ भी चक्षुका संयुक्तसमवाय और संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष हो रहा है। फिर भी उन आकाश, रस, ज्ञानत्व आदिकी अधिगति चक्षु आदिकसे नहीं होती मानी गयी है। अतः तुम बौद्ध संनिकर्षको प्रमाण नहीं मानोगे, तिस ही प्रकार स्वलक्षण या दाताके दान या हिंसककी हिंसा आदिको जाननेवाले ज्ञानका क्षणिकत्व, स्वर्गप्रापणशक्ति, नरकगमनयोग्यता, आदिके साथ तदाकारपना होते हुये भी उन क्षणिकत्व आदिकी अधिगतिका अभाव स्वयं बौद्धोंने इष्ट ही किया है। भावार्थ–दाताको विषय करनेवाले निर्विकल्पक ज्ञानमें दानका आकार पड जानेसे उसकी तदात्मक स्वर्गप्रापणशक्तिका भी आकार उस ज्ञानमें पड चुका है। तथा हिंसककी आत्माका प्रत्यक्ष हो जानेपर ही नरकप्रापणशक्तिका भी आकार आ चुका है। फिर इनको जाननेके लिये दूसरे अनुमान ज्ञान क्यों उठाये जाते हैं ? चाक्षुष प्रत्यक्षसे ही इनका ज्ञान कर लिया जाय, इस कारण अन्वयव्यभिचार हो जानेसे तुम बौद्धोंकी मानी हुई तदाकारता भी प्रमाण नहीं है। तदाकारताके होनेपर भी अधिगतिकी शून्यता देखी जाती है। जैसे कि उनको उस ज्ञानका आलम्बन कारण मानते हुये भी उस अधिगतिकी शून्यता है। अर्थात्–ज्ञानके विषयको बौद्धोंने ज्ञानका आलम्बन कारण माना है। तथा निर्विकल्पक बुद्धि जिस ही विषयमें इस सविकल्पक बुद्धिको पीछेसे उत्पन्न करावेगी उस विषयमें ही इस निर्विकल्पक ज्ञानको प्रमाणता है, ऐसा बौद्ध ग्रन्थोंमें लिखा हुआ है। यहां लगे हाथ तदुत्पत्तिका भी व्यभिचार दे दिया गया है। यानी क्षणिकत्व आदिसे निर्विकल्पक द्वारा क्षणिकत्व आदि आलम्बनोंका जानना नहीं होता है। तिस कारण यह बौद्ध पंडित संनिकर्षको प्रमाण कहनेवाले वैशेषिकोंका अतिशय नहीं करता है। ग्रामीण किंवदन्ती है कि जैसे ही नागनाथ हैं वैसे ही सर्पनाथ हैं। कोई अन्तर नहीं है। और दूसरी बात यह भी है कि—

स्वसंविदः प्रमाणत्वं सारूप्येण विना यदि।
किं नार्थवेदनस्येष्टं पारंपर्यस्य वर्जनात् ॥ ३६ ॥

सारूप्यकल्पने तत्राप्यनवस्थोदिता न किम् ।
प्रमाणं ज्ञानमेवास्तु ततो नान्यदिति स्थितम् ॥ ३७ ॥

बौद्धोंने इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, योगिप्रत्यक्ष और स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ये चार प्रत्यक्ष माने हैं, तिनमें ज्ञानको जाननेवाले स्वसंवेदन प्रत्यक्षको तदाकारताके विना भी प्रमाण मान लिया गया है। अर्थका आकार ज्ञानमें पड सकता है, ज्ञानमें ज्ञानका नहीं। रुपयासे रुपया वहा ही उसी समय उतना ही नहीं खरीदा जाता है। बौद्धोंने जैनोंके ऊपर कटाक्ष किया है कि ज्ञानमें यदि अर्थका आकार पडना नहीं माना जायगा तो वे अर्थ विना मूल्य देकर खरीदनेवाले (मुफ्तखोरा) हैं। क्योंकि प्रत्यक्षमें अपने आकारको नहीं सौंपते हैं और अपना प्रत्यक्ष करालेना चाह रहे हैं, किन्तु स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा आकारके विना भी ज्ञानका प्रत्यक्ष हो जाना माना है। आचार्य कहते हैं कि तदाकारताके विना भी यदि स्वसंवेदनको प्रमाणपना मानते हो तो अर्थज्ञानको भी तदाकारताके विना ही प्रमाणपना क्यों न इष्ट करलिया जाय। इसमें परम्परा परिश्रम करना भी छूटता है। क्योंकि ज्ञान और अर्थके बीचमें तदाकारताका प्रवेश नहीं हुआ। यदि स्वसंवेदन प्रत्यक्षमें भी ज्ञानका आकार पडना मानोगे तो उसको जाननेवाले उसके स्वसंवेदनमें भी तदाकारता माननी पडेगी और उसको भी जाननेवाले तीसरे स्वसंवेदनमें ज्ञानका प्रतिविम्ब मानना पड़ेगा। इस प्रकार भला अनवस्थाका उदय क्यों नहीं होगा ? बताओ। तिस कारण ज्ञान ही प्रमाण रहो, उससे भिन्न संनिकर्ष, तदाकारता, इन्द्रिय, आदिक तो प्रमाण नहीं हैं यह सिद्धान्त स्थिर हुआ।

स्वसंविदः स्वरूपे प्रमाणत्वं नास्त्येवान्यत्रोपचारादित्ययुक्तं सर्वथा मुख्यप्रमाणाभावप्रसंगात् स्वमतविरोधात् ।

बौद्ध यदि यों कहें कि स्वसंवेदन प्रत्यक्षको ज्ञानका स्वरूप जाननेमें प्रमाणता नहीं है, सिवाय उपचारके, यानी उपचारसे ही स्वसंवेदन प्रत्यक्ष प्रमाण है। तदाकारता न होनेसे वह मुख्य प्रमाण नहीं माना गया है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना युक्तिरहित है। क्योंकि उपचारसे मान लिया गया प्रमाण यदि ज्ञानको जान लेता है, ऐसी दशामें उपचरित प्रमाण भला अर्थोंको भी जान लेगा तो फिर मुख्यप्रमाणोंके अभावका प्रसंग होगा और ऐसा होनेपर बौद्धोंको अपने मतसे विरोध आवेगा। बौद्धोंने मुख्य प्रमाण माने हैं और स्वसंवेदनको अपने स्वरूपकी ज्ञप्ति करानेमें मुख्यप्रमाण इष्ट किया है।

प्रामाण्यं व्यवहारेण शास्त्रं मोहनिवर्तनमिति वचनात् मुख्यप्रमाणाभावे न स्वमतविरोधः सौगतस्येति चेत् स्यादेवं यदि मुख्यं प्रमाणमयं न वदेत् " अज्ञातार्थप्रकाशो वा स्वरूपाधिगतेः परं " इति ।

बौद्ध कहते हैं कि प्रमाणपना कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है। व्यवहारसे प्रमाणपना मान लिया गया है। देखो कहीं ज्ञान प्रमाण है। क्वचित् हस्ताक्षर प्रमाण हैं। कहीं पर साक्षी (गवाह) प्रमाण माने जाते हैं। एक ही मनुष्य किसीके लिये प्रमाण है। अन्यके लिये अप्रमाण है। जैसे कि समर्थ प्रभुके दोष भी गुण हो जाते हैं। किसी धनपति या प्रचण्ड अधिकारीके अपान वायुका निःसरण हो जानेपर चाटुकार पुरुष (खुशामदी) उसकी पाचन शक्तिकी प्रशंसाके पुल बाध देते हैं, जब कि निर्धनको ऐसा अवसर आ जानेपर वे ही स्वार्थभट्ट निन्दाके छप्पर बाध देते हैं। वैसे ही प्रमाणपना कोई निर्णीत नहीं है। व्यवहारसे जिसको भी प्रमाण मान लिया सो ही ठीक है। तथा शास्त्र भी कोई नियत हुये प्रमाण नहीं हैं, इस प्रकार हमारे बौद्ध ग्रन्थोंमें कहा है। शास्त्र केवल मोहकी निवृत्ति कर देता है। कोई आप्तमूलक प्रमाण नहीं है। बहुतसी झूंठी कहानियों या उपन्यासोंसे भी अनेक अच्छी २ शिक्षायें मिल जाती हैं। मोह दूर हो जाता है। अतः मुख्यप्रमाणोंके न माननेपर हमको अपने मतसे कोई विरोध नहीं आता है। बौद्धके इस प्रकार कहनेपर तो हम स्याद्वादी कहते हैं कि इस प्रकार तब हो सकता था यदि यह बौद्ध प्रमाणको न कहता होता। किन्तु बौद्धोंने तो अज्ञात अर्थका प्रकाश करनेवाले और स्वरूपकी अधिगतिका उत्कृष्ट कारण प्रमाण तत्त्व माना है। अथवा स्वरूपकी अधिगतिसे उसका जनक प्रमाण न्यारा है। इस प्रकार बौद्धोंने स्वकीय शास्त्रोंमें मुख्यप्रमाणको इष्ट किया है। फिर पीछे व्यवहारकी शरण क्यों ली जाती है ? आप अपने रहस्यको आप ही जाने भीतर कुछ बाहर कुछ ऐसा हमें अभीष्ट नहीं है।

संवेदनाद्वैताश्रयणात् तदपि न च तदित्येवेति चेत् न तस्य निरस्तत्वात्। किं चेदं संवेदनं सत्यं प्रमाणमेव मृषासत्यमप्रमाणं। न हि न प्रमाणं नाप्यसत्यं सर्वविकल्पातीतत्वात् संवेदनमेवेति चेत् सुव्यवस्थितं तत्त्वं। को हि सर्वथानवस्थितात्खरविषाणादस्य विशेषः। स्वयं प्रकाशमानत्वमिति चेत् तद्यदि परमार्थसत् प्रमाणत्वमन्वाकर्षति। ततो द्वयं संवेदनं यथास्वरूपे केनचित्तदतत्स्वरूपमपि प्रमाणं तथा बहिरर्थे किं न भवेत्-तस्य तद्व्यभिचारिणो निराकर्तुमशक्तेः। पारंपर्यं च परिहृतमेव स्यात्। संविदर्थयोरंतराले सारूप्यस्याप्रवेशात्।

बौद्ध कहते हैं कि सम्वेदनके अद्वैतका आश्रय करनेसे न तो हम उस मुख्य प्रमाणको मानते हैं। और उस स्वसंवेदनको भी प्रमाण नहीं मानते हैं। अद्वैत पक्षमें तदुत्पत्ति, तदाकारता आदिका झगडा ही नहीं है। केवल वह शुद्ध संवेदन ही है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उस संवेदन अद्वैतका पूर्वप्रकरणोंमें खण्डन किया जा चुका है। दूसरी बात यह है कि यह आपका माना हुआ संवेदन यदि सत्य है, तब तो प्रमाण ही होगा और यदि मिथ्या

होकर असत्य है तो अप्रमाण ही है। ऐसी दशामें भला प्रमाणपना और अप्रमाणपना कैसे मिट सकता है ? यदि प्रमाणपन, अप्रमाणपन, सत्यपन आदि सम्पूर्ण विकल्पोंसे रहित होनेके कारण संवेदन तो संवेदन ही है, और कुछ नहीं, इस प्रकार अद्वैतवादियोंके कहनेपर तो हमें उपहास पूर्वक कहना पडता है कि इस ढंगसे तो तत्त्व भले प्रकार व्यवस्थित हो गये ? युक्तिके विना केवल राजाज्ञाके समान यों ही तुम्हारे तत्त्वोंको कौन मान लेगा ? वस्तुरूपसे सभी प्रकार नहीं व्यवस्थित हो रहे खरविषाणसे इस अद्वैत सम्वेदनका भला कौनसा अन्तर है ? अर्थात्—सभी विकल्पोंसे रहित सम्वेदन तो खरविषाणके समान असत् है। तुम्हें कोई विशेषता दीखती हो तो बताओ। यदि संवेदनका स्वयं प्रकाशमानपना खरविषाणसे अन्तर डालनेवाला है। यों कहोगे तो, हम पूछेंगे कि वह सम्वेदन यदि वास्तविक सत् है, तब तो प्रमाणपनेको खींच लेता है। तिस कारण अद्वैतवादियोंका वह संवेदन अकेला होता हुआ और किसी भी पदार्थके साथ वह तदाकार न होकर भी जैसे स्वरूपमें प्रमाण है, तिस ही प्रकार नहीं आकारको रखता हुआ वह संवेदन बहिरंग अर्थको जाननेमें भी क्यों नहीं प्रमाण हो जावे ? उस अपने आकारका समान अर्थोंसे व्यभिचार रखनेवाले सम्वेदनका निराकरण नहीं किया जा सकता है। अर्थात्—तदाकारताको प्रमाण माननेपर स्वसम्वेदन प्रत्यक्षसे हुये व्यतिरेकव्यभिचार और सदृश अर्थोंसे हुये अन्वयव्यभिचारका निवारण नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि इस ढंगसे परम्परा द्वारा ज्ञान होनेका भी परिहार हो ही जावेगा। क्योंकि ज्ञान और अर्थके अन्तराल (मध्य) में तदाकारताका प्रवेश नहीं किया गया है।

यदि पुनः संवेदनस्य स्वरूपसारूप्यं प्रमाणं सारूप्याधिगतिः फलमिति परिकल्प्यते तदानवस्थानादितेव। ततो ज्ञानादन्यदिंद्रियादिसारूप्यं न प्रमाणमन्यत्रोपचारादिति स्थितं ज्ञानं प्रमाणमिति।

यदि फिर तदाकारताका आग्रह रक्षित रखते हुए बौद्ध इस प्रकार कल्पना करेंगे कि संवेदनके स्वरूपमें भी ज्ञानस्वरूपका आकार (प्रतिबिम्ब) पडता है। अतः ज्ञानमें स्वके रूपकी तदाकारता प्रमाण है और उस सारूप्यकी अधिगति होना फल है। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसी कल्पना करनेपर तो अनवस्था ही कही गयी समझना चाहिये। अर्थात्—तदाकारताकी अधिगति भी साकारज्ञानद्वारा होगी और उस साकारज्ञानकी तदाकारताका अधिगम भी तदाकार ज्ञानसे होगा। इस प्रकार नियतव्यवस्था नहीं हो सकती है। तिस कारण ज्ञानसे भिन्न हो रहे इन्द्रिय, सन्निकर्ष, तदाकारता, आदिक प्रमाण नहीं हैं, सिवाय उपचारके। अर्थात्—ज्ञानद्वारा ज्ञप्ति करानेमें कुछ सहकारी हो जानेसे भले ही इन्द्रिय और सन्निकर्षको व्यवहारसे प्रमाण कह दिया जाय, अन्यथा नहीं। तथा ज्ञानमें पदार्थोंका आकार तो पडता नहीं है। मूर्त पदार्थमें ही पौद्गलिक मूर्त पदार्थका आकार पडता है। हां, आकारका अर्थ समझना, समझा सकना, विकल्प करना, उल्लेख करना किया जाय तो ऐसे

साकार ज्ञानको स्याद्वादी अभी करते हैं। इस प्रकार ज्ञान ही प्रमाण है। यह बात सिद्ध हुई ज्ञान ही हितप्राप्ति और अहितपरिहार करानेमे समर्थ हो सकता है, जो कि प्रमाणका मुख्य कर्तव्य है।

मिथ्याज्ञानं प्रमाणं न सम्यगित्यधिकारतः।
यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता ॥ ३८ ॥

इस सूत्रमें सम्यक्का अधिकार चला आरहा है, इस कारण संशय आदि मिथ्याज्ञान प्रमाण नहीं हैं। जिस प्रकार जहा पर अविसम्वाद है वहा उस प्रकार प्रमाणपना व्यवस्थित है। जैसे कि मिथ्याज्ञानको स्वांशके जाननेमें प्रमाणान्तरोंकी प्रवृत्तिरूप सम्वाद है, किन्तु विषयको जाननेमें विसम्वाद है तथा दूरसे वृक्षका ज्ञान करनेमें सामान्यवृक्षपनेका अविसम्वाद है और विशेषवृक्षपन, रंग, ऊंचाई, शाखाओंका अन्तराल आदिके जाननेमे प्रमाणान्तरोंसे बाधा प्राप्त हो जाना रूप विसम्वाद है, अतः किसी किसी समीचीन ज्ञानमें भी पूर्णरूपसे प्रमाणता नहीं है। यदि हम सामान्य वृक्षको ही जानकर चुप हो जाते तो वृक्षज्ञानको सर्वांग प्रमाण कह सकते थे। किन्तु वृक्षको जानते समय उसके काले पत्ते, सघनता, छोटापन, धुंधलापन भी तो मन्दरूपसे जान लिये गये हैं। भले ही हम शब्दोंसे न कहें, आत्माके पास बहुत बढिया कृतज्ञ सेवक एक ज्ञान है जो कि एक कार्यका कारण अपनेको बखानता है, किन्तु विना कहे दस कार्योंको साधदेता है। अतः जितने अंशमें सम्वाद है उतने अंशसे सम्यग्ज्ञान या मिथ्याज्ञानमें प्रमाणपना व्यवस्थित है। शेष अंशोंसे अप्रमाणपन है, चाहे सम्यग्ज्ञान कहाता होय और भले ही वह मिथ्याज्ञान शब्दसे कहा गया होय।

यदि सम्यगेव ज्ञानं प्रमाणं तदा चंद्रद्वयादिवेदनं वाक्ल्यादौ प्रमाणं कथमुक्तमिति न चोद्यं, तत्र तस्याविसंवादात् सम्यगेतदिति स्वयमिष्टेः। कथमियमिष्टिरविरुद्धेति चेत्, सिद्धांताविरोधात्तथा प्रतीतेश्च।

कोई जैनोंके ऊपर अभियोग लगाता है कि समीचीन ज्ञानको ही यदि जैन विद्वान् प्रमाण मानेंगे तो बावडी, कूप, कटोरा, आदिमें प्रतिविम्बके वश हुये दो चन्द्रमा या दो, तीन, दीपक आदिका ज्ञान भला प्रमाण कैसे कह दिया गया है? यह समीचीन ज्ञान तो नहीं है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकारका आक्षेप नहीं करना। क्योंकि जैनोंके यहा प्रतिबिम्ब पदार्थ पौद्गलिक वस्तुभूत माना गया है। नैयायिकके समान हम छायाको अवस्तु नहीं मानते हैं और मीमासकोंके समान हम चक्षुकी किरणोंका चमकीले पदार्थसे टक्कर खाकर लौटके उसी मुख्य वस्तुके देखनेको भी हम छायाज्ञान नहीं कहते हैं। किन्तु दो या तीन जलपात्रोंमें न्यारे न्यारे पडे हुये वे प्रतिबिम्ब जलके स्वच्छतागुणकी विभाव पर्याय हैं, वे जलस्वरूप हैं। अतः आकाशमें ऊपर देखनेपर एक चन्द्रमाका ज्ञान समीचीन है, वहा दो चन्द्रमाका ज्ञान होना मिथ्या है, किन्तु दो दर्पणोंमे या जल भरे कटोरोंमें अनेक चन्द्रबिम्बोंका ज्ञान होना समीचीन है। क्योंकि वहा उस ज्ञानका अविसम्वाद है और अन्य

वादियोंने भी यह ज्ञान समीचीन है, इस प्रकार विवाद किये विना स्वयं इष्ट कर लिया है। कोई विरोध नहीं है। दर्पणके पार्श्व (बगल) में चमकीली वस्तुके लगा देनेपर या जडी हुई मणिके नीचे काच या चादीका डक लगा देनेपर जो चमक बढ जाती है, वह उस वास्तविक प्रतिबिम्बका ही कार्य है, कोई पूंछता है कि इस प्रकार इष्ट करना अविरुद्ध कैसे है? इसपर तो हम स्याद्वादियोंका यह कहना है कि एक पदार्थके अनेक निमित्त मिलनेपर नाना प्रतिबिम्बोंके पड जानेमें कोई सिद्धान्तसे विरोध नहीं आता है और तिस प्रकार प्रतीति भी हो रही है। आखोंमें चमकीले लाल रंगको देखनेपर हानि होती है और हरे रंगको देखनेपर लाभ होता है यह सब दूरवर्ती पदार्थके आखोंमें पडे हुये प्रतिबिम्बका ही कार्य है दर्पणको देखते समय हमारा मुख पूर्वकी ओर है और प्रतिबिम्बका मुख तो पश्चिमकी ओर दीखरहा है। लहर लेरहे जलमें चन्द्रका प्रतिबिम्ब कंपता है और आकाशमें चन्द्रमा कपता नहीं है, इस बातको बालक भी जानते हैं।

स्वार्थे मतिश्रुतज्ञानं प्रमाणं देशतः स्थितं।
अवध्यादि तु कार्त्स्न्येन केवलं सर्ववस्तुषु ॥ ३९ ॥

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अपने अपने विषय स्व और अर्थमें एक देशसे अविसम्वाद रखते हैं। अतः प्रमाणस्वरूपसे प्रसिद्ध हैं। तथा अवधि और मन पर्यय तो अपने नियत विषयोंमें पूर्णपनेसे अविसम्वादी हैं। अतः प्रमाण हैं। हा, केवलज्ञान सम्पूर्ण वस्तुओंमें पूर्णरूपसे विशद है। अतः सबका सब प्रमाण है। इस प्रकार पाच ज्ञानोंमें तीन ढंगसे प्रमाणपना प्रसिद्ध हो रहा है। जौहरी, वैद्य, ज्योतिषी, नैयायिक आदि विद्वानोंको जिस जिस विषयमें अविसम्वाद है, उन उन विषयोंमें प्रमाणता है। भले ही केवलज्ञान सबको जानता है। फिर भी रसनाइंद्रियजन्य प्रत्यक्षमें जैसे मोदक-रसका अनुभव होता है, वैसा केवलज्ञानसे नहीं। तभी तो केवलज्ञानी महाराजको अभक्ष्य, मास, मद्य, आदिका ज्ञान होते हुये भी अणुमात्र दोष नहीं लगता है। वस्तुतः दोष लगनेका कारण रासनप्रत्यक्ष द्वारा कषायप्रयुक्त गृद्धिपूर्वक अनुभव करना है, जो कि केवलज्ञानी महाराजके पास नहीं है। यों सूक्ष्मतासे विचारा जाय तो सभी ज्ञानों द्वारा विषयग्रहण करनेमें अनेक प्रकारके अन्तर हैं।

स्वस्मिन्नर्थे च देशतो ग्रहणयोग्यतासद्भावात् मतिश्रुतयोर्न सर्वथा प्रामाण्यं, नाप्यवधिमनःपर्यययोः सर्ववस्तुषु केवलस्यैव तत्र प्रामाण्यादिति सिद्धांताविरोध एव " यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता " इति वचनस्य प्रत्येयः।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानकी अपने और अर्थमें एक देशसे ग्रहण करनेकी योग्यता विद्यमान है। अतः सभी प्रकारसे उनमें प्रमाणपना नहीं है तथा अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञानमें भी सभी प्रकारोंसे प्रमाणता लबालब भरी हुई नहीं है। हा, सम्पूर्ण वस्तुओंमें केवलज्ञानकी ही स्व और अर्थको जाननेमें ठसाठस प्रमाणता हो रही है। इस कारण जैन सिद्धान्तसे इस वचनका कोई विरोध नहीं

आता है कि जहां जिस प्रकार अविसम्वाद है, वहां उस प्रकार प्रमाणता मानी जाती है, यह विश्वास करने योग्य है। सच बात कहनेमें हम हिचकिचाते नहीं हैं। " शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि "। मतिज्ञान और श्रुतज्ञानोंको अपने विषयोंमें भी पूर्णरूपसे प्रमाणता प्राप्त नहीं है। विचारनेपर निर्णीत हो जाता है कि जिस ज्ञानमें जितनी पराधीनता होगी उतना ही वह मन्द होगा। चाक्षुष प्रत्यक्षको ही ले लीजिये। किसी वृक्षको एक कोश दूरसे देखा जाय, छोटा दीखेगा। जितना जितना वृक्षके निकट पहुंचते जायंगे उतना उतना बडा दीखता जायगा। दस गजके अन्तरालसे देखनेपर बडा दीखता है। बीचमें तारतम्यरूप दीखता है। वृक्षकी ठीक लम्बाई चौडाई कहासे दीखती है इसका निर्णय करना कठिन है। यों तो सब अपने अपने प्रत्यक्षोंको ठीक बता रहे है। हां, वृक्षकी यथार्थ लम्बाई चौडाई किसी न किसी प्रत्यक्षसे दीखती अवश्य है। किन्तु हजारों प्रत्यक्षोंमेंसे कौनसा भाग्यशाली प्रत्यक्षज्ञान उसको ठीक ठीक जाननेवाला है, इसकी परीक्षा दुःसाध्य है। इसी तरह दूरसे वृक्षका रूप काला दीखता है, निकटसे हरा दीखता है, मध्यस्थानोंसे हरे और कालेका तारतम्य रूपसे रूपका ज्ञान होता है। वृक्षका ठीक रूप किस स्थानसे दीखा है, इसका निर्णय कौन करे ? यदि ज्ञानमें विशेष अंश नहीं पडकर केवल काला या हरा रूप ही दीखगया होता तो हम इतनी चिन्ता न करते, किन्तु हम क्या करें, तुम उन ज्ञानोंमें विशेष अंशोंको ग्रहण कर बैठे हो। अतः विचार करना पडता है। जैसी ज्ञानमें विकल्पना कर लोगे हमें इसके सत्यपन या असत्यपनकी परीक्षा करनी ही पडेगी। एक शुक्लवस्त्रको घाममें, छायामें, दीपकके प्रकाशमें, बिजलीके प्रकाशमें, उजिरियामें देखनेपर अनेक प्रकारके शुक्लरूप दीखते हैं। भले ही बिजली आदि निमित्तसे वस्त्रके शुक्लरूपमें कुछ आक्रान्ति हो गयी हो, फिर भी इस बातका निर्णय करना शेष रह जाता है कि वस्त्रका ठीक रूप किस प्रकाशमें दीखा था। आंखे भी रूपके देखनेमें बडी गडबडी मचा देती हैं। एक मोटा कांच होता है। घडी बनानेवाले या चित्र दिखानेवाले पुरुष उस काचके द्वारा हजार गुना लम्बा, चौडा, पदार्थ देख लेते हैं। एक बालको उस काच द्वारा देखनेपर मोटी लेजके समान दीखता है। इसी प्रकार चक्षु इन्द्रियका बहिरंग शरीर भी उस काचके सदृश है। सन्मुख रखे हुये पदार्थोंका चक्षुमें प्रतिबिम्ब पडता है। और वह एक लाख गुना बडा होकर या इससे कुछ न्यून अधिक प्रतिभास जाता है। सैकडों दर्पणोंमेंसे कोई एक दर्पण शुद्ध होता होगा, जो कि पदार्थका ठीक प्रतिबिम्ब लेता है। अन्यथा किसी दर्पणमें लम्बा किसीमें चौडा किसीमें पीला किसीमें लाल मुख दीखता है। इसी प्रकार बालक, कुमार, युवा, वृद्ध, बीमार, निर्बल, सबल, घी खानेवाला, रूखा खानेवाला आदिकी आखोंमें भी प्रतिबिम्ब पडनेका अवश्य अन्तर होगा। यदि ऐसा न होता तो उनको भिन्न भिन्न प्रकार (नम्बरों) के उपनेत्र (चश्मा) क्यों अनुकूल पडते हैं। मोतिया बिंद रोगवालेका चश्मा किसी नीरोग विद्यार्थीको उपयोगी नहीं होता है। अनेक जातिके पशु, पक्षी, या छोटी बडी आंखवाले जीव अथवा मक्खी, पतंग आदिकी आखोंके

प्रतिबिम्बोंमें भी तारतम्य है। सार यह है कि ठीक ठीक लम्बाई, चौडाई, रंग और विन्यासका चाहे जिसकी आखोंसे यथार्थ निर्णय होना कठिन है। सभी बालक, वृद्ध, रोगी, अपने अपने ज्ञानको ठीक मान बैठे हैं। बडे मोटे अन्तरके दीखनेपर तो बाधा उपस्थित कर देते हैं। किन्तु छोटे अन्तरोंपर तो किसीका लक्ष्य ही नहीं पहुंच पाता है। यदि हम चक्षुओंसे केवल वृक्ष या शुद्ध वस्त्र अथवा मुखका ही ज्ञान कर लेते तो भी ठीक था, किन्तु चाक्षुष प्रत्यक्षमें तो उन लम्बाई चौडाई, रंग, चपटापन, आदि सूक्ष्म अंशोंका प्रतिभास हो गया है, जो कि यथार्थ नहीं हैं। ऐसी दशामें चाक्षुष प्रत्यक्षको सर्वांग रूपसे प्रमाण कैसे कहा जा सकता है ? पीलिया रोगीको शुक्ल शंख पीला दीखता है। अन्य मनुष्योंको कम पीला दीखता है। शंखके ठीक रूपका ज्ञान तो लाखोंमेंसे किसी एकको ठीक ठीक होगा। इसी प्रकार रसना इन्द्रियमें भी समझ लेना। अधिक भूख लगनेपर जो मोदकका स्वाद है, तृप्त होनेपर वह नहीं। खाते खाते मध्यमें स्वादकी अनेक अवस्थायें हैं। ज्वरवालेको स्वाद अन्य ही प्रकारका प्रतीत होता है। यद्यपि ज्वरके निमित्तसे जिह्वाके ऊपर स्वाद बिगाडनेवाले मलके जम जानेसे मलका सम्पर्क हो जानेपर भी स्वाद बिगड जाता है। किन्तु नीरोग अवस्थामें भी तो भिन्न भिन्न परिस्थितिके होनेपर एक ही वस्तुमें न्यारे न्यारे रस अनुभूत होते हैं। अतः जीभके मलका बहाना पकड लेना छोटापन है। पेडा खानेके पीछे बेर फलका वैसा मीठा स्वाद नहीं आता है। जैसे कि पेडा खानेके पहिले आ सकता है। प्रायः बहुतसे पुरुषोंका कहना है कि बाल्य अवस्थामें फल, दुग्ध, मोदक अंडिया (मुट्टिया) ककडी, भुने हुए चना, परमल आदिके जैसे स्वाद आते थे, वैसे कुमार युवा अवस्थाओंमें नहीं आते हैं। और युवा अवस्थाकेसे स्वाद बूढेपनमें नहीं। उस उस अवस्थाकी लार या दांतोंसे पीसना, चबाना, अन्तरंग बुभुक्षा आदिसे भी स्वादमें अन्तर पड जाता है। कहना यही है कि मोदकके रसका ठीक ठीक आस्वाद भला कब किसको हुआ ? किन्तु बालक, युवा, रोगी आदि सभीने तो अपने ज्ञानोंमें स्वादके विशेष अशोंको जान लिया है। अतः सभी जीवोंके अनेक तारतम्यको लिये रासन प्रत्यक्षको सर्वांगरूपसे तो प्रमाण नहीं कहा जा सकता है। स्पर्शन इन्द्रियसे उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष भी मोटे मोटे अशोंमें प्रमाण है। जान लिए गए सूक्ष्म अंशोंमें प्रमाण नहीं हैं। हम लोगोंमें आपेक्षिक विज्ञान अधिक होते हैं। ज्वरी पुरुषको वैद्यका शरीर अधिक शीतल प्रतीत होता है। और वैद्यको ज्वरीका शरीर उष्ण दीखता है। ठण्डे पानीमें अंगुली डालकर पुनः कुछ उष्ण जलमें अंगुली डालनेपर उष्ण स्पर्शका प्रतिभास होता है। किन्तु अधिक उष्ण जलमें अंगुली डुबोकर पुनः उसी न्यून उष्णजलमें अंगुली डालनेसे शीत स्पर्शका प्रतिभास होता है। जैसे कि अधिक मिर्च खानेवालेको [illegible] मिर्च पडे हुये व्यजनमें चिरपिरा स्वाद नहीं आता है। किन्तु मिरचको सर्वथा नहीं खानेवाले विद्यार्थी या बालकका मुख तो उस व्यंजनसे झुलस जाता है। हम लोगोंके शरीरमें अन्तरंग बहिरंग कारणोंसे पदार्थोंके जाननेकी

न्यारी न्यारी परिणतिया होती रहती हैं। किस समयकी परिणति सम्बद्ध वस्तुके स्पर्शको ठीक ठीक जानती है, इसका निर्णायक उपाय हमारे पास नहीं है। घ्राण इन्द्रियमें भी यही टंटा लग रहा है। दूरसे, समीपसे और अतिसमीपसे गन्धका ज्ञान होनेमें विशेषतायें हो रहीं हैं। यद्यपि गन्धयुक्त स्कंधोंके फैलनेसे भी गन्धपरिणतिके अनुसार सुगन्ध दुर्गन्धका तारतम्य हो सकता है। फिर भी एकसी गन्धमें नाना व्यक्तियोंको भिन्न प्रकारकी गन्धें आ रही हैं। श्लेष्मरोगीकी तो गन्धज्ञानमें बहुत चूक हो जाती है। कोई कोई तो हींगडा, कालानिमक, लहसुन आदिकी गन्धोंमें सुगन्ध या दुर्गन्धपनेका ही निर्णय अपने अपने विचार अनुसार कर बैठे हैं, जो कि एक दूसरेसे विरुद्ध पडता है। शद्बके श्रावण प्रत्यक्षमें भी ऐसी ही पोलें चल रही हैं। दूर निकटवर्ती शद्बोंके सुननेमें अनेक प्रकारके अन्तर हो रहे हैं। पदार्थोंके निमित्तसे स्थूल सूक्ष्मशब्दोंका परिणमन हो जाता है, किन्तु आखोंके समान कानोंके दोषसे भी शब्दज्ञानमें तारतम्य हो रहे हैं। बहिरंग कारणोंके समान अन्तरंग क्षयोपशम, शल्य, संकल्प, विकल्प, प्रसन्नता, दुःख, रोग आदिकी अवस्थाओंमें हुये ज्ञानोंमें भी अनेक प्रकार छोटे छोटे विसम्वाद हो जाते हैं। श्रुतज्ञानमें भी अनेक स्थलोंपर गड बड मच रही है। इष्टको अनिष्ट और अनिष्टको इष्ट समझलेते हैं। जब साव्यवहारिक प्रत्यक्षोंका यह हाल है तो परोक्ष श्रुतज्ञानोंमें तो और भी पोल चलेगी। किसी मनुष्यने सहारनपुरमें यह कहा कि बम्बईमें दो पहलवानोंकी भित्ती (कुश्ती) हुयी। एक मल्लने दूसरेको गिरा दिया। दर्शकोंने विजेताको हजार रुपये परितोष (इनाम) में दिये। यहा विचारिये कि श्रोता यदि कहे हुये शद्बोंके वाच्य अर्थका ही ज्ञान करे तब तो ठीक भी मान लिया जाय, किन्तु श्रोता अपनी कल्पनासे लम्बे चौडे अखाडेको गढ लेता है, एक पहलवान काला है, एक गोरा है। दर्शक लोग कुर्सीपर बैठे हुये हैं, ऐसे ऐसे वस्त्र आभूषण पहने हुये हैं, हजार रुपयेके नोट दिये होंगे, विजेता मल्ल प्रसन्नतामें उछलता फिरा होगा, इत्यादि बहुतसी ऊटपटाग बातोंको भी साथ ही साथ विना कहे ही श्रुतज्ञानमें जानता रहता है, जो कि झूंठी हैं। श्रोता भी विचारा क्या करे ? झूंठी कपोल कल्पनाओंके विना उसका कार्य नहीं चलता है। दोनों लडनेवाले मल्ल अमूर्त तो हैं नहीं। अतः उनकी काली गोरी मोंछवाली या विना मोंछकी मूर्तिको अपने मनमें गढ लेगा। आकाशमें तो कोई भित्ती होती नहीं हैं। अतः अखाडेकी भी कल्पना करेगा। बिचारे देखनेवाले मनुष्य कहा बैठेंगे। अतः कुर्सी, मूढा, दरी, चटाई आदिको भी अपने श्रुतज्ञानमें लायेगा। बात यह है, एक छोटे श्रुतज्ञानमें चौगुनी अठगुनी बात सच्ची झूंठी घुस बैठती हैं। ऐसी धुन सवार है, कोई क्या करे ? महापुराणको सुनकर भरत और बाहुबलीके युद्धमें भी बहुतसी बातें अन्ट सन्ट जोडली जाती हैं। भले ही चक्रवर्तीका मुख पश्चिमकी ओर हो, किन्तु श्रोताओंके ज्ञानमें पूर्व, दक्षिण, उत्तरकी ओर भी जाना जाता है। ऐसी कितनी कितनी गलतियोंको भगवान् जिनसेन आचार्य कण्ठोक्त कहकर कहातक सुधरवा सकेंगे। भगवान्‌के जन्मकल्याणके समय इन्द्र आता है। पतितपावन भगवान्‌को सुमेरुपर्वतपर लेजाता है। इस कथनकी कितने प्रकारकी सूरतें मूरतें बनाकर श्रोता जन

श्रुतज्ञान करते हैं। इसको लिखनेके लिये बीस पत्र चाहिये, भले ही सुमेरु पर्वतका चित्र खींचना त्रिलोकसारसे विरुद्ध पडजाय, इसकी कोई अपेक्षा (परवाह) नहीं हैं। जैसा पहले देखा सुना है उससे मिलता जुलता ज्ञान करलिया जाता है, फिर विचारे स्वप्नको ही मिथ्याज्ञान होनेकी गाली क्यों सुनाई जाती है ? सत्यज्ञानोंमें भी तो कलियुगी पण्डितोंके समान पोल चल रही है। संक्षेपमें यही कहना है कि मति और श्रुतज्ञान पूर्ण अंशोंमें प्रमाण नहीं हैं, एक देशसे प्रमाण हैं। हां, अवधि और मनःपर्यय अपने स्वार्थ नियत विषयोंमें पूर्णतासे प्रमाण हैं। क्योंकि इनकी परतंत्रता बहुत घट गयी है तथा केवलज्ञान तो कथमपि पराधीन नहीं है। अतः ये सर्वांगरूपसे प्रमाण बन रहे हैं।

प्रतीत्यविरोधस्तूच्यते।

जिस प्रकार जितने अंशोंमें ज्ञानका अविसम्वाद होय उस प्रकार उतने अंशोंमें प्रमाणता है। इस प्रकारकी प्रतीतिके अविरोधको तो हम अग्रिमकारिकाओं द्वारा कहे देते हैं। मति आदि पांचों ज्ञानोंकी प्रमाणता उसीके अनुसार जितनी जिसके बाटमें आवे उतनी समझ लेना। अधिकके लिए हाथ पसारना अन्याय्य है।

अनुपप्लुतदृष्टीनां चन्द्रादिपरिवेदनम्।
तत्संख्यादिषु संवादि न प्रत्यासन्नतादिषु ॥ ४० ॥
तथा ग्रहोपरागादिमात्रे श्रुतमबाधितम्।
नांगुलिद्वितयादौ तन्मानभेदेऽन्यथा स्थिते ॥ ४१ ॥

नहीं च्युत हो रही है दृष्टि जिनकी ऐसे पुरुषोंको चन्द्रमा, शुक्र, दूरवर्ती पर्वत आदिका परिज्ञान होना उनकी संख्या, स्थूलरचना, चमक आदि विषयोंमें तो सम्वाद रखनेवाला है। हां, निकटपना, लम्बाई, चौडाई ठीक ठीक रंग दूरकी नाप करने आदिमें सम्वादी नहीं है। यह मतिज्ञानकी त्रुटि है। तथा ज्योतिष शास्त्रके द्वारा सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहणका सामान्यरूपसे ज्ञान हो जाता है। उतना श्रुतज्ञान बाधारहित है, किन्तु दो अंगुल तथा तीन अंगुल ग्रहण पडनेमें अथवा भिन्न भिन्न अनेक देशोंमें उसके परिणामका ठीक विधान करनेमें वह श्रुतज्ञान बाधारहित नहीं है। क्योंकि अनेक देश और ग्रामोंमें ग्रहणकी विशेषतायें दूसरे प्रकारोंसे स्थित हो रही हैं। अथवा दूसरे प्रकारोंसे स्थित हो रही विशेष नापमें वह अन्ट सन्ट नापको जान रहा श्रुतज्ञान निर्बाध नहीं है। अतः मति और श्रुतका सम्पूर्ण शरीर प्रमाणरूप नहीं कहा जा सकता है। जिन जीवोंकी दृष्टि च्युत हो रही है, उनके मतिज्ञान या श्रुतज्ञान तो सम्वादरहित प्रसिद्ध ही हैं।

एवं हि प्रतीतिः सकलजनसाक्षिका सर्वथा मतिश्रुतयोः स्वार्थे प्रमाणतां हंतीति तया तदेतत्प्रमाणमबाधम्।

जब कि इस प्रकारकी प्रतीतियां सम्पूर्ण मनुष्योंकी साक्षीसे प्रसिद्ध हो रही हैं, अतः वे प्रतीतिया ही मति और श्रुतज्ञानके द्वारा जाने गये स्व और अर्थरूप विषयमें सभी प्रकारोंसे प्रमाणपनको नष्ट कर देती हैं। हा, एकदेशसे प्रमाणपनको रक्षित रखती हैं। इस प्रकार उन प्रतीतियोंसे जितना अंश सम्वाद रूप है, उतने अंशमें बाधारहित होते हुये मति और श्रुत प्रमाण है। ऐसे ही अन्य बाधारहित ज्ञानोंकी प्रमाणता समझ लेना। सो यह प्रमाणपना जिस ढंगसे जितना प्रतिपन्न हो उतना बाधारहित ठीक समझना। लेखनी (नेजाकी कलम) की छाल ऊपरकी सभी चिकनी और कडी होती है, किन्तु अक्षर लिखनेके लिये जितना चक्कूसे छिला हुआ स्वल्प अंश उपयोगी है। वह करण है, शेष अंश तो उसका सहायक मात्र है।

ननूपप्लुतविज्ञानं प्रमाणं किं न देशतः।
स्वप्नादाविति नानिष्टं तथैव प्रतिभासनात् ॥ ४२ ॥

यहां शंका है कि यदि थोडे थोडे अंशसे ही ज्ञानमें प्रमाणता आजाय तब तो स्वप्न, पीलिया रोग, चका चौंध, आदि अवस्थाओंमें हुये झूंठे ज्ञानोंको भी एकदेशसे प्रमाणपना क्यों न हो जाय ? पीलिया रोगीको शंखका ज्ञान तो ठीक है। रूपका ज्ञान ठीक नहीं है। संशय ज्ञानीको भी ऊंचाईका ज्ञान ठीक है। स्थाणु या पुरुषका विवेक नहीं है। फूले हुये कासोंमें जलका ज्ञान करनेवाला क्षेत्रके विस्तार और चमकको ठीक जान गया है। केवल जलको जाननेमें त्रुटि हो गई है। ऐसी दशामें इन ज्ञानोंको भी एकदेश प्रमाण कह देना चाहिये। इस प्रकार शंका होनेपर आचार्य कहते हैं, ठीक है। हमको कोई अनिष्ट नहीं है। तिस प्रकार ही प्रतिभास हो रहा है। हम क्या करें अर्थात्—स्वांशमें तो सभी सम्यग्ज्ञान या मिथ्याज्ञान सर्व प्रमाण हैं ही। विषय अंशोंमें भी कुछ कुछ प्रमाणता मान लो। वस्तुकी यथार्थपरीक्षा करनेमें डर किसका है ? शंखमें पीले शंखका ज्ञान होना, मेढकका ज्ञान होना, घोडेका ज्ञान होना ऐसे विपर्यय ज्ञानोंमें प्रमाणताकी न्यूनता, अधिकता, होनेपर ही अन्तर पड सकते हैं। अन्यथा नहीं। जैसे कि पाचवें गुणस्थानमें अप्रत्याख्यानावरणका उदय तो सर्वथा नहीं है, किन्तु प्रत्याख्यानावरणके उदयकी अधिकता न्यूनतासे श्रावकके ग्यारह पद हो जाते हैं। घटी (छोटी वडिया) को घट जाननेवाले ज्ञानकी अपेक्षा घटीको घोडा जाननेवाले विपरीत ज्ञानमें प्रमाणताका अंश अति न्यून है। प्रवेशिकासे ऊपर विशारद श्रेणी है। प्रवेशिकाके उत्तीर्ण छात्रसे विशारदका अनुत्तीर्ण छात्र कुछ अधिक व्युत्पन्न है।

स्वप्नाद्युपप्लुतविज्ञानस्य क्वचिदविसंवादिनः प्रमाणत्वस्येष्टौ तद्व्यवहारः स्यादिति चेत्।

यदि कोई यों कहे कि किसी अंशमें अविसम्वाद रखनेवाले स्वप्न आदिकमें हुये चलायमान ज्ञानोंको यदि प्रमाणपना जैनोंको इष्ट है, तब तो उन मिथ्याज्ञानोंमें उस प्रमाणपनेका व्यवहार हो

जायगा । ऐसा कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि—विचारशील भाई !

प्रमाणव्यवहारस्तु भूयः संवादमाश्रितः ।
गंधद्रव्यादिवद्भूयो विसंवादं तदन्यथा ॥ ४३ ॥

प्रमाणपनेका व्यवहार तो अनेकवार हुये सम्वादको आश्रय लेकर प्रवर्त रहा है, जैसे कि गध-द्रव्य, रसद्रव्य आदिक हैं । तथा भूरिभूरि विसम्वादको आश्रित करता हुआ उस प्रमाणपनेसे दूसरे प्रकारका यानी अप्रमाणपनेका व्यवहार हो रहा है । अर्थात्—प्रचुर गन्ध होनेसे कपूर, चन्दन, कस्तूरी इत्यादि गन्धद्रव्य हैं । तथा स्पर्शरूप और गन्धके होनेपर भी रग गोटा चूना (कलई) आदि रूपद्रव्य हैं । नीबू, लवण, मिश्री आदि रसद्रव्य हैं । तथा रुई, मखमल आदि पदार्थ प्रचुर कोमल स्पर्शके होनेसे स्पर्शद्रव्य कहे जाते हैं । उसी प्रकार जिन ज्ञानोंमें अति अधिक सम्वाद है, वे प्रमाण हैं । भले ही उनमें थोडा विसम्वाद पडा रहो । तथा जिन ज्ञानोंमें बहुत विसम्वाद है, वे अप्रमाण हैं । भले ही उनमें स्वल्प सम्वाद पडा रहो । संसारमें सज्जनता, दुर्जनता, मूर्खपना पण्डित-पना, रोगी, नीरोगपन, सुन्दरता, असुन्दरता आदि व्यवहार भी बहुभागकी अपेक्षासे होते हैं । हां, कोई कोई पूर्णरूपसे सुन्दर, सज्जन और नीरोग होते हैं । उनके लिये केवलज्ञान दार्ष्टान्त है ।

सत्यज्ञानस्यैव प्रमाणत्वव्यवहारो युक्तिमान् भूयः संवादात् । वितथज्ञानस्यैव वाऽप्रमाणत्वव्यवहारो भूयो विसंवादात् तदाश्रितत्वात्तद्व्यवहारस्य । दृष्टो हि लोके भूयसि व्यपदेशो यथा गंधादिना गंधद्रव्यादेः सत्यपि स्पर्शवत्त्वादौ ।

प्रतिपत्ति, प्रवृत्ति और प्राप्तिकी एक अधिकरणता या प्रमाणान्तरोंकी प्रवृत्ति अथवा विषयमें अभीष्ट अर्थक्रियाकारीपन रूप सम्वादोंके कई वार हो जानेसे सत्यज्ञानको ही प्रमाणपनेका व्यवहार युक्ति सहित है । और बहुलतासे विसम्वाद हो जानेके कारण मिथ्या ज्ञानोंको ही अप्रमाणपनेका व्यवहार है । क्योंकि उन सम्वाद और विसम्वादके अधीन होकर वह प्रमाणपना और अप्रमाणपना व्यवस्थित हो रहा है । लोकमें भी बहुभागसे हो रहे स्वभावोंमें वैसा व्यवहार होना देखा जाता है । जैसे कि स्पर्श, रस, आदिके होनेपर भी गन्धद्रव्य, रसद्रव्य आदिको अविभाग प्रतिच्छेदोंकी प्रचु-रतासे गन्ध आदि करके गन्धवान्, रसवान्, रूपवान्पनेका व्यवहार हो जाता है ।

येषामेकांततो ज्ञानं प्रमाणमितरच्च न ।
तेषां विप्लुतविज्ञानप्रमाणेतरता कुतः ॥ ४४ ॥

जिन वादियोंके यहां समीचीन ज्ञान पूर्ण अंशोंमें एकान्त रूपसे प्रमाण ही है, और उससे भिन्न मिथ्याज्ञान सर्वथा ही प्रमाण नहीं है, ऐसा आग्रह है, उनके यहां मिथ्याज्ञानोंकी प्रमाणता और अप्रमाणता भला कैसे व्यवस्थित होगी ? बताओ । झूंठ बोलनेवाला मनुष्य स्वयं अपनेको यदि

असत्य वक्ता कहे तो उतने अंशमें वह सत्यवक्ता ही है। मिथ्याज्ञान भी स्वांशको जाननेमें प्रमाण स्वरूप है। अनेक मिथ्याज्ञान थोडे स्वकीय विषयको भी छूते हैं। दुष्टपुरुषोंमे भी क्वचित् एक आध अच्छा गुण होता है। गुलाबके फूलमें कांटेके समान किन्हीं प्रतिष्ठित पुरुषोंमे भी दोषकी छींटें पड जाती हैं।

अथायमेकांतः सर्वथा वितथज्ञानमप्रमाणं सत्यं तु प्रमाणमिति चेत् तदा कुतो वितथवेदनस्य स्वरूपे प्रमाणता बहिरर्थे त्वप्रमाणतेति व्यवतिष्ठेत।

अब यदि किसीका यह एकान्त होय कि झूंठा ज्ञान तो सभी अंशोमें अप्रमाण है। और सत्यज्ञान सर्व अंशोमें प्रमाण है, इस प्रकार माननेपर तो हम जैन कहेंगे कि यों तो मिथ्याज्ञानको स्वरूपमें प्रमाणपना और बहिरंग विषयको जाननेमें तो अप्रमाणपना यह कैसे व्यवस्थित होगा? यानी मिथ्याज्ञान अपनेको जाननेमें अप्रमाण रहा तो अव्यवस्था हो जायगी। सीपमें चांदीको जान-नेवाला ज्ञान मिथ्याज्ञान है। और उस झूठे मिथ्याज्ञानको विषय करनेवाला ज्ञान भी मिथ्याज्ञान होगा और उसको जाननेवाला भी ज्ञान मिथ्याज्ञान होगा। इस अनवस्थाके ढंगसे अप्रमाणपनेका निर्णय होना अशक्य है। सभी ज्ञानोंको अपना स्वरूप जाननेमें प्रमाणपन अनिवार्य होना चाहिये।

स्वरूपे सर्वविज्ञानाप्रमाणत्वे मतक्षतिः।
बहिर्विकल्पविज्ञानप्रमाणत्वे प्रमांतरम् ॥ ४५ ॥

सम्पूर्ण विज्ञानोंको यदि स्वरूपमें अप्रमाणपना माना जायगा तो बौद्धोंको अपने सिद्धांतकी क्षति प्राप्त होगी और यदि विकल्पज्ञानोंको बहिरंग अर्थको विषय करनेमें प्रमाणपना माना जायगा तो प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणोंसे न्यारे एक तीसरे प्रमाण माननेका प्रसंग आता है।

न हि सत्यज्ञानमेव स्वरूपे प्रमाणं न पुनर्मिथ्याज्ञानमिति युक्तं। नापि सर्वं तत्रा-प्रमाणमिति सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षमिति स्वमतक्षतेः।

समीचीनज्ञान ही अपने स्वरूपमें प्रमाण है। किन्तु फिर मिथ्याज्ञान अपने स्वरूपमें प्रमाण नहीं है, यह कहना युक्त नहीं है। तथा सभी ज्ञान उस अपने स्वरूपको जाननेमें अप्रमाण हैं, यह भी कहना युक्तिपूर्ण नहीं है। क्योंकि यों तो बौद्धोंके मतकी क्षति होती है। संपूर्ण आत्माओंके ज्ञानोंका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है, ऐसा बौद्धोने माना है। यानी सभी सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञा-नोंका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होना अभीष्ट कर ज्ञानोंको स्वांशमें अप्रमाणपना कहनेपर बौद्धोंको अपने मतकी हानि उठानी पडती है।

सर्वं मिथ्याज्ञानं विकल्पविज्ञानमेव बहिरर्थे प्रमाणं स्वरूपवदित्यप्ययुक्तं, प्रकृतप्रमा-णात् प्रमाणांतरसिद्धिप्रसंगात्। तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्याहितविभ्रमस्य वेदनस्य प्रत्यक्षत्वे प्रत्यक्षमभ्रांतमिति विशेषणानर्थक्यं।

सभी मिथ्याज्ञान विकल्पज्ञानरूप ही हैं। अत स्वरूपमें वे जैसे प्रमाण हैं, वैसे बहिरंग अर्थमें भी प्रमाण हैं, किसीका यह कहना भी अयुक्त है। क्योंकि बौद्धोंको अभीष्ट प्रकरणप्राप्त प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणोंसे अतिरिक्त तीसरे न्यारे प्रमाणकी सिद्धि होनेका प्रसंग हो जायगा। बौद्धोंने विकल्पज्ञानको प्रमाण नहीं माना है। अधिक ऊनके कारण तमारा आजानेपर तिमिर दोषसे अनेक भ्रान्तज्ञान होते हैं। शीघ्र शीघ्र भ्रमण चक्कर करनेसे भी घुंमारी आकर अनेक पदार्थ घूमते हुये देखते हैं। नावमें बैठकर चलनेपर भी दिग्भ्रम हो जाता है। विशेष क्षोभका कारण उपस्थित होनेपर विपरीतज्ञान हो जाते हैं। अत्यन्तप्रिय पदार्थके वियोग, सन्निपात, चाकचक्य, धत्तूरपान, अपस्मार (मृगी) आदि कारणोंसे उत्पन्न हुये विभ्रम ज्ञानोंको यदि प्रत्यक्ष प्रमाण मानलिया जायगा तो प्रत्यक्षके लक्षणमें दिया गया अभ्रान्त यह विशेषण व्यर्थ पडता है। अर्थात्—कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं " इस प्रत्यक्षके लक्षणमें भ्रमभिन्नपना विशेषण जो मिथ्याज्ञानोंके निवारणार्थ दिया है, मिथ्याज्ञानोंको प्रमाण माननेपर वह व्यर्थ पडता है। बौद्ध अत्र सिद्धान्त दोषको नहीं सह सकेंगे।

तस्याप्यभ्रांततोपगमे कुतो विसंवादित्वं विकल्पज्ञानस्य च प्रत्यक्षत्वे कल्पनापोढं प्रत्यक्षमिति विरुध्यते तस्यानुमानत्वे अक्षादिविकल्पस्यानुमानत्वप्रसंगस्तस्यालिंगजत्वादननुमानत्वे प्रमाणांतरत्वमनिवार्यमिति मिथ्याज्ञानं स्वरूपे प्रमाणं बहिरर्थे त्वप्रमाणमित्यभ्युपगंतव्यं। तथा च सिद्धं देशतः प्रामाण्यं। तद्वदवितथवेदनस्यापीति सर्वमनवद्यं एकत्र प्रमाणत्वाप्रमाणत्वयोः सिद्धिः।

यदि बौद्ध उस मिथ्याज्ञानरूप विकल्पज्ञानको भी अभ्रान्तपना स्वीकार करलेंगे तो विकल्पज्ञानको विसम्वादीपना कैसे ठहर सकेगा? अभ्रान्तज्ञान यों तो अविसम्वादी हो जायगा और विकल्पज्ञानको प्रत्यक्षपना यदि इष्ट करालिया जायगा तो ऐसा होनेपर कल्पनाओंसे रहित प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। यह तुम्हारा अभीष्ट लक्षणवाक्य विरुद्ध होगा। अतः विकल्पज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण तो हो नहीं सकता है। यदि उस विकल्पज्ञानको अनुमान प्रमाण मानोगे तो इन्द्रिय, मन, आदिसे उत्पन्न हुये विकल्पज्ञानको अनुमानपनेका प्रसंग होगा। यदि अविनाभावी हेतुसे जन्यपना नहीं होनेके कारण अक्ष आदि विकल्पको अनुमान प्रमाण नहीं मानोगे तो प्रत्यक्ष और अनुमानसे भिन्न तीसरा प्रमाण मानना अनिवार्य होगा। इस कारण यही बढिया उपाय है कि अपने स्वरूपको जाननेमें मिथ्याज्ञान प्रमाण है। और बहिरंग चादी, जल, घूमना आदि विषयोंके जाननेमें तो अप्रमाण है। यह स्वीकार करलेना चाहिये और तिस प्रकार माननेपर तो मिथ्याज्ञानमें भी एकदेशसे प्रमाणपना सिद्ध हो जाता है। एक चन्द्रको दो समझना, शुक्लशंखको पीला शंख जानलेना, इन मिथ्याज्ञानोंमें तो कुछ विषय अंशमें भी थोडीसी प्रमाणता है। उसी मिथ्याज्ञानके समान समीचीनज्ञानको भी एक देशसे प्रमाणपना है। किन्तु मिथ्याज्ञानके प्रमाणपनसे सम्यग्ज्ञानमें प्रमाणपन अति अधिक है। जैसे कि

सम्यग्ज्ञानके ईषत् अप्रमाणपनसे मिथ्याज्ञानमें अप्रमाणपन बहुत अधिक है । इस प्रकार हमारा पूर्वोक्त मन्तव्य सब का सब निर्दोष है, एक ज्ञानमें प्रमाणपन और अप्रमाणपनकी सिद्धि हो जाती है ।

कथमेकमेव ज्ञानं प्रमाणं वाप्रमाणं च विरोधादिति चेत् नो, असिद्धत्वाद्विरोधस्य । तथाहि ।

किसीका तर्क है कि एक ही ज्ञान भला प्रमाण और अप्रमाण भी कैसे हो सकता है ? क्योंकि इसमें विरोध दोष आता है । सज्जन ही कहा दुर्जन हो सकता है क्या ? । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो न कहना । क्योंकि प्रमाणपन और अप्रमाणपनका एक स्थानपर विरोध होना असिद्ध है । हम क्या करें, तिस प्रकार उनका अविरोध प्रसिद्ध हो ही रहा है ।

सरसो विपरीतश्चेत् सरसत्वं न मुंचति । साक्षरा विपरीताः स्यू राक्षसा एव केवलं ॥

पंचमकालके कोई बुद्धिमान् भारी मूर्खताका कार्य कर बैठते हैं । घास खोदनेवाला छोकरा किसनईकी अनेक बातोंको जानता है । किन्तु अनेक बडे राजनीतिज्ञ भी कोई गेंहू और जौके अंकुरका भेद ज्ञात नहीं कर पाते हैं । पंचमकालके कई धर्मात्मा अनेक रूपोंमें रंगे हुये पाये जाते हैं । कई डाकू और चोरोंने परस्त्रीका स्पर्शतक नहीं किया है । केवल माता या बहन कहकर उनके भूषण मात्र ले लिये हैं । बात यह है कि स्याद्वादसिद्धांतके अनुसार एकमें अनेक धर्म रह जाते हैं । केवल न्याय और सिद्धान्त विषयके उच्च कोटिका विद्वान् भी " भू " धातुके दश लकारोंमें शुद्धरूप नहीं ले पाता है । अच्छा वैयाकरण भी कोई साहित्यके विषयोंमें कोरा रह जाता है । प्रायः आजकल तो दोष और गुणोंका सामानाधिकरण्य अधिकतासे देखनेमें आता है ।

न चैकत्र प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे विरोधिनी ।
प्रत्यक्षत्वपरोक्षत्वे यथैकत्रापि संविदि ॥ ४६ ॥

एक ज्ञानमें प्रमाणपना और अप्रमाणपना विरोध दोषवाले नहीं हैं । जैसे कि बौद्धोंके यहां एक ज्ञानमें भी प्रत्यक्षपन और परोक्षपना ठहर जाता है । अर्थात्—सम्वेदनमें स्वकी सम्वित्ति होना अंश प्रत्यक्ष है । और सौत्रांतिकोंके यहां वेद्याकारपना तथा योगाचारोंके यहां वेद्याकाररहितपना रूप अंश उस ज्ञानमें परोक्ष माना गया है । एक अवयवी पदार्थ तलवार एक ओरसे पैनी है । दूसरी ओरसे मोथरी है । पुरानी चालके दीपक या मसालके नीचे अंधेरा भी रहता है । विरोध तो अनुपलम्भसे साधा जाता है । किन्तु यहां दोनोंका एक स्थानपर उपलम्भ हो रहा है ।

ययोरेकसद्भावेऽन्यतरानिवृत्तिस्तयोर्न विरोधो यथा प्रत्यक्षत्वपरोक्षत्वयोरेकस्यां संविदि । तथा च प्रमाणत्वाप्रमाणत्वयोरेकत्र ज्ञाने ततो न विरोधः ।

जिन दोनोंमेंसे एकके विद्यमान होनेपर बचे हुये दूसरे एककी निवृत्ति नहीं हो पाती है, उनका विरोध नहीं माना जाता है । जैसे कि एक सम्वेदनमें प्रत्यक्षपन और परोक्षपनका विरोध नहीं है । तिस ही प्रकार प्रमाणपन और अप्रमाणपनका एक ज्ञानमें तिस हेतुसे विरोध नहीं है । यह व्याप्ति बनाकर अनुमान द्वारा प्रमाणत्व और अप्रमाणत्वका अविरोध सिद्ध कर दिया है ।

स्वसंविन्मात्रतोऽध्यक्षा यथा बुद्धिस्तथा यदि ।
वेद्याकारविनिर्मुक्ता तदा सर्वस्य बुद्धता ॥ ४७ ॥
तया यथा परोक्षत्वं स्वसंवित्तेरतोपि चेत् ।
बुद्धादेरपि जायेत जाड्यं मानविवर्जितम् ॥ ४८ ॥

जिस प्रकार योगाचार बौद्धोंके यहां केवल स्वसंवेदनकी अपेक्षासे बुद्धि प्रत्यक्ष मानी गयी है, तिसी प्रकार वेद्य, वेदक आकारसे रहितपना भी यदि प्रत्यक्षरूप होता तो सब जीवोंको सुगतपना प्राप्त हो जाता । यानी सब सर्वज्ञ हो जाते । सबकी बुद्धियां सर्वाङ्गरूपसे सर्वज्ञ बुद्धिके समान एक रस प्रत्यक्ष हैं । जो किसी अंशमें भी परोक्ष ज्ञान नहीं करता हुआ शुद्धप्रत्यक्ष कर रहा है, वह सर्वज्ञ है । तथा उस वेद्याकार रहितपनेसे जैसे बुद्धिका परोक्षपना है, वैसा इस स्वसंवित्तिकी अपेक्षासे भी यदि परोक्षपना माना जायगा तो बुद्ध या अन्य मुक्त आत्मा आदिकोंको भी जडपना हो जावेगा, जो कि प्रमाणसे रहित अभिमत है । सर्वाङ्गरूपसे ज्ञानमें परोक्षपना कहना जडपन कहनेके समान है । यानी जिसको स्वका भी प्रत्यक्ष नहीं है, वह जड है ।

न हि सर्वस्य बुद्धता बुद्धादेरपि च जाड्यं सर्वथेत्यत्र प्रमाणमपरस्यास्ति यतः संविदाकारेणेव वेद्याकारविवेकेनापि संवेदनस्य प्रत्यक्षता युज्येत तद्वदेव वा संविदाकारेण परोक्षता तदयोगे च कथं दृष्टान्तः साध्यसाधनविकलः हेतुर्वा न सिद्धः स्यात् ।

सब जीवोंको बुद्धपना हो जाय और बुद्ध, खड्गी, आदिको भी जडपना सभी प्रकार प्राप्त हो जाय, इस विषयमें दूसरे बौद्ध आदि वादियोंके यहां कोई प्रमाण नहीं है, जिससे कि सम्वित्ति आकार करके जैसे सम्वेदनको प्रत्यक्षपना है । वैसा ही सम्वेद्य आकारके पृथक् भावपनेसे भी सम्वेदनको प्रत्यक्षपना युक्त होवे तथा वेद्य आकारके विवेक करके जैसे परोक्षपना है, उसी प्रकार ज्ञानमें सम्वित्ति आकार करके भी परोक्षपना हो जाय । जब वह व्यवस्था नहीं युक्त हुई तो हमारा दिया हुआ एक सम्वेदनमें प्रत्यक्ष परोक्षपनेका दृष्टान्त भला साध्य और साधनसे रहित कैसे हो सकता है ? और हेतु भी सिद्ध क्यों नहीं होगा ? अर्थात् एक सम्वेदनरूप दृष्टान्तमें एकके होनेपर दोमेंसे किसी एककी निवृत्ति न होनारूप हेतु और अविरोधरूप साध्य ठहर जाते हैं, और पक्षमें हेतु भी रह जाता है । अतः एक ज्ञानमें प्रमाणपना और अप्रमाणपनेको सिद्ध कर देता है । बौद्धोंने ज्ञानमें वेद्याकारका विवेक माना है । विचिर् पृथग्भावे और विच्ऌ विचारणे धातुसे विवेक शब्दको बनाकर योगाचार और सौत्रान्तिकोंके यहां ज्ञानमें विवेकपना बन जाता है ।

यैव बुद्धेः स्वयं वित्तिर्वेद्याकारविमुक्तता ।
सैवेत्यध्यक्षतैवेष्टा तस्यां किन्न परोक्षता ॥ ४९ ॥

बौद्ध कहते हैं, कि जो ही ज्ञानकी स्वयं सम्वित्ति होना है, वही तो वेद्याकारसे रहितपना है। जैसे कि रीते भूतलका दीखना ही घट, पट आदिकोंका अनुपलम्भ है। अतः वेद्याकारसे रहितपना भी प्रत्यक्ष ही इष्ट किया गया है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम कटाक्ष कर सकते हैं कि उस वेद्य आकाररहितपनेके परोक्ष होनेपर स्वसम्वेदनको भी साझेमें परोक्षपना क्यों नहीं हो जावे, साझेके प्रकरणमें किसीके भी धर्म चाहे जिसके कहे जा सकते हैं। एक ओर ही पक्षपात करना अन्याय है।

बुद्धेः स्वसंवित्तिरेव वेद्याकारविमुक्तता तस्याः प्रत्यक्षतायां वेद्याकारविमुक्ततापि प्रत्यक्षतैव यदीष्यते तदा तस्याः परोक्षतायां स्वसंवित्तेरपि परोक्षता किं नेष्टा ? स्वसंवित्तिवेद्याकारविमुक्ततयोस्तादात्म्याविशेषात् ।

बुद्धिकी स्वसम्वित्ति होना ही यदि वेद्याकारोंसे रहितपना है, अतः उस बुद्धिको प्रत्यक्षपना होनेपर वेद्याकार रहितपना भी प्रत्यक्ष ही है। परोक्ष नहीं है, यदि सौत्रान्तिक इस प्रकार इष्ट करेंगे तब तो उस वेद्याकार रहितपनेको परोक्षपना होनेपर स्वसम्वित्ति अंशको भी परोक्षपना क्यों नहीं इष्ट कर लिया जावे। क्योंकि ज्ञानकी स्वसम्वित्ति और ज्ञानके वेद्याकार रहितपनका तादात्म्यसम्बन्ध विशेषताओंसे रहित हो रहा है। जिनका तादात्म्य सम्बन्ध होता है, उनमेंसे एकके धर्म दूसरेमें सुलभतासे उतर आते हैं।

ननु च केवलभूतलोपलब्धिरेव घटानुपलब्धिरिति घटानुपलब्धितादात्म्येपि न केवलभूतलोपलब्धेरनुपलब्धिरूपतास्ति तद्वद्वेद्याकारविमुक्त्यनुपलब्धितादात्म्येपि न स्वरूपोपलब्धेरनुपलब्धिस्वभावता व्यापकस्य व्याप्याव्यभिचारात् व्याप्यस्यैव व्यापकव्यभिचारसिद्धेः पादपत्वशिंशिपात्ववत् । स्वरूपोपलब्धिमात्रं हि व्याप्यं व्यापिका च वेद्याकारविमुक्त्यनुपलब्धिरिति चेत् नैतदेवं तयोः समव्याप्तिकत्वेन परस्पराव्यभिचारसिद्धेः कृतकत्वानित्यत्ववत् । न हि वेद्याकारविवेकानुपलब्धावपि क्वचित्संवेदने कदाचित्स्वरूपोपलब्धिर्नास्ति ततः प्रत्यक्षात् स्वसंवेदनादभिन्नो ग्राह्याकारविवेकः प्रत्यक्षो न पुनः परोक्षाद्ग्राह्याकारविवेकादभिन्नं स्वसंवेदनं बुद्धेः परोक्षमित्याचक्षाणो न परीक्षाक्षमः ।

यहां बौद्ध अनुनय (खुशामद) करते हैं कि केवल रीते भूतलका दीख जाना ही तो घटकी अनुपलब्धि है, इस प्रकार भूतलकी उपलब्धि और घटकी अनुपलब्धिका तादात्म्य होनेपर भी केवल भूतलकी उपलब्धिको अनुपलब्धि स्वरूपपना नहीं है। उसीके समान वेद्याकारकी विमुक्तिरूप अनुपलब्धिके साथ ज्ञानकी स्वरूपसंवित्तिका तादात्म्य सम्बन्ध होनेपर भी बुद्धिकी स्वसम्वित्तिको विमुक्तिरूप अनुपलब्धिका परोक्षतारूप स्वभावपना नहीं आसकता है। क्योंकि व्यापकका व्याप्यके साथ व्यभिचार नहीं होता है। वृक्षपना व्यापक और शीशमपना व्याप्यके समान व्याप्यका ही व्यापकके साथ व्यभिचार होना सिद्ध है। अर्थात्— व्याप्यसे अधिक स्थानपर व्यापक रह जाता है।

प्रकरणमें ज्ञानके केवल स्वरूपकी उपलब्धि होना व्याप्य है और वेद्याकाररहितपना रूप अनुपलब्धि व्यापिका है। अत स्वसम्वित्तिके प्रत्यक्ष होनेपर तो वेद्याकार विमुक्तताका प्रत्यक्षपना हम कह सकते हैं, किन्तु वेद्याकाररहितपनेके परोक्ष होनेपर स्वसम्वित्तिका परोक्षपना नहीं आपादन किया जा सकता है। व्याप्य होगा वहा व्यापक अवश्य होगा, किन्तु व्यापकके होनेपर व्याप्यका होना आवश्यक नहीं। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार तो बौद्धोंको यह अनुनय नहीं करना चाहिये। क्योंकि स्वसम्वित्ति और वेद्याकारविमुक्तताकी समव्याप्ति है। जैसे कि कृतकत्व और अनित्यत्वकी अथवा रूप और रसकी समव्याप्ति है। धूम वह्नि या शिंशपात्व वृक्षत्वके समान विषम व्याप्ति नहीं है। अत. परस्परमें अव्यभिचार होना सिद्ध है। वेद्याकारविमुक्तिरूप अनुपलब्धिके होनेपर भी किसी एक सम्वेदनमें कभी अपने स्वरूपकी उपलब्धि नहीं होती है। यह नहीं कहना। अर्थात्–वेद्याकार विमुक्तताको व्यापक और स्वरूप उपलब्धिको व्याप्य नहीं कहो। ये दोनों ही परस्परमें एक दूसरेके साथ अविनाभावी हैं। तिस कारण प्रत्यक्षरूप स्वसम्वेदनसे अभिन्न हो रहा ग्राह्य कारका पृथग्भाव तो प्रत्यक्ष हो जाय किन्तु फिर परोक्षस्वरूप ग्राह्याकार विवेकसे अभिन्न हो रहा बुद्धिका स्वसम्वेदन भला परोक्ष न बने, इस प्रकार पक्षपातकी बातको कहनेवाला बौद्ध परीक्षाको नहीं झेल सकता है। यानी परीक्षाके अवसरपर ऐसी मनमानी एक ओरकी बातें नहीं चल सकती हैं।

प्रत्यक्षत्वपरोक्षत्वयोर्भिन्नाश्रयत्वान्न तादात्म्यमिति चेन्न एकज्ञानाश्रयत्वात्तदसिद्धेः। संविन्मात्रविषया प्रत्यक्षता वेद्याकारविवेकविषया परोक्षतेति तयोर्भिन्नविषयत्वे कथं स्वसंवित्प्रत्यक्षतैव वेद्याकारविवेकपरोक्षता।

बौद्ध यदि यों कहें कि प्रत्यक्षपना और परोक्षपना भिन्न भिन्न आश्रयोंमें रहता है। इस कारण उनका तदात्मकपना नहीं है। आचार्य कहते हैं सो यह तो न कहना। क्योंकि उन दोनोंका आश्रय एक ज्ञान है। अत वह भिन्न आश्रयपना असिद्ध है। अन्यथा अपसिद्धान्त हो जायगा। यदि बौद्ध यों कहें कि केवल सम्वेदनमें प्रत्यक्षपना है। और वेद्याकारके पृथग्पनेमें परोक्षपना है। इस प्रकार उन प्रत्यक्षपन और परोक्षपनका विषय भिन्न है। " विषयत्वं सप्तम्यर्थ " सप्तमी विभक्तिके अर्थ अधिकरणका एक भेद विषय भी है। " घटे ज्ञान " घटमें ज्ञान है। यानी घटविषयकज्ञान है। इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि स्वसम्वित्तिका प्रत्यक्षपना ही आप बौद्धोंने वेद्याकारविमुक्तताका परोक्षपना पहिले क्यों कहा था ? बताओ। अर्थात्–भिन्न भिन्न विषय होनेपर तो स्वसम्वित्तिका प्रत्यक्षपना और वेद्याकारका परोक्षपना न्यारा न्यारा होना चाहिये था।

स्वसंवेदनस्यैव वेद्याकारविवेकरूपत्वादिति चेत्, कथमेव प्रत्यक्षपरोक्षत्वयोर्भिन्नाश्रयत्वं। धर्मिधर्मविभेदविषयत्वकल्पनादिति चेत् तर्हि न परमार्थतस्तयोर्भिन्नाश्रयत्वमिति संविन्मात्रप्रत्यक्षत्वे वेद्याकारविवेकस्य प्रत्यक्षत्वमायातं तथा तस्य परोक्षत्वे संविन्मात्रस्य परोक्षतापि किं न स्यात्। तत्र निश्चयोत्पत्तेः प्रत्यक्षतेति चेत्, वेद्याकारविवेकनिश्चयानुप-

पत्तेः परोक्षतैवास्तु । तथा चैकत्र संविदि सिद्धे प्रत्यक्षेतरते प्रमाणेतरयोः प्रसारिके स्त इति न विरोधः ।

यदि स्वसंवेदनको ही वेद्याकार विवेकस्वरूप होनेके कारण उन दोनोंको एक कह दिया है, इसपर तो हमें कहना है कि इस प्रकार फिर प्रत्यक्षपन और परोक्षपनका भिन्न आश्रयमें वृत्तिपना भला कैसे सिद्ध हुआ ? बताओ। धर्मी और धर्मके स्वभाव और भेदका भिन्न करनेपनकी कल्पनासे भिन्न आश्रयपना यदि कहोगे तो वास्तविक रूपसे उन ज्ञानरूप धर्मीके प्रत्यक्षपन और वेद्याकाररहिततारूप धर्मके परोक्षपनका आश्रय भिन्न भिन्न नहीं हुआ । इस प्रकार केवल सम्वेदनको प्रत्यक्षपना माननेपर उसके धर्म वेद्याकार पृथग्भावका भी प्रत्यक्षपना प्राप्त हो जाता है । तिसी प्रकार उस वेद्याकार विवेकको परोक्षपना प्राप्त होनेपर अद्वैत सम्वेदनको भी परोक्षपना भला क्यों नहीं प्राप्त हो जावेगा ? साझेके धर्म चाहे जिसके बाटमें आ सकते हैं । यदि उस सम्वेदनमें पीछे विकल्पज्ञान द्वारा निश्चय उत्पन्न हो जाता है, अतः प्रत्यक्षपना है, इस प्रकार कहोगे तो वेद्याकार विवेकका निश्चय होना नहीं बनता है । इस कारण परोक्षपना भी हो जावो और इस प्रकार होनेपर एक ज्ञानमें प्रत्यक्षपना और परोक्षपना सिद्ध होते हुये छयालीसवीं वार्तिकके अनुसार दृष्टान्त बनकर एक मतिज्ञान या श्रुतज्ञानमें भी प्रमाणपन और अप्रमाणपनको फैलानेवाले हो जाते हैं । इस प्रकार एक ज्ञानमें प्रमाणत्व और अप्रमाणत्वका कोई विरोध नहीं । एक दृष्टान्तसे असंख्य दार्ष्टान्तोंमें साध्यकी सिद्धि हो जाती है ।

सर्वेषामपि विज्ञानं स्ववेद्यात्मनि वेदकम् ।
नान्यवेद्यात्मनीति स्याद्विरुद्धाकारमंजसा ॥ ५० ॥

सम्पूर्ण भी वादियोंके यहा कोई भी विज्ञान अपने और अपने द्वारा जानने योग्य विषय स्वरूपमें ज्ञान करनेवाला माना गया है । अन्य दूसरे वेद्यस्वरूपमें जाननेवाला प्रकृत विज्ञान नहीं है । इस प्रकार वेदकपना और अवेदकपना होनेसे ज्ञानके विरुद्ध आकारोंको शीघ्र जान लेते हैं । अर्थात्—अद्वैतवादियोंका शुद्ध स्वसम्वेदन अपनेको ही जानता है । अन्योंको नहीं जान पाता है । तथा द्वैतवादियोंके यहा माना गया घटविज्ञान अपनेको और वेद्य विषयको जानता है । अन्य पट आदिको नहीं जान पाता है । सर्वज्ञका ज्ञान भी सत् पदार्थोंको जानता है । खरविषाण, वन्ध्यापुत्र आदि असत् पदार्थों या अनुमेयत्व, आगमगम्यत्व, आदि कल्पितधर्मोंको नहीं जानता है । यहीं तो वेदकत्व और अवेदकत्व दो विरुद्ध (वस्तुतः विरुद्ध नहीं) धर्म एक ज्ञानमें ठहर जाते हैं ।

सर्वप्रवादिनां ज्ञानं स्वविषयस्य स्वरूपमात्रस्योभयस्य वा परिच्छेदकं तदेव नान्यविषयस्येति सिद्धं विरुद्धाकारमन्यथा सर्ववेदनस्य निर्विषयत्वं सर्वविषयत्वं वा दुर्निवारं स्वविषयस्याप्यन्यविषयवदपरिच्छेदात् स्वविषयवद्वान्यविषयावसायात् । स्वान्यविषय-

परिच्छेदनापरिच्छेदनस्वभावयोरन्यतरस्यापरमार्थतायामपीदमेव दूषणमुन्नेयमिति । परमार्थतस्तदुभयस्वभावविरुद्धमेकत्र प्रमाणेतरत्वयोरविरोधं साधयति । किं च ।

अद्वैतवादी ज्ञान द्वारा अकेले ज्ञानका ही ज्ञान होना इष्ट करते हैं । अन्य विषयोंका नहीं और नैयायिक ज्ञानसे न्यारे प्रकृत विषयोंका ही जानना मानते हैं । स्वका और अन्य अप्रकृत विषयोंका नहीं । तथा जैन ज्ञानद्वारा स्व और ज्ञेय अर्थकी ज्ञप्ति होना अभीष्ट करते हैं । अज्ञेय विषयोंको नहीं । बात यह है कि सम्पूर्ण प्रवादियोंके यहां माना गया जो ही ज्ञान अपने विषय या केवल अपने स्वरूप अथवा दोनोंका जाननेवाला है, वही ज्ञान अन्य विषयोंका ज्ञायक नहीं है । इस प्रकार एक ज्ञानमें ज्ञायकत्व और अज्ञायकत्व ये विरुद्ध आकार ठहर जाते हैं । अन्यथा यानी जैसे ज्ञान अन्य विषयोंका वेदक नहीं है, उसी प्रकार स्व या विषय अथवा उभयका भी वेदक न होता तो सभी ज्ञान निर्विषय हो जाते । कोई भी ज्ञान किसी भी विषयको नहीं जान सकता है । क्योंकि अन्य विषयोंके समान अपने विषयकी भी ज्ञप्ति नहीं होगी तथा स्व और वेद्यको जाननेके समान यदि अन्य उदासीन अज्ञेय विषयोंका वेदक ज्ञान होजाता तो सभी ज्ञानोंको सर्व पदार्थोंका विषय करलेनापन दुर्निवार हो जाता । क्योंकि अपने विषयके समान अन्य सर्व विषयोंका भी निर्णय हो जावेगा । प्रत्येक ज्ञानको सर्वज्ञता बन बैठेगी । कोई निवारण नहीं कर सकता है । यदि स्व और अन्य विषयका परिच्छेद करना और स्व या अन्य अथवा उभय विषयोंका परिच्छेद नहीं करना, इन दोनों स्वभावोंमेसे किसी एकको ही वास्तविक स्वभाव माना जायगा और शेषको वस्तुभूत धर्म न माना जायगा तो भी ये ही दूषण न्यारे न्यारे लागू हो जायेंगे, इस बातको उपरिष्टात् समझलेना चाहिये । इस प्रकार परमार्थरूपसे वे वेदकत्व और अवेदकत्व दोनों विरुद्ध सरीखे होकर एक ज्ञानमें पाये जा रहे, स्वभाव (कर्त्ता) एक ज्ञानमें प्रमाणपन और अप्रमाणपनके अविरोधकी सिद्धिको करा देते हैं । तथा दूसरी बात यह भी है, सो सुनिये ।

स्वव्यापारसमासक्तोन्यव्यापारनिरुत्सुकः ।
सर्वो भावः स्वयं वक्ति स्याद्वादन्यायनिष्ठताम् ॥ ५१ ॥

जब कि सम्पूर्णपदार्थ अपने अपने योग्य व्यापार करनेमें भले प्रकार चारों ओरसे लवलीन हो रहे हैं, और अन्य पदार्थके करने योग्य व्यापारमें उत्सुक नहीं हैं, ऐसी दशामें वे सभी भाव स्याद्वादनीतिके अनुसार प्रतिष्ठित रहनेपनको स्वय कह रहे हैं, तो हम व्यर्थ परिश्रम या चिंता क्यों करें । अर्थात्–अपनी अर्थक्रियाको करना और अन्यकी अर्थक्रियाको न करना, ये विरुद्ध सरीखे दीखते हुए आकार सम्पूर्ण पदार्थोंमें ठहर रहे हैं । यही स्याद्वादकी सर्वत्र छाप है ।

सर्वोग्निसुखादिभावः स्वामर्थक्रियां कुर्वन् तदैवान्यामकुर्वन्ननेकांतं वक्तीति किं नश्चिंतया । स एव च प्रमाणेतरभावाविरोधमेकत्र व्यवस्थापयिष्यतीति सूक्तं " यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता " इति ।

अग्नि पदार्थ अपने दाहकत्व, पाक, शोषण, आदि कार्योंको कर रहा है। किन्तु जलके द्वारा साधने योग्य सींचना, स्नान, पान, अवगाहन, आदि करानेरूप कार्योंको अग्नि नहीं कर रही है। इसी प्रकार सुख, गुण अपने आल्हादकत्व, रोमाच कराना, निश्चिन्त करना, शरीरको मोटा करना आदि कार्योंको करता है। दुःखसे साध्य चिन्ता, दुर्बलता, रक्तशोषण आदि कार्योंको सुख नहीं साधपाता है। इसी प्रकार अग्नि, जल, घट आदि बहिरंग पदार्थ और सुख, ज्ञान, आत्मा, आदि अन्तरंग पदार्थ सभी अपनी अपनी अर्थक्रियाओंको जिस समय कर रहे हैं, उस ही समय अन्य अर्थक्रियाओंको नहीं कर रहे हैं। इस अपनी अर्थक्रियाका करना और अन्यकी अर्थक्रियाका नहीं करना इस प्रकार अनेकान्तको सभी पदार्थ जब कह रहे हैं, तो फिर हमको व्यर्थ चिन्ता करनेसे क्या करना है? वह अर्थक्रियाका करनापन और न करनापन ही प्रमाणपन और अप्रमाणपनके अविरोधकी एक ज्ञानमें व्यवस्था करा देवेगा। इस प्रकार उन्तालीसवीं वार्तिकके भाष्यमें यह बहुत अच्छा कहा था कि जिस प्रकार जिस ज्ञानमें जितना अविसम्वाद है। उस प्रकार उस ज्ञानमें उतना प्रमाणपना है। और शेष अंशमें अप्रमाणपना है।

चन्द्रे चन्द्रत्वविज्ञानमन्यत्संख्याप्रवेदनम्।
प्रत्यासन्नत्वविच्चान्यत्वेकाद्याकारविन्न चेत् ॥ ५२ ॥
हतं मेचकविज्ञानं तथा सर्वज्ञता कुतः।
प्रसिध्येदीश्वरस्येति नानाकारैकवित्स्थितिः ॥ ५३ ॥

यहां यदि कोई यों कहे कि आखके पलकमें थोडीसी अङ्गुली गढाकर देखनेसे एक चन्द्रमामें हुये दो चन्द्रमाके एक ही ज्ञानको हम प्रमाणपना और अप्रमाणपना नहीं मानते हैं। किन्तु चन्द्रमामें चन्द्रपनेका ज्ञान न्यारा है, जो कि प्रमाण है। और उसकी संख्याको जाननेवाला ज्ञान भिन्न है, जो कि अप्रमाण है। तथा चन्द्रमाके निकटवर्त्तीपनका वेदन अन्य है। एक दो आदि आकारोंको जाननेवाली परिच्छित्ति पृथक् है। अतः एक एक आकारवाले ज्ञान न्यारे न्यारे हैं। एक ज्ञानमें अनेक आकार नहीं हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि यों माननेपर आप बौद्धोंका माना हुआ चित्रज्ञान नष्ट हुआ जाता है। एक ज्ञानमें अनेक नील, पीत आकारोंका प्रतिभासजाना ही तो चित्रज्ञान है। नैयायिकोंका समूहालम्बनज्ञान भी मर जायगा। अतः " प्रत्यर्थं ज्ञानाभिनिवेशः " प्रत्येक अर्थका एक एक न्यारा ज्ञान हो रहा है। अनेकोंको जाननेवाले अनेक ज्ञान हैं, यह आग्रह करना अच्छा नहीं है। तथा न्यारे न्यारे आकारवाले भिन्न भिन्न ज्ञानोंको माननेवाले वादीके यहां भला सर्वज्ञपना ईश्वरके कैसे प्रसिद्ध होगा? एक ज्ञानसे अनेक पदार्थोंका युगपत् प्रत्यक्ष कर लेना ही सर्वज्ञता है। इस प्रकार अनेक आकारवाले एक ज्ञानकी सिद्धि हो जाती है।

एक एवेश्वरज्ञानस्याकारः सर्ववेदकः ।
तादृशो यदि संभाव्यः किं ब्रह्मैवं न ते मतम् ॥ ५४ ॥
तच्चेतनेतराकारकरंबितवपुः स्वयम् ।
भावैकमेव सर्वस्य संवित्तिभवनं परम् ॥ ५५ ॥
यद्येकस्य विरुध्येत नानाकारावभासिता ।
तदा नानार्थबोधोपि नैकाकारोवतिष्ठते ॥ ५६ ॥

यदि वादी यों कहे कि सम्पूर्ण पदार्थोंको जाननेवाले ईश्वरज्ञानका तिस प्रकार सबको जाननेवाला लम्बा चौडा एक ही आकार सम्भवता है। परस्परमें एक दूसरेसे विशिष्ट हो रहे अनेक पदार्थ एक हैं। उस एकका एक समुदित आकार एक ज्ञानमें पड जाता है। आचार्य कहते हैं कि ऐसी सम्भावना की जायगी तब तो इस प्रकार एक परम ब्रह्मतत्त्व ही तुम्हारे यहां क्यों नहीं मान लिया जाय। सब टंटा मिट जायगा। ज्ञान और ज्ञेय सब एक हो जाओ, वह परमब्रह्म स्वयं सभी चेतन अचेतन आकारोंके सहारे अपने शरीरको धारता हुआ एक भावरूप है। वही सम्पूर्ण पदार्थोंकी उत्कृष्ट सम्वित्ति होना है। यदि नैयायिक यों कहें कि एक अद्वैत ब्रह्मको नाना आकारोंका प्रकाशकपना विरुद्ध पडेगा तब तो हम जैन कहते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञके अनेक अर्थोंका ज्ञान भी एक आकारवाला नहीं अवस्थित हो सकता है। यह तो एक ज्ञानमें अनेक आकार माननेपर ही व्यवस्था बनेगी। " पोतकाक " न्यायसे अनेकान्त ही तुमको शरण्य है।

नाना ज्ञानानि नेशस्य कल्पनीयानि धीमता ।
क्रमात्सर्वज्ञताहानेरन्यथाऽननुसंधितः ॥ ५७ ॥
तस्मादेकमनेकात्मविरुद्धमपि तत्त्वतः ।
सिद्धं विज्ञानमन्यच्च वस्तुसामर्थ्यतः स्वयम् ॥ ५८ ॥

विचारशील बुद्धिवाले पुरुष करके ईश्वरके अनेक ज्ञान तो नहीं कल्पित करना चाहिये। क्योंकि यों तो एक एक ज्ञान द्वारा एक एक पदार्थको क्रमसे जाननेपर सर्वज्ञपनकी हानि हो जावेगी अनन्त कालतक भी ईश्वर सबको नहीं जानसकता है। जगत् अनन्तानन्त है, अन्यथा यानी दूसरे ढंगसे सर्वज्ञता माननेपर पहिले पीछेके ज्ञानों द्वारा जान लिये गये पदार्थोंका अनुसन्धान नहीं हो सकता है। भला ऐसी दशामें सर्वज्ञपना कहां रहा? तिस कारण एक भी विज्ञान अनेक आत्मक विरुद्ध सदृश होता हुआ भी वास्तविक रूपसे सिद्ध हो जाता है। तथा अन्य भी अग्नि, सुख, आदिक पदार्थ वस्तुपरिणतिकी सामर्थ्यसे स्वयं अनेक धर्मात्मक सिद्ध हैं। अनेकान्त आत्मकपना केवलान्वयी है।

नन्वेकमनेकात्मकं तत्त्वतः सिद्धं चेत् कथं विरुद्धमिति स्याद्वादविद्विषामुपालंभः क्वचित्तद्विरुद्धमुपलभ्य सर्वत्र विरोधमुद्भावयतां न पुनरबाध्यप्रतीत्यनुसारिणाम्।

कोई शंका करता है कि जब एक पदार्थ वास्तविकरूपसे अनेक धर्म आत्मक सिद्ध हो रहा है तो एकपन और अनेकपना विरुद्ध कैसे कहा जाता है ? इस प्रकार स्याद्वादसे विशेष द्वेष करने-वालोंका उलाहना उन हीके ऊपर लागू होगा, जो कि किसी एक स्थानपर उन एकपन और अनेक-पनको विरुद्ध देखकर सभी स्थानोंपर विरोध दोषको उठा देते हैं। किन्तु निर्बाध प्रतीतिके अनुसार वस्तुको जाननेवाले स्याद्वादियोंके ऊपर कोई उलाहना नहीं आता है। एक चन्द्रमामें अनेकपना बाधित है। किन्तु एक चन्द्रमाकी किरणोंमें अनेकपना प्रतीतसिद्ध हैं। अतः अनेक आकारोंवाले एक ईश्वर ज्ञानके समान मेचक ज्ञानको दृष्टान्त बनाकर एक ज्ञानमें प्रमाणपन और अप्रमाणपन किसी अपेक्षासे साध लिये जाते हैं। प्रतीत हो रहे पदार्थोंमें विरोध नहीं मानना चाहिये। जैसे कि नित्यत्व, अनित्यत्व, अस्तित्व नास्तित्व धर्म एक धर्मीमें अविरुद्ध होकर बैठे रहते हैं। एकान्तवादियोंकी मान्यता अनुसार विरोध शब्द कह दिया था, वस्तुतः उनका अविरोध है।

प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमित्युपवर्ण्यते।
कैश्चित्तत्राविसंवादो यद्याकांक्षानिवर्तनम् ॥ ५९ ॥
तदा स्वप्नादिविज्ञानं प्रमाणमनुपज्यते।
ततः कस्यचिदर्थेषु परितोषस्य भावतः ॥ ६० ॥

अब ग्रन्थकार प्रमाणके सामान्य लक्षणोंपर विचार चलाते हैं। उनमें प्रथम " अविसंवादि ज्ञानं प्रमाणं " जो ज्ञान विसम्वादोंसे रहित है, वह प्रमाण है। इस प्रकार किन्हीं बौद्धवादियों करके कहा जाता है। तिसपर हम बौद्धोंसे पूंछते हैं कि अविसम्वादका अर्थ क्या है ? यदि ज्ञात हो गये पदार्थमें आकाक्षाका निवृत्त हो जाना अविसंम्वाद है ? तब तो स्वप्न, मूर्च्छित, भ्रान्ति आदि अवस्थाओंमें हुये विज्ञानोंको भी प्रमाणपनेका प्रसंग आ जाता है। क्योंकि उन स्वप्नमें अथवा इन्द्रजालियाके निमित्तसे हुये ज्ञानों द्वारा जाने गये पदार्थोंमें भी किसी विनोदी जीवको परितोषका सद्भाव देखा जाता है। भाग पीनेवाले चतुर्वेदी (चौबे) को विजया पान करनेपर विसम्वादी ज्ञानों द्वारा आकाक्षाओंकी निवृत्ति हो जाती हैं। क्रीडा करनेवाले बालकोंको आरोपित (नकली) पदार्थोंमें मुख्य (असली) पदार्थोंके भ्रान्तज्ञानसे विशिष्ट परितोष प्राप्त हो जाता है। अतः बौद्धोंसे माना गया प्रमाणका लक्षण अतिव्याप्ति दोषसे ग्रस्त है।

न हि स्वप्नौ वेदनेनार्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोर्थक्रियायामाकांक्षातो न निवर्तते प्रत्य-क्षतोनुमानतो वा दहनाद्यवभासस्य दाहाद्यर्थक्रियोपजननसमर्थस्याकांक्षितदहनाद्यर्थप्रापण-

योग्यतास्वभावस्य जाग्रद्दशायामिवानुभवात् । तादृशस्यैवाकांक्षानिवर्तनस्य प्रमाणे प्रेक्षावद्भिरर्थ्यमानत्वात् । ततोतिव्याप्ति प्रमाणसामान्यलक्षणमिति आयातम् ।

स्वप्न अवस्थामें उत्पन्न हुये ज्ञान करके पदार्थकी ज्ञप्ति कर प्रवर्त रहा मनुष्य अर्थक्रियाको करनेमें आकांक्षाओंसे निवृत्त नहीं होता है, यह नहीं समझना । अर्थात्—स्वप्नज्ञान करते समय इष्ट पदार्थकी ज्ञप्ति होनेपर आकांक्षाएं निवृत्त हो जाती हैं । प्रेमप्रद या भयप्रद पदार्थके देखनेपर स्वप्नमें वैसी शारीरिक परिणतियें होती हैं । आठ महानिमित्त ज्ञानोंमें स्वप्न भी गिनाया है । अनेक पुरुष स्वप्नोंके द्वारा अतीन्द्रिय विषयोंको जानकर लाभ उठा लेते हैं । तथा सामान्य स्वप्नोंसे भी कई प्रकारकी आकांक्षाएं निवृत्त हो जाती हैं । ब्रह्माद्वैतवादीके यहां तो स्वप्नज्ञान और जाग्रत् दशाके ज्ञानोंमें कोई अन्तर नहीं माना गया है । प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाणसे जगती हुई दशामें जैसे दाह, पाक, सिंचन, पिपासानिवृत्ति, आदि अर्थक्रियाओंको पैदा करनेमें समर्थ और आकांक्षा किये गये अग्नि आदि अर्थोंको प्राप्त करानेकी योग्यता स्वभाववाले अग्नि, जल आदि अर्थोंका प्रतिभास होता है, वैसा ही स्वप्नमें भी अग्नि, जल आदिका प्रतिभास हो जाता है । और उस ही प्रकारकी आकांक्षानिवृत्तिकी हिताहित विचारनेवाले पुरुषोंकरके प्रमाणमें अभिलाषा की जाती है । भावार्थ—अर्थक्रियाके साधक पदार्थका प्रदर्शन करा देना ही प्रमाणकी अर्थप्रापकता है । सूर्य, मोदक, आदि विषयोंको हाथमें या मुखमें थम्मा देना प्रमाणका अर्थप्राप्ति कराना नहीं है । उदार पुरुष आज्ञा दे देते हैं । रोकड़िया रुपयोंको देता फिरता है । आकांक्षा, पुरुषार्थ, प्रवृत्ति, शक्यता आदि कारण पदार्थोंको प्राप्त करा देते हैं । जागती अवस्थामें पदार्थोंको देखकर जिस प्रकारकी आकांक्षा निवृत्ति हो जाती है, वैसी ही स्वप्नमें भी पदार्थोंका ज्ञान कर आकांक्षानिवृत्ति हो जाती है । विचारशील पुरुष प्रमाणज्ञानोंसे भी यही अभिलाषा रखते हैं । तिस कारण बौद्धोंसे माना गया आकांक्षा निवृत्तिरूप अविसम्वाद यह प्रमाणका सामान्य लक्षण अतिव्याप्ति दोषवाला है । बौद्धोंको यह बड़ा भारी दोष प्राप्त हुआ ।

अर्थक्रिया स्थितिः प्रोक्ताऽविमुक्तिः सा न तत्र चेत् ।
शाब्दादाविव तद्भावोस्त्वभिप्रायनिवेदनात् ॥ ६१ ॥

बौद्ध कहते हैं कि सम्वादका अर्थ वास्तविक अर्थक्रियाकी स्थिति होना बढ़िया कहा गया है । और वह अर्थक्रियाका ठहरना किसी प्रकार भी अर्थक्रियाकी विमुक्ति नहीं होना है । ऐसी अर्थक्रियाकी स्थिति उन स्वप्न, मत्त आदि अवस्थाओंके ज्ञानोंमें नहीं है । अतः हमारे लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष नहीं है । इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि मनोहर वादित्र या संगीत आदिके शब्दजन्य ज्ञानोंमें या चित्र आदिके रूपज्ञानोंमें जैसी थोडी देर ठहरनेवाली अर्थक्रिया है वैसी स्व[illegible]प्नमें भी हो जाओ । वहां भी ज्ञाताको इष्ट अर्थके अभिप्रायका निवेदन करनेसे

[illegible]

नाकांक्षानिवर्तनमविसंवादनं । किं तर्हि ? अर्थक्रिया स्थितिः । सा चाविमुक्तिर विचलनमर्थक्रियायां । न च तत्स्वप्नादौ दहनाद्यवभासस्यास्तीति केचित् । तेषां गीतादि शब्दज्ञानं चित्रादिरूपज्ञानं वा कथं प्रमाणं । तथाऽविमुक्तेरभावात् । तदनंतरं कस्यचित्सा- ध्यस्य फलस्यानुभवनात् तत्रापि प्रतिपत्तुरभिप्रायनिवेदनात् साध्याविमुक्तिरिति चेत्, तर्हि निराकांक्षतैव स्वार्थक्रियास्थितिः स्वप्नादौ कथं न स्यात् ।

आकाक्षाओंकी निवृत्ति होना सम्वाद नहीं है । तो क्या है ? इस प्रश्नके उत्तरमे हम बौद्ध कहते हैं कि अर्थक्रियाका स्थित रहना सम्वाद है । वह अर्थक्रियाका स्थित रहना तो विमुक्त नहीं होना है । यानी अर्थक्रिया करनेमे विचलित नहीं होना । वह अविचलन तो स्वप्न आदिमें हुये अग्नि आदिके ज्ञानोंके नहीं है । अर्थात्—स्वप्नमें देखी गयी अग्निसे शीतबाधाकी निवृत्ति नहीं होती है । जाडा लगनेपर स्वप्नमें अग्नि दीखजाती है । विशेष प्यास लगनेपर स्वप्नमें पानी ही पानी दीखता है । दरिद्रको स्वप्नमें रुपयोंका ढेर मिलगया प्रतीत हो जाता है । किन्तु उन अग्नि, जल आदिकोंसे शीतबाधानिवृत्ति, पिपासानिवृत्ति आदि क्रियायें नहीं हो पाती हैं । अतः सम्वादका लक्षण अर्थ क्रियास्थिति करनेपर हमारे प्रमाणका लक्षण अतिव्याप्त नहीं होगा । इस प्रकार कोई सौत्रान्तिक बौद्ध कह रहे हैं । उनके यहां संगीत आदि शब्दोंका ज्ञान अथवा चित्र (तसवीर) विजुली, जलतरंगे आदिका रूपज्ञान भला कैसे प्रमाण हो सकेगा ? क्योंकि तिस प्रकार अर्थक्रियाकी अविमुक्ति (स्थिति) होना तो वहां नहीं है । गीतको सुनकर या विजुलीको देखकर उनसे होनेवाली अर्थक्रिया अधिक देरतक तो नहीं ठहरती है, झट विलाय जाती है । यदि बौद्ध यों कहे कि उस संगीत आदिके ज्ञानोंके अव्यवहित उत्तरकालमें उनके द्वारा साधेगये किसी न किसी सुख सम्वित्ति, प्रतिकूल वेदन, आदि फलका अनुभव हो जाता है । इस कारण वहां भी ज्ञाता पुरुषको अभिप्रेत हो रहे अर्थका निवेदन हो जानेसे स्वल्प कालके लिये साध्यकी अविमुक्ति (स्थिति) है । इस प्रकार कहनेपर तो आकाक्षारहितपना ही ज्ञानकी अपनी अर्थक्रिया सिद्ध हुई । वह स्वप्न, मद, (नशा) आदि अवस्थाओंमें क्यों नहीं होवेगी ? अर्थात्—यों पदार्थोंको जानकर थोडी देरतक अर्थक्रियाकी स्थिति होना स्वप्नमें भी हो रहा है । मद्यपायीको भूमिका हलन, चलन, दीख रहा है । तभी उसकी गति चलन, पतन, स्खलन युक्त हो रही है । स्वप्नमें भयंकर पदार्थको देखनेपर कुछ देरतक हृदयमें धडकन होती रहती है । निर्बल युवा पुरुष स्वप्नमें इष्ट पदार्थका समागम कर वास्तविक अर्थक्रियाओंको कर बैठते हैं । अतः आकाक्षारहितपनको ही अविसम्वाद हो जानेसे बौद्धोंके यहां प्रमाणके सामान्यलक्षणमें अतिव्याप्ति दोष तदवस्थ रहा ।

प्रबोधावस्थायां प्रतिपत्तुरभिप्रायचलनादिति चेत्, किमिदं तच्चलनं नाम ? मिद मिथ्या प्रतर्कितं मया इति प्रत्ययोपजननं ... इति चेत्, तत्स्वप्नादावप्यस्ति । न हि ... प्रबोध

लब्धार्थक्रियायाश्चलनं जाग्रद्दशायां बाधकानुभवनमनुमन्यते, न पुनर्जाग्रद्दशोपलब्धार्थक्रियायाः स्वप्नादाविति युक्तं वक्तुं, सर्वथा विशेषाभावात् ।

जागृत अवस्थामें प्रतिपत्ताके अभिप्रायका चलन हो जाता है । अर्थात्—स्वप्नमें देखे हुये पदार्थोंका जागती हुई अवस्थामें परामर्श करनेपर स्वप्नकी ज्ञप्तिया चलित होती हुई प्रतीत हो रही हैं । इस कारण स्वप्नज्ञान द्वारा अर्थक्रिया स्थिति होना नहीं माना जाता है । इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम जैन पूछते हैं कि यह उस अभिप्रायका चलना क्या पदार्थ है ? बताओ । यदि बौद्ध यों कहें कि धिक्कार है कि मैंने स्वप्न अवस्थामें झूठी ही प्रतर्कणाएं की थीं, इस प्रकार जागृत अवस्थाओंमें प्रतीतियोंका उत्पन्न हो जाना ही स्वप्न ज्ञानोंके अभिप्रायोंका चलायमानपना है । आचार्य बोलते हैं कि इस प्रकार कहनेपर तो हम कहते हैं कि वह चलन तो स्वप्न आदिकमें भी विद्यमान है । अर्थात्—जागृत अवस्थामें पदार्थोंको देखकर पुन. स्वप्नमें अन्य प्रकार जाननेपर स्वप्नमें ऐसा प्रत्यय उत्पन्न होता है कि धिक्कार है, मैंने जागृत अवस्थामें झूंठी ही तर्कणाएं कर लीं थीं। इष्ट पुरुषके मर जानेपर पुनः स्वप्नमें वह कभी दीख जाता है तो थोडी देर तक स्वप्नमें यही ज्ञान होता रहता है कि हम बहुत भूलमें थे कि इसको मरा हुआ समझ बैठे थे । किन्तु ये तो वास्तविक जीवित (जिन्दे) हैं । अर्थक्रियाओंको कर रहे हैं । यहां बौद्धका पक्षपातसहित यह कहना युक्त नहीं हो सकता है कि स्वप्नमें देखे गये अर्थक्रियाका चलायमान होना तो जागती हुई अवस्थामें बाधकका अनुभव होना मान लिया जाय और फिर जागती दशामें देखे गये पदार्थकी अर्थक्रियाका चलायमानपना स्वप्न आदिमें बाधकज्ञानका अनुभव होना न माना जाय । अर्थात्—सुषुप्तकी अर्थक्रियाका बाधक यदि जागृत दशाका अनुभव है तो जागृत दशाकी अर्थक्रियाका बाधक स्वप्न दशाका अनुभव भी हो जाओ। सभी प्रकारोंसे कोई अन्तर नहीं है ।

स्वप्नादिषु बाधकप्रत्ययस्य सबाधत्वान्न तदनुभवनं तच्चलनमिति चेत्, कुतस्तस्य सबाधत्वसिद्धिः । कस्यचित्तादृशस्य सबाधकत्वदर्शनादिति चेत्, नन्वेवं जाग्रद्बाधकप्रत्ययस्य कस्यचित्सबाधत्वदर्शनात् सर्वस्य सबाधत्वं सिध्येत् ।

बौद्ध कहते हैं कि जागृत दशाके ज्ञानोंके बाधक प्रत्यय जो स्वप्न आदि अवस्थामें हो रहे हैं, वे स्वयं बाधासहित हैं । उस कारण स्वप्न अवस्थाओंमें उन बाधकज्ञानोंका अनुभव करना तो जागृत दशाकी अर्थक्रियाका चलायमानपना नहीं है । हां, जागृत दशाके ज्ञान बाधारहित हैं । अत. वे स्वप्न दशाके ज्ञानोंकी अर्थक्रियाको चलायमानपना साधदेते हैं । इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम बौद्धोंसे पूछते हैं कि स्वप्न आदि अवस्थाओंमें हुये उन बाधकज्ञानोंके स्वयं बाधासहितपनेकी सिद्धि कैसे हुई समझी जाय ? बताओ । यदि तिस प्रकारके किसी एक ज्ञानको बाधकोंसे सहितपना देखनेसे स्वप्नके बाधकज्ञानोंका बाध्यपना समझा

दशाके बाधक ज्ञानोंको बाधासहितपना देखा जाता है। अतः सभी जागृत दशाके ज्ञानोंको बाधासहितपना सिद्ध हो जावेगा। अर्थात्—जगते हुये पुरुषको सीपमें चादीका ज्ञान बाधासहित हो रहा है। और भी बहुतसे ज्ञान आजकलके अल्प ज्ञानियोको बाधासहित हो रहे हैं। इनको दृष्टान्त बनाकर जागरूकोंके अन्य ज्ञान भी बाध्य हो जायगे।

तस्य निर्बाधस्यापि दर्शनान्नैवमिति चेत्, सत्यस्वप्नजप्रत्ययस्य निर्बाधस्यावलोकनात्सर्वस्य तस्य सबाधत्वं माभूत्। तस्मादविचारितरमणीयत्वमेवाविचलनमर्थक्रियायाः संवादनमभिप्रायनिवेदनात् क्वचिदभ्युपगंतव्यं। ते च स्वप्नादावपि दृश्यंत इति तत्प्रत्ययस्य प्रामाण्यं दुर्निवारम्।

बौद्ध कहते हैं कि उस जागृत दशाके बाधकज्ञान भला बाधाओंसे रहित भी तो देखे जाते हैं। अतः इस प्रकार सबको बाध्य कहना ठीक नहीं है। इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन भी कह देंगे कि स्वप्नमें उत्पन्न हुये सत्यज्ञानोंका बाधारहितपना भी देखा जाता है। अत उन सभी स्वप्नज्ञानोंको बाधासहितपना मत (नहीं) होओ। तिस कारण स्वप्नमें भी किसी अंशमें प्रतिपत्ताके अभिप्रायका निवेदन हो रहा है। अतः अर्थक्रियाका नहीं चलायमानपनारूप सम्वादन मानना बौद्धोंका विना विचार किये गये ही मनोहर हो रहा है। विचार करनेपर तो जीर्ण वस्त्रके समान सैकडों खण्ड हो जाते हैं, यह मानलेना चाहिये। वे आकाङ्क्षानिवृत्ति, परितोष, अर्थक्रियास्थिति, अभिप्राय निवेदनरूप अविसम्वाद तो स्वप्न आदिमें भी देखे जाते हैं। अतः उन स्वप्न आदिके ज्ञानोंको भी प्रमाणपना दुर्निवार हो जायगा। इस कारण बौद्धोंका माना हुआ प्रमाणका सामान्य लक्षण अतिव्याप्त ही रहा।

प्रामाण्यं व्यवहारेण शास्त्रं मोहनिवर्तनम्।
ततोपर्यनुयोज्याश्चेत्तत्रैते व्यवहारिणः ॥ ६२ ॥
शास्त्रेण क्रियतां तेषां कथं मोहनिवर्तनम्।
तदनिष्टौ तु शास्त्राणां प्रणीतिर्व्याहता न किम् ॥ ६३ ॥

बौद्ध मानते हैं कि लौकिक व्यवहारसे प्रमाणपना है। मुख्य प्रमाण कोई नहीं है। और विद्वानोंके बनाये हुये शास्त्र तो केवल मोहकी निवृत्ति करनेवाले हैं। कोई नवीन प्रमेयके ज्ञापक नहीं हैं। तिस कारण उस प्रमाणपनेमें ये व्यवहारी जन प्रश्नोत्तर करने योग्य नहीं हैं। अर्थात्—व्यवहारमें जिस किसीसे भी समीचीनज्ञान हो जाय वह प्रमाण है। और जिससे मोहकी निवृत्ति हो जाय वही सबसे अच्छा शास्त्र है। पारमार्थिक प्रमाण व्यवस्था कोई न्यारी बात है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम कहेंगे कि ऐसे चाहें जिस किसी शास्त्र करके उन व्यवहारियोंके मोहकी निवृत्ति कैसे की जायगी ? यदि उस मोहकी निवृत्तिको वास्तविक इष्ट न करोगे तो शास्त्रोंका प्रणयन (बनाना) करना व्याघात दोषयुक्त क्यों नहीं होगा ?।

व्यवहारेण प्रामाण्यस्योपगमात्तत्रापर्यनुयोज्या एव व्यवहारिणः । किं न भवंतः स्वप्नादिप्रत्ययस्य जाग्रत्प्रत्ययवत् प्रमाणत्वं व्यवहरंति तद्वद्वा जाग्रद्बोधस्याप्रमाणत्वमिति केवलं तदनुसारिभिस्तदनुरोधादेव क्वचित्प्रमाणत्वमप्रमाणत्वं चानुमतव्यमिति ब्रुवाणः कथं शास्त्रं मोहनिवर्तनमाचक्षीत न चेद्व्याक्षिप्तः ।

बौद्धोंका मत है कि हमारे यहां व्यवहारसे प्रमाणपना माना गया है । शासन करनेवाला भले ही ? मन हो प्रमाण है । और असत्य पक्षपात रखनेवाला ब्राह्मण भी प्रमाण नहीं है । हस्ताक्षर साक्षी (गवाह) भोग (काबू) प्रमाणपत्र (सर्टिफिकट) ये सब प्रमाण मान लिये गये हैं । अतः व्यवहार करनेवाले लौकिकजन उस प्रमाणव्यवस्थामें तर्कणा करने योग्य नहीं हैं कि ज्ञान ही प्रमाण है । निर्विकल्पक प्रमाण नहीं हो सकता है । स्वप्नज्ञान भी प्रमाण हो जायगा इत्यादि । इसपर हम स्याद्वादी कहते हैं कि यों तो आप बौद्ध स्वप्न, मदमत्त आदिके ज्ञानोंको जगते हुये जीवोंके ज्ञानके समान प्रमाणपनेका व्यवहार क्यों नहीं करते हैं ? अथवा स्वप्न आदि ज्ञानोंको अप्रमाणपनेके व्यवहार समान जागती अवस्थाके ज्ञानको भी वह अप्रमाणपना क्यों नहीं व्यवहृत हो जाता है ? इसका उत्तर दो, केवल उस व्यवहारके अनुसार चलनेवाले लौकिक जनों करके उस व्यवहारके अनुरोधसे ही किसीमें प्रमाणपन और किसीमें अप्रमाणपन मान लेना चाहिए, इस प्रकार कह रहा बौद्ध भला शास्त्रोंको मोहकी निवृत्ति करानेवाला कैसे कह सकेगा ? और कहेगा तो मत्तके समान घबडाया हुआ क्यों नहीं समझा जायगा ? अर्थात्—मोही जीव ही तो व्यवहारी हैं । और व्यवहारके अनुसार प्रमाणपना माना गया ऐसी दशामें शास्त्र करके कषायों और इन्द्रियलोलुपताका निग्रह कैसे किया जा सकेगा ? इस लीलाको तुम्हीं जानो ।

ये हि यत्रापर्यनुयोज्यास्तच्छास्त्रेण कथं तेषां मोहनिवर्तनं क्रियते । व्यवहारे मोहवत् क्रियत इति चेत् कुतस्तेषां विनिश्चयः? प्रसिद्धव्यवहारातिक्रमादिति चेत् कोसौ प्रसिद्धो व्यवहारः ? सुगतशास्त्रोपदर्शित इति चेत् कपिलादिशास्त्रोपदर्शितः कस्मान्न स्यात् ? तत्र व्यवहारिणामननुरोधादिति चेत्, तर्हि यत एव व्यवहारिजनानां सुगतशास्त्रोक्तो व्यवहारः प्रसिद्धात्मा व्यवस्थित एवमतिक्रामतां तत्र मोहनिवर्तनं सिद्धमिति किं शास्त्रेण तदर्थेन तेन तन्निवर्तनस्यानिष्टौ तु व्याहता शास्त्रप्रणीतिः किं न भवेत् ? ।

कारण कि जो संसारी जीव जिसके विषयमें तर्कणा करने योग्य ही नहीं है, उस शास्त्र करके उनके मोहकी निवृत्ति भला कैसे की जा सकेगी ? बताओ । यदि बौद्ध यों कहें कि व्यवहारमें जैसे मोह कर लिया जाता है, वैसे ही शास्त्रों द्वारा मोहकी निवृत्ति भी कर ली जाती है । इसपर तो हम जैन पूछेंगे कि उन व्यवहारियोंको विशेषरूपसे निश्चय कैसे हुआ कि हमारा मोह निवृत्त हो गया है ? यदि लोकमें प्रसिद्ध हो रहे व्यवहारका अतिक्रमण हो जानेसे निश्चय

होना माना जावेगा, तो फिर हम पूछेंगे कि वह प्रसिद्ध व्यवहार कौन है ? बताओ। यदि बुद्धके शास्त्रों द्वारा दिखलाया गया व्यवहार प्रसिद्ध कहा जायगा, तब तो कपिल, कणाद, गौतम, बृहस्पति, आदिके शास्त्रों द्वारा दिखलाया गया व्यवहार किस कारणसे नहीं प्रसिद्ध माना जाय ? उत्तर दो। यदि उन कपिल आदिकोंके शास्त्रद्वारा प्रदर्शित किये गये व्यवहारमें व्यवहारी जीवोंका अनुकूल वर्तना नहीं है, इस कारण वह व्यवहार प्रसिद्ध नहीं है, ऐसा कहोगे तो जिस ही कारणसे व्यवहारी मनुष्योंका सुगतशास्त्रोंमें कहा गया व्यवहार प्रसिद्धस्वरूप होकर व्यवस्थित हो रहा है, उसीका अतिक्रमण हो जाओ। और वहां तो मोहकी निवृत्ति पहिलेसे ही सिद्ध है। ऐसी दशामें उसके लिये बनाये गये उन शास्त्रोंकरके क्या लाभ हुआ ? बताओ। यदि शास्त्रसे उस मोहकी निवृत्ति करना नहीं इष्ट करोगे तब तो तुम्हारे यहां शास्त्रोंका बनाना व्याघातयुक्त क्यों न हो जावेगा ? अर्थात्—शास्त्रोंको बौद्ध प्रमाण मानते नहीं, मोहकी निवृत्ति भी उनसे नहीं हो पाती है। ऐसी दशामें शास्त्रोंका बनाना व्यर्थ है। प्राचीन गुरुओं द्वारा शास्त्र बनाये गये माने जाते हैं। यों शास्त्रोंको मानते हुये तदनुसार प्रमेयको नहीं माननेपर व्याघात दोष है।

युक्त्या यन्न घटामेति दृष्ट्वापि श्रद्दधे न तत्।
इति ब्रुवन् प्रमाणत्वं युक्त्या श्रद्धातुमर्हति ॥ ६४ ॥

" युक्त्यापन्न घटामुपैति तदहं दृष्ट्वाऽपि न श्रद्दधे " जो कोई पदार्थ युक्ति (हेतुवाद) से घटनाको प्राप्त नहीं होता है, उसको देखकर भी मैं श्रद्धान नहीं करता हूं। हाथीको देखकर भी चीत्कार शुण्डा दण्ड और मोटे पावोंसे उसका अनुमान करके गजका अध्यवसाय किया जाता है। इस प्रकार कह रहा बौद्ध प्रमाणपनेको भी युक्तिसे ही श्रद्धान करनेके लिये योग्य होगा अर्थात्—प्रमाणपना भी केवल व्यवहारसे ही न माने, किन्तु समीचीन युक्तियोंसे प्रमाणपनकी व्यवस्था करे।

न केवलं व्यवहारी दृष्टं दृष्टमपि तत्त्वं युक्त्या श्रद्धातव्यं। सा च युक्तिः शास्त्रेण व्युत्पाद्यते ततो शास्त्रप्रणीतिर्व्याहतेति ब्रुवन् कस्यचित्प्रमाणत्वं युक्त्यैव श्रद्धातुमर्हति।

वह व्यवहार करनेवाला लौकिक जन देखे हुये पदार्थका केवल यों ही श्रद्धान न कर लेवे किन्तु उसको देखे हुये तत्त्वका भी युक्तिसे घटित होनेपर श्रद्धान करना चाहिये। और वह युक्ति शास्त्र करके समझी जाती है। तिस कारण शास्त्रोंका बनाना व्याघातयुक्त नहीं है। इस प्रकार कहरहा बौद्ध किसीके प्रमाणपनका भी युक्तियों करके ही श्रद्धान करनेके लिये योग्य होता है। युक्ति विना अर्थात्—सबसे बढिया सभालने योग्य (जोखम) प्रमाणका श्रद्धान तो युक्तिसे निर्णीत होनेपर ही करना चाहिये। अन्यथा बुद्धूपनेके दोषका प्रसंग होगा।

तथा सति प्रमाणस्य लक्षणं नावतिष्ठते ।
परिहर्तुमतिव्याप्तेरशक्यत्वात्कथंचन ॥ ६५ ॥

तिस प्रकार होते संते तो बौद्धोंका माना गया प्रमाणका लक्षण ठीक व्यवस्थित नहीं होता है। क्योंकि स्वप्न आदि अवस्थाके ज्ञानोंमें लक्षणके चले जानेसे अतिव्याप्ति दोषका परिहार कैसे भी नहीं किया जासकता है। " अतः अविसंवादिज्ञानं प्रमाणं " यह लक्षण ठीक नहीं है।

प्रमाणस्य हि लक्षणमविसंवादनं तच्च यथा सौगतैरुपगम्यते तथा युक्त्या न घटत एवातिव्याप्तेर्दुःपरिहरत्वादित्युक्तं स्वप्नादिज्ञानस्य प्रमाणत्वापादनात् ।

प्रमाणका वह अविसंवादीपना लक्षण जिस प्रकार बौद्धों करके स्वीकार किया जाता है, उस प्रकार युक्तियोंसे ही घटित नहीं होता है। क्योंकि स्वप्न, भ्रान्त, आदिके ज्ञानोंको प्रमाणपनेका आपादन करनेसे अतिव्याप्ति दोषका परिहार करना अतीव दुःसाध्य है। इस बातको हम साठवीं वार्त्तिकमें कहचुके हैं।

क्षणक्षयादिबोधेऽविमुक्त्यभावाच्च दूष्यते ।
प्रत्यक्षेपि किमव्याप्त्या तदुक्तं नैव लक्षणम् ॥ ६६ ॥
क्षणिकेषु विभिन्नेषु परमाणुषु सर्वतः ।
संभवोप्यविमोक्षस्य न प्रत्यक्षानुमानयोः ॥ ६७ ॥

तथा अर्थक्रियाके नहीं छूटनेपनका अभाव हो जानेसे क्षणिकत्व, संगीत आदिके ज्ञानोंमें वह लक्षण नहीं जाता है। अतः प्रत्यक्षमें भी लक्षणके न घटनेपर अव्याप्ति दोष करके वह लक्षण दूषित हो जाता है। तिस कारण वह बौद्धोंका कहा गया लक्षण ठीक नहीं है। तथा प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणके विषयभूत माने गये क्षणिक और विशेषरूपसे भिन्न भिन्न पडे हुये परमाणुओंमें अविमोक्षरूप-अर्थक्रियास्थितिका सब ओरसे सम्भव नहीं है। अत. प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंमें लक्षणके नहीं घटनेसे असम्भव दोष भी है।

न हि वस्तुनः क्षणक्षये सर्वतो व्यावृत्तिर्न स परमाणुस्वभावे वा प्रत्यक्षमपि संवादलक्षणमविमोक्षाभावादित्युक्तं प्राक्। प्रत्यक्षानुमानयोर्वाऽविमोक्षस्यासंभवादव्याप्त्या वासंभवेन च तल्लक्षणं दूष्यत एव, ततोतिव्याप्त्यव्याप्त्यसंभवदोषोपद्रुतं न युक्तिमल्लक्षणमविसंवादनम् ।

वस्तुके क्षणिकत्वमें सभी ओरसे व्यावृत्ति यानी अविचलपना नहीं है। अतः अनुमानमें लक्षण नहीं जाता है। और परमाणुस्वरूप स्वलक्षणमें उस अविमुक्तिके न होनेसे प्रत्यक्ष भी सम्वादस्वरूप नहीं है। इसको हम पहिले कह चुके हैं। अथवा प्रत्यक्ष और अनुमानमेंसे एकमें या दोनोंमें अविमोक्षरूप अविसंवादके असम्भव हो जानेसे अव्याप्ति और असम्भव दोषकरके वह प्रमाणका लक्षण अविसम्वाद दूषित हो ही जाता है। तिस कारण बौद्धोंके यहां प्रमाणका अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असम्भव दोषोंसे घेर लिया गया अविसम्वादस्वरूप लक्षण युक्तिसहित नहीं है।

अज्ञातार्थप्रकाशश्चेल्लक्षणं परमार्थतः।
गृहीतग्रहणान्न स्यादनुमानस्य मानता ॥ ६८ ॥
प्रत्यक्षेण गृहीतेपि क्षणिकत्वादिवस्तुनि।
समारोपव्यवच्छेदात्प्रामाण्यं लैंगिकस्य चेत् ॥ ६९ ॥
स्मृत्यादिवेदनस्यातः प्रमाणत्वमपीष्यताम्।
मानद्वैविध्यविध्वंसनिबंधनमबाधितम् ॥ ७० ॥
मुख्यं प्रामाण्यमध्यक्षेऽनुमाने व्यावहारिकम्।
इति ब्रुवन्न बौद्धः स्यात् प्रमाणे लक्षणद्वयम् ॥ ७१ ॥

" अज्ञातार्थ प्रकाशो वा स्वरूपाधिगतेः परम् " अबतक नहीं जाने गये अपूर्व अर्थका प्रकाश करना यदि परमार्थ रूपसे प्रमाणका लक्षण माना जायगा तो अनुमानको प्रमाणपना नहीं प्राप्त होगा। क्योंकि वस्तुभूत जिस क्षणिकत्वको निर्विकल्पक प्रत्यक्षने जानलिया था उसीका ग्रहण किये जा चुकेका अनुमान द्वारा ग्रहण हुआ है। यदि बौद्ध यों कहें कि क्षणिकत्व, स्वर्गप्रापण शक्ति आदि वस्तुभूत पदार्थोंका प्रत्यक्ष प्रमाण करके ग्रहण हो चुका है, फिर भी किसी कारण वश उत्पन्न होगये संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और अज्ञानरूप समारोपके निराकरण करदेनेसे अनुमान ज्ञानको प्रमाणपना है। इस प्रकार कहनेपर तो स्मृति, व्याप्तिज्ञान, आदिको भी इस ही कारण यानी समारोपका व्यवच्छेदक होनेसे बाधारहित प्रमाणपना इष्ट होजाओ, जो कि तुम बौद्धों द्वारा माने हुये प्रत्यक्ष अनुमान प्रमाणोंकी द्विविधपनके विनाशका कारण है। बौद्ध फिर यों कहें कि प्रत्यक्षमें प्रमाणपना मुख्यरूपसे घटता है। और अनुमानमें प्रमाणपना केवल व्यवहारको साधनेके लिये मान लिया गया है। इस प्रकार प्रमाणमें दो लक्षणोंको कह रहा बौद्ध तो बौद्ध नहीं है। बुद्धियोंके समुदाय या बुद्धिके अपत्यका कार्य ऐसा अबुद्धिपूर्वक नहीं हो सकता है। चार्वाकके समान वह बहिर्भूत समझा जायगा।

चार्वाकोपि ह्येवं प्रमाणद्वयमिच्छत्येव प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमगौणत्वात् प्रमाणस्येति वचनादनुमानस्य गौणप्रामाण्यानिराकरणात् ।

इस प्रकार तो चार्वाक भी दो प्रमाणोंको चाहता ही है । अपने पुरुषाओंकी धारा, भीतका परलाभाग, जलमें प्यासके निराकरणकी शक्ति, सूर्यगमन आदिके लौकिक अनुमान सबको मानने पडते हैं । चार्वाकका कहना है कि प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है । क्योंकि प्रमाण अगौण होता है । प्रत्यक्षकी सहायतासे होनेवाले अनुमानको प्रमाणपना माननेसे गौणको प्रमाणपना आता है । इस कथनसे चार्वाकने अनुमानको गौणप्रमाणपनका निराकरण नहीं किया है । और उसी प्रकार बौद्ध कह रहे हैं, तब तो वे बौद्ध चार्वाक ही हो गये । दोनोंकी मुख्यरूपसे एक प्रमाण माननेमें कोई विशेषता न रही ।

तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम् ।
प्रमाणमिति योप्याह सोप्येतेन निराकृतः ॥ ७२ ॥
गृहीतग्रहणाभेदादनुमानादि संविदः ।
प्रत्यभिज्ञाननिर्णीतनित्यशब्दादिवस्तुषु ॥ ७३ ॥

सामान्यरूपसे प्रमाणके लक्षणको वखाननेवाले इस प्रकरणमे जो भी वादी इस प्रकार कह रहा है कि पहिले नहीं निश्चित किये हुये अपूर्व अर्थका बाधाओंसे रहित और निश्चयात्मक विज्ञान होना प्रमाण है, वह मीमासक भी इस कथनसे निराकृत कर दिया गया समझ लेना चाहिये। अर्थात्—बौद्धोंके अज्ञात अर्थको प्रकाश करनेवाले प्रमाणके समान मीमासकोंका सर्वथा अपूर्व अर्थको जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है, यह सिद्धान्त भी अनुमानको प्रमाणपना न वन सकनेके कारण खण्डनीय है । अनुमान, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, आदि सम्वितियोंको गृहीतका ग्रहण करनापन अभिन्न (एकसा) है । यह वही शब्द है । यह वही आत्मा है । इस प्रकारके प्रत्यभिज्ञान द्वारा निर्णीत किये गये शब्द, आत्मा आदि नित्य वस्तुओंमें अनुमान आदिकी प्रवृत्ति हो रही है । अत. कथञ्चित् गृहीतग्राहीको भी प्रमाण माननेमें कोई क्षति नहीं है ।

न प्रत्यभिज्ञाननिर्णीतेषु नित्येषु शब्दात्मादिष्वर्थेष्वनुमानादिसंविदः प्रवर्तते पिष्टपेषणवद्वैयर्थ्यादनवस्थाप्रसंगाच्च ततो न गृहीतग्रहणमित्ययुक्तं, दर्शनस्य परार्थत्वादित्यादि शब्दनित्यत्वसाधनस्याभ्युपगमात् ।

मीमासक कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञानसे निश्चित किये गये शब्द, आत्मा आदि नित्य अर्थोंमें अनुमान आदि सम्वितिया नहीं प्रवर्तती हैं । क्योंकि यों तो पिसे हुयेको पीसनेके समान जाने हुयेको जानना व्यर्थ पडता है । तथा जाने हुयेको जानना और फिर जाने हुयेको तिवारा जानना

इत्यादि ढंगसे अनवस्था दोषका भी प्रसंग है। तिस कारण अनुमान आदि सम्वित्तियोंको गृहीतका ग्राहकपना नहीं हैं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार मीमांसकोंका कहना अयुक्त है। क्योंकि स्वयं मीमांसकोंने दर्शन यानी शब्दको परार्थ माना है। " दर्शनस्य परार्थत्वात् " इत्यादि ग्रन्थ करके शब्दके नित्यपनकी सिद्धि होना स्वीकार किया है। भावार्थ—आप्तवाक्य, कोष, व्याकरण, उपमान, व्यवहार, वाक्यशेष आदि हेतुओंसे शब्दका वाच्य अर्थके साथ जो संकेत ग्रहण किया है, वह संकेत ग्रहण अपने लिये उसी समय तो उपयोगी है नहीं। क्योंकि उस संकेत करते समय तो पदार्थका प्रत्यक्ष ही हो रहा है। किन्तु पश्चात् कालमें शब्दको सुनकर अर्थज्ञान करानेमें उसकी सफलता हो सकती है। यह तभी हो सकता है, जब कि संकेतकालका शब्द पीछे व्यवहारकालतक स्थिर रहे। अन्यथा संकेत किसी भी शब्दमें किया था और व्यवहार कालमें दूसरा ही न्यारा शब्द सुना जारहा है। ऐसी दशामें उसी शब्दसे वाच्यअर्थकी प्रतिपत्ति नहीं हो सकेगी। दूसरी बात यह है कि वक्ता (प्रतिपादयिता) स्वयं अपने हितार्थ तो शब्दोंको बोलता नहीं है। हां, कोई संगीत गाने वाला अपने लिये भी आनन्द प्राप्त करनेके लिये शब्द बोलता है। किन्तु वहां वाच्यअर्थकी प्रतिपत्ति उतनी इष्ट नहीं है। उस समय केवल शब्दका श्रावणप्रत्यक्ष अभिप्रेत हो रहा है। वस्तुतः अर्थकी प्रतिपत्ति करानेके लिये शब्दका उच्चारण करना दूसरे श्रोताओंके लिये ही उपयोगी है। वक्ताके मुख प्रदेशसे लेकर श्रोताके कानोंतक वह एक ही शब्द माना जावेगा तब तो शिष्यको यह प्रतिपत्ति हो सकती है कि जो गुरुजीने कहा है, उसीको मैं सुनरहा हूं। किन्तु यदि बौद्धोंके समान एक क्षण स्थायी और वैशेषिकोंके समान केवल दो क्षणस्थायी ही शब्द माना जायगा तो गुरुके कहे हुये शब्दके सदृश उपज रहे अन्य शब्दको मैं सुनरहा हूं, ऐसी प्रतीति होनेका प्रसंग होगा। अतः सिद्ध है कि संकेतकाल और व्यवहारकालमें व्यापक अथवा वक्ता और श्रोताके उच्चारण और सुननेतक तथा उससे भी पहिले पीछे कालान्तरतक स्थायी शब्द नित्य है। इस प्रकार मीमांसकोंने प्रत्यभिज्ञान द्वारा शब्दके नित्यत्वको जान चुकनेपर पुनः शब्द दूसरोंके लिये होता है, इस साधनसे अनुमानद्वारा शब्दकी नित्यता सिद्ध की है। इस प्रकार गृहीतग्राही अनुमानको प्रमाण भी इष्ट किया है। व्याप्तिज्ञानसे जाने जाचुके विषयमें ही अनुमानज्ञान प्रवर्तते हैं। इस कारण भी सभी अनुमान कथञ्चित् गृहीतग्राहक हैं।

तत एव तत्साधनं न पुनः प्रत्यभिज्ञानादित्यसारं, नित्यः शब्दः प्रत्यभिज्ञायमानत्वादित्यत्र हेत्वसिद्धिप्रसंगात्। प्रत्यभिज्ञायमानत्वं हि हेतुः तदा सिद्धः स्याद्यदा सर्वेषु प्रत्यभिज्ञानं प्रवर्तेत तच्च प्रवर्तमानं शब्दनित्यत्वे प्रवर्तते न शब्दरूपमात्रे प्रत्यक्षत्ववदनेकांतार्थप्रसंगात्।

यदि मीमांसक मुकर जाकर यों कहें कि उस अनुमानसे ही शब्दकी नित्यता साधी जायगी, हम फिर प्रत्यभिज्ञानसे शब्दकी नित्यताको नहीं साधेंगे, अर्थात्—किसी शब्दमें प्रत्यभिज्ञानसे और

अन्य शब्दमें अनुमानसे नित्यता साध ली जावेगी। एक ही शब्दमें दो प्रमाणोंसे नित्यताको साधनेका व्यर्थ परिश्रम नहीं उठावेंगे। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार मीमांसकोंका कहना निःसार है। क्योंकि शब्द (पक्ष) नित्य है (साध्य)। प्रत्यभिज्ञानका विषय होनेसे (हेतु)। इस अनुमानमें दिये गये हेतुकी असिद्धिका प्रसंग है। यानी अनुमानके अंग हेतुके शरीरमें प्रत्यभिज्ञायमानत्व घुसा हुआ है। यदि अनुमानसे जानने योग्य शब्दनित्यत्वमें प्रत्यभिज्ञानका विषयपना माना जायगा तो प्रत्यभिज्ञायमानत्व हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास हो जायगा। कारण कि प्रत्यभिज्ञायमानपना हेतु तब सिद्ध हो सकेगा जब कि सम्पूर्ण शब्दोंमें प्रत्यभिज्ञान प्रवर्तेगा और प्रवर्तता हुआ शब्दके नित्यपनेमें प्रवृत्ति करे, केवल शब्दके स्वरूपमें प्रत्यक्षपनके समान यदि प्रत्यभिज्ञान विषयपन रह जायगा तब तो मीमांसकोंको अनेक धर्मवाले अर्थकी सिद्धिका प्रसंग हो जाता है। अतः प्रत्यभिज्ञानसे जान लिये गये नित्यत्वको अनुमान द्वारा जाना है, इस कारण सर्वथा अपूर्व अर्थका विज्ञान करना यह प्रमाणका निर्दोष लक्षण नहीं बन सकता है। इसमें अव्याप्ति दोष आता है।

यदि पुनः प्रत्यभिज्ञानान्नित्यशब्दादिसिद्धावपि कुतश्चित्तत्समारोपस्य प्रसूतेस्तद्व्यवच्छेदार्थमनुमानं न पूर्वार्थमिति मतं सदा स्मृतितर्कादेरपि पूर्वार्थत्वं मा भूत् तत एव। तथा च स्वाभिमतप्रमाणसंख्याव्याघातः। कथं वा प्रत्यभिज्ञानं गृहीतग्राहि प्रमाणमिष्टं तद्धि प्रत्यक्षमेव वा ततोऽन्यदेव वा प्रमाणं स्यात्।

यदि फिर मीमांसक यों कहें कि प्रत्यभिज्ञानसे शब्द, आत्मा, आदिके नित्यत्वकी यद्यपि सिद्धि होगयी है। किन्तु फिर भी किसी कारणसे अज्ञान, संशय आदि समारोपकी उत्पत्ति हो जाती है। इस कारण उस समारोपके निवारणार्थ प्रवर्त्त हुआ अनुमान प्रमाण अपूर्वार्थ ही है। पूर्वार्थग्राही नहीं है। जैनोंने भी तो " दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक् " माना है। देख लिया गया भी पदार्थ मध्यमें समारोप हो जानेसे अपूर्वार्थके सदृश है। इस प्रकार मीमांसकोंका मन्तव्य होय तब तो स्मृति, व्याप्तिज्ञान, स्वार्थानुमान आदिको भी तिस ही कारण पूर्वगृहीत अर्थका ग्राहकपना मत (नहीं) होवे। स्मृति आदिक भी तो अस्मरण आदि समारोपके दूर करनेके लिये अवतीर्ण हुये हैं। और तिस प्रकार माननेपर मीमांसकोंको अपनी मानी गयी पांच या छह प्रमाणोंकी संख्याका व्याघात होना प्राप्त होता है। अर्थात्—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शाब्द, अर्थापत्ति और अभाव इन छह प्रमाणोंमें अन्तर्भाव नहीं हो सकनेके कारण स्मृति, व्याप्तिज्ञान आदिको भिन्न प्रमाण माननेपर प्रमाणोंकी अभीष्ट संख्याका व्याघात हो जाता है। तथा आप मीमांसकोंने गृहीतका ग्रहण करने वाले प्रत्यभिज्ञानको भला प्रमाण कैसे मान लिया है ? बताओ। आपके माने गये पांच या छह प्रमाणोंमेंसे वह प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्षप्रमाणरूप ही तो होगा अथवा उस प्रत्यक्षसे भिन्न ही कोई दूसरा प्रमाणरूप प्रत्यभिज्ञान माना जावेगा ? आप निर्णय कीजिये।

प्रत्यक्षं प्रत्यभिज्ञा चेद्गृहीतग्रहणं भवेत् ।
ततोन्यच्चेत्तथाप्येवं प्रमाणांतरता च ते ॥ ७४ ॥

यदि प्रत्यभिज्ञानको प्रत्यक्षप्रमाण माना जायगा तो वह गृहीतका ग्राही ही होगा। पहिलेके प्रत्यक्षको तो प्रत्यभिज्ञान मानोगे नहीं, किन्तु पूर्व पूर्वमें देखे हुये पदार्थका स्मरण कर उससे सहकृत हुई इन्द्रिया आपके यहा प्रत्यभिज्ञानरूप प्रत्यक्षको उत्पन्न करेंगी, ऐसी दशामें वह प्रत्यभिज्ञान गृहीतका ग्राही ही सिद्ध हुआ। तथा यदि उस प्रत्यक्षसे अन्यज्ञानको प्रत्यभिज्ञान मानोगे तो भी इस प्रकार तुम्हारे मतमें इष्ट प्रमाणोंसे अतिरिक्त अन्य प्रमाणको माननेका प्रसंग होवेगा। यह इष्ट प्रमाण-संख्याका व्याघात प्राप्त हुआ।

न ह्यननुभूतार्थे प्रत्यभिज्ञा सर्वथातिप्रसंगात् । नाप्यस्मर्यमाणे यतो ग्रहीतग्राहिणी न भवेत् ।

पहिले सर्वथा नहीं अनुभव किये गये अर्थमें तो प्रत्यभिज्ञान नहीं प्रवर्त्तता है। क्यों कि अतिप्रसंग हो जायगा। यानी नवीन पदार्थोंको देखकर भी सदा प्रत्यभिज्ञान होते रहेंगे। और नहीं स्मरण किये जा रहे अर्थमें भी प्रत्यभिज्ञान नहीं प्रवर्तता है। जिससे कि प्रत्यभिज्ञान गृहीतग्राही न होता। भावार्थ—अनुभव और स्मरणसे जान लिये गये अर्थमें प्रत्यभिज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। अतः वह गृहीतग्राही ही है।

प्रत्यक्षेणाग्रहीतेर्थे प्रत्यभिज्ञा प्रवर्तते ।
पूर्वोत्तरविवर्त्तैकग्राह्याचेन्नाक्षजत्वतः ॥ ७५ ॥

यदि मीमासक भट्ट यों कहें कि पूर्वपर्यायें और उत्तरपर्यायमें रहनेवाले एकपनका ग्रहण प्रत्यभिज्ञान करता है। उस एकपनको प्रत्यक्ष और स्मरणने नहीं जान पाया है। अतः प्रत्यक्षसे अग्रहीत अर्थमें प्रत्यभिज्ञा प्रवर्त्त रही है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्यों कि तुम्हारे मतमें प्रत्यभिज्ञानको इन्द्रियोंसे जन्यपना अभीष्ट किया है। जो इन्द्रियोंके साथ अन्वयव्यतिरेक रखता है। वह इन्द्रियजन्य ही मानना चाहिये। किन्तु इन्द्रियोंकी उस एकत्वमें प्रवृत्ति नहीं है।

पूर्वोत्तरावस्थयोर्यद्व्यापकमेकत्वं तत्र प्रत्यभिज्ञा प्रवर्तते न प्रत्यक्षेण परिच्छिन्नेवस्थामात्रे स्मर्यमाणेनुभूयमाने वा ततो न ग्रहीतग्राहिणी चेत् तद् नेन्द्रियजत्वात्तस्याः कथमन्यथा प्रत्यक्षेंतर्भावः । न चेंद्रियं पूर्वोत्तरावस्थयोरतीतवर्तमानयोः वर्तमाने तदेकत्वे प्रवर्तितुं समर्थं वर्तमानार्थग्राहित्वात् संवद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिभिरिति वचनात् ।

पूर्वपक्षी कहता है कि पूर्व अवस्था और उत्तर अवस्थामें जो एकपना व्याप रहा है, उस एकत्वमें प्रत्यभिज्ञा प्रवर्तती है। किन्तु प्रत्यक्षसे जान ली गयी, अनुभवमें आ रही, केवल वर्तमान अवस्थामें अथवा स्मरण की जा रही, जानी जा चुकी केवल पूर्व अवस्थामें तो प्रत्यभिज्ञा नहीं प्रवर्तती

है । तिस कारण वह गृहीत विषयको ग्रहण करनेवाली नहीं है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कहो सो तो ठीक नहीं है । क्योंकि वह प्रत्यभिज्ञा तुमने इन्द्रियोंसे जन्य मानी है । अन्यथा यानी प्रत्यभिज्ञानको इन्द्रियोंसे जन्य नहीं माना जायगा तो प्रत्यक्षमें उसका अन्तर्भाव कैसे किया जा सकेगा ? इन्द्रिया तो व्यतीत हो चुकी पहिली अवस्था और वर्तमान हो रही उत्तर अवस्थामें वर्त्त रहे उस एकत्वमें प्रवृत्ति करनेके लिये समर्थ नहीं हैं । क्योंकि इंद्रियोंका स्वभाव वर्तमान कालके अर्थको ग्रहण करनेका है । तुम्हारे ग्रन्थोंमें ऐसा कथन है कि सम्बद्ध हुये और वर्तमान कालके अर्थोंका चक्षु आदि इन्द्रियोंकरके ग्रहण किया जाता है । ऐसी दशामें एकत्वको जाननेवाली प्रत्यभिज्ञा भला इन्द्रियोंसे कैसे उपज सकेगी ? तुम्ही जानो ।

पूर्वोत्तरविवर्ताक्षज्ञानाभ्यां सोपजन्यते ।
तन्मात्रमिति चेत्क्वेयं तद्भिन्नैकत्ववेदिनी ॥ ७६ ॥

पूर्वके विवर्तको जाननेवाला इन्द्रियजन्यज्ञान और उत्तर अवस्थाको जाननेवाला इन्द्रिय जन्यज्ञान इन दो ज्ञानोंसे वह प्रत्यभिज्ञा उत्पन्न होती है, और केवल उस एकत्वको विषय करती है, इस प्रकार कहनेपर तो हम अनुपपत्ति दिखलाते हैं कि ऐसी दशामें यह प्रत्यभिज्ञा उन दोनों विवर्तोंसे भिन्न एकत्वको जाननेवाली कहां हुई ? दो विवर्त्तोंसे एकत्वको अभिन्न माननेपर तो प्रत्यभिज्ञा गृहीतग्राहिणी हो जायगी ।

न हि पूर्वोत्तरावस्थाभ्यां भिन्ने च सर्वथैकत्वे तत्परिच्छेदिभ्यामक्षज्ञानाभ्यां जन्यमानं प्रत्यभिज्ञानं प्रवर्तते स्मरणवत् संतानांतरैकत्ववद्वा ।

पूर्व अवस्था और उत्तर अवस्थासे सर्वथा अभिन्न एकत्वमें उन दोनों अवस्थाओंको जानने वाले दो इन्द्रिय ज्ञानसे उत्पन्न हुआ प्रत्यभिज्ञान नहीं प्रवर्तता है, जैसे कि स्मरणज्ञान विचारा अनुभूतसे सर्वथा भिन्न अर्थमें नहीं प्रवर्तता है, अथवा अन्य जिनदत्त आदि सन्तानोंका एकपना जो कि देवदत्त की बाल्यअवस्था कुमार अवस्थाओंमें रहनेवाले एकत्वसे सर्वथा भिन्न है । उसमें देवदत्तके एकपनको जाननेवाला प्रत्यभिज्ञान जैसे नहीं प्रवर्तता है ।

विवर्ताभ्यामभेदश्चेदेकत्वस्य कथंचन ।
तद्ग्राहिण्याः कथं न स्यात्पूर्वार्थत्वं स्मृतेरिव ॥ ७७ ॥

पूर्व और उत्तर दोनों विवर्तोंसे एकत्वका कथंचित् अभेद माना जायगा तो उस एकत्वको ग्रहण करनेवाली प्रत्यभिज्ञाको स्मृतिके समान पूर्वगृहीत अर्थका ग्राहीपना क्यों नहीं होगा ? अर्थात् स्मृति जैसे पूर्व अर्थको ग्रहण करती है, वैसे ही पूर्व, उत्तरकी पर्यायोंसे अभिन्न एकत्वको जानने वाला प्रत्यभिज्ञान भी पूर्व अर्थका ग्राही है । सर्वथा अपूर्व अर्थका नहीं है ।

यद्यवस्थाभ्यामेकत्वस्य कथंचिद्भेदात्तद्ग्राहींद्रियज्ञानाभ्यां जनितायाः प्रत्यभिज्ञाया ग्रहणं न विरुध्यते सर्वथा भेदे तद्विरोधादिति मतिस्तदास्याः कथं पूर्वार्थत्वं न स्यात् स्मृतिवत् । कथंचित्पूर्वार्थत्वे वा सर्वं प्रमाणं नैकांतेनापूर्वार्थं तद्वदेव च तत्रापूर्वार्थविज्ञानं प्रमाणमित्यसंबंधं ।

पहिली पीछी दो अवस्थाओंसे एकत्वका कथंचित् अभेद होनेके कारण उन पूर्व अपर अवस्थाओंके ग्रहण करनेवाले दो इंद्रियजन्य ज्ञानोंसे उत्पन्न हुई प्रत्यभिज्ञाका ग्रहण करना विरुद्ध नहीं होता है । हां, दोनों अवस्थाओंसे एकत्वका सर्वथा भेद होनेपर तो उसका विरोध है । यदि आप मीमांसकोंका मन्तव्य है, तब तो इस प्रत्यभिज्ञाको स्मृतिज्ञानके समान पूर्वगृहीत अर्थका ग्राहीपना क्यों नहीं होगा ? यानी पूर्वविवर्त और उत्तरविवर्तको दो ज्ञानोंसे जाना जा चुका है और दोनों विवर्तोंसे अभिन्न एकत्वका प्रत्यभिज्ञा जान रही है, तब तो प्रत्यभिज्ञानने गृहीत अर्थको ही जाना । यदि कथंचित् पूर्वमें गृहीत अर्थको ग्रहण करना भी माना जायगा तो सभी प्रमाण एकान्तसे अपूर्व अर्थको ही जाननेवाले नहीं हुये, जैसे कि वे प्रत्यभिज्ञान या स्मरण अपूर्व अर्थके ग्राही नहीं हैं और इस प्रकार " तत्रापूर्वार्थविज्ञानं " इस कारिकाद्वारा जो सर्वथा अपूर्व अर्थके ग्राहक ज्ञानको प्रमाण कह रहा है, उसका यह कहना असम्बद्ध है । पूर्वापरविरुद्ध है।

एतेनानुमानमेव प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणांतरमेव चेति प्रत्याख्यातं, सर्वथाप्यपूर्वार्थत्वनिराकृतेः सर्वप्रमाणानां, प्रमाणांतरासिद्धिप्रसंगाच्च ।

प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षप्रमाण नहीं है, यह उक्त कथनसे सिद्ध कर दिया है । इस कथनसे अनुमान प्रमाणरूप ही प्रत्यभिज्ञान है । अथवा आगम, अर्थापत्तिस्वरूप दूसरे प्रमाणरूप प्रत्यभिज्ञान है, यह भी खण्डित हो गया समझ लेना चाहिये । क्योंकि सभी प्रमाणोंको सभी प्रकारोंसे अपूर्व अर्थके ग्राहकपनका निराकरण कर दिया है और अन्य प्रमाणोंकी असिद्धि होनेका प्रसंग है । भावार्थ—प्रत्यक्षके अतिरिक्त प्रायः सभी प्रमाण कथंचित् ज्ञात हुए पूर्व अर्थको जानते हैं । अतः सर्वथा अपूर्व अर्थके ग्राहक ही ज्ञानको प्रमाण माननेपर अन्य प्रमाणोंकी सिद्धि नहीं हो सकेगी । श्वेताम्बरसम्प्रदायने प्रमाणके लक्षणमेंसे अपूर्वार्थ शब्द निकाल दिया है । उनका विचार है कि अनेक ज्ञान अपूर्व अर्थोंको ही जानते हैं । यों प्रतिक्षण नवीन नवीन परिणमे हुये पर्यायोंकी अपेक्षा विचारा जाय तो सभी ज्ञान अपूर्व अर्थको जानते हैं । केवलज्ञानके अपूर्व अर्थके ग्राहीपनका साधन भी यों अच्छा हो सकेगा । व्यर्थ अपूर्वार्थ विशेषण देनेसे कोई लाभ नहीं है । अतः " स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं " यह लक्षण प्रशस्त है । इसपर हम दैगम्बरोंका यह कहना है कि पूर्वार्थग्राही ज्ञानको प्रमाण माननेपर धारावाहिक ज्ञानको प्रमाणता आ जावेगी । यद्यपि उत्तर उत्तर क्षणवर्त्ती पर्यायें न्यारी न्यारी हैं । किन्तु वे सूक्ष्मपर्यायें तो हमारे ज्ञानमें नहीं झलक पाती हैं । जैसा विषय होय ठीक वैसा ही ज्ञान होय, यह कोई नियम नहीं है । अप्रमाण ज्ञान अन्यथा भी हो जाते हैं । अतः घट है,

घट है, घट है, केवल इतना ही हो रहा धारावाहिक ज्ञान भी प्रमाण हो जाना चाहिये। श्वेताम्बरोंके द्वितीय कथनसे कि सभी पर्यायें पर्यायार्थिकनयसे अपूर्व ही हैं, तो अपूर्व अर्थका ग्राहकपना प्रमाणमें भले प्रकार पुष्ट हो जाता है। अतः "स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञान प्रमाण" यह लक्षण ठीक है। केवलज्ञानमें भूत, भविष्यत्, वर्तमान कालवर्ती समयोंकी विशिष्टतासे अपूर्वार्थग्राहीपना बन जाता है। सर्वज्ञदेव दूसरे समयोंमें भूतको चिरभूत समझते हैं। भविष्यको वर्तमान समझते हैं। और चिर भविष्यको भविष्य जानते हैं। एक एक समयकी अपेक्षासे पर्यायोंमें सूक्ष्म विशेषताएं जानी जा रही हैं। अतः केवलज्ञान भी कथंचित् अपूर्व अर्थका ग्राहक है। वर्तनेमें आ रहे प्रमाणका अपूर्वार्थ विशेषण तो स्वरूपनिरूपणमें तत्पर है।

तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता।
लक्षणेन गतार्थत्वाद्व्यर्थमन्यद्विशेषणम् ॥ ७८ ॥
गृहीतमगृहीतं वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति।
तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम् ॥ ७९ ॥

तिस कारण स्व और अर्थका व्यवसाय करनास्वरूप ज्ञान प्रमाण है, इस प्रकार इतने ही लक्षणसे सर्व प्रयोजन प्राप्त हो जाता है। अन्य सर्वथा अपूर्व अर्थका ग्राहकपन, बाधवर्जितपना, लोकसम्मतपना, आदि विशेषण व्यर्थ हैं। जो ज्ञान ग्रहण किये जा चुके अथवा नहीं गृहीत हुये भी अपने और अर्थको यदि निश्चय करता है, तो वह ज्ञान लोकमें और शास्त्रोंमें भी प्रमाणपनेको नहीं छोडता है। भावार्थ—स्व और अर्थके विषयमें पडे हुये अज्ञान आदि समारोपको जो ज्ञान स्वार्थ निश्चय द्वारा निवृत्त करता है, वह ज्ञान प्रमाण है। धारावाहिक ज्ञानोंसे अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हो पाती है। अतः श्री माणिक्यनन्दी आचार्य द्वारा कहा गया अपूर्वार्थ विशेषण केवल स्वरूपके निरूपण करनेमें तत्पर है। धारावाहिक ज्ञानकी व्यावृत्ति करना भी उसका फल है। वह अपूर्वार्थविशेषण कहीं मूल लक्षणमें डाल दिया है। क्वचित् व्याख्यान करनेसे लब्ध हो जाता है।

बाधवर्जितताप्येषा नापरा स्वार्थनिश्चयात्।
स च प्रबाध्यते नेति व्याघातान्मुग्धभाषितम् ॥ ८० ॥
बाधकोदयतः पूर्वं वर्तते स्वार्थनिश्चयः।
तस्योदये तु बाध्येतेत्येतदप्यविचारितम् ॥ ८१ ॥
अप्रमाणादपि ज्ञानात्प्रवृत्तेरनुषंगतः।
बाधकोद्भूतितः पूर्वं प्रमाणं विफलं ततः ॥ ८२ ॥

"तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितं । अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्"
इस प्रमाण लक्षणमें मीमांसकोंने जो बाधवर्जितपना प्रमाणके लक्षणमें डाला है, सो यह बाधवर्जितपना भी स्व और अर्थके निश्चयसे कोई भिन्न नहीं है। जब स्व और अर्थका निश्चय हो गया है, तो वह फिर किसी भी प्रमाणसे बाधा नहीं जासकता है। वह स्वार्थ निश्चय हो जाय और किसीके द्वारा वह प्रकृष्ट रूपसे बाधा जाय इसमें तो व्याघात दोष है। जो बाधित है, वह स्वार्थ निश्चय नहीं है। और जो स्वार्थनिश्चय आत्मक ज्ञान है, वह बाधित नहीं है। अतः स्वार्थनिश्चयमें भी व्यभिचारनिवारणार्थ बाधारहितपना लगाना भोले जीवोंका व्यर्थ भाषण है। यदि कोई यों कहे कि बाधक प्रमाणके उदयसे पहिले स्व और अर्थका निश्चय है, हां, पीछे उस बाधकका उदय होने पर तो स्वार्थनिश्चय बाधित हो जाता है, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कहना भी विना विचार किये हुये है। क्योंकि यों तो अप्रमाणज्ञानसे भी प्रवृत्ति होनेका प्रसंग होगा। क्योंकि प्रवृत्ति हो चुकनेपर बाधकके उदय होनेसे पहिला ज्ञान बाध्य होगा। तिस कारण बाधकके उत्पन्न होनेसे पहिले प्रमाण व्यर्थ पडा।

बाधकाभावविज्ञानात्प्रमाणत्वस्य निश्चये ।
प्रवृत्त्यंगे तदेव स्यात्प्रतिपत्तुः प्रवर्तकम् ॥ ८३ ॥
तस्यापि च प्रमाणत्वं बाधकाभाववेदनात् ।
परस्मादित्यवस्थानं क नामैवं लभेमहि ॥ ८४ ॥

यदि मीमांसक यों कहें कि पीछे हुये बाधकाभावके विज्ञानसे प्रमाणपनका निश्चय कर चुकनेको प्रवृत्तिका अंग माना जायगा, तब तो हम स्याद्वादी कहते हैं कि वह बाधकाभावका ज्ञान ही प्रतिपत्ताको प्रवर्तक हो जावे। दूसरी बात यह है कि उस बाधकाभावके विज्ञानको प्रमाणपना दूसरे बाधकाभाव ज्ञानसे निश्चित होगा और दूसरेका प्रमाणपना तीसरे बाधकाभाव ज्ञानसे ज्ञात होगा, इस प्रकार भला हम कहां अवस्थितिको प्राप्त कर सकेंगे। अनवस्था दोष हो जायगा।

बाधकाभावबोधस्य स्वार्थनिर्णीतिरेव चेत् ।
बाधकांतरशून्यत्वनिर्णीतिः प्रथमेत्र सा ॥ ८५ ॥

यदि मीमांसक यों कहें कि दूसरे बाधकाभाव ज्ञानका स्वार्थनिर्णय करना ही अन्य बाधकोंकी शून्यताका निर्णय करना है। अतः तीसरे चौथे आदि बाधकाभावोंके ज्ञानोंकी आकांक्षा नहीं बढेगी, अनवस्था दोष नहीं लागू होगा, इसपर तो हमारा कहना है कि तो इस पहिले ज्ञानमें भी स्वतंत्र बाधकाभाव ज्ञान क्यों माना जाता है। प्रथमज्ञान द्वारा स्व और अर्थका निर्णय करना ही बाधकाभावोंका निर्णय करना है। अतः प्रमाणके लक्षणमें बाधकाभाव विशेषणका पुंछल्ला लगाना व्यर्थ है।

संप्रत्ययो यथा यत्र तथा तत्रास्त्वितीरणे ।
बाधकाभावविज्ञानपरित्यागः समागतः ॥ ८६ ॥

यदि मीमांसक यों कहें कि जिस प्रकार जहां भले प्रकार निर्णय हो जाय तिस प्रकार तहां तैसी व्यवस्था कर लो। रात्रिमें घटका प्रकाश हम तुमको दीपक द्वारा साध्य है। दीपक स्वयं प्रकाशमान है। इस प्रकार कहनेपर तो बाधकाभावके विज्ञानका परित्याग करना अच्छे ढंगसे प्राप्त हो जाता है। यानी स्व और अर्थका निर्णय हो जाना बाधकाभावका आग्रह छोडनेपर बन जाता है। जहां स्वार्थका निश्चय है, वहां कोई भी बाधक फटकने नहीं पाता है। प्रमाणज्ञान होनेपर सभी बाधकज्ञान स्वतः भग जाते हैं। व्यभिचार दोषोंकी निवृत्ति करनेवाला विशेषण ही सार्थक माना गया है।

यच्चार्थवेदने बाधाभावज्ञानं तदेव नः ।
स्यादर्थसाधनं बाधसद्भावज्ञानमन्यथा ॥ ८७ ॥

जो ही अर्थको जाननेमें मीमांसकोंने बाधकोंके अभावका ज्ञान माना है, वही हम स्याद्वादियोंके यहां अर्थको साधनेवाला ज्ञान माना गया है। और दूसरे प्रकारका यानी स्वार्थको नहीं साधनेवाला ज्ञान तो बाधकोंके सद्भावका ज्ञान है।

तत्र देशांतरादीनि वापेक्ष्य यदि जायते ।
तदा सुनिश्चितं बाधाभावज्ञानं न चान्यथा ॥ ८८ ॥

तिस प्रकरणमें देशान्तर, कालान्तर आदिकी अपेक्षा करके यदि वह ज्ञान उत्पन्न होता है, तब तो बाधकोंके अभावका ज्ञान अच्छा निश्चित हो सकता है। अन्यथा निश्चित नहीं है। भावार्थ—सभी देश और सभी कालोंमें बाधकोंके नहीं उत्पन्न होनेका यदि निर्णय होय तब तो बाधकाभाव ज्ञान प्रमाणताका हेतु हो सकता है। केवल कभी, कहीं, और किसी एक व्यक्तिको बाधकोंका अभाव तो मिथ्याज्ञानोंके होनेपर भी है। इतनेसे क्या वे प्रमाण हो जायंगे ? सब स्थानोंपर सब कालोंमें सम्पूर्ण पुरुषोंको बाधक उत्पन्न नहीं होवेंगे इसका निर्णय भला असर्वज्ञ कैसे कर सकता है ? अतः बाधवर्जितपना विशेषण लगाना प्रमाणोंमें अनुचित है। लक्षण ऐसा कहो जो कि सर्व दोषोंका निराकरण करता हुआ बहुत छोटा हो। काव्यमें दिये गये और न्यायमें कहे गये विशेषणमें अन्तर है।

अदुष्टकारणारब्धमित्येतच्च विशेषणम् ।
प्रमाणस्य न साफल्यं प्रयात्यव्यभिचारतः ॥ ८९ ॥

दुष्टकारणजन्यस्य स्वार्थनिर्णीत्यसंभवात् ।
सर्वस्य वेदनस्येत्थं तत एवानुमानतः ॥ ९० ॥
स्वार्थनिश्चायकत्वेनादुष्टकारणजन्यता ।
तथा च तत्त्वमित्येतत्परस्परसमाश्रितम् ॥ ९१ ॥

प्रमाणके सामान्य लक्षणमें दिया गया निर्दोष कारणोंसे जन्यपना इस प्रकार यह प्रमाणका विशेषण भी व्यभिचाररहितपनेसे सफलताको प्राप्त नहीं हो सकता है । जो ज्ञान दुष्ट कारणोंसे जन्य है, उसके द्वारा स्व और अर्थका निर्णय होना ही असम्भव है । अतः प्रमाणका लक्षण स्वार्थ निश्चय ही पर्याप्त है । अधिककी आवश्यकता नहीं । दूसरी बात यह है कि अनेक भ्रान्त ज्ञानोंके जनक कारणोंको भी लोक निर्दोष समझ बैठे हैं । तिस ही कारण अनुमानसे भी इस प्रकार सम्पूर्ण ज्ञानोंकी निर्दोषकारणोंसे उत्पत्ति होनेको नहीं जान सकते हैं । क्योंकि उस अनुमानकी भी निर्दोष कारणोंसे उत्पत्तिको जानना कठिन है । व्याप्तिज्ञानकी निर्दोषताका परिज्ञान ततोपि कठिन है । यदि स्व और अर्थका निश्चय कारकपनसे ज्ञानकी निर्दोष कारणोंसे उत्पन्नता जानी जाय और निर्दोष कारणोंसे उत्पत्ति होनेका कारण वह स्वार्थनिश्चायकपना माना जाय, तिस प्रकार होनेपर तो यह अन्योन्याश्रय दोष हुआ चक्षु आदिक अतीन्द्रिय इन्द्रियोंकी निर्दोषता जानना कठिन विषय है । बाहरसे तो कहीं कहीं निर्दोषचक्षु भी सदोषसदृश दीखती है । और दूषित भी चक्षु निर्दोष दीख जाती है । भिन्न भिन्न दार्शनिकोंने सत्त्व हेतुसे क्षणिकत्व, नित्यत्व, कथंचित् नित्यपन, कारण रहितपना, कारणसहितपना, आदि साध्योंकी सिद्धि करली है । सभी बौद्ध, सांख्य, जैन, अद्वैतवादी आदिने सत्त्व हेतुकी अपने अभीष्ट साध्यके साथ व्याप्ति मान रक्खी है । अविनाभावविकलता दोषसे रहित सत्त्व हेतु है । तथा कामधेनुके समान यथेष्ट अर्थको कहने वाले वैदिक शब्दोंसे भी कर्मकाण्डी, ब्रह्मवादी, हिंसापोषक, हिंसानिषेधक विद्वानोंने अपने मनोवाञ्छित वाच्य अर्थका प्रतिपादन होना मान लिया है । वे सब अपने अपने शाब्दबोधके कारणोंको निर्दोष मान बैठे हैं । अतः प्रत्यक्ष, अनुमान, शाब्द ज्ञानोंके कारणोंमें दोषोंके अभावका ज्ञान करना विषम समस्या है ।

यदि कारणदोषस्याभावज्ञानं च गम्यते ।
ज्ञानस्यादुष्टहेतूत्था तदा स्यादनवस्थितिः ॥ ९२ ॥
हेतुदोषविहीनत्वज्ञानस्यापि प्रमाणता ।
स्वहेतुदोषशून्यत्वज्ञानात्तस्यापि सा ततः ॥ ९३ ॥
गत्वा सुदूरमेकस्य तदभावेपि मानता ।
यदीष्टा तद्वदेव स्यादाद्यज्ञानस्य सा न किम् ॥ ९४ ॥

तथा मिथ्यावभासित्वादप्रमाणत्वमादितः ।
अर्थयाथात्म्यहेतूत्थगुणज्ञानादपोद्यते ॥ ९८ ॥

जिस प्रकार मीमांसकोंके यहां यह माना गया है कि अर्थके बोध करानेवाले ज्ञानपने करके प्रमाणपना व्यवस्थित हो रहा है । और अर्थके अन्यथापन तथा ज्ञानके कारणोंमें दोषोंका ज्ञान उत्पन्न हो जानेसे उस प्रमाणपनेका अपवाद हो जाता है । भावार्थ—अपवादको टालकर उत्सर्ग विधियां प्रवर्त्तती हैं । सब ज्ञानोंमें स्वतः प्रमाणपना है । किन्तु जहां अर्थके विपरीतपनेका ज्ञान हो जाय ऐसे अवसरपर सीपमें हुये चांदीके ज्ञानमें प्रमाणपना नहीं आसकता है । क्योंकि वहां " नेदम् रजतम् " यह चांदी नहीं है, ऐसा उत्तरकालमें ज्ञान हो गया है । तथा जहां ज्ञानके कारणोंमें दोषोंका ज्ञान उत्पिन हो जाय वह भी प्रमाणपनेका अपवाद मार्ग है । जैसे कि शुक्ल शंखमें हुये पीत शंखके ज्ञानमें उत्सर्ग विधिके अनुसार प्रमाणपना नहीं आपाता है । क्योंकि मेरी आखोंमें पीलिया रोग है । इस प्रकार ज्ञाताको कारणोंमें दोषका ज्ञान उत्पन्न होगया है । अतः दो अपवाद-स्थानोंको टालकर सर्वत्र प्रमाणपना राजमार्गसे स्वयं व्यवस्थित हो रहा है । आचार्य कहते हैं कि मीमांसक लोग जिस प्रकार प्रमाणको औत्सर्गिक राजमार्ग मानकर अप्रमाणपनेको अपवाद मार्ग मानते हैं, उसी प्रकार यह भी कहा जासकता है कि सब ज्ञानोंमें अप्रमाणपना उत्सर्गसे राजमार्ग है । और किन्हीं किन्हीं ज्ञानोंमें प्रमाणपना तो अपवाद मार्ग है । जिस प्रकार मीमांसकोंने प्रमाणपन व्यवस्थित किया था उसी प्रकार सभी ज्ञान मिथ्याप्रकाशक होनेके कारण प्रथमसे अप्रमाणरूप ही व्यवस्थित हो रहे हैं, यह कहा जा सकता है । हां, अर्थके यथात्मकपनेसे और हेतुओंमें उत्पन्न हुये गुणोंके ज्ञानसे उस अप्रमाणपनका अपवाद हो जाता है । भावार्थ—सभी ज्ञान प्रथमसे स्वयं अप्रमाणरूप हैं । किन्तु घट ही में हुये घटज्ञानकी यथार्थता जान लेनेपर अप्रमाणपनेको टालकर घटज्ञानमें प्रमाणपना अन्य नवीन कारणोंसे पैदा हो जाता है । तथा गुणयुक्त निर्मल चक्षु आदिसे उत्पन्न हुयेपनका पुस्तक आदिके ज्ञानोंमें निर्णय हो जानेसे उस अप्रमाणपनका अपवाद हो जाता है । अत. अर्थका यथार्थपन और गुणयुक्त कारणोंके ज्ञानसे होनेके कारण प्रमाणपना परतः है । नहीं तो सर्वत्र ज्ञानोंमें अप्रमाणपना औत्सर्गिक छाया हुआ है, यह आपादन हुआ । अतः विनिगमना विरहसे दोनों ही प्रमाणपन और अप्रमाणपनको परतः उत्पन्न होना मानना आवश्यक होगा ।

यद्यथार्थान्यथाभावाभावज्ञानं निगद्यते ।
अर्थयाथात्म्यविज्ञानमप्रमाणत्वबाधकम् ॥ ९९ ॥
तथैवास्त्वर्थयाथात्म्याभावज्ञानं स्वतः सताम् ।
अर्थान्यथात्वविज्ञानं प्रमाणत्वापवादकम् ॥ १०० ॥

जिस प्रकार मीमांसक लोग जो अर्थके अन्यथापनके अभावके ज्ञानको ही अर्थके यथार्थपनका विज्ञानरूप कह रहे हैं, और वही अप्रमाणपनका बाधक है। भावार्थ—अर्थका विपरीतपन तो अप्रमाणपनेको उत्पन्न कराता है। और उसका अभाव स्वतः प्रामाण्य उत्पन्न हो जानेका प्रयोजक हो जाता है। अन्यथापनके अभावका ज्ञान कोई न्यारा स्वतंत्र हेतु नहीं है। जिससे कि हुआ प्रमाणपना परसे उत्पन्न हुआ कहा जाय, किन्तु अर्थके विपरीतपनका अभाव जानना ही तो अर्थके यथार्थपनका जानना है। अतः वह अर्थके अन्यथापनसे उत्पन्न होनेवाले अप्रमाणपनका बाधक होकर ज्ञानमें स्वतः प्रमाणपना धर देता है। अप्रमाणपनको टालनेके लिये ही अन्य कारणकी आवश्यकता है। प्रमाणपना तो स्वतः प्राप्त हो जाता है। जैसे कि रोगको दूर करनेके लिये औषधिकी आवश्यकता है। पुनः शरीर प्रकृतिमें चंचलता, स्फूर्त्ति तो स्वयं आ जाती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि उसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि अर्थके यथार्थपनके अभावका ज्ञान ही अर्थके अन्यथापनका विज्ञान है। वह प्रमाणपनेका अपवाद करनेवाला होकर विद्यमान सब ज्ञानोंके स्वतः अप्रमाणपनका व्यवस्थापक हो जाय। न्याय दोनों स्थानोंपर एकसा होना चाहिये। सज्जनताको स्वतः ही गर्भमेंसे ही चली आई मानकर दुर्जनताको बहिरंग कारणोंसे दूसरों द्वारा उत्पन्न हुई माननेवालोंके प्रति यह भी कहा जा सकता है कि दुर्जनता सभी जीवोंके जन्मसे ही अपने आप उत्पन्न हो जाती है। और पीछेसे सत्संग कर गुणोंके सीखनेसे दूसरों द्वारा सज्जनता उत्पन्न हो जाती है, ऐसा कहनेवालोंका मुख नहीं पकडा जा सकता है। अतः सज्जनता और दुर्जनता पीछेसे ही अन्य कारणोंसे उत्पन्न हुई मानना चाहिये। एकको उत्सर्गसे और दूसरीको अपवाद मार्गसे मानना अनुचित है। जल और स्थलमें एकसा बरसनेवाले मेघके समान न्याय एकसा होना चाहिये।

विज्ञानकारणे दोषाभावः प्रज्ञायते गुणः।
यथा तथा गुणाभावो दोषः किं नात्र मन्यते ॥ १०१ ॥
यथा च जातमात्रस्यादुष्टा नेत्रादयः स्वतः।
जात्यंधादेस्तथा दुष्टाः शिष्टैस्ते किं न लक्षिताः ॥ १०२ ॥

प्रामाण्यको स्वतः उत्पन्न कहनेवाले मीमांसक जिस प्रकार यह कहते हैं कि विज्ञानके कारणोंमें जो गुण हैं, वे दोषाभाव स्वरूप हैं। भावार्थ—गुण कोई स्वतंत्र होकर न्यारा हेतु नहीं है। हां, बहिर्भूत कामल, तिमिर आदि स्वतंत्र दोष अवश्य हैं। उन दोषोंसे परतः अप्रामाण्य हो जाता है। किन्तु चक्षुमें जो निर्मलता आदि गुण कहे गये हैं, वे तो चक्षुका स्वरूप (डील) हैं। यानी चक्षुमें कोई दोष नहीं है। ऐसी दशामें प्रमाणपनेको अपवादरहित राजमार्ग प्राप्त हो जाता है। तिसी प्रकार हम जैन भी कह सकते हैं कि अप्रमाणपनेको उत्पन्न करनेवाले दोष कोई

भिन्न स्वतंत्र हेतु नहीं हैं। किन्तु गुणोंके अभावस्वरूप दोष हैं। ऐसी दशामें परतः प्रमाणताको उत्पन्न करानेवाले गुणोंका अन्य कारणों द्वारा निराकरण हो जानेसे स्वतः ही अप्रमाणपन आ जाता है। यहां ऐसा क्यों नहीं माना जाता है? यदि मीमांसकोंका यह विचार होय कि निर्मलता तो चक्षुका शरीर है। हां, कामल, टेंट, मोतियाबिन्द, तमारा आदि ऊपरके भावरूप दोष हैं, तब तो हम भी कहेंगे कि हेतुका अविनाभावरहितपना उसके स्वरूपकी विकलता है। यानी जिस हेतुमें अविनाभाव नहीं है, उस हेतुका अभी शरीर ही नहीं बना है। बिना शरीरके दोष भला कहां रखे जाय, अतः अविनाभाव रहितपनेको दोष नहीं कहना चाहिये। यदि अविनाभाव रहितपनेको हेतुका दोष माना जाय तो मलरहितपनको चक्षुका गुण मानना भी आवश्यक है। तथा जिस प्रकार तत्काल उत्पन्न हुये बच्चेके भी नेत्र, कान, आदिक स्वतः ही अदुष्ट जाने जा रहे हैं। तिसी प्रकार जन्मसे अन्धे पुरुषके नेत्र भी स्वतः ही दुष्ट या निर्गुण हो रहे हैं। इस प्रकार क्या शिष्टों करके नहीं देखे गये हैं? भावार्थ—मीमांसक यदि यों कह दें कि नेत्रोंका स्वकीय शरीर निर्दोष है। किन्तु पीछे कारणोंसे कामल आदि दोष पैदा हो जाते हैं। अतः दोष स्वतंत्र न्यारे भावरूप कारण हैं। उत्पन्न हुये बच्चोंकी आखें निर्दोष होती हैं। किसी किसीके पीछे उनमें दोष आ जाता है। किन्तु इसपर हम यों कह देंगे कि बहुतसे मनुष्य जन्मसे ही अन्धे, बहिरे, तोतले, आदि उत्पन्न होते हैं। पीछेसे किसी किसीकी योग्य चिकित्सा हो जानेपर उनकी इन्द्रियों या अन्य अवयवोंमें गुण उत्पन्न हो जाते हैं। अतः अदुष्टपना या निर्गुणपना किसीका भी निज गांठका स्वरूप नहीं कहा जा सकता है।

धूमादयो यथाग्न्यादीन् विना न स्युः स्वभावतः।
धूमाभासादयस्तद्वत्तैर्विना संत्यबाधिताः॥ १०३॥

मीमांसक जिस प्रकार यह कह सकते हैं कि अग्नि आदिक साध्योंके विना धूम आदिक हेतु स्वभावसे ही नहीं हो सकेंगे। अतः अविनाभावसहितपना धूमहेतुका स्वात्मलाभ है। हेतु शरीरके अतिरिक्त कोई ऊपरी गुण नहीं है। हां, अविनाभावरहितपना तो औपाधिक परभाव है। उस प्रकार हम भी आपादन कर सकते हैं कि धूमसदृश दीखनेवाले धूमाभास आदिक हेत्वाभास भी तो उन अग्निसदृश दीखनेवाले अग्न्याभास आदिके विना नहीं हो सकते हैं। अतः धूमाभास आदिक भी अबाधित होकर स्वभावसे हो स्वतः अप्रमाणपनके व्यवस्थापक हो जाओ। यानी प्रमाणपनके समान अनुमानमें अप्रमाणपनकी भी स्वतः व्यवस्था हो जायगी। कौन रोक सकता है?

यथा शब्दाः स्वतस्तत्त्वप्रत्यायनपरास्तथा।
शब्दाभासास्तथा मिथ्यापदार्थप्रतिपादकाः॥ १०४॥

दुष्टे वक्तरि शब्दस्य दोषस्तत्संप्रतीयते ।
गुणो गुणवतीति स्याद्वक्त्रधीनमिदं द्वयम् ॥ १०५ ॥
यथावक्तृगुणैर्दोषः शब्दानां विनिवर्त्यते ।
तथा गुणोपि तद्दोषैरिति स्पष्टमभीक्ष्यते ॥ १०६ ॥
यथा च वक्त्रभावेन न स्युर्दोषास्तदाश्रयाः ।
तद्वदेव गुणा न स्युर्मेघध्वानादिवद्ध्रुवम् ॥ १०७ ॥

और मीमांसकोंके यहां जिस प्रकार शब्द स्वतः ही अपने वाच्यार्थ तत्त्वोंके सममज्ञानेमें तत्पर हो रहे माने गये हैं, तिसी प्रकार शब्दाभास भी मिथ्यापदार्थोंके स्वतः ही प्रतिपादक हो रहे माने जा सकते हैं। कोई अन्तर नहीं है। अतः आगममें प्रमाणपनके समान कुशास्त्रोंमें अप्रमाणपन भी स्वतः उत्पन्न हो जावेगा, दोषयुक्त वक्ताके होनेपर जैसे शब्दके दोष भले प्रकार प्रतीत हो रहे हैं। तिस ही कारण गुणवान् वक्ताके होनेपर शब्दके गुण भी स्वतंत्र न्यारे अच्छे दीख रहे हैं। इस प्रकार ये गुण, दोष दोनों ही वैसे वैसे वक्ताके अधीन हैं। अतः दोनों स्वतंत्र हैं। सतर्क अवस्थामें गुण और दोषोंका परीक्षण अन्य कारणों द्वारा न्यारा न्यारा प्रतीत हो रहा है। तथा जिस प्रकार समीचीन सत्यवक्ता पुरुषके गुणों करके शब्दोंके दोष निवृत्त हो जाते हैं, और अप्रामाण्यके कारण दोषोंके टल जानेसे आगमज्ञानमें स्वतः प्रामाण्य आजाता है। उसी प्रकार उस झूंठ बकनेवाले वक्ताके दोषोंकरके शब्दके गुण भी निवृत्त हो जाते हैं। ऐसा स्पष्ट चारों ओर देखनेमें आरहा है। अतः प्रामाण्यके कारणपरभूतगुणोंके टलजानेसे वाच्यार्थ ज्ञानमें स्वतः अप्रमाणपना भी आजावेगा। फिर प्रमाणपनकी ही स्वतः उत्पत्तिका आग्रह क्यों किया जारहा है ? अप्रमाणपन भी स्वतः उत्पन्न हो जायगा और जिस प्रकार वेदको अपौरुषेय मानकर स्वतः ही प्रमाणपना बतानेवाले मीमांसक यों कह रहे हैं कि वेदका वक्ता न होनेके कारण उसके आधारपर होने वाले दोष नहीं हो सकेंगे। " न रहेगा बांस और न बजेगी बांसुरी " अतः अप्रमाणपनके कारणों (दोषों) के टल जानेसे स्वतः ही वेदमें प्रमाणपना आजाता है। उसी प्रकार हम भी कह सकते हैं कि मेघशब्द, वात्या (आंधी) के शब्द, समुद्रध्वनि आदिमें वक्ताके न होनेके कारण ही गुण भी नहीं हैं। अतः निश्चय कर उनमें अप्रमाणपना स्वतः उत्पन्न हो जावे। अर्थात्—अपौरुषेय मेघगर्जनका भी कोई वक्ता नहीं है। " आख फूटी पीर गयी "। अतः उसके आधार पर होनेवाले गुणोंके अभाव हो जानेसे अप्रामाण्य स्वतः उत्पन्न हो जाओ। अपौरुषेयत्वको प्रमाणपनका कारण माननेपर तो घनगर्जन, बिजलीकी तडतडाहटमें प्रमाणपन भी प्राप्त हो जायगा। अतः आगममें दोनों ही स्वतः या प्रमाण,

अप्रमाणपन दोनों ही परतः मानलेने चाहिये । परिशेषमें विचार करनेपर दोनोंकी उत्पत्ति परतः मानना समुचित होगा ।

ततश्च चोदनाबुद्धिर्न प्रमाणं न चा प्रमा ।
आप्तानाप्तोपदेशोत्थबुद्धेस्तत्त्वप्रसिद्धितः ॥ १०८ ॥
एवं समत्वसंसिद्धौ प्रमाणत्वेतरत्वयोः ।
स्वत एव द्वयं सिद्धं सर्वज्ञानेष्वितीतरे ॥ १०९ ॥

और तिस कारण विधिलिङन्त वेद-वाक्योंसे उत्पन्न हुई कर्मकाण्डकी प्रेरिका बुद्धि प्रमाण नहीं है और अप्रमाण भी नहीं है । क्योंकि आप्त और अनाप्तके उपदेशोंसे उत्पन्न हुई बुद्धिको उस प्रमाणपन और अप्रमाणपनकी व्यवस्था हो रही है । केवल अपौरुषेय होनेसे प्रमाणपनके समान अप्रमाणपन भी प्राप्त हो सकता है । किसी भी पुरुषके प्रयत्नसे नहीं उत्पन्न हुआ घनगर्जन या उससे जन्य ज्ञान अप्रमाण प्रसिद्ध हो रहा है । इस प्रकार मीमांसकोंके यहां प्रमाणपन और अप्रमाणपन दोनों ही समान जब भले प्रकार सिद्ध हो गये तब तो सम्पूर्ण ज्ञानोंमें दोनों प्रमाणपन और अप्रमाणपन स्वतः ही बन जाने चाहिये । इस प्रकार कोई अन्य जन कटाक्ष कर रहे हैं । जो कि समुचित है ।

यथा प्रमाणानां स्वतः प्रामाण्यं तथा अप्रमाणानां स्वतोऽप्रामाण्यं सर्वथा विशेषाभावात् तयोरुत्पत्तौ स्वकार्ये च सामग्र्यंतरस्वग्रहणनिरपेक्षत्वोपपत्तेः प्रकारांतरासंभवादित्यपरे ।

जिस प्रकार प्रमाणज्ञानोंको स्वतः प्रमाणपना इष्ट है, उसी प्रकार अप्रमाणभूत कुज्ञानोंको स्वतः अप्रमाणपना होजाओ, सभी प्रकारोंसे कोई अन्तर नहीं है । उन दोनोंकी उत्पत्तिमें और स्वकीय कार्यमें अन्य सामग्रियोंकी तथा अपने ग्रहणकी कोई अपेक्षा नहीं हो रही है । ऐसी दशामें दूसरोंसे प्रमाणपन या अप्रमाणपन उत्पन्न करानेमें अन्य किसी प्रकारका सम्भव नहीं है । इस प्रकार कोई अन्य कह रहे हैं । इन सबके लिये हमारा यही उत्तर है कि भिन्न भिन्न सामग्रीसे ही न्यारे न्यारे कार्य उत्पन्न हो सकते हैं । रसोईकी सामान्य सामग्री चकला, वेलन, कढाई वर्तन, आदिसे मोदक, घृतवर (घेवर) पेडा आदि मनोहर व्यंजन नहीं बन पाते हैं । केवल साधारण कारणोंद्वारा लापसी, खिचड आदि निकृष्ट भोजन भी नहीं बन सकते हैं । अतः ज्ञानकी सामान्य सामग्रीसे भी प्रमाणपन और अप्रमाणपन नहीं उत्पन्न हो पाते हैं । गुणोंकी यह सामर्थ्य है कि उनके सन्निधान होनेपर पहिलेसे ही वह ज्ञान प्रामाण्यको लिये हुये ही उत्पन्न होगा और दोषोंके सामग्रीमें पतित हो जानेपर प्रथमसे ही अप्रामाण्यको लिये हुये ही ज्ञान उत्पन्न होता है । ऐसा नहीं है कि

प्रथमसे तो सामान्यज्ञान हो जाय और फिर गुण दोषोंसे उसमें प्रमाणपन या अप्रमाणपन उत्पन्न होता फिरे। इसका स्पष्टीकरण पूर्वमें कर दिया गया है।

स्वतः प्रमाणेतरैकांतवादिनं प्रत्याह।

अब प्रामाण्यकी ज्ञप्तिका विचार चलाते हैं। नैयायिक तो प्रमाणपनेकी ज्ञप्तिका होना परतः ही मानते हैं। और मीमांसक सभी ज्ञानोंमें प्रमाणपना स्वतः जान लिया गया मानते हैं। प्रथम ही जो प्रमाणपन और अप्रमाणपनका स्वतः ही जानना मानते हैं, उन एकान्तवादियोंके प्रति आचार्य स्पष्ट उत्तर कहते हैं।

तन्नानभ्यासकालेऽपि तथा भावानुषंगतः।
न च प्रतीयते तादृक् परतस्तत्त्वनिर्णयात् ॥ ११० ॥

वह प्रमाणपन और अप्रमाणपनकी स्वतः ज्ञप्ति होजानेका एकान्त करना ठीक नहीं है। क्योंकि यों तो अनभ्यास कालमें भी तिस प्रकार स्वतः ही प्रमाणपन या अप्रमाणपन हो जानेका प्रसंग होगा। किन्तु तिस प्रकार वहाँ स्वतः ज्ञप्ति होना प्रतीत नहीं हो रहा है। अनभ्यास दशामें तो अन्य ज्ञापकोंसे परतः यानी उस प्रमाणपन या अप्रमाणपनका निर्णय हो रहा है। अर्थात्—अपने परिचित नदी, सरोवर आदिके जलकी गहराईके ज्ञानमें प्रमाणता स्वतः जानी जाती है। किन्तु देशान्तरमें जलकी गहराईके ज्ञानमें लठिया, परोपदेश आदि अन्य ज्ञापकोंसे प्रामाण्य जाना जाता है। अपरिचित औषधियोंके ज्ञानमें भी प्रामाण्य पीछे फल देखनेपर जाना जाता है। इसी प्रकार चन्द्रमाका दूरसे छोटा दीखना या निकट देशमें दीखते रहना और दूरसे रेलकी समानान्तर पटरिओंका आगे सिकुड जाना दीखना तथा एकसे कूपेका भी नीचेकी ओर संकोच स्थल दीखना एवं पित्तज्वरमें पेडेका कडुआ स्वाद लगना, आदिक अभ्यास दशाके असमीचीन ज्ञानोंमें अप्रमाण स्वतः ही जान ली जाती है। अपरिचित दशाके कुज्ञानोंमें अप्रमाणपना परसे जाना जाता है। किसी अपरिचित पदार्थको विना विचारे झट अप्रमाण समझलेना भी तो उचित नहीं है।

स्वतः प्रामाण्येतरैकांतवादिनामभ्यासावस्थायामिवानभ्यासदशायामपि स्वत एव प्रमाणत्वमितरच्च स्यादन्यथा तदेकांतहानिप्रसंगात्। न चेदृक् प्रतीयतेऽनभ्यासे परतः प्रमाणत्वस्येतरस्य च निर्णयात्। न हि तत्तदा कस्यचित्तथ्यार्थावबोधकत्वं मिथ्यावभासित्वं वा नेतुं शक्यं स्वत एव तस्यार्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादर्थयाथात्म्यहेतूत्थगुणज्ञानाद्वा अनपवादप्रसंगात्। तथा च नाप्रमाणत्वस्यार्थान्यथाभावाभावज्ञानं बाधकं प्रमाणत्वस्य वार्थान्यथात्वविज्ञानं सिध्येत्।

प्रमाणपन और उससे भिन्न अप्रमाणपनका स्वतः ही ज्ञान होना माननेवाले एकान्तवादियोंके यहां अभ्यासदशाके समान अनभ्यास दशामें भी स्वतः ही प्रमाणपन और इससे न्यारा अप्रमाणपन

जाना जायगा । अन्यथा यानी अनभ्यास दशामें दोनोंकी परतः ज्ञप्ति माननेपर तो उनको अपने एकान्तकी हानि हो जानेका यानी अपने पक्षके परित्याग करनेका प्रसंग होगा । स्वतः मानकर फिर परतः मान लेनेसे उनकी प्रतिज्ञा नष्ट हो जाती है । किन्तु ऐसा होता हुआ नहीं प्रतीत हो रहा है । अनभ्यासदशाके जलमें हुये जलज्ञान और बालू रेत या कांसोंमें हुये जलज्ञानको प्रमाणपना और अप्रमाणपना पर (दूसरे) कारणोंसे निर्णीत किया जाता है । उस समय अनभ्यास दशामें वह प्रमाणपन चाहे किसीके सत्य अर्थके अवबोधकपनको प्राप्त नहीं किया जा सकता है, जिससे कि अर्थके विपरीतपन या कारणोंमें उत्पन्न हुये दोषोंके ज्ञानसे शंका प्राप्त अप्रमाणपनका निराकरण होकर अपवादरहित हो जानेके प्रसंगसे उस ज्ञानको स्वतः ही प्रमाणपना ज्ञात हो जाय । तथा अनभ्यास दशामें वह अप्रमाणपन किसी अर्थके मिथ्याप्रकाशकपनको भी प्राप्त नहीं कराया जा सकता है, जिससे कि अर्थके यथार्थ आत्मकपन या कारणोंमें उत्पन्न हुये गुणोंके ज्ञानसे शंका प्राप्त प्रमाणपनका निवारण कर अपवादरहित हो जानेसे उस ज्ञानको अप्रमाणपना स्वतः ही औत्सर्गिक जाना जाता, अर्थात्—अनभ्यास दशामें अपवाद विषयोंको टालकर स्वतः ही दोनों नहीं जाने जा सकते हैं । और तिस प्रकार होनेपर विषय अर्थके विपरीतपनका अभावज्ञान तो अप्रमाणपनेका बाधक नहीं सिद्ध हो सके और ज्ञेय अर्थके विपरीतपनका ज्ञान प्रमाणपनका बाधक नहीं सिद्ध हो सके, यानी अर्थका यथार्थपन और विपरीतपन उन अप्रमाणपन और प्रमाणपनेके वहां बाधक हो जायंगे । उनके दूर करनेके लिये अन्य ज्ञापकोंकी आवश्यकता पड जायगी ।

न चानभ्यासे ज्ञानकारणेषु दोषाभावो गुणाभावो वा गुणदोषस्वभावः स्वतो विभाव्यतं यतो जातमात्रस्यादुष्टा दुष्टा वा नेत्रादयः प्रत्यक्षहेतवः सिध्येयुः धूमादितदाभासा वा अनुमानहेतवः शब्दतदाभासा वा शाब्दज्ञानहेतवः प्रमाणांतरहेतवो वा यथोपवर्णिता इति ।

दूसरी बात यह है कि अनभ्यासकी दशा उपस्थित होनेपर ज्ञानके कारणोंमें दोषोंका अभाव अथवा गुणोंका अभाव जो कि गुण या दोषस्वरूप है, स्वतः तो नहीं विचार किया जा सकता है, जिससे कि यों कह दिया जाय कि उसी समय उत्पन्न हुये बच्चेतकके भी नेत्र आदिक दोष रहित अथवा दोषसहित जाने जाकर होते हुये वे प्रत्यक्षके प्रमाणपन और अप्रमाणपनके कारण सिद्ध हो जावें अथवा निर्दोष धूम आदिक हेतु और सदोष हेत्वाभास ये अनुमानके प्रमाणपन और अप्रमाणपनके कारण सिद्ध हो जाय अथवा निर्दोष शब्द और सदोष शब्दाभास ये आगमज्ञानके प्रमाणपन एवं अप्रमाणपनके कारण सिद्ध हो जांय अथवा आपने जिस प्रकार अन्य प्रत्यभिज्ञान, अर्थापत्ति, आदि प्रमाणोंके हेतु वर्णन किये हैं. वे निर्दोष और सदोष होते हुये उनके प्रमाणपन और अप्रमाणपनके हेतु सिद्ध हो जाय । भावार्थ—अनभ्यास दशामें निर्दोष और सदोष कारणोंका जानना बडा कठिन है । नील आभावाले जलको स्वच्छ कहा जाता है । जिस कपडेमें धोबी थोडा नील रंग लगा लाता है, वह कपडा स्वच्छ धुला हुआ समझा जाता है । और स्वच्छ धुला हुआ

वस्त्र कुछ मैला समझा जाता है। मीठा चूरमा बनानेके लिए दस सेर चूनमें एक रुपये भर निमक डालना रसको व्यक्त करनेवाला समझा जाता है। निमकीन चटनी और खट्टे नीबूमें स्वल्प बूरा डालकर उन रसोंको उद्भूत कर लिया जाता है। किसी पुरुषकी लाल लाल आंखे भी सत्य प्रतीतिका कारण हैं। क्वचित् शुक्ल या नील आंखे भी मिथ्याज्ञान करा देती हैं। बात यह है कि दोष और गुण अनेक प्रकारके हैं। अनभ्यास दशामें उनका निर्णय होना कठिन है। अतः बच्चे तकके नेत्रोंमें दोष और गुण जाने जाकर स्वतः प्रमाणतावाले प्रत्यक्ष ज्ञानको करा देंगे, यह केवल सेखी मारना है। इसी प्रकार अनुमान आदि ज्ञानोंके प्रमाण, अप्रमाणपनके ज्ञापकोंका निर्णय कराना भी अनभ्यास दशामें कठिन है।

कथं वानभ्यासे दुष्टो वक्ता गुणवान् वा स्वतः शक्योवसातुं यतः शब्दस्य दोषवत्त्वं वा वक्त्रधीनमनुरुध्यते। तथा वक्तुर्गुणैः शब्दानां दोषोऽपनीयते दोषैर्वा गुण इत्येतदपि नानभ्यासे स्वतो निर्णेयं, वक्तृरहितत्वं वा गुणदोषाभावनिबंधनतया चोदनाबुद्धेः प्रमाणेतरत्वाभावनिबंधनमिति न प्रमाणेतरत्वयोः समत्वं सिध्येत् स्वतस्तन्निबंधनं सर्वथानभ्यासे ज्ञानानामुत्पत्तौ स्वकार्ये च सामर्थ्यंतरस्वग्रहणानिरपेक्षात्वासिद्धेश्च। ततो न स्वत एवेति युक्तमुत्पश्यामः।

और यह भी तो विचारोंकी अनभ्यास दशामें दोषवान् वक्ता अथवा गुणवान् वक्ताका स्वतः ही निर्णय कैसे किया जा सकता है? जिससे कि आप मीमांसकोंका यह अनुरोध हो सके कि शब्दका दोषयुक्तपना और गुणयुक्तपना तो वक्ताके अधीन है तथा वक्ताके गुणोंकरके शब्दके दोषोंका निवारण हो जाता है। और वक्ताके दोषोंकरके शब्दके गुण दूर कर दिये जाते हैं। इस प्रकार यह भी अनभ्यासदशामें अपने आप निर्णय करने योग्य नहीं है। अथवा वेदका वक्ता-रहितपना ही गुणके अभावका कारण हो जानेसे वेदवाक्यजन्य ज्ञानके प्रमाणपनके अभावका कारण हो जाय और वक्ताका रहितपना आश्रय विना दोषोंके अभावका कारणपना हो जानेसे वेद वाक्यजन्य ज्ञानके अप्रमाणपनके अभावका कारण हो जाय, यह भी निर्णय नहीं किया जा सकता है। भावार्थ—मीमांसकोंने अपनी श्लोकवार्तिकमें कहा है कि "**शब्दे दोषोद्भवस्तावद्वक्त्रधीन इति स्थितं, तदभावः क्वचित्तावद्गुणवद्वक्तृकत्वतः॥१॥ तद्गुणैरपकृष्टानां शब्दे संक्रान्त्यसम्भवात् यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः॥२॥**" शब्दोंमें दोषोंकी उत्पत्ति वक्ताके अधीन है। तहां कहीं तो गुणवान् वक्ता होनेके कारण शब्दोंमें दोषोंका अभाव हो जाता है। क्योंकि वक्ताके गुणोंकरके निराकृत किये दोषोंका शब्दमें संक्रमण होना असम्भव है। अथवा अपौरुषेय वेदमें सबसे अच्छी बात यह है कि सर्वथा वक्ताके अभाव होनेसे आश्रयके विना दोष नहीं ठहर पाते हैं। अतः वेदमें स्वत. प्रमाणपना प्राप्त हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि यह मीमांसकोंकी मीमांसा

ठीक नहीं है। क्यों कि अनभ्यास दशामें निर्णय होना बडा कठिन है और इस मायाचारीके बाहुल्यके युगमें झट किसीके दोष या गुणका निर्णय करना तो अतीव कष्टसाध्य है, जिससे कि इस प्रकार अभ्यास और अनभ्यास दशामें प्रमाणपन और अप्रमाणपनका एकसापन सिद्ध नहीं होवे। अर्थात्—दोनों एकसे हैं। स्वतः होनेके अथवा परतः ज्ञप्ति होनेके उनके कारण एकसे हैं। और अनभ्यास दशामें ज्ञानोंकी उत्पत्ति और स्वकार्यमें भी अन्य सामग्री और स्वग्रहणका निरपेक्षपना असिद्ध है। यानी प्रमाणके कार्य यथार्थ परिच्छेद अथवा "यह प्रमाण है" ऐसा निर्णय होना रूप कार्यमें अन्य सामग्रीकी और स्वके ग्रहणकी ज्ञानको अपेक्षा है। प्रामाण्यकी उत्पत्तिमें ज्ञानके सामान्य कारणोंसे अतिरिक्त कारणोंकी अपेक्षा पहिले बतला दी गयी है। तिस कारण उत्पत्ति, ज्ञप्ति और स्वकार्य करनेमें प्रामाण्य स्वत ही है, यह एकान्तवादियोंका कहना युक्त नहीं है। ऐसा हम ठीक युक्तिपूर्ण समझ रहे हैं।

द्वयं परत एवेति केचित्तदपि साकुलम् ।
स्वभ्यस्तविषये तस्य परापेक्षानभीक्षणात् ॥ १११ ॥

नैयायिक कहते हैं कि प्रामाण्य और अप्रामाण्यकी ज्ञप्ति चाहे अभ्यास दशा हो अथवा अनभ्यास दशा हो, दूसरे कारणोंसे ही होती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि वह कहना भी आकुलता सहित है। क्योंकि अच्छे ढंगसे अभ्यासको प्राप्त हुये विषयमें उस प्रामाण्य–अप्रामाण्यके द्वयको अन्य कारणोंकी अपेक्षा रखना नहीं देखा जाता है।

स्वभ्यस्तेपि विषये प्रमाणाप्रमाणयोस्तद्भावसिद्धौ परापेक्षायामनवस्थानापत्तेः कुतः कस्यचित्प्रवृत्तिनिवृत्ती च स्यातामिति न परत एव तदुभयमभ्युपगंतव्यं ।

भले प्रकार अभ्यासको प्राप्त किये गये भी विषयमें प्रमाण और अप्रमाणके उस प्रमाणपन और अप्रमाणपनके अधिगमकी सिद्धि करनेमें यदि अन्योंकी अपेक्षा मानी जायगी तो अनवस्था दोषका प्रसंग होता है। क्योंकि उस ज्ञापक अन्य प्रमाणके प्रामाण्यको जाननेके लिये भी अन्य ज्ञापक प्रमाणके उत्थापनकी आकांक्षा बढती जायगी। अज्ञान तो अन्योंका ज्ञापक होता नहीं है। इस कारण भला किसकी किससे प्रवृत्ति और निवृत्ति हो सकेगी ? ज्ञापक कारणोंको ढूंढते ढूंढते शक्तियां नष्ट हो जावेंगी। पार नहीं मिलेगा। अतः वह प्रमाणपन और अप्रमाणपन दोनोंकी ज्ञप्तिका परसे ही होना नहीं स्वीकार करना चाहिये।

[illegible] प्रतीयते ।
[illegible] चेन्नानवस्थानुषंगतः ॥ ११२ ॥

प्रमाणेन प्रतीतेर्थे यत्तद्देशोपसर्पणम् ।
सा प्रवृत्तिः फलस्याप्तिस्तस्याः सामर्थ्यमिष्यते ॥ ११३ ॥
प्रसूतिर्वा सजातीयविज्ञानस्य यदा तदा ।
फलप्राप्तिरपि ज्ञाता सामर्थ्यं नान्यथा स्थितिः ॥ ११४ ॥
तद्विज्ञानस्य चान्यस्मात् प्रवृत्तिबलतो यदि ।
तदानवस्थितिस्तावत्केनात्र प्रतिहन्यते ॥ ११५ ॥

तहां नैयायिक या वैशेषिक प्रवृत्तिकी सामर्थ्यसे प्रमाणपना प्रतीत होता है, यह मानते हैं। "प्रमाणतो अर्थप्रतीतौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणं"। जलको जानकर स्नान, पान, अवगाहनमें प्रवृत्ति हो जानेकी सामर्थ्यसे प्रमाण अर्थवान् है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार प्रमाणको अर्थ सहितपना तो ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा माननेपर अनवस्था दोषका प्रसंग होता है। उस दोषको स्पष्ट कर दिखलाते हैं कि प्रवृत्तिकी सामर्थ्यका अर्थ आप नैयायिक क्या करेंगे ? बताओ! प्रमाणकरके अर्थके प्रतीत हो जानेपर जो उस प्रमेयके देशमें झटपट गमन करता है, वह प्रवृत्ति है। और जलज्ञानसे जलको जानकर स्नान, पान, अवगाहनरूप फलकी प्राप्ति हो जाना उस प्रवृत्तिकी सामर्थ्य मानी जा रही है ? अथवा जलज्ञानकी दृढताको सम्पादन करनेके लिये जलज्ञानके समान जातिवाले दूसरे विज्ञानकी उत्पत्ति हो जाना सामर्थ्य है ? यदि पहिला पक्ष ग्रहण करोगे तब तो स्नान, पान आदि फलकी प्राप्ति भी अन्यज्ञानसे होती हुई ही सामर्थ्य बन सकती है। अन्यथा यानी दूसरे प्रकारोंसे व्यवस्था नहीं हो सकेगी। अब विचारिये कि उस फलप्राप्तिको जाननेवाले विज्ञानकी प्रमाणता अन्य किसी प्रवृत्ति सामर्थ्यसे यदि जानी जावेगी तो वह दूसरा प्रवृत्तिसामर्थ्य भी फलप्राप्तिरूप होगा। वह फलप्राप्ति भी किसी ज्ञानसे जानी गयी होकर ही सामर्थ्य बन सकती है। नहीं जानी गयी हुई फलप्राप्ति तो प्रवृत्तिसामर्थ्य बन नहीं सकती है। अतिप्रसंग हो जायगा। यानी धूमके न जाननेपर भी पर्वतमें अग्निके निश्चय हो जानेका प्रसंग हो जायगा। अज्ञात पदार्थ तो किसीके ज्ञापक होते नहीं हैं। अतः फलप्राप्तिको पुनः जाननेके लिये अन्य ज्ञानोंकी आवश्यकता पडेगी और उन ज्ञानोंको प्रमाणपना अन्य प्रवृत्तिसामर्थ्योंसे होगा। तब तो यहां अनवस्था दोषका प्रतिघात भला किसके द्वारा हो सकता है ? फलप्राप्तिके ज्ञानको प्रमाणपन पूर्व ज्ञानसे और पूर्व ज्ञानका प्रमाणपना यदि प्रवृत्ति सामर्थ्यरूप फलप्राप्तिसे माना जायगा तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। इस कारण परतः प्रामाण्यवादी नैयायिकोंके यहां प्रवृत्तिसामर्थ्यसे प्रमाणपना व्यवस्थित नहीं हो सकता है।

स्वतस्तद्बलतो ज्ञानं प्रमाणं चेत्तथा न किम् ।
प्रथमं कथ्यते ज्ञानं प्रद्वेषो निर्निबन्धनम् ॥ ११६ ॥

अनवस्था दोषके निवारणके लिये यदि उस प्रवृत्तिकी सामर्थ्यसे हुये दूसरे ज्ञानको प्रमाणपना स्वतः माना जायगा, तब तो तिसी प्रकार पहिला ज्ञान भी क्यों नहीं स्वतः प्रमाणरूप कहा जाता है । कारणके विना ही दोनोंमेंसे किसी एकके साथ विशेष द्वेष करना समुचित नहीं है । दूसरी बात यह भी है कि आप नैयायिकोंको अपने सिद्धान्तसे विरोध लगेगा । आपने प्रवृत्तिकी सामर्थ्यसे परतः प्रामाण्य होना स्वीकार किया है ।

एतेनैव सजातीयज्ञानोत्पत्तौ निवेदिता ।
अनवस्थान्यतस्तस्य प्रमाणत्वव्यवस्थितेः ॥ ११७ ॥
न च सामर्थ्यविज्ञाने प्रामाण्यानवधारणे ।
तन्निबंधनमाद्यस्य ज्ञानस्यैतत् प्रसिध्यति ॥११८॥

इस उक्त कथन करके ही सजातीय ज्ञानकी उत्पत्तिरूप प्रवृत्तिसामर्थ्यका भी निवारण कर दिया गया है । द्वितीय पक्षके अनुसार मानी गयी सजातीय ज्ञानकी उत्पत्तिमें भी अनवस्था दोष होनेका निवेदन किया जा चुका है । क्योंकि उस दूसरे सजातीय ज्ञानको प्रमाणपना अन्य सजातीय ज्ञानसे व्यवस्थित होगा और उस ज्ञानकी प्रमाणताके लिये भी तीसरे चौथे आदि सजातीय ज्ञानोंको उत्पन्न करना पडेगा। इस प्रकार अनवस्था हो जायगी। जबतक प्रवृत्ति सामर्थ्यके विज्ञानमें प्रामाण्यका निर्णय न होगा तबतक उस प्रवृत्तिसामर्थ्यको कारण मानकर उत्पन्न होनेवाली आदिके ज्ञानकी यह प्रमाणता प्रसिद्ध नहीं हो सकती है । अन्य ज्ञानोंसे प्रवृत्ति सामर्थ्यके विज्ञानमें प्रामाण्यका निर्णय करनेपर अनवस्था हो जाती है ।

न ह्यनवधारितप्रमाण्याद्विज्ञानात् प्रवृत्तिसामर्थ्यं सिध्यति यतोनवस्थापरिहारः । प्रमाणतोर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणमित्येतद्वा भाष्यं सुघटं स्यात् प्रवृत्तिसामर्थ्यादसिद्धात् प्रमाणस्यार्थवत्त्वाघटनात् ।

नहीं निर्णीत किया है प्रामाण्य जिसका, ऐसे विज्ञानसे प्रवृत्तिकी सामर्थ्य सिद्ध नहीं होती है, जिससे कि अनवस्थाका परिहार हो जाय और प्रमाणसे अर्थकी प्रतिपत्ति हो जानेपर प्रवृत्तिकी सामर्थ्यसे प्रमाण अर्थवान् है, इस प्रकार यह न्यायभाष्य भले प्रकार घटित हो जावे। अर्थात्—नैयायिकोंके ऊपर अनवस्था दोष लागू रहेगा और न्यायभाष्यकार वाचस्पतिमिश्रका वचन घटित नहीं होगा। क्योंकि प्रमाणोंसे नहीं सिद्ध किये गये प्रवृत्तिसामर्थ्यसे तो प्रमाणका अर्थवान्पना नहीं घटता है ।

किं च प्रमाणतः प्रवृत्तिरपि ज्ञातप्रामाण्यादज्ञातप्रामाण्याद्वा स्यात् ।

दूसरी बात नैयायिकोंसे हम यह पूंछते हैं कि जान लिया गया प्रमाणपना जिसमें ऐसे प्रमाणसे प्रवृत्ति करना मानोगे अथवा नहीं जाना गया है प्रामाण्य जिसमें ऐसे प्रमाणसे भी प्रवृत्ति हो सकेगी ? बताओ ।

ज्ञातप्रामाण्यतो मानात्प्रवृत्तौ केन वार्यते ।
परस्पराश्रयो दोषो वृत्तिप्रामाण्यसंविदोः ॥ ११९ ॥
अविज्ञातप्रमाणत्वात् प्रवृत्तिश्चेद्वृथा भवेत् ।
प्रामाण्यवेदनं वृत्ते क्षौरे नक्षत्रपृष्टिवत् ॥ १२० ॥

जान लिया गया है प्रामाण्य जिसका ऐसे प्रमाणसे यदि प्रमेयमें प्रवृत्ति होना माना जायगा तो प्रवृत्ति और प्रामाण्यक ज्ञानमें अन्योन्याश्रय दोष भला किस करके निवारित किया जा सकता है ? अर्थात्—प्रवृत्ति करानेवाले ज्ञानका प्रमाणपना निश्चय कर चुकनेपर उस प्रामाण्यग्रस्त ज्ञानसे प्रमेयकी प्रतिपत्ति होय और प्रमेयकी प्रतिपत्ति हो जानेपर उसमें प्रवृत्ति होनेकी सामर्थ्यसे प्रमाणपनेका निश्चय होय यह अन्योन्याश्रय दोष है । द्वितीयपक्षके अनुसार नहीं जाना गया है प्रामाण्य जिसका, ऐसे ज्ञानसे यदि प्रवृत्ति होना माना जायगा तो सर्वत्र प्रामाण्यका निश्चय करना व्यर्थ पडेगा जैसे कि वालोंके कटाचुकनेपर फिर नक्षत्रका पूछना व्यर्थ है । भावार्थ—अधिक प्यास लगनेपर परदेशमें चाहे जिस स्पृश्य अस्पृश्य व्यक्तिके घरका पानी पीलिया, पीछे पिलानेवालेका जाति, गोत्र, वर्ण पूछना जैसा व्यर्थ है, तथा स्वाति, धनिष्ठा, पुष्य आदि शुभ नक्षत्रोंमें बाल कटाना प्रशस्त है किन्तु आतुरतासे मुंडन करा चुकनेपर पुनः नक्षत्रका पूछना जैसे व्यर्थ है, उसी प्रकार अज्ञात प्रमाणपनवाले ज्ञानसे प्रवृत्ति होना माननेपर ज्ञानोंमें प्रमाणपनका निश्चय करना व्यर्थ है ।

अर्थसंशयतो वृत्तिरनेनैव निवारिता ।
अनर्थसंशयाद्वापि निवृत्तिर्विदुषामिव ॥ १२१ ॥

यदि कोई यों कहे कि सुवर्ण, रुपया, आदि अर्थोंमें संशय ज्ञानसे भी प्रवृत्ति होना देखा जा सकता है, आचार्य कहते हैं कि सो ठीक नहीं है । क्योंकि " **अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्** " संशयज्ञानोंसे ही प्रवृत्ति होने लगे तो प्रमाणज्ञान क्यों ढूंढा जाय ? अतः अनर्थके संशय (सम्भावना) से भी विद्वानोंकी अनुचित कार्योंसे जैसे निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही इष्ट अर्थके संशयसे पदार्थोंमें प्रवृत्ति हो जाती है, यह पक्ष भी इस उक्त कथनसे निवारित करदिया गया समझलेना चाहिये । प्रेक्षापूर्वकारी पुरुष संशयसे प्रवृत्ति नहीं करते हैं ।

परलोकप्रसिध्द्यर्थमनुष्ठानं प्रमाणतः ।
सिद्धं तस्य बहुक्लेशवित्तत्यागात्मकत्वतः ॥ १२२ ॥
इति ब्रुवन् महायात्राविवाहादिषु वर्तनम् ।
संदेहादभिमन्येत जाड्यादेव महत्तमात् ॥ १२३ ॥

परलोककी प्रसिद्धिके लिये दीक्षा, वनवास, उपवास, परीषहसहन, ब्रह्मचर्य, आदि अनुष्ठान करना प्रमाणोंसे सिद्ध है। क्योंकि वह अनुष्ठान अधिकक्लेश, धनत्याग, स्त्रीपुत्रनिवारण-स्वरूप है। जब कि अत्यन्त परोक्ष परलोकके लिये प्रमाणोंसे साधे गये अनुष्ठानमें प्रवृत्ति होना मानते हो किन्तु बडी यात्रा, विवाह, धनअर्जन, अध्ययन, आदिकमें संदेहसे प्रवृत्ति करना अभिमानपूर्वक अभीष्ट करते हो, आचार्य कहते हैं कि यों कह रहा एकान्ती पुरुष महामूर्ख है। इसमें बहुत बढी हुई जडता ही कारण कही जा सकती है। तत्त्व यह है कि संशयसे परीक्षकोंकी अर्थ, अनर्थमें प्रवृत्ति, निवृत्ति होना अशक्य है। नैयायिक लोग आत्माको ज्ञानस्वरूप नहीं मानते हैं। आत्मामें ज्ञान न्यारा पडा रहता है। यह नैयायिकोंके आत्माकी जडता है। तथा महायात्रा आदिमें संशयसे प्रवृत्ति मानना तो महाजडता है। बढ रही, जडतासे ही कोई मनुष्य व्याघात दोषयुक्त विषयको बक देता है।

परलोकार्थानुष्ठाने महायात्राविवाहादौ च बहुक्लेशवित्तत्यागाविशेषेऽपि निश्चितप्रामाण्याद्वेदनादेकत्रान्यत्र वर्तनं संदेहाच्च स्वयमाचक्षाणस्य किमन्यत्कारणमन्यत्र महत्तमाज्जाड्यात्। एकत्र परस्पराश्रयस्यान्यत्र प्रामाण्यव्यवस्थापनवैयर्थ्यस्य च तदवस्थत्वात्।

परलोकके अर्थ नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म, दीक्षा, तपस्या, आदि कर्मोंके अनुष्ठान करनेमें और महायात्रा संघ चलाना, विवाह, प्रतिष्ठा कर्म आदिमें बहुत क्लेश और धनत्यागके विशेषतारहित हुये भी एकस्थलपर यानी परलोकके लिए तो प्रामाण्यनिश्चयवाले वेदनसे प्रवृत्ति होना कह रहे हैं। तथा दूसरे स्थलपर विवाह आदिमें नैयायिक लोग स्वयं संदेहसे प्रवृत्ति होनेको बखान रहे हैं। उनके इस कथनमें अधिक बढी हुई जडताके अतिरिक्त दूसरा क्या कारण कहा जाय ? एक स्थान पर अन्योन्याश्रय दोष और दूसरे स्थानपर प्रमाणपनेकी व्यवस्था करानेका व्यर्थपना दोष वैसाका वैसा ही अवस्थित रहेगा। भावार्थ—प्रमाणपनेके निश्चयवाले ज्ञानसे परलोकके उपयोगी अनुष्ठानोंमें प्रवृत्ति होना माननेसे अन्योन्याश्रय दोष आता है। जैसा कि पूर्वमें कहा जा चुका है। और संदेहसे प्रवृत्ति होना माननेसे ज्ञानोंमें प्रमाणपनका ढूंढना व्यर्थ पडता है।

तस्मात्प्रेक्षावतां युक्ता प्रमाणादेव निश्चितात् ।
सर्वप्रवृत्तिरन्येषां संशयादेरपि क्वचित् ॥ १२४ ॥

तिस कारण हिताहित विचारनेकी बुद्धिको धारण करनेवाले पुरुषोंका सभी क्रियाओंमें प्रवृत्ति करना प्रामाण्यका निश्चयवाले प्रमाणसे ही होना युक्त है। हां, नहीं विचारकर कार्यको करनेवाले दूसरोंकी किसी किसी कार्यमें संशय, विपर्यय, आदिसे भी प्रवृत्तिका होना मान लिया गया है। भ्रान्तज्ञानोंसे अभ्रान्त ज्ञान न्यारे हैं।

द्विविधा हि प्रवर्तितारो दृश्यंते विचार्य प्रवर्तमानाः केचिदविचार्य चान्ये। तत्रैकेषां निश्चितप्रामाण्यादेव वेदनात् क्वचित्प्रवृत्तिरन्यथा प्रेक्षावत्त्वविरोधात्। परेषां संशयाद्विपर्ययाद्वा अन्यथाऽप्रेक्षाकारित्वव्याघातादिति युक्तं वक्तुं, लोकवृत्तानुवादस्यैवं घटनात्। सोयमुद्योतकरः स्वयं लोकप्रवृत्तानुवादमुपयन् प्रामाण्यपरीक्षायां तद्विरुद्धमभिदधातीति किमन्यदनात्मज्ञतायाः।

कारण कि प्रवृत्ति करनेवाले जीव दो प्रकारके देखे जाते हैं। एक तो विचार कर प्रवृत्ति कर रहे हैं। दूसरे कोई प्राणी नहीं विचार कर भी प्रवृत्ति कर रहे हैं। तिन दोनोंमें एक प्रकारके पहिली श्रेणीके जीवोंके यहां प्रामाण्यका निश्चयवाले ज्ञानसे ही किसी भी कार्यमें प्रवृत्ति होना बनता है। अन्यथा यानी प्रामाण्यके निश्चय नहीं रखनेवाले ज्ञानसे प्रवृत्ति करना यदि मान लिया जायगा तो उन जीवोंके विचारशालिनी बुद्धिसे सहितपनेका विरोध होगा तथा दूसरी श्रेणीमें पडे हुये अन्य जीवोंके यहां संशयज्ञान और विपर्ययज्ञानसे भी कहीं प्रवृत्ति होना बन जाता है। अन्यथा उनके विचारकर नहीं कार्य करनेवाली बुद्धिसे सहितपनका व्याघात होगा, इस प्रकार कहनेके लिये युक्त है। लोकमें ऐसा ही वर्ताव देखा गया है कि थूक लगजानेका संशय हो जानेपर-धोना या स्नान करना पाया जाता है। निश्चित कुकर्म और संदिग्ध कुकर्मका प्रायश्चित्त एकसा है। लेजमें सर्पका विपर्ययज्ञान होनेपर निवृत्ति होना, चकित होना, देखा जाता है। इस प्रकार लोकमें प्रसिद्ध हो रहे आचरणका अनुवाद करना यों घटित हो जाता है। सो यह नैयायिकोंके चिन्तामणि ग्रन्थकी उद्योत नामक टीकाको करनेवाला विद्वान् स्वयं लोकमें आचरण किये जा रहेके अनुवादको स्वीकार करता हुआ फिर प्रमाणपनकी परीक्षा करते समय उससे विरुद्ध कह रहा है। इसमें अपनी आत्माको नहीं पहचाननेके अतिरिक्त और क्या कारण कहा जाय? भावार्थ—लोकमें आचरे गये व्यवहारके अनुसार संशय और विपर्ययसे प्रवृत्ति होना नैयायिक इष्ट करते हैं। किन्तु यथार्थरूपसे प्रमाणपनकी परीक्षा करते समय उससे प्रतिकूल बोल देते हैं। इसमें उनका आत्माका ज्ञानस्वरूप नहीं मानना ही कारण है। आत्माको ज्ञानसे रहित जड कहनेवाले कुछ भी कहें। ऐसे मनमानी कहनेवालेको कौन रोक सकता है?

ननु च लोकव्यवहारं प्रति बालपंडितयोः सदृशत्वादप्रेक्षावत्तयैव सर्वस्य प्रवृत्तेः क्वचित्संशयात् प्रवृत्तिर्युक्तैवान्यथाऽप्रेक्षावतः प्रवृत्त्यभावप्रसंगादिति चेत् न, तस्य क्वचित्कदाचित्प्रेक्षावत्तयापि प्रवृत्त्यविरोधात्।

नैयायिक अनुनय (खुशामद) करते हैं कि लौकिक व्यवहारके प्रति बालक और पण्डित दोनों समान हैं । अतः विचार नहीं करनेवाली बुद्धिसे सहितपने करके ही सब जीवोंकी प्रवृत्ति होना बन जायगा, इस कारण संशयज्ञानसे प्रवृत्ति हो जाना युक्त ही है । अन्यथा यानी ऐसा न मानकर दूसरे प्रकारसे मानोगे तो जैनोंके मतानुसार नहीं विचार करनेवाले अज्ञजनोंकी प्रवृत्ति होनेके अभावका प्रसंग होगा, आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नैयायिकोंको नहीं कहना चाहिये । क्योंकि उन सब जीवोंकी कहीं कहीं कभी कभी विचारयुक्त बुद्धिसहितपने करके भी प्रवृत्ति हो जानेका कोई विरोध नहीं है । घास खोदनेवाला भी विचार कर इष्टकार्यमें प्रवृत्ति करता है । विचार कर कार्य करनेवाले संज्ञीजीवोंके प्रामाण्यग्रस्त ज्ञानसे प्रवृत्ति होना पाया जाता है । अज्ञजीवोंका प्रमाणपनकी परीक्षामें कोई अधिकार नहीं है ।

प्रेक्षावता पुनर्ज्ञेया कदाचित्कस्यचित्क्वचित् ।
अप्रेक्षकारिताप्येवमन्यत्राशेषवेदिनः ॥ १२५ ॥

जीवोंमेंसे किसी जीवका प्रेक्षावान्पना किसी विषयमें किसी भी समय किसी कारणसे हो जाता समझ लेना चाहिये । और फिर इसी प्रकार किसी जीवके कहीं किसी समय विचारे विना कार्य करनेवाली बुद्धिसे सहितपना भी अंतरंग वहिरंग कारणोंसे बन जाता है । सम्पूर्ण पदार्थोंको युगपत् जाननेवाले सर्वज्ञ भगवान्के मनःपूर्वक विचार करना नहीं माना गया है । वे तो हथेलीपर रक्खे हुये आमलेके समान तीन काल और तीनों लोक तथा अलोकके पदार्थोंका युगपत् प्रत्यक्ष कर रहे हैं । अतः सर्वज्ञके अतिरिक्त अन्य जीवोंके प्रेक्षासहितपना और प्रेक्षारहित होकर कार्य करनापन स्वकीय कारणोंसे बन जाता है ।

प्रेक्षावरणक्षयोपशमविशेषस्य सर्वत्र सर्वदा सर्वेषामसंभवात् कस्यचिदेव क्वचित्कदाचिच्च प्रेक्षावत्त्वेतरयोः सिद्धिरन्यत्र प्रक्षीणाशेषावरणादशेषज्ञादिति निश्चितप्रामाण्यात्प्रमाणात्प्रेक्षावतः प्रवृत्तिः कदाचिदन्यदा तस्यैवाप्रेक्षावतः यतः संशयादेरपीति न सर्वदा लोकव्यवहारं प्रति बालपंडितसदृशौ ।

हित अहित विचार करनारूप विशिष्ट मतिज्ञानको आवरण करनेवाले कर्मके विशेष क्षयोपशमका सभी विषयोंमें सब जीवोंके सदा नहीं सम्भव है । अत. किसी ही जीवके किसी किसी विषयमें कभी कभी प्रेक्षासहितपना और प्रेक्षारहितपनेकी सिद्धि हो जाती है । भविष्यमें नहीं बंधने और वर्तमानमें किंचित् भी सत्तामें नहीं रहनेकी प्रकर्षतासे क्षीण हो गये हैं, सम्पूर्ण ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म जिसके, ऐसे सर्वज्ञके अतिरिक्त दूसरे संसारी जीवोंमें प्रेक्षा और अप्रेक्षा व्यवस्थित हो रही है । इस प्रकार प्रमाणपनका निश्चय रखनेवाले प्रमाणसे प्रेक्षावान् पुरुषकी प्रवृत्ति होना

कभी कभी बनता है। और दूसरे समय जब कि उस ही जीवके प्रेक्षाको आवरण करनेवाले कर्मका उदय है, तब अप्रेक्षावालेकी भी प्रामाण्यग्रस्त ज्ञानसे ही प्रवृत्ति हो सकेगी। जिससे कि नैयायिकोंके अनुसार संशयादिकसे भी प्रवृत्ति होना माना जाय। यानी संशय आदिकसे प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। बालक और मूर्खोंकी कथा निराली है। इस कारण लौकिकव्यवहारके प्रति बालक और पण्डित समान नहीं हैं। कोई बन्दर अच्छे होनेवाले फोडेका खोंट उतारकर खुजली मिटा लेता है। और फोडेको अच्छा नहीं होने देता है। किंतु विचारशाली मनुष्य इन क्रियाओंको नहीं करता है। अतः प्रवृत्तिसामर्थ्यसे ज्ञानके प्रमाणपनके निश्चयका लोकव्यवहारके अनुसार अनुवाद करना युक्त नहीं है।

कथमेवं प्रेक्षावतः प्रामाण्यनिश्चयेऽनवस्थादिदोषपरिहार इति चेत्।

कोई शंकाकार कहता है कि इस प्रकार प्रेक्षावान् पुरुषके भी ज्ञानमें प्रमाणपनका निश्चय करनेमें अनवस्था, अन्योन्याश्रय, चक्रक, आदि दोषोंका परिहार कैसे होगा, बताओ ? अर्थात्--प्रकृत ज्ञानमें प्रमाणपनका निश्चय करनेके लिये अन्य सम्वादिज्ञान, प्रवृत्तिसामर्थ्य ज्ञान, फलज्ञान आदिकी आकांक्षा होगी और सम्वादीज्ञानमें प्रामाण्यके सम्पादनके लिये पुनः अन्य ज्ञानोंकी आवश्यकता पडेगी। यही ढंग चलता रहेगा, अतः अनवस्था है। और पूर्वज्ञानका प्रामाण्य निश्चय करनेके लिए दूसरे सम्वादी ज्ञानकी आकांक्षा होगी और सम्वादी ज्ञानका प्रामाण्य पूर्वज्ञानसे निश्चित किया जायगा, तो वह अन्योन्याश्रय दोष है तथा सम्वादीज्ञान, प्रवृत्तिसामर्थ्य और अर्थक्रियाज्ञान, फलप्राप्ति, आदिसे प्रमाणपनका निश्चय किया जायगा, तो चक्रक भी हो जायगा। अतः जैनोंका ज्ञानमें परतः प्रमाणपनका निश्चय करना नहीं बनता है। इस प्रकार शंका होनेपर तो आचार्य उत्तर देते हैं:—

तत्राभ्यासात्प्रमाणत्वं निश्चितं स्वत एव नः।
अनभ्यासे तु परत इत्याहुः केचिदंजसा ॥ १२६ ॥
तच्च स्याद्वादिनामेव स्वार्थनिश्चयनात् स्थितम्।
न तु स्वनिश्चयोन्मुक्तनिःशेषज्ञानवादिनाम् ॥ १२७ ॥

कि सो शंका तो नहीं करना अथवा कारिकामें तत्र पाठ होनेपर तिस प्रमाणके निश्चय करनेके प्रकरणमें हम जैनोंके यहां ज्ञानमें प्रमाणपना स्वत. ही निश्चित हो रहा माना गया है। अपने घरके परिचित जीनेमें अंधेरा होनेपर भी मनुष्य झट संशयरहित चढ, उतर आते हैं। अन्य मनुष्य भी देहरी चौखटको परिचित स्थलमें शीघ्र उलंघ जाता है। अतः अभ्यास दशामें ज्ञानस्वरूपका निर्णय करते समय ही युगपत् उसके प्रमाणपनका भी निर्णय करलिया जाता है।

प्रमाणपनको जाननेके लिये दूसरा ज्ञान नहीं उठाया जाता है। हां, नहीं परची हुई अनभ्यास दशामें तो दूसरे कारणोंसे ही प्रमाणपना जाना जाता है। जैसे कि अपरिचितस्थलमें शीतल वायु, कमलगन्ध आदिसे जलज्ञानमें प्रमाणपनका निर्णय होता है। दूसरी तीसरी कोटिपर अवश्य अभ्यासदशाका ज्ञापक मिल जाता है। इस प्रकार कोई विद्वान् निर्दोष सिद्धान्तको कह रहे हैं। किंतु वह किन्हीं विद्वानोंका कहना स्याद्वादियोंके ही सिद्धांत अनुसार माननेपर घटित होता है। क्योंकि स्याद्वादियोंने स्व और अर्थका निश्चय करनेवाला होनेसे प्रमाणपन व्यवस्थित किया है। तभी तो पहिले हीसे अपने न्यारे कारणोंसे अपने प्रमाणपन या अप्रमाणपनको लेता हुआ ज्ञान स्व और विषयको युगपत् जान रहा है। हां, जो नैयायिक या वैशेषिक सम्पूर्णज्ञानोंका अपना निश्चय करनेसे रहित अस्वसंवेदी कह रहे हैं, उनके यहां यह व्यवस्था नहीं बनती है। वहां अन्योन्याश्रय, अनवस्था, चक्रक दोष अवश्य हो जावेंगे। हम जैनोंके यहां चाहे कोई भी सम्यग्ज्ञान या मिथ्याज्ञान हो अपने प्रमाणपन या अप्रमाणपनसे सहित शरीरको अवश्य जानेगा। इतना विशेष है कि अनभ्यास दशामें जबतक प्रमाणपनका निर्णय नहीं हुआ है, तबतक अप्रमाणपनसे सहित सदृश अपनेको जानेगा अथवा अनभ्यास दशामें जबतक अप्रमाणपन नहीं जाना गया है। तबतक स्वयंको प्रामाण्यग्रस्त सारिखा जानता रहेगा। केवल सामान्यज्ञानको जाननेका अवसर नहीं है। क्योंकि विशेषोंसे रहित सामान्य बिचारा अश्वविषाणके समान असत् है। अतः सम्पूर्ण ज्ञानोंको स्वशरीर का निश्चय करनेवाला मानना आवश्यक है।

क्वचिदत्यंताभ्यासात् स्वतः प्रमाणत्वस्य निश्चयान्नानवस्थादिदोषः।

कहीं अधिक परिचितस्थलमें अत्यन्त अभ्यास हो जानेसे प्रमाणपनका स्वतः निश्चय हो जाता है। अतः अनवस्था आदिक दोष नहीं आते हैं। आत्माश्रय दोष भी नहीं आता है। अन्यत्र आत्माश्रय दोष है। जैसे कि खोगये उपनेत्र (चश्मा) को ढूंढनेके लिये उसी अपने उपनेत्रकी आवश्यकता है। अंधेरेमें दिया (लालटेन) को खोजनेके लिये स्वयं दीपककी आकांक्षा हो जाती है। किन्तु ज्ञान ही संसारमें एक ऐसा पदार्थ है, जो कि स्व और अर्थको प्रकाशता रहता है। अतः यहां आत्माश्रय तो दोष नहीं गुण है। कहीं कहीं एक दूसरेके आश्रय कर दो लकडियोंको तिरछा खडाकर देनेपर अथवा नट और बांसके प्रकरणमें अन्योन्याश्रय हो जाता है। वह गुण है। बीज, अंकुर या संसारकी अनादिता अथवा नित्यपरिणामी द्रव्य आदिमें अनवस्था भी दोष नहीं माना गया है। किन्तु ज्ञापक पक्ष होनेके कारण मूलको क्षय करनेवाले अनवस्था और अन्योन्याश्रय यहां दोष ही हैं। कारकपक्षमें भले ही ये क्वचित् गुण हो जावें, जहां कि दोषोंके होते हुये भी कार्य हो रहे दीखते हों, अन्यत्र नहीं। अतः नैयायिकोंके यहां वे दोष लागू हो जाते हैं। स्याद्वादियोंके यहां वे गुणरूप हैं। एकान्तवादी श्लेष्म रोगवालोंको दुग्धपान दोष है। किन्तु अनेका-

न्तवादी स्वस्थपुरुषोंको पथ्यपान बलवर्धक है। हाथीकी शोभाकारक झूल छिरियाकी विपत्तिका कारण बन बैठती है।

क्वचिदनभ्यासात् परतस्तस्य व्यवस्थितेर्नाव्याप्तिरित्येतदपि स्याद्वादिनामेव परमार्थतः सिध्येत् स्वार्थनिश्चयोपगमात्। न पुनः स्वरूपनिश्चयरहितसकलसंवेदनवादिनामनवस्थाद्यनुषंगस्य तदवस्थत्वात्। तथाहि। वस्तुव्यवस्थानिबंधनस्य स्वरूपनिश्चयरहितस्यास्वसंवेदितस्यैवानुपयोगात्। तत्र निश्चयं जनयत एव प्रमाणत्वमभ्युपगंतव्यम्। तन्निश्चयस्य स्वरूपे स्वयमनिश्चितस्यानुत्पादिताविशेषान्निश्चयांतरजननानुषंगादनवस्था, पूर्वनिश्चयस्योत्तरनिश्चयात्सिद्धौ तस्य पूर्वनिश्चयादन्योन्याश्रयणं।

कहीं अपरिचित स्थलमें अनभ्यास होनेसे उस प्रमाणपनकी दूसरे कारणोंसे ज्ञप्ति व्यवस्था कर दी जाती है, इस कारण अव्याप्ति दोष नहीं है। इस प्रकार यह कहना भी स्याद्वादियोंके यहां ही वास्तविकरूपसे सिद्ध हो सकता है। क्योंकि उन्होंने ज्ञानके द्वारा स्व और अर्थका निश्चय हो जाना स्वीकार किया है। किन्तु जो नैयायिक फिर सम्पूर्णज्ञानोंको स्वरूपका निश्चय करनेसे रहित कह रहे हैं, वे ईश्वरके भी दो ज्ञान मानते हैं। एकसे सम्पूर्ण पदार्थोंको जानता है, और दूसरे ज्ञानसे उस सर्वज्ञातृ ज्ञानको जानता है। उनके यहां अनवस्था, अन्योन्याश्रय आदि दोषोंका प्रसंग होना वैसाका वैसा ही अवस्थित रहेगा। तिसको स्पष्ट कर कहते हैं। सुनिये। सम्पूर्ण वस्तुओंकी यथार्थ व्यवस्था करनेका कारण ज्ञान माना गया है। यदि ज्ञानको स्वका संवेदन करनेवाला ही नहीं माना जायगा तो स्वरूपका निश्चय करनेसे रहित उस ज्ञानका वस्तुव्यवस्था करनेमें कोई उपयोग नहीं है। हां, उस स्वरूपमें निश्चयको उत्पन्न करा रहे ही ज्ञानको प्रमाणपन स्वीकार करना चाहिये। और वह प्रमाणपनका निश्चय भी यदि स्वरूपमें स्वयं अनिश्चित है, तब तो ऐसे अज्ञात स्वनिश्चयवालेका उत्पन्न नहीं होनेसे कोई अन्तर नहीं है। जैसे कि जिस सुखदुःखका ज्ञान नहीं हुआ वह उत्पन्न हुआ भी उत्पन्न नहीं हुआ सरीखा है। अतः स्वका निश्चय करनेके लिये फिर दूसरे निश्चयकी उत्पत्ति करनेका प्रसंग होगा और आगे भी यही ढचरा चलेगा। अतः अनवस्था होगी। पहिले निश्चयकी उत्तरकालमें होनेवाले निश्चयसे सिद्धि मानी जाय और उस उत्तरकालके निश्चयकी पूर्वकालके निश्चयसे सिद्धि मानी जाय तो परस्पराश्रय दोष होगा।

यदि पुनर्निश्चयः स्वरूपे निश्चयमजनयन्नपि सिध्यति निश्चयत्वादेव न प्रत्यक्षमनिश्चयत्वादिति मतं तदार्थज्ञानज्ञानं ज्ञानांतरापरिच्छिन्नमपि सिध्येत् तद्ज्ञानत्वात् न पुनरर्थज्ञानं तस्यातत्त्वादिति ज्ञानांतरवेद्यज्ञानवादिनोपि नार्थचिन्तनमुत्सीदेत्। ज्ञानं ज्ञानं च स्याज्ज्ञानांतरपरिच्छेद्यं च विरोधाभावादिति चेत्, तर्हि निश्चयो निश्चयश्च स्यात्स्वरूपे निश्चयं च जनयेत्तत एव सोपि तथैवेति स एव दोषः।

यदि फिर नैयायिकोंका यह मन्तव्य होय कि जैसे मिश्री चारों ओर (तरफ) से मीठी है, उसी प्रकार सर्वाङ्गनिश्चय स्वरूप होनेके कारण ही निश्चयात्मकज्ञान स्वरूपमें निश्चय नहीं कराता हुआ भी स्वयं निश्चयरूप सिद्ध हो जाता है। हां, प्रत्यक्ष स्वयं निश्चयरूप सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि प्रत्यक्षज्ञानका शरीर स्वयं निश्चयरूप नहीं है। तब तो हम जैन भी कहेंगे कि अर्थ ज्ञानको जाननेवाला दूसरा ज्ञान तीसरे अन्य ज्ञानसे नहीं जाना गया हुआ भी सिद्ध हो जायगा। क्योंकि वह घटको जाननेवाले पहिले ज्ञानका ज्ञान है। किन्तु फिर पहिला अर्थका ज्ञान दूसरे ज्ञानसे नहीं जाना गया हुआ तो नहीं सिद्ध होगा। क्योंकि वह ज्ञानका ज्ञान नहीं है। इस प्रकार अन्य ज्ञानोंसे जानने योग्य प्रकृतज्ञानको कहनेवाले नैयायिकोंके यहां भी अर्थका संवेदन होना नहीं उद्घाटित हो सकेगा। यदि नैयायिक यों कहें कि पहिला अर्थज्ञान जो है, सो ज्ञान भी बना रहे और दूसरे ज्ञानोंसे जानने योग्य भी होता रहे, कोई विरोध नहीं है। ऐसा कहनेपर तो हम भी कह देंगे कि अर्थका निश्चय भी निश्चय बना रहे और स्वरूपमें निश्चयको भी उत्पन्न कराता रहे, उस ही कारणसे कोई विरोध नहीं है। यदि वह निश्चय भी तिस ही प्रकार माना जायगा, तब तो वही दोष उपस्थित होगा जो कि पूर्वमें कहा जा चुका है।

स्वसंविदितत्वान्निश्चयस्य स्वयं निश्चयान्तरानपेक्षत्वेनुभवस्यापि तदपेक्षा माभूत्।

यदि निश्चय ज्ञानको स्वसंवेदन होनेके कारण स्वयं निश्चय स्वरूपपना है, स्वयंको अन्य निश्चयोंकी अपेक्षा नहीं है, ऐसा कहोगे तो प्रत्यक्षरूप अनुभवको भी उन अन्य ज्ञानोंकी अपेक्षा नहीं होओ। सभी ज्ञान अपने अपने स्वरूपका स्वयं निश्चय कर लेते हैं।

शक्यनिश्चयमजनयन्नेवार्थानुभवः प्रमाणमभ्यासपाटवादित्यपरः। तस्यापि " यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता " इति ग्रंथो विरुध्यते।

निश्चय करनेकी सामर्थ्यको नहीं उत्पन्न करा रहा ही अर्थका अनुभव प्रमाण हो जाता है, क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञानको अभ्यासकी पटुता (दक्षता) है। इस प्रकार कोई प्रतिवादी कह रहा है। उस बौद्धके भी माने गये इस ग्रंथका उक्त कथनसे विरोध होता है कि निर्विकल्पक ज्ञान जिस ही विषयमें इस निश्चयरूप सविकल्पक बुद्धिको उत्पन्न करा देवेगा, उस ही विषयमें इस प्रत्यक्षको प्रमाणपना है। अर्थात् जैसे कि घटका प्रत्यक्ष हो जानेपर पीछेसे उसके रूप, स्पर्श, आदिमें निश्चयज्ञान उत्पन्न हो गया है। अतः रूप और स्पर्शको जाननेमें निर्विकल्पकज्ञान प्रमाण माना जाता है। किन्तु प्रत्यक्षद्वारा वस्तुभूत क्षणिकत्वके जान लेनेपर भी पीछेसे क्षणिकपनका निश्चय नहीं हुआ है। अतः क्षणिकको जाननेमें प्रत्यक्षकी प्रमाणता नहीं है। अतः निश्चयको नहीं पैदा करनेवाला प्रत्यक्ष यदि प्रमाण मान लिया जायगा तो "यत्रैव जनयेदेना" इस ग्रन्थसे विरोध पडेगा।

कश्चायमभ्यासो नाम ? पुनः पुनरनुभवस्य भाव इति चेत्, क्षणक्षयादौ तत्प्रमाणत्वापत्तिस्तत्र सर्वदा सर्वार्थेषु दर्शनस्य भावात् परमाभ्याससिद्धेः।

और हम बौद्धोंसे पूछते हैं कि यह आपका माना हुआ अभ्यास भला क्या पदार्थ है ? विद्यार्थी कई बार बोल बोल करके घोषणा करते हैं। मल्ल व्यायामकर अभ्यास करते हैं। घोडाको अनेक शोभनगतियोंका अभ्यास कराया जाता है। इसी प्रकार प्रत्यक्षज्ञानका अभ्यास क्या पडेगा। बताओ। यदि पुनः पुनः प्रत्यक्षरूप अनुभवकी उत्पत्ति हो जाना अभ्यास कहा जायगा, तब तो क्षणिकपन आदिमें उस निर्विकल्पकको प्रमाणपनेका प्रसंग होगा। क्योंकि संपूर्ण अर्थोंमें तदात्मक हो रहे उस क्षणिकपनरूप विषयमें निर्विकल्पकज्ञान सदा होते रहते हैं। स्वलक्षणोंसे क्षणिकपन अभिन्न है। अतः क्षणिकत्वमें तो बहुत बढिया अभ्यास सिद्ध हो रहा है। भावार्थ—स्वलक्षण-पदार्थ तो विकल्पोंसे रहित है, क्षणस्थायी है। अतः क्षणिकपनेका ज्ञान स्वलक्षणको जानते समय ही प्रत्यक्ष द्वारा हो चुका है। किन्तु कालान्तरस्थायीपनके समारोपको दूर करनेके लिये सत्त्व हेतुसे क्षणिकपनको पुनः साधा जाता है। अतः फिर फिर अनुभवोंकी उत्पत्तिको यदि अभ्यास माना जायगा तो क्षणिकपनमें परम अभ्यास होनेके कारण बडी सुलभतासे निश्चय हो जायगा और क्षणिकपनको जाननेमें प्रत्यक्षज्ञानको प्रमाणपना प्राप्त हो जावेगा, जो कि तुम बौद्धोंको इष्ट नहीं है। अतः यह पक्ष अच्छा नहीं है।

पुनः पुनर्विकल्पस्य भावः स इति चेत्, ततोनुभवस्य प्रमाणत्वे निश्चयजननादेव तदुपगतं स्यादिति पक्षांतरं पाटवमेतेनैव निरूपितं।

यदि फिर फिर विकल्पज्ञानोंकी उत्पत्ति होना वह अभ्यास है, ऐसा कहोगे तब तो उस अभ्याससे अनुभव (प्रत्यक्ष) को प्रमाणपना लाया जावेगा, ऐसा होनेपर निश्चयकी उत्पत्तिसे ही वह प्रमाणपना स्वीकार किया गया समझा जायगा और ऐसा माननेपर अनवस्था और अन्योन्याश्रय दोष पहिले कहे जा चुके हैं। इस कथनसे ही अनुभवकी पटुताका दूसरा पक्ष भी निरूपण कर दिया गया समझ लेना चाहिये। अभ्यासपाटव, प्रकरण और अर्थीपन इन चार पक्षोंमें दक्षताका भी ग्रहण करना इष्टसाधक न हो सका।

अविद्यावासनाप्रहाणादात्मलाभोनुभवस्य पाटवं न तु पौनःपुन्येनानुभवो विकल्पोत्पत्तिर्वा, यतोभ्यासेनैवास्य व्याख्येति चेत्, कथमेवमप्रहाणाविद्यावासनानां जनानामनुभवात्कचित्प्रवर्तनं सिध्येत्, तस्य पाटवाभावात् प्रमाणत्वायोगात्। प्राणिमात्रस्याविद्यावासनाप्रहाणादन्यत्र क्षणक्षयाद्यनुभवादिति दोषापाकरणे कथमेकस्यानुभवस्य पाटवापाटवे परस्परविरुद्धे वास्तवेन स्यातां। तयोरन्यतरस्याप्यवास्तवत्वे कचिदेव प्रमाणत्वाप्रमाणत्वयोरेकत्रानुभवेनुपपत्तेः।

बौद्ध कहते हैं कि अविद्यारूप लगी हुई चिरकालकी वासनाके भले प्रकार नाश हो जानेसे अनुभवका आत्मलाभ होना ही पटुता है। पुनः पुनः करके अनुभव उत्पन्न होना अथवा बहुत बार विकल्पज्ञानोंकी उत्पत्ति होना तो पटुता नहीं है, जिससे कि अभ्यास करके ही इस पटुत्वकी व्याख्या

हो जाय, अर्थात्—अभ्यासमें पाटव न्यारा है। इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि ऐसे ढंगसे अविद्याका सर्वथा नाशकर सम्यग्ज्ञानको धारनेवाले जीवोंकी विषयोंमें प्रवृत्ति भले ही होजाय किन्तु जिन मनुष्योंकी अविद्यावासना नष्ट नहीं हुयी है, उन जीवोंकी किसी विषयमें अनुभवज्ञानसे प्रवृत्ति होना कैसे सिद्ध होगा ? बताओ। क्योंकि आपकी मानी हुयी इस पटुताके न होनेके कारण उनके उस अनुभवमें प्रमाणपना नहीं प्राप्त हो सकता है। यदि बौद्ध इस दोषका निवारण यों करें कि सम्पूर्णप्राणियोंकी अविद्यावासनाके नाश हुये विना भी क्षणिकत्व, स्वर्गप्रापणशक्ति, आदिका अनुभव हो जाता है, तब तो हम जैन कहेंगे कि एक अनुभवके स्वलक्षण विषयमें पाटव और क्षणिकत्व विषयमें अपाटव ये परस्पर विरुद्ध हो रहे धर्म भला वास्तविक क्यों नहीं हो जावेंगे ? अनेकान्त आजावेगा। फिर बौद्धोंका धर्म निरात्मकपना कहा रहा ? उन दोनों पाटव अपाटवोंमेंसे किसी एकको भी वस्तुभूत नहीं माना जायगा तो एक अनुभवमें किसी विषयकी अपेक्षा प्रमाणपन और किसी दूसरे विषयकी अपेक्षा अप्रमाणपनकी सिद्धि न हो सकेगी।

प्रकरणाप्रकरणयोरनुपपत्तिरनेनोक्ता। अर्थित्वानर्थित्वे पुनरर्थज्ञानात्प्रमाणात्मका-दुत्तरकालभाविनी कथमर्थानुभवस्य प्रामाण्येतरहेतुतां प्रतिपद्येते स्वमतविरोधात्। ततः स्वार्थव्यवसायात्मकज्ञानाभिधायिनामेवाभ्यासे स्वतोऽनभ्यासे परतः प्रामाण्यसिद्धिः।

इस कथनसे यानी अभ्यास और पाटवका विचार करचुकनेसे प्रकरण और अप्रकरणकी उपपत्ति न हो सकना भी कह दिया गया समझ लेना। अर्थात्—क्षणिकपनके प्रकरण भी सदा प्राप्त हो रहे हैं। अतः एक अंशमें निश्चय पैदा करानेका प्रकरण और क्षणिकत्वके निश्चय करनेका अप्रकरण नहीं कह सकते हो तथा ज्ञेय विषयका अर्थीपन और क्षणिक विषयका अनभिलापुकपन तो फिर प्रमाणरूप अर्थज्ञानसे उत्तरकालमें होनेवाले हैं। वे अर्थके अनुभवकी प्रमाणता और अप्रमाणताके हेतुपनको कैसे प्राप्त हो सकेंगे ? अर्थात्—अर्थज्ञानमें प्रमाणपना उत्पन्न हो जानेपर पीछेसे अर्थमें अभिलापुकता या अनर्थिता हो सकेगी। अत अन्योन्याश्रय दोष आता है। अर्थीपन या अनर्थीपनसे अर्थज्ञानमें प्रमाणता या अप्रमाणता होवे और ज्ञानमें प्रमाणता अप्रमाणताके हो जानेपर अभिलाषा होवे, अर्थात्—बौद्धोंको अपने मतसे विरोध होगा। उन्होंने प्रमाणपनकी व्यवस्थाका यह ढंग स्वीकार नहीं किया है। तिस कारण स्व और अर्थको निश्चय करना स्वरूपज्ञानको कहनेवाले स्याद्वादियोंके यहां ही अभ्यास दशामें ज्ञानकी प्रमाणता स्वत जानने और अनभ्यास दशामें ज्ञानकी प्रमाणता परतः जाननेकी सिद्धि होती है। एकान्तवादी नैयायिक बौद्ध आदिके यहां अनेक दोष आते हैं।

स्वतः प्रमाणता यस्य तस्यैव परतः कथम्।
तदैवैकत्र नैवातः स्याद्वादोस्ति विरोधतः॥ १२८॥

नैतत्साधु प्रमाणस्यानेकरूपत्वनिश्चयात् ।
प्रमेयस्य च निर्भागतत्त्ववादस्तु बाध्यते ॥ १२९ ॥

जिस ही ज्ञानको स्वांशमें स्वतः प्रमाणपना है, उस ही ज्ञानको अनभ्यास दशामें परतः प्रमाणपना कैसे होगा ? एक स्थानपर एक ही समयमें दो विरुद्ध धर्म नहीं ठहर सकते हैं। अतः विरोध हो जानेसे स्याद्वाद मत ठीक नहीं है, यह किसीका कहना प्रशस्त नहीं है। क्योंकि प्रमाण ज्ञानको अनेक स्वरूपोंसे सहितपनेका निश्चय हो रहा है। तथा प्रमाणसे जानने योग्य प्रमेय पदार्थ भी अनेक स्वरूपोंको लिये हुये है। जो बौद्ध प्रमाण और प्रमेयोंको अंशोंसे रहित मानते हैं, उनका तत्त्वोंके स्वरूपरहित माननेका पक्षपरिग्रह करना तो बाधित हो जाता है। चाहे जिस पदार्थमें निःस्वरूपत्व या अनेक धर्मोंसे रहितपना किसी भी प्रमाणसे जाना नहीं जाता है।

तत्र यत्परतो ज्ञानमनभ्यासे प्रमाणताम् ।
याति स्वतः स्वरूपे तत्तामिति क्वैकरूपता ॥ १३० ॥

तिन ज्ञानोंमें जो ज्ञान अनभ्यास दशामें दूसरे ज्ञापक हेतुओंसे प्रमाणपनको प्राप्त करता है, वह ज्ञानस्वरूप अंशमें स्वतः ही उस प्रमाणपनको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार भला एकरूपपना ज्ञानमें कहा रहा ? भावार्थ—ज्ञानमें अनेक स्वभाव विद्यमान हैं। प्रमेयके भी अनेक स्वभाव हैं। अनभ्यासदशाके ज्ञानके विषय अंशमें परत प्रामाण्य जाना जाता है। किन्तु ज्ञान अंशमें वह स्वतः प्रमाणरूप है।

स्वार्थयोरपि यस्य स्यादनभ्यासात्प्रमाणता ।
प्रतिक्षणविवर्त्तादौ तस्यापि परतो न किम् ॥ १३१ ॥
स्याद्वादो न विरुद्धोतः स्यात्प्रमाणप्रमेययोः ।
स्वद्रव्यादिवशाद्वापि तस्य सर्वत्र निश्चयः ॥ १३२ ॥

जिस वादीके यहां अनभ्यास दशा होनेसे स्व और अर्थमें भी प्रमाणपना परतः माना जाता है, उसके यहां भी प्रतिक्षण नवीन नवीन पर्याय आदिमें दूसरोंसे प्रमाणपना क्यों नहीं माना जावेगा। इस कारण प्रमाणतत्त्व और प्रमेयतत्त्वोंमें कथंचित् अनेक स्वरूपोंको कहनारूप स्याद्वाद सिद्धांत कैसे भी विरुद्ध नहीं होगा अथवा स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अधीनतासे अस्तिपना और परकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नास्तिपनेकरके भी उस स्याद्वादका सभी स्थलोंपर निश्चय हो रहा है।

केवलज्ञानमपि स्वद्रव्यादिवशात्प्रमाणं न परद्रव्यादिवशादिति सर्वं कथंचित्प्रमाणं, तथा तदेव स्वात्मनः स्वतः प्रमाणं छद्मस्थानां तु परत इति सर्वं स्यात् स्वतः, स्यात्परतः,

रहा मान लिया जाता है, जो कि प्रसिद्ध पदार्थ प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंको साधनेवाला है। इसपर हम बौद्धोंका कहना है कि उस ही प्रकार प्रमाणका साधन भी क्यों न कर लिया जाय ? अर्थात्— दूसरोंके अनुसार चलनेसे प्रमाण भी साध लिया जाय। प्रथम दूसरोंके कहनेसे पदार्थ प्रसिद्ध किया जाय और पुनः उससे प्रमाणकी सिद्धि मानी जाय। इस परम्पराका परिश्रम उठानेसे क्या लाभ हुआ ? तात्त्विकरूपसे प्रमाणको माननेकी आवश्यकता नहीं है।

परा भ्युपगमः केन सिध्यतीत्यपि च द्वयोः।
समः पर्यनुयोगः स्यात्समाधानं च नाधिकम् ॥ १३९ ॥
तत्प्रमाणप्रमेयादिव्यवहारः प्रवर्तते।
सर्वस्याप्यविचारेण स्वप्नादिवदितीतरे ॥ १४० ॥

बौद्ध ही कह रहे हैं कि वह दूसरे वादियोंका स्वीकार करना किस करके सिद्ध हो रहा है ? इस प्रकारका प्रश्न उठाना दोनोंको समान है और समाधान करना भी दोनोंका एकसा है। कोई अधिक नहीं है। अर्थात्—प्रमाणको माननेवाले और न माननेवाले दोनोंके यहां अन्य वादियोंके माने गये पदार्थोंको स्वीकार करनेमें शंकासमाधान करना एकसा है। किसीके यहां कोई अधिकता नहीं है। तिस कारण प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता, आदिक व्यवहार सभीके यहां विना विचार करके प्रवर्त्त रहे हैं। जैसे कि स्वप्न, मूर्च्छित, ग्रामीण झूंठी किम्वदन्तियां आदिके व्यवहार भित्तिके विना यों ही झूंठ मूठ प्रचलित हो रहे हैं। इस प्रकार यहांतक अन्य बौद्ध या शून्यवादी कह रहे हैं।

तेषां संवित्तिमात्रं स्यादन्यद्वा तत्त्वमंजसा।
सिद्धं स्वतो यथा तद्वत्प्रमाणमपरे विदुः ॥ १४१ ॥
यथा स्वातंत्र्यमभ्यस्तविषयेऽस्य प्रतीयते।
प्रमेयस्य तथा नेति न प्रमान्वेषणं वृथा ॥ १४२ ॥
परतोपि प्रमाणत्वेऽनभ्यस्तविषये क्वचित्।
नानवस्थानुषज्येत तत एव व्यवस्थितेः ॥ १४३ ॥

उन बौद्धोंके यहां केवल शुद्ध सम्वित्ति अथवा अन्य कोई शून्य पदार्थ या तत्त्वोपप्लव तत्त्वका जिस प्रकार शीघ्र अपने आप सिद्ध होना माना गया है, उसीके समान दूसरे जैन, मीमांसक, नैयायिक आदि वादी विद्वान् प्रमाणतत्त्वको स्वतः सिद्ध होना मान रहे हैं। तथा जिस प्रकार अभ्यास किये गये परिचित विषयमें इस प्रमाणको स्वतंत्ररूपसे प्रमाणपना प्रतीत हो रहा है, तिस

प्रकार प्रमेय पदार्थको स्वतंत्रपना नहीं जाना जा रहा है। अर्थात्—प्रमेयकी सिद्धि प्रमाणके अधीन है। इस कारण प्रमेयकी सिद्धिको करानेके लिये प्रमाणका ढूंढना व्यर्थ नहीं है। हां, कहीं अपरिचित स्थलपर अभ्यस्त नहीं किये गये विषयमें प्रमाणज्ञानकी प्रमाणता दूसरे ज्ञापकोंसे भी जानी जायगी तो भी अनवस्था दोषका प्रसंग नहीं आवेगा। क्योंकि उस ही अभ्यास दशावाले दूसरे प्रमाणसे अनभ्यस्त दशाके प्रमाणमें प्रमाणपनकी व्यवस्था हो जाती है। अतः सम्पूर्ण प्रमाण, प्रमेय, आदि पदार्थोंका आद्य चिकित्सक प्रमाणतत्त्व अवश्य मानना चाहिये।

स्वरूपस्य स्वतो गतिरिति संविदद्वैतं ब्रह्म वा स्वतः सिद्धमुपयन्नभ्यस्तविषये सर्वं प्रमाणं तथाभ्युपगंतुमर्हति। नो चेदनवधेयवचनो न प्रेक्षापूर्वकवादी।

ज्ञानाद्वैतवादी या ब्रह्माद्वैतवादी विद्वान् सम्पूर्ण पदार्थोंके स्वरूपका ज्ञान होना स्वतः ही मानते हैं। ज्ञान और आत्माका स्वयं अपने आपसे ज्ञान होना प्रसिद्ध ही है। और अद्वैतवादी सर्व तत्त्वोंको चैतन्य आत्मक स्वीकार करते हैं। तब उनके मतानुसार सम्पूर्ण पदार्थोंके स्वरूपका स्वतः ही ज्ञान होना ठीक पडजाता है। अस्तु. कुछ भी हो, जब कि अद्वैतवादी पण्डित शुद्ध सम्वेदन या ब्रह्मतत्त्वको स्वतः ही सिद्ध होना स्वीकार कर रहा है, तो अभ्यस्तविषयमें सम्पूर्ण प्रमाणोंको तिस प्रकार स्वतः सिद्ध स्वीकार करनेके लिये भी वह अवश्य योग्य हो जाता है। यदि वह ऐसा न मानेगा तो विश्वास नहीं करने योग्य कथन करनेवाला होता हुआ विचारपूर्वक कहनेवाला नहीं कहा जा सकता है। अर्थात्—न्यायसे प्राप्त हुये सिद्धान्तको टालकर एक पक्ष (इकतरफा) की बातके आग्रह करनेवालेका वचन विश्वास करलेने योग्य नहीं है। वह विचारशाली भी नहीं माना जाता है। अतः अभ्यासदशामें प्रमाणकी स्वतः ही सिद्धि होना मान लेना चाहिये।

न च यथा प्रमाणं स्वतः सिद्धं तथा प्रमेयमपि तस्य तद्वत्स्वातंत्र्याप्रतीतेः तथा प्रतीतौ वा प्रमेयस्य प्रमाणत्वापत्तेः, स्वार्थप्रमितौ साधकतमस्य स्वतंत्रस्य प्रमाणत्वात्मकत्वात्। ततो न प्रमाणान्वेषणमफलं, तेन विना स्वयं प्रमेयस्याव्यवस्थानात्। यदा पुनरनभ्यस्तेर्थे परतः प्रमाणानां प्रामाण्यं तदापि नानवस्था परस्पराश्रयो वा स्वतः सिद्धप्रामाण्यात् क्वचित्कचित्प्रमाणादवस्थोपपत्तेः।

जिस प्रकार सूर्य या दीपकके स्वप्रकाशकपनेके समान प्रमाणतत्त्व स्वतः सिद्ध है, उस प्रकार घट, पट, आदि प्रमेय भी अपने आपसे सिद्ध नहीं होते हैं। क्योंकि उन प्रमेयोंको उस प्रमाणके समान सिद्धि होनेमें स्वतंत्रता नहीं प्रतीत हो रही है। यदि प्रमेयकी भी तिस प्रकार स्वतंत्रतासे स्वयं प्रतीति होना माना जायगा तो प्रमेयको प्रमाणपनका प्रसंग होगा। प्रमाणका अद्वैत छाजायगा। क्योंकि स्व (अपनी) और अर्थकी प्रमिति करनेमें प्रकृष्ट उपकारक स्वतंत्र पदार्थको प्रमाणपना स्वरूप व्यवस्थित है। तिस कारण प्रमाणका ढूंढना निष्फल नहीं है। कारण कि उस

स्वतंत्र प्रमाणके विना प्रमेयतत्त्वकी स्वयं व्यवस्था नहीं हो पाती है। तथा जब फिर अनभ्यस्त विषयमें हुये प्रमाणोंकी प्रमाणता अन्य ज्ञापक कारणोंसे मानी जायगी तो भी अनवस्था अथवा अन्योन्याश्रय दोष नहीं आते हैं। अर्थात्—दूसरे, तीसरे, चौथे आदि ज्ञापकोंकी आकांक्षा बढनेसे अनवस्था तथा पहिले प्रमाणकी प्रमाणता दूसरे प्रमाणसे और दूसरेकी प्रमाणता पहिले प्रमाणसे जाननेमें अन्योन्याश्रय दोष होनेकी सम्भावना नहीं है। क्योंकि किसी भी अनभ्यास दशाके प्रमाणमें अभ्यास दशाके स्वतः सिद्ध प्रमाणतावाले किसी भी स्वतंत्र प्रमाणसे दूसरी तीसरी कोटीपर अवस्थिति होना बन जाता है।

ननु च क्वचित्कस्यचिदभ्यासे सर्वत्र सर्वस्याभ्यासोस्तु विशेषाभावादनभ्यास एव प्रतिप्राणि तद्वैचित्र्यकारणाभावात्। तथा च कुतोभ्यासानभ्यासयोः स्वतः परतो वा प्रामाण्यव्यवस्था भवेदिति चेत्। नैवं, तद्वैचित्र्यसिद्धेः।

बौद्ध शंका करते हैं कि कहीं भी विशेष अभ्यस्तस्थलपर किसी व्यक्तिका यदि अभ्यास माना जावेगा, तो सभी स्थलोंपर सब जीवोंका अभ्यास हो जाओ। कोई विशेषता नहीं दीखती है तथा यदि किसी जीवका किसी अपरिचित स्थलपर अनभ्यास माना जावेगा तो सभी जीवोंका सभी स्थानोंपर अनभ्यास ही रहो। प्रत्येक प्रत्येक प्राणीमें उस अभ्यास या अनभ्यासकी विचित्रताका कोई कारण नहीं हैं। तिस प्रकार होनेपर अभ्यासदशामें स्वतः प्रमाणपनेकी व्यवस्था और अनभ्यास दशामें दूसरोंसे प्रमाणपनेकी व्यवस्था भला कैसे होगी? ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार तो शंका नहीं करना। क्योंकि संसारी जीवोंके उस अभ्यास और अनभ्यासकी विचित्रताके कारण सिद्धि है। सो सुनिये—

दृष्टादृष्टनिमित्तानां वैचित्र्यादिह देहिनाम्।
जायते क्वचिदभ्यासोऽनभ्यासो वा कथंचन ॥ १४४ ॥

इस संसारमें कुछ देखे हुये कारण और कतिपय नहीं देख सकने योग्य परोक्ष निमित्त कारणोंकी विचित्रतासे प्राणियोंके किसी परिचित विषयमें अभ्यास और किसी अपरिचित विषयमें अनभ्यास कैसे न कैसे हो ही जाता है। उर्द या मूंगका रंधना और मिट्टीसे घडा बनना जैसे अंतरंग, वहिरंग कारणोंसे होता है, वैसे ही अभ्यास, अनभ्यास भी कहीं कहीं दोनों कारणोंसे हो जाते हैं।

दृष्टानि निमित्तान्यभ्यासस्य क्वचित्पौनःपुन्येनानुभवादीनि तद्ज्ञानावरणवीर्यांतरायक्षयोपशमादीन्यदृष्टानि विचित्राण्यभ्यास एव स्वहेतुवैचित्र्यात् जायंते, अनभ्यासस्य च सकृदनुभवादीन्यनभ्यासज्ञानावरणक्षयोपशमादीनि च। तद्वैचित्र्याद्वैचित्र्येऽभ्यासोऽनभ्यासश्च जायते। ततः युक्ता स्वतः परतश्च प्रामाण्यव्यवस्था।

किसी विषयमें अभ्यासके दृष्ट कारण पुनः पुनः करके अनुभव होना घोषणा (घोखना) आदि हैं। किसी मेधावी जीवके एक बार देखनेसे भी अभ्यास हो जाता है। अवधान करना, स्मरणशक्तिपर बल देना, ब्राह्मी, बादाम, घृत, आदिका सेवन भी बहिरंग निमित्त कारण है तथा उस विषय संबंधी ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मोंका क्षयोपशम होना, विनयसंपत्ति होना, स्फूर्ति, प्रतिभा, विशुद्धि, आदि अन्तरंग जो कि बहिरंग इन्द्रियों द्वारा नहीं दीखे जाय, ऐसे नाना प्रकारके निमित्त कारण हैं। ये दृष्ट, अदृष्ट विचित्र कारण भी अभ्यास होनेपर ही अपने कारणोंकी विचित्रतासे बन जाते हैं। पुरुषार्थ करनेसे पुनः पुनः अनुभव हो जाता है। कषायोंकी मन्दता, गुरुभक्ति, सदाचार, शुद्धभोजनपान, ब्रह्मचर्य, आदिसे ज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम बढिया हो जाता है। ऋतुपरिवर्तनके समान कारणोंकी विचित्रता अनेक निमित्तोंसे संसारमें हो रही प्रसिद्ध है। तथा अनभ्यासके भी दृष्ट निमित्तकारण तो एक बार अनुभव करना, उपेक्षा रखना, अन्यमनस्क होना, खोटा आचार करना, आदि हैं। और अनभ्यासके अदृष्ट कारण अनभ्यास ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मोंका क्षयोपशम, उद्धतपना, कषायसद्भाव, बुद्धिस्थूलता आदि हैं। उनके भी कारणोंकी विचित्रतासे उन कारणोंमें विचित्रता होनेपर किसी जीवका किसी विषयमें अभ्यास और अनभ्यास होना बन जाता है। तिस कारणसे अभ्यास दशामें स्वतः और अनभ्यास दशामें परतः प्रमाणपनके ज्ञानकी व्यवस्था होना युक्त है।

तत्प्रसिद्धेन मानेन स्वतोसिद्धस्य साधनम्।
प्रमेयस्य यथा तद्वत्प्रमाणस्येति धीधनाः॥ १४५॥

तिस कारण स्वतः नहीं सिद्ध हुये प्रमेयकी स्वतंत्र प्रसिद्ध प्रमाण करके जिस प्रकार सिद्धि की जाती है, उसीके समान अनभ्यास दशामें प्रमाणकी सिद्धि भी अभ्यासके प्रसिद्ध प्रमाण करके कर ली जाती है। इस प्रकार बुद्धिधनके स्वतंत्र अधिकारी आचार्य महाराज कह रहे हैं।

न हि स्वसंवेदनवदभ्यासदशायां स्वतः सिद्धेन प्रमाणेन प्रमेयस्य स्वयमसिद्धस्य साधनमनुरुध्यमानैरनभ्यासदशायां स्वयमसिद्धस्य तदपाकर्तुं युक्तं, सिद्धेनासिद्धस्य साधनोपपत्तेः। ततः सूक्तं संति प्रमाणानीष्टसाधनादिति।

स्वसंवेदन प्रत्यक्षके समान अभ्यास दशामें स्वतः प्रसिद्ध प्रमाण करके स्वयं असिद्ध हो रहे प्रमेयकी सिद्धिको अनुरोध कर कहनेवाले वादियोंकरके अनभ्यास दशामें स्वयं असिद्ध हो रहे प्रमाणकी सिद्धि भी प्रसिद्ध प्रमाण करके हो जाती मान लेनी चाहिये। उन वादिओंको उसका खण्डन करना उचित नहीं है। क्योंकि असिद्ध पदार्थकी सिद्धि पहिलेसे प्रसिद्ध हो चुके तत्त्वसे होती हुयी बन जाती है। पण्डितोंकी समीचीन शिक्षासे मूर्ख भी पण्डित बन जाते हैं। दानियोंके परोपकारसे दरिद्र भी सफलमनोरथ हो जाते हैं। तिस कारण यह अनुमान बहुत अच्छा कहा

था कि प्रमाण (पक्ष) है (साध्य) । क्योंकि इष्ट पदार्थोंकी सिद्धि हो रही है (हेतु) । यहांतक अद्वैतवादी या शून्यवादीके सन्मुख प्रमाणतत्त्वकी सिद्धिका प्रकरण समाप्त हुआ ।

एवं विचारतो मानस्वरूपे तु व्यवस्थिते ।
तत्संख्यानप्रसिद्ध्यर्थं सूत्रे द्वित्वस्य सूचनात् ॥ १४६ ॥

इस प्रकार उक्त विचार करनेसे प्रमाणका स्वरूप व्यवस्थित हो जानेपर तो उस प्रमाणकी संख्याकी प्रसिद्धिके लिये " तत्प्रमाणे " इस सूत्रमें द्विवचन " औ " विभक्तिके द्वारा प्रमाणके दो पनेका सूचन किया गया है ।

तत्प्रमाणे, इति हि द्वित्वनिर्देशः संख्यांतरावधारणनिराकरणाय युक्तः कर्तुं तत्र विप्रतिपत्तेः ।

" तत्प्रमाणे " इस प्रकार सूत्रमें नियमसे द्विवचनपनेका कथन करना तो अन्य नैयायिक, मीमांसक, आदि द्वारा मानी गयीं प्रमाणोंकी संख्याओंके नियमको निवारण करनेके लिये किया जाना समुचित है । क्योंकि उस प्रमाणकी संख्यामें अनेक वादियोंका विवाद पड़ा हुआ था ।

प्रमाणमेकमेवेति केचित्तावत् कुदृष्टयः ।
प्रत्यक्षमुख्यमन्यस्मादर्थनिर्णीत्यसंभवात् ॥ १४७ ॥

तिन विवाद करनेवालोंमें कोई चार्वाक मिथ्यादृष्टि तो इस प्रकार कह रहे हैं कि प्रमाण एक ही है । सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मुख्य प्रत्यक्ष प्रमाण है । क्योंकि अन्य अनुमान, आगम आदिसे अर्थका निर्णय होना असम्भव है । प्रमाणका सबसे पहिले अर्थका निर्णय करना फल है । अनुमान आदिसे विशेष तथा अर्थोंका निर्णय नहीं हो पाता है । सामान्य रूपसे अग्नि आदिकको तो व्याप्ति-ज्ञानके समय ही जान लिया जाता है । वाच्य अर्थके शद्बजन्य आगम ज्ञानमें भी अनेक न्यूनता अधिकतायें हो जाती हैं । अतः प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है ।

प्रत्यक्षमेव मुख्यं स्वार्थनिर्णीतावन्यानपेक्षत्वादन्यस्य प्रमाणस्य जन्मनिमित्तत्वात् न पुनरनुमादि तस्य प्रत्यक्षापेक्षत्वात् प्रत्यक्षजननानिमित्तत्वाच्च गौणतोपपत्तेः न च गौणं प्रमाणमतिप्रसंगात् । ततः प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमगौणत्वात् प्रमाणस्येति केचित् ।

प्रत्यक्ष ही मुख्य प्रमाण है, क्योंकि अपने और अर्थके निर्णय करनेमें उसको अन्यकी अपेक्षा नहीं है । दूसरा हेतु यह है कि प्रत्यक्ष ही अन्य अनुमान आदि प्रमाणोंके जन्मका निमित्त है । अतः प्रत्यक्ष ही मुख्य प्रमाण है । फिर अनुमान, उपमान, आदिक ज्ञान मुख्य नहीं हैं । क्योंकि उनको प्रत्यक्षकी अपेक्षा होनेके कारण तथा प्रत्यक्षके जन्मका निमित्तपना नहीं होनेके कारण गौणपना प्रसिद्ध हो रहा है । किन्तु गौण पदार्थ तो प्रमाण नहीं होता है । क्योंकि यों तो अति-

प्रसंग हो जावेगा। यानी चक्षु, उपनेत्र, (चश्मा) लेखनी, शब्द, सादृश्य आदि जड भी प्रमाण बन बैठेंगे। तिस कारण एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। सम्पूर्ण विषयोंकी व्यवस्था करनेवाला प्रमाण पदार्थ तो अगौण होना चाहिये। इस प्रकार कोई बृहस्पति मतके अनुगामी चार्वाक कह रहे हैं। अब आचार्य कहते हैं कि—

तेषां तत्किं स्वतः सिद्धं प्रत्यक्षांतरतोपि वा।
स्वस्य सर्वस्य चेत्येतद्भवेत् पर्यनुयोजनम् ॥ १४८ ॥

उन चार्वाकोंके यहां स्वयं अपने पूर्वापरकालभावी अनेक प्रत्यक्ष और अन्य संपूर्ण प्राणियोंके प्रत्यक्षप्रमाण क्या स्वतः ही सिद्ध हो रहे हैं ? अथवा क्या अन्य प्रत्यक्षोंसे भी वे सिद्ध किये जाते हैं ? बताओ। इस प्रकार यह कटाक्षसहित प्रश्न करना उनके ऊपर लागू होयगा।

स्वस्याध्यक्षं सर्वस्य वा स्वतो वा सिध्येत् प्रत्यक्षांतराद्वेति पर्यनुयोगोऽवश्यंभावी।

प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण माननेवाले चार्वाकोंके ऊपर इस प्रकारका प्रश्न अवश्य होवेगा कि अपना प्रत्यक्ष अथवा सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रत्यक्ष क्या स्वतः ही सिद्ध हो जावेंगे ? अथवा अन्य प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे साधे जावेंगे ? भावार्थ—अपनी निज आत्मामें हुये भूत, भविष्यत् कालके प्रत्यक्ष भी तो प्रमाण हैं। तुम्हारे पास उनके प्रत्यक्ष करनेका क्या उपाय है ? और स्वयं उस वर्तमानकालके प्रत्यक्षको कैसे जाना जायगा ? तथा अन्य प्राणियोंके भूत भविष्यत् वर्तमानकालके असंख्य प्रत्यक्षोंको भी प्रमाणपन स्वरूपसे जाननेके लिये तुम्हारे पास इस समय क्या साधन है ? बताओ।

स्वस्यैव चेत् स्वतः सिद्धं नष्टं गुर्वादिकीर्तनम्।
तदध्यक्षप्रमाणत्वसिध्यभावात्कथंचन ॥ १४९ ॥
प्रत्यक्षांतरतो वास्य सिद्धौ स्यादनवस्थितिः।
क्वचित्स्वतोऽन्यतो वेति स्याद्वादाश्रयणं परम् ॥ १५० ॥

यदि अपने ही प्रत्यक्षोंकी अपने आपसे सिद्धि होना इष्ट करोगे तो गुरु, पिता, सम्राट, परोपकारी आदिका गुणगायन करना नष्ट हुआ जाता है। क्योंकि उन गुरु आदिके प्रत्यक्षोंको प्रमाणपनकी कैसे भी सिद्धि नहीं हो पाती है। अर्थात्—गुरुकी पूज्यताके कारण उनके प्रत्यक्ष प्रमाणोंको तुम अपने प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे कैसे भी नहीं जान सकते हो अथवा बहुत वर्ष प्रथम हो चुके गुरुओंका या उनके प्रत्यक्ष ज्ञानोंका तुमको प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता है। फिर स्तुति किसकी की जाय ? गुरू आदिके इस प्रत्यक्षकी यदि आप अन्य प्रत्यक्षोंसे सिद्धि होना मानोगे तो उन प्रत्यक्षोंकी सिद्धि भी अन्य प्रत्यक्षोंसे होगी और उनकी भी अन्योंसे होगी। इस प्रकार अनवस्था दोष होगा अर्थात्

पदार्थ तो किसीका ज्ञापक होता नहीं है। कहीं स्वतः और कहीं अन्य प्रत्यक्षोंसे यदि प्रत्यक्षज्ञानोंकी सिद्धि होना मानोगे इस प्रकार तो स्याद्वादसिद्धान्तका आश्रय लेना ही बढिया पडा।

सर्वस्यापि स्वतोध्यक्षप्रमाणमिति चेन्मतिः।
केनावगम्यतामेतदध्यक्षाद्योगिविद्विषाम् ॥ १५१ ॥

यदि चार्वाकोंका यह मन्तव्य होय कि सम्पूर्ण जीवोंके सभी प्रत्यक्षोंको स्वयं अपने आप ही से प्रत्यक्ष होकर प्रमाणपना प्रसिद्ध हो रहा है, तब तो हम पूछेंगे कि सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने अपने प्रत्यक्षोंका स्वयं प्रत्यक्ष प्रमाण हो रहा है। यह किसके द्वारा जाना जाय? इस बातका हमको निर्णय भला कैसे हो सकता है? बताओ। प्रत्यक्ष प्रमाणसे सम्पूर्ण पदार्थोंका एक ही समयमें अवलोकन करनेवाले केवलज्ञानी योगियोंसे विशेष द्वेष करनेवाले चार्वाकोंके यहा यह निर्णय कैसे भी नहीं हो सकता है कि सबके प्रत्यक्ष अपने अपने स्वरूपमें प्रत्यक्ष करते हुये प्रत्यक्षपनेसे व्यवस्थित हैं। किन्तु यह जानना तो आवश्यक है, जो अन्योंके प्रत्यक्षोंको नहीं मानना चाहता है, वह अकेले स्वयंको और अपने वर्तमानकालके प्रत्यक्षको ही जीवित देखना चाहता है। किन्तु उसके चाहनेसे अन्य प्राणियोंका और उनके प्रत्यक्षोंका प्रलय नहीं माना जा सकता है। अन्यथा स्वयं उसके भूत, भविष्यत् कालके हो चुके और होनेवाले प्रत्यक्षोंकी क्या दशा होगी?।

प्रमाणांतरतो ज्ञाने नैकमानव्यवस्थितिः।
अप्रमाणाद्गतावेव प्रत्यक्षं किमुपोष्यते ॥ १५२ ॥

अन्य प्रमाणोंसे यदि सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रत्यक्षोंका ज्ञान होना इष्ट करोगे तो चार्वाकोंके यहा एक ही प्रत्यक्ष प्रमाण माननेकी व्यवस्था नहीं हो सकी। अन्योंके प्रत्यक्षप्रमाणोंको जाननेके लिये अनुमान, आगमकी भी शरण लेनी पडी। यदि अप्रमाणज्ञानसे ही उन प्राणियोंके प्रत्यक्षोंका जानलेना मानोगे तो फिर एक प्रत्यक्षको भी प्रमाणपना क्यों पुष्ट किया जा रहा है? जहां पण्डिताभास ही कार्यकारी हो रहे हैं, वहा घोर तपस्या कर विद्वत्ताको प्राप्त कर चुके ठोस पण्डितोंकी क्या आवश्यकता है? मिथ्याज्ञानोंसे ही पदार्थोंकी ज्ञप्ति माननेपर एक प्रत्यक्षको भी प्रमाण माननेका व्यर्थ बोझ क्यों लादा जाता है? गोंगचियोंके भूषणमें मोती मिलाना असङ्गत है।

सर्वस्य प्रत्यक्षं स्वत एव प्रमाणमिति प्रमाणमंतरेणाधिगच्छन् प्रमेयमपि तथाधिगच्छतु विशेषाभावात्। ततस्तैः प्रत्यक्षं किमुपोष्यत इति चिंत्यम्।

सभी प्राणियोंके प्रत्यक्ष स्वयं अपने आप ही से प्रत्यक्ष प्रमाणरूप निर्णीत हो रहे हैं। इस सिद्धान्तको प्रमाणके विना ही अधिगम कर रहा चार्वाकवादी घट, पट, आदि प्रमेयोंको भी तिस ही प्रकार प्रमाणके विना ही जान लो, दोनों प्रकारके ज्ञेयोंमें कोई विशेषता नहीं है। तो फिर तिन

चार्वाकोंकरके प्रत्यक्ष भी प्रमाण क्यों पुष्ट किया जा रहा है ? इस बातका आप स्वयं कुछ कालतक चिंतवन कीजिये, तब उत्तर देना। अर्थात् इसका उत्तर तुम नहीं दे सकोगे। सदा चिन्तामें ही डूबे रहोगे।

प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणे इति केचन।
तेषामपि कुतो व्याप्तिः सिध्येन्मानांतराद्विना ॥ १५२ ॥

कोई कह रहे हैं सूत्रमें " प्रमाणे " यह द्विवचन ठीक है। प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण हैं। चार्वाकोंके ऊपर आये हुये दोषोंका अनुमान प्रमाण मान लेनेसे निवारण हो जाता है। अब आचार्य कहते हैं कि उन बौद्ध या वैशेषिकोंके यहां भी अन्य तर्कप्रमाणको माने विना साध्य और साधनकी व्याप्ति कैसे सिद्ध होगी ? भावार्थ—अनुमानमें व्याप्तिकी आवश्यकता है। उसको जाननेके लिये तर्कज्ञान मानना आवश्यक होगा। मिथ्याज्ञानस्वरूप तर्कसे समीचीन अनुमान नहीं उपज सकता है।

योऽप्याह–प्रत्यक्षं मुख्यं प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतावन्यानपेक्षत्वादिति तस्यानुमानं मुख्यमस्तु तत एव। न हि तत्तस्यामन्यानपेक्षं। स्वोत्पत्तौ तदन्यापेक्षमिति चेत्, प्रत्यक्षमपि तत्स्वनिमित्तमक्षादिकमपेक्षते न पुनः प्रमाणमन्यदिति चेत्, तथानुमानमपि। न हि तत्त्रिरूपलिंगनिश्चयं स्वहेतुमपेक्ष्य जायमानमन्यत्प्रमाणमपेक्षते। यत्तु तत्त्रिरूपलिंगग्राहि प्रमाणं तदनुमानोत्पत्तिकारणमेव न भवति, लिंगपरिच्छित्तावेव चरितार्थत्वात्।

प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाणोंको माननेवाले वैशेषिक या बौद्ध कुछ देरतक अपना सिद्धांत पुष्ट कर रहे हैं कि जो भी चार्वाकवादी यों कह रहा है कि प्रत्यक्षज्ञान ही अकेला मुख्य प्रमाण है। क्योंकि प्रत्यक्षको स्व और अर्थके निर्णय करनेमें अन्य ज्ञानोंकी अपेक्षा नहीं है। उस चार्वाकके यहां अनुमान प्रमाण भी तिस ही कारण यानी स्व और अर्थके निर्णय करनेमें अन्यकी अपेक्षा न पडनेके कारण मुख्य प्रमाण हो जाओ। वह अनुमान उस स्व और अर्थके निर्णय करनेमें अन्यकी अपेक्षा नहीं रखता है। यदि कोई यों कहे कि यह अनुमान अपनी उत्पत्तिमें तो अन्य हेतु, व्याप्ति ज्ञान, पक्षवृत्तिता, आदिकी अपेक्षा रखता है। ऐसा कहनेपर तो हम बौद्ध कहेंगे कि यों तो प्रत्यक्ष भी अपनी उत्पत्तिमें अन्य कारणोंकी अपेक्षा रखता है। हां, प्रत्यक्षके उत्पन्न हो जानेपर स्वार्थके निर्णय करनेमें वह अन्यकी अपेक्षा नहीं रखता है; तैसा अनुमान भी तो है। इसपर चार्वाक यदि यों कहें कि वह प्रत्यक्ष अपने निमित्त कारण इन्द्रिय, आलोक आदिकी अपेक्षा रखता है। किन्तु फिर दूसरे प्रमाणोंकी अपेक्षा नहीं रखता है। इस प्रकार कहनेपर तो हम वैशेषिक कहेंगे कि यों सभी कार्य अपनी उत्पत्तिमें कारणोंकी अपेक्षा रखते हैं। तिस प्रकार अनुमान भी अपने

उत्पादक निमित्तोंकी अपेक्षा रखता है। स्वविषयकी ज्ञप्ति करानेमें अन्य प्रमाणोंको नहीं चाहता है देखिये। वह अनुमान पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्तिस्वरूप अथवा कार्य, स्वभाव, अनुपलब्धिस्वरूप या पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्टरूप तीनरूपवाले लिंगके निश्चय करनेरूप अपने हेतुकी अपेक्षा करके उत्पन्न हो रहा संता किसी अन्य प्रमाणकी अपेक्षा नहीं करता है। किन्तु जो तीन स्वरूपवाले हेतुको जाननेवाले प्रमाण हैं, वह तो अनुमानकी उत्पत्तिका कारण ही नहीं होता है। क्योंकि व्याप्तियुक्त हेतुके जाननेमें ही वह लिंगज्ञान कृतकृत्य हो रहा है। अतः स्वार्थोको जाननेमें प्रत्यक्षके समान अनुमान भी स्वतंत्र है। अतः अपने प्रमेयकी ज्ञप्ति करनेमें वह भी मुख्य प्रमाण है। सूर्यकी गति, बडापन, आदिमें झूंठा ज्ञान करानेके कारण प्रत्यक्षका न्याय अनुमान प्रमाणके न्यायालयमें होता है और प्रत्यक्षज्ञानको बाधित होना पडता है। अपने भूत भविष्यत्के प्रत्यक्षों और अन्य प्राणियोंके प्रत्यक्षोंका छद्मस्थोंको ज्ञान होना अनुमानसे ही साध्य कार्य है।

यदप्यभ्यधायि, प्रत्यक्षं मुख्यं प्रमाणांतरजन्मनो निमित्तत्वादिति तत्त्रिरूपलिंगादिनानैकांतिकं। यदि पुनरर्थस्यासंभवेऽभावात् प्रत्यक्षं मुख्यं तदानुमानमपि तत एव विशेषाभावात्। तदुक्तं—" अर्थस्यासंभवे भावात् प्रत्यक्षेपि प्रमाणता। प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयम् " इति।

तथा जो भी चार्वाकोंने यह कहा था कि प्रत्यक्ष ही मुख्य है। क्योंकि अन्य प्रमाणोंके जन्म देनेका वह निमित्त है। इसपर हम बौद्ध कहते हैं कि इस प्रकार वह हेतु त्रिरूपलिंग, सादृश्यज्ञान, संकेतज्ञान, व्याप्ति, आदिकसे व्यभिचारी हो जाता है। ये लिंग आदिक अनुमान आदि प्रमाणोंकी उत्पत्तिके कारण हैं। किंतु चार्वाकोंके यहां मुख्यप्रमाण तो नहीं माने गये हैं। यदि फिर चार्वाक यों कहें कि वस्तुभूत अर्थके न होनेपर प्रत्यक्षप्रमाण नहीं उत्पन्न होता है। अतः प्रत्यक्षप्रमाण मुख्य है। तब तो अनुमान भी तिस ही कारण यानी अर्थके न होनेपर नहीं होनेसे मुख्यप्रमाण हो जाओ। कोई विशेषता नहीं है। वही हमारे बौद्धोंके यहां कहा है कि अर्थके नहीं विद्यमान होनेपर हुये प्रत्यक्षमें भी प्रमाणताका अभाव है और ज्ञानका अर्थके साथ अविनाभाव संबंध रखने स्वभावको यदि प्रमाणपनेका हेतु माना जायगा तब तो दोनों प्रत्यक्ष और अनुमान समान कोटिके प्रमाण हैं। अर्थात्—स्वलक्षण क्षणिकपन आदि वस्तुभूत अर्थोंके होनेपर ही उत्पन्न होनेसे प्रत्यक्ष और अनुमान दोनोंको प्रमाणपना एकसा है।

संवादकत्वात्तन्मुख्यमिति चेत् तत एवानुमानं न पुनर्द्वाभ्यामर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोर्थक्रियायां विसंवाद्यते।

सफलप्रवृत्तिका जनक हो जानारूप सम्वादकपनसे यदि उस प्रत्यक्षको मुख्य कहोगे तब तो तिस ही सम्वादकपनेसे अनुमान भी मुख्य हो जाओ। दोनों प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंसे

अर्थकी परिच्छित्ति कर प्रवर्त रहा जीव अर्थक्रियामें विसम्वाद (असफलता) को प्राप्त नहीं कराया जाता है। अनुमानसे अग्नि, जल, सोपानकी सीढींका निर्णय कर सफलअर्थक्रियायें ठीक ठीक हो जाती हैं। किसी अनुमानाभाससे कहीं चूक हो जानेपर सभी अनुमानोंको बट्टा नहीं लग जाता है। यों तो अनुमानोंसे अधिक प्रत्यक्षाभासोंसे अनेक स्थलोंपर मिथ्याज्ञप्तियां होतीं देखी जाती हैं। एतावता समीचीन प्रत्यक्षोंमें लाञ्छन नहीं आ सकता है।

वस्तुविषयत्वान्मुख्यं प्रत्यक्षमिति चेत् तत एवानुमानं तथास्तु प्राप्यवस्तुविषयत्वादनुमानस्य वस्तुविषयं प्रामाण्यं द्वयोः इति वचनात्। ततो मुख्ये द्वे एव प्रमाणे प्रत्यक्षमनुमानं चेति केचित्, तेषामपि यावान्कश्चिध्दूमः स सर्वोप्यग्निजन्मानग्निजन्मा वा न भवतीति व्याप्तिः साध्यसाधनयोः कुतः प्रमाणांतराद्विनेति चिंत्यम्।

बौद्ध ही कह रहे है कि यदि चार्वाक यथार्थवस्तुको विषय करनेवाला होनेके कारण प्रत्यक्षको मुख्य प्रमाण कहेंगे तो उस ही कारण यानी वस्तुको विषय करनेवाला होनेसे ही अनुमान भी तिस प्रकार मुख्यप्रमाण हो जाओ। हम बौद्धोंने इस प्रकार अपने ग्रन्थोंमें कथन किया है कि प्राप्यवस्तुको विषय करनेवाला होनेसे अनुमानकी वस्तुविषयको जाननेवाली प्रमाणता है। इस कारण प्रत्यक्ष और अनुमान दोनोंमें प्रमाणता आ जाती है। अर्थात्— हमारे यहां ज्ञानके विषय आलम्बन और प्राप्य माने गये हैं। घटको ही घट जाननेवाले ज्ञानका विषयभूत आलम्बन और प्राप्त करने योग्य एक ही घट है। किंतु सीपमें हुये चादीके ज्ञानका आलम्बन चादी है और प्राप्ति करने योग्य विषय सीप है। प्राप्य वस्तुको ही आलम्बन करे, वह ज्ञान प्रमाण होता है। ऐसी प्रमाणता दोनोंमें है। तिस कारण प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही मुख्य प्रमाण हैं। जैनोंके " तत्प्रमाणे " सूत्रका अर्थ प्रत्यक्ष और परोक्ष नहीं कर प्रत्यक्ष और अनुमान करना हमें अभीष्ट है। इस प्रकार " योऽप्याह " से लेकर " अनुमानं च " तक कोई (बौद्ध) कह रहे हैं। अब आचार्य कहते हैं कि उन बौद्धोके यहा भी जितने भी कोई धूम हैं, वे सभी अग्निसे जन्म लेनेवाले हैं। अग्नि भिन्न पदार्थोंसे वे उत्पन्न होनेवाले नहीं हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण देश और कालको व्यापकर होनेवाली साध्य और साधनकी व्याप्तिको तीसरे तर्क प्रमाणके विना भला किससे जान सकोगे ? इस प्रश्नके उत्तरको कितने ही दिनतक विचार कर कहो। अधिक देरतक चिन्ता करनेसे व्याप्तिज्ञानका मानना उपस्थित हो जावेगा। " व्याप्तिज्ञानं चिन्ता "। ऐसी दशामें बौद्धोंको तीसरा प्रमाण मानना सिरपर आ पडा।

प्रत्यक्षानुपलंभाभ्यां न तावत्तत्प्रसाधनम्।
तयोः सन्निहितार्थत्वात् त्रिकालागोचरत्वतः ॥ १५४ ॥

कारणानुपलंभाच्चेत्कार्यकारणतानुमा ।
व्यापकानुपलंभाच्च व्याप्यव्यापकतानुमा ॥ १५५ ॥
तद्व्याप्तिसिद्धिरप्यन्यानुमानादिति न स्थितिः ।
परस्परमपि व्याप्तिसिद्धावन्योन्यमाश्रयः ॥ १५६ ॥

साध्य और साधनका क्षयोपशमके अनुसार एक ही बार या पुन पुनः (बार बार) निश्चय होनारूप प्रत्यक्ष और साध्यके न होनेपर साधनके न होनेका एक ही बारमें या बार बारमें निश्चयरूप अनुपलम्भसे तो उस व्याप्तिका निर्दोष साधन करना नहीं बन सकेगा। क्योंकि आप बौद्धोंने उन प्रत्यक्ष और अनुपलम्भोंको अत्यन्त निकटवर्ती अर्थोंको विषय करनेवाला माना है । तीनों कालके साध्य या साधनोंको वे विषय नहीं करते हैं । किन्तु व्याप्तिज्ञान तो सर्वदेश और सर्वकालके साध्यसाधनोंको जानता है । यदि कारणके अनुपलम्भसे कार्यके न दीखनेपर कार्यकारणभावसम्बन्ध (व्याप्ति) का अनुमान किया जायगा और व्यापकके अनुपलम्भसे व्याप्यके नहीं दीखनेपर व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध (व्याप्ति) का अनुमान कर लिया जायगा, इस प्रकार कहोगे तब तो उस व्याप्तिको साधनेवाले अनुमानकी जनक व्याप्तिका साधन भी अन्य अनुमानसे किया जायगा। इस प्रकार आगे भी यही धारा चलेगी, कहीं स्थिति न होवेगी। अनुमानसे व्याप्तिको जाननेमें अनवस्था दोष स्फुट है । प्रकृत अनुमानसे उस व्याप्तिको जाननेवाले अनुमानकी व्याप्ति सध जायगी और उस अनुमानसे प्रकृत अनुमानकी व्याप्ति सध जायगी। इस प्रकार परस्परमें भी व्याप्तिको सिद्ध करनेमें अन्योन्याश्रय दोष आता है ।

योगिप्रत्यक्षतो व्याप्तिसिद्धिरित्यपि दुर्घटम् ।
सर्वत्रानुमितिज्ञानाभावात् सकलयोगिनः ॥ १५७ ॥
परार्थानुमितौ तस्य व्यापारोपि न युज्यते ।
अयोगिनः स्वयं व्याप्तिमजानानः जनान् प्रति ॥ १५८ ॥
योगिनोपि प्रति व्यर्थः स्वस्वार्थानुमिताविव ।
समारोपविशेषस्याभावात् सर्वत्र योगिनाम् ॥ १५९ ॥

बौद्ध यदि सबको जाननेवाले योगियोंके प्रत्यक्षसे व्याप्तिकी सिद्धि होना मानेंगे यह भी घटित करना कठिन है। क्योंकि सकल भूत, भविष्यत्, वर्तमानके त्रिलोकवर्त्ती पदार्थोंको युगपत् जाननेवाले सकल योगीके सभी विषयोंमें प्रत्यक्षज्ञान हो रहा है । उनको अनुमानज्ञान नहीं होता है । अतः स्वयं अपने प्रत्यक्षसे व्याप्तिको जानकर सर्वज्ञके स्वार्थानुमान करना जब है ही नहीं तो

सकल योगीको व्याप्ति जान लेनेपर भी क्या लाभ हुआ ? तथा जो अयोगी अल्प ज्ञानी जीव स्वयं व्याप्तिको नहीं जान रहे हैं, उन मनुष्योंके प्रति परार्थानुमान करानेमें भी उस योगिप्रत्यक्षका व्याप्तिको जाननेवाला व्यापार उपयोगी नहीं होता है। और सर्वज्ञ योगियोंके प्रति तो स्वयं अपने प्रत्यक्षसे जानी हुयी व्याप्तिके ज्ञानका व्यापार करना व्यर्थ ही है। जैसे कि अपने स्वार्थानुमान करनेमें निकटवर्त्ती साध्य और साधनकी प्रत्यक्षसे जानी हुयी व्याप्तिका ज्ञान व्यर्थ पडता है। योगियोंको सम्पूर्ण त्रिलोक त्रिकालवर्त्ती पदार्थोंमें अज्ञान, संशय, आदि विशेष समारोपोंके होनेका तो अभाव है। अतः प्रत्यक्ष किये गये पदार्थोंमें भी किसी कारणसे होगये समारोपको दूर करनेके लिये अनुमान ज्ञान सर्वज्ञके हो जाता, वह तो हो नहीं सकता है।

एतेनैव हता देशयोगिप्रत्यक्षतो गतिः ।
संबंधस्यास्फुटं दृष्टेत्यनुमानं निरर्थकम् ॥ १६० ॥
तस्याविशदरूपत्वे प्रत्यक्षत्वं विरुध्यते ।
प्रमाणांतरतायां तु द्वे प्रमाणे न तिष्ठतः ॥ १६१ ॥

इस उक्त कथन करके ही योगियोंके देशप्रत्यक्षसे व्याप्तिको जानलेनेके सिद्धान्तका व्याघात करदिया है। अर्थात्—एकदेश योगियोंके अवधि, मनःपर्यय आदिरूप प्रत्यक्षोंसे व्याप्तिरूप सम्बन्धकी ज्ञप्ति होना नहीं बनता है। क्योंकि उन देशयोगियोंको भी साध्य साधनके सम्बन्धका व्याप्तिज्ञान चारों ओरसे स्फुट प्रत्यक्षरूप देखा जारहा है। अतः उन प्रत्यक्षज्ञानियोंको अनुमानका करना व्यर्थ है। यदि व्याप्तिको जाननेवाले उस देश प्रत्यक्षको अविशदरूप मानोगे तो उसको प्रत्यक्षपना विरुद्ध पडेगा। यदि व्याप्तिको जाननेवाले प्रमाणको अन्य प्रमाण माना जावेगा, तो प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण हैं, यह व्यवस्थित नहीं होता है। तीसरा व्याप्तिज्ञान भी प्रमाणरूप मानना अनिवार्य होगया।

न चाप्रमाणतो ज्ञानाद्युक्तो व्याप्तिविनिश्चयः ।
प्रत्यक्षादिप्रमेयस्याप्येवं निर्णीतसंगतः ॥ १६२ ॥

वैशेषिकोंके अनुसार अप्रमाणरूप व्याप्तिज्ञान मान लिया जाय। मिथ्याज्ञानके संशय, विपर्यय और तर्क तीन भेद किये गये हैं। इसपर आचार्य कहते हैं कि अप्रमाणज्ञानसे व्याप्तिका बढिया निश्चय करना युक्त नहीं है। इस प्रकार तो प्रत्यक्ष, अनुमान, आदि प्रमाणोंके प्रमेय तत्त्वोंका भी निर्णय होना संगत हो जायगा। फिर भला प्रत्यक्ष आदिको प्रमाणपना क्यों पुष्ट किया जाता है ? चोर या व्यभिचारी मनुष्य भी यदि उपदेशक बन जावें तो सदाचारी विद्वानोंकी आज्ञाका अनुसरण करना क्यों वैध होगा ?।

प्रत्यक्षं मानसं येषां संबंधं लिंगलिंगिनोः ।
व्याप्त्या जानाति तेप्यर्थेतींद्रिये किमु कुर्वते ॥ १६३ ॥
यत्राक्षाणि प्रवर्तंते मानसं तत्र वर्तते ।
नोन्यत्राक्षादि वैधुर्यप्रसंगात् सर्वदेहिनाम् ॥ १६४ ॥

जिन वादियोंके यहां मन इन्द्रियसे उत्पन्न हुआ प्रत्यक्षज्ञान साध्य और साधनके व्याप्ति करके हो रहे सम्बन्धको जान लेता है । वे भी वादी इन्द्रियोंके अगोचर अतींद्रिय विषयमें भला क्या उपाय करते हैं ? बताओ । जिस विषयमें बहिरंग इन्द्रिया प्रवर्त रही हैं । उस ही विषयमें अन्तरंग मन प्रवर्तता माना गया है । अन्य विषयोंमें नहीं प्रवर्तता है । यों तो सम्पूर्ण प्राणियोंके बहिरंग इन्द्रिय और मन आदिसे रहितपनेका प्रसंग होगा । भावार्थ—उन प्राणियोंके अतीन्द्रिय, इन्द्रिय, मन आदिको अल्पज्ञ जीव अपने इन्द्रियोंसे नहीं जान सकेगा । अतः अनुमान भी नहीं कर सकेगा । चालिनी न्यायसे किसी भी जीवकी इन्द्रिया नहीं सध सकेंगी । आगम, अर्थापत्ति, आदिको तुम प्रमाण नहीं मानते हो, अतः अतीन्द्रिय पदार्थोंकी सिद्धि होना असम्भव है । किन्तु आत्मा, परमाणु, पुण्य, पाप, परलोक आदिकी सिद्धि, समीचीन व्याप्तिवाले हेतुओंसे हो रही है ।

संबंधोतींद्रियार्थेषु निश्चीयेतानुमानतः ।
तद्व्याप्तिश्चानुमानेनान्येन यावत्प्रवर्तते ॥ १६५ ॥
प्रत्यक्षनिश्चितव्याप्तिरनुमानेऽनवस्थितिः ।
निवर्त्यते तथान्योन्यसंश्रयश्चेति केचन ॥ १६६ ॥
तेषां तन्मानसं ज्ञानं स्पष्टं न प्रतिभासते ।
अस्पष्टं च कथं नाम प्रत्यक्षमनुमानवत् ॥ १६७ ॥

कोई कह रहे हैं कि अतीन्द्रिय अर्थोंमें अनुमानसे सम्बन्धका निश्चय कर लिया जाता है, और उस अनुमानकी व्याप्तिका भी निश्चय अन्य अनुमान करके कर लिया जाता है । यह धारा तबतक चलती रहेगी जबतक कि कहीं प्रत्यक्षसे व्याप्तिका निश्चय कर लिया जाय । इस कारण अनुमानमें अनवस्था और अन्योन्याश्रय दोष तिस प्रकार निवृत्त हो जाते हैं । ऐसा जो कोई कह रहे हैं । उनके यहा वह प्रत्यक्षसे व्याप्तिको निश्चय करनेवाला अन्तिम मानसज्ञान स्पष्ट तो नहीं प्रतिभासता है । और अस्पष्टज्ञान भला प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? जैसे कि अविशद अनुमान प्रत्यक्ष नहीं कहा जाता है ।

तर्कश्चैवं प्रमाणं स्यात्स्मृतिः संज्ञा च किं न वः ।
मानसत्वाविसंवादाविशेषान्नानुमान्यथा ॥ १६८ ॥

इस प्रकार तुम बौद्धोंके यहां व्याप्तिको जाननेवाला तर्क क्यों नहीं प्रमाण हो जावेगा ? तथा स्मृति और प्रत्यभिज्ञान भी क्यों नहीं प्रमाण हो जायेंगे ? क्योंकि मनसे उत्पन्न होनापन और सम्वादीपनकी अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है । अन्यथा यानी अविसम्वादी होते हुये भी मन इन्द्रिय जन्य ज्ञानोंको प्रमाणपना यदि न मानोगे तो आपका माना हुआ अनुमान भी प्रमाण न हो सकेगा, अनुमान भी आपके मत अनुसार सम्वादी है और मन--इन्द्रियजन्य है ।

मानसं ज्ञानमस्पष्टं व्याप्तौ प्रमाणमविसंवादकत्वादिति वदन् कथमयं तर्कमेव नेच्छेत् ? स्मरणं प्रत्यभिज्ञानं वा कुतः प्रतिक्षिपेत् तदविशेषात् । मनोज्ञानत्वान्न तत्प्रमाणमिति चेन्नानुमानस्याप्रमाणत्वप्रसंगात् । संवादकत्वादनुमानं प्रमाणमिति चेत्, तत एव स्मरणादि प्रमाणमस्तु । न हि ततोर्थं परिच्छिद्य वर्तमानोर्थक्रियायां विसंवाद्यते प्रत्यक्षादिवत् ।

मनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान अविशद होता हुआ भी व्याप्तिको जाननेमें भी प्रमाण है, क्योंकि वह सफलप्रवृत्ति करानेवाला सम्वादक है । इस प्रकार कह रहा बौद्ध यों तर्कको कैसे प्रमाण नहीं कहना चाहेगा ? तथा स्मरण और प्रत्यभिज्ञानका कैसे किस प्रमाणसे खण्डन कर देगा ? क्योंकि वह अविशद होकर सम्वादीपना, तर्क, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान तीनोंमें विशेषता रहित (एकसा) है । यदि बौद्ध यों कहें कि मनसे जन्य होनेके कारण वे तर्क आदिक तीन ज्ञान प्रमाण नहीं हैं । ग्रन्थकार कहते हैं कि सो तो न कहना । क्योंकि यों तो अनुमानको भी अप्रमाणपनका प्रसंग होगा । यदि सम्वादी होनेके कारण अनुमानको प्रमाण मानोगे तो तिस ही कारण स्मरण आदिक भी प्रमाण हो जाओ । उन स्मरण आदिकसे भी अर्थकी परिच्छित्ति कर प्रवर्त्तनेवाला पुरुष अर्थक्रियामें धोखा नहीं खा जाता है । जैसे कि प्रत्यक्ष और अनुमानसे जल आदि अर्थोंको जानकर वस्तुभूत स्नान, पान, आदिक अर्थक्रियायें निधडक हो जाती हैं, तिस ही प्रकार स्मरण आदिसे खाट, चौकी आदिका ज्ञानकर निःसंशय बैठ जाना आदि अर्थक्रियायें करली जाती हैं ।

तर्कादेर्मानसेध्यक्षे यदि लिंगानपेक्षिणः ।
स्यादंतर्भवनं सिद्धिस्ततोध्यक्षानुमानयोः ॥ १६९ ॥

लिंगकी नहीं अपेक्षा करनेवाले तर्क, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, प्रमाणोंको यदि मानस प्रत्यक्षमें गर्भित करोगे तब तो प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो ही प्रमाणोंकी सिद्धि हो सकेगी । अन्य कोई उपाय नहीं है । और स्पष्ट न होनेसे तथा लिंगकी अपेक्षा नहीं करनेसे प्रत्यक्ष और अनुमानमें तर्क

आदिका अन्तर्भाव हो नहीं सकता है। अतः इनको न्यारे प्रमाण मानो। यह आपको बलात्कारसे मानना पडा। सीधी अंगुलीसे घृत नहीं निकलता है।

यदि तर्कादेर्मानसेध्यक्षेंतर्भावः स्याल्लिंगानपेक्षत्वात्ततोऽध्यक्षानुमानयोः सिद्धिः प्रमाणांतराभाववादिनः संभाव्यते नान्यथा।

यदि तर्क आदिको ज्ञापक हेतुकी नहीं अपेक्षा करनेसे मानसप्रत्यक्षमें गर्भित किया जायगा, तैसा होनेसे तो तीसरे आदि अन्य प्रमाणोंको नहीं माननेवाले बौद्ध या वैशेषिकोंके यहां प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाणोंकी सिद्धि सम्भव सकती है। अन्यथा नहीं। अथवा इस पंक्तिका द्वितीय गौण अर्थ यह भी कर सकते हो कि तर्क आदिको प्रत्यक्षप्रमाणमें गर्भित करनेपर ही सभी जीवोंके सम्पूर्णप्रत्यक्षोंको प्रमाणपना और अनुमानोंको प्रमाणपना आता है। अन्यथा केवल अपना ही वर्तमानकालका प्रत्यक्ष और दृष्टान्तमें प्रत्यक्षसे जानी हुयी व्याप्ति करके उत्पन्न हुआ अनुमान ये तो प्रमाण हो सकेंगे। शेष बहुतसे प्रत्यक्ष और अनुमान अप्रमाण ठहर जायेंगे। अतः तर्क आदिकको मानो, विचार करनेपर प्रत्यक्षमें उनका अन्तर्भाव होता नहीं है। अतः परोक्षमें उनकी गिनती की जाय।

तदा मतेः प्रमाणत्वं नामांतरधृतोस्तु नः।
तद्वदेवाविसंवादाच्छ्रुतस्येति प्रमात्रयम् ॥ १७० ॥

तब तो स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, आदि या अवग्रह ईहाप्रभृति दूसरे नामोंको धारण करनेवाले मतिज्ञानका हम स्याद्वादियोंके यहां प्रमाणपना व्यवस्थित हो रहा धन्यवादको प्राप्त होओ। हमारे और तुम्हारे माने हुये इस ज्ञानमें केवल न्यारे नामनिर्देशका भेद है, अर्थका भेद नहीं है। तथा तिस मतिज्ञानके समान श्रुतज्ञानको भी अविसम्वाद होनेके कारण प्रमाणपना हो जाओ। इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान, और श्रुतज्ञान ये तीन प्रमाण सिद्ध हो जाते हैं।

यो ह्यवग्रहाद्यात्मकमिंद्रियजं प्रत्यक्षमक्षैर्जनितत्वात् तदनपेक्षं तु स्मरणादि मानसं लिंगानपेक्षणादिति ब्रूयात् तेन मतिज्ञानमेवास्माकमिष्टं नामांतरेणोक्तं स्यात्। तद्विशेषस्तु लिंगापेक्षोनुमानमिति च प्रमाणद्वयं मतिज्ञानव्यक्त्यपेक्षयोपगतं भवेत्। तथा च शब्दापेक्षत्वात्कुतो ज्ञानं ततः प्रमाणांतरं न सिध्येत् संवादकत्वाविशेषादिति प्रमाणत्रयसिद्धेः।

जो कोई वादी यों कहेगा कि इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेके कारण अवग्रह, ईहा, आदि स्वरूप ज्ञान इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष हैं, और इन्द्रियोंकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदिक तो मानस प्रत्यक्ष हैं, हेतुकी नहीं अपेक्षा होनेके कारण ये स्मरण आदिक अनुमानप्रमाण नहीं हो सकते हैं, इसपर आचार्य कहते हैं कि यों तो उस वादीने हमारा माना गया मतिज्ञान ही

दूसरे नाम करके कह दिया, यह समझा जायगा। उसी मतिज्ञानका एक भेद तो लिंगकी अपेक्षा रखनेवाला अनुमान है। इस प्रकार एक सामान्य मतिज्ञानके व्यक्तिकी अपेक्षासे भेदको प्राप्त हुये दो प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान स्वीकृत हुये कहने चाहिये। और तिसी प्रकार शद्बकी अपेक्षासे उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान क्यों नहीं उससे भिन्न तीसरा न्यारा प्रमाण सिद्ध होगा? क्योंकि प्रत्यक्ष या अनुमानके समान सम्वादकपना श्रुतज्ञानमें भी एकसा है। कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार तीन प्रमाण प्रसिद्ध हो जाते हैं।

यत्प्रत्यक्षपरामर्शिवचः प्रत्यक्षमेव तत्।
लैंगिकं तत्परामर्शि तत्प्रमाणांतरं न चेत् ॥ १७१ ॥

श्रुतज्ञानको प्रत्यक्ष और अनुमानसे भिन्न नहीं माननेवाला बौद्ध या वैशेषिक पंडित कहते हैं कि जो प्रत्यक्षका विचार करनेवाला वचन है, वह प्रत्यक्षरूप ही है। और जो अनुमानका परामर्श करनेवाला वचन है, वह अनुमानप्रमाणरूप ही है। अतः शद्बसे उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान तीसरा न्यारा प्रमाण नहीं है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार यदि कहोगे तो:—

सर्वः प्रत्यक्षेणानुमानेन वा परिच्छिद्यार्थं स्वयमुपदिशेत् परस्मै नान्यथा तस्यानाप्तत्वप्रसंगात्। तत्र प्रत्यक्षपरामर्श्युपदेशः प्रत्यक्षमेव यथा लैंगिकमिति न श्रुतं ततः प्रमाणांतरं येन प्रमाणद्वयनियमो न स्यादिति चेत्।

बौद्ध कहते हैं कि सभी उपदेशक विद्वान् प्रत्यक्ष अथवा अनुमान करके स्वयं अर्थको जानकर दूसरोंके लिये उपदेश देवेंगे, अन्यथा यानी प्रत्यक्ष और अनुमानसे स्वयं नहीं जानकर तो स्वयं उपदेश नहीं दे सकते हैं। क्योंकि यों तो उन उपदेशकोंको झूंठा कहनेवाले अनाप्तपनेका प्रसंग होगा। तहां प्रत्यक्ष ज्ञानसे अर्थको जानकर परामर्श करनेवाला उपदेश प्रत्यक्ष ही है। जैसे कि अनुमानसे अर्थको जानकर उपदेश देनेवालेका वचन अनुमानरूप है। इस कारण श्रुतज्ञान उन प्रत्यक्ष और अनुमानसे न्यारा प्रमाण नहीं है, जिससे कि हमारे प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणोंका नियम नहीं हो सके। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार यदि कहोगे? भावार्थ—"तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात्" प्रतिपादकके ज्ञानसे उत्पन्न और प्रतिपाद्यके ज्ञानका जनक होनेके कारण जैसे परार्थानुमानके वचनको जैन अनुमानप्रमाण कह देते हैं, वैसे ही वचन या तज्जन्यज्ञान तो प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण हो सकता है। इसके लिये श्रुतको तीसरा प्रमाण माननेकी आवश्यकता नहीं। यों बौद्ध कहें:—

नाक्षलिंगाविभिन्नायाः सामग्र्या वचनात्मनः।
समुद्भूतस्य बोधस्य मानांतरतया स्थितेः ॥ १७२ ॥

सो तो ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षकी सामग्री इन्द्रिय और अनुमानकी सामग्री अविनाभावी हेतुसे सर्वथा भिन्न हो रही वचनस्वरूप सामग्रीसे भले प्रकार उत्पन्न हुये श्रुतज्ञानकी तीसरे न्यारे प्रमाणपन करके व्यवस्था मानना उपयुक्त हो रहा है। वचनको तो उपचारसे प्रमाण माना गया है। कारण कि विशिष्ट ज्ञानका अतिनिकट कारण शद्व है।

अक्षलिंगाभ्यां विभिन्ना हि वचनात्मा सामग्री तस्याः समुद्भूतं श्रुतं प्रमाणांतरं युक्तमिति न तदध्यक्षमेवानुमानमेव वा सामग्रीभेदात् प्रमाणभेदव्यवस्थापनात्।

जिससे कि प्रत्यक्ष और अनुमानके कारण इन्द्रिया और ज्ञापक हेतुओंसे वचनस्वरूप सामग्री सर्वथा (बिलकुल) न्यारी है, उससे समुत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान न्यारा प्रमाण है। यह सिद्धान्त युक्तिपूर्ण है। इस कारण वह श्रुतज्ञान प्रत्यक्षरूप ही अथवा अनुमानस्वरूप ही नहीं है। सामग्रीके भिन्न भिन्न होनेसे प्रमाणाके भेदकी व्यवस्था करा दी जाती है।

यत्रेंद्रियमनोध्यक्षं योगिप्रत्यक्षमेव वा।
लैंगिकं वा श्रुतं तत्र वृत्तेर्मानांतरं भवेत् ॥ १७३ ॥
प्रत्यक्षादनुमानस्य माभूत्तर्हि विभिन्नता।
तदर्थे वर्तमानत्वात् सामग्रीभित्समा श्रुतिः ॥ १७४ ॥

जिस बौद्धके यहां इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, योगिप्रत्यक्ष और स्वसंवेदनप्रत्यक्ष ये चार प्रत्यक्ष माने गये हैं, अथवा तीन प्रकारके हेतुओंसे उत्पन्न हुआ अनुमान माना गया है, उसके यहां प्रवृत्ति करानेवाला होनेसे श्रुतज्ञान भी तीसरा भिन्न प्रमाण हो जावेगा। यदि सामग्रीके भेदसे प्रमाणके भेदको न मानकर प्रमेयके भेदसे प्रमाणका भेद मानोगे तब तो बौद्धोंके यहां प्रत्यक्ष प्रमाणसे अनुमानप्रमाणका भेद नहीं हो पावेगा। क्योंकि प्रत्यक्षके द्वारा ही जानलिये गये वस्तुभूत क्षणिकपनरूप उसके विषयमें अनुमान प्रमाण वर्त्तरहा है। हां, यदि सामग्रीके भेदसे प्रत्यक्ष और अनुमानका भेद माना जावेगा तब तो श्रुतज्ञान भी अनुमानके समान सामग्रीभेद होनेसे भिन्नप्रमाण हो जाओ। अर्थात्—प्रत्यक्ष ज्ञानकी इन्द्रिय आदिक सामग्री है। और अनुमानकी हेतु, व्याप्ति स्मरण, आदि न्यारी सामग्री है। उसीके समान शद्वसंकेत स्मरण, आदिक सामग्री श्रुतज्ञानकी निराली है।

न हि विषयस्यभेदात् प्रमाणभेदः प्रत्यक्षादनुमानस्याभेदप्रसंगात्। न च तत्तो भिन्नविषयं सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयत्वात्। प्रत्यक्षमेव सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयं न पुनरनुमानं तस्य सामान्यविषयत्वादिति चेत् ततः कस्यचित्क्वचित्प्रवृत्त्यभावप्रसंगात्। सर्वोर्थक्रियार्थी हि प्रवर्तते न च सामान्यमशेषविशेषरहितं कांचिदर्थक्रियां संपादयितुं समर्थं तत्तु ज्ञानमात्रस्याप्यभावात्।

आचार्य महाराज बौद्धोंके प्रति कहते हैं कि विषयके भेदसे प्रमाणका भेद मानना ठीक नहीं है। अन्यथा प्रत्यक्षप्रमाणसे अनुमानके अभेद हो जानेका प्रसंग होगा। देखिये, वह अनुमानप्रमाण उस प्रत्यक्षसे भिन्न विषयवाला तो नहीं है। क्योंकि सामान्य विशेषरूप वस्तुको दोनों भी प्रमाण विषय करते हैं। यदि बौद्ध यों कहें कि प्रत्यक्ष ही सामान्यविशेषरूप वस्तुको विषय करता है। किन्तु अनुमान तो फिर सामान्यविशेषस्वरूप वस्तुको विषय नहीं करता है। वह अनुमान केवल सामान्यको ही विषय करता है। इस प्रकार कहनेपर तो हम कहेंगे कि उस अनुमानसे किसीकी भी कहीं (कार्यमें) प्रवृत्ति नहीं हो सकनेका प्रसंग आता है। अभिलाषुक जांवोंकी प्रवृत्ति केवल सामान्यमें हो नहीं सकती है। विशेषोंके विना कोरा सामान्य असत् है। विशेष घोडेके विना सामान्य घोडेपर कोई चढ नहीं सकता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, म्लेच्छ, पतित, भोगभूमिया, लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्योंके अतिरिक्त सामान्य मनुष्य कोई वस्तु नहीं है। अर्थक्रियाको चाहनेवाले सभी मनुष्य अर्थोंमें प्रवृत्ति कर रहे हैं, किन्तु सम्पूर्ण विशेषोंसे रहित होता हुआ सामान्य किसी भी अर्थक्रियाको बनानेके लिये समर्थ नहीं हैं। यहांतक कि वह विशेषरहित सामान्य सुलभतासे की जा सकनेवाली केवल अपना ज्ञान करादेनारूप अर्थक्रियाको भी तो नहीं बना सकता है। इससे बढकर और अर्थक्रियारहितपना क्या होगा? प्रत्येक पदार्थ कमसे कम सर्वज्ञके ज्ञानमें अपनी ज्ञप्ति करादेनारूप अर्थक्रियाको तो कर ही रहे हैं। इस कार्यमें तो किसी पदार्थको किसीसे कुछ नहीं लेना देना पडता है।

सामान्यादनुमिताद्विशेषानुमानात् प्रवर्तकमनुमानमिति चेत्, न अनवस्थानुषंगात्। विशेषेपि ह्यनुमानं तत्सामान्यविषयमेव परं विशेषमनुमाय यदेव प्रवर्तकं तत्राप्यनुमानं तत्सामान्यविषयमिति सुदूरमपि गत्वा सामान्यविशेषविषयमनुमानमुपगंतव्यं ततः प्रवृत्तौ तस्य प्राप्तिप्रसिद्धेः।

यदि कोई यों कहे कि पूर्वके अनुमानसे जान लिये गये सामान्यसे पुनः दूसरा विशेषको जाननेके लिये अनुमान किया जायगा, और उस दूसरे अनुमानसे विशेषव्यक्तिमें प्रवृत्ति हो जायगी, अतः अनुमानप्रमाण प्रवर्त्तक है, आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि अनवस्था दोषका प्रसंग होता है। विशेषमें भी जो पीछेसे अनुमान होगा वह सामान्यको विषय करनेवाला ही होगा। कारण कि सामान्यरूपसे व्याप्तिका ग्रहण होता है। धूम हेतुकरके अग्निका सामान्यरूपसे ज्ञान होगा और अग्नि सामान्यसे अग्निविशेषको यदि जाना जायगा तो भी सामान्यरूपसे ही अग्नि विशेषको जान सकोगे। धूम हेतुकी अग्नि विशेषके साथ व्याप्ति नहीं जानी गयी है। जहां धुआ है, वहां विशेष अग्नि है। अथवा जहां अग्नि सामान्य है, वहां अग्निविशेष है, ऐसी व्याप्ति बनानेसे जैसे व्यभिचार दोष आता है, तिस ही प्रकार विशेषका अनुमान भी सामान्यरूपसे होगा। पुनः उस अन्य विशेषको अनुमान करके जानकर जो ही अनुमान प्रवर्त्तक कहा जावेगा, वहां भी

विशेषको जाननेवाला वह अनुमान पुन' सामान्यको ही विषय करेगा और फिर सामान्यके द्वारा विशेषकी सामान्यपने करके ही अनुमिति होगी। क्योंकि " सामान्येन तु व्याप्तिः " सामान्यरूपसे साध्यके साथ हेतुकी व्याप्ति होती है। व्याप्तिके अनुसार वैसा अनुमान अपने साध्यका सामान्यरूपसे ज्ञान कर पाता है। इस प्रकार धारा चलेगी। बहुत दूर भी जाकर सामान्य और विशेष दोनोंको विषय करनेवाला अनुमान स्वीकार करना पडेगा। उस अनुमानसे प्रवृत्ति होना माननेपर उस सामान्य विशेष आत्मक वस्तुकी ही प्राप्ति होना प्रसिद्ध हो जाता है।

सामग्रीभेदाद्भिन्नमनुमानमध्यक्षादिति चेत् तत एव श्रुतं ताभ्यां भिन्नमस्तु विशेषाभावात्।

विषय भेदसे नहीं, किन्तु सामग्रीके भेदसे यदि अनुमानको प्रत्यक्षसे भिन्न मानोगे तब तो तिस ही कारण यानी न्यारी न्यारी उत्पादक सामग्री होनेसे ही श्रुतज्ञान भी उन प्रत्यक्ष और अनुमानोंसे भिन्न हो जाओ। भिन्न भिन्न सामग्री होनेका कोई अन्तर नहीं है। यहांतक तीन प्रमाणोंकी सिद्धि की जा चुकी है।

शब्दलिंगाक्षसामग्रीभेदाद्येषां प्रमात्रयं।
तेषामशब्दलिंगाक्षजन्मज्ञानं प्रमांतरम् ॥ १७५ ॥
योगिप्रत्यक्षमप्यक्षसामग्रीजनितं न हि।
सर्वार्थगोचरत्वस्य प्रसंगादस्मदादिवत् ॥ १७६ ॥

शब्द, संकेतग्रहण, आदि सामग्री आगमज्ञानकी है, और हेतु, व्याप्तिग्रहण, पक्षता ये अनुमानकी सामग्री है। तथा इन्द्रिय, योग्य देश, विशद क्षयोपशम ये प्रत्यक्षकी सामग्री हैं। इस प्रकार सामग्रियोंके भेदसे जिन वादियोंके यहां प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम ये तीन प्रमाण माने गये हैं, उन कापिलोंके यहां जो ज्ञान शब्द, लिंग और अक्षसे जन्य नहीं है, वह चौथा न्यारा प्रमाण मानना पडेगा। देखिये। योगियोंका सम्पूर्ण पदार्थोंको युगपत् जाननेवाला प्रत्यक्ष तो इन्द्रिय सामग्रीसे उत्पन्न हुआ नहीं है। योगीके प्रत्यक्षको भी यदि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ माना जायगा तो अस्मदादिकोंके अल्पज्ञान समान सर्वज्ञके प्रत्यक्षको भी सम्पूर्ण अर्थोंको विषय नहीं करनेपनका प्रसंग होगा। इन्द्रिया तो सम्पूर्ण भूत, भविष्यत्, देशांतरवर्ती, सूक्ष्म, आदि अर्थोंको नहीं जता सकती है। कई वादियोंने कहा है कि " सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिभि. " सम्बंधित और वर्तमान कालके अर्थको इन्द्रिया जान पाती हैं।

न हि योगिज्ञानमिंद्रियजं सर्वार्थग्राहित्वाभावप्रसंगादस्मदादिवत्। न हींद्रियैः साक्षात्परंपरया वा सर्वेर्थाः सकृत् संनिकृष्यंते न चासंनिकृष्टेषु तज्ज्ञानं संभवति। योग

जधर्मानुग्रहीतेन मनसा सर्वार्थज्ञानसिद्धेरदोष इति चेत्, कुतः पुनस्तेन मनसोऽनुग्रहः ? सकृत्सर्वार्थसन्निकर्षकरणमिति चेत् तद्वदसौ योगजो धर्मः स्वयं सकृत्सर्वार्थज्ञानं परिस्फुटं किं न कुर्वीत परंपरापरिहारश्चैवं स्यान्नान्यथा योगजधर्मात् मनसोनुग्रहस्ततोऽशेषार्थ-ज्ञानमिति परंपराया निष्प्रयोजनत्वात् ।

योगी केवलज्ञानियोंका ज्ञान [पक्ष] इन्द्रियोंसे जन्य नहीं है [साध्य] । अन्यथा सम्पूर्ण अर्थोंके ग्राहकपनेके अभावका प्रसंग होगा। जैसे कि हम सारिखे छद्मस्थोंका इन्द्रियजन्य ज्ञान सम्पूर्ण अर्थोंको नहीं जानपाता है । इन्द्रियोंके साथ सम्पूर्ण अर्थोंका अव्यवहित रूपसे अथवा परम्परा करके भी युगपत् सन्निकर्ष नहीं हो रहा है और इन्द्रियोंसे नहीं संनिकृष्ट हुये अर्थोंमें वह इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षज्ञान होता नहीं सम्भवता है । यदि नैयायिक या सांख्य यों कहें कि सयोगकेवलीके चित्त की वृत्तियोंको रोककर एक अर्थमें शुभध्यानरूप योगसे उत्पन्न हुए धर्मकरके अनुग्रहको प्राप्त हुये मन इन्द्रियसे सम्पूर्ण अर्थोंका ज्ञान होना सिद्ध हो जायगा । अतः कोई दोष नहीं है । ऐसा कहने पर तो हम जैन पूछते हैं कि बताओ, उस समाधिजन्य धर्मकरके मनका अनुग्रह फिर किस ढंगसे हुआ है ? इसपर तुम यों कहो कि एक ही बारमें संपूर्ण अर्थोंके साथ मनका संनिकर्ष कर देना ही धर्मका मनके ऊपर उपकार है, तब तो उसीके समान यानीं सम्पूर्ण अर्थोंके साथ मनका संनिकर्ष कर देनेके समान वह योगज धर्म युगपत् (एकदम) स्वयं अतीव विशद सम्पूर्ण अर्थोंके ज्ञान ही को सीधा क्यों नहीं कर देवेगा ? इस प्रकार करनेसे बीचमें परंपरा लेनेका परिहार भी हो जाता है । अन्यथा यानी दूसरे प्रकारोंसे परम्पराका निवारण नहीं हो पाता है । योगज धर्मसे मनके ऊपर अनुग्रह पहिले किया जाय और पीछे उससे सम्पूर्ण अर्थोंका ज्ञान किया जाय । इस परम्परा माननेका कुछ प्रयोजन नहीं दीखता है । अतः मध्यमें संनिकर्षको माने विना ही एकत्व वितर्क अवीचार नामके योगसे उत्पन्न हुए केवल ज्ञानद्वारा साक्षात् सम्पूर्ण अर्थोंका ग्रहण हो जाना अभीष्ट कर लेना चाहिये । यही जैनसिद्धान्त है ।

करणाद्विना ज्ञानमित्यदृष्टकल्पनत्यागः प्रयोजनमिति चेत् । नन्वेवं सकृत्सर्वार्थस-न्निकर्षो मनस इत्यदृष्टकल्पनं तदवस्थानं, सकृत्सर्वार्थज्ञानान्यथानुपपत्तेस्तस्य सिद्धेर्नादृष्ट-कल्पनेति चेत् न, अन्यथापि तत्सिद्धेः आत्मार्थसन्निकर्षमात्रादेव तदुपपत्तेः । तथाहि । योगिज्ञानं करणक्रमातिवर्ति साक्षात्सर्वार्थज्ञानत्वात् यन्नैवं तन्न तथा यथास्मदादिज्ञान-मिति युक्तमुत्पश्यामः ।

यदि सांख्य या वैशेषिक यों कहें कि प्रत्यक्षज्ञानका कारण संनिकर्ष है । करणके विना ज्ञान हो जाय ऐसा देखा नहीं गया है । अतः केवलज्ञानीके प्रत्यक्ष करनेमें अशेष अर्थोंके साथ संनिकर्ष माननेका यह प्रयोजन है कि करण विना ज्ञान हो गया, ऐसी अदृष्ट कल्पनाको त्याग दिया जाय । आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहनेपर तो आपके ऊपर प्रश्न होता है कि इस प्रकार

एक ही वारमें सम्पूर्ण अर्थोंके साथ मनका संनिकर्ष होना यह अद्यापि नहीं देखे गये अर्थकी कल्पना करना तो वैसीकी वैसी अवस्थित है। अर्थात्—अणु मनके साथ संपूर्ण अर्थोंका संनिकर्ष होना यह अदृष्ट अर्थकी कल्पना तुमने ही की है। संनिकर्षके विना तो असंख्य पदार्थोंकी चक्षुसे, मनसे, तर्कसे, ज्ञप्तियां हो रही हैं। यदि तुम यों कहो कि एक ही समयमें सम्पूर्ण अर्थोंका ज्ञान हो जाना अन्यथा यानी मनके साथ सम्पूर्ण अर्थोंका संनिकर्ष हुये विना नहीं बन सकता है। अतः उस सर्व अर्थके संनिकर्षकी सिद्धि हो रही है। इस कारण यह अदृष्टकी कल्पना नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि सो तो न कहना। क्योंकि अन्य प्रकारोंसे भी उस साक्षात् एक ही बार सम्पूर्ण अर्थोंका ज्ञान हो जानेकी सिद्धि हो जाती है। नैयायिकोंके मत अनुसार त्रिलोक त्रिकालवर्ती, व्यापक, नित्य, आत्माके साथ अर्थका संनिकर्ष मात्र हो जानेसे ही उस सम्पूर्ण अर्थोंके ज्ञान हो जानेकी उपपत्ति है। अथवा आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थका संनिकर्ष हुये विना भी केवल आत्मा करके ही ज्ञानावरणका क्षय हो जानेपर सम्पूर्ण अर्थोंका ज्ञान होना बन जाता है। तिस ही को स्पष्टकर अनुमान द्वारा कहते हैं। योगीका ज्ञान (पक्ष) इन्द्रियोंके क्रमका उल्लंघन करता है (साध्य)। साक्षात् सम्पूर्ण अर्थोंको जाननेवाला ज्ञान होनेसे (हेतु)। जो ज्ञान क्रमवर्ती इन्द्रियोंके अनुक्रमका उलंघन नहीं करता है, वह ज्ञान तिस प्रकार सम्पूर्ण अर्थोंको जाननेवाला नहीं है। जैसे कि हम सारिखे अल्पज्ञ जीवोंका ज्ञान (व्यतिरेक दृष्टान्त)। इस सिद्धान्तको हम युक्तिपूर्ण समझते हुये यथार्थ देख रहे हैं।

अत एव करणाद्विना ज्ञानमिति दृष्टपरिकल्पनं प्रक्षीणकरणावरणस्य सर्वार्थपरिच्छित्तिः स्वात्मन एव करणत्वोपपत्तेश्च भास्करवत्। न हि भानोः सकलजगन्मंडलप्रकाशनेऽर्थांतरं करणमस्ति। प्रकाशस्तस्य तत्र करणमिति चेत्, स ततो नार्थांतरं। निःप्रकाशत्वापत्तेरनर्थांतरमिति चेत्, सिद्धं स्वात्मनः करणत्वं समर्थितं च कर्तुरनन्यदविभक्तकर्तृकं करणमग्नेरौष्ण्यादिवदिति नार्थांतरकरणपूर्वकं योगिज्ञानं। नाप्यकरणं येन तदिंद्रियजमदृष्टं वा कल्पितं संभवेत्।

इस ही कारण करणके विना भी ज्ञान हो जाता है। यह स्वसंवेदन प्रत्यक्षमें देखे हुये तत्त्वकी ही कल्पना है। जिस आत्माके करणज्ञानको रोकनेवाले ज्ञानआवरणोंका प्रकृष्ट रूपसे क्षय हो गया है, उसको संनिकर्षके विना भी सम्पूर्ण अर्थोंकी परिच्छित्ति हो जाती है। यहां करणका अर्थ प्रमितिका करण हो रहा प्रमाणज्ञान है। इन्द्रिय नहीं। दूसरी बात यह है कि अर्थोंकी परिच्छित्ति करनेमें तुम्हें करणज्ञान आवश्यक ही होय तो ज्ञानकी स्वकीय आत्माको ही करणपना बन सकता है। जैसे कि सूर्य सम्पूर्ण अर्थोंके प्रकाशित करनेमें स्वयं ही करण है। यहां कर्तासे भिन्न करणकी आकांक्षा नहीं है। सर्वथा स्वाधीन केवलज्ञानरूप करणको आवरण करनेवाले ज्ञानावरण पटलका प्रलय हो जाने-
[illegible] आवश्यकता नहीं है।

देखो, सूर्यको हजारों योजनतक सम्पूर्ण जगत् मण्डलका प्रकाश करनेमें कोई दूसरा भिन्न पदार्थ करण आकांक्षणीय नहीं है। यदि उस सूर्यका उस मण्डलका प्रकाश करनेमें प्रकाशको करण माना जायगा तब तो हम पूछते हैं कि वह प्रकाश उस सूर्यसे भिन्न तो नहीं है ? अन्यथा सूर्यको स्वयं गांठके प्रकाश रहितपनेका प्रसंग होगा। यदि सूर्यसे प्रकाश अभिन्न है तो स्वयं अपनेको करणपना सिद्ध हो गया। हम पहिले प्रकरणोंमें भी कर्त्तासे नहीं विभक्त हो रहे करणको कर्त्ताका स्वरूप बन गये का समर्थन कर चुके हैं, जैसे अग्नि उष्ण परिणामसे जला रही है। ऊर्ध्वगमन स्वभाव करके ऊपरको लौ उठ रही है। यहां अग्निके उष्णता, ऊर्ध्वगमनस्वभाव आदिक करण उस कर्त्तारूप अग्निसे अभिन्न हैं। इस कारण सर्वथा अपनेसे भिन्न न्यारे करणको कारण मानकर योगीका ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, और योगीका ज्ञान करणके विना ही उत्पन्न हो जाय यह भी नहीं है, जिससे कि वह इन्द्रियजन्य माना जाय या पूर्व उक्त अदृष्टकी कल्पना करना सम्भावित होय। भावार्थ—कर्त्तासे अभिन्न करणवाले केवलज्ञान द्वारा इन्द्रिय, संनिकर्ष, आदिके विना ही सम्पूर्ण अर्थोंका ज्ञान हो जाता है।

येत्वाहुः, इन्द्रियानिंद्रियप्रत्यक्षमतींद्रियप्रत्यक्षं चाक्षाश्रितं क्षीणोपशांतावरणस्य क्षीणावरणस्य चात्मनोऽक्षशब्दवाच्यत्वादनुमानं लिंगापेक्षं शद्बापेक्षं श्रुतमिति प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि व्यवतिष्ठंते अक्षादिसामग्रीभेदादिति तेषां स्मृतिसंज्ञाचिंतानां प्रत्यक्षत्वप्रसंगः क्षीणोपशांतावरणात्मलक्षणमक्षमाश्रित्योत्पत्तेः लिंगशद्बानपेक्षत्वाच्च।

किन्तु जो वादी ऐसा कह रहे हैं कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष, और मानस प्रत्यक्ष, तथा योगियोंका अतींद्रिय प्रत्यक्ष, ये सभी प्रत्यक्ष ज्ञान भला अक्षका आश्रय लेकर उत्पन्न हुये हैं। क्योंकि ज्ञानावरणके क्षयोपशमको रखनेवाले और ज्ञानावरणके क्षयको रखनेवाले आत्माको अक्ष शब्दका वाच्य अर्थपना है। यानी " शब्दलिंगाक्षसामग्रीभेदात " यहां अक्षका अर्थ आत्मा लिया गया है। अत. अक्षकी अपेक्षा रखनेवाला प्रत्यक्ष और लिंगकी अपेक्षा रखनेवाला अनुमान तथा शब्दसामग्रीकी अपेक्षा रखनेवाला श्रुतज्ञान, इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण व्यवस्थित हो रहे हैं। क्योंकि अक्ष, लिंग, आदि सामग्री इनमें भिन्न भिन्न है। इस प्रकार उनके कहनेपर आचार्य आपादन करते हैं कि यों तो उनके यहां स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और व्याप्तिज्ञान इनको भी प्रत्यक्षपनेका प्रसंग होगा। क्योंकि मतिज्ञानावरण कर्मोंके क्षयोपशमस्वरूप आत्मा नामके अक्षको लेकर इनकी उत्पत्ति हो रही है। लिंग तथा शद्बकी अपेक्षा न होनेसे अनुमान और श्रुतज्ञानमें स्मृति आदिका गर्भ हो नहीं सकेगा। महाशयजी! इनको आप अतिरिक्त प्रमाण मानते नहीं हैं। अत. स्मृति आदि परोक्ष ज्ञानोंको आपके कथन अनुसार आत्मारूप अक्षसे उत्पन्न होनेके कारण प्रत्यक्षपना आ जायगा, जो कि किसी भी वादीको इष्ट नहीं है।

प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं योगीतरजनेषु चेत्।
स्मरणादेरवैशद्यादप्रत्यक्षत्वमागतम् ॥ १७७ ॥

इन्द्रियजन्य या संनिकर्षजन्य अथवा योगज धर्मसे अनुग्रहको प्राप्त हुये मनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। इन सब लक्षणोंको छोडकर यदि प्रत्यक्षका लक्षण विशदज्ञानको स्वीकार करोगे जो कि सर्वज्ञके प्रत्यक्षोंमें और अन्य संसारी जीवोंके प्रत्यक्षोंमें भले प्रकार घटित हो जाता है, तब तो स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदिको अविशद होनेके कारण अप्रत्यक्षपना आया, यानी स्मरण आदिक तो अब प्रत्यक्ष नहीं हो सकेंगे। परोक्ष हो जायेंगे।

विशदं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति वचने स्मृत्यादेरप्रत्यक्षत्वमित्यायातं। तथा च प्रमाणांतरत्वं लैंगिके शाब्दे वानंतर्भावादप्रमाणत्वानुपपत्तेः। कथम्—

अन्य सजातीय विजातीय प्रतीतियोंके व्यवधानरहितपनेसे अर्थमें विशेष विशेषांशोंको स्पष्ट प्रतिभासन करनारूप वैशद्यको धारण करनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। इस प्रकार कहनेपर तो स्मृति आदिक ज्ञानोंको प्रत्यक्षरहितपना यह प्राप्त हुआ और तिस प्रकार होनेपर स्मृति आदिकको प्रत्यक्षसे भिन्न न्यारा प्रमाणपना मानना पडेगा। हेतुसे उत्पन्न हुये अनुमानप्रमाणमें अथवा शब्दजन्य आगम ज्ञानमें स्मृति आदिकोंका अन्तर्भाव नहीं होता है। तथा अप्रमाणपना भी नहीं बन पाता है। अतः वैशेषिक या बौद्धों तथा कापिलोंको स्मृति आदिक न्यारे परोक्ष प्रमाण कहने पडेंगे वे स्मृति आदिक अनुमान, आगमरूप कैसे नहीं है ? या अप्रमाण भी क्यों नहीं है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर उत्तर सुनिये।

लिंगशब्दानपेक्षत्वादनुमागमता च न।
संवादान्नाप्रमाणत्वमिति संख्या प्रतिष्ठिता ॥ १७८ ॥

स्मरण आदिको लिंगकी अपेक्षा नहीं होनेके कारण अनुमानपना नहीं है। शब्दकी संकेत-स्मरण द्वारा सहकारिता न होनेके कारण आगमप्रमाणपना भी नहीं है। तथा सफलप्रवृत्तिको करनेवाले सम्वादीज्ञान होनेके कारण स्मरण आदिक अप्रमाण भी नहीं हैं। इस प्रकार आप लोगों द्वारा मानी गयी प्रमाणोंकी संख्या इस ढंगसे तो प्रतिष्ठित हो चुकी। अर्थात्—यों दो या तीन प्रमाणोंकी संख्या ठीक प्रतिष्ठित नहीं हुयी। यहां उपहास वचनसे निषेध करना ध्वनित हो जाता है। अथवा स्मृति, चिन्ता, संज्ञा आदिको न्यारा प्रमाण मानकर गिननेसे प्रमाणोंकी संख्या प्रतिष्ठित हो जाती है।

यथा हि स्मरणादेरविशदत्वान्न प्रत्यक्षत्वं तथा लिंगशब्दानपेक्षत्वान्नानुमानागमत्वं संवादकत्वान्नाप्रमाणत्वमिति प्रमाणांतरतोपपत्तेः सुप्रतिष्ठिता संख्या त्रीण्येव प्रमाणानीति।

चूंकि जिस प्रकार स्मरण आदिको अविशद होनेके कारण प्रत्यक्षपना नहीं है, तिस ही प्रकार लिंग और शब्दसामग्रीका सहकृतपना न होनेसे अनुमान और आगमपन भी नहीं है। साथहीमें सम्वादक होनेके कारण अप्रमाणपना भी नहीं है। अतः स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्कको तीन प्रमाणोंसे अतिरिक्त चौथा आदि प्रमाणपना सुलभतापूर्वक प्राप्त हो जाता है। इस कारण तीन ही प्रमाण हैं। यह संख्या तुमने अच्छी प्रतिष्ठित की अर्थात्–उपहासपूर्वक व्यंग्यकर प्रमाणकी तीन संख्याका सिद्ध न होना कह दिया है।

एतेनैव चतुःपंचषट्प्रमाणाभिधायिनां।
स्वेष्टसंख्याक्षतिर्ज्ञेया स्मृत्यादेस्तद्विभेदतः ॥ १७९ ॥

इस कथन करके ही यानी स्मृति आदिकोंको भिन्न प्रमाणपना सिद्ध हो जानेसे और स्वीकृत प्रमाणोंमें अन्तर्भाव न होनेसे ही चार, पाच, छः, सात, आठ प्रमाणोंको कहनेवाले वादियोंकी मानी हुयी अपनी अभीष्ट संख्याकी क्षति होगयी समझलेनी चाहिये। क्योंकि स्मृति आदिक उन माने हुये नियत प्रमाणोंसे विभिन्न होते हुये सिद्ध हो चुके हैं।

येप्यभिदधते प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि चत्वार्येवेति सहार्थापत्त्या पंचैवेति वा सहाभावेन षडेवेति वा, तेषामपि स्वेष्टसंख्याक्षतिः प्रमाणत्रयवादीष्टसंख्यानिराकरणेनैव प्रत्येतव्या। स्मृत्यादीनां ततो विशेषापेक्षयार्थांतरत्वसिद्धेः। न ह्युपमानेर्थापत्त्यामभावे वा स्मृत्यादयोंतर्भावयितुं शक्याः सादृश्यादिसमग्र्यनपेक्षत्वात् उपमानार्थापत्तिरूपत्वेनवस्था-प्रसंगात्। अभावरूपत्वे सदंशे प्रवर्तकत्वविरोधात्।

जो भी नैयायिक प्रभृतिवादी यों कह रहे हैं कि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द ये चार ही प्रमाण हैं। यह न्यायदर्शनका तीसरा सूत्र है। अथवा इन चारको अर्थापत्तिके साथ मिलाकर पाच ही प्रमाण हैं, ऐसा प्रभाकर, मीमांसक कहरहे हैं। तथा इन पाचको अभावके साथ मिलाकर छह ही प्रमाण हैं; इस प्रकार जैमिनि मान रहे हैं। कोई कोई सम्भव, इतिहास, प्रतिभा आदिको भी इनसे न्यारे प्रमाण मान रहे हैं। सौमें पचास हैं, पांचसेर दूधमें ढाईसेर दूध है, यह सम्भव है। इस वटवृक्षपर यक्ष रहता है ऐसा वृद्ध पुरुष कहते आये हैं, यह इतिहास है। कल मेरा भाई आवेगा, चादी मदी होगी यह प्रतिभा है, इत्यादि। आचार्य कहते हैं कि उन सबकी भी अपने अभीष्टसंख्याकी क्षति इस तीन प्रमाण प्रत्यक्ष अनुमान और आगमको माननेवाले वादीकी इष्ट संख्याके निराकरण करदेनेसे ही समझलेना चाहिये। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्कोंको विशिष्ट अर्थोंके ग्रहण करनेकी अपेक्षासे उन प्रमाणोंसे भिन्न प्रमाणपना सिद्ध है। नैयायिक आदिकोंके अतिरिक्त माने गये उपमानप्रमाण या अर्थापत्ति अथवा अभावमें तो स्मृति आदिकोंका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है। क्योंकि उपमानकी सामग्री सादृश्य और अर्थापत्तिकी सामग्री

अनन्यथाभवन तथा अभावकी सामग्री आधार ' वस्तुग्रहण ' मनइन्द्रिय, प्रतियोगिस्मरण, आदि हैं। उनकी अपेक्षा तो स्मरण आदि ज्ञानोंमें नहीं है। स्मरण आदिको उपमान या अर्थापत्तिरूप माननेपर अनवस्था दोषका भी प्रसंग होता है। अर्थात्—उपमान प्रमाणके उत्थानमें भी तो वृद्धवाक्यस्मरण आदिकी अपेक्षा होगी। उस स्मरणको भी पुनः उपमानरूप स्मरणकी आवश्यकता होगी, कहीं ठहरना नहीं हो सकेगा। अर्थापत्तिमें भी व्याप्तिस्मरण या तर्ककी आकांक्षा है। और वे स्मरण या तर्क पुनः अर्थापत्तिरूप होंगे। उनके उठानेमें भी तर्ककी और व्याप्तिस्मरणकी आवश्यकता पडेगी और वे तर्क भी तुम्हारे विचार अनुसार अर्थापत्तिमें ही गर्भित किये जायेंगे, यह अनवस्था हुयी। स्मरण आदिको अभाव प्रमाणरूप माननेपर तो भाव अंशमें प्रवर्त्तकपनेका विरोध आता है। क्योंकि मीमांसकोंके यहां असत् अंशको जाननेके कारण अभाव प्रमाणको निवृत्ति करनेवाला माना हैं। प्रत्यक्ष आदि पांच प्रमाणोंको उन्होंने प्रवर्त्तक माना है। **प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते। वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता॥** किन्तु स्मृति आदिसे भाव अंशोंमें प्रवृत्ति हो रही देखी जाती है।

सादृश्यस्मृत्यादयो हि यद्युपमानरूपास्तदा तदुत्थापकसादृश्यादिस्मृत्यादिभिर्भवितव्यं अन्यथा तस्य तदुत्थापनसामर्थ्यासंभवात् स्मृत्याद्यगोचरस्यापि तदुत्थापनसामर्थ्येतिप्रसंगात्। प्रत्यक्षगोचरचारि सादृश्यमुपमानस्योत्थापकमिति चेन्न, तस्य दृष्टदृश्यमानगोगवयव्यक्तिगतस्य प्रत्यक्षागोचरत्वात्। गोसदृशो गवय इत्यतिदेशवाक्याहितसंस्कारो हि गवयं पश्यन् प्रत्येति गोसदृशोऽयं गवय इति। तत्र गोदर्शनकाले यदि गवयेन सादृश्यं दृष्टं श्रुतं गवयदर्शनसमये स्मर्यते प्रत्यभिज्ञायते च गवयप्रत्ययनिमित्तः सोयं गवयशब्दवाच्य इति संज्ञासंज्ञिसंबंधप्रतिपत्तिनिमित्तं वा तदा सिद्धमेव स्मृत्यादि विषयत्वमुपमानजननस्य सादृश्यस्येति कुतः प्रत्यक्षगोचरत्वं ? यतस्तत्सादृश्यस्मृत्यादेरुपमानत्वे अनवस्था न स्यात्।

अभी दी गयी अनवस्थाको ग्रन्थकार कंठोक्त पुष्ट करते हैं कि गौ और रोझके सदृशपन की स्मृति और प्रत्यभिज्ञान, तर्क, आदिकोंको यदि नैयायिक उपमानस्वरूप मानेंगे तब तो उस उपमानके उत्पन्न करनेवाले सादृश्य आदिको जाननेके लिये पुनः स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदिक होने चाहिये। अन्यथा यानी ज्ञात हुये विना उस सादृश्य आदिको उस उपमान प्रमाणके उत्थान करानेकी सामर्थ्यका असम्भव है। यदि स्मृति आदिकसे नहीं विषय किये सादृश्यकी भी उस उपमानके उत्थित करानेमें शक्ति मानी जायगी तो अतिप्रसंग दोष हो जायगा। यानी जिस मूर्खने गौ और गवयके सादृशपनको नहीं भी जाना है, उसके भी वनमें रोझको देखकर इस (गवय) के सदृश गौ होती है, ऐसा उपमान प्रमाण उस सादृश्यके विद्यमान होने मात्रसे उत्पन्न हो जाना चाहिये। किन्तु होता नहीं है। यदि नैयायिक यों कहें कि उपमानप्रमाणका उत्थापक

सादृश्य तो प्रत्यक्षज्ञानके विषयमें चल रहा है। अतः प्रत्यक्षसे सादृश्यको जानकर उस सादृश्यसे उपमान प्रमाण उठा लिया जायगा, अनवस्था दोष नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि पूर्वकालमें देखी गयी गौ और वर्तमानमें देखे जा रहे गवय व्यक्ति इन दोमें प्राप्त हो रहा, वह सादृश्य कथमपि प्रत्यक्षज्ञानका विषय नहीं हो सकता है। वर्तमानकालकी वस्तुओंको हमारा प्रत्यक्ष जान सकता है। भूत और भविष्यत्कालके अर्थोंमें पडे हुए सादृश्यको इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं जान पाता है। गौके सदृश गवय होता है, इस प्रकार वृद्धवाक्यको सुनकर धारणा-नामके संस्कारको धारनेवाला पुरुष वनमे गवयको देखता हुआ अवश्य ऐसा निर्णय कर लेता है कि यह गवय गौके सदृश है। तहां पहिले गौका दर्शन करते समय यदि गवयके साथ गायका सदृश-पना देखा या सुना है, पीछे गवयका दर्शन करते समय उस देखे या सुने हुये सादृश्यका स्मरण हो जाता है। और वैसे सादृश्यका स्मरण हो जाता है और वैसे सादृश्यका प्रत्यभिज्ञान हो जाता है, तब वह अरण्यमें देखे गये विशिष्ट पशुमें गवयज्ञानका निमित्तकारण होता है कि वो (देखा या सुना गया) यह व्यक्ति गवयशद्बका वाच्य है। अथवा यों संज्ञा और संज्ञावाले सम्बन्धकी प्रतिपत्तिरूप उपमानका निमित्त वह स्मृत या प्रत्यभिज्ञात सादृश्य है, तब तो उपमानको उत्पन्न करनेवाले सादृश्यको स्मृति या प्रत्यभिज्ञानका विषयपना सिद्ध ही हो गया, इस प्रकार वह सादृश्य भला प्रत्यक्षका विषय कहां रहा ? जिससे कि फिर उस सादृश्यको जाननेवाले स्मृति आदिको उपमान प्रमाण मानते मानते अनवस्था दोष न होय, अर्थात्—अनवस्था दोष हुआ।

तथार्थापत्त्युत्थापकस्यानन्यथा भवनस्य परिच्छेदकस्मृत्यादयो यद्यर्थापत्तिरूपास्तदा तदुत्थापका परानन्यथाभवनप्रमाणरूपत्वपरिच्छेदिभिरपरैः स्मृत्यादिभिर्भवितव्यमित्यनवस्था तासामनुमानरूपत्ववत्प्रतिपत्तव्या।

तथा स्मृतिको अर्थापत्तिरूप माननेमें भी अनवस्था होती है। क्योंकि अर्थापत्ति प्रमाणको उत्थापन करानेवाले अन्यथा नहीं होने रूप हेतुके जाननेवाले स्मृति आदिक पुनः यदि अर्थापत्ति रूप होयेंगे तब तो उन अर्थापत्तियोंके उत्थापक दूसरे अनन्यथा भवनको प्रमाणरूप होते हुये जाननेवाले दूसरे स्मृति आदिकोंको होना चाहिये। और वे स्मृति आदिक भी पुनः अर्थापत्तिरूप पडेंगे, तब तो मोटा, पुष्ट, देवदत्त दिनको नहीं खाता है। अतः रातको भोजन करना उसका अर्थापत्तिसे जान लिया जाता है। क्योंकि पुष्ट स्थूलपना भोजनके विना नहीं हो पाता है। अतः अनन्यथा भवनस्वरूप पीनत्वसे रात्रिभोजन करना अर्थापत्तिगम्य है। इस अर्थापत्तिमें स्मरणकी और तर्ककी आवश्यकता पडती है। अन्यथा अर्थापत्तिके उत्थापक अनन्यथा भवनकी प्रतिपत्ति नहीं हो पायगी। इस प्रकार अनेक अर्थापत्तिरूप स्मृति आदिकोंकी आकांक्षा बढती रहनेके कारण अनवस्था होती है। जैसे कि उन स्मृति आदिकोंको अनुमानस्वरूप कहनेसे अनवस्था हुयी थी,

वैसी ही समझ लेना। क्योंकि उस अनुमानके उत्थापक व्याप्तिस्मरण और लिंगके प्रत्यभिज्ञानको भी पुनः अनुमानरूप कहना आवश्यक होगा। इस ही प्रकार तीसरे चौथे आदि अनुमानमें स्मरण, प्रत्यभिज्ञानरूप अनुमानोंकी अभिलाषा बढती ही जायगी। स्मृति आदिको अनुमान, उपमान, अर्थापत्तिस्वरूप माननेसे अनवस्था दोष स्पष्ट दिखला दिया है।

कथमभावप्रमाणरूपत्वे स्मृत्यादीनां सदंशे प्रवर्तकत्वं विरुध्यत इति चेत्, अभावप्रमाणस्यासदंशनियतत्वादिति ब्रूमः। न हि तद्वादिभिस्तस्य सदंशविषयत्वमभ्युपगम्यते। सामर्थ्यादभ्युपगम्यत इति चेत्, प्रत्यक्षादेरसदंशविषयत्वं तथाभ्युपगम्यतां विशेषाभावात्। एवं चाभावप्रमाणवैयर्थ्यमसदंशस्यापि प्रत्यक्षादिसमाधिगम्यत्वसिद्धेः।

मीमांसक पूछते हैं कि आप जैनोंने पूर्वमें कहा था कि स्मृति आदिको अभाव प्रमाणस्वरूप माननेपर सद्रूपभाव अंशमें प्रवृत्ति करादेनेपनका विरोध है, सो बताओ कि स्मृति आदिकोंको अभाव प्रमाणरूप माननेपर भाव अंशमें प्रवृत्ति करादेना कैसे विरुद्ध पडता है ? आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार पूछनेपर तो हम धडल्लेके साथ यह उत्तर कहते हैं कि आप मीमांसकोंने अभाव प्रमाणको असद्रूप अभाव अंशमें नियत हो रहा माना है। उस अभाव प्रमाणको माननेवाले मीमांसक वादियोंकरके उस अभाव प्रमाणका विषय कथमपि भाव अंश नहीं स्वीकार किया गया है। ऐसी दशामें अभावप्रमाणरूप स्मृति आदिकसे काष्ठासन, धूम आदिको जानकर भावमें प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी ? यदि आप मीमांसक यों कहें कि अभाव प्रमाण मुख्यरूपसे वस्तुके असत् अंशको जानता है और सत् अंशके विना रीता असत् अंश ठहर नहीं पाता है। इस सामर्थ्यसे अभाव प्रमाणद्वारा भाव अंशका जानना भी हमें स्वीकृत है, इस प्रकार कहनेपर तो हम स्याद्वादी कहेंगे कि तिस प्रकार सामर्थ्य होनेसे प्रत्यक्ष अनुमान आदि पांच भावग्राही प्रमाणोंको भी असत् अंशका विषय करलेनापन मान लिया जाय कोई अन्तर नहीं है। और इस प्रकार व्यवस्था होनेपर तो छठे अभाव प्रमाणका मानना व्यर्थ हुआ। क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे ही असत् अंशका भी भले प्रकार अधिगम योग्य हो जाना सिद्ध हो गया है। अर्थात्—अभाव प्रमाण माननेका प्रयोजन भावप्रमाणोंसे ही भले प्रकार सध गया।

साक्षादपरभावपरिच्छेदित्वाचाभावप्रमाणस्य वैयर्थ्यमिति चेत्, तर्हि स्मृत्यादीनामभावप्रमाणरूपाणां साक्षादभावविषयत्वात्सदंशे प्रवर्तकत्वं कथं न विरुद्धं। ततो नोपमानादिषु स्मृत्यादीनामंतर्भाव इति प्रमाणांतरत्वसिद्धेः सिद्धा स्वेष्टसंख्याक्षतिः चतुःपंचषट्प्रमाणाभिधायिनाम्।

अभाव प्रमाण साक्षात् यानी अव्यवहितरूपसे अन्य भावोंका परिच्छेदी न होकर अभावका परिच्छेदक है। और प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण तो भावको जानकर पीछे परम्परासे अभावको जानते

है। अतः अभाव प्रमाण व्यर्थ नहीं है, इस प्रकार मीमांसकोंके कहनेपर तो यही आया कि अभाव प्रमाणस्वरूप स्मृति आदिक भी अन्यवहितरूपसे अभावको ही विषय करेंगी। इस कारण स्मृति आदिको भाव अंशमें प्रवर्तकपना क्यों नहीं विरुद्ध पडेगा ? अर्थात्—अवश्य पडेगा, वही हमने पूर्वमें कहा था। तिस कारण उपमान, अनुमान, अर्थापत्ति, अभाव, आगम, प्रमाणोंमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्कका अन्तर्गर्भ नहीं हो पाता है। इस कारण स्मृति आदिकको भिन्न प्रमाणपनेकी सिद्धि हो जाती है। अतः चार, पाच, छह अथवा और भी अधिक प्रमाणोंको कहनेकी टेव रखनेवाले नैयायिक, मीमांसक आदिकोंके यहां अपने अभीष्ट प्रमाणोंकी संख्याका विघात हो जाना सिद्ध हुआ।

तद्वक्ष्यमाणकात् सूत्रद्वयसामर्थ्यतः स्थितः।
द्वित्वसंख्याविशेषोत्राकलंकैरभ्यधायि यः॥ १८०॥

तिस कारण अभी आगे कहे जानेवाले दो सूत्रोंके बलसे प्रमाणके दोपनकी संख्याका विशेष यहां प्रतिष्ठित हुआ, जो कि श्रीअकलंक महाराजके अनुयायी स्याद्वादी विद्वानों करके भी पूर्णरूपसे कहा गया है। अर्थात्—" तत्प्रमाणे " इस द्विवचनकी सामर्थ्यसे दो प्रमाण मानने चाहिये। भविष्यके " आद्ये परोक्षम् " और " प्रत्यक्षमन्यत् " इन दो सूत्रों द्वारा उमास्वामी महाराजने उसका कंठोक्त स्पष्टीकरण कहा है। श्री अकलंकदेव महोदयोंने भी राजवार्तिकमें वैसा दो प्रमाणोंमें ही सम्पूर्ण स्मृति, अर्थापत्ति, संभव, आदिकके गर्भित हो जानेका व्याख्यान किया है।

प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा श्रुतमविप्लुतम्।
परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाणे इति संग्रहः॥ १८१॥

श्री अकलंक देवका यह अभिप्राय है कि विशदज्ञान प्रत्यक्ष है। वह अवधि, मनःपर्यय, और केवलज्ञानके भेदसे तीन प्रकारका है। तथा अनेक बाधाओंके विप्लव होनेसे रहित श्रुतज्ञान और प्रत्यभिज्ञान तर्क आदिक तो परोक्ष प्रमाण हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाण हैं। इनमें सभी प्रमाणोंका संग्रह हो जाता है।

त्रिधा प्रत्यक्षमित्येतत्सूत्रव्याहतमीक्ष्यते।
प्रत्यक्षातींद्रियत्वस्य नियमादित्यपेशलम्॥ १८२॥
अत्यक्षस्य स्वसंवित्तिः प्रत्यक्षस्याविरोधतः।
वैशद्यांशस्य सद्भावात् व्यवहारप्रसिद्धितः॥ १८३॥

कोई कहते हैं कि आप जैनोंने यह तीन प्रकारका जो प्रत्यक्ष माना है, यह तो सूत्रसे व्याघातयुक्त दीख रहा है। क्योंकि अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान इन तीन अतींद्रिय ही

प्रत्यक्षोंका आपने नियम किया है। आचार्य कहते हैं कि यह किसीका कहना सुंदर नहीं है। क्योंकि इंद्रियोंसे अतिक्रान्त प्रत्यक्षका स्वसंवेदन हो रहा है। कोई विरोध नहीं है। तथा एक देशसे विशदपना इन्द्रियप्रत्यक्षोंमें भी विद्यमान है। इस कारण व्यवहारकी प्रसिद्धिसे अवग्रह आदिक भी प्रत्यक्षरूप हैं। भावार्थ—मुख्यरूपसे तो अवधि आदिक तीन ही प्रत्यक्ष हैं। हां, थोडा विशदपना होनेसे इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी परीक्षामुख आदि न्यायके अन्य ग्रन्थोंमें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष-मान लिये गये हैं। वस्तुतः वे परोक्ष हैं। अतः अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ही प्रत्यक्ष हैं। देखिये, इन्द्रियोंके विना ज्ञानका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हो रहा है।

प्रत्यक्षमेकमेवोक्तं मुख्यं पूर्णेतरात्मकम्।
अक्षमात्मानमाश्रित्य वर्तमानमतींद्रियम्॥ १८४॥
परासहतयाख्यातं परोक्षं तु मतिश्रुतम्।
शब्दार्थश्रयणादेवं न दोषः कश्चिदीक्ष्यते॥ १८५॥

पूर्ण प्रत्यक्ष केवलज्ञान तथा अपरिपूर्ण प्रत्यक्ष अवधि और मनःपर्ययस्वरूप, ये सब एक ही प्रत्यक्षप्रमाण मुख्य कहा गया है। क्योंकि अक्ष यानी आत्माको ही आश्रय लेकरके वह प्रवर्तता है। अत इन्द्रियोंसे अतिक्रान्त अवधि आदि तीन ज्ञान तो पर इन्द्रिय, आलोक, हेतु, शब्द, आदिकी सहकारितासे नहीं होते हुये मुख्य प्रत्यक्ष कहे गये हैं। तथा मति और श्रुत तो मुख्य रूपसे परोक्ष माने गये हैं। इस प्रकार शब्द संबंधी न्याय और अर्थसम्बन्धी न्यायका आश्रय लेने से कोई भी दोष नहीं दीखता है।

प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधेति ब्रुवाणेनापि मुख्यमतींद्रियं पूर्णं केवलमपूर्णमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं चेति निवेदितमेव, तस्याक्षमात्मानमाश्रित्य वर्तमानत्वात्। व्यवहारतः पुनरिंद्रियप्रत्यक्षमनिंद्रियप्रत्यक्षमिति वैशद्यांशसद्भावात्। ततो न तस्य सूत्रव्याहतिः। श्रुतं प्रत्यभिज्ञादि च परोक्षमित्येतदपि न सूत्रविरुद्धं, आद्ये परोक्षमित्यनेन तस्य परोक्षत्वप्रतिपादनात्।

विशदज्ञान प्रत्यक्ष है, वह तीन प्रकार है, इस प्रकार कहनेवाले स्याद्वादी करके भी मुख्य रूपसे अतीन्द्रिय और पूर्णविषयोंको जाननेवाला केवलज्ञान है, तथा अपूर्ण विषयोंको जाननेवाला अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष हैं, यह निवेदन कर ही दिया गया समझो। क्योंकि वह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अकेले आत्मारूप अक्षका आश्रय लेकर प्रवर्त्त रहा है। हां, व्यवहारसे फिर पांच इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुये प्रत्यक्ष और मनसे उत्पन्न हुये प्रत्यक्ष भी हैं। क्योंकि एक देशसे विशदपना

उनमें भले प्रकार विद्यमान है। तिस कारण द्विवचनान्त पदसे एक परोक्ष और एक ही विशद प्रत्यक्षको कहनेवाले उस सूत्रका व्याघात नहीं हुआ। तथा श्रुतज्ञान और प्रत्यभिज्ञान आदिक परोक्ष हैं। इस प्रकार यह भी सूत्रसे विरुद्ध नहीं है। क्योंकि भविष्यके " आद्ये परोक्षम् " इस सूत्र करके उनको परोक्षपना समझाकर कहा गया है।

अवग्रहेहावायधारणानां स्मृतेश्च परोक्षत्ववचनात् तद्विरोध इति चेन्न, प्रत्यभिज्ञादीत्यत्र वृत्तिद्वयेन सर्वसंग्रहात्। कथं। प्रत्यभिज्ञाया आदिः पूर्वं प्रत्यभिज्ञादीति स्मृतिपर्यंतस्य ज्ञानस्य संग्रहात् प्राधान्येनावग्रहादेरपि परोक्षत्ववचनात् प्रत्यभिज्ञा आदिर्यस्येति वृत्त्या पुनरभिनिबोधपर्यंतसंगृहीतेर्न काचित्परोक्षव्यक्तिरसंग्रहीता स्यात्। तत एव प्रत्यभिज्ञादीति युक्तं व्यवहारतो मुख्यतः स्वेष्टस्य परोक्षव्यक्तिसमूहस्य प्रत्यायनात्। अन्यथा स्मरणादि परोक्षं तु प्रमाणे इति संग्रह इत्येवं स्पष्टमभिधानं स्यात्। ततः शब्दार्थाश्रयणान्न कश्चिद्दोषोत्रोपलभ्यते।

अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा और स्मृतिको भी परोक्षपना कहा गया है। अतः केवल श्रुत और प्रत्यभिज्ञा आदिको ही परोक्षपना कहनेसे उस सूत्रका विरोध तदवस्थ है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि प्रत्यभिज्ञादि इस शद्बमें षष्ठी तत्पुरुष और बहुव्रीहि समास इन दो वृत्तियोंसे सभी परोक्ष प्रमाणोंका संग्रह हो जाता है। कैसे हो जाता है ? सो उत्तर सुनिये। जो ज्ञान प्रत्यभिज्ञाके आदि यानी पूर्ववर्त्ती हैं, वे प्रत्यभिज्ञादि हैं, इस प्रकार ता स द्वारा अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, स्मृतिपर्यन्त ज्ञानोंका संग्रह हो जाता है। अवग्रह आदिकोंको भी प्रधानतासे परोक्षपनका कथन किया गया है। तथा प्रत्यभिज्ञा है आदिमें जिसके, ऐसी बहुव्रीहि नामक समास वृत्तिसे फिर चिन्ता (व्याप्तिज्ञान) अभिनिबोध (अनुमान) पर्यंत ज्ञानोंका संग्रह हो जाता है। अतः कोई भी परोक्षव्यक्ति असंग्रहीत नहीं हुयी। तिस ही कारण प्रत्यभिज्ञादि इस प्रकार वार्त्तिकमें कहना युक्तिपूर्ण है। क्योंकि व्यवहार और मुख्यरूपसे स्वयंको अभीष्ट हो रहे परोक्ष व्यक्तियोंके समुदायका निर्णय करा दिया गया है। अवग्रह आदिक मुख्यरूपसे परोक्ष हैं। हां, व्यवहारसे प्रत्यक्ष भी हैं। अन्यथा यानी सभी परोक्षोंका संग्रह करना यदि इष्ट नहीं है और अवग्रह आदिकको परोक्षमें नहीं डालना चाहते होते तो स्मरण आदिक तो परोक्ष हैं, इस प्रकार प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाण हैं, ऐसा यह स्पष्ट ही कथन कर दिया जाता। किन्तु " प्रत्यभिज्ञादि " कह देनेसे उक्त स्वरस है। तिस कारण शद्ब और अर्थसम्बन्धी न्यायका आसरा लेनेसे कोई भी दोष यहां नहीं दीखता है। अतः स्वकीयभेद प्रभेदोंसे युक्त प्रत्यक्ष और अपने भेद प्रभेदोंसे युक्त परोक्ष ये दो मुख्य प्रमाण हैं। शेष प्रमाणज्ञान इन्हीं दोके परिवार हैं।

इस सूत्रका सारांश

इस सूत्रके प्रकरणोंकी सूचनिका इस प्रकार है। प्रथम ही पांचों ज्ञानोंको दो प्रमाणरूप स्वीकार किया है। एक, तीन, आदि अभीष्ट प्रमाणोंमें सभी प्रमाणोंका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। प्रमाणके स्वरूप और संख्यामें पडे हुये विवादोंका मूलसूत्रसे निराकरण हो जाता है। जड इन्द्रियोंको मुख्य प्रमाणता नहीं है। हां, चेतन भावेंद्रियां स्वार्थकी परिच्छित्तिमें साधकतम हैं। कोई भी जडपदार्थ प्रमितिका करण नहीं है। वैशेषिकोंसे माना गया सन्निकर्ष भी प्रमाण नहीं है। सर्वथा भिन्न पडे हुये आत्मा और ज्ञान भी प्रमाण नहीं हो सकते हैं। अन्यथा ज्ञानका सम्बन्ध (स्वसमवायि संयोग) होनेसे शरीर भी प्रमाता बन बैठेगा। तादात्म्यपरिणामके अतिरिक्त समवाय पदार्थ कुछ नहीं है। अतः प्रमिति, प्रमाण, प्रमाताका सर्वथा भेद नहीं है। हां, प्रमिति और प्रमाणसे प्रमाताका सर्वथा अभेद भी नहीं है। किन्तु कथंचित् भेद, अभेद, है, जैसे कि चित्रज्ञान है। यहां स्याद्वादका रहस्य समझने योग्य है। जिन वैशेषिकोंने संयोग आदिक छह संनिकर्ष माने हैं, उनमें अनेक दोष आते हैं। लौकिक संन्निकर्ष और अलौकिक सनिकर्षोंको प्रमितिका साधकपना नहीं बनता है। कर्मोंके पटलका विघटन हो जानेसे आत्मा ही सम्पूर्ण प्रमितियोंको बना लेता है। योग्यतारूप संनिकर्षको भले ही प्रमाण कह दो। यहां अन्य भी आनुषंगिक विचार किये गये हैं। बौद्धोंकी मानी हुयीं तदाकारता भी प्रमाण नहीं है। ताद्रूप्य, तदुत्पत्ति और तदध्यवसाय, ये तीनों ज्ञानके विषयका नियम नहीं करा सकते हैं। संनिकर्ष और तदाकारता आदिमें अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेकव्यभिचार होते हैं। स्वसंवेदन प्रत्यक्षज्ञानको आकार पडे विना भी प्रमाण माना गया है। सम्वेदनाद्वैत माननेसे भी कार्य नहीं चलेगा और भी यहां चोखा विचार है। बात यह है कि उपचारसे चाहे कुछ भी कह लो, वस्तुतः अज्ञानकी निवृत्ति करनेवाला सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है। सम्यक् शब्दका अधिकार चले आनेसे संशय आदि मिथ्याज्ञान प्रमाण नहीं हैं। जितने अंशमें जिस प्रकार ज्ञानका अविसम्वाद है, उतने अंशमें उस ज्ञानको प्रमाणता है। जैसे कि सम्यग्दृष्टिके जितने अंशमें राग है, उतने अंशसे बन्ध है और शेष अंशोंसे संवर है। पांच ज्ञानोंमें से मति, श्रुतको एक देशसे प्रमाणपना है। अवधि मनःपर्ययको पूर्णरूपसे प्रमाणता है। केवल ज्ञानको भी सम्पूर्ण पदार्थोंमें पूर्णरूपसे प्रमाणता है। शहाजांहपुर, बरेली, बलिया, सहारनपुरकी बनी हुई खाण्डोंमें मीठेपनका अन्तर है। मिश्री, खाड, गुडमें भी मीठेपनका तारतम्य है। इसका यही अभिप्राय है कि उन पुद्गल पिण्डोंमें अनेक छोटे छोटे पुद्गलस्कन्ध मिठाईसे रहित हुए मिले हुए हैं। मालगाडीसे सवारीगाडी और उससे भी अधिक डाक गाडी तेज चलती है। यहां यह ध्वनित हो जाता है कि डाकगाडीसे सवारीगाडी पटरी या आकाश प्रदेशोंपर अधिक ठहरती है और सवारी गाडीसे मालगाडी रेल पटरियोंपर देरतक खडी रहती है। अन्य एक घंटेमें दो सौ मील

चलनेवाले विमानोंकी अपेक्षा दौडती हुई डांक गाडीका भी पटरीपर आपेक्षिक ठहरना कहना पडेगा। अन्य कोई उपाय नहीं है। शीघ्रगमन और मन्थरगमनका अन्तर डालनेवाली दूसरी कोई परिभाषा नहीं हो सकती है। इसी प्रकार प्रमाणोंमें भी प्रमाणता और अप्रमाणता जडी हुई है। इन्द्रियजन्य ज्ञानोंमें और श्रुतज्ञानोंमें अप्रमाणताका अंश स्पष्ट दीख रहा है, जिसमें बहुतसा अंश प्रमाणपनेका है, वह प्रमाणज्ञान है। और जिसमें बहुभाग अप्रमाणता भरी हुयी है, वह अप्रमाण है। अतः भरपूर प्रमाण ही या अप्रमाण ही ज्ञान होनेका एकान्त करना समुचित नहीं है। यह श्रीविद्यानन्द आचार्यका स्वतंत्र विचार प्रशस्त है। सभी ज्ञान स्वको जाननेमें प्रमाण हैं। एक ज्ञानमें प्रमाणपना और अप्रमाणपना धर्म विरुद्ध नहीं हैं। यहा बुद्धमतके ऊपर विचार किया है। सर्वत्र अनेकान्त फैला हुआ है। ईश्वरका एक ज्ञान अनेक आकारवाला प्रसिद्ध है। क्रमवर्ती ज्ञानोंसे सर्वज्ञता नहीं है। स्याद्वादके ऊपर उलाहना देनेवाले स्वयं ग्रस्त हो जाते हैं। बौद्धोंके यहा प्रमाणका लक्षण समीचीन नहीं है, उनसे अविसम्वादकी ठीक ठीक परिभाषा न हो सकी। युक्तिसिद्ध ही पदार्थोंको माननेवाला वादी शास्त्रमें कहे गये तत्त्वोंका श्रद्धान नहीं कर सकता है। स्वप्न ज्ञानमें अतिव्याप्ति हो जानेसे प्रमाणका लक्षण आकाक्षानिवृत्तिरूप अविसंवाद ठीक नहीं है। अव्याप्ति, असंभव, दोष भी आते हैं। अज्ञात अर्थका प्रकाश करना यह प्रमाणका लक्षण भी ठीक नहीं है। प्रत्यक्षको मुख्यप्रमाण और अनुमानको गौण प्रमाण माननेसे बौद्धका कार्य नहीं चल सकता है। मीमासकोंका माना हुआ प्रमाणका लक्षण भी ठीक नहीं है। अनेक दोष आते हैं। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क ये कथंचित् पूर्व अर्थको जानते हुए भी प्रमाण माने गये हैं। पर्याय और पर्यायीका कथंचित् अभेद है। स्व और अर्थका निर्णय करनेवाला ज्ञान प्रमाण हैं। इतने लक्षणसे ही कार्य चल जाता है। अन्य विशेषण लगाना व्यर्थ है। अधिक भूलमें पड जानेवाला अनेक उपाधियोंको लगा लेता है। असुन्दर पुरुष अधिक आभूषणोंको पहनता है। बाधवर्जितपना विशेषण भी व्यर्थ है। अन्यथा बडा टटा लग जायगा। निर्दोष कारणोंसे बनाया गयापन भी व्यर्थ है। अनवस्था दोष आता है। सम्पूर्ण प्रमाणोंकी प्रमाणता स्वतः ही माननेवाले मीमांसकोंका पक्ष समीचीन नहीं है। यों तो मिथ्या ज्ञानोंमें भी प्रमाणपना घुस बैठेगा। यहां स्वतः प्रामाण्यके ऊपर विस्तृत विचार किया है। अनभ्यास दशामें प्रामाण्यको परतः जाननेकी व्यवस्था की है। प्रमाणता और अप्रमाणता दोनोंको परतः ही माननेवाले नैयायिकोंके यहां आकुलता मच जायगी। प्रवृत्तिकी सामर्थ्यसे प्रमाणको अर्थवान् माननेमें अनवस्था होती है। यहा प्रवृत्तिकी सामर्थ्यमें विकल्प उठाकर न्यायमतका खण्डन किया है। संशयज्ञानसे प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। प्रेक्षावान् पुरुषोंकी प्रवृत्ति प्रमाणोंसे होती है। विशेष विशेष ज्ञानावरणके विघट जानेसे किसीकी प्रेक्षापूर्वक क्रिया करना और अन्यके अप्रेक्षापूर्वक क्रिया करना बन रहा है। अभ्यास, प्रकरण, बुद्धिपाटव, ये विशेष कार्यकारी

नहीं हैं। अभ्यास दशामें स्वतः और अनभ्यास दशामें परतः प्रामाण्य जान लिया जाता है। यही बात अप्रामाण्यमें समझो। सम्पूर्ण तत्त्व स्याद्वादसे विध रहे हैं। सम्पूर्ण अंगोंमें प्रमाणताको धारण करनेवाला भी केवलज्ञान परकीय चतुष्टयसे प्रमाण नहीं है। शून्य वादियोंके यहां इष्टविधान और अनिष्टनिषेध यह प्रक्रिया प्रमाण माननेपर ही सिद्ध होती है। अन्यथा किसी बातकी भी व्यवस्था नहीं है। विशेष क्षयोपशमके अनुसार अभ्यास और अनभ्यास किसी किसी प्राणीके अनेक विषयोंमें हो जाते हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाण हैं। चार्वाकोंका एक ही प्रत्यक्ष प्रमाण मुख्य है, यह मन्तव्य अच्छा नहीं है। गुरु, पिता, आदिके प्रत्यक्षोंका प्रमाणपना प्रत्यक्षसे तुमको नहीं ज्ञात हो सकता है। अत. अनुमान मानना पडेगा। बौद्धोंके द्वारा प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानना भी ठीक नहीं है। व्याप्तिको जाननेके लिये अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता होगी योगी। प्रत्यक्षसे तुमको व्याप्तिका ज्ञान नहीं हो सकता है। अनुमानसे व्याप्तिका ज्ञान करनेमें अनवस्था, अन्योन्याश्रय, दोष होते हैं। तर्कके समान स्मृति, संज्ञा, आदि भी प्रमाण मानने पडेंगे। स्मृति आदिक भेदोंको धारनेवाली मति और अनुमान तथा श्रुत ये तीन प्रमाण हो गये, फिर दोका नियम कहां रहा ? विषयभेदसे प्रमाणभेद नहीं हैं। किन्तु सामग्रीभेदसे प्रमाणभेद मानना चाहिये। शब्द, लिंग और अक्ष, सामग्रीसे उत्पन्न हुये तीन प्रमाण हुये जाते हैं। सर्वज्ञका ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है। समाधिसे उत्पन्न हुआ उपकार कुछ उपयोगी नहीं है। कर्त्तासे अभिन्न भी करण हो जाते हैं। जैसे कि वृक्षके गिरनेमें उसकी शाखाओंका बोझ करण हो जाता है। प्रत्यक्षका लक्षण विशदपना ठीक है। विशद न होनेसे और सम्वादी होनेसे स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, और तर्क न्यारे परोक्ष प्रमाण हैं। स्मरणको जैसे अनुमानमें गर्भित करनेसे अनवस्था आती है, उसी प्रकार उपमान, अर्थापत्तिमें अन्तर्भाव करनेपर भी अनवस्था दोष होगा। क्योंकि उपमान और अर्थापत्तिके उत्पादक कारणोंमें स्मृति आदिक पडे हुये हैं। गौके सदृश पदार्थ गवयपदका वाच्य होता है। उपमितिमें ऐसे अतिदेश वाक्य (वृद्धवाक्य) के अर्थका स्मरण करना व्यापार माना गया है। तत्प्रकारक शाब्दबोधमें तदवच्छेद करके शक्तिका ग्रहण करना कारण माना गया है। स्मृति आदिकोंको अभाव प्रमाण माननेपर विधि अंशमें प्रवर्त्तकपना विरुद्ध हो जायगा। इस प्रकार चार, पाच, छह प्रमाण माननेवालोंके यहां भी प्रमाणोंकी संख्या ठीक नहीं बैठती है। क्योंकि आवश्यक प्रमाण स्मृति आदिक उनमें प्रविष्ट नहीं हो पाते हैं। और जैनसिद्धान्तमें माने गये दो प्रमाणोंमें सभी प्रमितिकरणतावच्छेदकावच्छिन्न गर्भित हो जाते हैं। अवग्रह आदिक और अवधि आदिक सर्व सम्यग्ज्ञान इन्हींके भेद हैं। इस प्रकार वे मति आदिक पाचों ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्षरूप दो प्रमाण हैं।

स्तां प्रत्यक्षपरोक्षे नः स्पष्टास्पष्टप्रकाशिनी । रोदसी पुष्पवन्ताभे व्याख्याज्ञाननिवृत्तये ॥

(व्याख्यात स्पष्टास्पष्टप्रतिपादक प्रत्यक्षपरोक्ष प्रमाण अज्ञाननिवृत्तिके लिए भूमंडलमें जयवंत रहे।)

तिन पांच ज्ञानोंको सूत्रकार स्वयं कण्ठोक्त रूपसे इष्ट भेदोंमें विभक्त करनेके लिये सूत्र कहते हैं ।

आद्ये परोक्षम् ॥ ११ ॥

आदिमें होनेवाले या सूत्रमें पहिले उच्चारण किये गये मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो परोक्ष प्रमाण हैं ।

अक्षादात्मनः परावृत्तं परोक्षं ततः परैरिंद्रियादिभिरूक्ष्यते सिंच्यतेभिवर्ध्यत इति परोक्षं । किं पुनस्तत्, आद्ये ज्ञाने मतिश्रुते ।

जो ज्ञान अक्ष यानी आत्मासे परावृत्त है वह परोक्ष है । अर्थात्—आत्माको गौण कारण मानकर उससे न्यारे इन्द्रिय, मन, आदि कारणोंसे ऊक्षित होता है, सींचा जाता है, पुष्टिकर बढाया जाता है, इस प्रकार निरुक्तिसे साधा गया परोक्ष शद्ब है । वह परोक्ष शद्बका वाच्य दूसरोंसे बढाया गया फिर क्या पदार्थ है ? इस प्रकार उद्देश्य दलकी जिज्ञासा होनेपर आदिके दो ज्ञान मति और श्रुत हैं, यह उत्तर है ।

कुतस्तयोराद्यता मत्येयेत्युच्यते ।

उन मति आर श्रुत दोनोंको आदिमें होनापन कैसे समझ लिया जाय ! चाहे लाखों, करोडों कितनीं ही वस्तुयें क्यों न हों, उनकी आदिमें एक ही वस्तु कही जा सकती है । यहां पाचमे ही दोको आदिमें हो जानापना कैसे हो गया ? ऐसा प्रश्न होनेपर अब उत्तर कहा जाता है ।

आद्ये परोक्षमित्याह सूत्रपाठक्रमादिह ।
ज्ञेयाद्यता मतेर्मुख्या श्रुतस्य गुणभावतः ॥ १ ॥

द्विवचनान्त आद्ये शब्द है " मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् " इस सूत्रके पढे जानेके क्रमसे यहा आदिके दो ज्ञान परोक्ष हैं, ऐसा ग्रन्थकार कहते हैं । इस कारण मतिज्ञानको मुख्य आद्यपना है और उसके निकट होनेके कारण श्रुतज्ञानको गौणरूपसे आद्यपना है । प्रथमबाधे प्रथमसदेशस्य " आदिमें कहे गये अकेलेको यदि दोपना यदि बाधित है, तो उसके निकट कहे गये दूसरेको मिलाकर दोपनेका निर्वाह करलिया जाता है, ऐसा व्यवहार प्रसिद्ध है । " अन्त्यबाधे अन्त्यसदेशस्य " ऐसी भी परिभाषा व्याकरणमें मान्य की गयी है ।

यस्मादाद्ये परोक्षमित्याह सूत्रकारस्तस्मान्मत्यादिसूत्रपाठक्रमादिहाद्यता ज्ञेया । सा च मतेर्मुख्या कथमप्यनाद्यतायास्तत्राभावात् श्रुतस्याद्यता गुणीभावात् निरुपचरिताद्यसामीप्यादाद्यत्वोपचारात् । अवध्याद्यपेक्षयास्तु तस्य मुख्याद्यतेति चेत् न, मनः पर्ययाद्यपेक्षया वधेरप्याद्यत्वसिद्धेर्मत्यवध्योर्ग्रहणप्रसंगात् द्वित्वनिर्देशस्याप्येवमविरोधात् ।

जिस कारणसे कि सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजने आदिके दो ज्ञान परोक्ष हैं, ऐसा सूत्र कहा है, तिस कारण " मतिश्रुत " आदि सूत्रके पठनक्रमसे यहां पहिले दो को आदिपना जानना चाहिये । और वह आदिपना मतिज्ञानको तो मुख्य है । क्योंकि उस मतिज्ञानमें तो कैसे भी आदिमें नहीं होनेपनका अभाव है । हां, उसके निकटवाले श्रुतज्ञानको आद्यपना गौणरूपसे है । उपचारको नहीं प्राप्त हुये यानी मुख्यरूपसे आदिमें पडे हुये मतिज्ञानकी समीपतासे श्रुतको आद्यपनका उपचार करलिया गया है । यदि कोई यों कहे कि अवधि आदिककी अपेक्षासे तो उस श्रुतज्ञानको मुख्यरूपसे आद्यपना बन जाता है, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि यों तो मनःपर्ययआदिकी अपेक्षा अवधिको भी आद्यपना सिद्ध हो जावेगा । और ऐसा होनेपर मति और अवधि इन दोके ग्रहण करनेका प्रसंग होगा । आद्ये शद्बको द्विवचनरूपसे कथन करनेका भी इस प्रकार कोई विरोध नहीं आता है । अत. अपेक्षाको टालकर ठीक ठीक आदिमें या उपचारसे आदिमें हुओंका ग्रहण करना चाहिये । अन्योंका नहीं ।

केवलापेक्षया सर्वेषामाद्यत्वेपि मत्यादीनां मतिश्रुतयोरिह संप्रत्ययः साहचर्यादिति चेन्न, मत्यपेक्षया श्रुतादीनामनाद्यताया अपि सद्भावान्मुख्याद्यतानुपपत्तेस्तदवस्थत्वात् ।

कोई विद्वान् यों सन्तोष देना चाहते हैं कि केवलज्ञानकी अपेक्षासे तो सब चारों मति आदि ज्ञानोंको आद्यपना होते हुये भी मति आदिकोंमेंसे मति और श्रुतका ही यहां समीचीन ज्ञान हो जाता है । क्योंकि पाच ज्ञानोंमेंसे मति और श्रुत ये दो ही ज्ञान साथ रहते हैं । अन्य दो ज्ञानोंके सहचर रहनेका नियम नहीं है । आचार्य कहते हैं कि यह समाधान तो नहीं कहना । क्योंकि यों तो मतिकी ही अपेक्षासे विचारा जाय तो श्रुत आदिकोंको आद्यरहितपना भी विद्यमान है । अतः श्रुत आदिकोंको मुख्यरूपसे आद्यपनेकी असिद्धि होना वैसा ही तदवस्थ रहा । आदिमें होनेपनका निर्णय करनेके लिये सहचरपना प्रयोजक नहीं है ।

आद्यशद्बो हि यदाद्यमेव तत्प्रवर्तमानो मुख्यः, यत्पुनराद्यमनाद्यं च कथंचित्तत्र प्रवर्तमानो गौण इति न्यायात्तस्य गुणभावादाद्यता क्रमार्पणायाम् ।

जो आदिमें ही हो रहा है, उसीमें आद्य शद्ब प्रवर्त्त रहा तो मुख्य है, और जो पदार्थ फिर किसी अपेक्षासे आद्य और अनाद्य भी है, उसमें प्रवर्त रहा आद्य शद्ब गौण है । इस न्यायसे उस श्रुतज्ञानको गौणभावसे आद्यपना है । क्योंकि सूत्रमें पढे गये पाठके क्रमकी विवक्षा हो रही है । अतः द्विवचनान्त प्रयोगसे आद्ये शद्बकरके मतिश्रुत पकडे जाते हैं ।

बुद्धौ तिर्यगवस्थानान्मुख्यं वाद्यत्वमेतयोः ।
अवध्यादित्रयापेक्षं कथंचिन्न विरुध्यते ॥ २ ॥

अथवा एक यह भी उपाय है कि बुद्धिमें तिरछा अवस्थित करदेनेसे इन मति, श्रुत, दोनोंको अवधि आदि तीनकी अपेक्षा रखता हुआ कथंचित् मुख्य आद्यपना विरुद्ध नहीं पडता है। अर्थात्—अवधि आदिक तीन की अपेक्षा बुद्धिमें तिरछा फैलानेसे मति श्रुतको आदिपना बन जाता है।

परोक्ष इति वक्तव्यमाद्ये इत्यनेन सामानाधिकरण्यादिति चेत्। अत्रोच्यते—

शंका है कि उद्देश्यके समान विधेयमें संख्या होनी चाहिये। जब कि आद्ये ऐसा द्विवचनान्त प्रयोग है, तो इसके साथ समान अधिकरणपना होनेसे परोक्षे इस प्रकार द्विवचनान्त प्रयोग सूत्रमें कहना चाहिये। लिंग, संख्या और वचनके समान होनेपर ही सामानाधिकरण्य बढिया बनता है। ऐसी शंका होनेपर यहां समाधान कहा जाता है।

परोक्षमिति निर्देशो ज्ञानमित्यनुवर्तनात्।
ततो मतिश्रुते ज्ञानं परोक्षमिति निर्णयः॥ ३॥
द्वयोरेकेन नायुक्ता समानाश्रयता यथा।
गोदौ ग्राम इति प्रायः प्रयोगस्योपलक्षणात्॥ ४॥
प्रमाणे इति वा द्वित्वे प्रतिज्ञाते प्रमाणयोः।
प्रमाणमिति वर्तेत परोक्षमिति संगतौ॥ ५॥

यहां मति आदि सूत्रमें पडे हुये विधेय दलके " ज्ञान " इस पदकी अनुवृत्ति हो रही है। वह एक वचन है। नपुंसक लिंग है। इस कारण ज्ञानके समान अधिकरणपनेसे परोक्षं ऐसा एक वचन निर्देश सूत्रमें कहा है। तिस कारण मति और श्रुत दो ज्ञान परोक्ष हैं, इस प्रकार निर्णय हो जाता है। दो उद्देश्योंका भी एक विधेयके साथ समानाधिकरणपना अयुक्त नहीं है, जैसे कि " गोदौ ग्रामः " " पञ्चालाः जनपदः " " तपःश्रुते साधोः कार्ये "। गोदौ (गोद) नामके दो ह्रद हैं, उन दोनोंके निकट होनेवाला ग्राम है। वह एक ग्राम गोदौ है। यहां ग्राम शब्द जाति वाचक है। गोदौके समान द्विवचन नहीं हुआ। हां, जातिवाचक न होता तो उसके लिंग और संख्या अवश्य प्राप्त होते, जैसे कि गोदौ रमणीयौ "। जैनेन्द्र व्याकरणके " युक्तवद्लुपिलिंगसंख्ये " इस सूत्रमें अजातेः ऐसा वक्तव्य है। अतः ग्रामः एक वचन है। इस प्रकारके बाहुल्यपनेसे प्रयोगोंका उपलक्षण हो रहा है। यदि "प्रमाणे" ऐसे द्विवचनान्त प्रयोगकी प्रतिज्ञा की जायगी तो फिर भी दो मति श्रुत प्रमाणोंमें एक वचन प्रमाणकी अनुवृत्ति की जायगी, तभी परोक्ष प्रमाणके साथ मति और श्रुत संगत हो सकते हैं। भावार्थ—आद्ये परोक्षे कहना, फिर परोक्षे प्रमाणं कहना इसकी अपेक्षा प्रथमसे ही " आद्ये परोक्षम् " कहना अच्छा है। इसमें लाघव है, सूत्रमें लघुपना बहुत प्रशंसनीय गुण है।

किं पुनस्तदनुवर्तनात्सिद्धमित्याह ।

फिर उस ज्ञानकी अनुवृत्ति करनेसे क्या सिद्ध करना है ? ऐसी आकांक्षा होनेपर ग्रन्थकार श्रीविद्यानन्द आचार्य स्पष्ट उत्तर कहते हैं ।

ज्ञानानुवर्तनात्तत्र नाज्ञानस्य परोक्षता ।
प्रमाणस्यानुवृत्तेर्न परोक्षस्याप्रमाणता ॥ ६ ॥
अक्षेभ्यो हि परावृत्तं परोक्षं श्रुतमिष्यते ।
यथा तथा स्मृतिः संज्ञा चिंता चाभिनिबोधिकम् ॥ ७ ॥
अवग्रहादिविज्ञानमक्षादात्मविधानतः ।
परावृत्ततयाम्नातं प्रत्यक्षमपि देशतः ॥ ८ ॥

तिस सूत्रमें आदिके दो ज्ञान परोक्ष हैं । यहां ज्ञानकी अनुवृत्ति करनेसे अज्ञान, इन्द्रिय, संनिकर्ष, आदि जड पदार्थोंको परोक्षप्रमाणपना नहीं सिद्ध हो पाता है । और प्रमाणकी अनुवृत्ति करनेसे परोक्षको अप्रमाणपना नहीं सिद्ध हो पाता है । जिस कारणसे कि इन्द्रियोंसे परावृत्त होता हुआ श्रुतज्ञान परोक्ष इष्ट किया गया है, तिस प्रकार स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान भी परोक्ष हैं । अक्षशब्दका अर्थ आत्मा करनेसे आत्मासे परावृत्त होनेके कारण अवग्रह आदिक विज्ञान यद्यपि पूर्वाचार्योंके सम्प्रदाय अनुसार परोक्ष कहे गये हैं, फिर भी एकदेश विशद होनेसे प्रत्यक्ष भी हैं । अक्षका अर्थ इन्द्रिय और अनिन्द्रिय भी ले लिया जाता है । किन्तु विशदपना रहना प्रत्यक्षके लिये आवश्यक है ।

श्रुतं स्मृत्याद्यवग्रहादि च ज्ञानमेव परोक्षं यस्मादाम्नातं तस्मान्नाज्ञानं शब्दादिपरोक्षमनधिगममात्रं वा प्रतीतिविरोधात् ।

जिस कारण श्रुतज्ञान, स्मृति आदिक और अवग्रह आदिक ज्ञान ही परोक्ष हैं, ऐसा पूर्व आम्नायसे प्राप्त हो रहा है, तिस ही कारण शब्द, इन्द्रिय, संनिकर्ष, आदि अज्ञान पदार्थ परोक्ष नहीं हैं । अथवा किसी स्वपर प्रमेयका अधिगम नहीं होना (प्रसज्य) भी परोक्ष नहीं है । क्योंकि जड या ज्ञानशून्य तुच्छको परोक्ष प्रमाण माननेपर प्रतीतिओंसे विरोध आता है ।

अस्पष्टं वेदनं केचिदर्थानालंबनं विदुः ।
मनोराज्यादि विज्ञानं यथैवेत्यत्र दुर्घटम् ॥ ९ ॥
स्पष्टस्याप्यवबोधस्य निरालंबनतास्थितेः ।
यथा चंद्रद्वयज्ञानस्येति कार्थस्य निष्ठितिः ॥ १० ॥

कोई बौद्ध कह रहे हैं कि अविशद परोक्षज्ञान वास्तविक अर्थको विषय करनेवाला नहीं है। जिस ही प्रकार क्रीडा करते हुये बालकों द्वारा अपने मन अनुसार स्वांग रचे हुये राजा, सेनापति, मंत्रि, आदिके अविशदज्ञान उन वस्तुभूत राजा आदिकको विषय नहीं करते हैं। उसी ढंगसे सभी अविशदज्ञान अर्थको विषय नहीं करते हुये निरालंब हैं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना दुर्घट ही है। यानी यह युक्तियोंसे घटित नहीं होपाता है। क्योंकि यों तो विशद प्रत्यक्ष-ज्ञानको भी आलम्बनरहितपनेका प्रसंग होता है। जिस प्रकार कि एक चन्द्रमामें हुये चन्द्रद्वयका ज्ञान आलम्बनरहित है, अर्थात् झूठे मनोराज्यको विषय करनेवाले परोक्षज्ञानका दृष्टान्त देकर यदि सभी परोक्षज्ञानको निरालम्ब (विषयको न छूनेवाले) कह दिया जायगा तो आंखमें नैक अंगुली लगाकर अविद्यमान दो चन्द्रोंको देखनेवाले चाक्षुष प्रत्यक्षका दृष्टान्त देकर सम्पूर्ण प्रत्यक्षज्ञानोंको भी निर्विषय कहा जासकता है। ऐसा होनेपर भला अर्थका प्रतिष्ठितपना कहां किस ज्ञानके द्वारा समझा जायगा ? बताओ। भ्रान्तज्ञानोंको अभ्रान्तज्ञानोंसे पृथग्भूत मानना अनिवार्य है।

परोक्षं ज्ञानमनालंबनमस्पष्टत्वान्मनोराज्यादिज्ञानवत् अतो न प्रमाणमित्येतदपि दुर्घटमेव । प्रत्यक्षमनालंबनं स्पष्टत्वाचंद्रद्वयज्ञानादिति तस्याप्यप्रमाणत्वप्रसंगात् । तथा च केष्टस्य व्यवस्था उपायासत्त्वात् ॥

सम्पूर्ण परोक्षज्ञान (पक्ष) जानने योग्य विषयोंसे रहित हैं (साध्य)। क्योंकि वे अविशद-रूपसे जाननेवाले हैं (हेतु)। जैसे कि कोई खिलाडी बालक या स्वांग रचनेवाला बहुरूपिया अथवा नाटकमें अभिनय करनेवाला पुरुष अपने मनमें राज्य प्राप्त हुआ आदि समझ बैठे। वह ज्ञान वास्तविक राज्य आदि वस्तुओंको स्पर्श करनेवाला नहीं है। इस कारण कोई भी परोक्षज्ञान, प्रमाण नहीं है। आचार्य कहते हैं, इस प्रकार यह कहना भी दुर्घट ही है। क्योंकि यों तो प्रत्यक्ष (पक्ष) अपने ग्राह्य विषयको स्पर्श नहीं करता है (साध्य)। स्पष्टज्ञान होनेसे (हेतु)। जैसे कि चन्द्रद्वयका या पीतशंखका और सीपमें हुये चांदीका ज्ञान स्पष्ट होता हुआ भी निर्विषय है। इस प्रकार पोलम्पोलसे अनुमान द्वारा उस तुम्हारे माने हुये प्रत्यक्षको भी अप्रमाणपनेका प्रसंग होता है। और तिस प्रकार होनेपर अपने अभीष्ट तत्त्वकी व्यवस्था कहां किस प्रमाण हो सकेगी ? क्योंकि उपाय तत्त्व प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रमाण कोई भी तुम्हारे पास विद्यमान नहीं है।

अनालंबनताव्याप्तिर्न स्पष्टत्वस्य ते यथा ।
अस्पष्टत्वस्य तद्विद्धि लैंगिकस्यार्थवत्त्वतः ॥ ११ ॥
तस्यानर्थाश्रयत्वेर्थे स्यात्प्रवर्तकता कुतः ।
संबंधाचेन्न तस्यापि तथात्वेनुपपत्तितः ॥ १२ ॥

तुम बौद्धोंके यहां जिस प्रकार स्पष्टपनेकी निर्विषयपनेके साथ व्याप्ति सिद्ध नहीं मानी जायगी। क्योंकि समीचीन घट, पट आदिके प्रत्यक्षोंमें व्यभिचार होगा। अतः प्रत्यक्षको निर्विषय सिद्ध करनेवाला अनुमान ठीक नहीं है। उसीके समान अस्पष्टपनेकी भी निर्विषयपनेके साथ व्याप्ति नहीं बन पाती है। क्योंकि--अनुमानसे व्यभिचार होगा। सम्यक् अनुमान अस्पष्ट होते हुये भी अपने ग्राह्य अर्थसे सहित माना गया है। यदि उस अनुमानको अर्थवान् नहीं माना जायगा तो अर्थमें उसको प्रवर्त्तकपना कैसे हो सकेगा ? यदि बौद्ध यों कहें कि अनुमान द्वारा अवस्तुभूत सामान्यको जानकर फिर सामान्यका विशेष अर्थके साथ सम्बन्ध हो जानेसे अनुमानकी अर्थमें प्रवर्त्तकता हो जायगी, ग्रन्थकार कहते हैं कि सो यह तो न कहना। क्योंकि सामान्यके संबंधी विशेषको जाननेवाला वह ज्ञान भी तिस प्रकार निर्विषय है। ऐसी दशा होनेपर अर्थमें प्रवृत्ति करानापन नहीं बनता है।

लिंगलिंगिधियोरेवं पारंपर्येण वस्तुनि।
प्रतिबंधात्तदाभासशून्ययोरप्यवंचनम् ॥ १३ ॥
मणिप्रभामणिज्ञाने प्रमाणत्वप्रसंगतः।
पारंपर्यान्मणौ तस्य प्रतिबंधाविशेषतः ॥ १४ ॥

यदि बौद्ध यों कहें कि उन हेत्वाभास और साध्याभासोंसे रहित जो समीचीन हेतु और साध्य हैं, उनको जाननेवाले ज्ञानोंका भी परम्परासे यथार्थ वस्तुमें अविनाभावसंबंध हो रहा है। अर्थात्—स्वनिष्ठज्ञापकतानिरूपित-ज्ञाप्यत्व सम्बन्धसे लिङ्गवान् लिङ्गी हो जाता है। समीचीन हेतुकी साध्यसामान्यके साथ व्याप्ति है। और साध्यसामान्यका स्वलक्षणस्वरूप यथार्थ वस्तु विशेषके साथ संबंध है। अतः परम्परासे अनुमान प्रमाण वस्तुभूत अर्थका स्पर्शी है। अनुमान प्रमाणसे जानकर वस्तुकी अर्थक्रियामें कोई ठगाया नहीं जाता है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम स्याद्वादी कहेंगे कि यों तो मणिकी प्रभामें हुये मणिके जाननेवाले ज्ञानको भी प्रमाणपनेका प्रसंग हो जायगा। क्योंकि उस मणिज्ञानका भी परम्परासे यथार्थ मणिमें अविनाभावरूप करके संबंध हो रहा है, कोई विशेषता नहीं है। भावार्थ—किसी गृह (मकान) या संदूकमें चमकीली मणि रक्खी हुई है। तालीके छेदमेंसे उसकी प्रभा चमक रही है। छेदकासा आकार मणिका भी संभव है। मणि जैसा प्रकाश करती है, छेदकी प्रभा भी कुछ न्यून वैसी चमकको कर रही है। ऐसी दशामें किसी आततायी पुरुषने छेदके आकारवाली प्रभाको ही मणि समझ लिया। यहां भी मणिप्रभाका मणिके साथ संबंध हो जानेसे यह ज्ञान भी प्रमाण बन बैठेगा। किन्तु चमकते हुये तालीके छेदको उस आकारवाली मणि समझ लेना तो सम्यग्ज्ञान नहीं है।

यथैव न स्पष्टत्वस्यानालंबनतया व्याप्तित्वे स्वसंवेदनेन व्यभिचारात्तथैवास्पष्टत्वस्यानुमानेनानेकांतात् तस्याप्यनालंबनत्वे कुतोर्थे प्रवर्त्तकत्वं ? संबंधादिति चेन्न, तस्याप्यनुपपत्तेः। यदि ज्ञानं यमर्थमालंबते तत्र तस्य कथं संबंधो नामातिप्रसंगात्।

जिस ही प्रकार स्पष्टपनेकी विषयरहितपनेके साथ व्याप्ति माननेपर स्वसंवेदन- प्रत्यक्ष करके व्यभिचार हो जानेके डरसे समीचीन स्पष्टज्ञानोंको विषयसहित मानना आवश्यक पड जाता है, तिस ही प्रकार अस्पष्टपनेकी निर्विषयपनेके साथ व्याप्ति होना माननेपर अनुमानसे व्यभिचार हो जानेके कारण समीचीन परोक्षज्ञानोंको भी विषयसहित मानना आवश्यक है। यदि व्यभिचारनिवृत्तिके लिये उस अनुमानको भी विषयरहित मानोगे तो उस अनुमानको अर्थमें प्रवर्तकपना कैसे बनेगा ? बताओ ! सामान्य और विशेषका संबंध हो जानेसे विशेषरूप अर्थमें अनुमानको प्रवर्तकपना है, यह तो न कहना। क्योंकि यों तो तुम्हारे बौद्धमत अनुसार उस सम्बन्धकी भी सिद्धि नहीं हो पाई है। कारण कि जो भी कोई ज्ञान जिस किसी अर्थको विषय करता है, उस ज्ञानमें उस अर्थका भला संबंध कैसे कहा जा सकता है ? ज्ञान और अर्थका कल्पनासे गढ लिया गया विषयविषयिभाव संबंध है, जो कि वृत्तिपनेका नियामक नहीं है। ज्ञान और जडका या ज्ञान और भिन्न पडे हुये चेतनद्रव्योंका योजक भला सम्बन्ध भी क्या हो सकता है ? यों तो अंटसन्ट बादरायण सम्बन्ध करनेसे चाहे जिसका सम्बन्ध हो जायगा। अतिप्रसंग हो जावेगा। आकाशका रूपसे भी सम्बन्ध हो जाओ। आकाशका पुद्गलसे संयोग है, और पुद्गलमें रूप रहता है। बौद्धजन सम्बन्ध पदार्थको मानते भी नहीं हैं। अतः उनके यहां कल्पितसंबंधसे अनुमानको अर्थमें प्रवर्तकपना कथमपि नहीं आ सकता है।

तदनेन यदुक्तं " लिंगलिंगिधियोरेवं पारंपर्येणवस्तुनि। प्रतिबंधात्तदाभासशून्ययोरप्यवंचन " इति तन्निषिद्धं, स्वविषये परंपरयापीष्टस्य संबंधस्यानुपपत्तेः सत्यपि संबंधे मणिप्रभायां मणिज्ञानस्य प्रमाणत्वप्रसंगाच्च तदविशेषात्॥

तिस कारण जो बौद्धोंने यह कहा था कि लिंग ज्ञान और साध्यज्ञानका इस प्रकार परंपरासे परमार्थभूत वस्तुमें सम्बन्ध होनेसे अनुमानको अर्थमें प्रवर्त्तकपना है। अतः हेत्वाभास या साध्याभासोंसे शून्य होरहे हेतु साध्योंके ज्ञानद्वारा कोई भी नहीं ठगाया जाता है। वह ठीक ठीक अर्थ क्रियाको कर लेता है। इस प्रकार वह कथन भी इस कथनसे निषेध कर दिया गया समझ लेना चाहिये। क्योंकि ज्ञानका अपने विषयमें परम्परासे भी इष्ट किया गया सम्बन्ध नहीं बनता है। इसमें व्यभिचार दोष आता है। देखिये कि सन्दूकके भीतर मणि चमक रही है। और कुञ्जी- (ताली) के छेदकी मणिप्रभामें किसी उद्भ्रान्त पुरुषको मणिका ज्ञान है। छेदकी प्रभा भी अंधेरेमें मणिके समान बाहर प्रकाश कर रही है। वस्तुत. देखा जाय तो यह अर्थक्रिया करना सन्दूकमें रक्खी हुई मणिका ही कार्य है। समवशरणमें विराजमान तीर्थंकर भगवान्के संनिधानसे

भामण्डलकी कान्ति भी अनेक सूर्योकी दीप्तिको अतिक्रान्त कर देती है। अतः सम्बन्धके होनेपर भी यदि प्रमाणता मान ली जायगी, तो कुंजीके छेदकी मणिप्रभामें हुये मणिज्ञानको प्रमाणपनेका प्रसंग आता है। यहा उस परम्परासे अर्थके साथ संबंध होनेका कोई अन्तर नहीं है।

तच्चानुमानमिष्टं चेन्न दृष्टांतः प्रसिध्यति।
प्रमाणत्वव्यवस्थानेनुमानस्यार्थलब्धितः॥ १५॥

वह मणिप्रभामें हुआ मणिज्ञान यदि अनुमान प्रमाण माना जायगा तब तो अर्थकी प्राप्तिसे अनुमानको प्रमाणपनकी व्यवस्था करनेमें कोई दृष्टान्त प्रसिद्ध नहीं होता है। अर्थात् अनुमान (पक्ष) प्रमाण है (साध्य) अर्थकी प्राप्ति होनेसे (हेतु), जैसे कि मणिप्रभामें मणिज्ञान (दृष्टान्त) इस अनुमानका दृष्टान्त समीचीन नहीं है। ऐसी झूठी बातोंसे बौद्ध अनुमानमें प्रवर्तकपना नहीं सिद्ध कर सकते हैं। अनुमान स्वयं अपना दृष्टान्त नहीं बन सकता है।

न हि स्वयमनुमानं मणिप्रभायां मणिज्ञानमर्थप्राप्तितोनुमानस्य प्रमाणत्वव्यवस्थितौ दृष्टांतो नाम साध्यवैकल्यात्तथा।

अर्थकी प्राप्तिसे अनुमानको प्रमाणपनकी व्यवस्था करनेमें वह मणिज्ञान तो दृष्टान्त नहीं हो सकता है। जो कि मणिप्रभामें हुआ मणिज्ञान स्वयं अनुमान प्रमाणमान लिया गया है। क्योंकि यह दृष्टान्त साध्यसे विकल है। अर्थात् झूठे मणिज्ञानमें प्रमाणपना नहीं है। तथा दूसरी बात यह भी है:—

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेपि विशेषोर्थक्रियां प्रति॥ १६॥
यथा तथा यथार्थत्वेप्यनुमानं तदोभयोः।
नार्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम्॥ १७॥

कुञ्जीके छेदकी मणिप्रभामें एक व्यक्तिको मणिज्ञान हुआ। दूसरेको दीपककी प्रभामें मणिज्ञान हुआ। दोनों ही ज्ञान भ्रान्त हैं। यहा मणिकी प्रभामें मणिबुद्धिसे और दीपककी प्रभा(लौ) में मणिकी बुद्धिसे अर्थप्राप्तिके लिये उस ओर दौडनेवाले दो पुरुषोंको मिथ्याज्ञानका अविशेष होते हुये भी अर्थक्रियाके प्रति विशेषता जैसी मानी जाती है, उसी प्रकार यथार्थपना होते हुये भी अनुमान ज्ञान प्रमाण है। उस समय विषयसहित होनेके कारण प्रत्यक्ष और अनुमान दोनोंको प्रमाणपना है। अर्थक्रियाके अनुसार अनुरोध करके प्रमाणपना व्यवस्थित नहीं हुआ।

ततो नास्यानुमानतदाभासव्यवस्था।

तिस कारण इस बौद्धके यहां अनुमान और अनुमानाभासकी व्यवस्था नहीं हो सकी। जिस कार्यको मणि करती है, उससे कुछ कमती कार्यको मणिप्रभा कर देती है। दीपकी प्रभा भी थोडेसे कार्यको कर देती है। वस्तुतः विचारा जाय तो मणि आदिकका कार्य सर्वथा न्यारा न्यारा है। किन्तु सामान्यको विषय करनेवाले अनुमान प्रमाणकी व्यवस्था करनेवाले बौद्धोंके यहा भेद रूपसे उक्त निर्णय नहीं बन पाता है। मिथ्या अनुमान और सम्यक् अनुमान सब एकसे हो जाते हैं।

दृष्टं यदेव तत्प्राप्तमित्येकत्वाविरोधतः।
प्रत्यक्षं कस्यचित् तच्चेन्न स्याद्भ्रांतं विरोधतः ॥ १८ ॥

जो ही पदार्थ देखा गया वही पदार्थ यदि प्राप्त किया जाय, इस प्रकार एकपनेके अविरोधसे किसीका भी प्रत्यक्ष होना यदि मानोगे वह तो भ्रान्तज्ञान न हो सकेगा। क्योंकि विरोध है। अर्थात्—मणिप्रभामें हुआ भ्रान्त मणिज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। जो मणि जानी गई है, वह हाथमें प्राप्त नहीं हुई है। दूसरी बात यह है कि क्षणवर्ती पदार्थोंको माननेवाले बौद्धोंके यहा पहले क्षणमें जानकर दूसरे क्षणमे अभिलाषा कर तीसरे क्षणमें प्रवृत्ति करना चौथे क्षणमें प्राप्ति कराना ऐसी क्रियायें क्षणिक ज्ञानसे होना असम्भव है। अर्थकी प्राप्ति करा देनेसे ज्ञानमें प्रमाणपना नहीं माना गया है। ज्ञानमें हेय, उपादेय, अर्थका प्रदर्शकपना ही प्रापकपना है। अन्यथा सूर्य, चंद्र आदि के ज्ञानमें या सर्वज्ञज्ञानमें प्रामाण्य दुर्लभ हो जायगा।

प्रत्यक्षमभ्रान्तमिति स्वयमुपयन् कथं भ्रांतं ज्ञानं प्रत्यक्षं सन्निदर्शनं ब्रूयात् ?।

भ्रान्तिरहित प्रत्यक्ष होता है, इस बातको स्वयं स्वीकार कर रहा बौद्ध भला मणिप्रभाके भ्रान्त ज्ञानको प्रत्यक्ष प्रमाणका समीचीन दृष्टात कैसे कह सकेगा? अर्थात् नहीं। सज्जनोंके दृष्टान्त दुर्जन नहीं होते हैं।

अप्रमाणत्वपक्षेपि तस्य दृष्टांतता क्षतिः।
प्रमाणांतरता यांतु संख्या न व्यवतिष्ठते ॥ १९ ॥
ततः सालंबनं सिद्धमनुमानं प्रमात्वतः।
प्रत्यक्षवद्विपर्यासो वान्यथा स्याद्दुरात्मनाम् ॥ २० ॥

उस मणिप्रभामें हुए मणिज्ञानको यदि अप्रमाण माना जायगा तो भी उसको दृष्टान्तपनेकी क्षति होगी। प्रत्यक्ष आदिसे अन्य निराला प्रमाण माननेपर तो संख्या नहीं व्यवस्थित होती है। तिस कारण अनुमानप्रमाण आलंबनसहित सिद्ध हुआ। क्योंकि वह प्रमाण ज्ञान है। जैसे कि प्रत्यक्षज्ञान अपने ग्राह्य विषयसे सहित है। अन्यथा प्रतिकूल भी हो जाओ, यानी दुराग्रही जीवोंके

यहां यदि परोक्ष अनुमान ज्ञानको निर्विषय माना जायगा तो प्रत्यक्ष भी निर्विषय हो जावेगा। अथवा दुष्टजीवोंको विपर्यय ज्ञान हो जावेगा। खोटा अभिप्राय रखनेवाले चाहे जैसा गढकर अर्थका अनर्थ कर सकते हैं। कल्पित दृष्टान्त है कि एक भेडिया नदीके ऊपर भागमें जल पी रहा था और बकरीसे कहा, क्योंरी, झूंठा यानी मैला पानी इधर बहारही है, तेरा चचा भी ऐसा बुरा कार्य किया करता था। बेचारी बकरीने कहा महाराज! मैं तो नीचेकी ओर पानी पी रही हूं नीचेका पानी कहीं ऊपर चढता है? और मेरा चचा तो था ही नहीं। इसपर भेडियेने कहा तू बडी नीच है। उत्तर देती है, मुंह लेती चली आती है। ले दण्ड भोग, ऐसा कहकर बकरीको मार डाला।

कथं सालंबनत्वेन व्याप्तं प्रमाणत्वमिति चेत्—

विषय सहितपने (साध्य) के साथ प्रमाणपना हेतु कैसे व्याप्तियुक्त है? ऐसी यदि शंका करोगे तो यह उत्तर है।

अर्थस्यासंभवेऽभावात्प्रत्यक्षेपि प्रमाणताम्।
ततो व्याप्तं प्रमाणत्वमर्थवत्वेन मन्यताम् ॥ २१ ॥
प्राप्यार्थापेक्षयेष्टं चेत्तथाध्यक्षेपि तेस्तु तत्।
तथा चाध्यक्षमप्यर्थानालंबनमुपस्थितम् ॥ २२ ॥

तुम बौद्धोंके यहां अर्थके असम्भव होनेपर प्रत्यक्षमें भी प्रमाणपनेका अभाव है। तिस कारण अर्थसहितपनेके साथ प्रमाणपना व्याप्त हो रहा मान लो। यदि प्राप्ति करने योग्य अर्थकी अपेक्षासे अनुमानमें अर्थसहितपना इष्ट करोगे तो तुम बौद्धोंके यहां प्रत्यक्षमें भी तिस प्रकार प्राप्य अर्थकी अपेक्षासे वह प्रमाणपना इष्ट किया जाय, किन्तु अवलम्ब कारणकी अपेक्षा अर्थसहितपना प्रत्यक्षमें नहीं माना जाय और तिस प्रकार होनेपर प्रत्यक्षप्रमाण भी अर्थको नहीं आलम्बन करनेवाला उपस्थित हुआ, जो कि आप बौद्धोंको अभीष्ट नहीं है।

प्रत्यक्षं यद्यवस्त्वालंबनं स्यात्तदा नार्थं प्रापयेदिति चेत्—

प्रत्यक्षप्रमाण यदि वस्तुभूत स्वलक्षणको आलंबन न करेगा तब तो वह अर्थको प्राप्त नहीं करा सकेगा। अतः प्रत्यक्ष तो वस्तुको आलम्बन कारण मानकर उत्पन्न होता है। अन्यज्ञान नहीं, यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तो— ।

अनुमानमवस्त्वेव सामान्यमवलंबते।
प्रापयत्यर्थमित्येतत्सचेता नाद्य मोक्ष्यते ॥ २३ ॥

तस्माद्वस्त्वेव सामान्यविशेषात्मकमंजसा ।
विषयीकुरुतेध्यक्षं यथा तद्वच्च लैंगिकम् ॥ २४ ॥

आप बौद्ध यों कैसे कह देते हैं कि अनुमान प्रमाण अवस्तुभूत सामान्यको ही अवलम्ब (विषय) करता है । किन्तु अर्थको प्राप्त करा देता है । इस प्रकार यह पक्षपातकी बातको कह रहा सहृदय बौद्ध आज नहीं छूट सकेगा । अर्थात् अनुमानके समान प्रत्यक्ष भी अवस्तुको आलंबन करता हुआ अर्थको प्राप्त करा देगा । फिर प्रत्यक्षको सावलम्बन क्यों माना जाता है । तिस कारण परिशेषमें यही सिद्ध होगा कि सामान्य विशेष आत्मक वस्तुको ही निर्दोषरूपसे जैसे प्रत्यक्ष विषय करता है । उसीके समान लिंगजन्य अनुमान प्रमाण भी सामान्य विशेष आत्मक वस्तुको ही विषय करता है ।

सर्वं हि वस्तु सामान्यविशेषात्मकं सिद्धं तद्व्यवस्थापयत्प्रत्यक्षं यथा तदेव विषयीकुरुते तथानुमानमपि विशेषाभावात् । तथा सति—

जिस कारणसे कि सम्पूर्ण वस्तुयें सामान्य विशेष उभय आत्मक सिद्ध हो रहीं हैं । अनुगत आकार और व्यावृत्त आकार पदार्थोंमें पाये जाते हैं । तिस कारण उन वस्तुओंकी व्यवस्था करता हुआ प्रत्यक्ष जिस प्रकार उस वस्तुको ही विषय करता है, तिसी प्रकार अनुमान भी उसी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यस्वरूप सामान्य विशेषात्मक वस्तुको जानता है । कोई अंतर नहीं है । और तिस प्रकार सिद्ध हो जानेपर—

स्मृत्यादिश्रुतपर्यंतमस्पष्टमपि तत्त्वतः ।
स्वार्थालंबनमित्यर्थशून्यं तन्निभमेव नः ॥ २५ ॥

स्मृतिको आदि लेकर श्रुतज्ञानपर्यंत परोक्षज्ञान वस्तुतः अस्पष्ट ही हैं तो भी स्वयं अपनेको और अर्थको आलंबन करनेवाले हैं, यह सिद्ध हुआ । हां, जो ज्ञान अपने ग्राह्य विषयसे रहित है, वह हम स्याद्वादियोंके यहां तदाभास ही माना गया है । यहां भी स्मृत्यादि शब्दमें तत्पुरुष और बहुव्रीहिसमास करनेसे अवग्रह ईहा, अवाय, धारणा तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम, ये आगे पीछे होनेवाले सभी वस्तुतः परोक्ष ज्ञानोंका संग्रह हो जाता है ।

यदर्थालंबनं परोक्षं तत्प्रमाणमितरत्प्रमाणाभासमिति प्रमाणस्यानुवर्त्तनात्सिद्धं ।

जो परोक्षज्ञान वास्तविक अर्थको विषय करता है, वह प्रमाण है और जो उससे भिन्नज्ञान ठीक अर्थको आलंबन नहीं करता है, वह प्रमाणाभास है, जैसे कि देवदत्तमें यज्ञदत्तका स्मरण करना या उसके सदृशको वही कहना अथवा सरोवरमें उठती भापको धुआं समझकर उससे अग्निका ज्ञान करना । एवं शब्दका अन्य प्रकार अर्थ करना ये सब स्मरणाभास, प्रत्यभिज्ञानाभास,

आदि मिथ्याज्ञान हैं । यह पूर्वसूत्रसे प्रकृतसूत्रमें प्रमाणपदकी अनुवृत्ति करनेसे सिद्ध हो जाता है । भावार्थ—प्रमाणस्वरूप मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों परोक्ष प्रमाण हैं । जो अप्रमाण हैं वे तदाभास हैं । शिष्टों और दुष्टोंका जोडा सदासे चला आरहा है । विचारशील पुरुषके पास उपादेय और हेय अर्थको जाननेके लिये मनीषा विद्यमान है ।

इस सूत्रका सारांश ।

इस सूत्रमें ये प्रकरण हैं । प्रथम ही परोक्ष शद्बकी निरुक्ति कर मतिज्ञानको मुख्य आद्यपना और श्रुतको गौणरूपसे आद्यपना साधा है । बुद्धिमें तिरछा फैलानेसे मुख्यता करके भी दोनोंमें आद्यपना है । आद्ये द्विवचनके साथ परोक्षं एक वचनका उद्देश्य विधेयभाव पुष्ट किया है । साधुका कार्य क्या है, ऐसा प्रश्न होनेपर तपस्या करना और शास्त्राभ्यास करना, ये दो कर्त्तव्य बताये जा सकते हैं । " चत्वारोऽनुयोगाः प्रमाणं " चार अनुयोग समानतासे एक प्रमाणरूप हैं । ऐसे अनेक प्रयोग देखे जारहे हैं । अज्ञान पदार्थ परोक्ष नहीं है । और परोक्षज्ञान अप्रमाण भी नहीं है । यह सूत्रके उद्देश्य विधेय दलोंकी सार्थकता है । पुनः परोक्षज्ञानको निरालम्ब माननेवाले बौद्धोंके मतका निराकरण किया है । प्राप्य और आलम्बन दो कारण मानना व्यर्थ है । अर्थकी ज्ञप्ति करा देना ही ज्ञानमें प्रापकता है । सुमेरु, समुद्र, स्वर्ग, आदिका श्रुतज्ञान उन अर्थोंका ज्ञाताकी गोदमें नहीं प्राप्त करा देता है । अतः विषयको ज्ञानका अवलम्ब कारण भले ही मानलो जैसे कि अव्यक्त चन्द्रमाको देखनेके लिये वृक्ष, शाखा, या बादलोंका अवलम्ब ले लेते हैं । अविशद रूपसे अर्थोंको जाननेवाला परोक्षज्ञान भी सालम्बन है । मिथ्याज्ञान अनेक प्रकारके होते हैं । अपने अपने देश और कालमें वर्त्त रहे अर्थोंको जाननेवाला ज्ञान अर्थवान् हो जाय, कोई क्षति नहीं है । अकेला सामान्य या विशेष कोई वस्तु नहीं है । प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही सामान्य विशेष आत्मक वस्तुको स्पष्ट और अस्पष्ट रूपसे प्रकाशित कर रहे हैं ।

मेरुवत्तुङ्गता मत्यां श्रुते गाम्भीर्यमब्धिवत् । स्वान्यप्रकाशके भातां परोक्षे सविकल्पके ॥

—o—

दूसरे प्रत्यक्षप्रमाणके उद्देश्य अंशको प्रकट करनेके लिये श्रीउमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥

दो मति, श्रुत, ज्ञानोंसे अन्य बचे हुये अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान ये प्रत्यक्ष प्रमाण हैं ।

ननु च प्रत्यक्षाण्यन्यानीति वक्तव्यमवध्यादीनां त्रयाणां प्रत्यक्षविधानादिति न शंकनीयं । यस्मात्—

यहां एक शंका है कि सूत्रकारको बहुवचनका प्रयोग करते हुये तीन प्रमाण प्रत्यक्ष हैं। ऐसा जस् विभक्तिवाले प्रत्यक्षाणि, अन्यानि, ऐसे पद बोलने चाहिये थे। क्योंकि अवधि आदिक तीनको भिन्न प्रकारसे प्रत्यक्षोंका विधान किया है। अब श्रीविद्यानंद आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो शंका नहीं करनी चाहिये, जिस कारणसे कि—

प्रत्यक्षमन्यदित्याह परोक्षादुदितात्परं।
अवध्यादित्रयं ज्ञानं प्रमाणं चानुवृत्तितः ॥ १ ॥

ज्ञानं और प्रमाणं ऐसे एक वचनान्त दो पदोंकी पूर्वसूत्रोंसे अनुवृत्ति हो रही है। इस कारण उक्त परोक्षसे अन्य बचा हुआ अवधि आदिक तीन अवयवोंका समुदायज्ञान प्रत्यक्ष है। अतः अन्यज्ञान प्रत्यक्ष है, इस प्रकार श्रीउमास्वामी महाराज कहते हैं। जातिकी अपेक्षा एक वचन प्रसिद्ध हो रहा है, जैसे कि गेंहू मद्दा है। चावल अखरा है। ज्ञानं ऐसे एक वचनकी अनुवृत्तिसे उद्देश्य और विधेयपदमें एक वचन करना पडा है। "आद्ये परोक्षम्" सूत्रमें यदि आद्यं कह दिया जाता है तो अकेले मतिज्ञानको ही परोक्षपना आता, श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष बन बैठता। अतः उपस्थिति, प्रमाण, अर्थ और गुणकी अपेक्षा लाघव होनेसे इस सूत्रमें एकवचन किया है। बहुवचन करके सूत्रका बोझ बढाना व्यर्थ है।

उक्तात्परोक्षादवशिष्टमन्यत्प्रत्यक्षमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानमिति संबध्यते ज्ञानमित्यनुवर्तनात्। प्रमाणमिति च तस्यानुवृत्तेः। ततो न प्रत्यक्षाण्यन्यानीति वक्तव्यं विशेषानाश्रयात् सामान्याश्रयणादेवेष्टविशेषसिद्धेर्ग्रन्थगौरवपरिहाराच्च।

पूर्वमें कहे गये परोक्षज्ञानसे जो भिन्न सम्यग्ज्ञान अवशिष्ट रह गया है, वह प्रत्यक्ष है। इस प्रकार ज्ञानकी अनुवृत्ति करनेसे अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इनका यहां सम्बन्ध हो जाता है। और मति, श्रुत आदि सूत्रसे या "तत्प्रमाणे" सूत्रमेंसे तत्पदवाच्य ज्ञानके अनुसार एक वचन 'प्रमाणं' इस प्रकार उसकी अनुवृत्ति हो रही है। अतः इस सूत्रका एक वचनात प्रयोग करना युक्त है। तिस कारण विशेष व्यक्तियोंके कहनेका आश्रय नहीं करनेसे बहुवचनवाले "प्रत्यक्षाणि अन्यानि" इस प्रकार नहीं कहना चाहिये। क्योंकि प्रकरणमें एक सामान्यका आश्रय लेनेसे ही हमारे अभीष्ट विशेषकी सिद्धि हो जाती है। तथा बहुवचन प्रयोगसे होनेवाले ग्रन्थके गौरवका भी परिहार हो जाता है।

ज्ञानग्रहणसंबंधात्केवलावधिदर्शने।
व्युदस्येते प्रमाणाभिसंबंधादप्रमाणता ॥ २ ॥

सम्यगित्यधिकाराच्च विभंगज्ञानवर्जनं ।
प्रत्यक्षमिति शब्दाच्च परापेक्षानिवर्त्तनम् ॥ ३ ॥

अन्यज्ञान प्रत्यक्ष हैं, इस प्रकार ज्ञानके ग्रहणका संबंध होजानेसे निराकार केवलदर्शन और अवधिदर्शनका निवारण हो जाता है। क्योंकि वे दर्शन हैं, ज्ञान नहीं। अतः अतिव्याप्ति नहीं हुई। तथा प्रमाणपदका भले प्रकार सम्बन्ध लगा देनेसे अवधि आदिकका अप्रमाणपना खंडित होजाता है। एवं सम्यक्पदका अधिकार चला आनेसे विभंग (कुअवधि) का निवारण हो जाता है। तथैव सूत्रमें पडे हुये प्रत्यक्ष इस शब्द करके दूसरोंकी अपेक्षा रखनेवाले परोक्ष ज्ञानसे इस प्रत्यक्षकी व्यावृत्ति हो जाती है अथवा प्रत्यक्षपदसे आत्ममात्रापेक्ष होकर अन्यकी सहायताको नहीं चाहनेवाले प्रत्यक्षज्ञानको दुसरे इन्द्रिय आदिककी अपेक्षा रखनेकी व्यावृत्ति हो जाती है।

न ह्यक्षमात्मानमेवाश्रितं परमिंद्रियमनिंद्रियं वापेक्षते यतः प्रत्यक्षशब्दादेव परापेक्षानिवृत्तिर्न भवेत्। तेनेंद्रियानिंद्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणमित्येतत्सूत्रोपात्त मुक्तं भवति। ततः।

प्रत्यक्षप्रमाण अक्ष यानी आत्माको ही आश्रय लेकर उत्पन्न होता है, उससे भिन्न इन्द्रिय और मनकी वह अपेक्षा नहीं करता है, जिससे कि प्रत्यक्षशब्द करके ही परकी अपेक्षा रखनेसे निवृत्ति अवधि आदिककी न होय। तिस कारण इन्द्रिय और अनिन्द्रियकी नहीं अपेक्षा रखनेवाला तथा व्यभिचार दोषसे रहित ऐसा सविकल्पक ग्रहण करना प्रत्यक्ष है। इस प्रकार इस सूत्रसे ही ग्रहण किया गया अर्थ श्री अकलंकदेव द्वारा राजवार्तिकमें कह दिया गया है। तिस हेतुसे—

प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमंजसा ।
द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् ॥ ४ ॥
सूत्रकारा इति ज्ञेयमाकलंकाववोधने ।
प्रधानगुणभावेन लक्षणस्याभिधानतः ॥ ५ ॥

सूत्र बनानेवाले श्रीउमास्वामी महाराज प्रत्यक्षका लक्षण इस प्रकार बढिया कहते हैं। श्रीअकलंकदेवके वार्त्तिकों द्वारा समझानेमें यही आता है कि स्पष्ट और सविकल्प तथा व्यभिचार आदि दोषरहित होकर सामान्यरूप द्रव्य और विशेषरूप पर्याय अर्थोंको तथा अपने स्वरूपको जानना ही प्रत्यक्षका लक्षण है। उक्त विशेषणोंसे परोक्षज्ञान, दर्शन, विभंग इनकी व्यावृत्तिया हो जाती हैं। क्योंकि प्रधानपने और गौणपनेसे लक्षणका कथन किया है।

यदा प्रधानभावेन द्रव्यार्थात्मवेदनं प्रत्यक्षलक्षणं तदा स्पष्टमित्यनेन मतिश्रुतमिन्द्रियानिंद्रियापेक्षं व्युदस्यते, तस्य साकल्येनास्पष्टत्वात्। यदा तु गुणभावेन तदा प्रादेशिक प्रत्यक्षवर्जनम् तदपाक्रियते, व्यवहाराश्रयणात्।

जिस समय प्रधानपनेसे द्रव्यस्वरूप अर्थ और स्वयं अपना वेदन करना प्रत्यक्षका लक्षण है, तब तो (स्पष्टं) ऐसे इस विशेषण करके इन्द्रिय और अनिंन्द्रियकी अपेक्षा रखनेवाले मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका निराकरण किया है। क्योंकि वे स्मृति आदिक सभी मतिज्ञान और श्रुतज्ञान संपूर्ण अंशोंसे अस्पष्ट हैं। अतः प्रत्यक्षके लक्षणमें स्पष्टपद देनेसे ही उनका वारण हो सकता है। किन्तु जब गौणरूपसे द्रव्य अर्थ और आत्माका वेदन करना प्रत्यक्षका लक्षण है, तब तो एक देशसे विशद हो रहे, अर्थावग्रह, ईहा, अवाय, धारणारूप इन्द्रिय अनिन्द्रिय, प्रत्यक्षोंका जो छूटना हो रहा था, उसका निराकरण किया गया है। क्योंकि व्यवहारनयका आश्रय लिया है। अर्थात् मुख्यरूपसे प्रत्यक्ष माननेपर तो इन्द्रियजन्य या मनोजन्य ज्ञानोंको प्रत्यक्ष नहीं मानते हैं। क्योंकि वे पूर्ण अंशोंमें स्पष्ट नहीं हैं। भले ही वे स्वार्थोको जान रहे हैं। हां, व्यवहारनयकी दृष्टिसे इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न हुआ एक देश विशद मतिज्ञान तो व्यवहारप्रत्यक्ष मान लिया है। इस प्रत्यक्षको ग्रहण करनेके लिये स्पष्ट पदपर मुख्यरूपसे बल नहीं दिया गया है।

साकारमिति वचनान्निराकारदर्शनव्युदासः। अंजसेति विशेषणाद्विभंगज्ञानमिंद्रियानिंद्रियप्रत्यक्षाभासमुत्सारितं। तच्चैवंविधं द्रव्यादिगोचरमेव नान्यदिति विषयविशेषवचनादर्शितं। ततः सूत्रवार्तिकाविरोधः सिद्धो भवति। न चैवं योगिनां प्रत्यक्षमसंग्रहीतं यथा परेषां तदुक्तं।

प्रत्यक्षके लक्षणको कहनेवाले वार्तिकमें साकार इस वचनसे विकल्परहित दर्शनकी व्यावृत्ति करी है। तथा अंजसा इस विशेषणसे विभंगज्ञान और इन्द्रियप्रत्यक्षाभास, मानसप्रत्यक्षाभासका निवारण किया है। ये ज्ञान स्पष्ट तो हैं, किंतु निर्दोष नहीं हैं। मिथ्याज्ञानपनेसे दूषित हो रहे हैं। सो इस प्रकारका प्रत्यक्षप्रमाण द्रव्य, पर्याय, सामान्य और विशेषस्वरूप हो रहे अर्थको और स्वको ही विषय करनेवाला है। इससे भिन्न केवल विशेष अथवा अकेले सामान्यको जाननेवाला नहीं है। यह बात विषयविशेषके कथन करनेसे दिखला दी गई है। तिस कारण सूत्र और वार्तिकका अविरोध होना सिद्ध हो जाता है। तथा इस प्रकार प्रत्यक्षका लक्षण करनेसे योगी महाराज केवलज्ञानियोंका प्रत्यक्ष असंग्रहीत नहीं हुआ। यानी अतीन्द्रियज्ञानका भी संग्रह हो जाता है। जिस प्रकार कि दूसरे वादियोंने यों कहा था कि "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्" यह गौतम सूत्र है। "आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत्" इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न हुआ व्यभिचार दोषसे रहित (भ्रमभिन्न) निर्विकल्पक और सविकल्पकरूप ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमिति है। यह वैशेषिक या नैयायिकोंका माना गया लक्षण है।

" इन्द्रियवृत्तिः प्रमाणं " चक्षु श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके वृत्ति यानी व्यापार (नेत्र उघाडना आदि) करना प्रत्यक्ष है। यह सांख्योंका मत है। आत्मा और इन्द्रियोंका सत् पदार्थके साथ सम्प्रयोग होनेपर जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष है। ऐसा मीमांसक कह रहे हैं, " सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्मप्रत्यक्षम् "। इन सब प्रत्यक्षके लक्षणोंसे अतीन्द्रियप्रत्यक्षोंका संग्रह नहीं हो पाता है। किन्तु आर्हतोंके लक्षणसे सम्पूर्ण प्रत्यक्षोंका संग्रह हो जाता है।

लक्षणं सममेतावान् विशेषोऽशेषगोचरं।
अक्रमं करणातीतमकलंकं महीयसाम् ॥ ६ ॥

ऊपर कहा गया प्रत्यक्षका लक्षण व्यवहारप्रत्यक्ष और मुख्यप्रत्यक्षमें समानरूपसे घटित हो जाता है। इतना ही विशेष है कि अधिक पूज्य पुरुषोंका केवलज्ञानरूप प्रत्यक्ष सम्पूर्ण अर्थोंको विषय करता है। और क्रमसे अर्थोंको जाननेकी टेवसे रहित है। इन्द्रिय, मन, आदि करणोंसे अतिक्रान्त है। तथा ज्ञानावरण–कर्मकलंकसे रहित है। किन्तु इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष तो अल्पपदार्थोंको विषय करता है। क्रमक्रमसे अर्थोंको जानता हुआ उत्पन्न होता है। करणोंके अधीन है, कर्मपटलसे घिरा हुआ है।

तदस्तीति कुतोऽवगम्यत इति चेत्;—

उक्त प्रकार वह योगियोंका प्रत्यक्ष जगत्में है, यह कैसे जाना जाय ? इस प्रकार पूछनेपर तो यों उत्तर है।

एतच्चास्ति सुनिर्णीतासंभवद्बाधकत्वतः।
स्वसंवित्तिवदित्युक्तं व्यासतोन्यत्र गम्यताम् ॥ ७ ॥

यह योगियोंका प्रत्यक्ष (पक्ष) है (साध्य)। क्योंकि इसके बाधकोंके असम्भवका भले प्रकार निर्णय हो रहा है [हेतु]। जैसे कि स्वयं अपने प्रत्यक्ष जाननेमें आ रही स्वसंवित्ति है [दृष्टान्त]। बाधकोंका असम्भव हो जानेसे परोक्षपदार्थोंकी भी सिद्धि हो जाती है। सबके धनको गुप्त अंगोंको, धर्मको कौन देखता फिरता है। किन्तु बहुभाग पदार्थोंकी सिद्धि उनके बाधकोंका असम्भव जान लेनेसे हो जाती है। इस बातको हम पहिले कह चुके हैं। अधिक विस्तारसे समझना हो तो अन्य विद्यानंद महोदय आदि ग्रन्थोंमें देखकर समझ लेना।

धर्म्यत्रासिद्ध इति चेन्नोभयसिद्धस्य प्रत्यक्षस्य धर्मित्वात्। तद्धि केषांचिदशेषगोचरमक्रमं करणातीतमिति साध्यतेऽकलंकत्वान्यथानुपपत्तेः। न चाकलंकत्वमसिद्धं तस्य पूर्वं साधनात्। प्रतिनियतगोचरत्वं विज्ञानस्य प्रतिनियतावरणविगमनिबंधनं भानुप्रकाशवत् निःशेषावरणपरिक्षयात् निःशेषगोचरं सिध्यत्येव। ततः एवाक्रमं तत्क्रमस्य कलंकविगमक्रमकृतत्वात्। युगपत्तद्विगमे कुतो ज्ञानस्य क्रमः स्यात्।

इस उक्त अनुमानमें पक्ष असिद्ध है, यह तो न कहना। क्योंकि वादी प्रतिवादी दोनोंसे सिद्ध किया जा चुका, प्रत्यक्षप्रमाण यहां धर्मी है। हां, वह किन्हीं योगियोंका प्रत्यक्ष सम्पूर्ण पदार्थोंको युगपत् विषय करनेवाला है, क्रमरहित है, और इन्द्रियोंकी अधीनतासे अतिक्रान्त है, इस प्रकार धर्मोंसे युक्तपने करके साधा जारहा है। क्योंकि उसका निर्दोषपना दूसरे प्रकारोंसे नहीं बन सकता है। जो सर्वांशमें निर्दोष होता है, वह पराधीन न होकर सबको युगपत् विषय कर लेता है। यहां अकलंकपना हेतु असिद्ध नहीं है। यानी हेतु पक्षमें ठहर जाता है। पूर्व प्रकरणोंमें हम उसको साध चुके हैं। प्रत्येक नियत पदार्थके ज्ञानको रोकनेवाले ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमको कारण मानकर उत्पन्न हुआ विज्ञान दीपकके समान प्रत्येक नियत पदार्थोंको विषय कर रहा है। किन्तु सम्पूर्ण ज्ञानावरणके अनन्तकालतक क्षय हो जानेसे उत्पन्न हुआ केवलज्ञान तो सूर्यके प्रकाश समान सम्पूर्ण पदार्थोंको विषय करनेवाला सिद्ध हो ही जाता है। तिस ही कारण यानी सम्पूर्ण ज्ञानावरणके क्षय हो जानेसे ही वह ज्ञान क्रमसे पदार्थोंको जाननेवाला नहीं है। किन्तु युगपत् सम्पूर्ण पदार्थोंको जान लेता है। अल्पज्ञोंके आवरणरूप कलंकोंका दूर होना क्रमसे हो रहा था। इस कारण हम लोगोंका ज्ञान नियत अर्थोंको जाननेवाला क्रमसे किया जाता है। अतः छद्मस्थोंका ज्ञान क्रमवाला है। किन्तु पूज्य पुरुषोंके जब युगपत् उस आवरणका विध्वंस हो गया है, तो फिर ज्ञानका क्रम किससे होगा? कारणके न होनेपर कार्य नहीं होता है। अतः सर्वज्ञका प्रत्यक्ष क्रमरहित है। सर्वको युगपत् जानता है। और फिर भूतभविष्यपनेके तारतम्यको विशेषण लगाकर उसी ढंगसे पदार्थोंकी नवीन ज्ञप्ति अनन्त कालतक करता रहता है।

करणक्रमादिति चेन्न, तस्य करणातीतत्वात्। देशतो हि ज्ञानमविशदं चाक्षमनोपेक्षं सिद्धं न पुनः सकलविषयं परिस्फुटं सकृदुपजायमानमिति। न चैवंविधं ज्ञानं प्रत्यक्षं संभवद्बाधकं प्रत्यक्षादेरतद्विषयस्य तद्बाधकत्वविरोधात्। तत एव न संदिग्धासंभवद्बाधकं, निश्चितासंभवद्बाधकत्वात्।

कोई कहे कि इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति क्रमसे होती है। अतः सर्वज्ञका ज्ञान भी क्रमसे पदार्थोंको जानेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि सो यह तो न कहना। क्योंकि वह केवलज्ञान करणोंसे अतिक्रान्त है। जो ज्ञान एकदेशसे विशद है या सर्वथा अविशद है, वही इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा रखनेवाला सिद्ध है। किन्तु जो ज्ञान फिर सम्पूर्ण विषयोंको एक ही समयमें अधिक स्पष्टरूपसे विषय करनेवाला उत्पन्न हो रहा है, वह तो बहिरंग अंतरंग इन्द्रियोंकी अपेक्षा नहीं करता है। इस प्रकार अकलंकपनेसे करणातीतपनकी और करणातीतपनसे अक्रमपनकी और अक्रमपनसे अशेषगोचरपनेकी सर्वज्ञज्ञानमें सिद्धि हो जाती है। तथा इस प्रकारका कोई प्रत्यक्षज्ञान बाधकोंकी संभावनासे युक्त नहीं है। क्योंकि उस सर्वज्ञपनको नहीं विषय करनेवाले प्रत्यक्ष, अनुमान आदिक प्रमाणोंको तो उसके बाधकपनका विरोध है। जो ज्ञान जिस विषयमें प्रवृत्ति ही नहीं करता है।

यह उसका साधक या बाधक नहीं होता है। जैसे कि रूपको जाननेमें रसना इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष कथमपि साधक या बाधक नहीं है। तिस ही कारण यानी बाधकोंका असम्भव होनेसे ही वह सर्वज्ञ प्रत्यक्ष भला बाधकोंके नहीं संभव होनेके संदेहको प्राप्त भी नहीं है। यानी उसके बाधकोंके होनेका सदेह मात्र भी नहीं है। क्योंकि बाधकोंके असम्भवका पक्का निश्चय हो रहा है।

न हि तादृशं प्रत्यक्षं किंचित्संभवद्बाधकमपरमसंभवद्बाधकं सिद्धं येनेदं संप्रति-संदेहविषयतामनुभवेत् । कथं वात्यंतमसंदिग्धासंभवद्बाधकं नाम ? । नियतदेशकाल-पुरुषापेक्षया निश्चितासंभवद्बाधकत्वेपि देशांतराद्यपेक्षया संदिग्धासंभवद्बाधकत्वमिति चेन्न, सुष्ठु तथाभावस्य सिद्धेः। यथाभूतं हि प्रत्यक्षादि प्रमाणमत्रेदानींतनपुरुषाणामुत्पद्य-मानबाधकं केवलस्य तथाभूतमेवान्यदेशकालपुरुषाणामपीति कुतस्तद्बाधनं संदेहो वा यदि पुनरन्यादृशं प्रत्यक्षमन्यद्वा तद्बाधकमभ्युपगम्यते तदा केवले को मत्सरः, केवलेनैव केव-लबाधनसंभवात् ।

तिस प्रकारका अनुमानोंसे निर्णीत कर दिया गया सकल प्रत्यक्ष कोई तो बाधकोंके संभव-वाला और दूसरा कोई प्रत्यक्षप्रमाण बाधकोंकी संभावनासे रहित ऐसा सिद्ध नहीं हो रहा है। जिससे कि यह प्रत्यक्ष इस समय संदेहके विषयपनका अनुभव करता। यानी सामान्य धर्मोका कहीं अन्यत्र उपलम्भ हो जानेपर उनका स्मरण करते हुये पुरुषको किसी दूसरे स्थलपर संशय हो सकता है। अन्यथा नहीं। प्रकरणमें बाधक प्रमाणोंके नहीं होनेका संदेह होना नहीं सम्भवता है। कोई पूछता है कि सर्वज्ञके प्रत्यक्षमें बाधकोंके अत्यन्तरूपसे, असंभव होनेका, संदेहरहितपना भला तुमने कैसे जाना ? बताओ। नियत हो रहे परिदृष्ट देश और वर्तमान काल तथा स्थूलबुद्धि साधारण पुरुषोंकी अपेक्षासे भले ही बाधकोंके असम्भवका निश्चय कर लिया गया होय तो भी अन्य देश अन्य काल और असाधारण बुद्धिवाले पुरुषोंकी अपेक्षासे बाधकोंके असम्भवका संदेह प्राप्त हो रहा है। अनेक पदार्थ ऐसे हैं कि इस देशमें उनमें संदेह नहीं है। किन्तु देशान्तरमें सदेह हो जाता है। देखो ! इस देशमें शीशोंकी वेलि नहीं होती है। किन्तु देशान्तरमें शीशोंकी वेलि सम्भावित है। अतः शीशोंके वृक्षपनके बाधक प्रमाणोंका असम्भव देशांतरमें संदिग्ध हो गया। विवक्षित कालमें आम खट्टा होता है, किन्तु कालान्तरमें मीठा हो जाता है। सुगन्धित पुष्प कालान्तरमें सडकर दुर्गन्धी हो जाता है। यहां भी सुगंधिके बाधक प्रमाणोंके अभावका कालान्तरमें सदेह हो गया। एक रागी पुरुषको धन, पुत्र, आदिमें इष्टपनेका ज्ञान हो रहा है। किन्तु उदासीन पुरुषको इष्टताका ज्ञान नहीं है। अतः तटस्थ पुरुषको उसकी इष्टताका सदेह है। इस कारण देशान्तर आदिकी अपेक्षा सर्वज्ञप्रत्यक्षमें भी बाधकोंकी असम्भवताका संदेह होना संभावित है। अब ग्रंथकार कहते हैं कि सो यह प्रश्न तो नहीं करना। क्योंकि केवलज्ञानमें बहुत अच्छी तिस प्रकार बाधकोंके अस-

म्भवपनेकी सिद्धि की जा चुकी है। इस देशमें रहनेवाले और आजकल समयके पुरुषोंके जिस प्रकार होते हुये प्रत्यक्ष आदि प्रमाण उस केवलज्ञानके बाधक हो सकनेवाले उपज रहे हैं, तैसे ही हो रहे वे अन्य देश अन्यकाल और विशिष्ट पुरुषोंके भी प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण केवलज्ञानके बाधक हो सकते थे। किन्तु ये प्रत्यक्ष तो बाधक नहीं है तो वे प्रत्यक्ष भला कैसे बाधक होंगे ? ऐसी दशामें उनसे बाधा होना कैसे सम्भवता है ? और भला संदेह भी कैसे हो सकता है ? यदि फिर देशान्तर या कालान्तरमें होनेवाले विजातीय पुरुषोंके प्रत्यक्ष अथवा अनुमान आदि प्रमाण अन्य प्रकारके हैं वे इस देश और इस कालके पुरुषोंकेसे नहीं हैं, अतः वे उस सर्वज्ञ प्रत्यक्षके बाधक स्वीकार कर लिये जाते हैं, यों अप्रसिद्ध पदार्थोंकी कल्पना कर कहोगे तब तो हम जैन कहते हैं कि आपकी केवल ज्ञानमें ईर्षा क्या है ? केवलज्ञान करके ही केवलज्ञानकी बाधा होना संभव है। और वह उसका प्रत्युत साधक हो जाता है। भावार्थ—यदि देशान्तर कालान्तरके मनुष्योंमें विलक्षण प्रकारके प्रत्यक्ष, अनुमान, आदिको मानना स्वीकार करते हो युगपत् सर्वदर्शी केवलज्ञान ही क्यों न मान लिया जाय जो कि पूर्वमें साधा जा चुका है।

ततः प्रसिद्धात्सुनिर्णीतासंभवद्बाधकत्वात्स्वसंवेदनवन्महीयसां प्रत्यक्षमकलंकमस्तीति प्रतीयते प्रपंचतोऽन्यत्र तत्समर्थनात्।

तिस कारण बाधकोंके असम्भवका भले प्रकार निर्णीत हो जाना प्रसिद्ध हुआ होनेसे अतिशय पूज्य पुरुषोंका प्रत्यक्ष अपने अपने स्वसंवेदनके समान सिद्ध है। और वह ज्ञानावरण कलंकसे रहित है, ऐसा प्रतीत हो रहा है। प्रपंचसे उस सर्वज्ञ प्रत्यक्षका अन्य ग्रन्थोंमें समर्थन किया गया है। अष्टसहस्रीमें या विद्यानंद महोदयमें इसका विस्तार है।

प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रांतमिति केचन।
तेषामस्पष्टरूपा स्यात् प्रतीतिः कल्पनाथवा ॥ ८ ॥
स्वार्थव्यवसितिर्नान्या गतिरस्ति विचारतः।
अभिलापवती वित्तिस्तद्योग्या वापि सा यतः ॥ ९ ॥

कोई वादी बौद्ध प्रत्यक्षका लक्षण कल्पनाओंसे रहित और भ्रमभिन्न होना ऐसा मान रहे हैं। " कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं "। आचार्य कहते हैं कि उन बौद्धोंके यहां कल्पनाका स्वरूप क्या है ? बताओ। क्या अस्पष्टस्वरूप प्रतीति करना कल्पना है ? अथवा ज्ञान द्वारा अपना और अर्थका निश्चय करना कल्पना है ? या शब्दयोजनासे सहित होकर ज्ञप्ति होना कल्पना है ? वा शब्दसंसर्गयोग्य प्रतिभास होना भी वह कल्पना मानी गई है ?। विचार करनेसे अन्य कोई गति नहीं दीखती है, जिससे कि वह भी कल्पना हो जायगी।

अस्पष्टा प्रतीतिः कल्पना, निश्चितिर्वा कल्पना इति परिस्फुटं कल्पना लक्षणमनुक्त्वा अभिलापवती प्रतीतिः कल्पनेत्यादितल्लक्षणमाचक्षाणो न प्रेक्षावान् ग्रंथगौरवापरिहारात् । न हि काचित्कल्पना स्पष्टास्ति " न विकल्पानुविद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभासता " इति वचनात् । स्वप्नवती प्रतीतिरस्तीति चेन्न, तस्याः सौगतैरिंद्रियजत्वेनाभ्युपगमात् स्वप्नांतिकेंद्रियव्यापारान्वयव्यतिरेकानुविधानात् । मानसत्वे तस्या तदनुपपत्तेः ।

अविशद प्रतीति होना कल्पना है । अथवा निश्चयस्वरूप विकल्प होना कल्पना है । इस प्रकार अधिक स्फुट रूपसे कल्पनाके लक्षणको नहीं कहकर शब्द योजनावाली प्रतीति कल्पना है । वस्तुको नहीं छूनेवाली परिच्छित्ति कल्पना है, इत्यादि उस कल्पनाके लक्षणोंको बखान रहा बौद्ध तो विचारशालिनी बुद्धिको धारनेवाला नहीं है । क्योंकि इस ढंगसे ग्रन्थके गौरवका परिहार नहीं हो पाता है । व्यर्थ ग्रन्थका बोझ बढानेसे लाभ क्या है ? कोई भी कल्पना स्पष्ट नहीं है । बौद्धोंने स्वयं अपने ग्रन्थमें कहा है कि कल्पनासे ओत पोत घेरे गये अर्थका स्पष्ट प्रतिभास नहीं हो पाता है । यदि कोई बौद्धका एकदेशी कल्पनाका लक्षण अस्पष्ट न मानता हुआ यों दोष देवे कि स्वप्नमें हो रही प्रतीति स्पष्ट होती हुई भी कल्पना है । आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि उस स्वप्नवाली ज्ञप्तिको बौद्धोंने इन्द्रियजन्यज्ञानपनेसे स्वीकार किया है । स्वप्नके निकट पूर्वकालमें हो रहे इन्द्रियोंके व्यापारका अन्वयव्यतिरेक रूपसे उसने अनुकरण किया है । यदि उस स्वप्नकी ज्ञप्तिको मन इन्द्रियजन्य माना जायगा तो बहिरङ्ग इन्द्रियोंके साथ अन्वयव्यतिरेक लेना नहीं बनेगा । बौद्ध मतानुसार स्वप्नबुद्धि स्पष्ट हो रही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है । अतः कल्पनाका लक्षण अस्पष्ट करना चाहिये । ऐसी अस्पष्टकल्पनासे रहित प्रत्यक्ष यदि माना गया है तो बौद्धोंने स्वपरको लाभ पहुंचा दिया कहना चाहिये ।

मरीचिकासु तोयप्रतीतिः स्पष्टेति चेन्न, तस्याः स्वयमस्पष्टत्वेपि मरीचिकादर्शनस्पष्टत्वाध्यारोपात्तथावभासनात् । ततो नाव्यापीदं लक्षणं । नाप्यतिव्यापि क्वचिदकल्पनायाः अस्पष्टत्वाभावात् ।

कल्पनाके लक्षणमें अव्याप्ति दोषको उठाते हुये बौद्ध शंका करते हैं कि बालूरेत या फूले हुये कासोंमें हुयी जलकी प्रतीति स्पष्ट हो रही है । किन्तु वह कल्पना ज्ञान है । आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि वह जलज्ञान यद्यपि स्वयं अस्पष्ट है । फिर भी मरीचिकाके चाक्षुष प्रत्यक्षमें विद्यमान हो रहे स्पष्टत्वका जलज्ञानमें पूरा आरोपकर देनेसे तिस प्रकार स्पष्ट प्रतिभास जाता है । तिस कारण यह कल्पनाका अस्पष्ट लक्षण अव्याप्ति दोषयुक्त नहीं है । और इस लक्षणकी कहीं अतिव्याप्ति भी नहीं है । क्योंकि कल्पनारहित ज्ञानोंके अस्पष्टपना नहीं देखा जाता है । अथवा अकल्पनाज्ञानोंमें स्पष्टता न होनेसे जो अतिव्याप्ति दोषकी सम्भावना थी वह भी नहीं रही । कल्पना-

ओंका स्वरूप अस्पष्ट है। सर्वाङ्ग स्पष्ट हो रहे अविचारक प्रत्यक्षज्ञानमें लेश मात्र भी विचार कल्पना नहीं है।

दूरात्पादपादिदर्शने कल्पनारहितेप्यस्पष्टत्वप्रतीतेरतिव्यापीदं लक्षणमिति चेन्न, तस्य विकल्पास्पष्टत्वेनैकत्वारोपादस्पष्टतोपलब्धेः। स्वयमस्पष्टत्वे निर्विकल्पत्वविरोधात्। ततो निरवद्यमिदं कल्पनालक्षणं।

कोई शंका करे कि दूर देशसे वृक्ष, गृह, मनुष्य, आदिके दर्शन करनेपर कल्पनारहित समीचीन ज्ञानमें भी अस्पष्टपना दीख रहा है। इस कारण कल्पनाका यह लक्षण अतिव्याप्त है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं विचारना। क्योंकि उस दूरसे हुये प्रत्यक्षको झूठे विकल्पज्ञानकी घरू अस्पष्टताके साथ एकपनेका आरोप हो जानेसे अविशदपना प्रतीत हो रहा है। जैसे कि जपा पुष्पके साथ एकत्व आरोप होनेसे स्वच्छ स्फटिक भी लाल दीख जाता है। यदि वह दूरसे देखे हुये वृक्षका ज्ञान स्वयं अस्पष्ट होता तो निर्विकल्पकपनेका विरोध हो जाता। बौद्धोंके यहां अविशदज्ञान निर्विकल्पक नहीं माना गया है। तिस कारण यह अस्पष्टपना कल्पनाका लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, और असंभव दोषोंसे रहित है।

एतेन निश्चयः कल्पनेत्यपि निरवद्यं विचारितं, लक्षणान्तरेणाप्येवंविधायाः प्रतीतेः कल्पनात्वविधानाद्गत्यंतराभावात्।

इस उक्त कथन करके कल्पनाका स्वार्थनिश्चय करना यह लक्षण भी निर्दोष है, यह विचार कर दिया गया है। अन्य लक्षणोंके कहनेसे भी इस प्रकारकी प्रतीतिको कल्पनापनेका विधान हो जाता है। बौद्धोंके पास इनके अतिरिक्त कल्पनाके लक्षण करनेका अन्य कोई उपाय शेष नहीं है। अर्थात् ज्ञानका स्मरणके पीछे होनापन, शब्दके आकारसे अनुविद्धपना, जाति आदिका उल्लेख करना, असत् अर्थको विषय करना, अन्यकी अपेक्षासे अर्थका निर्णय करना, लौकिक कोरा व्यवहार करना, ये सब कल्पनाके लक्षण निर्दोष नहीं है। अद्वैतवादियोंकी गढी हुई कल्पनाके समान बौद्धोंकी कल्पना भी ठीक नहीं बैठती है। और जो ठीक है, उस कल्पनासे युक्त प्रत्यक्ष ज्ञान है। " किमाश्चर्यमतः परम् "।

तत्राद्यकल्पनापोढे प्रत्यक्षे सिद्धसाधनम्।
स्पष्टे तस्मिन्नवैशद्यव्यवच्छेदस्य साधनात् ॥ १० ॥
अस्पष्टप्रतिभासायाः प्रतीतेरनपोहने।
प्रत्यक्षस्यानुमानादेर्भेदः केनावबुध्यते ॥ ११ ॥

तिन कल्पनाके लक्षणोंमेंसे आदिमें कही गयी कल्पनासे रहित यदि प्रत्यक्ष प्रमाण माना जायगा, तब तो बौद्धोंके ऊपर सिद्धसाधन दोष लगता है। क्योंकि अस्पष्टरूप कल्पनासे रहित विशद प्रत्यक्षको वे सिद्ध कर रहे हैं। उस प्रत्यक्ष प्रमाणके स्पष्ट होनेपर ही अवैशद्यके व्यवच्छेदकी सिद्धि होती है। अर्थात् स्पष्टपनेसे अवैशद्यकी व्यावृत्ति करनेपर परोक्षमें अतिव्याप्ति नहीं हो पाती है। अविशद प्रतिभासवाली परोक्ष प्रतीतिकी यदि व्यावृत्ति न की जायगी तो प्रत्यक्षप्रमाणका अनुमान, आगम, आदिसे भेद किसके द्वारा समझा जायगा? अतः अविशदप्रतीति स्वरूप कल्पनासे रहित प्रत्यक्ष निर्विकल्पकको तो हम जैन भी प्रथमसे मान रहे हैं। उस सिद्धको ही साधनेसे क्या लाभ हुआ?

स्वार्थव्यवसितिस्तु स्यात्कल्पना यदि संमता।
तदा लक्षणमेतत्स्यादसंभाव्येव सर्वथा॥ १२॥

दूसरी कल्पनाके अनुसार यदि स्व और अर्थके निर्णयको यदि कल्पना अच्छी मानोगे तब तो यह कल्पनाका लक्षण सभी प्रकारसे असंभव दोषवाला ही है। भावार्थ—किसी भी असत्य कल्पनामें यह लक्षण नहीं जा सकता है। प्रमाणज्ञान ही स्व और अर्थका निर्णय करते हैं। यदि ऐसी कल्पनासे रहित प्रत्यक्षको माना जावेगा तो प्रत्यक्षका लक्षण निर्विकल्प करना असम्भव व दोषयुक्त ही है।

दविष्ठपादपादिदर्शनस्यास्पष्टस्यापि प्रत्यक्षतोपगमात्कथं अस्पष्टप्रतीतिलक्षणाया कल्पनयापोढं प्रत्यक्षमिति वचने सिद्धसाधनमिति कश्चित्। श्रुतमेतन्न प्रत्यक्षं श्रुतमस्पष्ट तर्कणं इति वचनात् ततो न दोष इत्यपरः। पादपादिसंस्थानमात्रे दवीयस्यापि स्पष्टत्वाव-स्थितेः। श्रुतत्वाभावादक्षव्यापारान्वयव्यतिरेकानुविधानाच्च प्रत्यक्षमेव तत् तथाविधकल्प-नापोढं चेति सिद्धसाधनमेव।

जब कि अतिदूरवर्ती वृक्ष, झोंपडी आदिके अस्पष्ट हुये दर्शनोंको भी प्रत्यक्षपना स्वीकार किया गया है, तो अस्पष्ट प्रतीति स्वरूप कल्पनासे रहित प्रत्यक्ष है, ऐसा कथन करनेपर बौद्धोंके ऊपर सिद्धसाधन दोष कैसे हुआ? प्रत्युत जैनोंके यहां ही दूरवर्ती पदार्थके प्रत्यक्षमें वैशद्य न होनेसे अव्याप्ति दोष आता है। इस प्रकार कोई एकदेशी बौद्ध कह रहा है। इसका उत्तर कोई दूसरा एकदेशी जैन यों देता है कि यह दूरवर्ती वृक्ष आदिका ज्ञान श्रुतज्ञान है। प्रत्यक्ष नहीं है। क्योंकि मतिज्ञानसे जाने गये अर्थके साथ संसर्ग रखनेवाले अन्य पदार्थोंकी अविशद तर्कणा करनेको श्रुतज्ञान ऐसा शास्त्रोंमें कहा है। तिस कारण कोई दोष नहीं है। यानी श्रुतज्ञान भलें ही अस्पष्ट हो रहा सविकल्पक होय, हां, सभी प्रत्यक्षज्ञान तो अस्पष्ट कल्पनासे रहित होनेके कारण निर्विकल्पक हैं। यह हम जैनोंको पहलेसे ही अभीष्ट है। उसी साधे गये प्रत्यक्षका निर्विकल्पक

प्रत्यक्षपनसे साधन किया जा रहा है। किन्तु यह उत्तर सिद्धान्तियोंको अभीष्ट नहीं है। दूरवर्ती वृक्षके ज्ञानको प्रत्यक्ष माना गया है। अधिक दूर भी पडे हुये वृक्ष ग्राम आदिकी केवल ऊंची, नीची, चौडी, रचना सामान्यके जाननेमें स्पष्टपना अवस्थित हो रहा है। यों सूक्ष्मतासे विचारा जाय तो निकट होनेपर भी वृक्ष आदिके अनेक विशेष अंशोंका स्पष्टज्ञान नहीं हो पाता है। सूक्ष्मदर्शक यंत्र भी हार जाते हैं। अतः उसमें श्रुतज्ञानपनेका अभाव है। तथा इन्द्रियोंके होनेपर दूरवर्ती वृक्षका ज्ञान होना रूप अन्वय और इन्द्रियोंके न होनेपर वृक्षका दर्शन नहीं होना रूप व्यतिरेकका अनुविधान करनेसे वह ज्ञान प्रत्यक्ष ही है। और सामान्य वृक्षकी रचनाको स्पष्ट जाननेमें तिस प्रकार अस्पष्ट कल्पनासे रहित भी है। इस कारण बौद्धोंके ऊपर सिद्धसाधन दोष तदवस्थ ही रहा।

न हि सर्वमस्पष्टतर्कणं श्रुतमिति युक्तं स्मृत्यादेः श्रुतत्वप्रसंगात् व्यंजनावग्रहस्य वा। न हि तस्य स्पष्टत्वमस्ति परोक्षत्ववचनविरोधात्। अव्यक्तशब्दादिजातग्रहणं व्यंजनावग्रह इति वचनाच्च। मतिपूर्वमस्पष्टतर्कणं श्रुतमित्युपगमे तु सिद्धं स्मृत्यादिमतिज्ञानं व्यंजनावग्रहादि वाऽश्रुतं। दविष्टपादपादिदर्शनं च प्रादेशिकं प्रत्यक्षमिति न किंचिद्विरुध्यते।

दूसरी बात यह है कि अस्पष्टरूपसे विचारनेवाले सभी ज्ञानोंको श्रुतज्ञान कहना यह युक्त नहीं है। यों तो स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, व्याप्तिज्ञान, आदिको श्रुतज्ञानपनेका प्रसंग होगा। तथा शद्ब आदिको अव्यक्त जाननेवाला व्यंजनावग्रह भी श्रुतज्ञान हो जायगा, जो कि इष्ट नहीं है। उस व्यंजनावग्रहको स्पष्टपना नहीं है। क्योंकि यों कहनेसे जैनसिद्धान्तअनुसार व्यंजनावग्रहके परोक्षपन कहनेका विरोध आता है। तथा अव्यक्त शद्ब, रस, गंध, अथवा स्पर्शको या उनके समुदायस्वरूप अर्थको ग्रहण करना व्यंजनावग्रह है, ऐसा राजवार्तिकमें कहा है। हां, मतिज्ञानको कारण मानकर उत्पन्न हुये अस्पष्ट विचारनेवाले ज्ञानको श्रुतज्ञान ऐसा स्वीकार करोगे तब तो स्मृति आदिक मतिज्ञान सिद्ध हो जाते हैं। और व्यंजनावग्रह आदिक भी मतिज्ञान हैं। श्रुतज्ञान नहीं हैं। तथा अधिक दूरके वृक्ष, ग्राम, आदिका देखना तो एक देशसे विशद हो रहे साव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं। व्यंजनावग्रह तो साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कथमपि नहीं हैं। इस प्रकार माननेपर हम जैनोंके यहां थोडा भी कोई विरोध नहीं आता है।

यदि पुनर्नास्पष्टा प्रतीतिः कल्पना यतस्तदपोहने प्रत्यक्षस्य सिद्धसाधनं। किं तर्हि ? स्वार्थव्यवसितिः सर्वकल्पनेति मतं तदा प्रत्यक्षलक्षणमसंभाव्यं च तादृशकल्पनापोढस्य कदाचिदसंभवात् व्यवसायात्मकमानसप्रत्यक्षोपगमविरोधश्च।

यदि फिर बौद्धोंका यह मंतव्य होय कि अस्पष्टप्रतीतिको हम कल्पना नहीं कहते हैं, जिससे कि प्रत्यक्षकी उस कल्पनासे व्यावृत्ति करनेपर सिद्धसाधन दोष हो सके, तो हम क्या कहते हैं ? सो सुनो। सभी कल्पनायें स्व और अर्थका निर्णय करना स्वरूप हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि ऐसा मत

प्रगट करनेपर तो प्रत्यक्षका लक्षण असम्भवी हो जावेगा। क्योंकि तैसी स्वार्थ निश्चयरूप कल्पनासे रहित प्रत्यक्ष प्रमाणका कभी भी संभव नहीं है। यानी प्रत्यक्षके लक्षणमें असंभव दोष आता है। वस्तुतः विचारा जाय तो सर्व ही प्रत्यक्ष स्वार्थ व्यवसायरूप हैं। दूसरी बात यह है कि बौद्धोंने मानस प्रत्यक्षको निश्चयस्वरूप स्वीकार किया है। उसका विरोध हो जायगा। जिसने स्वार्थ-निश्चयरूप कल्पनासे रहित प्रत्यक्षको माना है, वह मानसप्रत्यक्षको निश्चयात्मक भला कैसे स्वीकार कर सकता है ? अर्थात् नहीं।

केषांचित्संहृतसकलविकल्पावस्थाया सर्वथा व्यवसायशून्यं प्रत्यक्षं प्रत्यात्मवेद्यं संभवतीति नासंभविलक्षणमिति चेत् न, असिद्धत्वात्। यस्मात्—

किन्हीं जीवोंके सम्पूर्ण विकल्पोंके नष्ट (दूर) होजानेकी अवस्थामें सभी प्रकार व्यवसायोंसे रहित प्रत्यक्ष हुआ अच्छा दीखरहा है। यह प्रत्येक आत्माको स्वसंवेद्य होकर सम्भव रहा है। अर्थात् जब कभी हम झगडे, टंटोंसे रहित होकर संकल्प विकल्पोंसे रिक्त अवस्थामें पदार्थको देखते हैं, तब किसीका निर्णय न होकर शुद्ध प्रतिभासका ही स्वसंवेदन होता रहता है। इस कारण बौद्धोंसे माना गया प्रत्यक्षका लक्षण असंभव दोषवाला नहीं है। प्रत्यक्ष स्वरूप अनेक लक्ष्योंमें घटित हो रहा है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि आप बौद्धोंका उक्त कथन सिद्ध नहीं हो पाता है, जिस कारणसे कि—

संहृत्य सर्वतश्चित्तं स्तिमितेनांतरात्मना।
स्थितोपि चक्षुषा रूपं स्वं च स्पष्टं व्यवस्यति ॥ १३ ॥

सब ओरसे चित्तका संकोच करके स्तम्भित या प्रशान्त होरही अंतरंग आत्मासे स्थित हो रहा भी पुरुष चक्षु द्वारा अपने ज्ञानको भीतर और रूपको बाहर स्पष्ट निर्णीत कर रहा है। अर्थात् बौद्धोंने जो निर्विकल्पकज्ञान होनेकी सामग्रीका अवसर बताया है, उस समय भी स्पष्टरूपसे स्वार्थका निर्णय हो रहा है। प्रत्युत संकल्पविकल्पोंसे रहित अवस्थामें तो और भी अधिक स्पष्ट निर्णय होता है। कोई खटका नहीं है।

ततो न प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षत एव सिद्ध्यति, नाप्यनुमानात्। तथा हि—

तिस कारण प्रत्यक्षप्रमाण कल्पनाओंसे रहित है, यह प्रत्यक्षसे ही सिद्ध नहीं हो पाता है। जब कि सदा ही प्रत्यक्षज्ञान निर्णय आत्मक हो रहा है। कल्पनाओंसे रहितपना भी तो एक कल्पना है। तथा अनुमानसे भी प्रत्यक्षका बौद्धोंसे अभीष्ट हो रहा विकल्पोंसे रहितपना सिद्ध नहीं हो पाता है। उक्त अर्थको विशद कर कहते हैं, सो सुनो।

पुनर्विकल्पयन्किंचिदासीन्मे स्वार्थनिश्चयः ।
ईदृगित्येव बुध्येत प्रागिंद्रियगतावपि ॥ १४ ॥
ततोन्यथा स्मृतिर्न स्यात्क्षणिकत्वादिवत् पुनः ।
अभ्यासादिविशेषस्तु नान्यः स्वार्थविनिश्चयात् ॥ १५ ॥

पीछे समयोंमें वार वार विकल्पना करता हुआ जीव इस प्रकारका अनुमान कर लेता है कि पहिले इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षके होनेपर भी इस प्रकारका मुझको कुछ स्वार्थनिर्णय हो चुका ही था, तिस निश्चयसे ही स्मरण होना बन सकता है । अन्यथा यानी इन्द्रियजन्य ज्ञान द्वारा स्वार्थका निश्चय होना न माननेपर तो उससे स्मृति न हो सकेगी । जैसे कि आप बौद्धोंके यहाँ स्वलक्षणका निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होनेपर उससे अभिन्न क्षणिकपनका भी अनिश्चय आत्मक ज्ञान मान लिया है । किन्तु क्षणिकपन स्वर्गप्रापणशक्ति आदिका निर्णय न हो चुकनेके कारण पीछेसे स्मरण नहीं हो पाता है । बात यह है कि वस्तुतः देखा जाय तो निश्चय आत्मक ज्ञानोंका ही स्मरण होता है । ज्ञानमें अर्थ विषय हो रहा है । अतः उपचारसे अर्थका स्मरण कह दिया जाता है । धारणारूप निश्चय ज्ञान हो जानेपर संस्कारके अनुसार पीछे स्मरण होता रहता है । अनिश्चय ज्ञानका स्मरण नहीं होता है । अभ्यास, बुद्धि, चातुर्य, प्रकरण, संबंध, अभिलाषा आदि विशेषोंसे फिर स्मरण होना मानोगे तो वे अभ्यास आदिक विशेषतायें तो स्वार्थका विशेष निश्चय हो जानेके अतिरिक्त और कोई न्यारे पदार्थ नहीं हैं । विना निर्णयके अभ्यास आदिक कर भी क्या सकते हैं ? ।

अश्वं विकल्पयतः प्राग्र चेंद्रियगतावपीदृशः स्वार्थनिश्चयो ममासीदिति पश्चात् स्मरणान्तरस्याः स्वार्थव्यवसायात्मकत्वस्य मानान्न निर्विकल्पकत्वानुमानं नाम । नहींद्रियगतेरव्यवसायात्मकत्वे स्मरणं युक्तं क्षणिकत्वादिदर्शनवत् अभ्यासादेर्गोदर्शनस्मृतिरिति चेन्न, तस्य व्यवसायादन्यस्य विचारासहत्वात् ।

घोडेका विकल्पज्ञान करते हुये मुझको पहिले ऐसा स्वार्थका निर्णय नहीं था । हां, इन्द्रिय जन्य ज्ञान होनेपर मुझको इस प्रकारका स्वार्थनिर्णय हो गया था, जिस कारण कि पीछे भी उस इन्द्रिय ज्ञानका स्मरण हो जाता है । इस ढंगसे उस इन्द्रियज्ञप्ति यानी प्रत्यक्षके स्वार्थका निश्चय करा देना रूप धर्मका अनुमान हो जाता है । किन्तु प्रत्यक्षके निर्विकल्पकपनका कथमपि अनुमान नहीं होता है । इन्द्रियजन्यज्ञानको निर्णयस्वरूप नहीं माननेपर स्मरण होना नहीं युक्त है । जैसे कि क्षणिकपन आदिका अनध्यवसायरूप दर्शन हो चुकनेपर स्मरण नहीं होता है । कोई बौद्ध कहता है कि गौका निर्विकल्पक दर्शन हो जानेपर भी अभ्यास आदि द्वारा निर्विकल्पक ज्ञानकी स्मृति हो सकती है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि वे अभ्यास आदिका निश्च-

यसे भिन्न कोई न्यारे पदार्थ नहीं हैं। फिर भी कोई रूक्ष सामर्थ्य द्वारा उनको निश्चयसे न्यारा सिद्ध करेगा तो उठाये हुये विचारोंको नहीं सह सकनेके कारण वह अभ्यास आदिको निर्णयरूप ही कहने लग जायगा। भावार्थ—विलक्षण प्रकारका धारण ज्ञान ही संस्कार, अभ्यास, बुद्धिचातुर्य, निश्चय, स्मृतिहेतु, आदि नामोंको धारणा करता है।

तदकल्पकमर्थस्य सामर्थ्येन समुद्भवात्।
अर्थक्षणवदित्येके (न) विरुद्धस्यैव साधनम् ॥ १६ ॥
जात्याद्यात्मकभावस्य सामर्थ्येन समुद्भवात्।
सविकल्पकमेव स्यात् प्रत्यक्षं स्फुटमंजसा ॥ १७ ॥

बौद्ध कहते हैं कि वह प्रत्यक्षज्ञान कल्पनासे रहित है। क्योंकि जब विषयभूत अर्थका स्वरूप कल्पनाओंसे रहित निर्विकल्पक है, और उस अर्थकी सामर्थ्यसे प्रत्यक्षज्ञान भले प्रकार उत्पन्न हो रहा है, तो अर्थजन्य हुई उसी अर्थकी उत्तर क्षणकी पर्यायके समान अर्थजन्य प्रत्यक्षज्ञान भी निर्विकल्पक है। कारणोंके सदृश कार्य होता है। इस प्रकार कोई अन्य बौद्ध कह रहे हैं। आचार्य कहते हैं कि उनका कहना युक्त नहीं है। यों तो विरुद्धका ही साधन होता है। अर्थात्—निर्विकल्पक अर्थके निमित्तसे उत्पन्न होना हेतुविरुद्ध है। आत्मामें जड पदार्थोंके निमित्तसे सुख, दुःख, ज्ञान, इच्छायें, चैतन्यरूप उपज जाती हैं। दूसरी बात यह है कि घट, पट, आदिक पदार्थ निर्विकल्प नहीं हैं। जैसे कि तुम बौद्धोंने मान रखे हैं। किन्तु जाति, विशेष, संसर्ग, दीर्घ, लघु, आदि वास्तविक कल्पनाओंसे तदात्मक हो रहे हैं। उस सविकल्पक अर्थकी सामर्थ्यसे समुत्पन्न होनेके कारण प्रत्यक्षज्ञान सविकल्पक ही होगा, जो कि निर्दोष होकर स्पष्ट है। अतः प्रत्यक्षमें निर्विकल्पकपना साधनेके लिये दिया गया बौद्धोंका निर्विकल्पक अर्थकी सामर्थ्यसे उपजना यह हेतु विरुद्ध है। उससे तो तुम्हारे साध्यके विरुद्ध सविकल्पकपनेकी प्रत्यक्षमें सिद्धि हो जाती है।

परमार्थेन विशदं सविकल्पकं प्रत्यक्षं न पुनरविकल्पकं वैशद्यारोपात्।

परमार्थरूपसे देखा जाय तो प्रत्यक्षज्ञान विशद होता हुआ सविकल्पक है। फिर निर्विकल्पक नहीं है। क्योंकि विशदपनेका वस्तुभूत आरोप हो रहा है, अर्थात् जो विशद होगा वह विशेषोंसे सहितपनरूपसे प्रतिभास करता हुआ सविकल्पक होगा। अथवा निर्विकल्पकके वैशद्यका आरोप हो जानेसे सविकल्पक विशद नहीं होगया है।

ननु कथं तज्जात्याद्यात्मकादर्थादुपजायेताविकल्पान्न हि वस्तु सत्सु जातिद्रव्यगुणकर्मसु शब्दाः संति तदात्मानो वा येन तेषु प्रतिभासमानेषु प्रतिभासेरन्। न च तत्र शब्दाऽप्रतीतौ कल्पना युक्ता तस्याः शब्दात्प्रतीतिलक्षणत्वादशब्दकल्पनानामसंभवात्। ततो न विरुद्धो हेतुरिति चेत्। अत्रोच्यते।

बौद्धोंका स्वमतके स्थापनके लिये अवधारण है कि वह प्रत्यक्ष भला जाति, द्रव्य, संबंध आदि स्वरूप अर्थसे कैसे उत्पन्न होगा ? क्योंकि अर्थ तो जाति, शब्दयोजना आदि कल्पनाओंसे रहित है। गौ, अश्व, मनुष्य, आदि जातियोंके वाचक गौ आदिक शब्द जातिशब्द हैं। घट, पट, आत्मा आदिक द्रव्यशब्द हैं। काला, नीला, रस, शीत आदि गुणशब्द हैं। चलना, दौडना उठाना, आदि क्रियाशब्द हैं। यहां विचार है कि तत्त्वका स्वरूप निर्विकल्प है। वस्तुभूत हो रहे अबाध्य जाति, द्रव्य, गुण और कर्म इन अर्थोंमें शब्द नहीं प्रवर्त होते हैं तथा वे शब्द उन जाति आदि आत्मक भी नहीं है। जिससे कि उन जाति आदिकोंके प्रतिभासित होते संते उनके वाचक शब्द भी प्रतिभास जाते और जबतक उन अर्थोंमें शब्दकी प्रतीति न होगी तबतक अर्थोंमें जाति आदिकी कल्पना करना उचित नहीं है। क्योंकि उस कल्पनाका लक्षण शद्बसे प्रतीति होना माना गया है। शद्बोंकी योजनासे रहित हो रही कल्पनाओंका असम्भव है। तिस कारण हमारा हेतु विरुद्ध नहीं है। भावार्थ—कल्पनाओंसे रहित अर्थ है, उससे उत्पन्न हुआ प्रत्यक्षज्ञान भी निर्विकल्पक है। कारणके अनुरूप कार्य होता है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर यहां श्रीविद्यानंद आचार्य समाधान कहते हैं।

यथावभासतो कल्पात् प्रत्यक्षात्प्रभवन्नपि।
तत्पृष्ठतो विकल्पः स्यात् तथार्थाक्षाच्च स स्फुटः ॥ १८ ॥

जिस प्रकार उन बौद्धोंके यहां निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे उत्पन्न होता हुआ भी उसके पीछे, सविकल्पकज्ञान हो जाता है, तिस ही प्रकार निर्विकल्पक अर्थ और इन्द्रियोंसे वह स्पष्ट सविकल्पक प्रत्यक्ष हो सकता है। भावार्थ—निर्विकल्पक अर्थसे निर्विकल्पक प्रत्यक्षका ही होसकना बौद्धोंने इष्ट किया है। किन्तु निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे उसके पीछे सविकल्पक प्रत्यक्ष उत्पन्न हुआ मान लिया है। अतः निर्विकल्पक अर्थसे एकदम सीधा सविकल्पकज्ञान उत्पन्न हो जानेमें निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे सविकल्पकज्ञानकी उत्पत्ति होना हम जैनोंको बौद्धोंका दृष्टान्त मिल गया।

दर्शनादविकल्पाद्विकल्पः प्रजायते न पुनरर्थादिति कुतो विशेषः। न चाभिलापवत्त्येव प्रतीतिः कल्पना जात्यादिमत्प्रतीतेरपि तथात्वाविरोधात्। संति चार्थेषु जात्यादयोपि तेषु प्रतिभासमानेषु प्रतिभासेरन्। ततो जात्यात्मकार्थदर्शनं सविकल्पं प्रत्यक्षसिद्धमिति विरुद्धमेव साधनम्।

बौद्धोंके यहां निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे विकल्पज्ञान भले ढंगसे उत्पन्न हो जाता मान लिया गया है। किन्तु फिर निर्विकल्पक अर्थसे सविकल्पकज्ञान उत्पन्न न होवे, इस प्रकारके पक्षपातग्रस्त नियम करनेमें किस हेतुसे विशेषता समझी जाय ? शद्बयोजनावाली प्रतीति ही कल्पना नहीं है। किन्तु जाति, गुण, आदिसे युक्त हो रही प्रतीतिको भी तिस प्रकार सद्भूत कल्पनापनेका कोई विरोध न

नहीं है । बौद्धोंने जो यह कहा था कि अर्थोंमें कल्पनायें नहीं हैं । उसपर हमारा यह कहना है कि वस्तुभूत अर्थोंमें जाति, गुण आदिक कल्पनायें भी विद्यमान हैं । तुमने स्वयं अभी जाति गुण आदिको वस्तु, सद् स्वीकार किया है । उन अर्थोंके प्रकाशमान होनेपर वे सामान्य विशेष गुण आदिक भी प्रतिभास जाते हैं । तिस कारण जाति, द्रव्य, आदि स्वरूप कल्पनाके साथ तदात्मक हो रहे अर्थसे उत्पन्न हुआ अर्थका दर्शन सविकल्पक है, यह प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही सिद्ध है । सूंघने, स्वाद लेने, देखने, आदिके समय वाच्य और बहुभाग अवाच्य आकारों (कल्पनाओं) का स्वसंवेदन हो रहा है । इस कारण बौद्धोंका हेतु विरुद्ध ही है । " साध्यविपरीतव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः " ।

न च जात्यादिरूपत्वमर्थस्यासिद्धमंजसा ।
निर्बाधबोधविध्वस्तसमस्तारेकि तत्वतः ॥ १९ ॥

घट, पट, आदि पदार्थोंका स्वरूप, जाति, विशेष, पर्याय, आदिके साथ तदात्मक हो रहा है, यह असिद्ध नहीं है निर्दोष है । क्योंकि बाधकरहित ज्ञानोंके द्वारा इस विषयकी संपूर्ण शंकाओंको विध्वस्त करादिया गया है । अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थ सामान्य विशेष आदि अनेक धर्म आत्मक हैं । इसमें कोई बाधक नहीं है । इस कारिकामें अनुमानके प्रतिज्ञा हेतु ये दो अवयव कण्ठोक्त हैं ।

जात्यादिरूपत्वे हि भावानां निर्बाधो बोधः समस्तमारेकितं हंतीति किं नश्चिंतया । निर्बाधत्वं पुनर्जात्यादिबोधस्यान्यत्र समर्थितं प्रतिपत्तव्यं ततो जात्याद्यात्मकस्वार्थव्यवसितिः कल्पना स्पष्टा प्रत्यक्षे व्यवतिष्ठते ।

सभी पदार्थोंके जाति आदि, स्वरूप होनेमें समस्त देश, काल, और व्यक्तियोंकी अपेक्षासे हो सकनेवाली बाधाओंको टालता हुआ चमक रहा सम्यग्ज्ञान ही जब सम्पूर्ण शंकाओंको नष्ट कर देता है, तो ऐसी दशामें हमको चिन्ता करनेसे क्या ? अर्थात् हम निश्चिन्त हैं । जाति आदिसे तदात्मक हुये अर्थको जाननेवाला ज्ञान फिर बाधकोंसे रहित है । इसका हम अन्य प्रकरणोंमें समर्थन कर चुके हैं । वहांसे समझ लेना चाहिये । तिस कारण सिद्ध हुआ कि जाति आदिसे तदात्मक हो रहे स्व और अर्थका निर्णय करनारूप स्पष्ट कल्पना भला प्रत्यक्षज्ञानमें व्यवस्थित हो रही है ।

संकेतस्मरणोपाया दृष्टसंकल्पनात्मिका ।
नैषा व्यवसितिः स्पष्टा ततो युक्ताक्षजन्मनि ॥ २० ॥

जो कल्पना संकेतग्रहण और उसका स्मरण करना आदि उपायोंसे उत्पन्न होती है, अथवा देखे हुये पदार्थमें अन्य सम्बन्धियोंका या इष्ट अनिष्टपनेका संकल्प करना रूप है, वह कल्पना श्रुतज्ञानमें सम्भवती है । प्रत्यक्षमें ऐसी कल्पना नहीं है । हां, स्वार्थनिर्णय करना रूप स्पष्ट कल्पना तो प्रत्यक्षमें है । तिस कारण इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षमें यह कल्पना करना समुचित है ।

यदेव हि संकेतस्मरणोपायं दृष्टसंकल्पनात्मकं कल्पनं तदेव पूर्वापरपरामर्शशून्ये चाक्षुषे स्पर्शनादिके वा दर्शने विरुध्यते। न चेयं विशदावभासार्थ व्यवसितिस्तथा, ततो युक्ता सा प्रत्यक्षे।

जो ही देखे हुये पदार्थमें संकेतस्मरणको उपाय मान कर इष्ट, अनिष्ट, मेरा, तेरा, आदि संकल्प करना रूप कल्पना है, वही कल्पना पहिले पीछेके प्रत्यभिज्ञान तर्क, आगम, आदि विचारक ज्ञानोंसे रहित हो रहे चाक्षुषप्रत्यक्ष अथवा स्पार्शन आदि प्रत्यक्षोंमे विरुद्ध पडती है। अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान विचार करनेवाला नहीं है। रूप, रस, स्पर्श, आदिकी प्रत्यक्ष करके शीघ्र ही साकार ज्ञप्ति हो जाती है। यह उससे बढिया है, वह इससे दूर है, यह अधिक पीला है, वह इससे न्यून मीठा था, यह बम्बईका बना है। यह वैसा नहीं है, इत्यादि परामर्श करनेवाले श्रुतज्ञान पीछेसे होते रहते हैं। प्रत्यक्षोंमें इन विचारोंका अंश मात्र भी नहीं है। यह बात अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानमें भी लागू होती है। वे भी ज्ञान विचारक नहीं हैं। किन्तु विशद प्रकाश रूपसे अर्थका निर्णय करनारूप यह कल्पना तो तिस प्रकार परामर्श करनेवाली नहीं है। तिस कारण वह स्वार्थ निर्णयरूप कल्पना प्रत्यक्षज्ञानमें हो रही समुचित है। समर्थज्ञानोंमें, कल्पनायें ठहरती हैं।

कुतः पुनरियं न संकेतस्मरणोपायेत्युच्यते।

यह प्रत्यक्षमें हो रही कल्पना फिर शद्वसंबंधी संकेतस्मरणके निमित्तसे उत्पन्न हुई कैसे नहीं है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्यों द्वारा ही उत्तर कहा जाता है।

स्वतो हि व्यवसायात्मप्रत्यक्षं सकलं मतम्।
अभिधानाद्यपेक्षायामन्योन्याश्रयणात्तयोः ॥ २१ ॥

शद्वयोजना, संकेतस्मरण करना आदिकी नहीं अपेक्षा कर उत्पन्न हुये सम्पूर्ण प्रत्यक्ष स्वयं अपने आपसे निर्णयस्वरूप माने गये हैं। यदि उन प्रत्यक्ष और निर्णय दोनोंको भी अभिधान आदिक की अपेक्षा मानी जायगी, ऐसा होनेपर तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। अर्थात् निश्चय हो चुकनेपर शद्व लगाया जाय और शद्व योजना हो चुकनेपर निर्णय किया जाय, ऐसे अन्योन्याश्रय दोषवाले कार्य जगत्में घटित नहीं होते हैं।

सति ह्यभिधानस्मरणादौ क्वचिद्व्यवसायः सति च व्यवसाये ह्यभिधानस्मरणादीति कथमन्योन्याश्रयणं न स्यात्। स्वाभिधानविशेषापेक्षा एवार्थनिश्चयैर्व्यवसीयंते इति ब्रुवन्नार्थमध्यवस्यंस्तदभिधानविशेषस्य स्मरति अनलुस्मरन्न योजयति अयोजयन्न व्यवस्यतीत्यविकलं जगदर्थयेत्। स्ववचनविरुद्धं चेदं। किंच—

वाचक शद्वका स्मरण करना आदिके होनेपर कहीं घट, पट, आदिमें निर्णय होना बने और निश्चय हो चुकनेपर वाचक शद्वका स्मरण आदिक होय, यानी घट अर्थको देखकर ही पहिले कालमें

संकेत ग्रहण किये जा चुके, उसके वाचक शब्दोंका स्मरण करेगा और चित्तमें संकल्पकर घकार टकार वर्णोंको अर्थमें जोडेगा, तब कहीं निर्णय होगा और ये सम्पूर्ण क्रियायें निश्चय कर चुकनेपर हो सकती हैं। इस ढंगसे अन्योन्याश्रय क्यों नहीं होगा? तथा जो बौद्ध ऐसा कह रहे हैं कि अपने वाचक शब्द विशेषोंकी अपेक्षा रखते हुये ही पदार्थ भला निश्चयों करके निश्चित किये जाते हैं। यह बौद्ध अर्थका निर्णय करता हुआ ही उसके वाचक हो रहे विशेष शब्दोंका स्मरण करता है। स्मरण नहीं करता हुआ तो शब्दोंको अर्थके साथ जोड सकता है। और नहीं जोडता हुआ अर्थका निश्चय नहीं कर पाता है। इस प्रकार यह जगत्को निर्विकल्पक हो रहे की अभिलाषा करता है। अर्थात् जब शब्दका स्मरण, शब्दकी योजना, आदि नहीं हो सकते हैं तो जगत्मेंसे विकल्प करना उठ जायगा। दूसरी बात यह है कि बौद्धोंके यहां यह कथन अपने वचनोंसे ही विरुद्ध पडेगा। भावार्थ—पहिले तो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा शब्दयोजना, संकेत स्मरण, जाति आदिसे रहित अर्थका ज्ञान होना मानलिया है। और अब उस अर्थके वाचक शब्दोंके द्वारा ही अर्थका व्यवसाय होना माना जाता है। अथवा पहिले निर्विकल्पकको प्रत्यक्ष मानकर पीछे स्वार्थव्यवसायरूप स्पष्ट कल्पनाको प्रत्यक्षमें व्यवस्थित होना मान लिया गया है। और भी तीसरी बात यह है कि—

स्वाभिधानविशेषस्य निश्चयो यद्यपेक्षते।
स्वाभिलापांतरं नूनमनवस्था तदा न किम् ॥ २२ ॥
गत्वा सुदूरमप्येवमभिधानस्य निश्चये।
स्वाभिलापानपेक्षस्य किमु नार्थस्य निश्चयः ॥ २३ ॥

बौद्धोंके विचार अनुसार जब सभी अर्थ अपना निश्चय करानेमें अपने वाचक हो रहे विशिष्ट शब्दोंकी अपेक्षा करते हैं तो वह वाचक शब्द भी तो एक विशेष अर्थ है। उस शब्दरूप अर्थका निश्चय करनेके लिये भी अपने वाचक अन्य शब्दोंकी अपेक्षा की जायगी। इसी ढंगसे उस शब्दके भी वाचक शब्दस्वरूप पदार्थोंका निश्चय करना यदि अपने वाचक अन्य शब्दोंकी अपेक्षा करता होगा तब तो नियमसे अनवस्था दोष क्यों नहीं होगा? भावार्थ—देवदत्त नामके पुरुषका निर्णय करनेके लिये यदि दे और व तथा द एवं त्त शब्दोंकी अपेक्षा होगी और दे आदि शब्दरूप अर्थोंके वाचक अन्य शब्दोंकी अपेक्षा होगी और उन अन्य शब्दोंके निर्णयार्थ भी वाचकान्तरोंकी आकांक्षा बढती जावेगी, इस ढंगसे रुपयासे रुपयेका क्रय करनेके समान अवश्य अनवस्था दोष हो जाता है। इस प्रकार बहुत दूर भी चलकर अपने वाचक शब्दोंकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले शब्दोंका निर्णय माना जायगा, यानी कुछ दूर जाकर वाचक शब्दोंका निर्णय उनके अभिधायक शब्दोंके विना भी हो जायगा मानोगे, तो हम कहते हैं कि यों पहिलेसे ही अर्थका निश्चय करना वाचक शब्दोंके

विना भी क्यों न हो जाय ? भावार्थ—संकेतस्मरण, शब्दयोजना, आदिके विना ही स्वार्थ व्यवसायरूप दर्शन हो जाता है।

अभिधानविशेषश्चेत् स्वस्मिनर्थे च निश्चयम्।
कुर्वन्दृष्टः स्वशक्त्यैव लिंगाद्यर्थोपि तादृशः ॥ २४ ॥
शाब्दस्य निश्चयोर्थस्य शब्दापेक्षोस्त्वबाधितः।
लिंगजन्माक्षजन्मा न तदपेक्षोभिधीयते ॥ २५ ॥

कुछ दूर जाकर जैसे कोई वाचक विशेष शब्द अपनी शक्ति करके ही अपनेमें और अर्थमें निश्चय करता यदि देखा गया है यानी पहिले अर्थ निश्चयके लिये शब्दकी आवश्यकता है। और पिछला शब्द अपना और अर्थका दोनोंका निर्णय करा देता है, जैसे कि दीपक स्वार्थोका प्रकाशक है। आचार्य कहते हैं कि तब तो उस शब्दके समान ही अपनी गांठकी सामर्थ्यसे ही वैसे हेतु आदिक अर्थ भी वाचक शब्दोंके विना तिस प्रकारका निर्णय करा देवेंगे। प्रत्येक निश्चयको करनेमें विशेष शब्दोंका पुंछल्ला व्यर्थ क्यों लगाया जाय। हां, शब्दको सुनकर उत्पन्न हुआ अर्थोका निर्णय तो भले ही बाधारहित होता हुआ शब्दकी अपेक्षा रखनेवाला मान लिया जाय। किन्तु ज्ञापक हेतुसे उत्पन्न हुये निर्णय (अनुमान) और इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुये निर्णय (प्रत्यक्ष) को तो उस शब्दकी अपेक्षा रखनेवाला नहीं कहा जा सकता है।

ततः प्रत्यक्षमास्थेयं मुख्यं वा देशतोपि वा।
स्यान्निर्विकल्पकं सिद्धं युक्त्या स्यात्सविकल्पकं ॥ २६ ॥
सर्वथा निर्विकल्पत्वे स्वार्थव्यवसितिः कुतः।
सर्वथा सविकल्पत्वे तस्य स्याच्छब्दकल्पना ॥ २७ ॥

तिस कारण यह विश्वासपूर्वक निश्चय कर लो कि मुख्यप्रत्यक्ष अथवा एक देशसे भी विशद हो रहा सम्व्यवहार प्रत्यक्ष ये दोनों ही कथंचित् निर्विकल्पक सिद्ध हैं और युक्तिसे कथंचित् सविकल्पक भी सिद्ध हैं। यानी संकेतस्मरण, वाचक शब्द जोडना आदिक कल्पनाओंसे रहित प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है और स्पष्टरूपसे स्वार्थव्यवसाय करनारूप सद्भूत कल्पना करके प्रत्यक्ष सविकल्पक भी है। सभी प्रकारोंसे यदि प्रत्यक्षको निर्विकल्पक माना जावेगा तो स्वार्थका निर्णय करना भला कैसे होगा ? स्वार्थनिर्णय करना भी तो एक कल्पना है, और यदि उस प्रत्यक्षको सर्वथा सविकल्पक स्वीकार किया जायगा तो शाब्दबोधके समान प्रत्यक्ष ज्ञानमें भी शब्दोंकी कल्पना लग बैठेगी, ऐसा होनेपर वह प्रत्यक्षज्ञान परोक्ष हो जावेगा।

न केवलं जैनस्य कथंचित्सविकल्पकं प्रत्यक्षं । किं तर्हि सौगतस्यापीत्याह;—

केवल जैनोंके यहा ही प्रत्यक्षज्ञान कथंचित् सविकल्पक नहीं माना है । किन्तु बौद्धोंके यहा भी प्रत्यक्षको सविकल्पक इष्ट किया है । इस बातको स्पष्टकर आचार्य कहते हैं ।

सवितर्कविचारा हि पंचविज्ञानधातवः ।
निरूपणानुस्मरणविकल्पेनाविकल्पकाः ॥ २८ ॥
इत्येवं स्वयमिष्टत्वान्नैकांतेनाविकल्पकं ।
प्रत्यक्षं युक्तमास्थातुं परस्यापि विरोधतः ॥ २९ ॥

बौद्धोंके मतमें नाम, जाति, आदि भेदव्यवहाररूप कल्पनासे प्रत्यक्षको रहित माना है । किन्तु स्वकीय विकल्पोंसे भी रहित उस निर्विकल्पकको नहीं माना है । उनके यहा कहा है कि रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा, संस्कार, ये पाच विज्ञान धातुयें तो वितर्क करना और विचार करनेसे सहित हैं । हा, निरूपण आदि विकल्पोंसे रहित हैं । भावार्थ—प्रत्यक्षज्ञानमें वितर्क और विचाररूप कल्पनायें विद्यमान हैं । ज्ञान द्वारा आलंबन कारणको विषय करना वितर्क है । और उसी विषयमें दृढ़ज्ञप्ति करना विचार है । ये दो कल्पनायें प्रत्यक्षमें हैं। किन्तु नाम आदिकी कल्पनारूप निरूपण और पहिले अनुभूत किये गये पदार्थके अनुसार विकल्प करनारूप अनुस्मरण आदि विकल्पों करके वह प्रत्यक्ष सविकल्पक नहीं हैं । अविकल्पक है। इस प्रकार बौद्धोंने यह वितर्क विचारसहितपनारूप विकल्प स्वयं प्रत्यक्षमें इष्ट किया है । अतः एकान्त आग्रह करके प्रत्यक्षको निर्विकल्पकपनेकी श्रद्धा करना उचित नहीं है । अतः स्वयं बौद्धके या अन्य वादियोंके यहा भी प्रत्यक्षको सर्वथा निर्विकल्पक माननेमें विरोध है ।

विधूतकल्पनाजालं योगिप्रत्यक्षमेव चेत् ।
सर्वथा लक्षणाव्याप्तिदोषः केनास्य वार्यते ॥ ३० ॥

यदि सर्वज्ञयोगियोंका प्रत्यक्ष ही कल्पनाओंके जालसे रहित है, ऐसा बौद्ध कहेंगे, तब तो सभी प्रकारसे इस प्रत्यक्षके बौद्धोक्तलक्षणका अव्याप्ति दोष भला किससे निवारण किया जा सकता है ? अर्थात् प्रत्यक्षका निर्विकल्पक लक्षण योगियोंके प्रत्यक्षमें तो घट गया और इन्द्रिय प्रत्यक्षों या मानस प्रत्यक्षोंमें नहीं गया, अतः अव्याप्त है ।

लौकिकी कल्पनापोढा यतोध्यक्षं तदेव चेत् ।
शास्त्रीया सास्ति तत्रेति नैकान्तेनाविकल्पकम् ॥ ३१ ॥

कारण कि लोकव्यवहारमें की गयीं मूल्यवान्, छोटा, बड़ा, इष्ट, अनिष्ट, मेरा तेरा, दूर, निकट आदि अनेक कल्पनाओंसे रहित जो प्रत्यक्ष होगा वही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। भले ही उस प्रत्यक्षमें स्वार्थनिर्णय या आकाररूप अर्थविकल्पना आदि ये शास्त्रसंबंधी कल्पनायें रह जावें, कोई क्षति नहीं है। यदि बौद्ध ऐसा कहेंगे तब तो ग्रन्थकार कहते हैं कि उस प्रत्यक्षमें वे शास्त्र संबंधी कल्पनायें विद्यमान हैं, ऐसी दशामें एकान्तरूपसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष नहीं हुआ विकल्पसहित हो गया। शास्त्रीय सिद्धान्त ही त्रिलोक, त्रिकालमें अबाधित होते हैं। लौकिक युक्तियां तो अनेक स्थलोंपर व्यभिचरित हो जाती हैं, जैसे कि छतमेंसे पानी चुचाना उसके शीघ्र पतनका चिन्ह है, किन्तु रुडकीकी नहरका पुल चुचाता रहनेपर ही दृढ रहेगा। चुचाना बन्द हो जानेपर अल्पकालमें गिर पडेगा, ऐसा उसके निर्माताका आप्तनिवेदन सुना जाता है।

तदपाये च बुद्धस्य न स्याद्धर्मोपदेशना।
कुड्यादेर्या न सा तस्येत्येतत्पूर्वं विनिश्चितं॥ ३२॥

और उस शास्त्रीय कल्पनाके नहीं माननेपर बुद्धके धर्मका उपदेश देना नहीं बन सकता है। जैसे कि झोंपडी, खम्भा, चौकी आदिके द्वारा धर्मोपदेश नहीं होता है। उसी प्रकार बुद्धके द्वारा जो धर्मोपदेश होना आपने माना है। वह सर्वथा निर्विकल्पक बुद्धज्ञानसे नहीं सम्भवता है। वह उपदेश बुद्धभगवानका नहीं कहा जा सकता है। इन सब बातोंका हम पहिले प्रकरणोंमें विशेषरूपसे निश्चय कर चुके हैं।

ततः स्यात्कल्पना स्वभावशून्यमभ्रांतं प्रत्यक्षमिति व्याहतं।

तिस कारण कल्पना स्वभावोंसे शून्य होता हुआ भ्रान्ति ज्ञानोंसे रहित प्रत्यक्ष है, इस प्रकार बौद्धोंका लक्षण करना व्याघातयुक्त हुआ। क्योंकि बुद्ध प्रत्यक्षके अतिरिक्त इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षोंमें कल्पना होना मान लिया गया है। दूसरी बात यह है कि कल्पनाओंसे रहितपना भी तो एक कल्पना है। तथा अभ्रान्तपना भी तो प्रत्यक्षमें दूसरी कल्पना है। इस प्रकार कहनेपर व्याघात दोष आता है। जैसे कोई जोरसे चिल्लाकर कहे कि मैं चुपका बैठा हूं। यहां व्याघात लग बैठता है। दो दो तीन तीन कल्पनायें गढते हुए भी पुनः उसीको निर्विकल्पक कहनेवालेपर वदतो व्याघात दोष पडता है।

येत्वाहुर्नैन्द्रियानिंद्रियानपेक्षं प्रत्यक्षं तस्य तदपेक्षामंतरेण संभवादिति तान् प्रत्याह;—

अब दूसरे जो वादी विद्वान् यों कह रहे हैं कि इन्द्रिय और मनकी नहीं अपेक्षा रखता हुआ कोई भी प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता है। प्रायः सभी प्रत्यक्षोंमें इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा है। उनकी अपेक्षाके विना उस प्रत्यक्षकी उत्पत्ति नहीं होती है। असम्भव है। इस प्रकार कहनेवाले उन वैशेषिकोंके प्रति आचार्य स्पष्ट उत्तर कहते हैं।

येपि चात्ममनोक्षार्थसन्निकर्षोद्भवं विदुः ।
प्रत्यक्षं नेश्वराध्यक्षसंग्रहस्तैः कृतो भवेत ॥ ३३ ॥
नेश्वरस्याक्षजं ज्ञानं सर्वार्थविषयत्वतः ।
नाक्षैः सर्वार्थसंबंधः सहैकस्यास्ति सर्वथा ॥ ३४ ॥
योगजाज्ज्ञायते यत्तु ज्ञानं धर्मविशेषतः ।
न सन्निकर्षजं तस्मादिति न व्यापिलक्षणं ॥ ३५ ॥

जो भी कोई विद्वान् प्रत्यक्षको आत्मा, मन, इन्द्रिय, और अर्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न हुआ जान रहे हैं, उन करके ईश्वरके प्रत्यक्षका संग्रह करना नहीं हो सकेगा। क्योंकि ईश्वरका ज्ञान (पक्ष) इन्द्रियोंसे जन्य नहीं है (साध्य)। क्योंकि वह सम्पूर्ण अर्थोंको विषय करनेवाला है, (हेतु)। एक जीवके एक ही बारमें सम्पूर्ण अर्थोंका इन्द्रियोंके साथ संबंध होना सर्वथा नहीं सम्भवता है। यदि जो योगसे उत्पन्न हुये विशेष अतिशयरूप धर्मसे उत्पन्न हुआ ज्ञान सम्पूर्ण अर्थोंको जान लेता है, ऐसा मानोगे, तब तो प्रत्यक्ष सन्निकर्षजन्य न रहा। तिस कारण वह प्रत्यक्षका इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जन्यत्व लक्षण सम्पूर्ण लक्ष्योंमें व्यापक न हुआ, अतः अव्याप्ति दोष हो गया।

ननु च योगजाद्धर्मविशेषात् सर्वार्थैरक्षसन्निकर्षस्ततः सर्वार्थज्ञानमित्यक्षार्थसन्निकर्षजमेव तत्। नैतत्सारं। तत्राक्षार्थसन्निकर्षस्य वैयर्थ्यात्। योगजो हि धर्मविशेषः सर्वार्थाक्षसन्निकर्षमुपजनयति न पुनः साक्षात्सर्वार्थज्ञानमिति स्वरुचिमदर्शनमात्रं, विशेषहेत्वभावादित्युक्तप्रायम्।

वैशेषिकोंका अनुनय है कि विशिष्ट समाधिसे उत्पन्न हुये धर्मविशेषसे इन्द्रियोंका सम्पूर्ण अर्थोंके साथ सन्निकर्ष हो जाता है। उससे सम्पूर्ण अर्थोंका ज्ञान हो जायगा। इस प्रकार वह ईश्वरका ज्ञान भी इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न हुआ है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह वैशेषिकों कथन निःसार है। क्योंकि उस सर्वज्ञके प्रत्यक्षमें इन्द्रिय और अर्थका सन्निकर्ष व्यर्थ पडता है। योगसे उत्पन्न हुआ विशेषधर्म नियमसे सम्पूर्ण अर्थोंके साथ इन्द्रियके सन्निकर्षको तो उत्पन्न करा देता है। किन्तु फिर विशदरूपसे संपूर्ण अर्थोंके ज्ञानको साक्षात् नहीं करा पाता है। यह वैशेषिकोंका अपनी रुचिका केवल बढिया ढोंग दिखलाना है। इसमें कोई विशेष कारण नहीं है। इस बातको हम पहले कई बार कहचुके हैं। जैनसिद्धान्तके अनुसार समाधिसे ही एक विशिष्ट अतिशय (केवलज्ञान) उत्पन्न होता है, जिससे युगपत् सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रत्यक्ष हो जाता है। बीचमें सन्निकर्षका रोडा अटकानेकी आवश्यकता नहीं है।

श्रोत्रादिवृत्तिरध्यक्षमित्यप्येतेन चिंतितं ।
तस्याविचार्यमाणाया विरोधश्च प्रमाणतः ॥ ३६ ॥

इस उक्त कथनसे इसका भी विचार कर दिया गया समझलेना चाहिये कि जो सांख्य पण्डित कान, आख, आदि इन्द्रियोंकी उघाडना, खोलना, आदि वृत्तिको प्रत्यक्ष प्रमाण मान रहे हैं। क्योंकि यदि उस इन्द्रियवृत्तिका प्रमाणोंसे विचार किया जायगा तो विरोध दोष लगेगा। अथवा इन्द्रियवृत्तिकर विचार करनेपर सांख्योंको प्रमाणोंसे विरोध पडेगा।

इन्द्रियाण्यर्थमालोचयंति तदालोचितं मनः संकल्पयति तत्संकल्पितमहंकारोभिमन्यते तदाभिमतं बुद्धिरध्यवस्यति तदध्यवसितं पुरुषश्चेतयत इति श्रोत्रादिवृत्तिर्हि न सकृत्सर्वार्थविषया यतस्तत्प्रत्यक्षत्वे योगिप्रत्यक्षसंग्रहः स्यात् ।

साख्य कहते हैं कि पहिले इन्द्रियें अर्थका सामान्यरूपसे आलोचन करती हैं कि रूप है, रस है, गन्ध है, आदि। उस आलोचना किये गये अर्थका पुनः मन संकल्प करता है कि वह पदार्थ ऐसा होगा, तैसा होगा, वहां मनोहर व्यञ्जन खानेको मिलेंगे आदि। पश्चात् संकल्प किये गये उस अर्थका अहंकार तत्त्व अभिमान करता है कि मैं अर्थका गर्व करता हूं। मैं, मैं, हूं, हूं, आदि पीछे अभिमान किये गये अर्थका बुद्धि निर्णय कर लेती है। इतना सब प्रकृतिका कार्य है। अनन्तर उस बुद्धिसे निर्णीत किये गये अर्थको आत्मा चैतन्य कर लेता है, इस प्रकार इन्द्रिय, मन, संकल्प, आदिकी वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस प्रकार कापिलोंके कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि वह वृत्ति एक ही बार सम्पूर्ण अर्थोंको विषय नहीं कर सकेगी, जिससे कि उन सब पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान होते संते योगियोंके प्रत्यक्षका संग्रह हो जाता। भावार्थ—इन्द्रियवृत्तिरूप प्रत्यक्षसे सर्वज्ञप्रत्यक्षका संग्रह नहीं हो सकता है।

न च प्रमाणतो विचार्यमाणा श्रोत्रादिवृत्तिः सांख्यानां युज्यते। सा हि न तावत्पुरुषपरिणामोऽनभ्युपगमात्, नापि प्रधानस्यानंशस्यामूर्तस्य नित्यस्य सा कादाचित्कत्वात्। न ह्यकादाचित्कस्यानपेक्षस्य कादाचित्कः परिणामो युक्तः सापेक्षस्य तु कुतः कौटस्थ्यं नामापेक्ष्यमाणार्थकृतातिशयस्यावश्यं भावान्निरतिशयत्वविरोधात् कौटस्थ्यानुपपत्तेः।

दूसरी बात यह है कि प्रमाणोंसे विचार की गयी कान, आदि इन्द्रियोंकी वृत्ति तो सांख्योंके यहां नहीं युक्तिसहित घटित हो पाती है। देखिये, वह इन्द्रियवृत्ति सबसे पहिले पुरुषका परिणाम तो नहीं है। क्योंकि आप सांख्योंने यह स्वीकार नहीं किया है। आत्माके धर्म द्रष्टापन, उदासीनपन, चैतन्य, भोक्तृत्व, साक्षित्व माने गये हैं। आत्माके परिणाम होना भी तो नहीं माना है। कापिलोंके यहां आत्माको कूटस्थ अपरिणामी स्वीकार किया है। तथा अंशरहित, अमूर्त्त, नित्य, ऐसी प्रकृतिका

भी परिणाम वह इन्द्रियवृत्ति नहीं है । क्योंकि इन्द्रियवृत्ति तो कभी कभी कालमें होनेवाली है, और नित्य प्रकृति कभी कभी होनेवाली नहीं है । अथवा किसी सहकारीकी अपेक्षा नहीं रखती है। ऐसी उस प्रकृतिका कभी कभी होनेवाला प्रत्यक्षरूप परिणाम होना उचित नहीं है । यदि प्रकृति या आत्माको अन्य सहकारियोंकी अपेक्षा रखनेवाला माना जायगा तो उनमें कूटस्थपना भला कैसे बन सकेगा ? क्योंकि अपेक्षा किये जा रहे पदार्थसे बनाये गये अतिशयका होना आवश्यक है । उपादान कारणमें या कार्यमें कुछ अतिशय धर देनेवालेको ही सहकारी कारण माना गया है । ऐसा होनेपर आत्माके अतिशयरहितपनेका विरोध होगा, कूटस्थपना तो रक्षित नहीं रह सकता है । अतः इन्द्रियवृत्ति प्रत्यक्षका लक्षण ठीक नहीं है ।

पुंसः सत्संप्रयोगे यदिंद्रियाणां प्रजायते ।
तदेव वेदनं युक्तं प्रत्यक्षमिति केचन ॥ ३७ ॥
तेऽसमर्था निराकर्तुं न प्रत्यक्षमतीन्द्रियं ।
प्रत्यक्षतोनुमानादेः सर्वज्ञत्वप्रसंगतः ॥ ३८ ॥

इन्द्रियोंका विद्यमान पदार्थके साथ समीचीन संसर्ग होनेपर जो आत्माके बढ़िया बुद्धिका जन्म होता है, वह ज्ञान ही प्रत्यक्षप्रमाण मानना युक्त है । इस प्रकार कोई मीमांसक विद्वान् कह रहे हैं । आचार्य कहते हैं कि वे मीमांसक अतीन्द्रिय प्रत्यक्षको निराकरण करनेके लिये समर्थ नहीं हैं । क्योंकि प्रत्यक्षसे और अनुमान आदिक प्रमाणोंसे सर्वज्ञपनका प्रसंग प्रतीत है । भावार्थ— मीमांसक पण्डित प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा युगपत् सर्वका साक्षात् करनेवाले सर्वज्ञको नहीं मानते हैं । हां, आगम, अनुमान, और व्याप्तिज्ञानसे सर्वका जानना (परोक्ष) अभीष्ट करते हैं । किन्तु सर्वज्ञका प्रत्यक्ष प्रमाण पहिले अनुमान द्वारा साधा जा चुका है । सूक्ष्म, अंतरित और दूरार्थ (पक्ष) किसी न किसीके प्रत्यक्ष विषय हैं (साध्य) क्योंकि हमको श्रुतज्ञानसे गम्य हैं (हेतु) जैसे नदी, देश, पर्वत, आदि (दृष्टान्त) । अतः उनके माने गये प्रत्यक्षलक्षणमें अव्याप्ति दोष हुआ ।

न ह्यसर्वज्ञः सर्वार्थसाक्षात्कारिज्ञानं नास्तीति कुतश्चित्प्रमाणान्निश्चेतुं समर्थ इति प्रतिपादितप्रायं । न च तदभावानिश्चये करणजमेव प्रत्यक्षमिति नियमः सिद्ध्येत् ।

सबको नहीं जाननेवाला अल्पज्ञानी प्राणी तो " सम्पूर्ण अर्थोंका साक्षात् करनेवाला ज्ञान कोई नहीं है " इस बातको किसी भी प्रमाणसे निश्चय करनेके लिये समर्थ नहीं है । इसको हम कितने ही बार समझा चुके हैं । अतः परिशेषसे सर्वज्ञ ज्ञानकी सिद्धि हो जाती है । जब कि उस सर्वज्ञ प्रत्यक्षके अभावका निश्चय नहीं है, तो इन्द्रियजन्यज्ञान ही प्रत्यक्ष है, ऐसा मीमांसकोंका नियम करना नहीं सिद्ध हो पावेगा ।

तत्स्वार्थव्यवसायात्म-त्रिधा प्रत्यक्षमंजसा।
ज्ञानं विशदमन्यत्तु परोक्षमिति संग्रहः ॥ ३९ ॥

तिस कारण सिद्ध हुआ कि स्व और अर्थका विशदनिश्चय करना स्वरूप प्रत्यक्ष है। वह अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानके भेदोंसे तीन प्रकारका है। साक्षात्‌रूपसे स्वार्थको विशद जाननेवाला ज्ञान तो प्रत्यक्ष है। और अन्य अविशद ज्ञान परोक्ष हैं। इस प्रकार सभी सम्यग्ज्ञानोंका प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाणोंमें संग्रह हो जाता है। इस प्रकार दो सूत्रोंका उपसंहार हुआ। क्रमका परिवर्तन तो कारणवश हुआ सह्य है।

इस सूत्रका सारांश।

इस सूत्रमें प्रकरणोंका क्रम इस प्रकार है कि प्रथम ही एक वचन ज्ञानशद्बकी अनुवृत्तिकी अपेक्षासे सूत्रमें एकवचन करना साधा है। ज्ञानका संबंध हो जानेसे महासत्ताका सामान्यरूपसे आलोचन करनेवाले दर्शनोंमें अतिव्याप्ति नहीं हुई। प्रमाणका संबंध हो जानेसे इन पांचों ज्ञानोंमें अप्रमाणपना नहीं समझा जाता है। सम्यक्‌शद्बका फल विभंगज्ञानकी व्यावृत्ति करना है। केवल आत्माकी अपेक्षासे जो उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष है। अन्य आचार्योंका भी यही सिद्धान्त है। श्री अकलंकदेव महाराज द्रव्य और पर्यायरूप अर्थ तथा स्वको व्यवसाय करनेवाले ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं। यों संपूर्ण पदार्थोंको युगपत् जाननेवाला अतीन्द्रियप्रत्यक्ष भी संग्रहीत हो जाता है। बाधकप्रमाणोंके असम्भव हो जानेसे किसी भी पदार्थकी सत्ता सिद्ध हो जाती है। ज्ञानावरणके क्षय हो जानेपर सर्वज्ञका प्रत्यक्ष बन जाता है। सांव्यवहारिक भी प्रत्यक्ष है। केवलज्ञान निर्दोष है। बौद्धोंका माना गया प्रत्यक्षका लक्षण ठीक नहीं है। कल्पनाकी ठीक ठीक परिभाषा उनसे नहीं हो सकी है। सद्भूत कल्पना कोई बुरी वस्तु नहीं है, तो फिर उससे क्यों भयभीत होते हो? स्वार्थका व्यवसाय करना सबसे बढिया कल्पनाका लक्षण है, जो कि प्रत्यक्ष और परोक्षमें घटित हो जाता है। मतिज्ञान द्वारा जाने हुये अर्थसे अर्थान्तरको जानना श्रुतज्ञान है। अतः बौद्धोंका लक्षण असम्भवी है। संकल्प, विकल्पोंकी अवस्थाका संकोच कर देनेपर भी अर्थाकार रूप विकल्प होना ज्ञानमें देखा जाता है, तभी तो पीछे स्मरण होना बनता है। बाहिरके अभ्यास, प्रकरण, आदिक उपाय अंतरंग स्मरण करानेमें उपयोगी नहीं हो सकते हैं। निश्चयनयसे विचारा जाय तो अभ्यास आदिक सर्व ज्ञानरूप ही हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे जैसे सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, वैसे ही निर्विकल्प अर्थसे सीधा सविकल्पक ज्ञान हो जावेगा। सभी ज्ञानोंमें शद्बयोजना, जाति, आदिका उल्लेख करना, रूप कल्पना नहीं है। हां, शद्बजन्य आगम ज्ञानमें ऐसी कल्पना संभवती है। शद्बकी अपेक्षा विना ही अव्यक्त अनन्त अर्थोंके अनेक प्रकारोंसे निश्चय हो जाते हैं। इन बौद्धोंने भी पाच विज्ञानोंको वितर्क, विचारसहित माना

है। सर्वथा निर्विकल्पक माननेपर स्वार्थनिर्णय नहीं हो पाता है। छोटापन, बडापन, इष्ट अनिष्टपन, आदि लौकिक कल्पनायें ज्ञानमें भले ही नहीं होवें किन्तु शास्त्रोक्त कल्पनायें तो प्रत्येक ज्ञानमें पायी जाती हैं। कल्पनाके विना धर्मोपदेश होना नहीं हो सकता है। खम्भेके समान बुद्धके मुखसे कोई भी शद्ब नहीं निकल सकता है। श्रुतज्ञान भी द्रव्यरूपसे शद्ब योजनात्मक है। वैशेषिकोंका लक्षण ईश्वरप्रत्यक्षमें न जानेसे अव्याप्त है। सांख्य और मीमांसकों द्वारा माना गया भी प्रत्यक्षका लक्षण दोषग्रस्त है। सर्वज्ञके प्रत्यक्षका संकलन करना आवश्यक है। अव्यवहित रूपसे स्वार्थोंका विशद व्यवसाय करना प्रत्यक्षज्ञान है। और स्व तथा अन्य अर्थोंको अविशद जानना परोक्षप्रमाण है। इस प्रकार उक्त दो सूत्रोंसे यावत् सम्यग्ज्ञानोंका संग्रह हो जाता है।

अक्षात्मापेक्षमक्षेन्द्रियहृदयदयोपेक्षमक्ष्णोति साक्षात्।
कालक्षेत्रस्थभावावधिनियतपदार्थांश्च विश्वानभीक्ष्णं॥
प्रत्यक्षं द्वादशांगाध्ययनपटुसमाकांक्षणीयं स्वतुल्यं।
वैकल्याखिल्यधर्मोपहितविषयविख्याप्तये स्तान्मुमुक्षोः॥

—०—

अब मतिज्ञानके प्रकारोंको प्रगट करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र कहते हैं—

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिंताभिनिबोध इत्यनर्थांतरम्॥ १३॥

मतिज्ञान, स्मरणज्ञान, प्रत्यभिज्ञान, व्याप्तिज्ञान, और अनुमान, इत्यादि प्रकारके ज्ञान अर्थांतर नहीं हैं। ये सर्व मतिज्ञान ही हैं। मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमका निमित्त पाकर अर्थकी उपलब्धि करना सबमें एकसा है। यों थोडासा अवांतर भेद पड जाना न्यारी जातिका संपादन नहीं करा सकता है।

किमर्थमिदमुच्यते। मतिभेदानां मतिग्रहणेन ग्रहणादन्यथातिप्रसंगात्।

यह सूत्र किस प्रयोजनको साधनेके लिये कहा जाता है? इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि मतिज्ञानके भेदप्रभेदोंका मतिके ग्रहण करनेसे ग्रहण हो जाता है। अन्यथा यानी मतिशद्ब करके यदि इन्द्रिय, अनिन्द्रियजन्य विशद प्रत्यक्षोंको ही पकडा जायगा, तो अतिप्रसंग हो जायगा। अर्थात् पचासों प्रमाण मानने पडेंगे। थोडे थोडेसे भेदोंको डाल कर पचासों प्रमाण बन जावेंगे, तब भी पूरा नहीं पडेगा। प्रतिपादक गुरुके द्वारा प्रतिपाद्य शिष्यको सुलभतासे समझानेके लिये प्रमाणोंकी संख्याव्यवस्था नहीं हो सकेगी।

मत्यादिष्ववबोधेषु स्मृत्यादीनामसंग्रहः।
तत्प्रसंख्यात प्रत्यक्षिमानं प्रमाणानां निर्धे॥ १॥

मतिरेव स्मृतिः संज्ञा चिंता वाभिनिबोधकम् ।
नार्थांतरं मतिज्ञानावृतिच्छेदप्रसूतितः ॥ २ ॥

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान, इन उक्त पाच ज्ञानोंमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, आदिकोंका संग्रह नहीं हो सकता है, ऐसी आशंका कर श्री उमास्वामि महाराज स्मृति आदिकोंको मतिज्ञानरूप समझानेके लिये इस " मतिः स्मृतिः संज्ञा चिंताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् " सूत्रको कह रहे हैं । स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, अथवा अनुमान, ज्ञान ये सब मतिज्ञान ही तो हैं । मतिज्ञानसे सर्वथा भिन्न नहीं हैं । क्योंकि अंतरंगकारण मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे स्मृति आदिककी उत्पत्ति होती है ।

यथैव वीर्यान्तरायमतिज्ञानावरणक्षयोपशमान्मतिरवग्रहादिरूपा सूते तथा स्मृत्यादिरपि ततो मत्यात्मकत्वमस्य वेदितव्यम् ।

जिस ही प्रकार वीर्यांतराय और मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणास्वरूप मतिज्ञान उत्पन्न होता है, तिस ही प्रकार स्मृति आदिक भी तिस क्षयोपशमसे उत्पन्न होती हैं । तिस कारण इन स्मृति आदिकको मतिज्ञान आत्मकपना समझ लेना चाहिये ।

इति शद्वात् किं गृह्यते इत्याह;—

इस सूत्रमें कहे गये इति शद्वसे क्या ग्रहण किया गया है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य स्पष्ट उत्तर कहते हैं—

इति शद्वात्प्रकारार्थाद्बुद्धिर्मेधा च गृह्यते ।
प्रज्ञा च प्रतिभाऽभावः संभवोपमिती तथा ॥ ३ ॥

भेदगणनारूप प्रकार अर्थवाले इति शद्वसे बुद्धि, मेधा, प्रतिभा, अभाव, सम्भव और उपमानका तिस ही प्रकार ग्रहण हो जाता है । सूक्ष्मतत्त्वोंका तत्काल विचार करनेवाली मति या इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न हुई मतिको बुद्धि कहते हैं । बहुत दिनोंतक धारण रखनेवाली मति मेधा कही जाती है । आगामी पदार्थोंका विचार करनेवाली बुद्धि प्रज्ञा है । नवीन नवीन उन्मेष जिसमें उठते रहें उस बुद्धिको प्रतिभा कहते हैं । कहींपर पदार्थोंके अभावको बतानेवाले ज्ञानको अभाव प्रमाण कहते हैं । तथा किसीकी संभावनावश अर्थान्तरको जाननेवाला ज्ञान संभव है । आप्तवाक्यार्थका स्मरण कर सादृश्यको या सादृश्यावच्छिन्नको जानना उपमान है । ये सब ज्ञान मतिज्ञानके ही भेदप्रभेद हैं ।

ननु च कथं मत्यादीनामनर्थांतरत्वं व्यपदेशलक्षणविषयप्रतिभासभेदादिति चेत्–

किसीकी शंका है, जब कि मति, स्मृति, आदिकोंका नामनिर्देश न्यारा है। लक्षण भिन्न है, विषय भी भिन्न है, और मति आदि ज्ञानों द्वारा प्रतिभास होना पृथक् है, तो फिर मति आदिकोंको अनर्थान्तरपना कैसे है ? बताओ। ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि ऐसी शंका करोगे तो:—

कथंचिद्व्यपदेशादिभेदेप्येतदभिन्नता।
न विरोधमधिष्ठातुमीष्टे प्रातीतिकत्वतः॥ ४॥

मति, आदिकोंका व्यवहार होना, लक्षण, आदि यद्यपि भिन्न भिन्न हैं, तो भी इनका अभेद है। विरोधको स्थापन करानेके लिये कोई समर्थ नहीं होता है। क्योंकि मति, स्मृति, आदिकोंमें एकसा मनन होना प्रतीतियों द्वारा निर्णीत हो रहा है। ऐसी दशामें छोटे छोटे अंश उपांशोंके भेद विचारे, मूलपदार्थका भेद नहीं करा सकते हैं।

न हि व्यपदेशादिभेदेपि प्रत्यक्षव्यक्तीनां प्रमाणांतरत्वं परेषां, नाप्यनुमानादिव्यक्तीनामनुमानादिता स्वेष्टप्रमाणसंख्यानियमव्याघातात्।

रसना इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष, चक्षु इन्द्रियसे उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष, योगिका प्रत्यक्ष, आदि प्रत्यक्ष व्यक्तियोंके नामसंकीर्त्तन, लक्षण आदिका भेद होते हुए भी प्रत्येक प्रत्यक्षोंको न्यारा न्यारा भिन्न प्रमाणपना दूसरे नैयायिक आदि वादियोंने नहीं स्वीकार किया है। तथा अन्वयी हेतुसे, व्यतिरेकी हेतुसे, एवं पूर्ववत् आदि हेतुओंसे उत्पन्न हुये अनुमान अथवा स्वार्थ अनुमान, परार्थ अनुमानरूपसे अनुमानका इसी प्रकार न्यारे न्यारे शाब्दबोध आदि व्यक्तियों (व्यक्तिपिंडों) का अवान्तर भेद होते हुये भी न्यारा न्यारा अनुमान आगम आदिपना नहीं है। क्योंकि थोडे थोडेसे भेदका लक्ष्य कर यदि भिन्न भिन्न प्रमाण गिनाये जायेंगे तब तो अपने अभीष्ट प्रमाणोंकी संख्याके नियमका व्याघात हो जायगा।

प्रत्यक्षतानुमानादित्वेन वा व्यपदेशादिभेदाभावान्न दोष इति चेत् मतिज्ञानत्वेन सामान्यतस्तदभावादविरोधोस्तु। प्रातीतिकी ह्येतेषामभिन्नता कथंचिदिति न प्रतिक्षेपमर्हति।

सम्पूर्ण प्रत्यक्ष व्यक्तियोंको प्रत्यक्षपना एकसा है। और सभी स्वार्थानुमान, परार्थानुमान व्यक्तियोंको अनुमानपना वैसा ही है। व्याकरण, कोश, आप्तवाक्य आदि द्वारा शक्तिग्रह कर उत्पन्न हुये शाब्दबोधोंको एकसा आगमपना है। इस कारण सामान्यरूपसे व्यपदेश, लक्षण आदिका भेद नहीं है। अतः प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंकी अवान्तर व्यक्तियोंको भिन्न भिन्न प्रमाण बन जानेका दोष नहीं आता है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन भी मानते हैं कि सामान्यरूपसे मतिज्ञानपने करके उन व्यपदेश, लक्षण, आदिकोंका मति, स्मृति आदिमें अभाव है। इस कारण प्रकृतमें कोई विरोध न होओ। इन मति, स्मृति, आदिकोंका कथंचित् अभिन्नपना प्रतीतियोंमें आरूढ हो रहा है। अतः इनके अभेदको खण्डन करनेके लिये कोई समर्थ नहीं है।

कः कस्य प्रकारः स्यादित्युच्यते;—

सूत्रकार द्वारा कंठोक्त कहे गये मति, स्मृति, आदिकोंमेंसे किसके कौनसे मेधा आदिक प्रकार होंगे ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर ग्रन्थकार द्वारा समाधान कहा जाता है।

> बुद्धिर्मतेः प्रकारः स्यादर्थग्रहणशक्तिका।
> मेधा स्मृतेः तथा शब्दस्मृतिशक्तिर्मनस्विनाम् ॥ ५ ॥
> ऊहापोहात्मिका प्रज्ञा चिंतायाः प्रतिभोपमा।
> सादृश्योपाधिके भावे सादृश्ये तद्विशेषणे ॥ ६ ॥
> प्रवर्त्तमाना केषांचिद् दृष्टा सादृश्यसंविदः।
> संज्ञायाः संभवाद्यस्तु लैंगिकस्य तथा गतेः ॥ ७ ॥

अर्थको भले ढंगसे पकडनेकी शक्तिको रखनेवाली बुद्धि तो मतिका प्रकार है। और स्मृतिका प्रकार उत्तम धारण रखनेवाली मेधा है। यह मेधा किन्हीं किन्हीं मनस्वीजीवोंके शब्दोंकी स्मरणशक्तिरूप उत्पन्न होती है। तथा तर्क, वितर्क, स्वरूप प्रज्ञा तो चिंताज्ञानका प्रकार है। एवं प्रतिभाज्ञान भी तर्कज्ञानका प्रकार है। सादृश्य विशेषणसे युक्त पदार्थमें अथवा उस पदार्थके विशेषण हो रहे सादृश्यमें किन्हीं जीवोंके प्रवर्त्त रहा उपमानज्ञान देखा जाता है। सो यह सादृश्यको जाननेवाले संज्ञाज्ञानका प्रकार है। तथा सम्भव, अर्थापत्ति, अभाव आदिक तो लिङ्गजन्य अनुमानज्ञानके भेदप्रभेद हैं। क्योंकि प्रामाणिकोंके यहां तिस प्रकार समीचीन प्रतीति हो रही है।

मतिसामान्यात्मिकापि बुद्धिरिंद्रियानिन्द्रियनिमित्ता सन्निकृष्टार्थग्रहणशक्तिकावग्रहादिमतिविशेषस्य प्रकारः। यथोक्त शब्दस्मरणशक्तिका तु मेधा स्मृतेः। सा हि केषांचिदेव मनस्विनां जायमाना विशिष्टा च स्मरणसामान्यात्।

मतिज्ञान सामान्यस्वरूप भी बुद्धि जो कि इन्द्रिय और अनिन्द्रियके निमित्तसे उत्पन्न हुई है। तथा समवधानको प्राप्त हुये अर्थोंके ग्रहण करनेकी शक्तिसे विशिष्ट है, वह बुद्धि तो अवग्रह, ईहा, आदि विशेष मतिज्ञानोंका प्रकार है। जैसे खंड, मुंड, कपिल, आदिक भेद गौके प्रकार हैं, तथा वैसेके वैसे ही कहे हुये शब्दोंका और उनके वाच्य अर्थोंका ठीक ठीक स्मरणशक्ति रखनेकी शक्तिसे युक्त मेधा तो स्मरणज्ञानका प्रकार है, जैसे कि बढिया चावलोंका प्रकार वासुमती है। वह (मेधा) किन्हीं किन्हीं महामना जीवोंके उत्पन्न हो रही अन्य, सामान्य स्मरणोंसे विशिष्ट होती हुई मेधा कही जाती है।

ऊहापोहात्मिका प्रज्ञा चिंताया प्रकारः प्रतिभोपमा च सादृश्योपाधिके वस्तुनि केषां चिद्वस्तूपाधिके वा सादृश्ये प्रवर्त्तमाना संज्ञायाः सादृश्यप्रत्यभिज्ञानरूपायाः प्रकारः, संभवार्थापत्त्यभावोपमास्तु लैंगिकस्य प्रकारस्तथाप्रतीतेः।

भूत, भविष्यत्, देशांतरवर्ती, स्वभावविप्रकृष्ट, आदि पदार्थोंका समीचीनरूपसे तर्क, वितर्क संकल्प करनास्वरूप प्रज्ञा तो व्याप्तिज्ञानरूप चिंताका प्रकार है। और प्रसाद गुणसे युक्त हुई नवीन नवीन अर्थोंके ज्ञानको उघाडनेवाली प्रतिभा भी चिंताका प्रकार है, जैसे कि अहिंसाके भेद समिति, गुप्ति, आदिक हैं। तथा सादृश्य विशेषणवाली वस्तुमें अथवा गौके विशेषण हो रहे सादृश्यमें किन्हीं किन्हीं जीवोंके प्रवर्त्त रहा उपमान तो सादृश्यका प्रत्यभिज्ञान करनेवाली संज्ञाका प्रकार है। अर्थात् गौके सदृश गवय होता है। इस वृद्धवाक्यका स्मरण कर अरण्यमें रोझको देखता हुआ पुरुष अनेन सदृशो गौः इसके सदृश गौ है, अथवा इसका सादृश्य गौमें है, गवय-निरूपितं गोनिष्ठं सादृश्यं ऐसा उपमान ज्ञान कर लेता है। ये दोनों प्रकारकी उपमायें संज्ञाका प्रभेद हैं। जैसे कि मिष्टान्नके मोदक, पेडा, बर्फी, मगद, आदिक प्रभेद हैं। सम्भवज्ञान, अर्थापत्ति, अभाव प्रमाण, और कोई कोई उपमानप्रमाण तो लिङ्गजन्य अनुमानके भेद प्रभेद हैं। जैसे कि आमोंका प्रकार लंगडा, मालदा, तोताफरी, हाथी झूल, कलमी, आदि हैं। क्योंकि तिस प्रकार प्रतीतिमें आ रहे हैं।

प्रत्येकमिति शब्दस्य ततः संगतिरिष्यते।
समाप्तौ चेति शब्दोयं सूत्रेस्मिन्न विरुध्यते ॥ ८ ॥

तिस कारण प्रकार अर्थवाले इति शब्दकी मति, स्मृति आदि प्रत्येकमें संगति कर लेना इष्ट की गई है। तभी तो मति आदिके उक्त प्रकार संभवते हैं। तथा समाप्ति अर्थमें प्रवर्त्त रहा यह इति शब्द भी इस सूत्रमें कोई विरोधको प्राप्त नहीं हो रहा है। इस प्रकार मतिज्ञान समाप्त हो गया यह अर्थ भी ठीक है। थोडे शब्दोंमें बहुत अर्थोंको प्रतिपादन करनेवाले सूत्रकारको यह भी अर्थ अभीष्ट है।

मतिरिति स्मृतिरिति संज्ञेति चिंतेत्याभिनिबोध इति प्रकारो न तदर्थान्तरमेव मतिज्ञानमेकमिति ज्ञेयं। मत्यादिभेदं मतिज्ञानं मतिपरिसमाप्तं तद्भेदानामन्येषामत्रैवांतर्भावादिति व्याख्येयं गत्यंतरासंभवात् तथा विरोधाभावाच्च।

कौओंसे दहीकी रक्षा करना यहां कौआ पदसे दहीको विगाडनेवाले चील, बिल्ली, कुत्ता आदिका उपलक्षण है। इसी ढंगसे मति इस प्रकारके ज्ञान, स्मृति, इस प्रकारके और भी ज्ञान, संज्ञा इस प्रकारके अन्यज्ञान, चिंताकी जातिके ज्ञान, और अनुमानके भेदप्रभेदरूपज्ञान, ये सब

प्रकारके ज्ञान उस मतिज्ञानसे भिन्न नहीं हैं, एक मतिज्ञानरूप ही हैं, यह समझलेना चाहिये। अथवा इति शद्बका समाप्ति अर्थ कर मति, स्मृति, आदि भेदवाला मतिज्ञान चारों ओरसे मतिद्वारा समाप्त हो चुका है। उस मतिके अन्य भेद प्रभेदोंका मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता, अभिनिबोध इन पांचोंमें अन्तर्भाव हो जाता है। ऐसा भी व्याख्यान करलेना चाहिये। अन्य उपायोंका असम्भव है तथा सिद्धान्तसे कोई विरोध नहीं है।

स्मृतिरप्रमाणमेव सा कथं प्रमाणेतर्भवतीति चेन्न, तदप्रमाणत्वे सर्वशून्यतापत्तेः। तथाहि—

कोई शंका उठाता है कि गृहीतपदार्थको ही ग्रहण करनेवाला स्मरणज्ञान तो अप्रमाण ही है। भला वह प्रमाणोंमें कैसे गर्भित हो सकता है ? आचार्य कहते हैं कि इस प्रकारका पूर्वपक्ष नहीं करना। क्योंकि उस स्मरणको अप्रमाणपना माननेपर सभी प्रमाण और प्रमेयोंके शून्यपनका प्रसंग होता है। इसी अर्थको विशदकर कहते हैं।

स्मृतेः प्रमाणतापाये संज्ञाया न प्रमाणता।
तदप्रमाणतायां तु चिंता न व्यवतिष्ठते ॥ ९ ॥
तदप्रतिष्ठितौ क्वानुमानं नाम प्रवर्तते।
तदप्रवर्तनेध्यक्षप्रामाण्यं नावतिष्ठते ॥ १० ॥
ततः प्रमाणशून्यत्वात्प्रमेयस्यापि शून्यता।
सापि मानाद्विना नेति किमप्यस्तीति साकुलम् ॥ ११ ॥

स्मरणज्ञानको प्रमाणपना नहीं माननेपर प्रत्यभिज्ञानको प्रमाणपना नहीं आता है। क्योंकि प्रत्यभिज्ञान करनेमें स्मरणज्ञान कारण है। अप्रमाण ज्ञानसे तो प्रमाणज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है। तथा उस प्रत्यभिज्ञानको अप्रमाणपना होनेपर तो चिंताज्ञान व्यवस्थित नहीं हो पाता है। कारण कि चिंताज्ञानमें प्रत्यभिज्ञान कारण पडता है। इसी प्रकार व्याप्तिज्ञानरूप चिंताकी प्रतिष्ठा नहीं होनेपर भला अनुमान ज्ञान कहा प्रवर्त्तसकता है ? अनुमानके आत्मलाभ करनेमें व्याप्तिज्ञान कारण पडता है तथा उस अनुमानकी कहीं भी प्रवृत्ति न होनेपर प्रत्यक्षोंको प्रमाणपना नहीं ठहर पाता है। तिस कारण सभी ज्ञापकप्रमाणोंकी शून्यता हो जानेसे प्रमेयपदार्थोंकी भी शून्यता हो हो जायगी और वह शून्यवादियोंकी शून्यता भी प्रमाणके विना नहीं सिद्ध हो पाती है। इस प्रकार " कुछ भी तत्त्व है " इस व्यवस्थाको करनेके लिये बडी भारी आकुलता मच जायगी। किया कराया सर्व नष्ट हुआ जाता है।

तस्मात्प्रवर्त्तकत्वेन प्रमाणत्वेऽत्र.कस्यचित् ।
स्मृत्यादीनां प्रमाणत्वं युक्तमुक्तं च कैश्चन ॥ १२ ॥
अक्षज्ञानैरनुस्मृत्य प्रत्यभिज्ञाय चिंतयेत् ।
आभिमुख्येन तद्भेदान् विनिश्चित्य प्रवर्त्तते ॥ १३ ॥

तिस कारण यहां प्रकरणमें अर्थमें प्रवृत्तिको करानेवाला होनेसे किसी ज्ञानको यदि प्रमाणपना माना जायगा तब तो स्मृति, संज्ञा, आदिकोंको भी प्रमाणपना बन जायगा, यह किन्हीं प्रविष्ट विद्वानोंके द्वारा कहा गया मन्तव्य युक्तिपूर्ण है। इन्द्रियजन्य ज्ञानों करके मोदक आदि अर्थोंमें प्रवृत्ति होती है। उतरते समय नसेनीके डन्डोंका स्मरण कर मनुष्य पग धरनेमें प्रवृत्ति करता है। रोगी पुरुष पूर्वमें आरोग्य करा चुकी औषधिका प्रत्यभिज्ञान कर अवयवी पिण्डमेंसे थोडीसी निकाली हुई उसी औषधिका अथवा उसके सदृश बनायी हुई दूसरी औषधिका सेवन करता है। तर्कज्ञानोंसे धूम, अग्नि, आदिका साहचर्य ग्रहणकर चिंता करेगा और उसके योग्य कार्यको करेगा तथा अर्थकी अभिमुखता करके उसके भेदोंका विशेष निश्चयकर अग्नि आदि साध्यमें अनुमान द्वारा प्रवृत्ति करता है। तथा आप्तवाक्यद्वारा वाच्य अर्थका निर्णयकर देशांतरको गमन करने या रसायन बनानेमें प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार साक्षात् या परंपरासे प्रवृत्ति करादेनापन स्मृति आदिकोंकी प्रमाणताका भी प्रयोजक हो जावेगा, कोई निषेधक नहीं है।

अक्षज्ञानैर्विनिश्चित्य प्रवर्तत इति यथाप्रत्यक्षस्य प्रवर्तकत्वमुक्तं तथा स्मृत्वा प्रवर्तत इति स्मृतेरपि प्रत्यभिज्ञाय प्रवर्तत इति संज्ञाया अपि चिन्तयन् तत् प्रवर्तत इति तर्कस्यापि आभिमुख्येन तद्भेदान् विनिश्चित्य प्रवर्तत इत्यभिनिवोधस्यापि ततस्ततः प्रतिपत्तुः प्रवृत्ते-र्यथाभासमाकांक्षानिवृत्तिघटनात् ।

इन्द्रियजन्य ज्ञानों द्वारा विशेष निश्चय करके दृष्टा जीव भोजन आदिमें प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार जैसे प्रत्यक्षको प्रवर्त्तकपना कहा है, तिस ही प्रकार स्मृतिज्ञानसे भी पदार्थका स्मरणकर जीव प्रवर्त्तता है। अतः स्मृतिको भी प्रवर्त्तकपना हो जाओ। प्रत्यभिज्ञान कर भी प्रवृत्ति करता है, अतः संज्ञाको भी प्रवर्त्तकपना हो जाओ। उस प्रत्यभिज्ञानसे जाने हुये की चिंतना करता हुआ प्रवृत्ति करता है। इस ढंगसे तर्कको भी प्रवर्त्तकपना होजाओ। तथा व्याप्तिज्ञानसे संबंधका ग्रहणकर अभिमुखपने करके उसके भेदोंका विशेष निश्चय कर अनुमाता प्रवर्त्त रहा है। इस कारण अभि-निवोध यानी स्वार्थानुमानको भी प्रवर्त्तकपना है। तिस तिस ज्ञानसे प्रतीति करनेवाले प्रतिपत्ताकी प्रवृत्ति हो रही है। प्रतिभासका अतिक्रमण नहीं कर यानी स्मृति आदिकोंसे हुये प्रतिभासोंके अनुसार आकांक्षाओंकी निवृत्ति होना घटित हो रहा है। जिज्ञासित पदार्थकी आकाक्षाको निवृत्ति

करना स्मृति आदिक ज्ञानों द्वारा साध्य कार्य है। अतः प्रवर्तकपना स्मृति आदिकोंमें है। हां, प्रत्यक्षके प्रवर्तकत्वमें जैसे आकांक्षा, योग्यता, पुरुषार्थजन्यप्रवृत्ति, प्राप्ति ये मध्यमें होते हुये आवश्यक हैं, वैसे ही स्मृति आदिकोंके प्रवर्तकपनेमें भी आकांक्षा आदिको मध्यवर्ती मानना चाहिये। नहीं तो प्रवृत्ति होने योग्य विषयका उपदर्शन करा देना ही ज्ञानका प्रवर्तकपना है। यह ज्ञानके गांठकी तो इतनी टेव कहीं नहीं जायगी। प्रवृत्ति विषयार्थोपदर्शकत्वेन प्रमाणस्यार्थप्रापकत्वं।

तत्र प्रत्यक्षमेव प्रवर्तकं प्रमाणं न पुनः स्मृतिरिति मतमुपालभते।

तिन ज्ञानोंमेसे एक प्रत्यक्षप्रमाण ही प्रवर्तक है। फिर स्मृति आदिक तो अर्थमें प्रवृत्ति करानेवाले नहीं हैं। इस मन्तव्यके ऊपर आचार्य उलाहना देते हैं कि—

> **अक्षज्ञानैर्विनिश्चित्य सर्व एव प्रवर्त्तते।**
> **इति ब्रुवन् स्वचित्तादौ प्रवर्त्तत इति स्मृतेः॥ १४॥**

सम्पूर्ण ही जीव इन्द्रियजन्य ज्ञानों करके पदार्थोंका विशद निश्चयकर प्रवृत्ति करते हैं, इस प्रकार कहरहा बौद्ध अपने आत्मा, शरीर, आदिमें स्मृतिसे भी प्रवृत्ति कररहा है। इस कारण स्मृति भी प्रवर्तिका हुई। अर्थात् देवदत्त दर्पणमें देखी हुई अपनी सूरत मूरतका स्मरणकर चित्रमें अपने प्रतिबिम्बको देखता हुआ अपना स्मरण करलेता है। पहिली बाल्य कुमार अवस्थाओंका या शरीरके अनेक भागोंका स्मरणकर प्रवृत्ति करता है। पूर्वके ज्ञानोंका या विचारोंका स्मरणकर वही, खातेके अनुसार देना लेना करता है। ध्यान, भावना, शोक, अभीष्टप्राप्ति, आदि प्रवृत्तियोंमें स्मृति ही कारण है।

कथम्—

तो फिर बौद्धोंने स्मृतिको प्रवर्त्तक कैसे नहीं माना? बताओ। उन्हे तो एक एक पद चलनेमें स्मृतिको प्रवर्त्तक कहना पडेगा। अन्यथा स्वकीयचित्त आदिमें स्मृतिसे भला प्रवृत्ति किस प्रकार हो सकेगी?।

> **गृहीतग्रहणात्तत्र न स्मृतेश्चेत्प्रमाणता।**
> **धारावाह्यक्षविज्ञानस्यैवं लभ्येत केन सा॥ १५॥**
> **विशिष्टस्योपयोगस्याभावे सापि न चेन्मता।**
> **तद्भावे स्मरणेऽप्यक्षज्ञानवन्मानतास्तु नः॥ १६॥**

तिन प्रमाणोंके प्रकरणमें स्मृतिको गृहीतका ग्रहण करनेवाली होनेसे यदि प्रमाणपना नहीं मानोगे तो इस प्रकार धारावाहि इन्द्रियज्ञानको वह प्रमाणपना किस करके प्राप्त हो सकेगा ? बताओ। इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि विशिष्ट उपयोगके न होनेपर धारावाहिकज्ञानको वह प्रमाणपना भी नहीं माना गया है, ऐसा कहनेपर तो हम कहते हैं कि हम स्याद्वादियोंके यहां भी स्वार्थकी विशिष्ट नवीन ज्ञप्ति हो जानेपर स्मरणमें भी आद्य इन्द्रियजन्य ज्ञानके समान प्रमाणपना ठहर जाओ।

स्मृत्या स्वार्थं परिच्छिद्य प्रवृत्तौ न च बाध्यते।
येन प्रेक्षावतां तस्याः प्रवृत्तिर्विनिवार्यते ॥ १७ ॥

स्मरण ज्ञानके द्वारा स्व और अर्थकी ज्ञप्तिकर प्रवृत्ति होनेमें कोई भी जीव बाधाको प्राप्त नहीं होता है, जिससे कि उस स्मृतिसे विचारशाली जीवोंकी घट, पट, आदिमें प्रवृत्ति चलाकर निवारण करदी जाय।

स्मृतिमूलाभिलाषादेर्व्यवहारः प्रवर्तकः।
न प्रमाणं यथा तद्वदक्षधीमूलिका स्मृतिः ॥ १८ ॥
इत्याचक्षाणिकोनुमानं मामंस्त पृथक्प्रमा।
प्रत्यक्षं तद्धि तन्मूलमिति चार्वाकतागतिः ॥ १९ ॥

स्मरणज्ञानको प्रमाण नहीं माननेवाले बौद्ध या वैशेषिक कहते हैं कि स्मृतिको कारण मान कर हुयीं अभिलाषा, पुरुषार्थ, क्रिया, आदिकसे उत्पन्न हुआ व्यवहार यद्यपि प्रवर्त्तक है तो भी प्रमाण नहीं हैं। क्योंकि ये जड हैं यह जैन भी मानते हैं। अथवा स्मृतिको मूल कारण रखते हुये भी प्रमाण नहीं हैं। उन्हींके समान इन्द्रियजन्य ज्ञानको मूलकारण स्वीकारकर उत्पन्न हुई स्मृति भी प्रमाण नहीं है। भले ही वह अर्थमें प्रवृत्ति करानेवाली हो, क्योंकि जिस ज्ञान या जड व्यवहारोंका मूलकारण ज्ञान पड चुका है, उस गृहीतग्राही ज्ञानको या ज्ञानजन्य व्यवहारोंको हम प्रमाण नहीं मानते हैं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बडे आटोपके साथ बखान रहा वैशेषिक या बौद्धवादी अनुमानको भी पृथक्प्रमाण नहीं माने। क्योंकि उस अनुमानका भी मूल कारण वह प्रत्यक्ष प्रमाण ही है। हेतुको जाननेमें या पक्षको ग्रहण करनेमें प्रत्यक्षकी आवश्यकता है। दृष्टान्तमें व्याप्तिग्रहण किये गये हेतुके सारिखा ही यह दृश्यमान हेतु है। इस प्रत्यभिज्ञानकी भी अनुमानमें आवश्यकता है। व्याप्तिका स्मरण भी कारण है। प्रत्यक्ष तो प्रसिद्धरूपसे कारण हो ही रहा है। इस प्रकार इस नैयायिक या मीमांसक अथवा बौद्धको चार्वाकपना प्राप्त हो जाता है। क्योंकि चार्वाक ही उन ज्ञानोंको प्रमाण नहीं मानता है, जिनमें कि प्रत्यक्षज्ञान कारण हो जाता है। ऐसी दशामें स्मृति, संज्ञा, चिंता, आदिक भला प्रमाण कहां ठहर सकते हैं ? किसी भी ज्ञान

द्वारा जिसका विषय गृहीत नहीं हुआ (अछूता) होय, उसीको प्रमाता माननेका यह आग्रह तो चार्वाक बनजानेपर ही शोभता है ।

योपि प्रत्यक्षमनुमानं च प्रवर्तकं प्रमाणमिति मन्यमानः स्मृतिमूलस्याभिलाषादेरिव व्यवहारप्रवृत्तेर्हेतोः प्रत्यक्षमूलस्मरणस्यापि प्रमाणतां प्रत्याचक्षीत सोनुमानमपि प्रत्यक्षात्पृथक्प्रमाणं मामंस्त तस्य प्रत्यक्षमूलत्वात् । न ह्यप्रत्यक्षपूर्वकमनुमानमस्ति । अनुमानांतरपूर्वकमस्तीति चेन्न, तस्यापि प्रत्यक्षपूर्वकत्वात् । सुदूरमपि गत्वा तस्याप्रत्यक्षपूर्वकत्वेऽनवस्थाप्रसंगात् । तत्पूर्वकत्वे सिद्धे प्रत्यक्षपूर्वकमनुमानमिति न प्रमाणं स्यात् । ततश्च बाधकत्वमासिरस्य ।

जो भी वादी प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रवृत्ति करा देनेवाले प्रमाण हैं, इस प्रकार मान रहा है, और मूलभूत-स्मृतिके निमित्त कारणसे हुयीं अभिलाषा आदिकसे व्यवहारकी प्रवृत्ति होती है । उसके हेतु अभिलाषा आदिको जैसे प्रमाणपना नहीं माना गया है, वैसे ही प्रत्यक्षको मूल कारण स्थापकर हुये स्मरणकी भी प्रमाणताका प्रत्याख्यान करेगा । वह बौद्ध तो अनुमानको भी प्रत्यक्षसे न्यारा प्रमाण नहीं मान सकेगा । क्योंकि उस अनुमानका मूलकारण प्रत्यक्ष है । प्रत्यक्षको कारण नहीं मानता हुआ कोई भी अनुमान संसारमें नहीं है । यदि कोई यहां यों कहे कि अनुमानके पीछे होनेवाला दूसरा अनुमान तो प्रत्यक्षपूर्वक नहीं है । धूमका प्रत्यक्ष कर उत्पन्न हुये अग्निके अनुमानसे पुनः उस स्थानकी उष्णताका अनुमान होता है । प्रकृत देशसे देशांतरमें गमन करनेसे सूर्यमें गतिका अनुमान कर, पुनः उस अनुमानसे सूर्यमें अतीन्द्रिय गमनशक्तिका अनुमान किया जाता है । लोकव्यवहारमें भी कहीं कहीं चार, पाचतक अनुमानों करके वस्तुका निर्णय करते हैं । अतः सभी अनुमान तो प्रत्यक्षपूर्वक नहीं हुये, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि दूसरे, तीसरे आदि अनुमानका भी परम्परासे कारण हो रहा प्रत्यक्ष ही है । बहुत दूर भी जाकर उस अनुमानको यदि प्रत्यक्षपूर्वक नहीं माना जायगा तो अनवस्था दोषका प्रसंग होगा । क्योंकि व्याप्ति या हेतुको अनुमान द्वारा जानते जानते आकांक्षाकी निवृत्ति नहीं होवेगी । हां, यदि दूर भी जाकर किसी अनुमानके पूर्वमें हुये प्रत्यक्षको कारणपना सिद्ध मानलोगे तो प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान बन गया । इस प्रकार वह अनुमान अब आपके विलक्षण विचार अनुसार प्रमाण नहीं हो सकेगा । और तैसा होनेसे इस बौद्धवादीको अपने ही मतका स्वयं बाधकपना प्राप्त होता है । अनुमानप्रमाण हाथसे निकला जाता है ।

स्वार्थप्रकाशकत्वेन प्रमाणमनुमा यदि ।
स्मृतिरस्तु तथाभिलाषादिस्तदभावतः ॥ २० ॥

स्व और अर्थका प्रकाशकपना होनेसे यदि अनुमानको प्रमाण कहोगे तब तो तिसी प्रकार स्वपरप्रकाशक होनेसे स्मृति भी प्रमाण हो जाओ। हां, ज्ञानभिन्न अभिलाषा, पुरुषार्थ, आदिक तो उस स्वार्थके प्रकाशकपनका अभाव हो जानेसे प्रमाण नहीं हो सकते हैं, अचेतन पदार्थ प्रमाण नहीं हैं।

स्वार्थप्रकाशकत्वं प्रवर्त्तकत्वं न तु प्रत्यक्षार्थप्रदर्शकत्वं नाप्यर्थाभिमुखगतिहेतुत्वं तच्चानुमानस्यास्तीति प्रमाणत्वे स्मरणस्य तदस्तु त एव नाभिलापादेस्तदभावात्। न हि यथा स्मरणं स्वार्थस्मर्तव्यस्यैव प्रकाशकं तथाभिलाषादिस्तस्य मोहोदयफलत्वात्।

स्व और अर्थका प्रकाशकपना ही ज्ञानमें प्रवर्त्तकपना है। प्रत्यक्ष किये गये अर्थकी प्राप्तिमें उपयोगी झाकी करा देनापन ज्ञानकी प्रवर्त्तकता नहीं है। तथा अर्थकी ओर सन्मुख गति करानेका कारणपना भी ज्ञानकी प्रवर्त्तकता नहीं है। सर्वज्ञ प्रत्यक्षसे या अष्टमहानिमित्त, ज्योतिष, मंत्र, स्वप्न आदि ज्ञानोंसे भूत, भविष्यत् या देशान्तरोंके पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है। उनकी प्रदर्शिनी या उनको पकडनेके लिये गति तो नहीं होती है। अतः स्वार्थका प्रकाश कर देना ही ज्ञान द्वारा साध्य कार्य है। वस्तुतः ज्ञान करा देना ही गुरुतर कार्य था। धनार्थीको धन दीख जाना ही अत्यन्त कठिन कार्य है। उसका प्राप्त करलेना तो अतीव सुलभ है। सो वह स्वार्थका प्रकाशकपन अनुमानके भी है। इस कारण यदि अनुमानको प्रमाण माना जायगा तो तिस ही कारण स्मरणको भी वह प्रमाणपना व्यवस्थित हो जाओ। हां, अभिलाषा चलना, हाथ पसारना, आदिक तो प्रमाण नहीं है। क्योंकि उनमें स्व और अर्थका प्रतिभास करादेनापन नहीं है। देखिये, जैसे स्मृति स्मरण करने योग्य स्वार्थोंकी ही प्रकाशिका है, तिस प्रकार अभिलाषा, रति, लोभवृत्ति आदिक परिणतियां स्वार्थोंकी ज्ञप्ति नहीं करा पाती हैं। क्योंकि वे अभिलाषा आदिक तो मोहनीयकर्मके उदय होनेपर आत्माके विभावभावरूप फल हैं। ज्ञानस्वरूप या चेतनस्वरूप पदार्थ नहीं है। किन्तु स्वार्थोंका प्रकाश करना तो ज्ञानावरणके क्षयोपशम या क्षय हो जानेपर आत्मका स्वभाविक परिणाम है।

समारोपव्यवच्छेदस्समः स्मृत्यनुमानतः।
स्वार्थे प्रमाणता तेन नैकत्रापि निवार्यते ॥ २१ ॥

स्मृतिज्ञान, और अनुमानज्ञानसे समारोपका व्यवच्छेद होना भी समान है। तिस कारण स्वार्थोंके जाननेमें प्रमाणपना दोनोंमेंसे किसी एकमें भी नहीं रोका जा सकता है। अर्थात् संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, अज्ञान, स्वरूप समारोपका व्यवच्छेद करनेवाले होनेसे स्मृति, और अनुमान दोनों भी प्रमाण हैं।

यथा चानुमायाः क्वचित्प्रवृत्तस्य समारोपस्य व्यवच्छेदस्तथा स्मृतेरपीति युक्तमुभयोः प्रमाणत्वमन्यथाऽप्रमाणत्वापत्तेः ।

एक बात यह भी है कि किसी विषयमें प्रवर्त्त रहे समारोपका निवारण करना जिस प्रकार अनुमान प्रमाणसे हो जाता है, उसी प्रकार स्मृतिसे भी समारोपका व्यवच्छेद हो जाता है, इस कारण दोनोंको प्रमाणपना युक्त है। अन्यथा एक साथ दोनोंको भी अप्रमाणपनेका प्रसंग होगा, अर्थात् जैसे स्मृति अप्रमाण है, वैसे अनुमान भी अप्रमाण हो जायगा।

स्मृतिरनुमानत्वेन प्रमाणमिष्टमेव नान्यथेति चेत् ।

कोई पूर्वपक्ष करता है कि स्मृतिको हम न्यारा तीसरा प्रमाण नहीं मानते हैं। किन्तु आवश्यक माने जा चुके अनुमान प्रमाणपनेसे स्मृतिज्ञानको हम प्रमाण ही इष्ट करते हैं। दूसरे प्रकारोंसे नहीं, इस प्रकार पक्ष करनेपर तो आचार्य उत्तर कहते हैं।

स्मृतिर्न लैंगिकं लिंगज्ञानाभावेपि भावतः ।
संबंधस्मृतिवन्न स्यादनवस्थानमन्यथा ॥ २२ ॥
परापरानुमानानां कल्पनस्य प्रसंगतः ।
विवक्षितानुमानस्याप्यनुमानांतराज्जनौ ॥ २३ ॥

स्मृतिज्ञान (पक्ष) अनुमानप्रमाण नहीं है (साध्य)। क्योंकि व्याप्तिग्रस्त हेतुका ज्ञान न होने पर भी स्मरणज्ञानका सद्भाव देखा जाता है (हेतु)। जैसे कि साध्य और साधनके सम्बन्धरूप व्याप्तिका स्मरण करना अनुमान ज्ञान नहीं है (दृष्टान्त)। यदि ऐसा नहीं होगा तो दूसरे प्रकारोंसे माननेपर अनवस्था होगी। अर्थात् अन्यथा यानी व्याप्ति स्मरणको भी यदि अनुमानरूप माना जायगा तो उस अनुमानमें भी व्याप्ति स्मरणकी आवश्यकता होगी और वह व्याप्तिस्मरण भी तीसरा अनुमान पडेगा। उस तीसरे अनुमानके उठानेके लिये चौथे व्याप्तिस्मरणरूप अनुमान आदिकी आवश्यकता बढती ही जावेगी। इस ढंगसे अनवस्था दोष होगा। क्योंकि विवक्षा प्राप्त हुये अनुमानकी भी अन्य अनुमानोंसे उत्पत्ति माननेपर उत्तरोत्तर अनेक अनुमानोंकी कल्पनाका प्रसंग होता ही चला जायगा।

संबंधस्मृतेर्ह्यनुमानत्वे स्मर्तव्यार्थेन लिंगेन भाव्यं तस्य तेन संबंधस्त्वभ्युपगन्तव्यस्तस्य च स्मरणं परं तस्याप्यनुमानत्वे तथेति परापरानुमानानां कल्पनादनवस्था । न ह्यनुमानांतरादनुमानस्य जनने क्वचिदवस्था नाम ।

जब कि अविनाभाव संबंधकी स्मृतिको अनुमानप्रमाण मानोगे तो स्मरण करने योग्य अर्थके

साथ व्याप्ति रखनेवाला दूसरा हेतु होना चाहिये तभी तो अनुमान उत्पन्न होगा। उसका भी अपने साध्यके साथ संबंध तो स्वीकार करना ही चाहिये। संबंधके विना कोरा हेतु तो साध्यका ज्ञापक नहीं होता है। फिर उस संबंधका स्मरण भी न्यारा मानना होगा। उस संबंधस्मरणको भी अनुमान प्रमाण कहोगे तो फिर तिस प्रकार अनुमानके लिये भी अन्य व्याप्ति स्मरणरूप अनुमानोंकी उत्थान आकांक्षाकी डोर द्रोपदीके चीरसमान बढती ही चली जायगी। इस प्रकार आगे आगे होनेवाले अनुमानोंकी कल्पना करनेसे अनवस्था होगी। देखो भाई, दूसरे अनुमानसे अनुमानकी उत्पत्ति होना माननेमें कहीं भी ठहरना नहीं हो पाता है।

सा संबंधस्मृतिरप्रमाणमेवेति चेत्।

कोई कहरहा है कि वह साधन और साध्यके संबंधकी स्मृति तो अप्रमाण ही है। अप्रमाण ज्ञानसे भी अनुमानप्रमाणकी उत्पत्ति हो सकती है। जैसे कि जड इन्द्रियोंसे चेतनप्रत्यक्ष उत्पन्न हो जाता है। पहिले सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति तो मिथ्याज्ञानसे हुई माननी ही पडेगी। दरिद्रोंकी संतान सेठ और मूर्खोंकी सन्तान पण्डित हो जाती है। अकटक सुवर्णसे कटक सुवर्ण उत्पन्न हो जाता है। कीचसे कमल और खानकी मट्टीसे सोना उपजाता है। ऐसे ही अप्रमाणसे प्रमाण उत्पन्न हो जायगा। हमने व्याप्ति ज्ञानको अप्रमाण माना है। व्याप्तिके स्मरणको भी हम प्रमाण नहीं मानते हैं। आचार्य कहते हैं कि यदि इस प्रकार वैशेषिक कहेंगे तो इसका उत्तर सुनिये।

नाप्रमाणात्मनो स्मृत्या संबंधः सिद्धिमृच्छति।
प्रमाणानर्थकत्वस्य प्रसंगात्सर्ववस्तुनि ॥ २४ ॥

अप्रमाणस्वरूप स्मृति करके साध्य और साधनका अविनाभाव संबंध तो सिद्धिको प्राप्त नहीं होसकता है। क्योंकि यदि अप्रमाणज्ञानोंसे ही अर्थका निर्णय होने लगे तो सम्पूर्ण वस्तुमें यानी वस्तुओंका निर्णय करनेके लिये प्रमाणज्ञानके व्यर्थ हो जानेका प्रसंग होगा। भावार्थ—अप्रमाणसे प्रमाणकी उत्पत्ति मान भी ली जाय एतावता अप्रमाणका विषय तो वस्तुभूत नहीं जाना जा सकता है। अनुमानके लिये व्याप्तिका जानना आवश्यक है। उस संबंधरूप व्याप्तिका सत्यज्ञान तो अनुमानसे नहीं हो सकता है। मिथ्याज्ञानसे बालूको मिट्टी या जल समझकर उससे घडा या पिपासा दूर करना कार्य तो नहीं बन पाता है। यहां तो कार्य करनेवाले वस्तुभूत पदार्थ चाहिये।

न ह्यप्रमाणात् प्रमेयस्य सिद्धौ प्रमाणमर्थवन्नाम। न चाप्रमाणात् किंचित्सिद्ध्यति किंचिन्नेत्यर्धजरतीन्यायः श्रेयान् सर्वत्र तद्विशेषाभावात्।

अप्रमाणसे ही प्रमेयकी सिद्धि होना माननेपर प्रमाणज्ञान तो भला नाममात्रको भी सफल नहीं हो पाता है। यहां यदि कोई यों कहें कि कुछ पदार्थोंकी सिद्धि तो अप्रमाण ज्ञानसे हो

जाती है, और किन्हीं पदार्थोंकी सिद्धि अप्रमाण ज्ञानोंसे नहीं हो पाती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार अर्धजरतीयन्याय तो श्रेष्ठ नहीं है। क्योंकि सभी स्थलोंपर उस अर्थकी स्वपरपरिच्छित्ति स्वरूप सिद्धि करानेवाले पदार्थमें कोई विशेषता नहीं है। भावार्थ—आधे अर्थोंकी प्रमाणसे सिद्धि होना मानना और शेष आधे अर्थोंकी अप्रमाणसे सिद्धि मानना उचित नहीं है, जैसे कि आधी बुड्ढी स्त्रीका अपनेको युवती समझना अनीति है। सूर्यके प्रकाश या मेघ वर्षणके सामान्य न्याय सर्वत्र एकसा होता है। अर्थकी समीचीनज्ञप्ति प्रमाणोंसे ही होती है। इसमें अकाण्डताण्डव कर मठा बढाना व्यर्थ है।

स्मृतिस्तदिति विज्ञानमर्थातीते भवत्कथम्।
स्यादर्थवदिति स्वेष्टं याति बौद्धस्य लक्ष्यते॥ २५॥
प्रत्यक्षमर्थवन्न स्यादतीतेर्थे समुद्भवत्।
तस्य स्मृतिवदेवं हि तद्वदेव च लैंगिकम्॥ २६॥

सौगत कहता है कि "सो वह था" इस प्रकार विज्ञान करना स्मरण है। वह स्मरण अर्थके अतिक्रान्त हो जानेपर उत्पन्न होता हुआ भला अर्थवान् कैसे होगा? अर्थात् विषयभूत अर्थके भूतकालके पेटमें व्यतीत हो जानेपर स्मरण होता है। उसका ज्ञेय अर्थ वर्त्तमानमें नहीं रहा। फिर स्मरणज्ञानको जैन अर्थवान् कैसे मान सकते हैं। आचार्य बोलते हैं कि इस प्रकार कहनेपर तो बौद्धका अपना गाठका अभीष्ट सिद्धान्त भी चला जाता है, ऐसा ध्वनित होता है। देखिये, बौद्धोंने प्रत्यक्षज्ञानका कारण स्वलक्षण अर्थको माना है। कार्यसे एक क्षण पूर्वमें समर्थ कारण रहा करता है। क्षणिकवादी बौद्धोंके यहां कार्य और कारणका एक ही क्षणमें ठहरना तो नहीं बनता है। प्रत्यक्षज्ञानके उत्पन्न होनेपर उसका कारण स्वलक्षण अर्थ नष्ट हो चुका है। अतः अर्थके अतीत हो जानेपर उस बौद्धके यहां इस प्रकार भले ढंगसे उत्पन्न हो रहा प्रत्यक्षप्रमाण भी स्मृतिके समान अर्थवान् न हो सकेगा। अनेक वर्ष पहिले मरे हुये पुरुषके समान एक क्षण प्रथम मरा हुआ मनुष्य भी धन उपार्जन नहीं कर सकता है। तथा उस प्रत्यक्षके ही समान अनुमानज्ञान भी अतीत अर्थके होनेपर उत्पन्न हुआ सन्ता अर्थवान् नहीं हो सकेगा। निर्विषयज्ञान तो प्रमाण नहीं है।

नार्थाज्जन्मोपपद्येत प्रत्यक्षस्य स्मृतेरिव।
तद्वत्स एव तद्भावादन्यथा न क्षणक्षयः॥ २७॥

स्मृतिका जैसे अर्थसे जन्म होना युक्तिपूर्ण नहीं है, उसीके समान प्रत्यक्षकी उत्पत्ति भी अर्थसे मानना अनुचित है। स्मृति जैसे विना भी अर्थके हो जाती है, वैसे ही वह प्रत्यक्ष भी

अर्थके विना हो जाता है। देखो, रजतके नहीं होते हुये भी सीपमें रजतका ज्ञान हो जाता है। सर्वज्ञको भूत, भविष्य, पर्यायोंका प्रमाण आत्मक प्रत्यक्ष हो रहा है। यह व्यतिरेक व्यभिचार हुआ। अर्थके विना भी ज्ञान हो गया। आप बौद्ध विचारें तो सही कि पूर्वक्षणवर्ती अर्थको कारण मानकर उसके सद्भावसे यदि प्रत्यक्ष उत्पन्न होगा, तब तो सम्पूर्ण प्रत्यक्ष अर्थके नहीं विद्यमान होनेपर ही हुये, अन्यथा यानी कार्यकालमें कारणकी सत्ता मानी जायगी, तब व्यतिरेक व्यभिचार तो टल जायगा, किन्तु आपका माना हुआ क्षणिकपनेका सिद्धान्त गिर गया। क्योंकि दो, तीन, आदि क्षणोंतक स्वलक्षणतत्त्व ठहर गया।

अर्थाकारत्वतोध्यक्षं यदर्थस्य प्रबोधकं।
तत एव स्मृतिः किं न स्वार्थस्य प्रतिबोधिका ॥ २८ ॥

ज्ञानमें अर्थका आकार (प्रतिबिंब) पडजानेसे प्रत्यक्षको जिस कारण अर्थका बोध करानेवाला माना गया है, उस ही कारण स्मृति भी स्व और अर्थकी व्युत्पत्ति करानेवाली क्यों न हो जावे ? अर्थका विकल्प करनारूप आकार दोनों प्रत्यक्ष और स्मृतिमें एकसा है। घूंस खानेवाले अधिकारीके समान आत्माका विभाव चारित्र भले ही अन्याय कर बैठे, किन्तु आत्माका ज्ञानपरिणाम छोटे बालकके समान अन्यायमार्गको नहीं पकडता है। हां, मिष्टान्न देनेवाले ठगके समान चारित्ररूप मोहके विभावसे बरगलाये गये बालकके समान ज्ञान कभी कभी न्यून अधिक बकने लग जाता है। वस्तुतः सभी समीचीनज्ञान सविकल्पक हैं।

अस्पष्टत्वेन चेन्नानुमानेप्येवं प्रसंगतः।
प्राप्यार्थेनार्थवत्ता चेदनुमायाः स्मृतेर्न किम् ॥ २९ ॥

यदि अस्पष्ट प्रतिभास होनेके कारण स्मृतिको अर्थरहित मानोगे तो ठीक नहीं। क्योंकि इस प्रकार अनुमानमें भी अर्थवान् न हो सकनेका प्रसंग आवेगा। यदि अपरमार्थभूत सामान्यरूप ज्ञेय विषयकी अपेक्षासे नहीं किन्तु प्राप्त करने योग्य वस्तुभूत स्वलक्षण अर्थकी अपेक्षासे अनुमानको अर्थवान् कहा जायगा, तब तो प्राप्त करने योग्य अर्थकी अपेक्षासे स्मृतिको भी अर्थवाली क्यों नहीं माना जाता है ? स्मरणकर मुखमें कौर देदिया जाता है। अन्धकार दशामें गृहके अभ्यस्त पदार्थोंका स्मरणकर ठीक वे के वे ही ग्रहण कर लिये जाते हैं।

ततो न सौगतोऽनुमानस्य प्रमाणतामुपयंस्तामपाकर्तुमीशः सर्वथा विशेषाभावात्।

तिस कारण बौद्धवादी अनुमानके प्रमाणपनको स्वीकार करता हुआ उस स्मृतिका खण्डन करनेके लिए समर्थ नहीं हो सकता है। सभी प्रकारोंसे अनुमान और स्मृतिमें कोई प्रामाण्य और

अप्रामाण्यकी प्रयोजक हो रही विशेषतायें नहीं पायी जाती हैं। जिससे कि अनुमानमें प्रमाणपना और स्मृतिमें अप्रमाणपना ठहरा दिया जाय।

मनसा जन्यमानत्वात्संस्कारसहकारिणा।
सर्वत्रार्थानपेक्षेण स्मृतिर्नार्थवती यदि ॥ ३० ॥
तदा संस्कार एव स्यात्प्रवृत्तिस्तन्निबंधना।
तत्रासंभवतोर्थे चेद्व्यक्तमीश्वरचेष्टितम् ॥ ३१ ॥

बौद्ध कह रहे हैं कि अर्थकी नहीं अपेक्षा करनेवाले और केवल भूतमें जाने हुये पदार्थके संस्कारको सहकारी कारण रखनेवाले मनके द्वारा सर्वत्र स्मृति उत्पन्न हो रही है, अतः स्मृति अर्थवाली नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि ऐसा कहोगे तब तो संस्कारके होनेपर ही उस संस्कारको कारण मानकर उस अर्थमें प्रवृत्ति होगी। किन्तु अर्थके न होनेपर केवल संस्कारद्वारा प्रवृत्ति होना असंभव है। अतः बौद्धोंका यह मनमानी नियम गढना स्पष्टरूपसे सबके सन्मुख (सरे बाजार) स्वतन्त्र सम्राटपनेकी चेष्टा करना है। अथवा वैशेषिकों द्वारा माने गये स्वतंत्र ईश्वरके सदृश कुछ भी युक्त अयुक्त मनमानी क्रिया करना है।

अनर्थविषयत्वेपि स्मृतेः प्रवर्तमानोर्थे प्रवर्तते संस्कारे प्रवृत्तेरसंभवादिति स्फुटं राजचेष्टितं यथेष्टं प्रवर्तमानात्।

जैसे कोई स्वतन्त्र राजा अपनी सामर्थ्यके घमंडमें आकर चाहे जैसे कर लगा देता है, स्ववर्गका पक्ष करता है, परवर्गको अनुचित दण्ड देता है, उसीके समान यह बौद्ध भी स्पष्ट रीतिसे राजाकी चेष्टा कर रहा है। क्योंकि अपनी इच्छाके अनुसार चाहे जहां प्रवृत्ति कर रहा है। स्मृतिको वस्तुभूत अर्थका विषय करनेवाली नहीं मानता हुआ भी प्रवृत्ति करनेवाला बौद्ध उस स्मृतिके द्वारा अर्थमें प्रवर्त रहा है। संस्कार होनेपर तो प्रवृत्ति होना असम्भव है। अतिवृद्ध अवस्थामें पडे हुए संस्कार बिचारे युवा अवस्थाके समान त्रिवर्गसेवनमें प्रवृत्ति नहीं करा सकते हैं। अर्थात् बौद्धोंने स्मृतिके द्वारा अर्थोंमें प्रवृत्ति होना तो मान लिया, किन्तु स्मृतिको अर्थवती न माना, ऐसा मनचाहा अन्टसन्ट व्यवहार अविचारी मनुष्य ही करते हैं। देखिये, बालक भी स्मरण कर अर्थोंमें प्रवृत्ति करते हुए देखे जाते हैं। अतः प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अनुमानके समान स्मृति भी अर्थवाली है। पतिके परदेश जानेपर जैसे स्त्री पतिवाली बनी रहती है, ऐसे ही अर्थके भूतकालमें जानेपर भी या किसीकी ओटमें हो जानेपर भी स्मृति अर्थवाली है। राजा या सेठकी जेबमें यदि किसी समय रुपया नहीं भी होय तो भी वे अर्थवान हैं।

प्रत्यक्षं मानसं ज्ञानं स्मृतेर्यस्याः प्रजायते ।
सा हि प्रमाणसामग्रीवर्तिनी स्यात् प्रवर्तिका ॥ ३२ ॥
प्रमाणत्वाद्यथा लिंगिलिंगसंबंधसंस्मृतिः ।
लिंगिज्ञानफलेत्याहुः सामग्रीमानवादिनः ॥ ३३ ॥
तदप्यसंगतं लिंगिज्ञानस्यैव प्रसंगतः ।
प्रत्यक्षत्वक्षतेर्लिंगतत्फलायाः स्मृतेरिव ॥ ३४ ॥

जिस स्मृतिसे प्रत्यक्षरूप मानसज्ञान अच्छा उत्पन्न हो जाता है, वही स्मृति प्रत्यक्ष प्रमाणकी कारणसामग्रीमें वर्तती हुई प्रवर्त्तक मानी गयी है । अतः प्रमाणकी कारणसामग्रीमें पतित होनेसे स्मृति मुख्य प्रमाण नहीं है । किन्तु गौणप्रमाण है । जिस ज्ञानकी सामग्रीमें जो स्मृति पडी हुयी है, उपचारसे वह उसी प्रमाणरूप है । जैसे कि अनुमान द्वारा साध्यज्ञानरूप फलको उत्पन्न करनेवाली साध्य और हेतुके संबंधकी अच्छी स्मृति मुख्यप्रमाण नहीं हो रही सन्ती उपचारित प्रमाण है । प्रमाणकी सामग्रीमें पडे हुये ज्ञानोंको मुख्यप्रमाण मानना आवश्यक नहीं है । इस प्रकार कोई सामग्रीको गौणप्रमाण माननेवाले वादी कह रहे हैं । आचार्य कहते हैं कि इनका वह कहना भी असंगत है । क्योंकि यों तो अकेले अनुमानज्ञानको ही प्रमाणपनेका प्रसंग होगा । प्रत्यक्षको प्रमाणपना नष्ट हो जायगा । क्योंकि प्रत्यक्ष तो अनुमानकी सामग्रीमें पडा हुआ है । जैसे कि हेतु और उसका फल साध्यके संबंधको विषय करनेवाली स्मृतिको प्रमाणपना नहीं माना जाता है । अथवा स्मृतिको सामग्रीमें डालकर प्रमाणपनका उसपर अनुग्रह किया है । सामग्रीमें पडजानेसे उस स्मृतिके गांठका स्वतंत्र कार्य अन्यत्र थोडा ही चला जाता है । घटका कारण बननेके पहिले भी तो दण्ड अपनी अर्थक्रियाओंको करता है ।

यस्याः स्मृतेः प्रत्यक्षं मानसं जायते सा तदेव प्रमाणं तत्सामग्र्यंतर्भूतत्वतः प्रवर्तिका स्वार्थे यथानुमानफला संबंधस्मृतिरनुमानमेवेति । वचनसंबंधं प्रमाणमनुमानसामग्र्यंतर्भूतमपीति चेत्—

प्रतिवादी कह रहा है कि जिस स्मृतिसे जो मानस प्रत्यक्ष उत्पन्न होगा वह स्मृति वही प्रमाणकी सामग्रीमें अंतर्भूत होनेके कारण स्वार्थमें प्रवृत्ति करानेवाली मानी जायगी, जैसे कि अनुमान ज्ञान है फल जिसका, ऐसी साध्य साधनोंके संबंधकी स्मृति अनुमानप्रमाणरूप ही है । इस प्रकार अनुमानकी सामग्रीमें अंतर्भूत हो रहा भी संबंधका वचन प्रमाण है, भले ही उपचारसे होय । इस प्रकार कहनेपर तो आचार्य उत्तर करते हैं कि—

प्रत्यक्षवत्स्मृतेः साक्षात्फले स्वार्थविनिश्चये ।
किं साधकतमत्वेन प्रामाण्यं नोपगम्यते ॥ ३५ ॥
पारंपर्येण हानादिज्ञानं च फलमीक्ष्यते ।
तस्यास्तदनुस्मृत्यंतर्याथार्थ्यवृत्तितोर्थिनः ॥ ३६ ॥

प्रत्यक्षके समान स्मृतिका भी अव्यवहित फल जब अपना और अर्थका विशेष निश्चय करना नियत हो रहा है, तो फिर स्वार्थकी प्रमिति करनेमें प्रकृष्ट उपकारक होनेके कारण प्रत्यक्षको जैसे प्रमाण कहा जाता है, उसीके समान स्वार्थके निश्चय करानेमें करण होनेसे स्मरणको प्रमाणपना क्यों नहीं स्वीकार किया जाता है ? और परम्परासे उस स्मरणज्ञानके फल भी प्रत्यक्षके फल समान हेयका परित्याग करना, उपादेयका ग्रहण करना, उपेक्षा करना, आदि या तद्विषयकज्ञान होते हुये देखे जा रहे हैं। क्योंकि अर्थकी अभिलाषा रखनेवाले जीवकी उस स्मृतिके अनुसार स्मरणके भीतर आये हुये अर्थमें यथार्थरूपसे प्रवृत्ति हो रही है। आखोंको मचिकर या अंधेरेमें भी जीव स्मरण द्वारा अभीष्ट पदार्थकी प्राप्ति और अनिष्टपदार्थका परित्याग कर देते हैं।

ततो न योगोपि स्मृतेरप्रमाणत्वं समर्थयितुमीशः प्रत्यक्षादिप्रमाणरूपत्वं वा, यथोक्तदोषानुषंगात् ।

तिस कारण नैयायिक और पातञ्जलमती भी स्मृतिके अप्रमाणपनका समर्थन करनेके लिये प्रभु नहीं हैं। अथवा स्मृतिको प्रत्यक्ष, अनुमान आदि स्वरूप भी नहीं सिद्ध कर सकता है अर्थात् आवश्यक माने गये प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंमें स्मृतिका अंतर्भाव नहीं हो सकता है। क्योंकि पूर्वमें कहे अनुसार दोषोंका प्रसंग होगा। यहांतक स्मृतिज्ञानको न्यारा प्रमाण साध कर मतिज्ञानरूप सिद्ध कर दिया गया है। अब प्रत्यभिज्ञानका विचार चलाते हैं।

प्रत्यभिज्ञाय च स्वार्थं वर्तमानो यतोर्थभाक् ।
मतं तत्प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणं परमन्यथा ॥ ३७ ॥

जिस कारणसे कि स्व और अर्थका प्रत्यभिज्ञान करके प्रवृत्ति कर रहा पुरुष अर्थोंको प्राप्त करनेवाला हो रहा है, उस कारण वह दर्शन और स्मरणको कारण मानकर उत्पन्न हुआ प्रत्यभिज्ञान तो प्रमाण माना गया है। किन्तु जो दूसरा प्रत्यभिज्ञान यथार्थकी ज्ञप्ति करानेवाला नहीं है। वह अन्यथा यानी अन्य प्रकार प्रमाणभास होकर प्रत्यभिज्ञानाभास है।

तदद्विधैकत्वसादृश्यगोचरत्वेन निश्चितं ।
संकीर्णव्यतिकीर्णत्वव्यतिरेकेण तत्त्वतः ॥ ३८ ॥

तेन लूनपुनर्जातमदनांकुरगोचरं ।
सादृश्यप्रत्यभिज्ञानं प्रमाणं नैकतात्मनि ॥ ३९ ॥
एकत्वगोचरं च स्यादेकत्वे मानमंजसा ।
न सादृश्ये यथा तस्मिंस्तादृशोयमिति ग्रहः ॥ ४० ॥

यह प्रत्यभिज्ञान दो प्रकारका है। पहिला तो भूत और वर्त्तमानकालकी पर्यायोंमें रहनेवाले एकपनको विषय करनेवाला रूपसे निश्चित हो रहा एकत्व प्रत्यभिज्ञान है। और दूसरा दृष्ट और दृश्यमान पदार्थोंमें सादृश्यको विषय करनेवालापनसे निर्णीत हो रहा सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है। यह प्रत्यभिज्ञान अनेक धर्मोंकी युगपत् प्राप्ति होजानारूप संकर दोष और परस्परविषयोंमें गमन करना-रूप व्यतिकर दोषसे दूर रहनेके कारण यथार्थरूपसे ठीक उसी वस्तुकी ज्ञप्तिको करा देता है। तिस कारण काट दिये गये किन्तु पुन. उत्पन्न हो गये ऐसे केश, नख, औषधी, आदिको विषय करने-वाला सादृश्य प्रत्यभिज्ञान उनके एकपनस्वरूपको जाननेमें प्रमाण नहीं है। अर्थात् काटे जाचुके पीछे नये दूसरे उत्पन्न हुये केशोंको कतरनेके लिये कैंचीकी समर्थताका प्रश्न होनेपर ये वे ही केश हैं, जो एक मास पहिले कतरे थे यों परमार्श हो जाता है। किन्तु विचार किया जाय तो वे पहिले केश तो कूडेमें पडकर घूरे पर पहुंच चुके हैं। ये सन्मुख स्थित होरहे तो न्यारे नये उत्पन्न हुये केश हैं। अतः इनमें सदृशपनेका प्रत्यभिज्ञान तो " ये उनके सरीखे हैं " ठीक है। किंतु " वे के वे ही ये केश हैं " यह प्रत्यभिज्ञानाभास है, ऐसे ही नखोंमें समझना। तथा सहारनपुरकी स्टेशनपर कोई यों कहे कि बम्बई ऐक्सप्रेस यह वही रेलगाडी है, जो कि पेशावरसे चलकर कल बम्बईको गई थी। यहां भी उस रेलगाडीके सदृश दूसरी गाडीमें एकपनको विषय करनेवाला प्रत्यभिज्ञान आभास है। इसी प्रकार कल और आजके देवदत्तमें एकपनको विषय करनेवाला प्रत्यभिज्ञान एकप-नेमें तो निर्दोष प्रमाण है। किन्तु सदृशपनेमें प्रमाण नहीं है। जैसे कि तीसरे दिनके उसी सूर्यमें यह उसके सदृश है, ऐसा ग्रहण करना प्रत्यभिज्ञानाभास है। भावार्थ—युगल पैदा हुये दो समान लडकोंमें उसीको उसके सदृश और दूसरे सदृशको वही कहना सादृश्य प्रत्यभिज्ञानाभास और एकत्व प्रत्यभिज्ञानाभास है। झूंठे ज्ञानोंको समीचीन ज्ञानोंसे भिन्न समझना चाहिये।

न ह्येवं सादृश्यैकत्वप्रत्यभिज्ञानयोः संकरव्यतिकरव्यतिरेको लौकिकपरीक्षकयोर-सिद्धोऽन्यत्र विभ्रमात्। ततो युक्तं स्वविषये नियमेन प्रवर्तकयोः प्रमाणत्वं प्रत्यक्षादिवत्।

इस प्रकार सादृश्य और एकत्वको जाननेवाले प्रत्यभिज्ञानोंमें एकम एक हो जाना या कुछ धर्मोंका परस्पर बदल जानारूप इन दो दोषोंका रहितपना लौकिक और परीक्षक जनोंको असिद्ध नहीं है। भ्रमज्ञानसे रहित हो रहे अन्य अतिरिक्त सम्यग्ज्ञान स्थलोंपर सर्वत्र ठीक प्रतीति हो

जाती है अर्थात् कोई मूर्ख बुध्दू भले ही उसीके सदृशको वही और उसीको उसके सदृश जान ले, किन्तु विचारशील पुरुष ऐसी मोटी भूल नहीं कर बैठते हैं। तभी पतिव्रतापन, अचौर्य धर्म, सत्यव्रतोंकी स्वरक्षा हो पाती है। एक व्यभिचारिणी स्त्रीने ब्रह्माद्वैतका पक्ष लेकर अपनी इष्टसिद्धिके लिये सखीसे कहा था कि " ब्रह्मैव सत्यमखिलं न हि किंचिदस्ति। तस्मान्न मे सखि परापरभेदबुद्धिः। जारे तथा निजपतौ सदृशोऽनुरागो लोकाः किमर्थमसतीति कदर्थयन्ति "। किंतु ऐसा संकरपना जैनसिद्धान्तमें इष्ट नहीं किया है। तथा एक स्वार्थीने दूसरेका धन अपहरण करनेके लिये " परद्रव्येषु लोष्ठवत् आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः " कहकर अपना प्रयोजन गांठा था। परन्तु ऐसा व्यतिकरपना भी आर्हतोंको अभिमत नहीं है। श्री अकलंकदेवने " स्वपरादानापोहन-व्यवस्थापाद्यं हि वस्तुनो वस्तुत्वं " अपने स्वरूपका ग्रहण करना और परके स्वरूपका त्याग करना ही वस्तुका वस्तुपन कहा है। तिस कारण अपने अपने विषयमें नियमसे प्रवृत्ति करानेवाले दोनों प्रत्यभिज्ञानोंको प्रत्यक्ष, अनुमान, आदिके समान प्रमाणपना युक्त है। प्रवर्तकपनका अर्थ तो प्रवृत्ति करने योग्य विषयको प्रदर्शित करदेना मात्र है। प्रमेयमें प्रवृत्ति होना तो इच्छा, पुरुषार्थ, योग्यता आदिके अनुसार पीछे होती रहेगी या नहीं भी हो, ज्ञान इसका उत्तरदायी नहीं है।

तदित्यतीतविज्ञानं दृश्यमानेन नैकतां।
वेत्ति नेदमिति ज्ञानमतीतेनेति केचन ॥ ४१ ॥
तत्सिद्धसाधनं ज्ञानद्वितयं ह्येतदिष्यते।
मानदृष्टेऽर्थपर्याये दृश्यमाने च भेदतः ॥ ४२ ॥
द्रव्येण तद्बलोद्भूतज्ञानमेकत्वसाधनम्।
दृष्टेक्ष्यमाणपर्यायव्यापिन्यन्यत्ततो मतम् ॥ ४३ ॥

कोई कहते हैं " वह था " ऐसा भूतपदार्थको जाननेवाला विज्ञान (स्मरण) भूत अर्थके प्रत्यक्ष द्वारा देखे गये वर्त्तमान अर्थके साथ हो रहे एकपनेको नहीं जान पाता है। तथा " यह है " ऐसा वर्त्तमानको जाननेवाला प्रत्यक्षज्ञान अतीत पदार्थके साथ हो रहे वर्तमान अर्थके एकपनको नहीं जान सकता है। प्रत्यक्षज्ञान अविचारक है, इस प्रकार कोई साधु विद्वान् कह रहे हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि वह किसीका कहना हमको सिद्धसाधन है। कारण कि भूत और वर्त्तमान अर्थको जाननेवाले ये दो स्मरण और प्रत्यक्षज्ञान हैं। क्योंकि पूर्वमें धारणा ज्ञानसे देखे हुये अर्थपर्याय और वर्त्तमानमें देखे जा रहे अर्थपर्यायमें विषयभेद रूपसे दो ज्ञान वर्त्तरहे हैं। वे एक दूसरेके विषयको नहीं छू सकते हैं। हां, उन दोनों ज्ञानोंकी सामर्थ्यसे पश्चात् उत्पन्न हुआ तीसरा प्रत्यभिज्ञान तो देखी जा चुकी और देखी जा रही पर्यायोंमें द्रव्यरूपसे व्याप रहे एकत्वको

साथ रहा है। जो कि ज्ञान उन स्मरण और प्रत्यक्ष दोनों ज्ञानोंसे न्यारा माना गया है। तथा उसका विषय एकत्व भी उन दोनों पर्यायोंसे निराला है। अतः अपूर्व अर्थका ग्राहक होनेसे प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है।

न हि सांप्रतिकातीतपर्याययोर्दर्शनस्मरणे एव तत्प्रत्यभिज्ञानं यतो दोषावकाशः स्यात्। किं तर्हि? तद्व्यापिन्येकत्र द्रव्ये संकलनज्ञानं।

वर्त्तमानकी पर्यायको जाननेवाला दर्शन और भूत पर्यायको जाननेवाला स्मरण ही वह प्रत्यभिज्ञान नहीं है, जिससे कि प्रत्यभिज्ञानके अप्रमाणपन, व्यर्थपन, गृहीतग्राहीपन, आदि दोषोंको स्थान मिल सके। तो प्रत्यभिज्ञान क्या है? इसका उत्तर यही है कि उन भूत और भविष्यकी दोनों पर्यायोंमें व्यापनेवाले एकद्रव्यमें यानी द्रव्यको विषय करनेके लिये एक जोडरूप ज्ञान करना प्रत्यभिज्ञान है।

नन्वेवं तदनादिपर्यायव्यापि द्रव्यविषयं प्रसज्येत नियामकाभावादिति चेन्न, नियामकस्य सद्भावात्।

प्रत्यभिज्ञानके विषयमें कोई वादी शंका करता है कि जब अतीत और वर्तमान पर्यायोंमें व्यापक हो रहे एक द्रव्यको प्रत्यभिज्ञान जानता है, तब तो अनादिकालकी भूत पर्यायोंमें व्यापनेवाले द्रव्यको विषय कर लेनेका प्रसंग होगा। क्योंकि आप जैनोंके पास कोई नियम करने वाला कारण नहीं है कि दश पांच वर्ष पूर्व हीकी पर्यायों और वर्तमान पर्यायमें रहनेवाले एकपनसे आक्रान्त द्रव्यको तो प्रत्यभिज्ञान जाने, किन्तु असंख्य वर्ष या अनन्त वर्ष पहिले व्यतीत हो चुकी पर्यायोंमें वर्त रहे द्रव्यको नहीं जान पावे। हेतुके विना कोई विशेष नियम नहीं होता है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह तो बौद्धोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि नियम करानेवाले हेतुका हम जैनोंके यहां सद्भाव है। सो सुनिये।

क्षयोपशमतस्तच्च नियतं स्यात्कुतश्चन।
अनादिपर्ययव्यापि द्रव्यसंवित्तितोस्ति नः॥ ४४॥

वह नियत हो रहे पूर्वपर्यायोंमें वर्त्त रहे द्रव्यको विषय करनेका नियम तो क्षयोपशमसे हो जाता है। और वह क्षयोपशम किसी भी कषायोंकी विलक्षण मन्दता या कालाणुओंके निमित्तसे तारतम्यको लिये हुये उत्पन्न हुई क्षयोपशमकी जाति आदि नियामकोंसे नियमित हो रहा है। हमारे यहां प्रत्यभिज्ञान द्वारा अनादिकालकी पर्यायोंमें व्याप रहे द्रव्यकी संम्वित्ति होना भी माना है। इस कारण पूर्वोक्त दोषका प्रसंग नहीं है। श्रुतज्ञानका विषय बडा लम्बा चौडा है। अथवा "नानादि" पाठको शुद्ध माननेपर हम कहते हैं कि वह प्रत्यभिज्ञान भूतकालकी अनादि पर्यायोंमें व्याप रहे द्रव्यकी संवित्ति नहीं करा पाता है।

तथा यावत्स्वतीतेषु पर्यायेष्वस्ति संस्मृतिः ।
केन तद्व्यापिनि द्रव्ये प्रत्यभिज्ञास्य वार्यते ॥ ४५ ॥

उस पूर्वपर्यायोंकी तत्कालीन विशेष धारणारूप संवित्तिसे अब जितनी यथायोग्य अतीत पर्यायोंमें अच्छी स्मृति हो रही है, उनमें व्यापनेवाले द्रव्यमें इस अन्वेता जीवको प्रत्यभिज्ञा होना किसके द्वारा निवारण किया जासकता है, अर्थात् उन पर्यायोंमें वर्त्तरहे द्रव्य विषयके प्रत्यभिज्ञानको कोई नहीं रोक सकता है।

बालकोहं य एवासं स एव च कुमारकः ।
युवको मध्यमो वृद्धोऽधुनास्मीति प्रतीतितः ॥ ४६ ॥

जो ही मैं पहिले बालक था, और जो ही मैं कुमार अवस्थामें था, तथा जो ही मैं युवा था, अथवा मध्यम (अधेड) उम्रका था, वही मैं इस समय बूढा हो गया हूं, ऐसी प्रतीतिया हो रही हैं। कोई कोई तो जातिस्मरण अथवा अवधिज्ञान या महानिमित्त ज्ञानसे सैकडों जन्म पहलेकी अवस्थाओंका जोडरूप ज्ञान कर लेते हैं। विशिष्ट क्षयोपशम होना चाहिये। पुराण ग्रन्थोंमें तिर्यंचोंतकके जातिस्मरण होना बताया है। वर्त्तमानमें भी अनेक लडके, लडकिया, और युवा अपने पूर्व जन्मकी बातोंको स्मरण कर वहा जाकर ठीक ठीक बता देनेवाले देखे जा रहे हैं। क्या किया जाय! गर्भ, जन्मकी अवस्थायें अतीव दुःखसहन की हैं। क्षयोपशमको बिगाडनेके अनेक कारण वहां उपस्थित हैं। अतः अनेक जीवोंके पूर्वजन्मकी चेष्टाओंका स्मरण नहीं होने पाता है । जब कि युवा छात्र भी प्रकाण्ड गुरुकी बताई हुई गंभीर चर्चाको दूसरे दिन भूल जाता है। तीव्र रोग हो जानेपर पढे हुये ग्रन्थोंको भूल जाता है, तो ऐसी संक्लेशकारिणी परिस्थितिमें उत्पन्न हुये मुग्ध जीवको पहिले जन्मोंकी दशाका स्मरण करना कष्टसाध्य है। हा, अनेक विषयोंका विलक्षण क्षयोपशम द्वारा स्मरण भी हो जाता है। नारकियोंके दुख सहनेमें विभंगज्ञानका स्फुरण हो जाता है। अनेक जीवोंको दुःख पडनेपर भगवान्का नाम लेना याद आता है। एक विद्वान्का स्तोत्र वाक्य है कि न स्नेहाच्छरणं प्रयान्ति भगवन् पादद्वयं ते प्रजाः। हेतुस्तत्र विचित्रदुःखनिचयः संसारघोरार्णवः। अत्यंतस्फुरदुग्ररश्मिनिकरव्याकीर्णभूमंडलो । ग्रैष्मः कारयतीन्दुपादसलिलच्छायानुरागं रवि. ” अर्थात् हे भगवन्! स्नेहसे कोई तुम्हारी शरण नहीं पकडता है। जब संसारका घोर दुःख इस जीवको सताता है तो अवश्य प्राप्त हो जानेवाले सुख, शान्तिकी अभिलाषासे आपका आश्रय पकडता है। जैसे कि जेठमासके सूर्यसे संतप्त हुआ पुरुष शीतलछाया, जल, चादनी, आदिमें अनुराग करने लग जाता है। बात यह है कि अनेक जीव पहले दुःखको दूर करनेके लिये धर्मका आश्रय लेते हैं। पश्चात् स्वाभाविक आत्मीयसुखमें निमग्न होकर धर्मका पालन करते हैं। कालान्तरमें धर्ममय बन

जाते हैं। भगवानके दर्शन पूजनसे या सत्यव्रत या ब्रह्मचर्य धारनेसे अथवा सामायिक करनेसे आत्मीक सुख मिलेगा, यह कार्यकारणभाव बताना व्यवहारमात्र है। वस्तुतः विचारा जाय तो परमात्माका दर्शन, पूजन करना, सत्य बोलना, ब्रह्मचर्य पालन करना, सामायिक करना ही सुख, शान्ति, और परमात्माका स्वरूप है। प्रकरणमें यह कहना है कि क्षयोपशमके अनुसार स्मरण की गई पूर्वपर्यायोंमें रहनेवाले अन्वेता द्रव्यका प्रत्यभिज्ञान हो जाता है।

स्मृतिः किन्नानुभूतेषु स्वयं भेदेष्वशेषतः।
प्रत्यभिज्ञानहेतुः स्यादिति चोद्यं न युक्तिमत् ॥ ४७ ॥
तादृक्क्षयोग्यताहानेः तद्भावेत्वस्ति सांगिनां।
व्यभिचारी हि तत्रान्यो हेतुः सर्वैः समीक्ष्यते ॥ ४८ ॥

स्वयं अनुभव किये गये भेदप्रभेदोंमें पूर्णरूपसे स्मृति क्यों नहीं होती है ? जो कि स्मरण किये गये सभी भेद, प्रभेद, अंश, उपांशोंमें होनेवाले प्रत्यभिज्ञानका हेतु हो जाय, यह आक्षेपपूर्ण प्रश्न उठाना युक्त नहीं है। क्योंकि तैसे अंश उपांशोंके स्मरण करनेकी योग्यता नहीं है। हां, जिन जीवोंमें भेद प्रभेदोंको स्मरण करनेकी क्षयोपशमरूप योग्यता विद्यमान है, उनको तो सब अंशोंका स्मरण हो ही जाता है। देखिये, कोई स्थूलबुद्धि विद्वान् प्रतिवादी द्वारा कहे गये वाक्योंका स्मरण नहीं होनेके कारण अनुवाद नहीं कर सकते हैं। तथा अन्य कोई अच्छे विद्वान् ठीक ठीक पंक्तियोंका अनुवाद करदेते हैं। कोई कोई विशिष्ट अवधान करनेवाले वादी तो प्रतिवादीके कहे हुये वर्ण वर्णका, श्वास, उच्छ्वासोंकी संख्याका और मध्यमें खासने, डकार लेने, तकका स्मरण रखकर पुनः वैसाका वैसा ही अनुवाद करदेते हैं। सर्वत्र संस्कारके अनुसार स्मरण होना देखा जाता है। कोई मनुष्य एक छटाक भी दूध नहीं पीसकता है। दूसरा सेठ चार छटाक दूध पीता है। तीसरा विद्वान् एक सेर दूध पीजाता है। कोई कोई मल्ल दस सेर या पन्द्रह सेर दूधको चढा जाते हैं। इसमें जठराशय, अग्नि, शरीरबलके अतिरिक्त और क्या कारण कहा जाय ? वे जठराग्नि आदि कभी ऐसी क्यों हुईं। इसमें भी भोगान्तरायका क्षयोपशम, व्यायाम करना, पुरुषार्थ संपादन करना, निश्चिंतता आदिक ही निमित्त कारण कहे जासकते हैं। उन क्षयोपशम आदि कारणोंके भी कषायोंकी मंदता, दयाभाव, अभयदान, कालाणुओंके द्वारा हुई वर्तना, पुण्य, पाप आचरण ही नियामक हेतु हैं। जैनसिद्धान्तमें कारणोंसे कार्यकी उत्पत्ति होना इष्ट किया है। ऋद्धि, मंत्र, चमत्कार, इन्द्रजाल, विक्रिया, अतिशय, आदिमें भी कोई पोल नहीं चलती है। इनमें भी कार्यकारणभाव है। चिंतामणि रत्न, चित्रावेल, अक्षीण महानस ऋद्धि भी कारणोंको जुटा देती हैं, तब कार्य होता है। एक ऋद्धिधारी मुनिके भोजन कर जानेसे उस कसैंडीमें करोडों

जीवोंके भोजनार्थ व्यंजन तैयार हो जाता है। इसमें कौन बडे आश्चर्यकी बात है ? जब कि एक प्रदेशपर सम्पूर्ण लोकमें भरी हुई अनन्तानंत परमाणुएं समा जासकती हैं और कैई स्थूल पदार्थ भी एक स्थानपर धरे हुये हैं तो इधर, उधरके अनन्त स्कन्धोंका क्षीरान्न (खीर) रूप परिणाम होता हुआ करोडों क्या असंख्यजीवोंको भी तृप्त कर सकता है। अभी क्या हुआ ? तथा कल्पवृक्ष अनेक भोजन, प्रकाश, आदिके साधनोंको दे देते हैं। इसमें कौन बडा भारी चमत्कारका हौआ बैठा है ? हम दिन रात देखते हैं, अडहर एक वर्षसे कुछ कममें फलती है। गेहूँ छह महीनेमें फलते हैं। बाजरा तीन महीनेमें फलता है। गाजर डेढ महीनेमें तैयार हो जाती है। पोदीना पन्द्रह दिनमें उग जाता है। घास या मेथी और भी कमती दिनोंमें उपज आते हैं। इसी प्रकार घटते घटते कल्पवृक्षसे अंतर्मुहूर्त्तमें पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं। यहां हमें कारण कुछ अधिक मिलाने पडते हैं। किन्तु भोगभूमिमें थोडेसे कारण मिलानेपर ही उनके पुण्य अनुसार झट पदार्थ मिल जाता है। जैसे कि मारवाडी कुयेंमेंसे पानी निकालनेके लिये लम्बी रस्सी, कलशा, गरीं, आदि कारण जुटाने पडते हैं। किन्तु स्वल्प गहरे कुए या नदी अथवा नलमेंसे झट पानी निकाल लिया जाता है। पुरानी चालके अनुसार दीपक जलानेके लिये तेल, बत्ती, पात्र, चकमकपत्थर, सूत आदिकी आवश्यकता पडती है। किन्तु बिजलीका दीपक बटन दवानेसे ही प्रद्योतित हो जाता है। खांड, वर्त्तन, कपडे, गृह, गहने, आदिक भी मशीनसे अति शीघ्र बनाये जा सकते हैं। हां, अनेक कार्योंको करनेके लिये उन कारणोंकी भी आवश्यकता है, जो कि हमारी बहिरंग इन्द्रियोंके विषय नहीं हैं, अथवा यहां विद्यमान नहीं हैं। तभी वे कार्य यहां नहीं हो सकते हैं। केसर सर्वत्र नहीं उपज पाती है। वस्तुओंके स्वात्मभूत हो रहे अनेक स्वभाव भी नाना कार्योंको कर रहे हैं। निमित्त नैमित्तिक संबंध अचिन्त्य है। प्रकरणमें नियत स्मृति होनेका कारण स्मृतिज्ञानावरणका क्षयोपशम विशेष है। उसमें अन्य अध्ययन, अभ्यास, आदिक सभी हेतु व्यभिचारी हो रहे भली भांति देखे जा रहे हैं। स्मरणका अंतरंग अव्यभिचारी कारण योग्यतारूप क्षयोपशम ही है। तभी तो एक विद्यालयमें एक ही गुरुसे पढे हुये एक श्रेणीके छात्रोंकी व्युत्पत्ति अपने अपने क्षयोपशम अनुसार न्यून, अधिक है।

स्मरणस्य हि नानुभवनमात्रं कारणं सर्वस्य सर्वत्र स्वानुभूतेर्थे स्मरणप्रसंगात्। नापि दृष्टसजातीयदर्शनं तस्मिन् सत्यपि कस्यचित्तदनुपपत्तेर्वासनाप्रबोधः कारणमिति चेत्, कुतः स्यात्। दृष्टसजातीयदर्शनादिति चेन्न, तद्भावेपि तदभावात्। एतेनार्थित्वादिस्तद्धेतुः प्रत्याख्यातः, सर्वस्य दृष्टस्य हेतोर्व्यभिचारात्।

पदार्थोंका पहिली अवस्थामें प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, आदिरूप केवल अनुभव कर लेना ही स्मरणका कारण नहीं है। यों तो सब जीवोंको सभी अपने अनुभूत विषयोंमें स्मरण होनेका

प्रसंग होगा। किन्तु सभी देखी जानी हुई वस्तुओंका तो स्मरण नहीं होता है। लाखों करोडों, अनु भूत पदार्थोंमेंसे एकका किसीको स्मरण होता है। अन्यथा श्री अकलंकदेवके समान सभी शिष्योंको गुरुके एक वार कह देनेपर सूक्ष्मसिद्धान्तोंका भी कालान्तरतक स्मरण बना रहना चाहिये। पैठ (बाजार) मेला उपवन आदिमें देखी हुई सम्पूर्ण वस्तुओंका बहुत दिनोंतक स्मरण होता रहना चाहिये। किन्तु शतावधानी सहस्रावधानीको भी सबका स्मरण नहीं रहता है। तथा देखे हुये पदार्थके समानजातिवाले अन्य किसी पदार्थका दीखजाना भी स्मरणका कारण नहीं है। क्योंकि उस सजातीय पदार्थका दर्शन होनेपर भी किसी किसीके स्मरणज्ञान नहीं बनता है। यह अन्वयव्यभिचार है, जो कि उनके कार्यकारण भावको बिगाड देता है। यदि स्मरणका कारण पहिले लगी हुई वासनाओंका जागृत होना है, यह तुम कहोगे, तो हम पूंछेंगे कि वह वासनाओंका प्रबोध भला किस निमित्तसे हुआ ! बताओ। देखे हुये पदार्थके सजातीय पदार्थके देखनेसे वासनाका उद्बोध होना मानो यह तो ठीक नहीं है। क्योंकि उस सजातीयके देखनेपर भी वे वासनायें प्रबुद्ध नहीं हो पाती हैं। प्रतिदिन रुपये, घोडे, गृह, मनुष्य, आदि हजारों उन उनके सदृश पदार्थोंको देखते हैं, किन्तु किस किसकी वासना उद्बुद्ध होती है ! किसीकी भी नहीं। इस कथनसे फिर देखी हुई वस्तुकी अभिलाषा रखना, प्रकरण प्राप्त होजाना, पटुता, शोक, वियोग, आदि बहिरंग उपाय भी उस स्मरणके अव्यभिचारी हेतु हैं, इसका भी खण्डन करदिया गया है। सभी देखे हुए हेतुओंका अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेकव्यभिचार हो रहा है। वस्तुभूत ठोस कार्योंके साधक कारणोंका विचार करनेवाले न्यायशास्त्रमें काव्योंकी या ग्रामीणोंके उपाख्यानोंकीसी पोली कार्यकारणता इष्ट नहीं की जाती है। हम क्या करें। उससे कार्य नहीं हो पाता है।

तदविद्यावासनाप्रहाणं तत्कारणमिति चेत्, सैव योग्यता स्मरणावरणक्षयोपशमलक्षणा तस्यां च सत्यां सदुपयोगविशेषा वासना प्रबोध इति नाममात्रं भिद्यते। ततो यत्रार्थेऽनुभवः प्रवृत्तस्तत्र स्मरणावरणक्षयोपशमे सत्यंतरंगे हेतौ बहिरंगे च दृष्टसजातीयदर्शनादौ स्मरणस्योत्पत्तिर्न पुनस्तदभावेतिप्रसंगादिति नानादिद्रव्यपर्यायेषु सयमनुभूतेष्वपि कस्यचित्स्मरणं, नापि प्रत्यभिज्ञानं तन्निबंधनं तस्य यथास्मरणं, यथाप्रत्यभिज्ञानावरणक्षयोपशमं, च प्रादुर्भावादुपपन्नं तद्वैचित्र्यं योग्यतायास्तदावरणक्षयोपशमलक्षणाया वैचित्र्यात्

यदि उस स्मरणीय पदार्थकी लगी हुई अविद्यावासनाका प्रकृष्ट नाश हो जाना उस स्मरणका कारण माना जायगा ऐसा होनेपर तो वही योग्यता हमारे यहां स्मरणावरण कर्मका क्षयोपशम स्वरूप इष्ट की गई है। और उस योग्यताके होते संते श्रेष्ठ उपयोग विशेषरूप वासना (लब्धि) का प्रबोध हो जाता है। इस ढंगसे तो हमारे यहां और तुम्हारे यहां केवल नामका भेद है। अर्थसे कोई भेद नहीं है, अभिप्राय एक ही पड गया। तिस कारण यह सिद्ध

हुआ कि जिस अर्थमें अनुभव प्रवर्त्तता है, वहां स्मरणावरणका क्षयोपशमस्वरूप अंतरंग कारण होनेपर और दृष्टपदार्थके सजातीय अर्थका दर्शन, अभिलाषा, प्रकरण, शोक, आदिक बहिरंग कारणोंके होनेपर स्मरणकी उत्पत्ति हो जाती है। हां, फिर उनके अभाव होनेपर कभी नहीं स्मरण होता है। अन्यथा अतिप्रसंग हो जायगा अर्थात् देखे हुये सबका या अदृष्टपदार्थोंका भी स्मरण हो जावेगा। अतः कहना पडता है कि स्वयं अनुभूत कियीं जा चुकीं भी अनादिकालके द्रव्यकी पर्यायोंमें किसीको भी सभी स्मरण नहीं हो जाते हैं तथा उस स्मरणको कारण मानकर होनेवाला प्रत्यभिज्ञान भी सभी पर्यायोंमें नहीं हो पाता है। क्योंकि स्मरणके अनुसार (अतिक्रम नहीं कर) और प्रत्यभिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमरूप अंतरंग कारणके अनुकूल होनेपर (अनतिक्रम्य) उस प्रत्यभिज्ञानका जन्म होता है। अतः उस प्रत्यभिज्ञानकी विचित्रता युक्तिओंसे बन जाती है। जब कि उस प्रत्यभिज्ञानका आवरण करनेवाले कर्मके क्षयोपशमस्वरूप योग्यतायें विलक्षण प्रकारकीं हो रही हैं, तो कार्योंके विचित्र होनेमें क्या चित्र (आश्चर्य) है ? कार्योंसे ही तो कारणोंका अनुमान कर लिया जाता है।

कुतः पुनर्विचित्रा योग्यता स्यादित्युच्यते;—

फिर यह विचित्र प्रकारकी योग्यता किस निमित्तसे हो जावेगी ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्यों द्वारा समाधान कहा जाता है।

मलावृतमणेर्व्यक्तिर्यथानेकविधेक्ष्यते।
कर्मावृतात्मनस्तद्वद्योग्यता विविधा न किम् ॥ ४९ ॥

मलसे ढकी हुई मणिकी मलके कैई तारतम्यसे दूर हो जानेपर जैसे अनेक प्रकारकी अभिव्यक्ति (स्वच्छता) देखी जाती है, उसी प्रकार पूर्वबद्ध कर्मसे ढके हुये आत्माकी क्षयोपशमरूप योग्यता भी नाना प्रकारकी क्यों न होगी ? अवश्य होगी। सुवर्णको कैई बार शुद्ध किया जाता है, तब कहीं उसकी शनैः शनैः योग्यता प्राप्त होती है। मणिको भी शाणपर या मसालोंसे धीरे धीरे स्वच्छ अवस्थामें लाना पडता है।

स्वावरणविगमस्य वैचित्र्यान्मणेरिवात्मनः स्वरूपाभिव्यक्तिवैचित्र्यं न हि तद्विरुद्धं। तद्विगमस्तु स्वकारणविशेषवैचित्र्यादुपपद्यते। तद्विगमकारणं पुनर्द्रव्यक्षेत्रकालभवभावलक्षणं यदन्वयव्यतिरेकस्तत्संभावनेति पर्याप्तं प्रपंचेन। सादृश्यैकत्वप्रत्यभिज्ञानयोः सर्वथा निरवद्यत्वात्।

अपने आवरणोंके दूर होनेकी विचित्रतासे मणिका स्वच्छभाव जैसे विचित्र ढंगोंका हो जाता है। उसीके समान कर्मोंका अनेक कारणोंसे पृथक्भाव हो जानेकी विचित्रतासे ज्ञानमय

आत्माके स्वरूपका प्रगट होना भी अनेक प्रकारका है। वह आत्माके स्वरूपकी विचित्रता विरुद्ध नहीं है। रोगके उत्पादक दोषोंका जितना जितना निःसरण होता जाता है, आत्मामें उतनी उतनी प्रसन्नताका अनुभव हो जाता है। आत्मासे लगे हुये उन कर्मोंका वियोग होना तो अपने कारणविशेषोंकी विचित्रतासे बन जाता है। उन आवरणोंके उपशम, क्षय, क्षयोपशमरूप वियोगका कारण फिर वे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, और भावस्वरूप पदार्थ माने गये हैं, जिनके कि साथ अन्वय, व्यतिरेक होते संते उस योग्यताकी सम्भावना है। यानी समीचीन उत्पत्ति सम्भव रही है, इस कार्यकारणभावका सुलभतासे निर्णय हो जाता है। अतः इसके विस्तारको समाप्त करो यानी अधिक प्रकरण बढाना अनुचित है। यहांतक सादृश्य प्रत्यभिज्ञान और एकत्वप्रत्यभिज्ञानकी सभी प्रकार निर्दोष हो जानेसे सिद्धि हो चुकी है।

> नन्वस्त्वेकत्वसादृश्यप्रतीतिर्नार्थगोचरा।
> संवादाभावतो व्योमकेशपाशप्रतीतिवत् ॥ ५० ॥

कोई शंका करता है कि द्रव्यकी भूत, वर्त्तमान, पर्यायोंमें रहनेवाले एकत्व और समान पर्यायोंमें रहनेवाले सादृश्यको जाननेवाली प्रत्यभिज्ञानरूप प्रतीति तो (पक्ष) वास्तविक अर्थको विषय करनेवाली नहीं है (साध्य)। क्योंकि उन प्रतीतियोंमें सम्वादका अभाव है (हेतु)। जैसे कि आकाशके केशोंकी गुथी हुई चोटीको जाननेवाली प्रतीति अर्थको विषय नहीं करती है (दृष्टान्त)।

सादृश्यप्रत्यभिज्ञैकत्वप्रत्यभिज्ञा च नास्माभिरपह्नूयते तथा प्रतीतेः, केवलं सानर्थविषया संवादाभावादाकाशकेशपाशप्रतिभासनवदिति चेत्–।

बौद्ध शंका करते हैं कि सादृश्य प्रत्यभिज्ञान और एकत्व प्रत्यभिज्ञानको हम छिपाते नहीं हैं, क्योंकि भ्रान्त और अभ्रान्तजीवोंके अनेक प्रकार ज्ञान होना प्रतीत हो रहा है। हां, वह प्रत्यभिज्ञा विचारी सफलप्राप्ति-जनकपनारूप सम्वाद नहीं होनेके कारण वास्तविक अर्थको विषय करनेवाली नहीं है। जैसे कि आकाशके चुट्टको जाननेवाला ज्ञान वस्तुभूत अर्थको विषय नहीं करता है, ऐसा हमारा अभिप्राय है। बौद्धोंके इस प्रकार कहनेपर तो अब ग्रन्थकार समाधान करते हैं।

> तत्र यो नाम संवादः प्रमाणांतरसंगमः।
> सोऽध्यक्षेपि न संभाव्य इति ते क्व प्रमाणता ॥ ५१ ॥
> प्रत्यक्षविषये तावन्नानुमानस्य संगतिः।
> तस्य स्वलक्षणे वृत्त्यभावादालंबनात्मनि ॥ ५२ ॥

तहां जो अन्य प्रमाणोंकी समीचीन प्रवृत्ति होनारूप सम्वाद माना जायगा, सो तो सम्वाद प्रत्यक्षमें नहीं सम्भव रहा है। इस प्रकार तुम्हारे प्रत्यक्षको भी प्रमाणता कहां रही ? भावार्थ—एक ज्ञानद्वारा जाने हुये विषयमें दूसरे प्रमाणोंका गिरना यदि संवाद है, तो प्रत्यक्ष भी प्रमाण नहीं बन सकेगा। कारण कि प्रत्यक्षके द्वारा जाने गये विषयमें अनुमान प्रमाणकी तो संगति नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्षके आलम्बन कारणस्वरूप वस्तुभूत स्वलक्षणमें उस अनुमान प्रमाणकी वृत्ति नहीं है। बौद्धोंके मत अनुसार अनुमानज्ञान अवस्तुभूत सामान्यमें प्रवर्त्तता है। स्वलक्षणको अनुमान नहीं छूता है। " प्रमेयद्वैविध्यात् प्रमाणद्वैविध्यं " ऐसा बौद्धोंने माना है।

तत्राध्यक्षांतरस्यापि न वृत्तिः क्षणभंगिनि।
तथैव सिद्धसंवादस्यानवस्था तथा न किम् ॥ ५३ ॥

उस प्रकृत प्रत्यक्षके क्षणिक विषयमें स्वलक्षणको जाननेवाले दूसरे प्रत्यक्षप्रमाणकी भी वृत्ति नहीं होती है। बौद्धोंने प्रत्यक्षका कारण स्वलक्षण माना है। पहिले एक ही प्रत्यक्षको उत्पन्न कराके जब स्वलक्षण नष्ट हो गया तो वह मरा हुआ स्वलक्षण भला दूसरे प्रत्यक्षको कैसे उत्पन्न करेगा ? दूसरी बात यह भी है कि पहिले प्रत्यक्षका सम्वादीपना दूसरे प्रत्यक्षकी प्रवृत्तिसे माना जाय, और दूसरे प्रत्यक्षका सम्वाद तिस ही प्रकार तीसरे प्रत्यक्षकी संगतिसे इष्ट किया जाय तभी प्रमाणता आसकेगी एवं तीसरेका चौथे आदिसे सिद्ध किया जाय, ऐसी आकांक्षायें बढतीं जानेसे तिस प्रकार संवादका अनवस्था दोष क्यों नहीं होगा ? अर्थात् बौद्धोंके ऊपर अनवस्था दोष मूलको क्षय करनेवाला लग गया।

प्राप्य स्वलक्षणे वृत्तिर्यथाध्यक्षानुमानयोः।
प्रत्यक्षस्य तथा किं न संज्ञया संप्रतीयते ॥ ५४ ॥

बौद्धोंके मतमें ज्ञान जिस विषयको जानता है, उसको आलम्बन कारण कहते हैं। और ज्ञानसे जानकर जिसको हस्तगत किया जाता है, वह प्राप्त करने योग्य स्वलक्षण प्राप्य कारण है। पुस्तकको ठीक पुस्तक जाननेवाले सम्यग्ज्ञानकी दशामें प्राप्य और आलम्बनकारण दोनों एक ही है। किन्तु सामान्यको जाननेवाले अनुमान और अतत्को तत् जाननेवाले मिथ्याज्ञानोंकी अवस्थामें प्राप्य और आलम्बन न्यारे न्यारे हो जाते हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान दोनोंमेंसे प्रत्यक्षज्ञानके द्वारा जैसे प्राप्त करने योग्य स्वलक्षण वस्तुमें ज्ञाताकी प्रवृत्ति होना देखा जाता है। तिस ही प्रकार प्रत्यभिज्ञाके द्वारा वास्तविक स्वलक्षणमें प्रवृत्ति होना क्या भले प्रकार नहीं देखा जाता है ? अर्थात् प्रत्यभिज्ञानसे भी उस ही या उसके सदृश पुस्तक, औषधि, आदि ठीक ठीक वस्तुओंमें प्रमाताओंकी प्रवृत्तियां हो रही प्रतीत होती हैं।

तयालंबितमन्यच्चेत्प्राप्तमन्यत्स्वलक्षणं ।
प्रत्यक्षेणानुमानेन किं तदेव भवन्मते ॥ ५५ ॥

यदि बौद्ध यों कहें कि उस प्रत्यभिज्ञान करके आलम्बन किया गया पदार्थ [सामान्य] अन्य है और प्रत्यभिज्ञानसे जानकर पुनः प्राप्त किया गया स्वलक्षण पदार्थ भिन्न है । अतः प्रत्यक्ष का दृष्टान्त सम नहीं है । इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो आचार्य महाराज कटाक्ष करते हैं कि आप बौद्धोंके मतमें प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण करके क्या वहका वही पदार्थ प्राप्त किया जाता है ? बताओ । अर्थात् जब कि बौद्धोंने क्षणिक स्वलक्षणको ज्ञानका कारण माना है, तो पदार्थको जानकर कितनी भी शीघ्रतासे पकडनेवाला क्यों न हो उसके हाथमें वह पदार्थ नहीं आ सकता है, जो कि ज्ञानका कारण बना था । जैसे कि कोई बुड्ढा अपने युवा अवस्थाके शरीरको नहीं प्राप्त कर सकता है । तथा सामान्यको जाननेवाले अनुमानद्वारा सामान्यमें ही प्रवृत्ति नहीं होती है । किन्तु विशेष स्वलक्षणमें प्रवृत्ति होना माना है । ऐसी दशामें प्रत्यभिज्ञानद्वारा यदि वही आलम्बनीय पदार्थ न भी प्राप्त किया जाय तो भी प्रत्यक्षके समान प्रत्यभिज्ञामें सम्वादीपना घटित हो जाता है ।

गृहीतप्राप्तयोरेकाध्यारोपाच्चेत्तदेव तत् ।
समानं प्रत्यभिज्ञायां सर्वे पश्यंतु सद्धियः ॥ ५६ ॥

यदि बौद्ध यों कहें कि ज्ञानके द्वारा ग्रहण किये गये आलम्बन पदार्थ और हस्त प्राप्त किये गये स्वलक्षण वस्तुके एकपनका अध्यारोप कर देनेसे वह आलम्बन करने योग्य ही पदार्थ प्राप्त किया गया हो जाता है, यों कहनेपर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञानमें भी वह वही की बात समान है । सभी श्रेष्ठ बुद्धिवाले उसको देखलो अर्थात् प्रत्यभिज्ञानसे वही जानी हुई वस्तु प्रवृत्ति कर लेनेपर प्राप्त कर ली जाती है । यहां भी ज्ञात और प्राप्तव्य अर्थका एकत्वारोप सुलभ है ।

प्रत्यभिज्ञानुमानत्वे प्रमाणं नान्यथेत्यपि ।
तन्न युक्तानुमानस्योत्थानाभावप्रसंगतः ॥ ५७ ॥
तत्र लिंगे तदेवेदमिति ज्ञानं निबन्धनम् ।
लैंगिकस्यानुमानं चेदनवस्था प्रसज्यते ॥ ५८ ॥
लिंगप्रत्यवमर्शेण विना नास्त्येव लैंगिकम् ।
विभिन्नः सोनुमानाच्चेत्प्रमाणांतरमागतम् ॥ ५९ ॥

प्रत्यभिज्ञानको अनुमानस्वरूप माननेपर हम प्रमाण कहते हैं। अन्य दूसरे प्रकारोंसे नहीं यानी प्रत्यभिज्ञान स्वतंत्र प्रमाण नहीं है, किन्तु अनुमानमें गर्भित है। आचार्य कहते हैं कि सो यह कहना भी युक्त नहीं है। क्योंकि ऐसा होनेपर अनुमानप्रमाणकी उत्पत्तिके अभावका प्रसंग होता है। क्योंकि उस अनुमानमें " यह वही हेतु है " या उसके सदृश हेतु है " जिसको कि हम दृष्टान्तमें साध्यके साथ व्याप्ति रखनेवाला जान चुके हैं। इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान कारण है। अतः इस प्रत्यभिज्ञानको पुनः अनुमान मानोगे तो उस अनुमानमें भी यह वही हेतु है, ऐसे प्रत्यभिज्ञानकी आकांक्षा होगी और उस प्रत्यभिज्ञानको भी अनुमान माननेपर ऐसी धारा चलते चलते अनवस्था दोष हो जानेका प्रसंग होता है। हेतुका प्रत्यभिज्ञान किये विना लिङ्गजन्य अनुमान ज्ञानका उत्थान नहीं हो पाता है। अतः अनवस्था दोषके निवारणार्थ वह लिंगका परामर्श करनारूप प्रत्यभिज्ञान यदि अनुमानसे सर्वथा अछूता भिन्न प्रमाण माना जावेगा, तब तो बौद्धोंको तीसरा या चौथा न्यारा प्रमाण मानना प्राप्त हो जाता है। किन्तु बौद्धोंने प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मान रक्खे हैं।

न हि लिंगप्रत्यवगमोऽप्रमाणं ततो व्याप्तिव्यवहारकालभाविलिंगसादृश्याव्यवस्थितिप्रसंगात्। तथा चानुमानोदयासंभवस्ततसंभवेतिप्रसंगात्। अप्रमाणात्तद्व्यवस्थितौ प्रमाणानर्थक्यप्रसंग इत्युक्तं। ततो नानुमानं प्रत्यभिज्ञानं। किं तर्हि प्रमाणांतरं संवादकत्वात् प्रत्यक्षादिवत्। न हि दृश्यप्राप्ययोरेकत्वाध्यारोपेण प्रमाणांतरसंगमलक्षणः संवादः संज्ञायामसिद्धः, प्रत्यक्षादावपि तदसिद्धिप्रसंगात्।

अनुमान करनेके पूर्वमें " यह वैसा ही हेतु है " ऐसा लिङ्गका प्रत्यभिज्ञान करना अप्रमाण तो नहीं है। अन्यथा उस प्रत्यभिज्ञानसे व्याप्तिग्रहण काल और पुनः संकेतस्मरण करते हुये पीछे व्यवहारकालमें हो रहे लिङ्गके सादृश्यकी व्यवस्था नहीं हो सकनेका प्रसंग होगा और तैसा होनेपर अनुमानकी उत्पत्ति होना असम्भव पड जायगा। फिर भी अप्रमाण प्रत्यभिज्ञानसे उस अनुमानकी उत्पत्ति मानोगे तो अतिप्रसंग हो जायगा, यानी जलवाष्प (भाफ) में हुये धुएँके प्रत्यभिज्ञानसे जलहृदमें अग्निका समीचीन अनुमान हो जायगा। अप्रमाण ज्ञानसे जान लिये गये हेतुसे उस सदृशपनकी व्यवस्था होना मान लिया जायगा तो प्रमाण ज्ञानोंके व्यर्थपनेका प्रसंग होता है। यदि कुत्ता ही घास खोदले तो घसखोदा मनुष्यकी क्या आवश्यकता है ? इसको हम पहिले भी कह चुके हैं। तिस कारण प्रत्यभिज्ञान अनुमान प्रमाणस्वरूप नहीं है। किन्तु अनुमानसे न्यारा स्वतंत्र प्रमाण है। क्योंकि वह अपने द्वारा ज्ञात कर लिये गये विषयमें सफलप्रवृत्ति करा देनेवाला है। जैसे कि प्रत्यक्ष आदिक स्वतंत्र प्रमाण हैं। बौद्धोंने दर्शन करने योग्य आलम्बन और पीछे प्राप्त करने (पकडने) योग्य स्वलक्षणमें एकपनका अध्यारोप करके अन्य प्रमाणोंकी संगति होना स्वरूप सम्वाद जैसा प्रत्यक्ष प्रमाणमें माना है, वैसा सम्वाद इस प्रत्यभिज्ञानमें भी असिद्ध नहीं

है। अन्यथा प्रत्यक्ष और अनुमानमें भी उस सम्वादकी असिद्धिका प्रसंग होगा। भावार्थ—प्रत्यक्षमें आलम्बन और प्राप्य तथा पुनः दूसरे प्रत्यक्षका आलम्बन और प्राप्य एवं उसी विषयमें तीसरे प्रत्यक्षके प्रवृत्त होनेपर पुनः उन्हीं आलम्बन और प्राप्योंका मिल जाना, ये सम्पूर्ण व्यवस्थायें एकत्वके आरोपण करनेसे ही बन सकती हैं। पूर्वक्षणवर्त्ती विषयको ज्ञानका कारण माननेवाले क्षणिकवादियोंके पास अध्यारोपके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञानके अवसरपर भी एकत्वका आरोप कर उसी विषयमें अन्य प्रमाणोंका संगम• होनारूप संवाद बन जाता है। कोई अनुपपत्ति नहीं है।

एतेनार्थक्रियास्थितिरविसंवादस्तदभावान्न प्रत्यभिज्ञाप्रमाणमित्यपि प्रत्युक्तं। तत एव प्रत्यक्षादेरप्रमाणत्वप्रसंगात्।

इस उक्त कथन करके अर्थक्रियामें स्थिति करा देना रूप अविसम्वाद है, उसके न होनेसे प्रत्यभिज्ञा प्रमाण नहीं है,' यह कथन भी खण्डित कर दिया गया समझ लेना चाहिये। क्योंकि यों तो तिस ही कारण प्रत्यक्ष आदिकोंके अप्रमाणपनका प्रसंग होगा अर्थात् देर तक अर्थक्रिया करनेमें ठहराये रखना तो प्रत्यक्ष आदिसे भी नहीं हो पाता है। अतः वे भी प्रमाण नहीं बन सकेंगे।

प्रतिपत्तुः परितोषात्संवादस्तत्र प्रमाणतां व्यवस्थापयतीति चेत्, प्रत्यभिज्ञानेपि। न हि ततः प्रवृत्तस्यार्थक्रियास्थितौ परितोषो नास्तीति। यदि पुनः बाधकाभावः संवादस्तदभावान्न प्रत्यभिज्ञा प्रमाणमिति मतं तदा न सिद्धो हेतुः अयम् संवादाभावादिति। तथाहि—

अर्थको समझनेवाले प्रतिपत्ताका संतोष हो जानेसे उन प्रत्यक्ष आदिकोंमें सम्वाद हो जाता है, जो कि प्रत्यक्ष आदिकोंकी व्यवस्था करा देता है। इस प्रकार कहनेपर तो प्रत्यभिज्ञानमें भी वही लगालो। उस प्रत्यभिज्ञानसे अर्थको जानकर परिचित पुत्र, प्रासाद, आभूषण, आदि पदार्थोंमें प्रवर्त्त रहे पुरुषको अर्थोंकी क्रियाके स्थित रहनेमें परितोष नहीं होता है, यह नहीं समझना। किन्तु किन्हीं किन्हीं लौकिक जनोंको तो प्रत्यक्षसे जाने हुये पदार्थोंकी अर्थक्रियाकी अपेक्षा प्रत्यभिज्ञानसे जाने हुये अर्थकी अर्थक्रियास्थितिमें अधिक परितोष मिलता है। यदि फिर बौद्धोंका यह मन्तव्य होय कि उस प्रमाणके विषयमें बाधक प्रमाणोंका उत्पन्न नहीं होना ही सम्वाद है। उस सम्वादके न होनेसे (हेतु), प्रत्यभिज्ञा (पक्ष) प्रमाण नहीं है (साध्य)। ऐसा माननेपर तो हम जैन कहेंगे कि यह बौद्धोंका सम्वादाभावरूप हेतु सिद्ध नहीं है। स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। क्योंकि प्रत्यभिज्ञानके विषयका कोई बाधक नहीं है। अत. बाधकाभावरूप सम्वादका अभाव हेतु प्रत्यभिज्ञारूपपक्षमें नहीं ठहर पाया। इस बातका और भी स्पष्टकर आचार्य व्याख्यान कर देते हैं।

संवादो बाधवैधुर्यनिश्चयश्चेत्स विद्यते ।
सर्वत्र प्रत्यभिज्ञाने प्रत्यक्षादाविवांजसा ॥ ६० ॥
प्रत्यक्षं बाधकं तावन्न संज्ञानस्य जातुचित्
तद्भिन्नगोचरत्वेन परलोकमतेरिव ॥ ६१ ॥
यत्र प्रवर्त्तते ज्ञानं स्वयं तत्रैव साधकम् ।
बाधकं वा परस्य स्यान्नान्यत्रातिप्रसंगतः ॥ ६२ ॥

अन्य बाधक प्रमाणोंके रहितपनेका निश्चय हो जाना यदि सम्वाद कहा जायगा, वह तो प्रत्यक्ष आदिके समान सभी प्रत्यभिज्ञानोंमे निर्विघ्न विद्यमान है। देखिये। सबसे पहला प्रत्यक्ष प्रमाण तो प्रत्यभिज्ञानका कभी बाधक नहीं होता है। क्योंकि प्रत्यभिज्ञा द्वारा जाने गये विषयसे भिन्न हो रहे पदार्थको प्रत्यक्षज्ञान विषय करता है। जैसे कि अनुमान द्वारा हुई परलोककी ज्ञतिका बाधक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं होता है। जो कोई ज्ञान जिस विषयमें स्वयं प्रवर्त्त सकता है। वह ज्ञान उस ही विषयमें साधक अथवा बाधक हो सकेगा। दूसरे अपने अविषयमें साधक या परपक्षका बाधक न हो सकेगा। अन्यथा अतिप्रसंग हो जायगा। यानी समुद्र हंसके समान आगमज्ञानी विद्वान्के श्रुतज्ञानमें कूपमण्डूकके समान दृष्ट या प्रयुक्त विषयपर ही अभिमान करनेवाले विज्ञानवेत्ताओंका प्रत्यक्ष भी बाधक हो जायगा। लोकमें भी यह बात प्रसिद्ध है कि व्याकरणको जाननेवाला शद्बके साधु असाधुपनका साधक या बाधक हो जाता है। किन्तु वैद्यक या ज्योतिषके विषयको साधने अथवा बाधनेके लिये अपनी टांग नहीं अडा सकता है।

अदृश्यानुपलब्धिश्च बाधिका तस्य न प्रमा।
दृश्या दृष्टिस्तु सर्वत्रासिद्धा तद्गोचरे सदा ॥ ६३ ॥

प्रत्यभिज्ञान द्वारा जाने गये विषयका निषेध करनेके लिये यदि बौद्ध लोग अनुपलब्धिको बाधक खडा करेंगे उसमें हमारे दो विकल्प उठते हैं। प्रथम नहीं देखने योग्य पदार्थोकी अनुपलब्धि तो उस प्रत्यभिज्ञानकी बाधक होती हुई प्रमाण नहीं है। जैसे कि परमाणु, पिशाच, आकाश, आदि अदृश्य पदार्थोकी अनुपलब्धि होना इनके अस्तित्वका बाधक नहीं है। अभावको जाननेमें अदृश्यानुपलब्धि प्रमाण नहीं मानी गई है। अतः अदृश्यानुपलब्धि तो प्रत्यभिज्ञानका बाधक नहीं है। हां, दूसरी दृश्यकी अनुपलब्धि अभावको सिद्ध करती हुई प्रत्यभिज्ञानकी बाधक हो सकती है। किन्तु उस प्रत्यभिज्ञानके विषयमें दृश्यकी अनुपलब्धि तो सर्वत्र सर्वदा असिद्ध है। भावार्थ—

प्रत्यभिज्ञानके विषय द्रष्टव्य (प्रत्यभिज्ञेय) अर्थका सर्वत्र सर्वदा उपलम्भ हो रहा है, अनुपलम्भ नहीं है।

तदेवं न प्रत्यक्षस्वभावानुपलब्धिर्वा बाधिका।

तिस कारण इस प्रकार प्रत्यक्ष योग्य स्वभाववाले अर्थकी अनुपलब्धि तो प्रत्यभिज्ञानको बाधा करनेवाली नहीं ठहरी।

यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं सर्वथैव विलक्षणं।
ततोऽन्यत्र प्रतीघातात्सत्त्वस्यार्थक्रियाक्षतेः ॥ ६४ ॥
अर्थक्रियाक्षतिस्तत्र क्रमवृत्तिविरोधतः।
तद्विरोधस्ततोनंशस्यान्यापेक्षाविघाततः ॥ ६५ ॥
इतीयं व्यापका दृष्टिर्नित्यत्वं हंति वस्तुनः।
सादृश्यं च ततः संज्ञा बाधिकेत्यपि दुर्घटम् ॥ ६६ ॥

बौद्ध कह रहे हैं कि इस ढंगकी कई व्याप्तियां बनी हुई हैं कि जे जे सत् हैं वे सभी क्षणिक हैं अर्थात् नित्य नहीं हैं अथवा जो जो सत् है वह सभी प्रकारों करके एक दूसरेसे विलक्षण है अर्थात् कोई भी किसीके सदृश नहीं है। उससे अतिरिक्त अन्य स्थानोंमें सत्पनेका व्याघात हो जानेसे अर्थक्रियाकी क्षति है। क्योंकि व्यापक हो रही अर्थक्रियासे सत्त्व व्याप्त हो रहा है। नित्य या सदृश पदार्थमें अर्थक्रिया न होनेसे परमार्थ सत्पनेका व्याघात हो जाता है। तथा उस सर्वथा नित्य या सदृशपदार्थमें क्रम और युगपत्पनेसे प्रवृत्ति होनेका विरोध होनेसे अर्थक्रियाकी हानि हो जाती है। क्योंकि अर्थमें क्रम या यौगपद्यद्वारा प्रवृत्ति होनेसे अर्थक्रिया व्याप्त हो रही है नित्यपदार्थमें क्रम और युगपत्पनसे जब प्रवृत्ति नहीं हो रही है तो अर्थक्रिया भी नहीं हो सकती है। व्यापकके न होनेपर व्याप्य भी नहीं रहता है। तिस कारण उस नित्यपनेके साथ क्रमवृत्तिपनका विरोध है। अंशोंसे रहित क्षणिक, विलक्षण, स्वलक्षण पदार्थको अन्य कारणोंकी अपेक्षाका विघात हो रहा है। इस प्रकार यह व्यापककी अनुपलब्धि हो रही है, जो कि वस्तुके नित्यपन और सदृशपनको नष्ट कर देती है। तिस कारण व्यापकानुपलब्धि इन एकत्व प्रत्यभिज्ञान और सादृश्य प्रत्यभिज्ञानकी बाधक खडी हुई है। आचार्य कहते हैं कि यह भी बौद्धोंका कहना घटित नहीं हो सकता है।

सत्त्वमिदमर्थक्रियया व्याप्तं सा च क्रमाक्रमाभ्यां तौ चाऽक्षणिकात्सदृशाच्च निवर्तमानौ स्वव्याप्यामर्थक्रियां निवर्तयतः। सा निवर्तमाना स्वव्याप्यं सत्त्वं निवर्तयतीति

व्यापकानुपलब्धिर्नित्यस्यासत्त्वं सर्वथाऽसादृश्यं च साधयंती नित्यत्वसादृश्यविषयस्य प्रत्यभिज्ञानस्य बाधिकास्तीति केचित् । तदेतदपि दुर्घटम् । कुतः—

पूर्वपक्ष है कि यह वस्तुभूत पदार्थोंका सत्त्व तो अर्थक्रियासे व्याप्त है । तथा अर्थक्रिया क्रमसे और अक्रमसे होकरके व्याप्त हो रही है । ऐसी दशामें जब कि वे क्रम और अक्रम विचारे सर्वथा नित्य पदार्थ और सदृशपदार्थोंसे निवृत्त हो रहे हैं तो अपनेसे व्याप्य अर्थक्रियाको भी साथ लेकर ही निवृत्त करा देवेंगे और वह अर्थक्रिया जब नित्यपदार्थमें नहीं वर्त रही है तो अपने व्याप्य सत्वको भी उस कूटस्थसे निवृत्त करा लेवेगी, जैसे कि घोडेमे मनुषपना निवृत्त होता हुआ अपने व्याप्य ब्राह्मणपन और उस ब्राह्मणपनके भी व्याप्य गौडपन या सनाढ्यपनको भी निवृत्त करा देता है । इस प्रकार व्यापककी अनुपलब्धि हो रही कूटस्थ नित्यके असत्त्वका और सभी प्रकार असादृश्यका साधन कराती हुई नित्यत्व और सादृश्यको विषय करनेवाले प्रत्यभिज्ञानकी बाधक बन बैठती है । अर्थात् कूटस्थ नित्यमें जब क्रम और अक्रम नहीं हैं तो अर्थक्रिया भी न रही और व्यापक अर्थक्रियाके नहीं रहनेसे उसका व्याप्य सत्त्व नहीं रहा । अतः वह्निकी अनुपलब्धिसे जैसे धूमका अभाव सिद्ध हो जाता है । उसी प्रकार क्रमयौगपद्य या अर्थक्रियाकी अनुपलब्धिसे नित्य या सदृश अर्थमें सत्ताका अभाव सिद्ध हो जाता है । जब प्रत्यभिज्ञानके विषय एकपना (नित्यत्व) और सादृश्य ही नहीं सिद्ध हो सकेंगे तो अनुपलब्धि प्रमाणसे प्रत्यभिज्ञा बाधित हो गई, इस प्रकार कोई बौद्ध कह रहे हैं ग्रन्थकार कहते हैं कि सो यह भी उनका कहना युक्तियोंसे घटित नहीं होता है। उनके यहां दुर्घटना मच जायगी। कैसे दुर्घट है ? सो सुनिये ।

क्षणप्रध्वंसिनः संतः सर्वथैव विलक्षणाः ।
इति व्याप्तेरसिद्धत्वाद्विप्रकृष्टार्थशंकिनाम् ॥ ६७ ॥

सम्पूर्ण सत्पदार्थ क्षणमें समूलचूल नाश हो जाना स्वभाववाले हैं । यानी एक क्षणमें ही उत्पन्न होकर आत्मलाभ करते हुये द्वितीय क्षणमें विनाकारण ही ध्वंसको प्राप्त हो जाते हैं । तथा प्रतिक्षण नवीन नवीन उत्पन्न हो रहे पदार्थ सर्व ही प्रकारोंसे परस्परमें विलक्षण हैं । कोई किसीके सदृश नहीं है । सूर्य, चन्द्रमा, आत्मा, सर्वज्ञप्रत्यक्ष, परमात्मा, आदि पदार्थोंके भी उत्तर उत्तर होनेवाले असंख्य परिणाम सदृश नहीं हैं, विभिन्न हैं, इस प्रकार बौद्धोंने अपने घरका सिद्धान्त मान रक्खा है । अब आचार्य कहते हैं कि जो बौद्ध देशसे व्यवधानको प्राप्त हो रहे और काल या स्वभावोंसे विप्रकृष्ट हो रहे पदार्थोंके सद्भावमें आशंका करते रहते हैं, उनकी सत्ताका दृढ निश्चय नहीं करते हैं, उनके यहां " जो जो सत् हैं, वे क्षणिक हैं " अथवा " जो जो सत् पदार्थ हैं वे सर्वथा ही विसदृश हैं " ऐसी व्याप्ति सिद्ध नहीं हो पाती है । क्योंकि व्याप्तिका ग्रहण सम्पूर्ण देशकालवर्ती साध्य साधनोंके उपसंहार करके किया जाता है । अतः बौद्ध अनुमान द्वारा क्षणिक-

त्वको और विलक्षणताको सिद्ध नहीं कर सकते हैं। जिससे कि हमारे एकत्वग्राही या सादृश्यग्राही प्रत्यभिज्ञानमें बाधा उपस्थित हो सके।

नित्यानां विप्रकृष्टानामभावे भावनिश्चयात्।
कुतश्चिद्व्याप्तिसंसिद्धिराश्रयेत यदा तदा ॥ ६८ ॥
नेदं नैरात्मकं जीवच्छरीरमिति साधयेत्।
प्राणादिमत्वतोस्यैवं व्यतिरेकप्रसिद्धितः ॥ ६९ ॥

जगत्में कालत्रयवर्ती नित्यपदार्थोंका और स्वभाव, देश, कालसे व्यवधानको प्राप्त हो रहे पदार्थोंका अभाव माननेपर ही सत्पनेका निश्चय हो रहा है। इस प्रकार किसी विपक्षव्यावृत्ति रूप व्यतिरेकके बलसे व्याप्तिकी भले प्रकार सिद्धि होना आश्रित करोगे तब तो व्यतिरेकी हेतुसे साध्यकी सिद्धि हो जाना बौद्धोंने स्वीकृत कर लिया। ऐसी दशामें यह प्रसिद्ध व्यतिरेकी अनुमान भी सिद्ध हो जायगा कि यह रोग शय्यापर पडा हुआ जीवित शरीर (पक्ष) आत्मरहित नहीं है (साध्य)। क्योंकि श्वास, निश्वास, नाडी चलना, उष्णता, स्वर, आदिसे सहित है (हेतु)। जो सात्मक नहीं हैं, वह प्राण आदिसे युक्त नहीं हैं। जैसे कि डेल, घडा, पट्टा आदि (व्यतिरेक दृष्टान्त) इस प्रकार व्यतिरेककी प्रसिद्धि हो जानेसे यहां आत्मसहितपना सिद्ध करा दिया जा सकेगा। किन्तु बौद्धोंने व्यतिरेकी हेतुओंसे अनुमान होता हुआ माना नहीं है। बौद्धोंको अपसिद्धान्त दोषसे भयभीत होना चाहिये।

यथा विप्रकृष्टानां नित्याद्यर्थानामभावे सत्त्वस्य हेतोः सद्भावनिश्चयस्तद्व्याप्तिसिद्धिनिबंधनं तथा विप्रकृष्टस्य आत्मनः पाषाणादिष्वभावे प्राणादिमत्त्वस्य हेतोरभाव निश्चयोपि तद्व्याप्तिसिद्धेर्निबंधनं किं न भवेत् ? यतो व्यतिरेक्यपि हेतुर्न स्यात्। न च सत्वादस्य विशेषं पश्यामः सर्वथागमकत्वागमकत्वयोरिति प्राणादिमत्वादे व्याप्त्यसिद्धिमुपयतां सत्त्वादेरपि तदसिद्धिर्बलादापतत्येव। ततो न क्षणिकत्वं सर्वथा विलक्षणत्वं चार्थानां सिद्ध्यति विरुद्धत्वाच्च हेतोः। तथाहि—

जिस प्रकार व्यवहित हो रहे नित्य, सदृश, स्थूल, आदि पदार्थोंके अभाव होनेपर सत्त्व हेतुके सद्भावका निश्चय होना उन क्षणिकत्व और विलक्षणत्वरूप साध्यके साथ सत्त्वहेतुकी व्याप्ति सिद्ध हो जानेका कारण है, अथवा नित्य, स्थूल, साधारण, सदृश, अर्थोंमें क्षणिकपन या सदृशपनके न होनेपर सत्त्वके रहनेकी बाधाका निश्चय होना उनकी व्याप्ति बन जानेका कारण है, उसी प्रकार पत्थर, ईंट, किवाड, आदि पदार्थोंमें विवादापन्न होकर व्यवहित हो रहे आत्माके अभाव होनेपर पाषाण आदिमें प्राण आदिसे सहितपन हेतुके अभावका निश्चय करना भी उन

आत्मसहितपन और प्राण आदि सहितपनरूप साध्य हेतुओंकी व्याप्तिको सिद्ध करानेका कारण क्यों नहीं हो जावेगा? जिससे कि बौद्धोंके यहां अन्वयीके समान व्यतिरेकी भी हेतु न हो सके, यानी व्यतिरेकी भी हेतु बन जायगा। सत्त्व हेतुको व्यतिरेककी सामर्थ्यसे क्षणिकपन साध्यका बोधक मान लिया जाय और प्राणादिमत्त्वको सात्मकपनको साधनेके लिये गमक न माना जाय, इस पक्षपात पूर्ण उक्तिमें कोई नियामक नहीं है। हम सत्त्व हेतुसे इस प्राणादिमत्त्वका सभी प्रकारोंसे गमकपन और सर्वथा अज्ञापकपनमें कोई विशेष चमत्कार नहीं देख रहे हैं। फिर सत्त्वको गमकपना और प्राण आदि सहितपनेको अगमकपना क्यों कहा जा रहा है? इस ढंगसे प्राणादिमत्त्व और पुद्गलका इतर द्रव्योंसे भेदको साधनेके लिए दिया गया रूपवत्त्व इत्यादिक व्यतिरेकी हेतुओंकी व्याप्तिकी सिद्धिको नहीं स्वीकार करनेवाले बौद्धोंके यहां सत्त्व, कृतकत्व, आदि हेतुओंकी भी अपने साध्य क्षणिकपन आदिके साथ उस व्याप्तिका नहीं सिद्ध होना बलात्कारसे आगिरता ही है। तिस कारण पदार्थोंका क्षणिकपना और सर्वथा विलक्षणपना नहीं सिद्ध होता है। सत्त्व हेतुकी प्रकृतसाध्यके साथ व्याप्ति सिद्ध नहीं हो सकी है। दूसरी बात यह भी है कि बौद्धोंका अपना क्षणिकपनेका सिद्धान्त पुष्ट करनेके लिये दिया गया सत्त्व हेतु विरुद्धहेत्वाभास भी है, सो प्रसिद्ध ही है, इसको दिखलाते हैं। " साध्यविपरीतव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः "।

क्षणिकेपि विरुध्येते भावेनंशे क्रमाक्रमौ।
स्वार्थक्रिया च सत्वं च ततोनेकान्तवृत्ति तत् ॥ ७० ॥

एक ही क्षणतक ठहरनेवाले और अंशोंसे रहित निरात्मक भावमें भी क्रम और यौगपद्य नहीं ठहरते हैं। तथा अपने योग्य अर्थक्रिया भी नहीं होती है। अर्थात् कूटस्थके समान निःस्वभाव क्षणिक पदार्थमें भी क्रम और यौगपद्य तथा अर्थक्रियाका होना विरुद्ध हो रहे हैं। क्योंकि ये अनेक धर्म आत्मक पदार्थमें पाये जाते हैं तिस कारण वह बौद्धोंका सत्त्व हेतु विपक्षमें वृत्ति होनेसे अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है। अथवा एकान्त साध्यवान्से विपरीतमें वृत्ति कर रहा वह हेतु विरुद्ध है।

सर्वथा क्षणिके न क्रमाक्रमौ परमार्थतः संभवतस्तदसंभवे ज्ञानमात्रमपि स्वकीयार्थक्रिया कुतो व्यवतिष्ठते? यतः सत्त्वं ततो विनिवर्तमानं कथंचित्क्षणिकेनेकांतात्मनि स्थितिमासाद्य तद्विरुद्धं न भवेदित्युक्तोत्तरमायं।

सभी प्रकार मूलसे ही दूसरे क्षणमें नाश होनेवाले पदार्थमें वास्तविकरूपसे क्रम और अक्रम नहीं बनते हैं। क्रम तो कालान्तरस्थायी पदार्थमें बनता है और अक्रम यानी एक साथ कई कार्योंको करना भी कुछ देरतक ठहरनेवाले पदार्थमें संभवता है। तिस कारण उन क्रम अक्रमके

असम्भव होनेपर ज्ञानमात्र हो जाना इस अपनी निजकी अर्थक्रियाकी भी भला कैसे व्यवस्था हो सकेगी ? जिससे कि उस सर्वथा क्षणिकसे निवृत्तिको प्राप्त हो रहा सन्ता सत्त्व हेतु अनेकान्तस्वरूप कथंचित् क्षणिकपदार्थमें स्थितिको प्राप्त करके उस क्षणिकपनसे विरुद्ध नहीं होता। भावार्थ—सम्पूर्ण पदार्थोंकी सबसे पहिली सुलभ अर्थक्रिया संसारी जीवों या सर्वज्ञके ज्ञान द्वारा अपनी ज्ञप्ति करा देना है, जब कि सर्वथा क्षणिक पदार्थ क्रम और अक्रम धर्मोंसे युक्त नहीं हैं, तो अपना ज्ञान करानारूप अर्थक्रियाको वह असत् भला कहांसे करायगा ? व्यापकके न रहनेपर व्याप्य भी नहीं रहता है। अतः कथंचित् क्षणिकपनके साथ व्याप्ति रखनेवाला सत्त्व हेतु सर्वथा क्षणिकत्वको साधनेमें विरुद्ध पड गया। इस प्रकार बौद्धोंके यहां माना गया क्षणिकपन सिद्ध नहीं हुआ और भी इस प्रकारकी शंका-ओंके उत्तर हम पहिले प्रकरणोंमें बाहुल्यसे कह चुके हैं। यहां प्रकरण बढाना अभीष्ट नहीं है।

तथा च किं कुर्यादित्याह:—

और तिस प्रकार जैनोंके अनुसार सिद्ध हुआ वह हेतु प्रकरणमें क्या करेगा ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज स्पष्ट व्याख्यान करते हैं।

निहंति सर्वथैकांतं साधयेत्परिणामिनं।
भवेत्तत्र न भावे तत्प्रत्यभिज्ञा कथंचन ॥ ७१ ॥

तिस कारण सत्त्व हेतुसे कथंचित् क्षणिकपन और न्यारे न्यारे पदार्थोंमें कथंचित् सदृशपना सिद्ध हो जानेसे निर्बाध हो गई सदृशपन और एकपनको विषय करनेवाली प्रत्यभिज्ञा नामकी प्रतीति (कर्त्री) पदार्थोंके सर्वथा नित्यपन अथवा क्षणिकपनके एकान्तको नष्ट कर देती है। और पदार्थोंके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूपपरिणामका साधन करा देती है। ऐसे अनेकान्तरूप और परिणामी उस पदार्थमें भला वह प्रत्यभिज्ञान कैसे नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य होगा। परिणाम नहीं होनेवाले कूटस्थ और निरंश एकान्त क्षणिक पदार्थोंकी सिद्धि नहीं हो सकी है। कथंचित् नित्य, परिणामी, अनेक धर्मात्मक, वस्तुभूत अर्थमें प्रत्यभिज्ञान प्रमाणका विषयपना है।

द्रव्यपर्यायात्मनि नित्यात्मके वस्तुनि जात्यंतरपरिणामिन्येव द्रव्यतः प्रत्यभिज्ञा सदृश परिणामतो वा संभवति सर्वथा विरोधाभावान्न पुनर्नित्याद्येकांते विरोधसिद्धेः। तथाहि—

द्रव्य और पर्यायोंमें तदात्मक हो रहे कथंचित् नित्य अनित्यस्वरूप तथा पूर्वस्वभावका त्याग, उत्तरस्वभावका ग्रहण, स्थूल पर्यायोंकी ध्रुवतास्वरूप, ऐसी विलक्षण जातिकी वस्तुमें ही द्रव्य करके अथवा सदृश परिणाम होनेसे प्रत्यभिज्ञान सम्भवता है। सभी प्रकारोंसे विरोध नहीं है। हां, फिर नित्यपन, क्षणिकपन, अकेले द्रव्यपन, अकेले पर्यायपन, आदिका एकान्त स्वीकार करनेपर तो प्रत्यभिज्ञान नहीं होता है। क्योंकि विरोध होना सिद्ध है। आचार्य महाराज इसी अर्थको विशद कर कहते हैं।

नित्यैकांते न सा तावत्पौर्वापर्यवियोगतः ।
नाशैकांतेपि चैकत्वसादृश्याघटनात्तथा ॥ ७२ ॥

पदार्थको कूटस्थ नित्यपनका एकान्त माननेपर तो पहिले पीछेपनका वियोग हो जानेसे वह प्रत्यभिज्ञा नहीं बन पाती है । तथा सर्वथा क्षणमें नाश हो जानेका एकान्त माननेपर भी तिस प्रकार एकपन और सदृशपन नहीं घटित होता है । अतः क्षणिक पक्षमें भी एकत्व विषयिणी और सादृश्यविषयिणी प्रत्यभिज्ञा नहीं बनी । किन्तु लोकमें समीचीन प्रत्यभिज्ञान हो रहे देखे जाते हैं ।

नित्यानित्यात्मके त्वर्थे कथंचिदुपलक्ष्यते ।
जात्यंतरे विरुध्येत प्रत्यभिज्ञा न सर्वथा ॥ ७३ ॥

हां, स्याद्वादसिद्धान्त अनुसार नित्य, अनित्य, एकान्तोंसे न्यारी जातिवाले कथंचित् नित्य अनित्य आत्मक अर्थमें तो वह प्रत्यभिज्ञान हो रहा दीखता है । अतः दही और गुडकी मिली हुई अवस्थाके तीसरे स्वादसमान नित्य अनित्यसे न्यारी तीसरी जातिवाले अर्थमें प्रत्यभिज्ञान होनेका सभी प्रकारोंसे विरोध नहीं है । नित्य द्रव्योंको द्रव्यार्थिकनय विषय करता है । और अंशरूप पर्यायोंको पर्यायार्थिकनय जानता है । किन्तु द्रव्य और पर्यायोंसे तदात्मक हो रही जात्यंतरवस्तुको प्रमाणज्ञान जानता है ।

ततो न प्रत्यभिज्ञायाः किंचिद्बाधकमस्तीति बाधाविरहलक्षणस्य संवादस्य सिद्धेरप्रमाणत्वसाधनमयुक्तं ।

तिस कारण अबतक सिद्ध हुआ कि सादृश्य प्रत्यभिज्ञा या एकत्व प्रत्यभिज्ञाका बाधक कोई नहीं है । इस कारण बाधाओंका विरहस्वरूप सम्वादकी सिद्धि हो जानेसे फिर प्रत्यभिज्ञानमें अप्रमाणपनका साधन करना युक्त नहीं है । " नन्वस्त्वेकत्व " आदि पचासवीं कारिकामें किये गये कटाक्षको आप बौद्ध लौटा लीजिये, इसीमें कल्याण है ।

ननु चैकत्वे प्रत्यभिज्ञा तत्सिद्धौ प्रमाणं संवादात्तत्प्रमाणत्वसिद्धौ ततस्तद्विषयस्यैकत्वस्य सिद्धिरित्यन्योन्याश्रयः । प्रत्यभिज्ञांतरात्प्रथमप्रत्यभिज्ञाविषयस्य साधने तद्विषयस्यापि प्रत्यभिज्ञांतरात्साधनमित्यनवस्थानमिति चेन्न, प्रत्यक्षस्यापि नीलादौ प्रमाणत्वसाधने समानत्वात् । इतरथाहि—

बौद्ध शंका करते हैं कि जैनोंके कथनमें अन्योन्याश्रय दोष है कि वास्तविक एकत्वमें प्रत्यभिज्ञाकी प्रवृत्ति आप जैनोंने मानी है । उस वस्तुभूत एकत्वकी सिद्धि हो जानेपर बाधविधुरत्वरूप सम्वादसे प्रत्यभिज्ञानमें प्रमाणपना सिद्ध होय और उस प्रत्यभिज्ञानमें प्रमाणपना सिद्ध हो चुकनेपर

उस प्रमाणके विषय वास्तविक एकत्वकी सिद्धि होय यह परस्पराश्रय हुआ । यदि दूसरे प्रत्यभिज्ञानसे पहिले प्रत्यभिज्ञानके विषय एकत्वको साधा जायगा तब तो दूसरे प्रत्यभिज्ञानके विषयकी भी अन्य तीसरे, चौथे, आदि प्रत्यभिज्ञानोंसे सिद्धि होगी इस प्रकार अनवस्था दोष आता है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो बौद्धोंको नहीं कहना चाहिये । क्योंकि यों तो प्रत्यक्षको भी नील आदि विषयोंको जाननेमें प्रमाणपना माननेपर समानरूपसे अन्योन्याश्रय और अनवस्था दोष प्राप्त हो जायंगे दूसरे प्रकारसे इन ही दोषोंको अपने ऊपर लागू होता सुनियेगा ।

नीलसंवेदनस्यार्थे नीले सिद्धे प्रमाणता ।
तत्र तस्यां च सिद्धायां नीलोर्थस्तेन सिध्यति ॥ ७४ ॥

वास्तविक नील पदार्थके सिद्ध होजानेपर नील प्रत्यक्षको प्रमाणपना आता है । और उस नीलस्वलक्षणमें हुये नील ज्ञानकी उस प्रमाणताके सिद्ध हो चुकनेपर उस प्रमाणज्ञानसे नील स्वलक्षणरूपी अर्थ सिद्ध होता है, यह अन्योन्याश्रय दोष हुआ । दूसरे आदि प्रत्यक्षोंसे विषयसिद्धि माननेपर अनवस्था दोष लग जायगा ।

इत्यन्योन्याश्रितं नास्ति यथाभ्यासबलात्क्वचित् ।
स्वतः प्रामाण्यसंसिद्धेरध्यक्षस्वार्थसंविदः ॥ ७५ ॥
तदेकत्वस्य संसिद्धौ प्रत्यभिज्ञा तदाश्रया ।
प्रमाणं तत्प्रमाणत्वे तया वस्त्वेकता गतिः ॥ ७६ ॥
इत्यन्योन्याश्रितिर्नस्यात्स्वतः प्रामाण्यसिद्धितः ।
स्वभ्यासात्प्रत्यभिज्ञायास्ततोन्यत्रानुमानतः ॥ ७७ ॥

यदि बौद्ध यों कहें कि किसी ज्ञानमें प्रमाणपनेकी सिद्धि यथायोग्य अभ्यासके बलसे स्वयं हो जाती है और किसी अर्थमें वस्तुभूतपना भी अभ्यासकी सामर्थ्यसे स्वयं हो जाता है । दूसरी तीसरी कोटिपर अभ्यास दशाके परमार्थ स्वलक्षण या प्रमाणज्ञान सुलभतासे मिलजाते हैं । अतः प्रत्यक्षरूप स्वार्थसम्वित्तिका प्रमाणपना स्वतः ही अभ्यासवश अच्छा सिद्ध हो रहा है । इस कारण अन्योन्याश्रय दोष नहीं है । जिस प्रकार बौद्धोंका यह कथन है उसी प्रकार हम स्याद्वादी कहते हैं कि कहीं उस वस्तुभूत एकत्वकी समीचीन सिद्धि होनेपर उसके आश्रयसे प्रत्यभिज्ञान प्रमाण हो जाता है । और कचित् उस प्रत्यभिज्ञाका प्रमाणपन अच्छा सिद्ध हो चुकनेपर उस प्रमाण आत्मक प्रत्यभिज्ञा करके वस्तुभूत एकपना जानलिया जाता है । इस प्रकार हमारे यहां भी अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता है । क्योंकि अच्छा अभ्यास होनेसे प्रत्यभिज्ञानको स्वतः ही प्रमाणपना सिद्ध हो

रहा है। हां, उस अभ्यासदशाके अतिरिक्त अनभ्यस्त स्थलपर अनुमानसे प्रत्यभिज्ञाको प्रमाणपना साधलिया जाता है। वह अनुमान या उसके भी प्रमाणपनके लिये उठाया गया अन्य अनुमान अभ्यासदशाका होनेसे स्वतः प्रमाणरूप है। यही उपाय बौद्धोंका शरण्य है।

प्रत्यभिज्ञांतरादाद्यप्रत्यभिज्ञार्थसाधने।
यानवस्था समा सापि प्रत्यक्षार्थप्रसाधने ॥ ७८ ॥
प्रत्यक्षांतरतः सिद्धात्स्वतः सा चेन्निवर्तते।
प्रत्यभिज्ञांतरादेतत्तथाभूतान्निवर्तताम् ॥ ७९ ॥

आप बौद्धोंने आदिमें हुयी प्रत्यभिज्ञाके विषयभूत अर्थको साधनेमें दूसरी, तीसरी, आदि प्रत्यभिज्ञाओंकी आकांक्षा बढती बढती जानेसे जो अनवस्था दोष दिया था, वह दोष आपके यहां प्रत्यक्ष द्वारा अर्थका समीचीन साधन करनेमें भी समान ढंगसे लागू होता है। अर्थात् पहिले प्रत्यक्षके जाने हुये विषयकी वस्तुभूतपनेसे सिद्धि अन्य प्रत्यक्ष प्रमाणसे की जायगी और अन्य प्रत्यक्षके विषयका वास्तविकपना तीसरे, चौथे, आदि प्रत्यक्षोंसे साधा जायगा, यह अनवस्था आती है। यदि बौद्ध यों कहें कि अभ्यासदशाके स्वतः सिद्ध प्रामाण्यको रखनेवाले अन्य प्रत्यक्षसे आद्य-प्रत्यक्षके विषयका यथार्थपना साध लिया जायगा, अतः वह अनवस्था दोष निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन भी यही समाधान कर देवेंगे कि तैसे ही हो रहे। स्वतः सिद्ध प्रमाणपनको धरनेवाले अभ्यास दशाके अन्य प्रत्यभिज्ञानसे यह पहिले प्रत्यभिज्ञानका विषय भी वस्तुभूत साध लिया जाता है। अतः अनवस्था दोष निवृत्त हो जाओ।

ततो नैकत्वप्रत्यभिज्ञानं सावद्यं सर्वदोषपरिहारात्।

तिस कारण एकत्वको जाननेवाला प्रत्यभिज्ञान सदोष नहीं है। क्योंकि प्रतिवादियों द्वारा उठाये गये सम्पूर्ण दोषोंका समीचीन युक्तियोंसे निवारण कर दिया गया है।

सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमेतेनैव विचारितम्।
प्रमाणं स्वार्थसंवादादप्रमाणं ततोन्यथा ॥ ८० ॥

इस उक्त कथन करके ही सादृश्यको विषय करनेवाले प्रत्यभिज्ञानका भी विचार कर दिया गया, समझलो। अपने और अर्थके जाननेमें बाधा नहीं पडनारूप सम्वादसे वह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है। और उससे अन्यथा होनेपर यानी सादृश्य प्रत्यभिज्ञानके स्व और सादृश्य विषयमें व्यभि-चार या बाधा उपस्थित होनेपर सादृश्यज्ञान अप्रमाण है, अर्थात् उसी एकमें या विसदृशपदार्थमें हुआ सदृशपनेका प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण है। सदृश अर्थमें हो रहा सादृश्य ज्ञान प्रमाण है। यह व्यवस्था सभी ज्ञानोंमें है।

ननु इदं सादृश्यं पदार्थेभ्यो यदि भिन्नं तदा कुतस्तेषामिति प्रदर्श्यते। संबंधवत्त्वाचेत् कः पुनः सादृश्यतद्वतामर्थांतरभूतानामकार्यकारणात्मनां संबंधः? समवाय इति चेत्, कः पुनरसौ? न तावत्पदार्थांतरमनभ्युपगमात्।

वैशेषिक और नैयायिक सादृश्यको न्यारा पदार्थ नहीं मानते हैं। नियत माने जा रहे द्रव्य आदि पदार्थोंमें गर्भित कर लेते हैं। सादृश्यको मीमांसक स्वतंत्र पदार्थ मानते हैं। जैन विद्वान् प्रकृत वस्तुमें हो रहे अन्य कतिपय पदार्थोंके सदृश परिणमनको सादृश्य कहते हैं। बौद्ध विद्वान् सादृश्यको सर्वथा स्वीकार नहीं करते हैं। इस प्रकरणमें सादृश्य प्रत्यभिज्ञानके विषयको असिद्ध करनेके लिये बौद्धोंका लम्बा चौडा पूर्वपक्ष है। बौद्ध प्रथम ही प्रश्न उठाते हैं कि यह सदृशपना यदि पदार्थोंसे भिन्न है, तब तो उन पदार्थोंका यह सादृश्य है ऐसा कैसे भला दिखलाया जाता है? बताओ। जो जिससे सर्वथा भिन्न होता है, उन पदार्थोंमें स्वस्वामी आदि संबंधको कहनेवाली षष्ठी विभक्ति नहीं उतरती है। जैसे कि सुदर्शनमेरुका स्वयम्भूरमण समुद्र है, यह षष्ठी विभक्ति शोभा नहीं देती है। क्योंकि सुदर्शनमेरुसे स्वयंभूरमण समुद्र सर्वथा भिन्न है। मिलता जुलता नहीं है। यदि जैन लोग भेद रहनेपर भी सदृश पदार्थ और सादृश्यका संबंध हो जानेसे " उनका यह सादृश्य है " यह व्यवहार करेंगे तब तो हम पूछते हैं कि सर्वथा भिन्न भिन्न पडे हुये और कार्यकारणस्वरूप नहीं हो रहे उन सादृश्य और सादृश्यवान् अर्थोंका फिर कौन संबंध माना गया है? बताओ। यदि सदृश और सादृश्यका समवाय संबंध है यों कहोगे तब तो फिर हम बौद्ध पूछते हैं कि वह समवाय फिर क्या पदार्थ? बताओ। वैशेषिकोंके समान छठवां स्वतंत्र न्यारा पदार्थ तो समवाय है नहीं। क्योंकि जैनोंने वैशेषिकोंके समवायको स्वीकार नहीं किया है।

अविष्वग्भाव इति चेत् सर्वात्मनैकदेशेन वा, प्रतिव्यक्ति। सर्वात्मना चेत्सादृश्यबहुत्वप्रसंगः। न चैकत्र सादृश्यं तस्यानेकस्वभावत्वात्। यदि पुनरेकदेशेन सादृश्यं व्यक्तिषु समवेतं तदा सावयवत्वं स्यात्। तथा च तस्य स्वावयवैः संबंधचिंतायां स एव पर्यनुयोग इत्यनवस्था।

बौद्ध ही कह रहे हैं कि वह समवाय यदि अविष्वग्भावरूप है यानी पृथग्भाव न होने देना स्वरूप है, तब तो हम बौद्ध आप जैनोंको पूछते हैं कि वह सादृश्य सम्पूर्ण अंशोंसे रहेगा? या एकदेशसे ठहरेगा? यदि घट, गौ, आदि प्रत्येक व्यक्तियोंमें पूर्णरूपसे सादृश्य ठहर जायगा, तब तो बहुतसे सादृश्य होनेका प्रसंग होता है। जो अनेक व्यक्तियोंमें प्रत्येकमें पूरे भागोंसे ठहरता है, वह एक नहीं अनेक हैं। दूसरी बात यह है कि एक ही व्यक्तिमें पूरे अंशोंसे जब सादृश्य ठहर गया तो उस एक ही में ठहरनेवालेको सदृशपना प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि वह सादृश्य तो अनेकोंका स्वभाव हो रहा है। अर्थात् सादृश्य दो आदि व्यक्तियोंमें रहता है। एकमें नहीं, यदि

फिर एक ही सादृश्यका अनेक व्यक्तियोंमें एक एक देशसे समवाय संबंध द्वारा ठहरना मानोगे तब तो वह सादृश्य अपने एक एकदेशरूप अवयवोंसे सहित हो जावेगा। और तैसा होनेपर उस सादृश्यका अपने अवयवोंके साथ पुनः संबंधका विचार होनेपर वही प्रश्न खडा होता रहेगा अर्थात् अपने एक एक अवयवमें वह सादृश्य अपने एकदेशसे ठहरेगा, ऐसी दशामें फिर उसके अवयव मानने पडेंगे और उन अवयवोंमें भी पहिलेसे अपने अनेक अवयवोंको धारता हुआ सादृश्य एक एक अंशसे ठहरेगा। इस प्रकार अनवस्था होती है। अतः सदृश पदार्थोंसे भिन्न पडे हुये सादृश्यकी सिद्धि जैनोंद्वारा न हो सकी।

यदि पुनरभिन्नं सादृश्यमर्थेभ्योऽभ्युपगम्यते तदापि तस्यैकत्वे तदभिन्नानामर्थानामेकत्वापत्तिरेकस्मादभिन्नानां सर्वथा नानात्वविरोधात्। पदार्थनानात्ववद्वा तस्य नानात्वेभ्योऽनर्थान्तरस्य सर्वथैकत्वविरोधात्। तथा चोभयोरपि पक्षयोः सादृश्यासंभवः। सादृश्यवतां सर्वथैकत्वे तत्र सादृश्यानवस्थानात्। सादृश्यं सर्वथा नाना चेत् सादृश्यरूपतानुपपत्तेः।

यदि फिर सदृश अर्थोंसे सादृश्यको अभिन्न स्वीकार करोगे तो भी उस सादृश्यको यदि एक माना जायगा तो उस सादृश्यसे अभिन्न हो रहे अर्थोंके भी एकपनका प्रसंग होता है। क्योंकि जो एक पदार्थसे अभिन्न हो रहे हैं। उनके सर्वथा अनेकपनका विरोध है अथवा अभेदपक्षमें पदार्थोंके अनेकपनके समान उस सादृश्यको भी अनेकपना प्राप्त होगा। अनेकोंसे अभिन्न हो रहे पदार्थको सभी प्रकार एकपन हो जानेका विरोध है। किन्तु मीमांसकोंने अनेकोंमें रहनेवाले भी सादृश्यको एक ही इष्ट किया है। अतः उक्त प्रकारसे भिन्न अभिन्न दोनों भी पक्षोंमें सादृश्यका बनना असम्भव है। सादृश्यवाले गौ, घट, मुद्रा, आदि पदार्थोंको सर्वथा एक हो जाना माननेपर तो उस एकमें सदृशपना व्यवस्थित नहीं होगा। छोटीसे छोटी भी नदीके दो किनारे होने चाहिये। दूसरे पदार्थके आघातसे ही ताळी बजसकती है। इसी प्रकार एक हीमें रहनेवाला सादृश्य नहीं होता है। तभी तो साहित्यवालोंने " गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः " यहां उपमालंकार नहीं मानकर अनन्वय माना है। यदि सादृश्यको व्यक्तियोंके समान सर्वथा अनेक मानोगे तो उसको सादृश्यरूपपना नहीं बन पाता है। अनेकोंमें पडे हुये एकसे रूपको सादृश्य कहते हैं। जो स्वयं अनेक होकर सर्वथा न्यारा न्यारा हो रहा है, वह सादृश्य नहीं है, किन्तु भिन्नता है।

सादृश्यमर्थेभ्यो भिन्नाभिन्नमिति चायुक्तं विरोधादुभयदोषानुषंगाच्च। तदर्थेभ्यो येनात्मना भिन्नं तेनैवाभिन्नं विरुध्यते। परेण भिन्नं तदन्येनाभिन्नमित्यवधारणात्तदुभयदोषप्रसक्तिः। संशयवैयधिकरण्यादयोपि दोषास्तत्र दुर्निवारा एवेति सादृश्यस्य विचारासहत्वात् कल्पनारोपितत्वमेव तद्विषयं च प्रत्यभिज्ञानं स्वार्थे संवादशून्यं न प्रमाणं नामावि-

प्रसंगात् । कल्पनारोपितादेव स्वार्थसंवादात्प्रमाणत्वे मनोराज्यादिविकल्पकलापस्य प्रमाणत्वानुषंगात् तादृक्संवादस्य सद्भावादिति कश्चित् तं प्रत्याह—

बौद्ध ही कहे जा रहे हैं कि सादृश्यको अर्थोंसे भिन्न और अभिन्न यह कहना भी अयुक्त है। क्योंकि एक ही धर्मको भिन्न और अभिन्न कहनेमें विरोध दोष आता है। तथा दूसरे उभय नामके दोषका भी प्रसंग होता है। देखिये। वह सादृश्य सदृश अर्थोंसे जिस स्वरूप करके भिन्न है, उस ही स्वरूप करके अभिन्न कहा जा रहा है। यह कहना विरुद्ध आ पडता है। यदि वह सादृश्य दूसरे स्वभावोंसे भिन्न है, और उनसे न्यारे अन्य तीसरे स्वभावोंसे अभिन्न है, ऐसा नियम करनेसे विरुद्ध दोष तो हट गया, किन्तु उस उभय नामके दोषका प्रसंग आया। जैनोंके उस भेद अभेद पक्षमें लग रहे संशय, वैयधिकरण्य, संकर, व्यतिकर, अनवस्था, अप्रतिपत्ति, अभाव इन दोषोंका भी कठिनतासे ही निवारण हो सकता है। जिस स्वभावसे भेद या अभेद हैं उनमें परिवर्तन कर संशय उठाना संशय दोष है। भेद और अभेदका नियम करनेवाले स्वभावोंका न्यारा न्यारा अधिकरण होना यह वैयधिकरण्य है। भेद अभेद दोनोंका एक ही समय वहीं प्राप्त हो जाना संकर है। परस्परमें विषयगमन करना व्यतिकर है। अकेले भेदवाले और अभेदवालेमें पुनः भेद अभेद माननेकी जिज्ञासा बढ जानेसे अनवस्था होती है। ठीक समझनेका कोई उपाय शेष न रहनेसे धर्म और धर्मीकी अप्रतिपत्ति हुई। तब तो अन्तमें जाकर उन धर्म धर्मियोंका अभाव हो जाता है। इस कारण उक्त प्रक्रियासे तुम्हारा माना हुआ सादृश्य पदार्थ हम बौद्धोंके विचारोंको नहीं सह सकता है। अतः कल्पनासे गढ लिया गया ही सादृश्य है, वस्तुभूत नहीं है। ऐसे सादृश्यको विषय करनेवाला प्रत्यभिज्ञान तो अपने विषयमें बाधवैधुर्यरूप सम्वादसे रहित होता हुआ प्रमाण कैसे भी नहीं है। अन्यथा अतिप्रसंग हो जायगा, यानी सम्वादरहित हो रहे संशय, विपर्ययज्ञान भी प्रमाण बन बैठेंगे। तथा कल्पनासे आरोपे गये ही स्वार्थके सम्वादसे यदि प्रमाणपना व्यवस्थित किया जायगा तो खेलनेवाले बालक, या मद्यपायी अथवा स्वप्नदर्शी पुरुषके मनमें गढ लिये गये राजापन, पण्डितपन, जगत्सेठपन, आदि विकल्पज्ञानोंके समुदायको भी प्रमाण बननेका प्रसंग हो जायगा। क्योंकि तैसा कल्पित सम्वाद तो कल्पना ज्ञानोंमें विद्यमान है। इस प्रकार बडी देरसे कोई कह रहा है। उस बौद्धके प्रति आचार्य महाराज अब स्पष्ट उत्तरपक्ष कहते हैं।

भेदाभेदविकल्पाभ्यां सादृश्यं येन दूष्यते ।
वैसादृश्यं कुतस्तस्य पदार्थानां प्रसिध्यतु ॥ ८१ ॥

जिस बौद्धवादी करके भेद और अभेदका विकल्प उठाकर सादृश्यको दूषित किया जारहा है, उस बौद्धके यहां पदार्थोंका विसदृशपना भला कैसे प्रसिद्ध होवेगा ? बताओ। सादृश्यके ऊपर जो विकल्प उठाये गये हैं वैसे ही विकल्प वैसादृश्यके ऊपर उठाकर दूषण देदिये जायेंगे।

विसदृशानां भावो हि वैसादृश्यं तच्च पदार्थेभ्यो भिन्नमभिन्नं भिन्नाभिन्नं वा स्यादतोऽन्यगत्यभावात् । सर्वथा सादृश्यपक्षभावी दोषो दुर्निवार इति कुतस्तत्सिद्धिः ।

विलक्षण पदार्थोंका भाव वैसादृश्य माना गया है और वह विसमानता विलक्षण पदार्थोंसे भिन्न है ? या अभिन्न है ? अथवा भिन्न अभिन्न है ? बताओ । इससे अन्य कोई गति नहीं, यानी कोई उपाय नहीं है । इन तीनों पक्षोंमें वे ही सादृश्यके पक्षमें लागू होनेवाले दोष सभी प्रकार कठिनतासे भी नहीं हटाये जा सकते हैं । इस प्रकार बताओ, उस वैसादृश्यकी सिद्धि कैसे होगी ? अर्थात् विभिन्न पदार्थोंमें पडी हुई विसमानता यदि उनसे सर्वथा भिन्न है तो " यह उनकी है " यह व्यवहार सर्वथा भेदपक्षमें नहीं हो सकता है । संबंध मानोगे तो सर्वथा भिन्न पडे हुये विसमान पदार्थ और वैसादृश्यका समवाय संबंध तो नहीं सम्भावता है । बौद्धोंने समवायको माना भी नहीं है । तादात्म्य संबंध माननेपर पूर्णदेश और एकदेशका विकल्प उठानेसे पूर्वोक्त प्रकार वैसादृश्य बहुत्व और अनवस्था नामके दोष आते हैं । वैसादृश्य और विसदृश अर्थोके सर्वथा अभेद माननेपर पदार्थोंके एक हो जानेका प्रसंग है । भिन्न अभिन्न पक्षमें विरोध आदिक दोष लगेंगे । इस प्रकार बौद्धोंके यहां विसदृशपनेकी भी सिद्धि नहीं हो सकेगी ।

सादृश्यवद्वैसादृश्यमपि न परमार्थमर्थक्रियाशून्यत्वात् स्वलक्षणस्यैव सत्त्वस्य परमार्थत्वात् तस्यार्थक्रियासमर्थत्वादिति चेत्—

बौद्ध कहते हैं कि चलो अच्छा हुआ, हम तो सादृश्यके समान वैसादृश्यको भी वास्तविक नहीं मानते हैं । क्योंकि विसदृशपना किसी भी अर्थक्रियाको नहीं करता है । सदृशविसदृशपनेसे रहित स्वलक्षणका तत्त्व ही अनेक अर्थक्रियाओंके करनेमें समर्थ है । इस प्रकार कहनेपर तो आचार्य महाराज उत्तर देते हैं ।

न वैसादृश्यसादृश्यत्यक्तं किंचित्स्वलक्षणं ।
प्रमाणसिद्धमस्तीह यथा व्योमकुशेशयं ॥ ८२ ॥

वैसादृश्य (विशेष) और सादृश्य (सामान्य) से रहित हुआ कोई भी बौद्धोंका माना हुआ स्वलक्षण यहां प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं है । जैसे कि आकाशका कमल सामान्यविशेषोंसे रहित होता हुआ प्रमाणसिद्ध नहीं है, यानी असत् है ।

प्रत्यक्षसंविदि प्रतिभासमानं स्पष्टं स्वलक्षणमिति चेत्—

बौद्ध कहते हैं कि स्वलक्षण तो प्रत्यक्षज्ञानमें स्पष्टरूपसे प्रतिभास रहा है । ऐसा कहनेपर तो आचार्य उत्तर देते हैं कि—

सामानाकारता स्पष्टा प्रत्यक्षं प्रतिभासते ।
वर्तमानेषु भावेषु यथा भिन्नस्वभावता ॥ ८३ ॥

उसी प्रकार वर्त्तमान कालमें विद्यमान हो रहे पदार्थोंमें समान आकारधारीपना स्पष्ट होकर प्रत्यक्षका विषय होता हुआ प्रतिभास रहा है, जिस प्रकार कि पदार्थोंमें भिन्न भिन्न स्वभाव सहितपना दीखरहा है। अर्थात् यह इससे न्यारा है इसका स्वभाव इससे भिन्न है, इत्यादि व्यावृत्ति बुद्धियोंसे जैसे पदार्थोंमें विशेष प्रतिभासित होता है, उसीके समान यह भी द्रव्य है, यह उसके समान है, ब्राह्मण शूद्र दोनों भी मनुष्य हैं, इत्यादि अन्वय बुद्धिके द्वारा सामान्य भी स्पष्ट दीख रहा है।

इदानींतनतया प्रतिभासमाना हि भावास्तेषु यथा परस्परं भिन्नरूपं प्रत्यक्षे स्पष्टमवभासते तथा समानमपीति सदृशेतरात्मकं स्वलक्षणं सिद्धमन्यथा व्योमारविंदवत्तस्यानवभासनात्। स्पष्टावभासित्वं समानस्य रूपस्य भ्रांतमिति चेत्, भिन्नस्य कथमभ्रांतं। बाधकाभावादिति चेत्, सामान्यस्य स्पष्टावभासित्वे किं बाधकमस्ति ? न तावत्प्रत्यक्षं स्वलक्षणानि पश्यामीति प्रयतमानस्यापि स्थूलस्थिराकारस्य साधनस्य स्फुटं दर्शनात्। तदुक्तं। " यस्य स्वलक्षणान्येकं स्थूलमक्षणिकं स्फुटम् । यद्वा पश्यति वैशद्यं तद्विद्धि सदृशस्मृतेः ॥ " इति।

इस समय वर्तमानकालमें वर्त्तरहे स्वभावसे प्रतिभास रहे जो पदार्थ है उनमें परस्परमें एक दूसरेसे भिन्न हो रहे स्वरूपका जैसे स्पष्ट प्रतिभास होता है। तिस ही प्रकारसे पदार्थ परस्परमें समान हैं। इस ढंगसे समानरूपका भी प्रत्यक्षमें स्पष्ट प्रकाश हो रहा है। इस प्रकार सदृश और विसदृश धर्मस्वरूप स्वलक्षण पदार्थ सिद्ध हुआ। अन्यथा यानी निःस्वरूप उस सामान्य विशेष रहित स्वलक्षणका आकाश कमलके समान किसीको कभी प्रकाशन नहीं होता है। बौद्ध कहते हैं कि पदार्थोंके सामान्यस्वरूपका स्पष्ट प्रतिभास होना तो भ्रान्त है। वस्तुभूत विशेषात्मक स्वलक्षणका ही स्पष्ट प्रकाश होता है। अवस्तुभूत सामान्यका नहीं। इस प्रकार कहनेपर तो हम बौद्धोंसे पूछते हैं कि वैसादृश्य यानी एक दूसरेसे सर्वथा भिन्नरूपका प्रतिभास होना भ्रान्तिरहित भला कैसे कहा जायगा ? अर्थात् पदार्थोंमें वैसादृश्यका जानना भी भ्रमरूप हो जायगा। तिसपर बौद्ध यदि यों कहें कि वैसादृश्यका जानना बाधक प्रमाण न होनेके कारण अभ्रांत है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि सामान्यका स्पष्ट प्रकाश होनेमें क्या कोई बाधक प्रमाण खडा हुआ है। बताओ ! सबसे प्रथम प्रत्यक्षज्ञान तो सादृश्यका बाधक नहीं है। प्रत्युत साधक है, स्वलक्षणोंको मैं देख रहा हूं। इस प्रकार प्रयत्न कर रहे भी पुरुषके अर्थक्रियाको साधनेवाले स्थूल, स्थिर, साधारण,

(सादृश्य) आकारवाले अर्थका स्पष्ट प्रदर्शन हो रहा है। अर्थात् प्रत्यक्ष द्वारा सर्वथा सूक्ष्म, क्षणिक, विसदृश, ऐसे कोई पदार्थ नहीं दीख रहे हैं। किंतु स्थूल, कालान्तरतक ठहरनेवाले, सदृश, अर्थोंका विशद प्रत्यक्ष हो रहा है। वही हमारे यहां ग्रन्थोंमें कहा है कि जिसके यहां स्वलक्षणोंको जाननेवाला प्रत्यक्ष ही एक, स्थूल, अक्षणिक, ऐसे पदार्थको स्पष्ट देख रहा है, अथवा जिस प्रकार वैशद्यरूप होय उस प्रकार देख रहा है, उसीके समान सादृश्यको भी प्रत्यक्ष-ज्ञान स्पष्ट देख रहा है। क्योंकि पीछेसे सदृश पदार्थकी स्मृति हो जाती है। भावार्थ—सादृश्यको यदि प्रत्यक्षने न देखा होता तो पीछे स्मरण कैसे हो जाता ? भला तुम ही बताओ ? अतः पीछेसे सादृश्यकी स्मृति होनेसे समझलो कि सादृश्यका प्रत्यक्ष हो जाता था।

नाप्यनुमानं लिंगाभावात्। स्वस्वभावस्थितलिंगादुत्पन्नं भिन्नस्वलक्षणानुमानं सादृश्यज्ञानवैशद्यस्य बाधकज्ञानमिति चेन्न, तस्याविरुद्धत्वात्। तथाहि—

सामान्यको स्पष्टरूपसे देखनेमें अनुमान भी बाधक नहीं है। क्योंकि ऐसे अनुमानका उत्थापन करनेवाला कोई हेतु नहीं है। बौद्ध यदि यों कहें कि प्रत्येक पदार्थ या पर्याय अपने अपने स्वभावमें स्थित हो रहे हैं। इस कारण सम्पूर्ण स्वलक्षण सर्वथा भिन्न हैं। कोई किसीके सदृश नहीं है। अतः स्वस्वभाव व्यवस्थितरूप लिङ्गसे सर्वथा विसदृश स्वलक्षणोंको जाननेवाला अनुमानज्ञान जैनों द्वारा माने हुये सादृश्यके विशदज्ञानका बाधक है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि वह अनुमान सादृश्यसिद्धिके विरुद्ध नहीं है। इसी बातको हम स्पष्ट कर दिखलाते हैं।

सदृशेतरपरिणामात्मकाः सर्वे भावाः स्वभावव्यवस्थितेरन्यथानुपपत्तेः। स्वस्वभावो हि भावानामबाधितप्रतीतिविषयः समानेतरपरिणामात्मकत्वं तस्य व्यवस्थितिरुपलब्धिस्तस्यैव साधिका न पुनरन्यत्र भिन्नस्य स्वलक्षणस्य जातुचिदनुपलभ्यमानस्य हेत्वसिद्धिप्रसंगात्। तेन हेतवस्तत्र प्रत्युक्ताः। ते हि यथोपलभ्यंते तथा तैरुरीक्रियंते अन्यथा वा ? प्रथमपक्षे विरुद्धाः साध्यविपरीतस्य साधनात्तस्यैव सत्त्वादिस्वभावेनोपलभ्यंते। यदि पुनः पराभिमतस्वलक्षणस्वभावाः सत्त्वादयो मतास्तदा तेषामसिद्धिरेव। न च स्वयमसिद्धास्ते साध्यसाधनायालं।

सम्पूर्ण पदार्थ (पक्ष) सदृश और विसदृश परिणाम स्वरूप हैं (साध्य)। क्योंकि वे अपने अपने स्वभावोंमें व्यवस्थित हो रहे हैं। यह व्यवस्था अन्यथा यानी सदृश विसदृश स्वरूप माने विना नहीं बन सकती है। सम्पूर्ण पदार्थोंका अपना अपना स्वभाव बाधारहित प्रतीतिका विषय हो रहा हुआ सामान्य विशेष परिणाम रूप है। उसकी व्यवस्था यानी

यथार्थ उपलब्धि उस हीकी साधक होगी। किन्तु फिर वह हेतु उपलब्धि अन्यमें साध्यको नहीं सिद्ध करा देगी। एकान्तरूपसे भिन्न हो रहा स्वलक्षण जो कि कभी नहीं दीख रहा है, उसकी सिद्धि नहीं होती है। हेतुकी असिद्धिका प्रसंग है अर्थात् सर्वथा विलक्षण स्वलक्षणमें स्वभावव्यवस्थितिरूप हेतु नहीं ठहरता है। तिस कारण उन बौद्धोंको हम पूछते हैं कि सर्वथा विसदृश अर्थोंको साधनेके लिये जो हेतु यहां प्रयुक्त किये हैं, वे जिस प्रकार ठीक ठीक दीख रहे हैं, तिस प्रकार उन्होंने स्वीकार किये हैं ? अथवा दूसरे प्रकारसे बौद्ध हेतुओंको मानते हैं ? पहिले पक्षमें तो वे सर्वथा भेदको साधनेवाले बौद्धोंके प्रयुक्त किये गये हेतु विरुद्ध हो जायेंगे। क्योंकि सर्वथा भिन्नस्वभावरूप साध्यसे विपरीत कथंचित् सदृश, विसदृश, परिणामका साधन हो जाता है। तुम्हारे साध्यसे विपरीत उस उभयात्मक पदार्थके ही सत्त्व आदि स्वभाव करके वे देखे जा रहे हैं। यदि फिर द्वितीय पक्षके अनुसार दूसरे बौद्धोंके माने गये स्वलक्षणके स्वभाव होते हुये सत्त्व आदिक हेतु अभीष्ट हैं, तब तो उन हेतुओंकी असिद्धि ही है। भावार्थ—प्रतीतिके विना अपने घरमें अन्ट सन्ट मान लिये गये स्वलक्षणके स्वभावरूप सत्त्व आदिक हेतु तो सम्पूर्ण पदार्थरूप पक्षमें नहीं ठहरते हैं। जो हेतु स्वयं असिद्ध हैं, साध्यको साधनेके लिये समर्थ नहीं हैं।

नन्वयं दोषः सर्वहेतुषु स्यात्। तथाहि—धूमोऽनग्निजन्यरूपो वा हेतुरग्निजन्यत्वे साध्येऽन्यथारूपो वा ? प्रथमपक्षे विरुद्धस्तस्यानग्निजन्यत्वसाधनात्। सोग्निजन्यरूपस्तु न सिद्ध इति कुतः साध्यसाधनः। यदि पुनर्विवादापन्नविशेषणापेक्षो धूमः कंठादि (क्षि) विकारकारित्वादिप्रसिद्धस्वभावो हेतुरिति मतं तदा सत्त्वादयोपि तथा हेतवो न विरुद्धा नाप्यसिद्धा इति चेन्नैतत्सारं, सत्त्वादिहेतूनां विवादापन्नविशेषणापेक्षस्य प्रसिद्धस्वभावस्या संभवात्।

बौद्ध कटाक्ष करते हैं कि यह दोष तो सम्पूर्णहेतुओंमें लगजावेगा, सुनिये, उसको हम बौद्ध स्पष्ट कर दिखलाते हैं। जगत्में प्रसिद्ध हो रहा धूमहेतु अग्निसे जन्यपना साध्य करनेमें अनग्निजन्य स्वरूप है, अथवा अन्यथा है यानी अग्निजन्यरूप है। पहिला पक्ष ग्रहण करनेपर तो धूमहेतु विरुद्ध हेत्वाभास है। क्योंकि अग्निजन्य न होता हुआ हेतु अग्निका साधन नहीं कर सकता है। वह तो अग्निरूप साध्यसे विरुद्ध अनग्निके साथ व्याप्ति रखता है। यदि दूसरे पक्षके अनुसार अग्निसे जन्यस्वरूप धूमहेतु मानोगे, तब तो वह अभीतक पक्षमें सिद्ध नहीं हुआ है। इस ढंगसे साध्यका साधन करनेवाला कैसे हो सकेगा ? यानी नहीं। यदि फिर इन दोषोंको दूर करनेके लिये जैनोंका यह मन्तव्य होय कि अग्निजन्य या अनग्निजन्य इन विवादमें पडे हुये विशेषणोंकी तो अपेक्षा रखता हुआ और कंठ, नेत्र, आदिमें विकार करादेनापन, कपोतवर्णा, चारों ओर फैलना, आदि स्वभावोंसे प्रसिद्ध हो रहा धूम यहां हेतु है। अर्थात् अग्निजन्यपना या अग्निसे नहीं उत्पन्न होनापन विशेषण

तो विवादमें पडे हुये हैं, अभीतक सिद्ध नहीं हुये हैं। हां, कंठमें खासी, आखमें आसू लादेना, आदि स्वभाववाला धूम हेतु माना है, तब तो हम बौद्ध भी कहदेंगे कि हमारे सत्त्व, कृतकत्व, आदि हेतु भी तिस प्रकार विरुद्ध नहीं हैं। और विलक्षणपना साधनेके लिये असिद्ध भी नहीं हैं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार यह बौद्धोंका कटाक्ष तो सारशून्य है। क्योंकि सत्त्व आदि हेतुओंके विवादमें पडे हुये सदृशपन या विसदृशपन, विशेषणकी अपेक्षा रखते हुये किसी प्रसिद्ध हो रहे अन्य स्वभावका असम्भव है, यानी बौद्धोंके माने गये सत्त्व आदि हेतुओंका कोई गांठका स्वभाव प्रसिद्ध नहीं है। अतः सर्वथा स्वभावभेदकी सिद्धि नहीं हो पाती है।

अर्थक्रियाकारित्वं प्रसिद्धः स्वभावस्तेषामिति चेत् न, तस्यापि हेतुत्वात् तत्प्रत्यक्षतातिक्रमात्तद्दोषानुषंगस्य भावात् तदवस्थत्वात्। सत्त्वादिसामान्यस्य साध्येतरस्वभावस्य सत्त्वादिति चेन्न, अनेकांतत्वप्रसंगात् साध्येतरयोस्तस्य भावात्। न च परेषां सत्त्वादिसामान्यं प्रसिद्धं स्वलक्षणैकान्तोपगमविरोधात्। कल्पितं सिद्धमिति चेत् व्याहतमिदं सिद्धं परमार्थसदभिधीयते तत्कथं कल्पितमपरमार्थसदिति न व्याहन्यते। न च कल्पितस्य हेतुत्वं अर्थो ह्यर्थं गमयतीति वचनात्।

उन सत्त्व आदि हेतुओंका प्रसिद्ध स्वभाव अर्थक्रियाको करादेनापन है, यह तो न कहना। क्योंकि उस अर्थक्रियाकारीपनको भी तो बौद्धोंने हेतु माना है। उसकी भी प्रत्यक्षताका अतिक्रमण हो जानेसे उस दोषका प्रसंग विद्यमान है। अतः असिद्धता, विरुद्धता, दोष अर्थक्रियाकारीपन हेतुमें भी वैसेके वैसे ही अवस्थित रहे। यदि बौद्ध यों कहें कि साध्य और साध्यसे भिन्नोंका स्वभाव हो रहा, सत्त्व, कृतकत्व आदिका सामान्य तो विद्यमान है। वह वैसादृश्यको साधनेमें हेतु हो जायगा। सिद्धान्ती कहते हैं कि सो तो न कहना। क्योंकि साध्य और साध्याभाववालेमें विद्यमान रहनेके कारण सामान्यरूपसे उस सत्त्व या कृतकत्व हेतुके व्यभिचारी हो जानेका प्रसंग आता है। दूसरी बात यह है कि दूसरे यानी बौद्धोंके यहां सत्त्व आदिका कोई सामान्य भी तो प्रसिद्ध नहीं है यदि सामान्यको बौद्ध मानलें, तब तो सुलभतासे सादृश्य सिद्ध हो जायगा। सामान्यको माननेपर बौद्धोंको एकान्तरूपसे विशेष स्वलक्षणोंके ही स्वीकारका विरोध पडेगा। यदि बौद्ध यों कहें कि मैं सामान्यको कल्पना किया गया, सत्य मानता हूं। इसपर तो हम जैन कहेंगे कि यह कहना व्याघातदोषसे दूषित है। जो सिद्ध हो चुका, वह तो वस्तुभूत सत् कहा जाता है। वह भला कल्पित हो कर अपरमार्थभूत होय, इसमें व्याघात दोष क्यों नहीं होगा? भावार्थ—जो परमार्थ है वह कल्पित नहीं है और जो कल्पित है, वह परमार्थ प्रमाणसिद्ध नहीं। और एक यह भी बात है कि कल्पितपदार्थ हेतु नहीं हो सकता है। वास्तविक अर्थ ही नियमसे वस्तुभूत अर्थको समझाता है, ऐसा अभियुक्तोंका वचन है।

न च प्रतीयते स्वलक्षणात्मकोऽर्थो यस्य हेतुत्वं धर्मः कल्पते यस्तु प्रतीयते नासावर्थोऽभिमत इति । किंच तल्लिंगमाश्रित्य क्षणिकपरमाणुस्वलक्षणानुमानं प्रवर्तेत यत्सादृश्यज्ञानवैशद्यप्रतिभासस्य बाधकं स्यात् । ततो विध्वस्तबाधं वैसादृश्यज्ञानवत्सादृश्यवैशद्यमिति । परमार्थसत्सादृश्यं प्रत्यभिज्ञानस्य विषयभावमनुभवत्येकत्ववत् ।

तथा स्वलक्षणरूप अर्थ बौद्धोंके कथन अनुसार प्रतीत भी नहीं हो रहा है। जिसका कि धर्म हेतुपना कल्पित कर लिया जाय और जो सामान्य विशेषआत्मक अर्थ प्रतीत हो रहा है, वह तो बौद्धोंने वस्तुभूत अर्थ नहीं माना है। यह विषमता छाई हुई है। दूसरे हम यह पूछते हैं कि उस लिङ्गका आश्रय कर क्षणिक और परमाणुरूप स्वलक्षणका साधक भला कौनसा अनुमान प्रवर्तेगा ? जो कि हमारे माने हुये सादृश्यज्ञानके विशद हो रहे प्रतिभासका बाधक हो जाय। अनुमानज्ञान तो व्याप्तिग्रहणके अनुसार सामान्यरूपसे ही साध्यको जान सकेगा। पहिले कालमें व्याप्तिग्रहण किये गये दृष्टान्तनिष्ठ हेतुके सादृश्यका ज्ञान होनेपर ही पक्षनिष्ठ सदृश हेतुसे साध्यकी सिद्धि हो सकेगी। इस ढंगसे तो सादृश्य ही सिद्ध हो जाता है। तिस कारण अपनी ओर आई हुई बाधाओंका विध्वंस करता हुआ सादृश्यका विशदज्ञान होना सिद्ध हो जाता है, जैसे कि विसदृशपनेका ज्ञान विशद सिद्ध हो रहा है। इस कारण परमार्थस्वरूपसे विद्यमान हो रहा सादृश्यपदार्थ तो प्रत्यभिज्ञानके विषयपनका अनुभवन कर रहा है, जैसे कि पूर्वोत्तर पर्यायोंमें वर्त रहा एकपना प्रत्यभिज्ञानका विषय साध दिया गया है। अन्य भी प्रत्यभिज्ञानके विषय हो जाते हैं जैसे कि किसी विशिष्ट स्थानको जानेवाले दो मार्गोंका अनुभव कर यह इससे दूर है, ऐसा दूरत्वग्राही प्रत्यभिज्ञान होता है। मुखके ऊपर मध्यमें एक सींगवाला पशु गेंडा कहलाता है। ऐसा सुनकर विचित्र वस्तु संग्रहालय (अजायब घर) में वैसा पशु दीख जानेसे यही गेंडा है, यह ज्ञान भी प्रत्यभिज्ञान है। सात पत्तोंके बने हुये अनेक गुच्छोंसे युक्त सप्तपर्णवृक्ष होता है। उत्तम शटासहित केसरी सिंह होता है, इत्यादि वाक्योंके संस्कार युक्त पुरुष द्वारा वैसे पदार्थका प्रत्यक्ष कर चुकनेपर सप्तपर्ण, सिंह आदिका ज्ञान प्रत्यभिज्ञान है। यहां मुख्यतासे एकत्व और सादृश्यको जाननेवाले प्रत्यभिज्ञानको साधकर अन्य प्रत्यभिज्ञानोंका उपलक्षण कर दिया है।

तदविद्याबलादिष्टा कल्पनैकत्वभासिनी ।
सादृश्यभासिनी चेति वागविद्योदयाद्ध्रुवम् ॥ ८४ ॥

एकत्वका प्रकाश करनेवाली और सादृश्यका प्रतिभास करनेवाली, यह प्रतीति अविद्याकी सामर्थ्यसे हो रही है, यह हम बौद्धोंको अभीष्ट है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका वचन ही स्वयं अविद्याके उदयसे प्रवर्त रहा है, यह पक्की बात समझो। अर्थात् यथार्थ वस्तुमें हो रहे प्रमाणज्ञानको अविद्यासे जन्य कहनेवाला बौद्ध स्वयं अविद्यासे पीडित हो रहा है।

तदेवं निर्बाधबोधाधिरूढे प्रसिद्धेप्येकत्वे सादृश्ये च भावानां कल्पनैवेयमेकत्व सादृश्यावभासिनी दुरंतानाद्यविद्योपजनिता लोकस्येति ब्रुवाणः परमदर्शनमोहोदयमेवात्मनो ध्रुवमवबोधयति ।

तिस उपर्युक्त क्रमसे इस प्रकार पदार्थोंके एकत्व और सादृश्यका बाधारहित ज्ञानमें प्राप्त हो जाना प्रसिद्ध हो चुकनेपर भी बौद्ध विनाकारण यह कहे जा रहा है कि यह सादृश्य और एकत्वका प्रतिभास करनेवाली प्रतीति तो कल्पना ही है, जो कि कठिनतासे अन्त आनेवाली अनादिकालीन लगी हुई अविद्यासे लौकिक जीवोंके उत्पन्न हो जाती है । इस प्रकार कह रहा बौद्ध स्वयं अपने ही अत्यधिक दर्शनमोहनीय कर्मके उदयको निश्चयसे समझा रहा है । अच्छी दोनों आखोंसे युक्त मनुष्योंको एकाक्ष कहनेवाला स्वयं अपने अन्धेपनको प्रगट कर रहा है ।

सह क्रमादिपर्यायव्यापिनो द्रव्यस्यैकत्वे न सुप्रतीतत्वात् । सादृश्यस्य च पर्यायसामान्यस्य प्रतिद्रव्यव्यक्तिव्यवस्थितस्य समाना इति प्रत्ययविषयस्योपचारादेकत्वव्यवहारभाजः सकलदोषासंस्पृष्टस्य सुस्पष्टत्वात् । ततस्तद्विषयप्रत्यभिज्ञानसिद्धिरनवद्यैव ।

गुणस्वरूप सहभावीपर्याय और अर्थ, व्यंजनपर्यायरूप क्रमभावी परिणाम तथा सप्तभंगीके विषय वास्तविक काल्पित धर्म एवं पर्यायशक्तिरूप अधिक कालस्थायी गुणोंमें व्यापरहे द्रव्यकी एकत्वपनसे भले प्रकार प्रतीति हो रही है । और प्रत्येक द्रव्यव्यक्तियोंमें समानपनेसे व्यवस्थित हो रहीं पर्यायें सादृश्य हैं । यह भी अच्छा प्रतीत हो रहा है । घट, रुपया, एकेन्द्रिय जीव, आदि पदार्थोंमें कुछ ऐसे परिणाम होते हैं, जिनसे ये उनके समान हैं, ऐसा प्रत्यय हो जाता है । पृथ्वीकायिक जीव, जलकायिकजीवके समान है । एकेन्द्रियपनका परिणाम दोनोंमें एकसा है । वस्तुभूत परिणाम हुये विना सम्यक्ज्ञान भला किसको जाने ? जगत्में जितने कार्य हो रहे हैं, वे सब वस्तुभूत कारणोंपर अवलम्बित हैं । मिट्टीकी बनी हुई गाय दूध नहीं देती है । हां, छाया कर देना बोझ धर देना आदि अपने योग्य अर्थक्रियाओंको अवश्य करती है । इसी प्रकार यह इसके समान है, यह ज्ञान भी वास्तविक परिणामकी भित्तिपर डटा हुआ है । अनेक समान घटोंमें न्यारा न्यारा सदृश परिणाम बन रहा है । जैसे कि उनका व्यक्तित्व (विशेष) परिणाम बनता रहता है । उन अनेक सादृश्योंको एकपनका व्यवहार करके यह सदृश है, ऐसी प्रतीति हो जाती है । वस्तुतः ये सदृश धर्मोंको धारनेवाले हैं । यों अच्छा प्रतीति होता है । यह इसके समान है, ऐसे ज्ञानके विषय हो रहे, और उपचारसे एकपनके व्यवहारको धर रहे तथा सम्पूर्ण दोषोंसे कथमपि नहीं छुये गये सादृश्यका अच्छा स्पष्टज्ञान हो रहा है । अवान्तर सत्ताओंके समुदायरूप महासत्ताको भी एकपना उपचरित है । तिस कारण उस सादृश्यको विषय करनेवाले प्रत्यभिज्ञानकी सिद्धि निर्दोष ही हो चुकी। यहांतक संज्ञा नामक मतिज्ञानका निर्णय करा दिया है । अब चिंता मतिज्ञानको साधते हैं ।

संबंधं व्याप्तितोर्थानां विनिश्चित्य प्रवर्तते ।
येन तर्कः स संवादात् प्रमाणं तत्र गम्यते ॥ ८५ ॥

जिस ज्ञान करके अर्थोंके संबंधको सम्पूर्ण देश, कालका उपसंहार करनेवाली व्याप्तिके स्वरूपसे विशेष निश्चय कर अनुमानकर्त्ता जीव प्रवृत्ति करता है, वह तर्कज्ञान उस संबंधग्रहणमें सम्वाद हो जानेके कारण प्रमाण समझा जाता है ।

येन हि प्रत्ययेन प्रतिपत्ता साध्यसाधनार्थानां व्याप्त्या संबंधं निश्चित्यानुमानाय प्रवर्तते स तर्कः संबंधे संवादात्प्रमाणमिति मन्यामहे ।

जिस तर्कज्ञान करके साध्य, साधनरूप अर्थोंके व्यापनेवाले रूपसे संबंधका निश्चय कर प्रतिपत्ता जीव अनुमानके लिये प्रवृत्ति करता है, वह तर्कज्ञान साध्यसाधनके संबंधको जाननेमें बाधारहित सम्वाद होनेके कारण प्रमाण है । इस प्रकार हम स्याद्वादी मानते हैं । सम्वादयुक्त ज्ञान तो प्रमाण होना ही चाहिये ।

कुतः पुनरयं संबंधो वस्तु सन् सिद्धो यतस्तर्कस्य तत्र संवादात् प्रमाणत्वं कल्पितो हि संबंधस्तस्य विचारासहत्वादित्यत्रोच्यते ।

संबंधको नहीं माननेवाले बौद्ध पूछते हैं कि यह संबंध फिर वस्तुभूत हो रहा कैसे सिद्ध माना जाय ? जिससे कि उस संबंधके जाननेमें सम्वाद हो जानेसे तर्कज्ञानको प्रमाणता मान ली जाय । हम बौद्ध तो कहते हैं कि वह संबंध पदार्थ कल्पित ही है । हमारे उठाये हुये विचारोंको वह नहीं झेल सकता है । इस प्रकार यहां बौद्धोंके कहनेपर अब आचार्य अपना सिद्धान्त कहते हैं ।

संबंधो वस्तु सन्नर्थक्रियाकारित्वयोगतः ।
स्वेष्टार्थतत्त्ववत्तत्र चिंता स्यादर्थभासिनी ॥ ८६ ॥

संबंध (पक्ष) वस्तुभूत होकर विद्यमान है (साध्य) । अर्थक्रियाको करनेवालेपनका योग होनेसे (हेतु) । जैसे कि अपने २ अभीष्टतत्त्व अर्थ वास्तविक हैं (दृष्टान्त) । उस संबंधमें यथार्थपनका प्रकाश करानेवाली चिंता बुद्धि उपयोगिनी हो रही है । गौ न्यारा पदार्थ है । साकल न्यारी है । किन्तु आकडेमें डालकर गौके गलेमें बांधनेसे उस संबंधके ही द्वारा गौ स्वतंत्र विचरण नहीं कर पाती है । सिद्धालयमें भी कार्मण वर्गणाऐं विद्यमान हैं । किन्तु संयोग मात्रसे कुछ फल नहीं होता है । योग, कषाययुक्त संसारी जीवोंके साथ कार्मणद्रव्यका समीचीन बंध हो जानेपर ही राग द्वेष, अज्ञान, आदि भाव उत्पन्न होते हैं । अकेला अकेला तन्तु शीतबाधाको दूर करना, गजको बांधना, कुयेंसे पानी खेंचना, इन क्रियाओंको नहीं कर सकता है । हां, उन अनेकोंका संबंध उक्त क्रियाओंको सुलभतासे कर देता है । प्रकरणमें अनुमाताके लिये संबंधका ज्ञान अनुमिति करनेमें उपयोगी है ।

का पुनः संबंधस्यार्थक्रिया नाम ।

बौद्ध फिर पूछते हैं कि संबंधकी वह अर्थक्रिया भला कौनसी है ? जिसका कि योग सबंधमें मानकर तुम जैनोंका हेतु असिद्धदोषसे बच सके । इसके उत्तरमे आचार्य कहते हैं ।

येयं संबंधितार्थानां संबंधवशवर्तिनी ।
सैवेष्टार्थक्रिया तज्ज्ञैः संबंधस्य स्वधीरपि ॥ ८७ ॥

संबंधके अधीन होकर वर्त रही जो यह अर्थोंकी संबंधिता है, वही संबंधकी अर्थक्रिया उस संबंधके वेत्ता विद्वानोंने अभीष्ट की है । तथा संबंधका ज्ञान करा देना भी संबंधकी गांठकी अर्थक्रिया है । जगत्में असंख्य पदार्थ ऐसे पडे हुये हैं, जो कि हमारे लिये या अन्य जीवोंके लिये कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं करा रहे हैं । एतावता नैयायिकोंकी नीतिके अनुसार उनका अभाव कह देना हम जैनोंको अभीष्ट नहीं है । वे पदार्थ भी अपने योग्य अर्थक्रियाओंको कर रहे हैं । अपने विषयमें सर्वज्ञका ज्ञान करा देना इस सर्व सुलभ अर्थक्रिया कर देनेको भला उनसे कौन छीन सकता है ? । कतिपय औषधियोंको मिलाकर विशिष्ट रोगको दूर किया जाता है । मद्यका शरीरमें बंध हो जानेसे मनुष्य उन्मत्त हो जाता है । ये सब सम्बन्धसे होनेवाली अर्थक्रियायें हैं ।

सति संबंधेऽर्थानां संबंधिता भवति नासतीति तदन्वयव्यतिरेकानुविधायिनी या प्रतीता सैवार्थक्रिया तस्य तद्विद्भिरभिमता यथा नीलान्वयव्यतिरेकानुविधायिनी क्वचि-न्नीलता नीलस्यार्थक्रिया तस्यास्तत्साध्यत्वात् । संबंधज्ञानं च संबंधस्यार्थक्रिया नीलस्य नीलज्ञानवत् । तदुक्तं । मत्या तावदियमर्थक्रिया यदुत स्वविषयविज्ञानोत्पादनं नामेति ।

वस्तुभूत संबंधके होनेपर ही घृत जल या दही गुड अथवा आत्मा कर्म एवं विष शरीर, आदि अर्थोंका संबंधीपना होता है । संबंधके न होनेपर या कल्पित संबंधके होनेपर संबंधीपना नहीं है । इस प्रकार उस संबंधके अन्वयव्यतिरेकका अनुसरण करनेवाले संबंधीपनकी प्रतीति हो रही है । उस संबंधका अन्तस्तल स्पर्श करनेवाले विद्वानोंने उस संबंधकी अर्थक्रिया वही संबंधीपन अभीष्ट किया है । जैसे कि किसी नील रंगसे रंगे हुये वस्त्रमें नीलके साथ अन्वयव्यति-रेकका अनुविधान करनेवाली नीलता ही नीलरंगकी अर्थक्रिया है । क्योंकि वह कपडेमें नीलापन नीलरंगसे ही साधने योग्य कार्य है । तथा नीलका ज्ञान करादेना भी जैसे नीलकी अर्थक्रिया है, वैसे ही संबंधका ज्ञान करादेना भी संबंधकी अर्थक्रिया है । वही अन्य ग्रन्थोंमें कहा है कि सबसे पहिले पदार्थोंकी अर्थक्रिया यह है, जो कि अपने स्वरूप विषयमें अन्यकी बुद्धियों द्वारा विज्ञान उत्पन्न करादेना है । भला इस सुलभ अर्थक्रियाको करनेमें कौन किसको रोक सकता है ? कोई कोई राजा अपराधरहित जीवको कारागृह (जेलखाने) में ठूस सकता है । किन्तु [illegible]

मानसिक विचारोंको नहीं बदल सकता है। दुर्दैव किसी प्राणीके धन, पुत्र, सौन्दर्य, को भले ही न होनेदे, किन्तु उसके हाथ, पैर, अंग उपांगोंको नहीं छिडालेता है। किसी एवम्भूत नयने तो अग्निके ज्ञानको ही अग्नि माना है।

विशिष्टार्थान्परित्यज्य नान्या संबंधितास्ति चेत्।
तदभावे कुतोर्थानां प्रतितिष्ठेद्विशिष्टता ॥ ८८ ॥
स्वकारणवशादेषा तेषां चेत् सैव संमता।
संबंधितेति भिद्येत नाम नार्थः कथंचन ॥ ८९ ॥

बौद्ध कहते हैं कि अतिनिकटमें रखे हुये, एक दूसरेसे नहीं चिपटे हुये, विशेष अवस्थावाले पदार्थोंको छोडकर अन्य कोई उन अर्थोंका संबंधीपना नहीं है। ऐसा माननेपर तो हम जैन कहते हैं कि उस संबंधके न माननेपर अर्थोंका विशिष्टपना भला कैसे प्रतिष्ठित रह सकेगा ? यदि आप बौद्ध यों कहें कि अपने अपने कारणोंके वशसे ही उन अर्थोंकी विशिष्टता होना हमको अभीष्ट है, तब तो हम कहेंगे कि वही तो हमारे यहां संबंधिता सम्मत की गई है। इस ढंगसे तो नाममात्रका ही भेद हो रहा है। अर्थका कैसे भी भेद नहीं है। बौद्ध जिसको विशिष्टता कहते हैं, हम जैन उसको संबंधिता मानते हैं। शब्दोंमें व्यर्थ झगडा करना हमें इष्ट नहीं है। तत्त्वार्थ सिद्ध होनेसे प्रयोजन है। किन्तु यह विशिष्टता या संबंधिता पदार्थोंकी विशेष परिणतिपर ही अवलम्बित है। अतः सम्बन्ध वस्तुभूत सिद्ध हो जाता है। " यावन्ति कार्याणि तावन्तो वस्तुतः स्वभावभेदाः " वस्तुसे जितने कार्य हो रहे हैं, उतने उसमें वास्तविक परिणाम हैं।

न हि संबंधाभावेर्थाः परस्परं संबद्धा इति विशिष्टता तेषां प्रतितिष्ठत्यतिप्रसंगात्। स्वकारणवशात् केषांचिदेव संबंधप्रत्ययहेतुता समानप्रत्ययहेतुतावदिति चेत् सैव संबंधिता तद्वदिति नाममात्रं भिद्यते न पुनरर्थः प्रसाधितश्च संबंधः पारमार्थिकोऽर्थानां प्रपंचतः प्राक्।

पदार्थ परस्परमें संबंधको प्राप्त हो रहे हैं। इस प्रकारका उनका विशिष्टपना संबंधके अभाव माननेपर नहीं प्रतिष्ठित हो पाता है। क्योंकि कोई नियामक न होनेसे संबंधितपनेका अतिक्रमण हो जायगा। अनेक संबंधरहित पदार्थ भी संबंधी बन बैठेंगे। अर्थात् परस्परमें कालाणुओंका या जीवका दूसरे जीवके साथ संबंधित हो जानेका प्रसंग होगा। इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि अपने अपने कारणोंकी अधीनतासे किन्हीं ही अत्यासन्न, अव्यवहित हो रहे पदार्थोंका संबंधीपन माना जायगा, जो कि " इनके साथ इनका संबंध है " इस ज्ञानका कारण बन जायगा। जैसे कि जैनोंके यहां सभी साधारण या असाधारण पदार्थोंमें समानपनेका ज्ञान करानेकी कारणता नहीं मानी है। किन्तु अपने

नियत कारणोंके अधीन उत्पन्न हुई किन्हीं सदृश पदार्थोंको सामान्य नामके सदृश परिणामसे " यह इसके समान है " ऐसे ज्ञान करानारूप कार्यके प्रतिकारणता मानी है । तब तो हम जैन कहेंगे कि वही अपने नियत कारणोंसे किन्हीं विवक्षित अर्थोंके संबंधितपनेका ज्ञान करानेवाला संबंध परिणाम ही तो संबंधिता है । जैसे कि तिर्यक्सामान्य या ऊर्ध्वतासामान्य नामक वस्तुभूत परिणतियां सामान्य पदार्थ हैं । संबंधिताका अपने कारणोंसे उत्पन्न होना बौद्धोंने मान लिया । अतः बौद्धोंके और हमारे यहां केवल नाम रखनेमें ही भेद हुआ, अर्थका फिर कोई भेद नहीं है । दूध बूरा, दाल लवण, आत्माज्ञान, जीव–पुद्गल, पुद्गल–पुद्गल आदि पदार्थोंके वास्तविक संबंधको हम पहिले प्रकरणोंमें बडे विस्तारसे भले प्रकार सिद्ध कराचुके हैं । यहां प्रकरण वढानेसे कोई लाभ नहीं है ।

संबंधितास्य मानव्यवस्थितिहेतुरित्यलं विवादेन । निर्बाधं संबंधितायाः स्वबुद्धेः स्वार्थक्रियायाः संबंधस्य व्यवस्थानात् । पावकस्य दाहाद्यर्थक्रियावत् संवेदनस्य स्वरूपप्रतिभासनवद्वा तस्या वासनामात्रनिमित्तत्वे तु सर्वार्थक्रिया सर्वस्य वासनामात्रहेतुका स्यादिति न किंचित्परमार्थतोर्थक्रियाकारीति कुतो वस्तुत्वव्यवस्था ।

मिले हुये पदार्थोंका संबंधीपना ही इस संबंधकी प्रमाणविषयताको व्यवस्थित करानेमें अव्यभिचारी कारण है । अतः इस विषयमें अधिक विवाद करनेसे कुछ भी साध्य नहीं है । संबंधकी भले प्रकार सिद्धि हो जाती है । संबंधकी निज अर्थक्रिया यही है कि बाधारहित होकर संबंधीपनारूप स्वकीय बुद्धिकी व्यवस्था हो रही है, जैसे कि अग्निकी दाह करना, शोषण करना, पाककरना, आदि अर्थक्रिया है । अथवा बौद्धोंके माने हुये संवेदनकी अपनी गांठकी अर्थक्रिया स्वरूपका प्रतिभास करना है । इसी प्रकार बाधारहित संबंधबुद्धि करा देना संबंधकी अवश्यंभाविनी अर्थक्रिया है । भावार्थ—संबंधके कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नज्ञानको तो बौद्ध मान लेते हैं । किन्तु संबंधज्ञानके कारणतावच्छेदकावच्छिन्नसंबंधको नहीं स्वीकार करते हैं । भ्राताओ ! देखो, वस्तुभूत कारणसे ही वस्तुभूत कार्य उत्पन्न हो सकता है । यदि उस संबंधज्ञानकी केवल झूठी वासनाओंके निमित्तसे उत्पत्ति होना मानोगे तब तो सम्पूर्ण पदार्थोंकी सभी अर्थक्रियायें केवल वासनाओंको हेतु मानकर ही उत्पन्न हो जायंगी या ज्ञात हो जायंगी । इस कारण कोई भी वस्तु परमार्थरूपसे अर्थक्रियाको करनेवाली नहीं बन सकेगी । इस प्रकार भला यथार्थ वस्तुपनकी व्यवस्था कैसे होगी ? तुम्हीं जानों । भावार्थ—ज्ञान ही तो वस्तुओंके व्यवस्थापक हैं । और ज्ञानोंको यों ही कोरे मिथ्या संस्कारोंसे उत्पन्न हुये मानलेनेपर कोई वस्तु यथार्थ नहीं ठहरती है । बौद्धोंके मत अनुसार यों उपपत्ति करली जायगी कि देवदत्तको अग्निका ज्ञान हुआ । वह स्वप्नज्ञानके समान यों ही मस्तिष्कविकारसे हो गया है । अग्निके उष्णस्पर्शका ज्ञान भी झूठे संस्कारके वश हो गया । देवदत्तका शरीर भुरस गया है । यह भी वासनाओंसे ही ज्ञात हो रहा है । भुरसनेकी पीडा भी वासनाओंसे ही प्रतीत हो रही है ।

ऐसी पोलम्पोलकी दशामें बौद्धोंके यहां किसी भी ज्ञान या ज्ञेय पदार्थकी व्यवस्था नहीं हो सकती है। यहांतक बात पहुंच जायगी कि देवदत्तको कुटुम्ब, धन, गृह, आदिक भी वासनासे दीख रहे हैं। वस्तुतः कुछ नहीं है। देश, देशान्तर, पर्वत, नदी, बम्बई,कलकत्ता,आदि नगर, सूर्य, चन्द्रमा, रेलगाडी, मेघवृष्टि, न्यायालय, बाजार, क्रय, विक्रय, आदि सम्पूर्ण पदार्थ मायाजाल हैं। देवदत्तकी आत्मामें बैठी हुई अनादिकालीन वासनायें इन खेलोंको दिखा रहीं हैं। अधिक क्या कहा जाय ? प्रत्येक रोगी, दरिद्र, या कीट जीव भी जगत्की प्रक्रियाको इन्द्रजालके समान कल्पित मानकर स्वयम् खेल देखनेवाला कहा जासकता है। रेलगाडीमें बैठकर कलकत्तेको जारहा देवदत्त मनमें विचार सकता है कि यह रेलगाडीका चलना कानपुर, प्रयाग, पटना, या अन्य पथिकोंका चढना उतरना कोई वस्तुभूत नहीं है। मेरी वासनायें ही मुझे यह खेल दिखा रहीं हैं। रोगी होना, भूंख-लगना, भोजन करना, पूजन, सामायिक, वाणिज्य, भोग, परिभोग, चहल, पहल, ये सब वासनाओंसे दीख रहे हैं, वस्तुभूत नहीं हैं। इस प्रकार किसी भी अंतरंग बहिरंग तत्त्वकी व्यवस्था बौद्धोंके यहां नहीं हो सकती है। महान् अन्धेर छा जायगा।

परितोषहेतोः पारमार्थिकत्वेप्युक्तं स्वप्नोपलब्धस्य तत्त्वप्रसंगात् इति न हि तत्र परितोषः कस्यचिन्नास्तीति सर्वस्य सर्वदा सर्वत्र नास्त्येवेति चेत् जाग्रद्दशार्थक्रियायास्तर्हि सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वात् परमार्थसत्त्वमित्यायातं । तथा चार्थानां संबंधितार्थक्रिया संबंधस्य कथं परमार्थसतीति न सिद्ध्येत् । न हि तत्र कस्यचित्कदाचिद्बाधकप्रत्यय उत्पद्यते येन सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वं न भवेत् ।

बौद्ध यदि आत्माको परितोषके कारण अर्थोंको वस्तुभूत पदार्थ मानेंगे तो भी वस्तुव्यवस्था नहीं हो सकेगी, इसको हम कह चुके हैं। स्वप्नमें देखे हुये पदार्थोंसे भी कुछ कालतक परितुष्टि हो जाती है। अतः स्वप्नमें जाने हुये स्त्री, धन, जल, घोडा, ग्राम, आदि पदार्थोंको भी पारमार्थिकपनेका प्रसंग हो जायगा। उस स्वप्नमें देखे हुये पदार्थमें किसीको भी प्रसन्नता नहीं है, यह तो नहीं कह सकते हो। क्योंकि स्वप्न देखे पीछे कुछ देरतक सुखदुःख अनुभवे जाते हैं। यदि बौद्ध यों कहें कि सभी स्वप्नदर्शी प्राणियोंको सर्वदा सभी स्थलोंपर परितोष होता नहीं है। अतः स्वप्न दृष्ट पदार्थोंका परितोषकारीपना व्यभिचरित हुआ। इसपर तो हमें फिर यही कहना पडता है कि जागती दशाकी अर्थक्रियाके बाधकोंका असम्भव अच्छा निश्चित हो रहा है। अतः जागृत अवस्थामें पदार्थ परमार्थरूपसे सत सिद्ध होगये, यह सिद्धान्त बौद्धोंके कहे विना ही प्राप्त हो गया और तिस प्रकार होनेपर संबंधकी अर्थोंको संबंधी करदेनारूप अर्थक्रिया क्यों नहीं परमार्थरूपसे विद्यमान हो रही सिद्ध हो जायगी ? जागती अवस्थामें देखे गये घट आदिक पदार्थोंकी उन जलधारण, जल शीतलता आदि अर्थक्रियाको करनेमें किसीके भी किसी भी समय बाधकज्ञान नहीं उत्पन्न

होता है, जिससे कि बाधकोंके नहीं सम्भवनेका अच्छा निश्चित होनापन न होता अर्थात् संबंधसे उत्पन्न हो रहीं, अर्थक्रियाओंका कोई बाधक प्रमाण नहीं है, ऐसा अच्छा निर्णय हो रहा है।

सर्वथा संबंधाभाववादिनस्तत्रास्ति बाधकप्रत्यय इति चेत्, सर्वथा शून्यवादिनस्तत्त्वोपप्लववादिनो ब्रह्मवादिनो वा जाग्रदुपलब्धार्थक्रियायां किं न बाधकप्रत्ययः। स तेषामविद्याबलादिति चेत् संबंधितायामपि तत एव परेषां बाधकप्रत्ययो न प्रमाणबलादिति निर्विवादमेतत् यतः सैव तर्कात् संबंधं प्रतीत्य वर्तमानोर्थानां संबंधितामबाधमनुभवति।

सभी प्रकारसे संबंधके अभावको कहनेवाले बौद्धके यहां उस संबंधकी अर्थक्रियामें बाधकज्ञान उत्पन्न हो रहा है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम भी कह देंगे कि सर्वथा शून्य ही जगत्को कहनेवाले या संपूर्णतत्त्वोंकी सिद्धिका च्युत होना कहनेवाले अथवा अद्वैत ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाले वादियोंके यहां बौद्धोंकी मानी हुई और जगते हुये पुरुषकी जान ली गयी अर्थक्रियामें बाधकज्ञान क्यों नहीं माना जायगा ?। "जीवो जीवस्य घातकः" इस नीतिके अनुसार सुचैतन्य अवस्थाके भी बाधनेवाले उद्दण्डवादी विद्यमान हैं। इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि उन शून्यवादी, तत्त्वोपप्लववादी, और ब्रह्मवादियोंके मन्तव्य अनुसार हुआ वह बाधकज्ञान तो उनकी अविद्याकी सामर्थ्यसे हो गया है, वह प्रमाणरूप नहीं है। तब तो हम जैन कहते हैं कि पदार्थोंके संबंधसहित या संबंध आत्मकपनेमें भी तिस ही अविद्याकी सामर्थ्यसे दूसरे बौद्ध विद्वानोंको भी बाधकज्ञान उत्पन्न हो गया है। प्रमाणकी सामर्थ्यसे संबंधीपनमें कोई बाधक प्रत्यय उत्थित नहीं होता है। इस प्रकार यह तर्कज्ञानका विषय हो रहा संबंध विवादरहित सिद्ध हो गया। कारण कि वही वादी तर्क ज्ञानसे संबंधका निर्णय कर प्रवृत्ति कर रहा संता पदार्थोंके संबंधीपनका बाधारहित अनुभव कर रहा है। युक्ति और अनुभवसे जो बात सिद्ध हो जाती है, वह वज्रलेपके समान दृढ है। अब झगडा उठानेके लिये स्थान नहीं है।

तत्तर्कस्याविसंवादोनुमा संवादनादपि।
विसंवादे हि तर्कस्य जातु तन्नोपपद्यते ॥ ९० ॥

कारणभूतज्ञानके प्रमाण होनेपर ही कार्यभूतज्ञान प्रमाण उत्पन्न होता है। उत्तरवर्ती अनुमानका सम्वाद हो जानेसे भी उस तर्कज्ञानका अविसम्वादीपना सिद्ध हो जाता है। अन्यथा नहीं। कारण कि तर्कज्ञानका विसम्वाद होनेपर कभी भी अनुमानका वह सम्वादीपना नहीं बन पाता है। लोकमें भी यह परिभाषा प्रसिद्ध है कि " जैसे होवें नदी नाले तैसे उनके मरिका। जैसे जाके माई बापा तैसे ताके लरिका " " कारणानुरूपं कार्यं भवति "।

न हि तर्कस्यानुमाननिबंधने संबंधे संवादाभावेनुमानस्य संवादः संभविनिश्चितः।

अनुमानप्रमाणको उत्पत्तिमें कारण हो रहे तर्कके द्वारा जाने गये संबंधमें यदि सम्वादका अभाव होगा तो अनुमान ज्ञानके भी सम्वाद होनेका निश्चय नहीं सम्भवता है। विसम्वादी ज्ञानोंसे सम्वादी ज्ञान उत्पन्न नहीं होते हैं। चूहोंके जन्माये चूहे ही होंगे, सिंह नहीं।

संवादस्तर्कस्य नास्ति विप्रकृष्टार्थविषयत्वादिति चेत्।

तर्कज्ञानके सम्वादका होना नहीं घटित होता है। क्योंकि तर्कज्ञान सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट, पदार्थोंको विषय करता है, जैसे लम्बी चौडी यहां वहांकी गप्पाष्टक बकनेवाला पुरुष सभी बातोंको सत्यके घाटपर नहीं उतार सकता है। इस प्रकार बौद्धोंकी शंका करनेपर तो आचार्य उत्तर कहते हैं कि—

तर्कसंवादसंदेहे निःशंकानुमितिः क्व ते।
तदभावे न चाध्यक्षं ततो नेष्टव्यवस्थितिः॥ ९१॥
तस्मात्प्रमाणमिच्छद्भिरनुमेयं स्वसंवलात्।
चिंता चेति विवादेन पर्याप्तं बहुनात्र नः॥ ९२॥

तर्कके सम्वादमें संदेह करनेपर तुम बौद्धोंके यहां शंकारहित होता हुआ अनुमान भला कहां होगा? अर्थात् कहीं भी प्रमाणभूत अनुमान नहीं हो सकेगा और उस अनुमान प्रमाणका अभाव हो जानेपर प्रत्यक्ष प्रमाणकी भी सिद्धि नहीं होगी। प्रत्यक्ष ज्ञानोंमें भी प्रमाणपना तो अविसम्वाद, स्वष्टत्व, अगौणत्व आदि हेतुओंसे अनुमानद्वारा ही साधा जाता है। तब तो अनुमान और प्रत्यक्षके विना बौद्धोंके यहां किसी भी इष्टपदार्थकी व्यवस्था नहीं हो सकती है। तिस कारण अनुमानसे जानने योग्य सम्पूर्ण प्रत्यक्षोंका अपने अपने सम्वादके बलसे प्रमाणपन चाहनेवाले बौद्धोंके द्वारा चिंतारूप तर्कज्ञान भी प्रमाण मानना चाहिये। अपने विषयको जाननेकी श्रेष्ठसामर्थ्यसे तर्क ज्ञान भी प्रमाण बन बैठता है। इस प्रकरणमें हमको बहुत विवाद करनेसे परिपूर्णता हो चुकी है। अर्थात् प्रतिवादियोंकी शंकाका हम परिपूर्ण समाधान कर चुके हैं। अब झगडा बढाना व्यर्थ है।

सर्वेण वादिना ततः स्वेष्टसिद्धिः प्रकर्तव्या अन्यथा प्रलापमात्रप्रसंगात्। सा च प्रमाणसिद्धिमन्वाकर्षति तदभावे तदनुपपत्तेः। तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणमवश्यमभ्युपगच्छतानुमानमुररीकर्तव्यमन्यथा तस्य सामस्त्येनाप्रमाणव्यवच्छेदेन प्रमाणसिध्ययोगात्। निःसन्देहमनुमानमीप्सता साध्यसाधनसंबंधग्राहिप्रमाणमसंदिग्धमेषितव्यमिति तदेव च तर्कः ततस्तस्य च संवादो निःसन्देह एव सिद्धोऽन्यथा प्रलापमात्रमहेयोपादेयमश्लीलविजृंभितमायातीति पर्याप्तमत्र बहुभिर्विवादैरूहसंवादसिद्धेरुलंघनानर्हत्वात्।

सभी वादियों करके तिस कारण अपने अपने अभीष्टकी सिद्धि अवश्य अच्छी करनी ही चाहिये। अन्यथा यानी अभीष्ट सिद्धिके किये विना कोरा वैतंडिक बनकर दूसरोंके मतका खण्डन करनेके लिये बकझक करनेसे तो केवल व्यर्थ वचन कहनेका प्रसंग हो जायगा और वह अपनी अभीष्टकी सिद्धि तो प्रमाणके अनुसार होती हुई प्रमाणकी सिद्धिको पीछे पीछे खेंच लेती है। उस प्रमाणको स्वीकार नहीं करनेपर वह इष्ट तत्त्वोंकी सिद्धि नहीं हो पाती है। अभीष्टतत्त्व सिद्धि और प्रमाणसिद्धिका ज्ञाप्यज्ञापकभाव संबंध है। तिन प्रमाणोंमेंसे जो वादी प्रत्यक्षको प्रमाण आवश्यकरूपसे स्वीकार कर रहा है, उसको अनुमान प्रमाण भी अवश्य स्वीकार करना पडेगा। अन्यथा यानीं अनुमानको प्रमाण माने विना समस्तपने करके उस प्रत्यक्षको अप्रमाणोंका व्यवच्छेद कर प्रमाणपनकी सिद्धि न हो सकेगी अर्थात् वर्तमानकालका अपना ही प्रत्यक्ष तो अकेला प्रमाण नहीं माना जायगा। किन्तु साथमें भूत या भविष्य कालोंमें हुये अपने प्रत्यक्ष और अन्य जीवोंके भी अनेक प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण करने पडेंगे। उन समस्त प्रत्यक्षोंको प्रमाणपना, अगौणत्व स्पष्टत्व, सम्वाद हेतुओंसे ही साधा जायगा तथा अपने अकेले वर्तमान कालके प्रत्यक्षमें भी प्रमाणपना उक्त हेतुओंसे ही साधने योग्य है। तभी सम्पूर्ण प्रत्यक्षोंमेंसे अप्रमाणपना व्यावृत्त हो सकता है। अनुमानका निःसन्देह प्रमाणपना स्वीकार करने (इच्छने) वाले वादीको साध्य और साधनके अविनाभावसंबंधका ग्राहक भी कोई प्रमाण सन्देहरहित ढूंढना चाहिये और वही तो हमारे यहां तर्क माना गया है। उस तर्कसे संबंधके ज्ञानका बाधारहितरूप सम्वाद होना संदेहरहित सिद्ध हो ही जाता है। अन्यथा यानीं सम्वादकी सिद्धि हुये विना अन्टसन्ट शंका करना या अपने तत्त्वोंकी यों ही सिद्धि करना केवल व्यर्थवचन बकना है। वह बकना हेय और उपादेय तत्त्वोंकी व्यवस्था कराने वाला नहीं है। चौपाडोंपर बैठकर ग्रामीण पुरुष जैसे झूंठी किंवदन्तियां, कहानियां, झूठीं गप्पें, हांकते रहते हैं, वैसे ही यह बौद्धोंकी झक झक गमारू चेष्टा करना है। इस प्रकरणमें बहुतसे विवाद करके पूरा पडो। घृत प्राप्त होगया, व्यर्थ मठा बढानेसे कुछ लाभ नहीं है। तर्कज्ञानके सम्वाद होनेकी सिद्धि अब उलंघन करने योग्य नहीं है। भावार्थः—जो बौद्ध, वैशेषिक, नैयायिक, मीमांसक, आदि विद्वान् प्रत्यक्षोंको प्रमाण मानेंगे, उन्हें कालान्तर, देशान्तर, और पुरुषान्तरोंके प्रत्यक्षोंको प्रमाणपना सिद्ध करनेके लिए अनुमानकी शरण लेना आवश्यक है। पूर्वोक्त विद्वान् अनुमानको प्रमाण मानते भी हैं। किंतु अनुमान प्रमाणकी उत्पत्ति व्याप्ति ज्ञानको प्रमाण माने विना नहीं होती है। अतः तर्कज्ञान प्रमाण है, इस निर्णयपर पहुंच जाओ।

गृहीतग्रहणात्तर्कोऽप्रमाणमिति चेन्न वै।
तस्यापूर्वार्थवेदित्वादुपयोगविशेषतः ॥ ९३ ॥

प्रत्यक्षानुपलंभाभ्यां संबंधो देशतो गतः ।
साध्यसाधनयोस्तर्कात्सामस्त्येनेति चिंतितम् ॥ ९४ ॥
प्रमांतरागृहीतार्थप्रकाशित्वं प्रपंचतः ।
प्रामाण्यं च गृहीतार्थग्राहित्वेपि कथंचन ॥ ९५ ॥

किसीका पूर्वपक्ष यों होय कि तर्कज्ञान (पक्ष) अप्रमाण है (साध्य) । पहिले प्रमाणोंसे ग्रहण किये जा चुके विषयका ग्राहक होनेसे (हेतु) । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो अनुमान बनाकर नहीं कहना । क्योंकि उस तर्कको अपूर्व अर्थका निश्चयसे ग्राहकपना प्राप्त है । पहिले प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ प्रमाणोंसे देशान्तर कालान्तरवर्ती साध्य साधनोंके संबंधका ज्ञान नहीं हो चुका था। किन्तु संबंधको जाननेमें तर्कका ही विशेष उपयोग है । पहिले प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ द्वारा एक देशसे संबंध जाना गया था और तर्कसे साध्य साधनका संबंध सम्पूर्णरूपसे जान लिया जाता है । इसको हम पूर्वमें विस्तारसे विचार कर चुके हैं । अत. अन्य प्रमाणोंसे नहीं ग्रहण किये गये अर्थका प्रकाशकपना तर्कमें घट जाता है । दूसरी बात यह है कि कथंचित् गृहीत अर्थका ग्राहक होते हुये भी तर्कज्ञानका प्रामाण्य प्रतिष्ठित हो जाता है । प्रतिदिन कई बार व्यवहारमें आ रही वस्तुओंका ज्ञान हो चुकनेपर भी क्षणोंकी विशिष्टतासे कुछ विशेष अंश अधिक जाननेवाले ज्ञान प्रमाण माने गये हैं । सर्वज्ञके प्रत्यक्षको भी विषयोंमें कालके तारतम्यकी उपाधि लग जानेसे अपूर्वार्थग्राहीपना घटित हो जाता है । सभी प्रकार नवीन नवीन अर्थोंको तो सर्वज्ञज्ञान जानता नहीं है किन्तु जिसको भविष्य रूपसे जाना है, वह वर्त्तमान हो गया है । वर्तमान पदार्थ दूसरे समयमें भूत हो जाता है । और भूत पदार्थ चिरभूत होकर जाना जाता है । इस प्रकार अपूर्व अर्थग्रहणका निर्वाह करना तर्कज्ञानमें भी लगा लो ।

किं च—दूसरा कारण यह भी है कि—

लिंगज्ञानाद्विना नास्ति लिंगिज्ञानमितीष्यति ।
यथा तस्य तदायत्तवृत्तिता न तदर्थता ॥ ९६ ॥
प्रत्यक्षानुपलंभादेर्विनानुद्भूतितस्तथा ।
तर्कस्य तज्ज्ञता जातु न तद्गोचरतः स्मृता ॥ ९७ ॥

जैसे हेतुज्ञानके विना साध्यका ज्ञान नहीं होता है । इस कारण उस साध्यज्ञानकी उस हेतुज्ञानके अधीन होकर प्रवृत्ति होना ऐसा जाना जाता है । किन्तु उस हेतुज्ञानका साध्यज्ञान द्वारा विषय हो जानापन नहीं है । भावार्थ—साध्यज्ञानका उत्पादक कारण हेतुज्ञान है, अवलम्ब

कारण नहीं है। ज्ञापक हेतु और कारक हेतुओंमें अन्तर है। साध्यका ज्ञान करानेमें अनुमान ज्ञान स्वतंत्र है। हां, उस अनुमानकी उत्पत्ति तो हेतुज्ञानके आधीन है, तिस ही प्रकार प्रत्यक्ष, अनुपलम्भ, एकवार या वारवार देखनारूप अभ्यास आदिक कारणोंके बिना तर्कज्ञानकी भी उत्पत्ति नहीं हो पाती है। एतावता उन प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ आदिके विषयोंको जाननेकी अपेक्षासे कभी उन कारणोंका जान लेनापन तर्कमें नहीं माना गया है। भावार्थ—पूर्व आचार्योंकी सम्प्रदाय अनुसार तर्कज्ञानके उत्पादक कारण उपलम्भ अनुपलम्भरूप ज्ञान हैं। किन्तु प्रत्यक्ष या अनुपलम्भके जाने हुये विषयको तर्कज्ञान नहीं छूता है। जैसे कि अनुमान अपने उत्पादक हेतु ज्ञानको या हेतुको विषय नहीं करता है। अतः तर्कज्ञान अपूर्व अर्थका ग्राहक है।

न हि यद्यदात्मलाभकारणं तत्तस्य विषय एव लिंगज्ञानस्य लिंगिज्ञानविषयत्वप्रसंगात्, प्रत्यक्षस्य च चक्षुरादिगोचरतापत्तेः। स्वाकारार्पणक्षमकारणं विषय इति चेत् कथमिदानीं प्रत्यक्षानुपलंभयोस्तर्कात्मलाभनिमित्तयोर्विषयं स्वाकारमनर्पयतमूहाय साक्षात्कारणभावं चानुभवन्तं तर्कविषयमाचक्षीत ? तथाचक्षाणो वा कथमनुमाननिबंधनस्य लिंगज्ञानस्य विषयमनुमानगोचरतया प्रत्यक्षं प्रत्याचक्षीत ? न चेद्विक्षिप्तः। ततो न प्रत्यक्षानुपलंभार्थग्राही तर्कः सर्वथा। कथंचित्तदर्थग्राहित्वं तु तस्य न प्रमाणतां विरुणद्धि प्रत्यक्षानुमानवदित्युक्तं ॥

जो पदार्थ जिसके आत्मलाभके कारण हो रहे हैं वे उस ज्ञानके जानने योग्य विषय ही होवें यह कोई नियम नहीं है। ऐसा नियम करनेपर तो हेतुज्ञानको साध्य ज्ञानमें विषयपन हो जानेका प्रसंग होगा तथा घटका प्रत्यक्ष जैसे घटको जानता है, उसी प्रकार चक्षु, क्षयोपशम, आदिको भी विषय करने लग जायगा जो कि चाक्षुष प्रत्यक्षके उत्पादक कारण हैं, यह आपत्ति होगी। यदि बौद्ध यों कहें कि ज्ञानके प्रत्येक उत्पादक कारणको हम ज्ञानका विषय नहीं मानते हैं, किन्तु ज्ञानका जो कारण स्वजन्य ज्ञानमें अपने आकारका अर्पण करनेके लिये समर्थ है, वह ज्ञानका विषय हो जाता है। ऐसा कहनेपर तो हम स्याद्वादी बोलते हैं कि इस समय बौद्ध तर्कज्ञानकी आत्मलब्धिके निमित्तका कारण प्रत्यक्ष और अनुपलम्भको तर्कज्ञानका विषय कैसे कह सकेगा ? प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ यद्यपि तर्कज्ञानके अव्यवहित कारणपनका अनुभव कर रहे हैं किन्तु तर्कज्ञानके लिये अपने आकारका समर्पण नहीं कर रहे हैं। ऐसी दशामें प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुपलम्भ ज्ञान द्वारा जान लिया गया विषय भला तर्कज्ञानसे कैसे जाना जा सकता है ? और तिस प्रकार होनेपर भी बौद्ध तर्कज्ञानको अप्रमाण बनानेके लिये गृहीतग्राही कह रहा है। यह बौद्ध अनुमानके कारण हो रहे लिङ्गज्ञानके प्रत्यक्ष हुये विषयको अनुमानका विषय पड जानेसे अनुमेय भला क्यों न कह देवे। अथवा लिङ्गज्ञानके विषयको अनुमानका विषय पड जानेसे प्रत्यक्ष-

पनेका क्यों नहीं प्रत्याख्यान कर देवे और इस प्रकार करता हुआ वह उन्मत्त नहीं समझा जाय अर्थात् जो ज्ञानका जन्म देनेवाले कारणोंको विषय योग्य बनाता है, वह अवश्य उन्मत्त है। तिस कारण प्रत्यक्ष और अनुपलम्भके द्वारा ग्रहण किये जा चुके अर्थोंका ग्राहक तर्कज्ञान नहीं है। सभी प्रकार ग्रहण किये जा चुके अर्थोंको तर्कज्ञान नहीं जानता है। हां, उन प्रत्यक्ष अनुपलम्भोंसे कथंचित् थोडेसे गृहीत हुये उन अर्थोंका ग्रहण करना तो उस तर्कज्ञानकी प्रमाणताका विरोध नहीं करता है। जैसे कि अनेक प्रत्यक्ष और अनुमान कथचित् पूर्व अर्थको जानते हुये भी प्रमाण मान लिये गये हैं। इस बातको हम पहिले विस्तारसहित कह चुके हैं।

समारोपव्यवच्छेदात्स्वार्थे तर्कस्य मानता।
लैंगिकज्ञानवन्नैव विरोधमनुधावति ॥ ९८ ॥

अपने विषयभूत अविनाभाव सबंधको जाननेमें प्रथम प्रवृत्त हुये सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और अज्ञानरूप समारोपोंका निराकरण करनेसे तर्कज्ञानको प्रमाणपना है। जैसे कि साध्यको जाननेमें संशय आदिको हटाता हुआ अनुमान ज्ञान प्रमाण है। यों विरोध दोषका अनुसरण नहीं है। यानीं इस प्रकार कहनेमें कोई विरोध तर्कज्ञानके पीछे नहीं दौडता है।

प्रवृत्तश्च समारोपः साध्यसाधनयोः क्वचित्।
संबंधे तर्कतो मातुर्व्यवच्छेद्येत कस्यचित् ॥ ९९ ॥

साध्य और साधनके किसी कार्यकारणभाव, व्याप्य व्यापकभाव, पूर्वचरभाव, उत्तरचरभाव, आदि संबंधोंमें यदि कोई संशय अज्ञानरूप समारोप प्रवृत्त हो जाय तो वह समारोप किसी भी प्रमाता आत्माके तर्कज्ञानद्वारा निराकृत हो जाता है।

संवादको प्रसिद्धार्थं साधनस्तद्व्यवस्थितः।
समारोपछिदूहोत्र मानं मतिनिबंधनः ॥ १०० ॥

यहां प्रकरणमें उक्त युक्तियोंसे वह तर्कज्ञान सम्वादक और अपूर्व अर्थका ग्राहक तथा समारोपका व्यवच्छेदक एवं उपलम्भ अनुपलम्भरूप मतिज्ञानको कारण मानकर उत्पन्न हुआ व्यवस्थित हो गया है। अतः इन मतिज्ञानके प्रकारोंमें ऊहज्ञान प्रमाणसिद्ध हो जाता है। ये सब तर्कज्ञानके प्रथमात विशेषण ज्ञापकहेतु बनकर प्रमाणपनेको साध देते हैं।

प्रमाणमूहः संवादकत्वादप्रसिद्धार्थसाधनत्वात् समारोपव्यवच्छेदित्वात्प्रमाणभूतमतिज्ञाननिबन्धनत्वादनुमानादिति सूक्तं बुध्यामहे।

तर्कज्ञान (पक्ष) प्रमाण है (साध्य) सफल प्रवृत्ति या बाधाविरह अथवा प्रमाणान्तरोंकी प्रवृत्तिरूप सम्वादका जनक होनेसे (हेतु १) अप्रसिद्ध अर्थका यानी अपूर्व अर्थका ग्राहक होनेसे (हेतु २) संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और अज्ञानरूप समारोपका निवर्तक होनेसे (हेतु ३) प्रमाणभूत हो रहे उपलम्भ अनुपलम्भरूप मतिज्ञान और धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञानरूप मतिज्ञानोंको कारण मानकर उत्पन्न हुआ होनेसे (हेतु ४) जैसे कि अनुमान, आगम, आदि ज्ञान प्रमाण हैं। इस प्रकार उपर्युक्त प्रकरण बहुत अच्छा कहा गया है, ऐसा हम समझते हैं।

ननूहो मतिः स्वयं न पुनर्मतिनिबंधन इति चेन्न, मतिविशेषस्य तस्य पूर्वमतिविशेषनिबंधनत्वाविरोधात् साधनस्यासिद्धत्वायोगात्। न च तन्निबंधनत्वं प्रमाणत्वेन व्याप्तमनुमानेन स्वयं प्रतिपन्नं लिंगज्ञानमतिविशेषपूर्वकत्वस्य प्रमाणत्वव्याप्तस्य तत्र प्रतीतेर्व्यभिचाराभावात्। श्रुतेन व्यभिचार इति चेन्न, तस्य प्रमाणत्वव्यवस्थापनात्। तदव्यभिचारिणो मतिनिबंधनत्वात्संवादकत्वादेवोहः प्रमाणं व्यवतिष्ठत एव।

यहां शंका है कि ऊह यानी तर्कज्ञान तो स्वयं मतिज्ञान है, किन्तु फिर मतिज्ञानरूप कारणोंसे उत्पन्न हुआ तो नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसा तो न कहना। क्योंकि स्मरणनामके मतिज्ञानमें जैसे अनुभवनामका मतिज्ञान कारण पड जाता है, उसी प्रकार उस तर्कनामक विशेष मतिज्ञानका कारण उसके पूर्वमें हुये दूसरे स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, उपलम्भ, अनुपलम्भ आदि मतिज्ञानविशेष हैं। कोई विरोध नहीं पडता है। मतिज्ञानको कारण मानकर उत्पन्न होनापन हेतु पक्षमें रह जाता है। अतः असिद्ध हेत्वाभासपनका योग नहीं है। अनुमानरूप दृष्टांतमें मतिज्ञानरूप कारणसे उत्पन्न होनारूप हेतु प्रमाणपनरूप साध्यके साथ व्याप्तिको रखता हुआ स्वयं नहीं जाना है, यह नहीं समझना, किंतु हेतुका ज्ञानरूप विशेष मतिज्ञानको कारण मानकर उत्पन्न होनापन जो कि प्रमाणत्वरूप साध्यके साथ अविनाभाव रखता है। उस हेतुकी वहां अनुमानमें प्रतीति होनेका कोई व्यभिचार नहीं है। यदि कोई बौद्ध या आगमको प्रमाण नहीं माननेवाला चार्वाक अथवा वैशेषिक विद्वान् श्रुतज्ञान करके व्यभिचार देवें अर्थात् मतिज्ञानको कारण मानकर श्रुतज्ञान उत्पन्न हुआ है। किंतु वह प्रमाण नहीं माना गया है। अतः साध्यके न रहनेपर भी श्रुतज्ञानमें हेतुके रह जानेसे जैनोंका चौथा हेतु अनैकान्तिक है, आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्यों कि उस श्रुतज्ञानको प्रमाणपना व्यवस्थित करा दिया है। हेतुके रहनेपर साध्यके भी ठहर जानेसे व्यभिचारका निवारण हो जाता है। उस प्रमाणपनके साथ अव्यभिचारी हो रहे मतिनिबंधनत्व हेतुसे तर्कमें प्रमाणपना व्यवस्थित होय ही जाता है। अथवा अकेले पहिले सम्वादकपन हेतुसे ही तर्कज्ञान प्रमाणरूप व्यवस्थित हो ही रहा है। हमारे अन्य हेतु सुखसहित बैठे रहें।

ननूहस्यापि संबंधे स्वार्थे नाध्यक्षतो गतिः ।
साध्यसाधनसंबंधे यथा नाप्यनुमानतः ॥ १०१ ॥
तस्योहांतरतः सिद्धौ क्वानवस्थानिवारणं ।
तत्संबंधस्य चासिद्धौ नोहः स्यादिति केचन ॥ १०२ ॥

बौद्ध शंका करते हैं कि जैसे लिंगज्ञानसे तर्कद्वारा अनुमान प्रमाण साध्यकी ज्ञप्तिको करा देता है और उपलम्भ अनुपलम्भद्वारा संबंधको तर्कज्ञान जता देता है । यहां तर्कके भी अपने विषय हो रहे अविनाभाव संबंधमें प्रत्यक्षसे तो ज्ञप्ति हो नहीं सकती है । अर्थात् तर्कज्ञान जिस संबंधके द्वारा देशान्तर कालान्तरके संबंधको जान लेता है, उस संबंधका प्रत्यक्षज्ञानसे तो पूर्वकालमें संबंध ग्रहण हुआ नहीं है । क्योंकि अविचारक प्रत्यक्ष इतने विचारोंको नहीं कर सकता है । तथा तर्कज्ञानसे जाने गये पदार्थोंका अपने साध्य साधन संबंधको जाननेमें जैसे प्रत्यक्षसे गति नहीं है उसी प्रकार अनुमानसे भी उस संबंधको नहीं जाना जासकता है । अनवस्था हो जायगी । यदि तर्कसे जाने गये पदार्थोंका अपने ज्ञापक कारणोंके साथ संबंधका जानना पुनः दूसरे तर्कोंसे सिद्ध किया जायगा तब तो अनवस्थादोषका निवारण कहां हुआ ? अर्थात् तर्कके आत्मलाभमें दूसरे तर्ककी और दूसरे तर्कमें तीसरे तर्ककी आकांक्षा बढती जानेसे अनवस्था दोष होता है । यदि ऊहसे जानने योग्य पदार्थोंका किसी ज्ञापकके साथ संबंध होनेकी सिद्धि न मानी जायगी तब तो ऊहज्ञान प्रमाण नहीं हो सकेगा । संबंधको जाने विना उत्पन्न हुआ ऊहज्ञान मिथ्याज्ञान हो जायगा अथवा अपने जानने योग्य पदार्थोंका संबंध ग्रहण किये विना यदि ऊह उनको जान लेगा तो अनुमान भी ऊह द्वारा संबंध ग्रहण किये बिना ही साध्यको जान लेवेगा । फिर तर्कज्ञान प्रमाण क्यों माना जा रहा है, इस प्रकार यहांतक कोई कह रहे हैं ।

ननूहस्यापि स्वार्थेनार्थैः संबंधोऽभ्युपगंतव्यस्तस्य च साध्यसाधनस्येव नाध्यक्षाद्गतिस्तावतो व्यापारान् कर्तुमशक्तेः । सन्निहितार्थग्राहित्वाच्च सविकल्पस्यापि प्रत्यक्षस्य । नाप्यनुमानतोऽनवस्थाप्रसंगात्, तस्यापि ह्यनुमानस्य प्रवृत्तिर्लिंगलिंगिसंबंधनिश्चयात् स चोहात्तस्यापि प्रवृत्तिः स्वार्थसंबंधनिश्चयात् सोप्यनुमानांतरादिति तस्योहांतरात्सिद्धौ क्वेयमनवस्थानिवृत्तिः । यदि पुनरयमूहः स्वार्थसंबंधसिद्धिमनपेक्षमाणः स्वविषये प्रवर्त्तते तदानुमानस्यापि तथा प्रवृत्तिरस्त्विति व्यर्थमूहपरिकल्पनमिति कश्चित् ।

ऊहको नहीं प्रमाण माननेवाला बौद्ध विलक्षण ढंगसे पुनः विचार करनेके लिये जैनोंको आमंत्रण करता है कि ऊहज्ञानका भी अपने जानने योग्य तर्क्य पदार्थोंके साथ संबंध ग्रहण करना स्वीकार करना चाहिये । उस संबंधका ज्ञान प्रत्यक्षसे तो नहीं हो सकता है, जैसे कि साध्य और

साधनके संबंधको प्रत्यक्ष नहीं जानता है। उसको जाननेके लिये ही तो तर्कज्ञान माना जा रहा है। उसी प्रकार यानी अनुमानके कारण संबंधज्ञानको प्रत्यक्ष नहीं जान पाता है। वैसे ही तर्कके उत्पादक संबंधज्ञानकी ज्ञप्ति भी प्रत्यक्षसे नहीं हो पाती है। उतने व्यापारोंको प्रत्यक्षज्ञान नहीं कर सकता है। जो जो धूमवान् प्रदेश हैं, वे सब अग्निमान् हैं या इस साध्यके होनेपर ही यह हेतु ठहर सकेगा, साध्यके न होनेपर हेतु नहीं रहेगा, इसके उत्थापक ज्ञापकोंको जाननेमें विचाररहित प्रत्यक्षका व्यापार नहीं चलता है। दूसरी बात यह है कि आकाररूप विकल्पोंसे सहित हुआ भी प्रत्यक्षज्ञान सन्निकट वर्तमानकालके अर्थोको ही जानता है। हम लोगोंका इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षज्ञान देशान्तर कालान्तरके पदार्थोंको नहीं विषय करता है। जिनका कि विषय करना आपके ऊह ज्ञानको आवश्यक हो रहा है। तथा अनुमानसे भी ऊह्य पदार्थोंके साथ हो रहे संबंधकी ज्ञप्ति नहीं हो पाती है। अनवस्था दोषका प्रसंग है। क्योंकि उस संबंधग्राही अनुमानकी प्रवृत्ति भी हेतु और साध्यके सम्बन्धका निश्चय हो जानेसे होगी और संबंधका निश्चय तो तर्कसे ही होगा। पुनः उस तर्ककी प्रवृत्ति भी अपने जानने योग्य अर्थोके साथ ज्ञापकोंका संबंध निश्चय हो जानेसे होगी और फिर वह तर्कके उत्पादक संबंधकी ज्ञप्ति अन्य अनुमानोंसे होगी। इसी प्रकार उस अनुमानकी अन्य तर्कज्ञानोंसे सिद्धि मानी जायगी, ऐसी दशामें अनवस्थारूपी चीर बढता चला जाता है उसकी निवृत्ति भला कहां हुई ? अनुमानको हटाकर अन्य तर्कज्ञानोंसे सम्बन्धज्ञप्ति करोगे तो भी अनवस्था दोष टला नहीं। यदि फिर स्याद्वादी यों कहें कि यह तर्कज्ञान तो अपने विषयभूत अर्थोके साथ संबंधके ज्ञानकी सिद्धिको नहीं अपेक्षा करता हुआ ही अपने विषयमें प्रवृत्ति कर लेता है, तब तो अनुमानकी भी तिस प्रकार ऊह द्वारा संबंध ग्रहण करनेकी नहीं अपेक्षा रखनेवालेकी ही अपने विषयमें प्रवृत्ति हो जाओ। इस ढंगसे तो ऊहज्ञानकी एक न्यारी कल्पना करना व्यर्थ है। ऐसा कोई कह रहा है।

तन्न प्रत्यक्षवत्तस्य योग्यताबलतः स्थितेः।
स्वार्थप्रकाशकत्वस्य क्वान्यथाध्यक्षनिष्ठितिः ॥ १०३ ॥

वह बौद्धका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्षके समान उस तर्कका भी स्वविषय प्रकाशकपना योग्यताकी सामर्थ्यसे प्रसिद्ध हो रहा है। अन्यथा यानी योग्यताकी सामर्थ्यको माने विना प्रत्यक्षज्ञानकी भी व्यवस्था कहां हो सकेगी ? अर्थात् स्वावरणोंका क्षयोपशमरूप योग्यता द्वारा अपने विषयोंका अवलम्ब मुद्रासे संबंध कर प्रत्यक्षज्ञान जैसे नियत पदार्थोंको जान लेता है, उसी प्रकार तर्क अपनी योग्यतासे देशान्तर, कालान्तरवर्ती अनेक पदार्थोंके संबंधका परोक्षज्ञान कर लेता है।

योग्यताबलादूहस्य स्वार्थप्रकाशकत्वं व्यवतिष्ठत एव प्रत्यक्षवत्। न हि प्रत्यक्षं स्वविषयसंबंधग्रहणापेक्षमनवस्थाप्रसंगात्। तथाहि—

प्रत्यक्षके समान ऊहज्ञानका भी स्वार्थप्रकाशकपना अपनी योग्यताकी सामर्थ्यसे व्यवस्थित हो रहा ही है। देखिये। प्रत्यक्षज्ञान अपने जानने योग्य विषयोंके साथ संबंधके ग्रहणकी अपेक्षा नहीं रखता है। यदि प्रत्यक्षकी उत्पत्तिमें भी संबंधका ग्रहण होना मानोगे तो अनवस्थाका प्रसंग है। प्रत्यक्षके उत्थापक संबंधोंका ज्ञान अन्य प्रत्यक्षोंसे होवेगा। जिज्ञासा बढती चली जायगी। इसको ग्रन्थकार स्पष्ट कहकर दिखलाते हैं।

ग्राह्यग्राहकभावो वा संबंधोन्योपि कश्चन।
स्वार्थेन गृह्यते केन प्रत्यक्षस्येति चिन्त्यताम्॥ १०४॥

प्रत्यक्षका अपने विषयके साथ ग्राह्यग्राहकभाव संबंध या विषयविषयीभाव संबंध अथवा और कोई तदुत्पत्ति, तदाकार संबंध तो बताओ? किसके द्वारा ग्रहण किये जायंगे? इसका आप कुछ समयतक चिंतवन करो। प्रत्यक्षके उत्पादक संबंधको प्रत्यक्ष द्वारा जाननेपर अनवस्था दोष लग जायगा।

प्रत्यक्षस्यापि स्वार्थे संबंधो ग्राह्यग्राहकभावः कार्यकारणभावो वाभ्युपगंतव्य एवान्यथा ततः स्वार्थप्रतिपत्तिनियमायोगादतिप्रसंगात्। स च यदि गृहीत एवाध्यक्ष-प्रवृत्तिनिमित्तं तदा केन गृह्यत इति चिन्त्यं स्वेन प्रत्यक्षांतरेणानुमानेन वा।

प्रत्यक्षका भी अपने ग्राह्यविषयमें संबंध कोई ग्राह्यग्राहकभाव, कार्यकारणभाव, अथवा विषयविषयीभाव, अवश्य स्वीकृत करना ही पडेगा। अन्यथा उस प्रत्यक्षसे अपने ग्राह्य अर्थोंकी प्रतीति करनेका नियम नहीं बन सकेगा। अतिप्रसंग हो जायगा। यानी संबंधको नहीं प्राप्त हुये देशान्तर, कालान्तरके पदार्थोंको भी प्रत्यक्ष जान सकेगा। कोई रोकनेवाला नहीं। अतः संबंध जानना आवश्यक हुआ और वह संबंध किसी ज्ञानसे गृहीत हुआ संता ही अध्यक्षकी प्रवृत्तिका निमित्त कारण बनेगा, तब तो वह पुनः किस ज्ञानसे ज्ञात किया जाय? इसका हृदयमें गहरा विचार करना चाहिये। क्या वह प्रत्यक्ष स्वयं अपनेसे ही अपने उत्थापक संबंधका ज्ञान कर लेगा? या दूसरे प्रत्यक्षों करके संबंध जाना जायगा? अथवा अनुमान करके प्रत्यक्षके कारण संबंधकी ज्ञप्ति की जायगी? बताओ।

स्वतश्चेत्तादृशाकारा प्रतीतिः स्वात्मनिष्ठिता।
नासौ घटोयमित्येवमाकारायाः प्रतीतितः॥ १०५॥
प्रत्यक्षांतरतश्चेन्नाप्यनवस्थानुषंगतः।
तत्संबंधस्य चान्येन प्रत्यक्षेण विनिश्चयात्॥ १०६॥

तिस कारण वह संबंधकी ज्ञप्ति यदि स्वयं अपने प्रत्यक्ष स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो रही तिस प्रकार उत्थापक संबंधकी विकल्पना करती हुयी प्रतीति है, तब तो वह नहीं बनती है। अर्थात् कोई भी प्रत्यक्ष स्वयं अपने आप तो संबंधको नहीं जान रहा है। क्योंकि " यह घट है " " यह पुस्तक है " इस प्रकार आकारवाली प्रत्यक्ष द्वारा प्रतीतिया हो रही हैं। इनमें संबंध तो नहीं प्रतिभासता है। यदि द्वितीय विकल्पके अनुसार अन्य प्रत्यक्षोंसे प्रकृत प्रत्यक्षके उत्थापक संबंधका ग्रहण होना मानोगे सो भी ठीक नहीं पडेगा। अनवस्था दोषका प्रसंग होता है। क्योंकि उस प्रत्यक्षके उत्थापक संबंधका भी अन्य प्रत्यक्षोंकरके विशेष निश्चय किया जायगा और उन प्रत्यक्षोंके उत्थापक संबंधोंका भी निर्णय न्यारे न्यारे अन्य प्रत्यक्षों करके किया जायगा। कहीं दूर भी जाकर ठहरना नहीं हो सकता है।

नानुमानेन तस्यापि प्रत्यक्षायत्तता स्थितेः।
अनवस्थाप्रसंगस्य तदवस्थत्वतस्तराम् ॥ १०७ ॥

तथा तृतीय विकल्पके अनुसार अनुमान करके प्रत्यक्षके उत्थापक उस संबंधका ग्रहण होना तो नहीं बनता है। क्योंकि उस अनुमानकी भी स्थिति प्रत्यक्षके अधीन है। अतः उस प्रत्यक्षके लिये पुनः अनुमान द्वारा संबंध ग्रहण करना आकांक्षित होगा, अतः अनवस्था दोषका प्रसंग वैसाका वैसा ही बहुत बढिया ढंगसे तदवस्थ रहा।

स्वसंवेदनतः सिद्धेः स्वार्थसंवेदनस्य चेत् ।
संबंधोक्षधियः स्वार्थे सिद्धे कश्चिदतीन्द्रियः ॥ १०८ ॥
क्षयोपशमसंज्ञेयं योग्यतात्र समानता।
सैव तर्कस्य संबंधज्ञानसंवित्तितः स्वतः ॥ १०९ ॥

अपने विषयभूत अर्थकी अच्छी ज्ञप्ति करनेवाले इन्द्रियजन्य ज्ञानका अपने अर्थमें संबंधका ग्रहण यदि स्वसंवेदनसे ही सिद्ध हुआ माना जावेगा अर्थात् स्वके द्वारा योग्य अर्थका ज्ञान करा देना ही संबंध ग्रहण है, तब तो कोई अतीन्द्रिय संबंध सिद्ध हो जाता है। जिसका कि दूसरा नाम क्षयोपशम है। अथवा स्वार्थसंवेदनकी स्वसंवेदनकी स्वसंवेदनसे सिद्धि होनेके कारण ही इन्द्रिय जन्य ज्ञानका कोई लब्धिरूप अतीन्द्रिय संबंध सिद्ध है, ऐसा होनेपर क्षयोपशमनामकी यह योग्यता इस तर्कज्ञानमें भी समान है। तर्कज्ञानके विषयभूत संबंधके ज्ञानकी स्वतः संवित्ति होनेसे वह योग्यता नियामक मानी जाती है अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान जैसे घटको जाननेमें स्वतंत्र है, उत्पत्ति होनेमें भले ही इन्द्रिय आदिककी अपेक्षा करे तथा अपनी योग्यता अनुसार अनुमानज्ञान साध्यको जानने

में स्वतंत्र है, उसी प्रकार तर्कज्ञान ही योग्यताके वश अपने साध्य और साधनके संबंधको विषय करनेमें स्वतंत्र है। उत्पत्ति भले ही अन्य उपलम्भ अनुपलम्भसे हो जाय किन्तु संबंधके ग्रहणमें अन्य मध्यवर्ती ज्ञानोंकी आवश्यकता नहीं है। योग्यता भला किस बीमारीकी औषधि है? यदि निरपेक्ष होकर नियत विषयका ग्रहण नहीं करावेगी तो फिर उसका गांठका कार्य ही क्या हुआ? कुछ भी तो नहीं।

न प्रत्यक्षं स्वार्थे संबंधग्रहणापेक्षं प्रवर्तते क्वचिदकस्मात्तत्प्रवृत्तिदर्शनात्। किं तर्हि। तस्य स्वसंवेदनादिवत्स्वार्थग्रहणसिद्धिः। स्वतोतीन्द्रियः कश्चित्संबंधः स्वार्थानुमानः सिद्ध्येदिति चेत् सैव योग्यता स्वावरणक्षयोपशमाख्या प्रत्यक्षस्यार्थप्रकाशनहेतुरिह समायाता। तर्कस्यापि स्वयं व्याप्तिग्रहणानुभवात्तज्ज्ञानावरणक्षयोपशमरूपा योग्यतानुमीयमाना सिद्ध्यतु प्रत्यक्षवदनवस्थापरिहारस्यान्यथाकर्तुमशक्तेः।

प्रत्यक्षप्रमाण अपने विषयमें संबंधके ग्रहणकी अपेक्षा रखता हुआ नहीं प्रवर्तता है। क्योंकि किसी एक विषयमें अकस्मात् (चाहे जब) उसकी प्रवृत्ति होना देखा जाता है तो, क्या है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर यह उत्तर है कि स्वसम्वेदन, चित्रवेदन, आदिके समान उस प्रत्यक्षकी स्वार्थको ग्रहण करनेकी सिद्धि हो रही है। अर्थात् इन्द्रिय, आत्मा, विषय, आदिकी योग्यता मिलने पर स्पष्ट [भडाक सीदे] इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष हो जाता है। कोई संबंधकी आवश्यकता नहीं है। इसपर यदि कोई कहे कि स्वार्थके नियतरूपसे ग्रहण किये जानेरूप कार्यको देखकर किसी न किसी अतीन्द्रिय संबंधका अनुमान हो जानेसे इन्द्रियोंद्वारा नहीं जानने योग्य संबंध सिद्ध हो जावेगा, चक्षुसे रूप ही जाना जाता है। रस आदिक नहीं, तथा एक कोस दो कोस आदि तकके दूरवर्ती रूपोंका ही ज्ञान होता है। दस बीस कोसके दूर घर आदिकोंका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है। हां, दूरवर्ती सूर्य, चंद्रमा, तारे दीख जाते हैं, इन बातोंका नियम करनेवाला कुछ भी तो संबंध होना चाहिए। ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहते हैं, वही विषयविषयीभावका नियामक संबंध तो योग्यता है। जिस योग्यताका दूसरा नाम स्वावरणकर्मोंका क्षयोपशम है। वही योग्यता प्रत्यक्षके द्वारा नियत अर्थोंके प्रकाश करनेका हेतु है। तब तो इस प्रकरणमें वही योग्यता भले ढंगसे प्राप्त हो गई, इसी प्रकार तर्कज्ञानकी स्वयं व्याप्तिका ग्रहणरूप अनुभवसे उस तर्कज्ञानके आवरण करनेवाले कर्मोंका क्षयोपशमरूप योग्यता भी अनुमानसे जान ली गई, सिद्ध हो जाओ। अन्यथा यानी योग्यताको माने विना अनवस्था दोषका परिहार दूसरे ढंगोंसे नहीं किया जा सकता है। जैसे कि प्रत्यक्षमें योग्यताको माने विना अनवस्थाका परिहार नहीं हो सकता है।

ननु च यथा तर्कस्य स्वविषयसंबंधग्रहणमनपेक्षमाणस्य प्रवृत्तिस्तथानुमानस्यापि सर्वत्र ज्ञाने स्वावरणक्षयोपशम एव स्वार्थप्रकाशनहेतुरविशेषात्। ततोनर्थकमेव तत्संबंध-

ग्रहणाय तर्कपरिकल्पनमिति चेत्, सत्यमनुमानस्यापि स्वयोग्यताग्रहणनिरपेक्षकमनुमेयार्थ-प्रकाशनं न पुनरुत्पत्तिलिंगलिंगिसंबंधग्रहणनिरपेक्षास्त्यगृहीततत्संबंधस्य प्रतिपत्तुः कचित्कदाचिदनुत्पत्तिनिश्चयात् । नैवं प्रत्यक्षस्योत्पत्तिरपि करणार्थसंबंधग्रहणापेक्षा स्वयमगृहीत तत्संबंधस्यापि पुनस्तदुत्पत्तिदर्शनात् । तद्वदूहस्याप्यतीन्द्रियात्मार्थसंबंधग्रहणनिरपेक्षस्योत्पत्तिदर्शनान्नोत्पत्तावपि संबंधग्रहणापेक्षत्वमिति युक्तं तर्कः ।

यहां दूसरी शंका है जिस प्रकार अपने संबंधरूप विषयमें अन्य संबंधके ग्रहणकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले तर्कज्ञानकी अपने विषयमें प्रवृत्ति होना मान लिया है, तिस ही प्रकार अनुमान की भी अपने विषय साध्यको जाननेमें व्याप्तिरूप संबंधके ग्रहणकी नहीं अपेक्षा होकर ही प्रवृत्ति मान ली जाय ? सभी ज्ञानोंमें अपने अपने आवरणोंका क्षयोपशमरूप योग्यता ही स्वार्थके प्रकाश करनेमें हेतु हो रही है । प्रत्यक्ष या तर्कसे अनुमानमें कोई विशेषता नहीं है । भावार्थ—अनुमानज्ञान व्याप्तिग्रहण हुये विना भी अपनी योग्यतासे ही साध्यको जानलेगा । तिस कारण उस संबंध को ग्रहण करनेके लिये तर्कज्ञानकी वडे घटाटोपके साथ कल्पना करना व्यर्थ ही है । इस प्रकार अच्छी शंका करनेपर तो हम जैन कहेंगे कि तुम्हारा कहना ठीक है । अनुमानके द्वारा भी अपनी योग्यताके बलसे संबंधके ग्रहणकी नहीं अपेक्षा रखनेवाला अनुमेय अर्थका प्रतिभास होना हमको अभीष्ट है किन्तु अनुमानकी उत्पत्ति तो फिर हेतु और साध्यके संबंधरूप व्याप्तिके ग्रहणकी नहीं अपेक्षा रखनेवाली नहीं है । जिस पुरुषने उन हेतु और साध्यका संबंध ग्रहण नहीं किया है उस प्रतिपत्ताको किसी भी स्थलमें कभी भी अनुमानकी उत्पत्ति नहीं होती है, ऐसा निश्चय है । भावार्थ—अनुमानके उत्पन्न हो जानेपर स्वतंत्रतासे अनुमानद्वारा अनुमेय अर्थका प्रकाश हो जाता है । किन्तु उसकी उत्पत्ति तो स्वतंत्र नहीं है । अनुमानको उत्पन्न करानेमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, प्रत्यक्ष, इन प्रमाणोंकी आवश्यकता है । शुद्ध प्रासुक भोजन करनेवाला कोई सोधिया श्रावक गेंहूके उत्पन्न हो चुकनेपर उसके चून, रोटी, आदिमें शुद्धिका विचार रखता है । किन्तु गेंहूकी उत्पत्ति तो खात, मिट्टी, पशु, शूद्र किसान, अगालितजल, हल जोतनेमें हुई आरंभजन्य हिंसा, आदि अशुद्ध कारणोंसे होती है । इस प्रकार साध्यको जाननेवाला अनुमान स्वतंत्र है । किन्तु अपनी उत्पत्तिमें संबंध ग्रहणकी अपेक्षा रखता है । हां, इस प्रकार प्रत्यक्षकी उत्पत्ति भी इन्द्रिय और अर्थके संबंधका ग्रहण करनेकी अपेक्षा नहीं रखती है जिस पुरुषने उन इन्द्रिय और अर्थोंके संबंधका स्वयं ग्रहण नहीं भी किया है, उसके भी फिर उस प्रत्यक्षकी उत्पत्ति देखी जाती है । उसी प्रत्यक्षके समान तर्कज्ञानकी भी इन्द्रिय अगोचर आत्मा और अर्थके संबंधका ग्रहण करनेकी नहीं अपेक्षा रखते हुये की उत्पत्ति देखी जाती है । अतः तर्ककी उत्पत्तिमें भी संबंधके ग्रहणकी अपेक्षा रखनापन नहीं है । भावार्थ—प्रत्यक्ष और तर्ककी उत्पत्तिमें तो इन्द्रियार्थ संबंध और तर्क विषय

संबंधके ग्रहणकी अपेक्षा नहीं है । किन्तु अनुमानकी उत्पत्तिमें संबंधग्रहणकी अपेक्षा है । संसारके कार्य अनेक प्रकारोंके होते हैं । अतः तर्कज्ञानमें अनवस्था दोष नहीं आता है । इस प्रकार मति-ज्ञानका एक भेद तर्कज्ञान मानना युक्त है ।

प्रमाणविषयस्यायं सा(शो)धको न पुनः स्वयं ।
प्रमाणं तर्क इत्येतत्कस्यचिद्व्याहतं मतम् ॥ ११० ॥
प्रमाणविषये शुद्धिः कथं नामाप्रमाणतः ।
प्रमेयांतरतो मिथ्याज्ञानाच्चैतत्प्रसंगतः ॥ १११ ॥

अनुमान प्रमाणके विषयका साधक या परिशोधक यह तर्कज्ञान स्वयं तो प्रमाण नहीं है । जो ज्ञान प्रमाणका साधक है वह प्रमाण ही होय यह कोई नियम नहीं है । पण्डितोंके पिता पण्डित ही होय ऐसी व्याप्ति नहीं है । घटके साधक कुम्भकार, दण्ड, चक्र, आदि कारण घटरूप नहीं हैं । सुवर्णके शोधक पदार्थ सुवर्णस्वरूप नहीं हैं । अतः अनुमान प्रमाणका साधक तर्क ज्ञान एकान्तरूपसे प्रमाण नहीं कहा जा सकता है । ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार यह किसीका मन्तव्य व्याघातदोषसे युक्त है । क्योंकि प्रमाणके विषयमें शुद्धि करना भला अप्रमाण ज्ञानसे कैसे हो सकता है ? अन्यथा यानी अप्रमाण पदार्थसे प्रमाणकी शुद्धि होना माना जायगा तब तो दूसरे घट, पट आदि प्रमेयोंसे अथवा संशय आदिक मिथ्याज्ञानोंसे भी इस प्रमाण विषयके शोधकपनका प्रसंग हो जायगा ।

यथा संशयितार्थेषु प्रमाणानां प्रवर्तनं ।
निर्णयाय तथा लोके तर्कितेष्विति चेन्मतम् ॥ ११२ ॥
संशयः साधकः प्राप्तः प्रमाणार्थस्य ते तथा ।
नाप्रमाणत्वतस्तर्कः प्रमाणमनुमन्यताम् ॥ ११३ ॥
स चेत्संशयजातीयः संशयात्पृथगास्थितः ।
कथं पदार्थसंख्यानं नान्यथास्त्विति त्वश्नुते ॥ ११४ ॥
तस्मात्प्रमाणकर्तव्यकारिणो वेदितात्मनः ।
सत्तर्कस्याप्रमाणत्वमवितर्क्य प्रचक्षते ॥ ११५ ॥

यहां शंका है कि जिनमें संशय उत्पन्न हो चुका है, उन अर्थोंमें निर्णय करनेके लिये जिस प्रकार प्रमाणोंकी प्रवृत्ति होना लोकमें देखा जाता है, तिस ही प्रकार तर्कसे जाने गये

विषयोंमें भी निर्णयार्थ मनुष्योंकी प्रवृत्ति हो रही है। आचार्य कहते हैं कि यदि इस प्रकारका शंकाकारका मन्तव्य है, तब तो हम कहेंगे कि तुम्हारे मतमें प्रमाणके विषयका साधन करनेवाला संशयज्ञान प्राप्त हुआ। अप्रमाणपनेसे संशयज्ञानकी जो व्यवस्था हो रही थी वह न रही। इसी प्रकार प्रमाणका साधक तर्कज्ञान भी प्रमाण मान लिया जाय, यदि तर्कको संशयकी जातिवाला माना जायगा। क्योंकि मिथ्याज्ञानके वैशेषिकोंने संशय, विपर्यय और तर्क, ये तीन भेद किये हैं, तब तो वह संशयसे भिन्न होकर स्थित हुआ। ऐसी दशामें पदार्थोंकी संख्या करना क्यों नहीं दूसरे प्रकारसे हो जाओ, यह दोष तुमको घेर लेता है। द्रव्य, गुण, आदिमें तो तर्क नहीं गिनाया है। तिस कारण स्वयं अपने स्वरूपको जाननेवाले और प्रमाणसे करने योग्य कार्यको बनानेवाले समीचीन तर्कज्ञानको जो अप्रमाणपना कह रहे हैं, वे वैशेषिक विना विचार करके ही अपनी ऐंठ [शेखी] विस्तारके साथ बखान रहे हैं।

प्रमाणं तर्कः प्रमाणकर्तव्यकारित्वात् प्रत्यक्षादिवत् प्रत्ययसाधनं प्रमाणकर्तव्यं तत्कारी च तर्कः प्रसिद्ध इति नासिद्धो हेतुः। नाप्यनैकांतिकोऽप्रमाणे विपक्षे वृत्त्यभावात्। न हि प्रमेयांतरं संशयादि वा प्रमाणविषयस्य साधनं विरोधात्। ततस्तर्कस्य प्रमाणविषयसाधकत्वमिच्छता प्रमाणत्वमुपगंतव्यम्।

तर्कज्ञान (पक्ष) प्रमाण है (साध्य), प्रमाणसे करने योग्य कार्योंका करनेवाला होनेसे (हेतु) जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान, आदिक प्रमाण हैं [दृष्टान्त]। प्रमाणका कर्तव्य प्रतीतिका साधन करना है। उसका करनेवाला तर्कज्ञान प्रसिद्ध ही है। इस कारण हेतु पक्षमें रह जाता है। असिद्ध हेत्वाभास नहीं है। तथा यह हेतु व्यभिचारी भी नहीं है। संशय आदिक अप्रमाणरूप विपक्षोंमें प्रमाणकर्तव्यकारित्व हेतु नहीं वर्तता है। प्रतियोगीके सदृशको पकडनेवाले पर्युदास पक्षके अनुसार अप्रमाण संशय आदिक हैं। और नञ् द्वारा सर्वथा निषेधको ही करनेवाले प्रसज्यनिषेधके अनुसार घट, पट, आदि अप्रमाण हैं। वे सभी इतर प्रमेय अथवा संशय आदिक विचारे अप्रमाण पदार्थ प्रमाणविषयके साधक नहीं हैं। यानी प्रमाणद्वारा साधने योग्य कार्यको नहीं कर सकते हैं, क्योंकि विरोध आता है। तिस कारण तर्कको प्रमाणविषयका साधकपना चाहनेवाले वादीकरके उसका प्रमाणपना स्वीकार कर लेना चाहिये।

किञ्च— और भी एक यह बात है कि—

सम्यक् तर्कः प्रमाणं स्यात्तथानुग्राहकत्वतः।
प्रमाणस्य यथाध्यक्षमनुमानादि चाश्नुते ॥ ११६ ॥
अनुग्राहकता व्याप्ता प्रमाणत्वेन लक्ष्यते।
प्रत्यक्षादौ तथाभासे नागमानुग्रहक्षतेः ॥ ११७ ॥

समीचीन तर्कज्ञान (पक्ष) प्रमाण होना चाहिये (साध्य)। तिस प्रकार प्रमाणोंका अनुग्रह करनेवाला होनेसे (हेतु), जिस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान आदिक प्रमाणपनको व्याप्त कर लेते हैं (दृष्टान्त)। प्रमाणोंके ऊपर अनुग्रह करनेवालापन हेतु प्रमाणपनरूप साध्यसे व्याप्त हो रहा प्रत्यक्ष आदि दृष्टान्तोंमें देखा जाता है। तिस प्रकारका अनुग्रहपन प्रमाणाभासोंमें नहीं दीखता है। क्योंकि आगमके अनुग्रह करा देनेपनका प्रत्यक्ष आदिमें जो निर्णय हो रहा है, उसकी क्षति हो जावेगी। अर्थात् सत्यवक्ताके द्वारा जान ली गई, अग्निके आगमज्ञानका धूमहेतुसे उत्पन्न हुये अनुमानद्वारा और अग्निके प्रत्यक्षद्वारा अनुग्रह कर दिया जाता है। ये कृपाकारक अनुमान और प्रत्यक्ष जैसे प्रमाण हैं, उसी प्रकार अनुमानके ऊपर कृपा करनेवाला तर्कज्ञान भी प्रमाण होना चाहिये।

यस्मिन्नर्थे प्रवृत्तं हि प्रमाणं किंचिदादितः।
तत्र प्रवृत्तिरन्यस्य यानुग्राहकतात्र सा ॥ ११८ ॥
पूर्वनिर्णीतदार्ढ्यस्य विधानादभिधीयते।
उत्तरेण तु तद्युक्तमप्रमाणेन जातुचित् ॥ ११९ ॥

जिस अर्थमें कोई भी प्रमाण प्रथमसे ही प्रवर्त्त रहा है, उसी विषयमें अन्य प्रमाणोंकी प्रवृत्ति हो जाना जो यहां अनुग्राहकपना माना गया है, वह अनुग्राहकपना भी पहलेसे निर्णीत किये गये अर्थकी अधिक दृढताका विधान करनेसे कही जाती है। उत्तरकालवर्ती प्रमाणरूप ज्ञानसे पूर्वनिर्णीत अर्थकी दृढता की जा सकती है। अप्रमाणज्ञानमें या अप्रमाण ज्ञानकरके दृढता कभी नहीं हो सकती है। तभी तो दृढताका सम्पादक तर्कज्ञान प्रमाण है।

स्वयं प्रमाणानामनुग्राहकं तर्कमिच्छन्नाप्रमाणं प्रतिपत्तुं समर्थो विरोधात्। प्रमाणसामग्र्यंतर्भूतः कश्चित्तर्कः प्रमाणमिष्ट एवेति चेन्न, तस्य स्वयं प्रमाणत्वोपपत्तेः। तथाहि— प्रमाणं तर्कः साक्षात्परंपरया च स्वार्थनिश्चयने फले साधकतमत्वात् प्रत्यक्षवत् स्वविषयभूतस्य साध्यसाधनसंबंधाज्ञाननिवृत्तिरूपे साक्षात् स्वार्थनिश्चयने फले साधकतमस्तर्कः परंपरयातु स्वार्थानुमाने हानोपादानोपेक्षाज्ञाने वा प्रसिद्ध एवेत्युपसंह्रियते।

प्रमाणोंके ऊपर अनुग्रह करानेवाले तर्कको स्वय चाहता हुआ विद्वान् इस तर्कको अप्रमाण समझनेके लिये समर्थ नहीं है। अन्यथा स्ववचनसे ही विरोध हो। जावेगा यदि कोई वैशेषिक, बौद्ध, नैयायिक या मीमासक, यों कहे कि प्रमाणकी सामग्रीके भीतर प्रविष्ट हुआ कोई तर्कज्ञान हमको प्रमाण इष्ट ही है। अर्थात् वकीलके पिताको वकील कहनेके समान हम तर्कज्ञानको प्रमाणकी सामग्रीके भीतर प्रविष्ट हुआ गिनते हैं। स्वतंत्र न्यारा प्रमाण नहीं मानते हैं। ग्रन्थकार कहते

हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उस तर्कको स्वयम् प्रमाणपना युक्तिसिद्ध हो रहा है। उसको हम कहे देते हैं। तर्कज्ञान (पक्ष) प्रमाण है (साध्य)। अव्यवहित रूपसे स्वार्थका निश्चय करना रूप फलमें और परम्परासे होनेवाले फलोंमें प्रकृष्ट उपकारक होनेसे (हेतु), जैसे कि प्रत्यक्षज्ञान प्रमाण है (दृष्टान्त)। तर्कज्ञान अपने विषय हो रहे साध्य और साधनके अविनाभावरूप संबंधके अज्ञानकी निवृत्ति करनारूप स्वार्थनिश्चयस्वरूप अव्यवहित फलको उत्पन्न करनेमें प्रकृष्ट उपकारक है और परम्परासे तो स्वार्थानुमान करनेमें अथवा हेयमें हानबुद्धि और उपादेयमें उपादान बुद्धि तथा उपेक्षणीय तत्त्वोंमें उपेक्षा बुद्धि करनेरूप फलमें करण होता हुआ तर्कज्ञान प्रसिद्ध ही हो रहा है। इस प्रकार तर्कज्ञानमें बहुत विचार हो चुका है। अब तर्कके प्रकरणका उपसंहार किया जाता है कि—

ततस्तर्कः प्रमाणं नः स्यात्साधकतमत्वतः।
स्वार्थनिश्चयने साक्षादसाक्षाच्चा(नु)न्यमानवत् ॥ १२० ॥

तिस कारण हम स्याद्वादियोंके यहां तर्कज्ञान (पक्ष) प्रमाण है (साध्य), अपना और अर्थका निश्चय करनेमें साधकतमपना होनेसे (हेतु), जैसे कि अनुमानज्ञान अथवा अन्य सच्चे ज्ञान प्रमाण हैं (दृष्टान्त)। अपने विषय हो रहे स्वार्थकी अज्ञाननिवृत्ति करना प्रत्येक ज्ञानका साक्षात् फल है और पीछे परम्परासे आत्माके पुरुषार्थकी प्रवृत्ति अनुसार छोडना, ग्रहण करना, उपेक्षा करनारूप फल हैं। केवलज्ञान भी अज्ञानकी निवृत्तिको करता हुआ सकल पदार्थोंकी उपेक्षा करा देता है। तभी स्वात्मामें स्थिर रह सकता है। यहांतक तर्कज्ञानका विचार परिपूर्ण हुआ। अब मतिज्ञानके अभिनिबोध भेदका विचार चलाते हैं।

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं विदुर्बुधाः।
प्रधानगुणभावेन विधानप्रतिषेधयोः ॥ १२१ ॥

विद्वान् पुरुष साधनसे साध्यके विज्ञानको अनुमान प्रमाण मानते आ रहे हैं। वह अनुमान ज्ञान प्रधानरूपसे प्रकृत साध्यके विधान करनेमें और गौणरूपसे साध्यभिन्न पदार्थोंके निषेध करनेमें चरितार्थ हो रहा है अथवा उपलब्धि और अनुपलब्धि हेतुद्वारा प्रधान और गौणरूपसे साध्यकी विधि और निषेध करनेमें प्रवर्त रहा है। उपलब्धि हेतु विधिको साधता है और निषेधको भी साधता है। इसी प्रकार अनुपलब्धि हेतु भी विधिनिषेध दोनोंको साधसकता है।

अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं तत्र साधनं।
साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धमुदाहृतम् ॥ १२२ ॥

तिस अनुमानके प्रकरणमें साधनका एक ही लक्षण है, जो कि अन्यथानुपपत्ति यानी साध्यके विना हेतुका न रहना है और साध्यका लक्षण शक्य, अभिप्रेत, और अप्रसिद्ध कहा गया है, अर्थात् जो वादी द्वारा प्रतिवादीके प्रति साधने योग्य होय और वादीको अभीष्ट होय तथा प्रतिवादीको अभीतक प्रसिद्ध नहीं हुआ होय, वह साध्य किया जाता है।

तत्साध्याभिमुखो बोधो नियतः साधने नयः।
कृतोनिंद्रिययुक्तेनाभिनिबोधः स लक्षितः ॥ १२३ ॥

तिस कारण " साधनात्साध्यविज्ञानम् " इसका अर्थ यों है कि अनिन्द्रिय यानी मनसे सहकृत हो रहे साधनज्ञान करके साध्यकी ओर अभिमुख होकर नियत हो रहा जो बोध किया गया है, वह अभिनिबोधका लक्षण हुआ समझो अर्थात् अभि और नि उपसर्गपूर्वक " बुध अवगमने " धातुसे घञ् प्रत्ययकर अभिनिबोध शद्ब बना है। अभि यानी साध्यके अभिमुख नि यानी अविनाभावरूप नियमसे जकडा हुआ बोध यानी साधनसे साध्यका ज्ञान होना, इस प्रकार निरुक्ति करनेसे अभिनिबोधका अर्थ अनुमान हो जाता है। साधनका ज्ञान अनुमानका उत्थापक है। अन्यथा सोते हुये पुरुष या बालक अथवा व्याप्तिस्मरण नहीं करनेवालेको भी धूमके सद्भाव मात्रसे वह्निके ज्ञान हो जानेका प्रसंग आवेगा।

साध्याभावासंभवनियमलक्षणात्साधनादेव शक्याभिप्रेताप्रसिद्धत्वलक्षणस्य साध्यस्यैव यद्विज्ञानं तदनुमानमाचार्या विदुः यथोक्तहेतुविषयद्वारकविशेषणयोरन्यतरस्यानुमानत्वाप्रतीतेः। स एव चाभिनिबोध इति लक्षितः। साध्यं प्रत्यभिमुखस्य नियमितस्य च साधनेनानिन्द्रिययुक्तेनाभिबोधस्याभिनिबोधत्वात्।

साध्यके अभाव होनेपर नियमसे असम्भव होना जिसका लक्षण है, ऐसे साधनसे ही शक्य, अभिप्रेत, और अप्रसिद्धपना लक्षणवाले साध्यका ही जो विज्ञान होता है, वह अनुमान है ऐसा आचार्य महाराज श्री माणिक्यनंदी मान रहे हैं। पूर्वोक्त अनुसार अभिमुख और नियमत अर्थको कहनेवाले तथा हेतुकरके जाने गये विषयको द्वार बनाकर उपात्त किये गये अभि और नि इन दो विशेषणोंमेंसे किसी भी एकके नहीं लगानेपर अनुमानपना प्रतीत नहीं होता है। अत. वही ज्ञान अभिनिबोध है, ऐसा यहां अनुमानके प्रकरणमें लक्षण प्राप्त हो रहा है। क्योंकि साध्यके प्रति उन्मुख हो रहे और अन्यथानुपपत्तिरूप नियमसे वेष्टित हुये अर्थका मन इन्द्रियसे नियोजित साधन करके बोध होनेको अभिनिबोधपना व्यवस्थित है।

ननु मतिज्ञान सामान्यमभिनिबोधः प्रोक्तो न पुनः स्वार्थानुमानं तद्विशेष इति चेन्न, प्रकरणविशेषाच्छब्दान्तरसन्निधानाद्वा सामान्यशब्दस्य विशेषे प्रवृत्तिदर्शनात् गोशब्द-

वत् । तेन यदा कृतषट्त्रिंशत्त्रिशतभेदमाभिनिबोधिकमुच्यते तदाभिनिबोधसामान्यं विज्ञायते, यदा त्ववग्रहादिमतिविशेषानभिधाय ततः पृथगभिनिबोध इत्युच्यते तदा स्वार्थानुमानमिति इन्द्रियानिन्द्रियाभ्यां नियमितस्यासर्वपर्यायद्रव्यं प्रत्यभिमुखस्य बोधस्यास्याभिनिबोधिकव्यपदेशादभिनिबोध एवाभिनिबोधिकमिति स्वार्थिकस्य ठणो विधानात् । न च तदनिन्द्रियेण लिंगापेक्षेण नियमितं साध्यार्थाभिमुखं बोधनमाभिनिबोधिकमिति विरुध्यते, तल्लक्षणवाक्ये वाक्यांतरोपप्लवात् ।

यहां शंका है कि पूर्व आचार्योंने सामान्यरूपसे सभी मतिज्ञानोंको अभिनिबोध अच्छा कहा है । श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने भी " अभिमुहणियमियबोहणमाभिणिबोहणमणिदिइंदिजयम् " इस गाथासे इन्द्रिय, अनिन्द्रियों करके उत्पन्न होनेवाले सभी मतिज्ञानोंको अभिनिबोध कहा है । किन्तु उस मतिज्ञानका विशेषभेद स्वार्थानुमान ही तो फिर अभिनिबोध नहीं है, जो कि यहां कहा जा रहा है । आचार्य कहते हैं कि यह शंका तो ठीक नहीं है । क्योंकि विशेष प्रकरण होनेसे अथवा अन्य शब्दोंके सन्निकट होनेसे या तात्पर्य आदिसे सामान्य शब्दकी विशेष अर्थोंमें प्रवृत्ति होना दीख रहा है । जैसे कि वाणी, दिशा, पृथ्वी, वज्र, किरण, पशु, नेत्र, स्वर्ग, जल, बाण, रोम, इन ग्यारह अर्थोंमें सामान्यरूपसे प्रवर्त रहा गो शब्द प्रकरणविशेष होनेपर गौ या वाणीको विशेष रूपसे कहने लग जाता है । क्वचित् विशेष शब्द भी सामान्यका वाचक हो जाता है । वायुके घुस जानेपर शब्द करनेवाले छेदोंसे सहित हो रहे विशेष जातिके बांसोंको कीचक कहते हैं । किन्तु मारुतपूर्ण रन्ध्र ऐसा विशेषण लगा हुआ होनेपर कीचक शब्दका अर्थ सामान्य बांस हो जाता है । तिस कारण जब किये गये तीन सौ छत्तीस भेदवाला अभिनिबोध कहा जाता है, तब तो सामान्य मतिज्ञान ही अभिनिबोध समझा जाता है । किन्तु जब मतिज्ञानके विशेष भेद अवग्रह, ईहा, आदिको कह चुकनेपर उन अवग्रह आदिकोंसे न्यारा अभिनिबोध ऐसा कहा जाता है, तब तो अभिनिबोधका अर्थ स्वार्थानुमान किया जाता है । इस प्रकार इन्द्रिय और अनिन्द्रियसे नियमित हो रहे तथा थोडीसी पर्याय और सम्पूर्ण द्रव्योंके प्रति अभिमुख हो रहा बोध है, इसको आभिनिबोधिक ऐसा नामनिर्देश किया गया है । अभिमुख नियमित बोध ही तो आभिनिबोधिक है । इस प्रकार स्वार्थमें ही किये गये ठण प्रत्ययका विधान है । ठणको इक आदेश हो जाता है । जो ही प्रकृतिका अर्थ है, वही स्वार्थमें किये गये प्रत्ययोंसे युक्त हुये पदका अर्थ है । यह अनुमानरूप अभिनिबोध ज्ञापक लिंगकी अपेक्षा रखनेवाले मनकरके विचारद्वारा नियमित हो रहे साध्यरूप अर्थके अभिमुख होकर बोध करना आभिनिबोधिक है । यह विरुद्ध नहीं पडता है । क्योंकि उस अभिनिबोधका लक्षण करनेवाले वाक्यमें दूसरे वाक्यका [illegible] यहां किया जाता है । भावार्थ—" इन्द्रियानिन्द्रियजयं " इस लक्षणका अर्थ [illegible]

घट जाता है। और योगविभाग कर केवल अनिन्द्रियका आकर्षण करनेसे अनिन्द्रियजन्य अभि
नियत अर्थका बोध करना यह लक्षण स्वार्थानुमानरूप अभिनिबोधमें घट जाता है। अथवा आ
निबोध नामके लक्ष्य वाक्यका ही योगविभागकर अभि, नि, बोध, एवं अभिनिबोधः अभि
होकर नियमित अर्थको जान लेना ही स्वार्थानुमानरूप अभिनिबोध है। 'प्रतिलक्ष्यं लक्षणोपप्लव
अर्थात् प्रत्येक लक्ष्यमें लक्षणका उपप्लव यानी व्यक्तिरूपसे न्यारे न्यारे लक्ष्यमें व्यक्तिरूपसे न
न्यारे लक्षणका रहना अभीष्ट है।

ननु नैकलक्षणाल्लिंगाल्लिंगिनि ज्ञानमनुमानं यदभिनिबोध शब्देनोच्यते। किं तर्हि त्रिरूपाल्लिंगादनुमेये ज्ञानमनुमानमिति परमतमुपदर्शयन्नाह;—

बौद्धोंका पूर्वपक्ष है कि अन्यथानुपपत्तिरूप एक लक्षणवाले हेतुसे लिङ्गीमें (विषये सप्तमी
ज्ञान होना अनुमान नहीं है, जो कि अभिनिबोध शब्दसे कहा जाता है। तो क्या है? ऐ
दशामें हम बौद्ध कहते हैं कि पक्षमें रहना १ सपक्षमें ठहरना २ और विपक्षसे व्यावृत्त रह
३ इन तीन रूपवाले लिङ्गसे अनुमान करने योग्य साध्यमें ज्ञान होना अनुमान कहा गया है। इ
प्रकार दूसरे बौद्धोंके मतको दिखलाते हुये आचार्य महाराज उत्तरपक्षका स्पष्ट कथन करते हैं।

निश्चितं पक्षधर्मत्वं विपक्षेऽसत्त्वमेव च।
सपक्ष एव जन्मत्वं तत्त्रयं हेतुलक्षणम् ॥ १२४ ॥
केचिदाहुर्न तद्युक्तं हेत्वाभासेपि संभवात्।
असाधारणतापायाल्लक्षणत्वविरोधतः ॥ १२५ ॥

संदिग्ध साध्यवाले पक्षमें निश्चितरूपसे वृत्ति होना और निश्चित साध्याभाववाले विपक्ष
हेतुका असत्त्व ही होना तथा निश्चित साध्यवाले सपक्षमें आधार आधेयभावरूपसे जन्म लेक
ठहरना ये तीनों ही हेतुके लक्षण हैं, इस प्रकार कोई बौद्ध कह रहे हैं। किन्तु यह उनका कह
युक्तिपूर्ण नहीं है। क्योंकि हेत्वाभासमें भी वह लक्षण सम्भव रहा है। लक्ष्यके अतिरिक्त अ
पदार्थोंमें नहीं विद्यमान रहनेवाले ऐसे असाधारणधर्मको लक्षण कहते हैं। असाधारणपना न होने
त्रैरूप्यको हेतुके लक्षणपनका विरोध है। न्यायदीपिकामें नैयायिकके माने गये लक्ष्यके असाधार
धर्मवचनरूप लक्षणका खण्डन किया है। उसका भाव यही है कि "असाधारण धर्मवचनं लक्षणं
इसमें वचन यानी बोलनेकी कैद क्यों लगाते हो? यों तो लक्ष्यधर्मीके वचनके साथ लक्षणधर्म
वचनका समानाधिकरणपना नहीं बन सकेगा। आत्माका लक्षण ज्ञान किया जाय, यहां नैयायिकों
कथनके अनुसार आत्माके असाधारण धर्मस्वरूप ज्ञानका बोलना आवश्यक पडेगा। तब तो "ज्ञानम्
इस प्रथमांतके साथ आत्मनि या आत्मनः कहना पडेगा। आत्मामें ज्ञान है। या आत्माका ज्ञान है

यों तो सप्तम्यन्त या षष्ठ्यन्त आत्माशद्बके साथ प्रथमांत ज्ञानका समानाधिकरणपना नहीं है। हां, आत्मा और ज्ञानवान् यों कहनेपर समानाधिकरणपना तो है, किन्तु आत्माका असाधारणधर्म ज्ञानवान् तो नहीं है। अतः श्री धर्मभूषणयतिका नैयायिकोंके प्रति पहिला असंभव दोष दिखलाना अपनी विद्वत्ताका प्रदर्शक है। तभी तो अस्वरस आनेपर दण्डमें अव्याप्ति दोष और अव्याप्तनामके लक्षण:- भासमें अतिव्याप्ति दोष उठाया गया है। अतः न्यूनानतिरिक्त रूपसे लक्ष्यतावच्छेदकावच्छिन्नमें पूर्णरूपसे व्यापरहा असाधारणधर्म लक्षण हो जाता है। यहां बौद्धोंके हेतुका त्रैरूप्यलक्षण असाधारण नहीं है। अतिव्याप्ति दोष आता है।

असाधारणो हि स्वभावो भावलक्षणमव्यभिचारादग्नेरौष्ण्यवत्। न च त्रैरूप्यस्यासाधरणता तद्धेतौ तदाभासेपि तस्य समुद्भवात्। ततो न तद्धेतुलक्षणं युक्तं पंचरूपत्वादिवत्।

भावोंका असाधारणस्वभाव ही तो उनका लक्षण माना गया है। क्योंकि पदार्थोंका अपने असाधारण स्वभावके साथ व्यभिचार रहित होना हो रहा है। जैसे कि अग्निका असाधारण धर्म होता हुआ उष्णपना लक्षण है। बौद्धों द्वारा माने गये हेतुके त्रैरूप्यको असाधारणपना नहीं है। क्योंकि इस हेतुमें और उसके आभासरूप हो रहे हेत्वाभासमें भी उस त्रैरूप्यकी भले प्रकार उपपत्ति होना देखा जाता है। तिस कारण वह त्रैरूप्य तो हेतुका लक्षण मानना युक्त नहीं है, जैसे कि पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, असत्प्रतिपक्षपना और अबाधितपना इन पांच रूपोंका धर्म पाञ्चरूप्य या उक्त चाररूपोंका धर्म चातुरूप्य आदिक हेतुके लक्षण नहीं हैं।

कुत एव तदित्युच्यते;—

वह त्रैरूप्य हेतुका नहीं है, यह तुमने कैसे जाना ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य उत्तर कहते हैं।

वक्तृत्वादावसार्वज्ञसाधने त्रयमीक्ष्यते।
न हेतुत्वं विना साध्याभावासंभूष्णुतां यतः ॥ १२६ ॥

देखिये, बुद्धको असर्वज्ञपना साधनेपर वक्तापन पुरुषपन आदि हेतुओंमें वे तीनों रूप देखे जा रहे हैं। किन्तु साध्यके न रहनेपर हेतुका नहीं होनापनरूप अन्यथानुपपत्तिके विना वक्तृत्व आदिमें हेतुपना नहीं है। जिस कारण कि हेतुके त्रैरूप्यलक्षणका वक्तृत्व आदिमें व्यभिचार है। अतः त्रैरूप्य हेतुका असाधारणधर्म न होता हुआ लक्षण नहीं बन सकता है।

इदमिह संप्रधार्यं त्रैरूप्यमात्रं वा हेतोर्लक्षणं विशिष्टं वा त्रैरूप्यमिति ? प्रथमपक्षे न तदसाधारणं हेत्वाभासेपि संभवादलक्षणमेव। बुद्धो सर्वज्ञो वक्तृत्वादे रथ्यापुरुषवदित्यत्र हेतोः पक्षधर्मत्वं, सपक्षे सत्त्वं, विपक्षे वाऽसत्त्वं। सर्वज्ञो वक्ता पुरुषो वा न दृष्ट इति। न च गमकत्वमन्यथानुपपन्नत्वविरहात्।

यहा यह भले प्रकार विचारकर निश्चय करना है कि बौद्ध लोग सामान्यरूपसे यानी विशेषपनसे रहित त्रैरूप्यको हेतुका लक्षण मानते हैं ? या किसी विशेषणसे सहित हो रहे इस त्रैरूप्यको हेतुका लक्षण कहते हैं ? बताओ। पहिला पक्ष लेनेपर तो वह त्रैरूप्य हेतुका असाधारण धर्म नहीं बनता है। क्योंकि हेत्वाभासमें भी विद्यमान हो रहा है। अतः त्रैरूप्य अच्छा लक्षण नहीं है। देखिये, बुद्ध (पक्ष) असर्वज्ञ है (साध्य) वक्ता होनेसे, पुरुष होनेसे, आदि (हेतु) जैसे कि गलीमें चलनेवाला मनुष्य असर्वज्ञ है (दृष्टांत)। इस प्रकारके यहा अनुमानमें हेतुका पक्षवृत्तित्व रूप है, १ यानीं वक्तापन हेतु बुद्धमें वर्त रहा है। मुमुक्षु जनोंके लिये मोक्षका उपदेश देना बुद्धका कर्तव्य बौद्धोंने माना है। बुद्धमें पुरुषपना भी है और सपक्षमें भी हेतु विद्यमान है। २ निश्चित रूपसे असर्वज्ञ हो रहे वर्तमानकालके उपदेशकोंमें वक्तापन, पुरुषपन, विद्यमान हैं। तथा निश्चित साध्याभाववाले सर्वज्ञमें वक्तापन पुरुषपन नहीं विद्यमान है। ३ सर्वज्ञ जीव परमात्मा तो वक्ता अथवा पुरुष होते हुये नहीं देखें गये हैं। इस प्रकार वक्तापन और पुरुषपन हेतुमें त्रैरूप्य वर्तरहा है। तब तो मीमांसकों करके उक्त अनुमान द्वारा कहा गया बुद्धका असर्वज्ञपना ठीक हो जावेगा। किन्तु जैनों द्वारा माने गये हेतुके लक्षण अन्यथानुपपन्नत्वके विना वे दोनो हेतु असर्वज्ञपन साध्यके गमक नहीं बन पाते हैं।

विशिष्टं त्रैरूप्यं हेतुलक्षणमिति चेत् कुतो न (नु) तद(द्)विशिष्टं ?।

यदि द्वितीय पक्षके अनुसार विशेषोंसे युक्त हो रहे त्रैरूप्यको हेतुका लक्षण कहोगे तो बताओ, वह त्रैरूप्य किस विशेषणसे अविशिष्ट नहीं है ? अर्थात् त्रैरूप्यमें कौनसा विशेषण लगाया जाता है ? बताओ।

> सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वं विरुद्धं न विनिश्चितं ।
> ततो न तस्य हेतुत्वमित्याचक्षणकः स्वयम् ॥ १२७ ॥
> तदेकलक्षणं हेतोर्लक्षयत्येव तत्त्वतः ।
> साध्याभावविरोधो हि हेतोर्नान्यस्ततो मतः ॥ १२८ ॥
> तदिष्टौ तु त्रयेणापि पक्षधर्मादिनात्र किं ।
> तदभावेपि हेतुत्वसिद्धेः क्वचिदसंशयम् ॥ १२९ ॥

यदि विपक्षके विरुद्ध होनेपनको त्रैरूप्यका विशेषण लगाकर यों कहोगे कि बुद्धको असर्वज्ञपना साधते समय विपक्ष बनगये सर्वज्ञपनके साथ वक्तापन हेतु विरुद्ध होता हुआ विशेषरूपसे निश्चित नहीं किया गया है। अर्थात् सर्वज्ञ भी वक्ता हो सकते हैं, कोई विरोध नहीं है। तिस कारण उस वक्तापनको समीचीन हेतुपना नहीं है। इस प्रकार साभिमान बखान रहा

बौद्ध तो स्वयं ही उस एक ही विपक्ष विरुद्धपनेको हेतुका परमार्थरूपसे लक्षण करा रहा है। कारण कि हेतुका साध्याभावके साथ विरोध होना उस अन्यथानुपपत्तिसे कोई न्यारा स्वरूप नहीं माना गया है। और उस साध्याभाव विरोध यानी अन्यथानुपपत्तिको ही हेतुका लक्षण इष्ट करनेपर तो इस हेतुमें पक्षवृत्तिपन आदि तीन धर्मोंसे क्या लाभ हुआ ? अर्थात् हेतुमें तीन धर्मोंका बोझ बढाना व्यर्थ है। क्योंकि कहीं उन तीन धर्मोंके अभाव होनेपर भी संशयरहित होकर दृढता पूर्वक सद्धेतुपना सिद्ध हो रहा है। माता पिताके ब्राह्मण होनेसे पुत्रका ब्राह्मणपना साधा जाता है। यह हेतु तो पक्षमें नहीं वर्तता है। यहां पुत्र पक्ष माना गया है। और हेतु मातापिताका ब्राह्मणपना है। माता पिताका ब्राह्मणपना माता पिताओंमें रहता है। तथा दूसरा अनुमान सुनिये। जीवितशरीर (पक्ष) सात्मक है (साध्य) श्वासोच्छ्वास, उष्णस्पर्श, आदि होनेसे (हेतु)। यहां सभी जीवितशरीरोंको पक्षमें प्रविष्ट कर देनेसे सपक्ष नहीं मिलनेके कारण हेतुका सपक्षमें वर्त्तना नहीं घटता है। इसी प्रकार सभी पदार्थ क्षणिक हैं, क्योंकि वे सत् हैं, या अर्थक्रियाकारी हैं, तथा सम्पूर्ण पदार्थ (पक्ष) अनेक धर्मस्वरूप हैं (साध्य)। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप सत् होनेसे (हेतु), जैसे कि अग्नि, चित्रज्ञान, आदिकभाव अनेकान्तस्वरूप हैं (दृष्टान्त)। यहां सबका पक्षमें अन्तर्भाव हो जानेसे विपक्षव्यावृत्ति नहीं बनती है। अतः त्रैरूप्यके न होनेपर भी हेतुपना निस्सन्देह सिद्ध हो जाता है। और गर्भस्थ पुत्र श्याम है, काली मित्राका लडका होनेसे, अन्य खेलते हुये उसके पुत्रोंके समान, यहां त्रैरूप्य होते हुये भी मित्रातनयपना सद्धेतु नहीं है। क्योंकि उदरका लडका वस्तुतः गोरा है। अतः अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, दोष आते हैं।

साध्याभावविरोधित्वाभावाद्धेतुस्त्रैरूप्यमविशिष्टं वक्तृत्वादिरिति वदन्नन्यथानुपपन्नत्वमेव विशिष्टत्वमभ्युपगच्छति साध्याभावविरोधित्वस्यैवान्यथानुपपन्नत्वनियमव्यपदेशात् । तथा पक्षधर्मत्वमेकमन्यथानुपपन्नत्वेन विशिष्टं सपक्षे सत्त्वं वा विपक्षासत्त्वमेव वा निश्चितं साध्यसाधनायालमिति किं तत्त्रयेण समुदितेन कर्तव्यं यतस्तद्धेतुलक्षणमाचक्षीत ।

बौद्ध कहते हैं कि त्रैरूप्यका विशेषण साध्याभावविरोधित्व लगाना चाहिये, वक्तापन हेतुमें विशेषणसे रहित केवल त्रैरूप्य है। साध्याभावके साथ विरोधीपनरूप विशेषण न रहनेसे वक्तापन, पुरुषपन, ये सत् हेतु नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार कह रहा बौद्ध अन्यथानुपपत्ति नामक विशेषणसे ही सहित हेतुको स्वीकार कर रहा है। क्योंकि साध्याभावके साथ विरोध रखनेवालापनको ही साध्यके न रहनेपर हेतुका नियमसे नहीं ठहरनापनसे कथन करनेका व्यवहार कर दिया जाता है। तिस प्रकार होनेपर तो अकेले पक्षधर्मत्वरूपको ही अन्यथानुपपत्ति विशेषणसे विशिष्ट बनाकर हेतुको साध्य साधनेके लिये बोल सकते हो अथवा दूसरे सपक्षमें विद्यमानपना इस रूपको ही अन्यथानुपपत्तिसे सहितकर साध्यसिद्धि करासकते हो अथवा विपक्षमें नहीं रहनापन इस तीसरे रूपको ही अन्यथानुपपत्ति सहितपनेसे निश्चित कर उस रूपसे युक्त हुआ हेतु ही साध्यको साधनेके

लिये पर्याप्त कहा जासकता है। ऐसी दशामें उस तीन अवयववाले समुदित हो रहे त्रैरूप्यसे क्या करने योग्य शेष रहगया ? जिससे कि उस त्रैरूप्यको हेतुका लक्षण आटोपसहित बखान सकोगे अर्थात् हेतुका लक्षण त्रैरूप्य नहीं है।

न हि पक्षधर्मत्वशून्यो हेतुर्न संभवति तथाहि।

ग्रन्थकार स्वयं हेतुके त्रैरूप्यलक्षणकी अव्याप्ति दिखलाते हैं। पक्षमें वृत्तिपनरूपसे रहित होता हुआ हेतु नहीं संभवता है, यह नहीं समझना। अर्थात् पक्षमें नहीं वर्तते हुये भी हेतु समीचीन हेतु माने गये हैं। इसी बातको दृष्टान्त देकर स्पष्ट कहते हैं।

उदेष्यति मुहूर्तान्ते शकटं कृत्तिकोदयात्।
पक्षधर्मत्वशून्योयं हेतुः स्यादेकलक्षणः॥ १३० ॥

मुहूर्तभर कालके अन्तमें (पक्ष) रोहिणीका उदय होवेगा (साध्य) इस समय कृत्तिकाका उदय होनेसे (हेतु)। यह हेतु पक्षवृत्तिपनरूपसे शून्य होता हुआ भी एक अन्यथानुपपत्ति नामका लक्षण घटजानेसे सद्धेतु माना गया है। भावार्थ—कृत्तिकाका उदय हेतु तो कृत्तिका नक्षत्रमें रहता है और अनेक ताराओंके गाडी समान आकारवाले रोहिणीनक्षत्रका उदयरूप साध्य तो रोहिणीमें रहेगा। किन्तु पक्षमें वृत्ति न होनेपर भी अविनाभावकी सामर्थ्यसे कृत्तिकोदय सद्धेतु है।

उदेष्यच्छकटं व्योम कृत्तिकोदयवत्त्वतः।
इति प्रयोगतः पक्षधर्मतामेष्यते यदि॥ १३१ ॥
तदा धूमोग्निमानेष धूमत्वादिति गद्यताम्।
ततः स्वभावहेतुः स्यात्सर्वो लिंगस्त्रिवान्न ते॥ १३२ ॥

पक्षवृत्तित्वकी रक्षा करनेके लिए बौद्ध उक्त अनुमानका रूपक यों बनाते हैं कि आकाश (पक्ष) भविष्यमें उदय होनेवाले रोहिणीके उदयसे सहित होनेवाला है [साध्य], वर्तमान कालमें कृत्तिकाके उदयसे सहितपना होनेसे [हेतु]। ऐसा अनुमानका प्रयोग करनेसे आकाशरूप पक्षमें कृत्तिकोदयसहितपना हेतुका ठहरना यदि बौद्ध समन्तात् इष्ट करेंगे, तब तो यह धूम [पक्ष] अग्निवाला है [साध्य], धूमपना होनेसे [हेतु]। इस प्रकार अनुमान बनाकर कह देना चाहिये। क्योंकि धूमत्व हेतु धूमपक्षमें वर्त रहा है। किंतु व्यभिचारी होनेके कारण धूमहेतु अग्निको साधनेमें सद्धेतु नहीं है। धूमत्व तो धूममें रहता है। उस धूममें संयोग सम्बधकरके अग्नि नहीं है। धूमकी लंबी पंक्तिके नीचे, रसोईखाना, बैलखाना, पर्वत, अधिहाना, आदिमें अग्नि भले ही होय। दूसरी बात यह है कि यों तो तुम बौद्धोंके यहां सभी हेतु स्वभावहेतु ही बन जावेंगे, कार्यहेतु

और अनुपलम्भ हेतु भी उक्त ढंगसे पक्षकी कल्पना करते हुए पक्षके या साध्यके स्वभाव हो जायंगे, ऐसी दशामें तीन भेदवाले हेतु जो बौद्धोंने माने हैं, वह सिद्धान्त बिगड जायगा, रक्षित नहीं रह सकेगा।

यदि लोकानुरोधेन भिन्नाः संबंधभेदतः।
विषयस्य च भेदेन कार्याद्यनुपलब्धयः ॥ १३३ ॥
किं न तादात्म्यतज्जन्मसंबंधाभ्यां विलक्षणात्।
अन्यथानुपपन्नत्वाद्धेतुः स्यात्कृत्तिकोदयः ॥ १३४ ॥

यदि जनसमुदायके अनुकूल प्रवृत्ति करनेसे संबंधका भेद और विषयभूत साध्यका भेद हो जानेसे कार्यहेतु, स्वभावहेतु, और अनुपलम्भ, ये तीन हेतु मानलोगे अथवा कारणके अभावको जाननेके लिये कार्यानुपलब्धि और व्यापकका अभाव साधनेके लिये व्याप्यकी अनुपलब्धि आदिको हेतु मानते हो तो स्वभावहेतुके प्रयोजक तादात्म्य संबंध और कार्यहेतुके प्रयोजक तदुत्पत्ति संबंधसे विलक्षण हो रहे अन्यथानुपपत्ति नामक संबंध हो जानेसे कृत्तिकोदय भी हेतु क्यों नहीं हो जावे। वस्तुतः देखा जाय तो तदुत्पत्ति आदिक अनियत संबंधोंका व्यभिचार दीखरहा है। हेतु द्वारा साध्यको साधनेमें अन्यथानुपपन्नत्वरूप संबंध ही निर्दोष हो रहा है। अन्य कोई सम्बन्ध नहीं।

यथैव हि लोकः कार्यस्वभावयोः संबंधभेदात्ततोनुपलंभस्य च विषयभेदाद्भेदमनुरुध्यते तथाविनाभावनियममात्रात्कार्यादिहेतुत्रयात्कृत्तिकोदयादिहेतोरपीति कथमसौ चतुर्थो हेतुर्न स्यात्। न ह्यत्र लोकस्याननुरोधनवचो बाधकादिति शक्यं वक्तुं बाधकासंभवात्।

कारण कि जिस ही प्रकार लौकिक जन कार्य और स्वभावके संबंधका भेद होनेसे और तिस ही कारण अनुपलम्भके विषयका भेद होनेसे हेतुओंके भेदका अनुरोध करता है। अर्थात् तादात्म्य और तदुत्पत्ति नामके दो संबंध हो जानेसे भावहेतुओंके स्वभाव और कार्य ये दो भेद करलेता है, तथा अभावरूप विषयको साधनेकी अपेक्षा अनुपलब्धि नामका तीसरा हेतु माना जाता है, तिसी प्रकार केवल अविनाभावरूप नियमका संबंधी होनेसे उक्त कार्य आदि तीन हेतुओंके अतिरिक्त कृत्तिकोदय, भरण्युदय, चन्द्रोदय, आदि हेतुओंके भी भेद मानकर वह चौथा हेतु क्यों नहीं हो जावेगा। यानी तीनके अतिरिक्त चौथे, पाचवें, आदि भी हेतुके भेद हो जावेंगे। यहां बाधक कारण उत्पन्न हो जानेसे लोकका अनुकूल आचरण करनेवाला वचन नहीं है, यह तो नहीं कह सकते हो। क्योंकि कृत्तिकोदय आदिको ज्ञापक हेतु बनानेमें सभी लोकसम्मत हैं। कोई बाधक नहीं है।

ननु इदमन्यथानुपपन्नत्वं नियतं संबंधेन व्याप्तं तदभावे तत्संभवेतिप्रसंगात्। सोपि तादात्म्यतज्जन्मभ्यामतादात्म्यवतोऽतज्जन्मनो वा संबंधानुपपत्तेः। ततः कृत्तिकोदयादौ साध्ये न तादात्म्यस्य तदुत्पत्तेर्वा वैधुर्ये कुतः संबंधस्तदभावे कुतोऽन्यथानुपपन्नत्वनियमो येन स गमको हेतुः स्यादिति व्यापकानुपलंभो बाधकस्तत्र लोकानुरोधस्य प्रतीयते।

यहां शंका करता हुआ कोई वादी बाधक प्रमाणको उपस्थित करता है कि यह नियत हो रहा अन्यथानुपपत्तिसहितपना तो संबंधरूप व्यापकमें व्याप्त हो रहा है। उस संबंधके न होनेपर भी अन्यथानुपपत्ति यदि सद्भाव माना जायगा तो अतिप्रसंग हो जावेगा अर्थात् संबंधसे रहित आकाश और पुष्प या आत्मा और रूप तथा पुद्गल और ज्ञान आदिमें भी अन्यथानुपपत्ति बन बैठेगी, जो कि किसीको इष्ट नहीं है। यह संबंध भी तादात्म्य और तदुत्पत्तिनामक दो संबंधोंसे ही व्याप्त हो रहा है। जगत्में वास्तविक संबंध दो ही हो सकते हैं, जो पदार्थ तादात्म्य संबंधवाला नहीं है, अथवा तदुत्पत्तिसंबंधवाला नहीं है, उसके अन्य कोई भी संबंध नहीं बन पाता है। तिस कारण कृत्तिकोदय या चींटियोंका सम्मूर्छन शरीररूप अण्डा लेकर संचार करना आदि हेतुओंमें अपने साध्यके साथ तादात्म्य और तज्जन्यत्वनामक संबंधके निवृत्त जानेपर कहांसे संबंध भला बन सकता है? व्यापकके नहीं रहनेसे व्याप्य भी नहीं रहता है। तादात्म्य और तदुत्पत्तिका अन्यतरपना व्यापक है और संबंध व्याप्य है तथा उस संबंधके न होनेपर अन्यथानुपपत्तिरूप नियम भी कैसे ठहरेगा? अर्थात् नहीं ठहरता है। व्यापकके बिना व्याप्यकी स्थिति नहीं है। जिससे कि वह कृत्तिकोदय हेतु शकटोदय साध्यका गमक हो जाता अर्थात् तादात्म्य और तदुत्पत्ति न होनेसे कृत्तिकोदयमें कोई संबंध नहीं और संबंध न होनेसे अन्यथानुपपत्ति नहीं, इस कारण कृत्तिकोदय कोई चौथा हेतु नहीं है। इस प्रकार व्यापकका अनुपलम्भ यहां लोककी अनुकूलताका बाधक प्रतीत हो रहा है।

कृत्तिकोदयादेर्गमकत्वं हेतुत्वनिबंधनं तदेवान्यथानुपपन्नत्वं साधयति तदपि संबंधं सोपि तादात्म्यतज्जन्मनोरन्यतरं। तत्र तदुत्पत्तिर्वर्तमानभविष्यतोः कृत्तिकोदयशकटोदययोः परस्परमन्वयव्यतिरेकानुविधानासंभवान्न युज्यत एव तादात्म्यं तु व्योम्नः शकटोदयवत्त्वे साध्ये कृत्तिकोदयवत्त्वं शक्यं कल्पयितुं साधनधर्ममात्रानुबंधिनः साध्यधर्मस्य तदात्मत्वोपपत्तेः। यत एव बाह्यालोकतमोरूपभूतसंघातस्य व्योमव्यवहारार्हस्य कृत्तिकोदयवत्त्वं तत एव भविष्यच्छकटोदयवत्त्वं हेत्वन्तरानपेक्षत्वादेः सिद्धं न तन्मात्रानुबंधित्वमनित्यत्वस्य कृतकत्वमात्रानुबंधित्ववदिति केचित्तान् प्रत्याहः—

वे ही वादी अभीतक कहते जा रहे हैं कि कृत्तिकोदय आदिको साध्यका गमकपना हेतुपनका कारण है, और वही अन्यथानुपपन्नत्वको साध रहा है। तथा वह भी अन्यथानुपपत्ति तो संबंधको जता रही है। तथा वह संबंध भी तादात्म्य और तदुत्पत्ति दोनोंमेंसे किसी भी एकको

साध रहा है। तिन दो संबंधोंमें तदुत्पत्ति नामका संबंध मानना तो वर्त्तमानकालके कृत्तिकोदय हेतुका भविष्यमें होनेवाले शकटोदय साध्यके साथ परस्परमें अन्वय और व्यतिरेकका अनुविधान करना नहीं सम्भवनेके कारण युक्त नहीं है। अतः शकटोदय और कृत्तिकोदयका अधिक काल व्यवधान होनेसे तदुत्पत्ति संबंध तो बनता नहीं है। हां, थोडी देरके लिए इस ढंगसे तादात्म्य संबंध कल्पित किया जा सकता है कि आकाशको पक्ष माना जाय। उसमें शकटोदयसहितपनेको साध्य किया जाय और कृत्तिकाके उदयसे सहितपना हेतु किया जाय, केवल हेतुके धर्मका ही अनुरोध करनेवाले साध्यरूप धर्मका तदात्मकपना बन जाता है। यानीं वर्तमानमें कृत्तिकोदयसहितपना और भविष्यके शकटोदयसे सहितपना ये दोनों आकाशके धर्म होते हुये तदात्मक हैं। हम बौद्धोंके यहां आकाश कोई अमूर्त, व्यापक, पदार्थ नहीं माना गया है। किन्तु दिनमें बहिरंग आलोकरूप भूत परिणामके समुदायको आकाश कहते हैं। और रातमें भूतोंके अंधकाररूप परिणामका इकट्ठा हो जाना ही आकाशपनेसे व्यवहार करने योग्य है। उस आकाशमें जिस ही कारण कृत्तिकोदय सहितपना विद्यमान है, तिस ही कारण भविष्यमें होनेवाले शकटोदयसे सहितपना भी अन्य हेतुओंकी नहीं अपेक्षा रखने या स्वभावसे ही तैसी परिणति आदि होनेसे सिद्ध हो रहा है। तब तो साध्य और हेतुके एक ही हो जानेके कारण केवल उसीसे ही अनुबंधी होनापन नहीं सिद्ध होता है। जैसे कि घटका घट हीसे तदात्मक होनापन कोई कार्यकारी नहीं है। अथवा अनित्यपनका केवल कृतकपनके साथ अनुबन्धी होना जैसे प्रयोजक नहीं है, इस प्रकार कोई बौद्ध कहरहे हैं। भावार्थ—कृत्तिकोदयको गमकपना तब होता जब कि वह ज्ञापक हेतु होता और वह ज्ञापक हेतु तब होता जब कि अन्यथानुपपत्ति उसमें ठहरती और अन्यथानुपपत्ति तब ठहर सकती थी जब कि वहां संबंध ठहरता और कृत्तिकोदयमें संबंध तब ठहर सकता था, जब कि तादात्म्य और तदुत्पत्तिमेंसे कोई एक संबंध वहा पाया जाता। इस प्रकार उत्तरोत्तर व्यापकोंके न ठहरनेपर पूर्व पूर्वके व्याप्य धर्म कृत्तिकोदयमें नहीं हैं। अतः वह शकटोदय साध्यका ज्ञापक नहीं है। यहांतक बौद्धोंका कहना है। अब उनके प्रति सन्मुख होकर श्रीविद्यानंद आचार्य स्पष्ट उत्तर कहते हैं।

नान्यथानुपपन्नत्वं ताभ्यां व्याप्तं निक्षेपणात्।
संयोग्यादिषु लिंगेषु तस्य तत्त्वपरीक्षकैः ॥ १३५ ॥

देखिये, तिन तदुत्पत्ति और तादात्म्य संबंधके साथ अन्यथानुपपन्नपना व्याप्त नहीं हो रहा है। क्योंकि तत्त्वोंकी यथार्थ परीक्षा करनेवाले विद्वानों करके संयोगी, समवायी, आदि हेतुओंमें भी उस अन्यथानुपपत्तिका प्रक्षेप किया गया है। किन्तु वहा तादात्म्य या तदुत्पत्ति नहीं है।

अर्वाग्भागोऽविनाभावी परभागेन कस्यचित्।
सोपि तेन तथा सिद्धः संयोगी हेतुरीदृशः ॥ १३६ ॥

साक्षादिमानयं गोत्वाद्गौर्वा साक्षादिमत्त्वतः ।
इत्यन्योन्याश्रयीभावः समवायिषु दृश्यते ॥ १३७ ॥
चंद्रोदयोऽविनाभावी पयोनिधिविवर्धनैः ।
तानि तेन विनाप्येतत्संबंधद्वितयादिह ॥ १३८ ॥

किसी भी भींत, कपाट, आदिका उरली ओरका भाग तो परली ओरके भागके साथ अविनाभाव संबंध रखनेवाला है । और वह परला भाग भी तिस प्रकार उरली ओरके भागके साथ अविनाभाव रखता है । चौडे पाटवाली नदीका एक तीर दूसरे तीरके विना नहीं हो सकता है। इस प्रकारके समव्याप्तिवाले संयोगी हेतु सिद्ध हो रहे हैं । तथा यह पशु (पक्ष) लटकता हुआ गलेका चर्मरूप सास्ना, सींग, ककुद् (टाठ) पूंछके प्रान्त भागमें वालोंका गुच्छा हो जाना आदि धर्मोंसे युक्त है (साध्य) । क्योंकि इसमें वैलपना है (हेतु) । अथवा यह पशु (पक्ष) गौ है (साध्य) । क्योंकि सास्ना, सींग, आदिसे सहित है (हेतु), इस प्रकार परस्परमें एक दूसरेके आश्रय होता हुआ समवायी हेतुओंमें अविनाभाव संबंध देखा जा रहा है । अर्थात् ज्ञात हो रहा है एक धर्मसे दूसरे अज्ञात धर्मका ज्ञान करा दिया जाता है । जहां सभी धर्म ज्ञात नहीं हैं, वहां उपाय न्यारा है तथा चंद्रमाका उदय होना भी समुद्रका जलवृद्धिके साथ संबंध अविनाभाव रखता है, और समुद्रकी वृद्धियां होना उस चन्द्रोदयके साथ अविनाभावको धारण करता है । इस कारण उक्त तादात्म्य और तदुत्पत्ति नामके दो संबंधोंके विना भी यहां संयोगी, समवायी, सहचर, ये हेतु भी अविनाभावी होकर अपने साध्यके ज्ञापक देखे जा रहे हैं ।

एवंविधं रूपमिदमाम्रत्वमेवं रसत्वादित्येकार्थसमवायिनो वृक्षोयं शिंशपात्वादित्येतस्य वा तदुत्पत्तितादात्म्यबलादविनाभावित्वं । नास्त्यत्र शीतस्पर्शोग्नेरिति विरोधिनस्तादात्म्यबलात्तदिति स्वमनोरथं प्रथयतोपि संयोगिसमवायिनोर्यथोक्तयोस्ततोन्यस्य च प्रसिद्धस्य हेतोर्विनैव ताभ्यामविनाभावित्वमायातं । नास्त्येवात्राविनाभावित्वं विनियतमित्ये तदाशंक्य परिहरन्नाह;—

कोई कुछ दिनोंसे अंधा हो गया पुरुष अनुमान करता है कि यह आम्रफल (पक्ष) इस प्रकारके रूपवाला है (साध्य), क्योंकि इस प्रकार रस है (हेतु), प्रायः करके खट्टे और कच्चे आमका हरा रंग होता है । और मीठे और पके आमका पीला रूप होता है । ऐसे रस और रूपका एक ही अर्थमें समवाय संबंध हो जानेसे उन दोनोंका परस्परमें एकार्थसमवाय संबंध माना गया है । इनका तदुत्पत्ति नामक संबंधसे अविनाभाव बन जाओ । अथवा यह वृक्ष है, शिंशपा होनेसे ऐसे इस अनुमानको तादात्म्यके बलसे अविनाभावीपना बौद्धोंके विचार अनुसार रहो, तथा यहां

शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि आग जल रही है, इस प्रकार विरोधी हेतुका भी तादात्म्यके बलसे भले ही अविनाभाव मान लो, क्योंकि अनुपलब्धि हेतुमें तो भावरूप अग्नि हेतु गर्भित नहीं हो सकता है। इस प्रकार सहचर, एकार्थसमवायी, आदि हेतुओंको तादात्म्य तदुत्पत्तिमें गर्भित कर अपने मनोरथको चारों ओर गाकर प्रसिद्ध कर रहे भी बौद्धोंके यहां यथायोग्य अभी कहेगये परभाग, सास्ना, आदिक संयोगी और समवायी हेतुओंको तथा उनसे अन्य प्रसिद्ध होरहे चन्द्रोदय, छत्र, भरण्युदय, आदि हेतुओंको भी उन तादात्म्य, तदुत्पत्तिके विना ही अविनाभावीपना प्राप्त हो गया, सो समझे रहना। यदि बौद्ध यों कहें कि यहां परभाग, सास्ना, आदिमें अविनाभावीपना विशेषरूपसे नियत नहीं है। इस प्रकार बौद्धकी आशंकाका परिहार करते हुये आचार्य महाराज स्पष्ट कहते हैं।

संयोगिना विना वह्निः स्वेन धूमेन दृश्यते ।
गवा विना विषाणादिः समवायीति चेन्मतिः ॥ १३९ ॥
कारणेन विना स्वेन तस्मादव्यापकेन च ।
वृक्षत्वेन क्षते किं न चूतत्वादिरनेकशः ॥ १४० ॥
ततो यथाविनाभूते संयोगादिर्न लक्ष्यते ।
व्यापको व्यभिचारत्वात्तादात्म्यात्तथा न किम् ॥ १४१ ॥

अपने साथ संयोग संबंध रखनेवाले धूमके विना भी उष्ण लोहपिंडमें अग्नि दीख रही है, यह संयोगी हेतुका व्यभिचार हुआ। तथा समवाय संबंधवाले सींग, सास्ना, आदिक भी गौके विना न्यारे न्यारे भैंस करकेंटा (गिरगिट) में दीख रहे हैं, अतः समवायी हेतु दूषित है। बौद्धोंका इस प्रकार मन्तव्य होनेपर तो हम कहते हैं कि अपने कारणके विना कार्य नहीं होता है। और व्यापकके विना व्याप्य नहीं होता है। किंतु अनेकवार स्थूल देखनेवाले जीवोंने आम्रपन, शीशोंपन, आदिककी वृक्षपने करके क्षति जो देखी गयी है। वह क्यों न होजाय। भावार्थ—चार्वाकोंके दिये गये दोषोंके अनुसार बौद्ध भी यदि दोष लगावेंगे कि वामीमेंसे मेह बरसने पर विना आगके धुआ उठता है, इन्द्रजालियाके घडेमें धुआ है, आग नहीं है, गर्म लोहेका गोला अंगार या जले हुये कोयलों आदि अवस्थामें धुआके विना अग्नि तो रहती हुयी प्रसिद्ध होय ही रही है, शीशों और आमके पेडोंके समान शीशों, आम, पीपलकी वेलें भी हैं, ये सब दोष तो अच्छे नहीं हैं। क्योंकि कारणके विना कार्य नहीं होता है और व्यापकके विना व्याप्य नहीं ठहरता है। वृक्षपनेसे व्याप्य होरहा शीशोंपना, आम्रपना, न्यारा है। शीशोंकी वेल तो भिन्न प्रकारकी होगी। तिस कारण आप बौद्धोंके यहां अविनाभाववाले हेतुओंमें जिस प्रकार संयोग, समवाय, आदिक संबंध नहीं देखे

सास्नादिमानयं गोत्वाद्गौर्वा सास्नादिमत्त्वतः ।
इत्यन्योन्याश्रयीभावः समवायिषु दृश्यते ॥ १३७ ॥
चंद्रोदयोऽविनाभावी पयोनिधिविवर्धनैः ।
तानि तेन विनाप्येतत्संबंधद्वितयादिह ॥ १३८ ॥

किसी भी भींत, कपाट, आदिका उरली ओरका भाग तो परली ओरके भागके साथ अविनाभाव संबंध रखनेवाला है । और यह परला भाग भी तिस प्रकार उरली ओरके भागके साथ अविनाभाव रखता है । चौडे फाटवाली नदीका एक तीर दूसरे तीरके विना नहीं हो सकता है । इस प्रकारके समव्याप्तिवाले संयोगी हेतु सिद्ध हो रहे हैं । तथा यह पशु (पक्ष) लटकता हुआ गलेका चर्मरूप सास्ना, सींग, ककुद् (टाठ) पूंछके प्रान्त भागमें बालोंका गुच्छा हो जाना आदि धर्मोंसे युक्त है (साध्य) । क्योंकि इसमें बैलपना है (हेतु) । अथवा यह पशु (पक्ष) गौ है (साध्य) । क्योंकि सास्ना, सींग, आदिसे सहित है (हेतु), इस प्रकार परस्परमें एक दूसरेके आश्रय होता हुआ समवायी हेतुओंमें अविनाभाव संबंध देखा जा रहा है । अर्थात् ज्ञात हो रहा है एक धर्मसे दूसरे अज्ञात धर्मका ज्ञान करा दिया जाता है । जहां सभी धर्म ज्ञात नहीं हैं, वहां उपाय न्यारा है तथा चंद्रमाका उदय होना भी समुद्रका जलवृद्धिके साथ संबंध अविनाभाव रखता है, और समुद्रकी वृद्धियां होना उस चन्द्रोदयके साथ अविनाभावको धारण करता है । इस कारण उक्त तादात्म्य और तदुत्पत्ति नामके दो संबंधोंके विना भी यहां संयोगी, समवायी, सहचर, ये हेतु भी अविनाभावी होकर अपने साध्यके ज्ञापक देखे जा रहे हैं ।

एवंविधं रूपमिदमामत्वमेवं रसत्वादित्येकार्थसमवायिनो वृक्षोयं शिंशपात्वादित्ये तस्य वा तदुत्पत्तितादात्म्यबलादविनाभावित्वं । नास्त्यत्र शीतस्पर्शोग्नेरिति विरोधिनस्ता- दात्म्यबलात्तदिति स्वमनोरथं प्रथयतोपि संयोगिसमवायिनोर्यथोक्तयोस्ततोन्यस्य च प्रसिद्धस्य हेतोर्विनैव ताभ्यामविनाभावित्वमायातं । नास्त्येवात्राविनाभावित्वं विनियतमित्ये तदाशंक्य परिहरन्नाह;—

कोई कुछ दिनोंसे अंधा हो गया पुरुष अनुमान करता है कि यह आम्रफल (पक्ष) इस प्रकारके रूपवाला है (साध्य), क्योंकि इस प्रकार रस है (हेतु), प्रायः करके खट्टे और कच्चे आमका हरा रंग होता है । और मीठे और पके आमका पीला रूप होता है । ऐसे रस और रूपका एक ही अर्थमें समवाय संबंध हो जानेसे उन दोनोंका परस्परमें एकार्थसमवाय संबंध माना गया है । इनका तदुत्पत्ति नामक संबंधसे अविनाभाव बन जाओ । अथवा यह वृक्ष है, शिंशपा होनेसे ऐसे इस अनुमानको तादात्म्यके बलसे अविनाभावीपना बौद्धोंके विचार अनुसार रहो, तथा यहां

शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि आग जल रही है, इस प्रकार विरोधी हेतुका भी तादात्म्यके बलसे भले ही अविनाभाव मान लो, क्योंकि अनुपलब्धि हेतुमें तो भावरूप अग्नि हेतु गर्भित नहीं हो सकता है। इस प्रकार सहचर, एकार्थसमवायी, आदि हेतुओंको तादात्म्य तदुत्पत्तिमें गर्भित कर अपने मनोरथको चारों ओर गाकर प्रसिद्ध कर रहे भी बौद्धोंके यहा यथायोग्य अभी कहेगये परभाग, सास्ना, आदिक संयोगी और समवायी हेतुओंको तथा उनसे अन्य प्रसिद्ध होरहे चन्द्रोदय, छत्र, भरण्युदय, आदि हेतुओंको भी उन तादात्म्य, तदुत्पत्तिके विना ही अविनाभावीपना प्राप्त हो गया, सो समझे रहना। यदि बौद्ध यों कहें कि यहा परभाग, सास्ना, आदिमें अविनाभावीपना विशेषरूपसे नियत नहीं है। इस प्रकार बौद्धकी आशंकाका परिहार करते हुये आचार्य महाराज स्पष्ट कहते हैं।

संयोगिना विना वह्निः स्वेन धूमेन दृश्यते।
गवा विना विषाणादिः समवायीति चेन्मतिः॥ १३९॥
कारणेन विना स्वेन तस्मादव्यापकेन च।
वृक्षत्वेन क्षते किं न चूतत्वादिरनेकशः॥ १४०॥
ततो यथाविनाभूते संयोगादिर्न लक्ष्यते।
व्यापको व्यभिचारत्वात्तादात्म्यात्तत्तथा न किम्॥ १४१॥

अपने साथ संयोग संबंध रखनेवाले धूमके विना भी उष्ण लोहपिंडमें अग्नि दीख रही है, यह संयोगी हेतुका व्यभिचार हुआ। तथा समवाय संबंधवाले सींग, सास्ना, आदिक भी गौके विना न्यारे न्यारे भैंस करकेंटा (गिरगिट) में दीख रहे हैं, अतः समवायी हेतु दूषित है। बौद्धोंका इस प्रकार मन्तव्य होनेपर तो हम कहते हैं कि अपने कारणके विना कार्य नहीं होता है। और व्यापकके विना व्याप्य नहीं होता है। किंतु अनेकवार स्थूल देखनेवाले जीवोंने आम्रपन, शीशोंपन, आदिककी वृक्षपने करके क्षति जो देखी गयी है। वह क्यों न होजाय। भावार्थ—चार्वाकोंके दिये गये दोषोंके अनुसार बौद्ध भी यदि दोष लगावेंगे कि वामीमेंसे मेह वरसने पर विना आगके धुआं उठता है, इन्द्रजालियाके घडेमें धुआं है, आग नहीं है, गर्म लोहेका गोला अंगार या जले हुये कोयलों आदि अवस्थामें धुआके विना अग्नि तो रहती हुयी प्रसिद्ध होय'ही रही है, शीशों और आमके पेडोंके समान शीशों, आम, पीपलकी वेलें भी हैं, ये सब दोष तो अच्छे नहीं है। क्योंकि कारणके विना कार्य नहीं होता है और व्यापकके विना व्याप्य नहीं ठहरता है। वृक्षपनेसे व्याप्य होरहा शीशोंपना, आम्रपना, न्यारा है। शीशोंकी वेल तो भिन्न प्रकारकी होगी। तिस कारण आप बौद्धोंके यहां अविनाभाववाले हेतुओंमें जिस प्रकार संयोग, समवाय, आदिक संबंध नहीं देखे

जाते हैं और जिस ही प्रकार व्यभिचार होनेसे व्याप्यव्यापकभाव संबंध भी नहीं देखा जाता है, तिस ही प्रकार तादात्म्य संबंध होनेसे भी व्यभिचार क्यों नहीं कहा जाता है। शीशोंकी बेलमें वृक्षपना नहीं है, चन्द्रकान्तमणिके निकट आजानेपर अग्नि शीतल हो जाती है।

देशकालाद्यपेक्षश्चेद्भस्मादेर्वह्निसाधनः।
चूतत्वादिर्विशिष्टात्मा वृक्षत्वज्ञापको मतः ॥ १४२ ॥
संयोगादिर्विशिष्टस्तन्निश्चितः साध्यसाधनः।
विशिष्टता तु सर्वस्य सान्यथानुपपन्नता ॥ १४३ ॥

देश, काल, आकार, आदिकी अपेक्षा रखते हुए भस्म आदिक हेतु यदि अग्निको साधनेवाले माने जायेंगे और स्कन्ध, डाला, ऊपर जाकर फैलना, आदि स्वरूपोंसे विशिष्ट होता हुआ आम्रपना शीशोंपना आदिक हेतु वृक्षपनके ज्ञापक माने जायंगे तब तो अविनाभावसे विशिष्ट होते हुये संयोग आदिक भी निश्चित होकर साध्यके साधनेवाले हो जावेंगे और वह सम्पूर्ण हेतुओंकी विशिष्टता तो अन्यथानुपपत्ति ही है। अर्थात् ज्ञापक हेतुका प्राण अविनाभाव ही है। उससे विशिष्ट होता हुआ चाहे कोई भी संयोगी, सहचर, आम्रत्व, आदिक हेतु होय निश्चितरूपसे साध्यको साध देवेगा।

सोयं कार्यादिलिंगस्याविशिष्टस्यागमकतामुपलक्ष्य कार्यस्वभावैर्यावद्भिरविनाभावि-कारणे तेषां हेतुः स्वभावाभावेपि भावमात्रानुविरोधिनि " इष्टं विरुद्धकार्येपि देशकाला-द्यपेक्षणं। अन्यथा व्यभिचारी स्याद्भस्मे वा शीतसाधन " इत्यादि वचनेन स्वयं विशिष्ट-तामुपयन्नेव यथा हेतोर्गमकत्वमविनाभावनियमेन व्याप्तमाचष्टेविनाभावनियमं तदभावेपि तत्संभवादन्यथा तस्य तेन विशेषणानर्थक्यात्। ततः संयोगादिरप्यविनाभावनियम विशिष्टो गमको हेतुरित्यभ्युपगंतुमर्हति विशिष्टतायाः सर्वत्रान्यथानुपपत्तिरूपत्वसिद्धेरिति न तदुत्पत्तितादात्म्याभ्यामन्यथानुपपन्नत्वं व्याप्तं।

सो यह बौद्ध कार्यहेतु, स्वभावहेतु, और अनुपलब्धि हेतुको अन्यथानुपपत्ति नामके विशे-षणसे सहित नहीं हुयेको साध्यका ज्ञापकपना नहीं है, इस बातका उपलक्षण कर यों कह रहा है कि जितने भर भी कार्य और स्वभावोंकरके अविनाभाव रखनेवाले कारण और भावोंके होनेपर उन कारण और भावरूप साध्योंके कार्य और स्वभाव ज्ञापकहेतु इष्ट हैं। स्वभाव न होनेपर भी कोई नारदपर्वतके समान भावोंका पीछे विरोध करनेवाले हेतुमें विज्ञापकपना नहीं है। बौद्ध ग्रन्थमें कहा है कि विरुद्धकार्य होनेपर भी देशकाल आदिकी अपेक्षा रखनेवाला हेतु ज्ञापक मान लिया जाता है। जैसे कि रसोई खानेमें गीले ईंधनकी अग्निरूप हेतुसे धुआंको साध लेते हैं। अथवा भरणीके उदयसे भविष्यके कृत्तिकोदयको साध लिया जाता है।

अन्यथा यानी देश, काल आदि विशेषणके नहीं लगानेपर तो वह हेतु व्यभिचारी हो जायगा, जैसे कि उष्णाता साधनेमें भस्म हेतु व्यभिचारी हो जाता है। हां, यदि भूतकालका उष्णपना या वह्नि-सहितपना साधना होय तो अविनाभाव रखता हुआ भस्म (राख) हेतु समीचीन है। इस प्रकार हेतुकी विशिष्टताको स्वीकृत करता हुआ ही अविनाभावरूप नियम करके साध्यके साथ व्याप्त हो रहे हेतुका ज्ञापकपना यथार्थ बखान रहा बौद्ध अविनाभाव नियमको ही विशेषण स्वयम् कह रहा है। क्योंकि उस अविनाभावके न होनेपर भी कार्य और स्वभाव संभव हो जाते हैं। देखिये, कुम्हारका कार्य घट है, किन्तु अविनाभाव न होनेके कारण घट हेतुसे कुलालका वहां सद्भाव नहीं जाना जा सकता है। आम्रका स्वभाव वृक्षपना है, एतावता ही वृक्षपन हेतुसे आम्रवृक्षकी ज्ञप्ति नहीं हो जाती है। अन्यथा यानी अविनाभावके विना भी हेतु यदि साध्यका ज्ञापक मान लिया जाय तब तो उस हेतुका उस अविनाभावसे सहितपना विशेषण लगाना व्यर्थ पडेगा, जैसे कि गाढे दहीमें जमा हुआ या शुक्लपना विशेषण व्यर्थ हैं। मिश्रीको मीठा कहना व्यर्थ है। व्यभिचारोंकी निवृत्तिको करता हुआ विशेषण सार्थक माना गया है। तिस कारण संयोगी, समवायी, आदि हेतु भी अविनाभावरूप नियमसे विशिष्ट होते हुये अपने नियतसाध्यकी ज्ञप्ति करानेवाले हैं। बौद्ध इस बातको स्वीकार करनेके लिये योग्य हैं। क्योंकि सम्पूर्ण हेतुओंमें विशिष्टपना अन्यथानुपपत्तिरूपपनेसे सिद्ध हो रहा है। इस कारण तदुत्पत्ति और तादात्म्यकरके अन्यथानुपपत्ति व्याप्त नहीं हो रही है। अन्यथानुपपत्तिका उदर तादात्म्य तदुत्पत्तिसे बहुत अधिक बडा है। तथा किसी अंशमें छोटा भी है। इस प्रकार एकसौ पैंतीसवीं " नान्यथानुपपन्नत्व " इस कारिकाका विवरण किया है।

तद्विशिष्टाभ्यां व्याप्तमिति चेत् तर्ह्यन्यथानुपपन्नत्वे नान्यथानुपपन्नत्वं व्याप्तमित्यायातं। तच्च न सारं तस्यैव तेनैव व्याप्यव्यापकभावविरोधात् व्याप्यव्यापकयोः कथंचिद्भेदप्रसिद्धेः। " व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च " इति तयोर्विरुद्धधर्माध्यासवचनात्।

यदि बौद्ध यों कहे कि साध्यके विना हेतुका नहीं रह सकनारूप उस अन्यथानुपपत्तिसे विशिष्ट हो रहे तादात्म्य और तदुत्पत्तिकरके तो अन्यथानुपपन्नपना व्याप्त है। अब कोई दोष नहीं आता है। तब तो हम जैन कहते हैं कि अन्यथानुपपन्नपनेसे ही अन्यथानुपपन्नपना व्याप्त हुआ ऐसा आया और वह तो कथन निःसार पडेगा। क्योंकि उसका ही उस ही के साथ व्याप्यव्यापक भाव होनेका विरोध है। व्याप्य और व्यापकोंमें कथंचित् भेदकी प्रसिद्धि हो रही है। उसमें और उससे भिन्न पदार्थोंमें भी ठहरनेवाला पदार्थ व्यापक होता है। तथा केवल उसमें ही ठहरनेवाला व्याप्य होता है। जैसे कि वैश्योंमें ही रहनेवाला वैश्यत्व धर्म व्याप्य है, और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, आदिमें रहनेवाला मनुष्यत्व धर्म व्यापक है। इस प्रकार उन व्याप्य और व्यापकोंमें विरुद्ध धर्मोंसे आरूढ हो रहेपनका कथन किया गया है।

अथ मतं,ताभ्यां संबंधो व्याप्तस्तेनान्यथानुपपन्नत्वमिति । तदप्यविचारितमेव, तद्व्यतिरिक्तस्य संयोगादेः संबंधस्य सद्भावात् । कार्यकारणभावयोरसंयोगादिरूपकार्योपकारकभावमंतरेण क्वचिदप्यभावादिति चेन्न, नित्यद्रव्यसंयोगादेस्तदंतरेणैव भावात् । न च नित्यद्रव्यं न संभवेत् क्षणिकपरिणामवत्तस्य प्रमाणसिद्धत्वात् तदवश्यं सर्वसंबंधव्यक्तीनां व्यापकस्तदुत्पत्तितादात्म्याभ्यामन्य एवाभिधातव्यो योग्यतालक्षण इत्याह:—

अब यदि बौद्धोंका यह मन्तव्य होय कि उन तादात्म्य और तदुत्पत्तिरूप व्यापकोंसे संबंध व्याप्त हो रहा है, और संबंधरूप व्यापकसे अन्यथानुपपन्नपना व्याप्त है, आचार्य कहते हैं कि वह मन्तव्य भी विचार किया गया नहीं। क्योंकि उन तादात्म्य और तदुत्पत्तिसे सर्वथा न्यारे हो रहे संयोग, समवाय, सहचर, विरुद्ध, कारण, व्याप्य, व्यापक विरुद्धता, आदि अनेक संबंध विद्यमान हैं। अविनाभाव घटित हो जानेसे उक्त संबंध साध्यके ज्ञापक हो जाते हैं। नियमरहित होते हुये उक्त संबंध अनुमान करानेमें सहायक नहीं हो सकते हैं। यदि बौद्ध यों कहें कि संयोग, समवाय, आदि संबंध भी पहिले असंयोगी और असमवायीरूप कार्योंके उपकारकपनके विना कहीं भी नहीं पाये जाते हैं। अर्थात् संयोग, समवाय भी कारणोंसे किये गये हैं। अतः वे कार्यहेतुमें ही गर्भित हो जावेंगे। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि आकाश, आत्मा, कालाणु,आदि नित्य द्रव्योंके नित्यसंयोग तथा धर्मद्रव्यका अपने परिमाणके साथ और कालाणुका अपने अस्तित्व, वस्तुत्व-आदि गुणोंके साथ नित्यसमवाय हो रहा है। जीव, पुद्गल द्रव्योंका भी अपने सामान्य गुणोंके साथ नित्यसमवाय हो रहा है। वे संबंध तो किसीके कार्य हुये विना ही विद्यमान हो रहे हैं। ऐसी दशामें संयोग आदिक हेतु भला कार्यहेतुमें कैसे गर्भित किये जा सकते हैं। [२] नित्यद्रव्य कोई नहीं सम्भवता है, यह तो नहीं समझना। क्योंकि क्षणिकपर्यायके समान वह नित्यद्रव्य भी प्रमाणोंसे सिद्ध है। तिस कारण सम्पूर्ण ही नियतसंबंध व्यक्तियोंमें व्यापक हो रहा और तादात्म्य, तदुत्पत्तिसे, अन्य ही कोई योग्यतास्वरूप संबंध कहना चाहिये, इस बातको स्वयं ग्रन्थकार स्पष्ट कहते हैं।

योग्यताख्यश्च संबंधः सर्वसंबंधभेदगः ।
स्यादेकस्तद्वशाल्लिंगमेकमेवोक्तलक्षणम् ॥ १४४ ॥

सम्पूर्ण ही संबंधोंके भेदप्रभेदोंमें प्राप्त हो रहा योग्यता नामका ही एक संबंध [अविनाभाव] मान लेना चाहिये। उस एक संबंधके वशसे एक ही प्रकारका हेतु है, जिसका कि " अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं तत्र साधनम् " इस कारिकाद्वारा लक्षण कह दिया गया है।

विशेषतोपि संबंधद्वयस्यैवाव्यवस्थितेः ।
संबंधषट्कवन्नातो लिंगेयत्ता व्यवस्थितेः ॥ १४५ ॥

वैशेषिकोंके माने गये संयोग आदिक छह संबंधोंके समान बौद्धोंके द्वारा माने गये विशेषरूपसे भी दो संबंधोंकी ही व्यवस्था नहीं हो पाती है। इस कारण इन तादात्म्य और तदुत्पत्तिसे हेतुओंके इतने परिणामकी ठीक व्यवस्था नहीं हुई।

तद्विशेषविवक्षायामपि संख्यावतिष्ठते।
न लिंगस्य परैरिष्टा विशेषाणां बहुत्वतः ॥ १४६ ॥

हेतुओंके विशेषभेदोंकी विवक्षा करनेपर भी दूसरोंके द्वारा मानी गयी हेतुकी दो या तीन संख्या तो नहीं निर्णीत होती हैं। क्योंकि हेतुओंके भेदप्रभेद बहुतसे हैं। वे दो आदि संख्याओंमें सभी गर्भित नहीं हो सकते हैं। भावार्थ—अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाला हेतु एक ही है। विशेषरूपसे यदि उसके भेद किये जायंगे तो उपलब्धि, अनुपलब्धि, या विधिसाधक, निषेधसाधक ये तो हो सकते हैं। क्योंकि इनमें जगत्के सभी ज्ञापकहेतुओंका अंतर्भाव हो जाता है। किन्तु तादात्म्य तदुत्पत्ति या वीत, अवीत अथवा संयोग, समवाय, एवं पूर्वचर, उत्तरचर, तथा पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोऽदृष्ट, इत्यादि विशेषभेद करना समुचित नहीं है।

संबंधत्वसामान्यं सर्वसंबंधभेदानां व्यापकं न योग्यताख्यः संबंध इत्यचोद्यं, प्रत्यासत्तेरिह योग्यतायाः सामान्यरूपायाः स्वयमुपगमात्। सैवान्यथानुपपत्तिरित्यपि न मंतव्यं प्रत्यासत्तिमात्रे क्वचित्सत्यपि तदभावात्। न हि द्रव्यक्षेत्रकालभावप्रत्यासत्तयः सर्वत्र कार्यकारणभावसंयोगादिरूपाः सत्योप्यविनाभावरहिता न दृश्यंते ततः संबंधवशादपि सामान्यतोन्यथानुपपत्तिरेकैवेति तल्लक्षणमेकं लिंगमनुमंतव्यं।

सामान्यरूपसे सम्बंधत्वधर्म ही संपूर्ण संबंधके भेदप्रभेदोंका व्यापक है। जैनोंका माना हुआ योग्यता नामक संबंध तो सर्वव्यापक नहीं है। इस प्रकारका कटाक्ष करना ठीक नहीं। क्योंकि इस प्रकरणमें सामान्यरूप हो रही योग्यताको ही संबंधपनेसे स्वयं प्रतिवादीने स्वीकार किया है। नियत, अनियत, सभी संबंधोंमें व्याप रही वह योग्यता ही अन्यथानुपपत्ति होय यह भी नहीं मानना चाहिये। क्योंकि सामान्यरूपसे अनेक प्रत्यासत्तियोंमेंसे कहीं कहीं योग्यताके रहनेपर भी उस अन्यथानुपपत्तिका अभाव है। देखिये, आकाश आत्मा, या जीव पुद्गल, तथा कुलाल घट, आदि पदार्थोंकी द्रव्यरूपसे प्रत्यासत्ति है। और वायुधाम, सिद्ध भगवान् उपरिम तनुवातमें रहनेवाले सूक्ष्म निगोदिया, जीवकर्म, आदिकी क्षेत्रप्रत्यासत्ति है। तथा समानकालमें रहनेवाले घट, पट आदि पदार्थोंकी या पूर्वापरपर्यायोंकी कालप्रत्यासत्ति है। एवं देवदत्त, जिनदत्त, आदिके कतिपय समानज्ञानोंकी भावप्रत्यासत्ति है। पितापुत्रकी जन्यजनकभावरूप प्रत्यासत्ति है। ढाई द्वीप, सिद्ध लोक, सिद्धशिलाका समानपरिमाणरूप संबंध है। लोकाकाश, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकायके समानसंख्यावाले प्रदेशोंका तुल्यसंख्यक संबंध है। जम्बूद्वीप, सर्वार्थसिद्धि विमान, नंदीश्वरकी

बावडीका तुल्यपरिमाणपना संबंध है । क्षायिकसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, यथाख्यात चारित्रका उत्कृष्ट अनंतप्रमाणपनाभाव संबंध है । कानेका काने पुरुषके साथ सदृशाकारत्व संबंध है । ये सर्वत्र हो रहे कार्यकारणभाव, संयोग आदिरूप संबंध होते हुए भी अविनाभावसे रहित नहीं दीख रहे हैं, यह नहीं समझना, अर्थात् संबंधोंमें अनेक संबंध तो अविनाभावसे रहित हैं । तिस कारण संबंधके वशसे भी सामान्यरूप करके अन्यथानुपपत्ति ही एक वह हेतुका लक्षण है । इस कारण एक ही हेतु महर्षिओंकी सम्प्रदायके अनुसार मानना चाहिये ।

विशेषतोपि संबंधद्वयस्य तादात्म्यतज्जन्माख्यस्याव्यवस्थानात् संयोगादिसंबंधषट्कवत्तदव्यवस्थाने च कुतो लिंगयत्ता नियम इति तद्विशेषविवक्षायामपि न परैरिष्टा लिंगसंख्यावतिष्ठते विशेषाणां बहुत्वात् । परेष्टसंबंधसंख्यामतिक्रामंतो हि संबंधविशेषास्त दिष्टलिंगसंख्यां विघटयंत्येव स्वेष्टविशेषयोः शेषविशेषाणामंतर्भावयितुमशक्तेः । विषयस्य विधिप्रतिषेधरूपस्य भेदाल्लिंगभेदस्थितिरित्यप्यिष्ट तत्संख्याविरोध्येव ।

विशेषरूपसे भी तादात्म्य और तदुत्पत्ति नामके दो संबंधोंकी व्यवस्था नहीं है । जैसे कि संयोग आदिक छह संबंधोंकी ज्ञापक हेतुके प्रकरणमें संख्या व्यवस्थित नहीं है और उन दो, छह आदि हेतु भेदोंकी व्यवस्था नहीं होनेपर तो ऐसी दशामें हेतुओंकी इतनी संख्याके परिमाणको अवधारण करनेपनका नियम कैसे सधा ? इस प्रकार हेतुओंके विशेषोंकी विवक्षा होनेपर भी दूसरे प्रतिवादियोंद्वारा इष्ट की गई हेतुसंख्या नहीं निर्णीत हो पाती है । क्योंकि व्याप्यको, व्यापकको पूर्वचरको, विरुद्धव्याप्यको, विरुद्धपूर्वचरको, व्याप्यव्याप्यविरुद्धों आदिको साधनेवाले हेतुओंके विशेष बहुतसे हैं । जब कि वे विशेषसंबंध दूसरे प्रतिवादियोंसे इष्ट की गई हेतुसंख्याका अतिक्रमण कर रहे हैं, तो उनके द्वारा अभीष्ट हेतुसंख्याके नियमका विघटन करा ही देते हैं । क्योंकि अपने इष्ट किये गये दो तादात्म्य और तदुत्पत्तिरूप विशेषोंमें अवशिष्ट बचे हुये पूर्वचर आदि हेतुओंके विशेष भेदप्रभेदोंका अतर्भाव नहीं किया जा सकता है । यदि कोई जैनका एकदेशी वादी साध्यरूप विषयके विधि और निषेधरूपको साधनेवाले भेदसे हेतुके विधिसाधक और निषेधसाधक इन दो भेदोंकी व्यवस्था मानेंगे । इस प्रकारका इष्ट करना भी उस बौद्धकी तादात्म्य तदुत्पत्तिरूप दो संख्याका विरोधी ही है । अर्थात् विधिसाधक या निषेधसाधक यह दो संख्या तो ठीक है । किन्तु तादात्म्य और तदुत्पत्ति ये दो भेद तो ठीक नहीं हैं । अथवा हेतुकी प्रमाण सिद्ध हो रही संख्याके विरोधी जैसे तादात्म्य तदुत्पत्ति हैं, वैसे ही विधिसाधक, निषेधसाधक ये दो भेद भी हैं । तथा धर्मकी अपेक्षा विचारा जाय तो अन्य भी हेतु हैं ।

यस्मात्—

जिस कारणसे कि सप्तभंगीके विषयभूत धर्मोंको साधनेवाले सात प्रकारके हेतु बन रहे हैं ।

यथैवास्तित्वनास्तित्वे भिद्येते गुणमुख्यतः ।
तथोभयं क्रमेणेष्टमक्रमेणत्ववाच्यता ॥ १४७ ॥
अवक्तव्योत्तराशेषास्त्रयो भंगाश्च तत्त्वतः ।
सप्त चैवं स्थिते च स्युस्तद्वशाः सप्तहेतवः ॥ १४८ ॥

जिस ही प्रकार अस्तिपना और नास्तिपना ये दो धर्म गौण और मुख्यरूपसे न्यारे न्यारे हो रहे हैं । इस ही प्रकार क्रमसे कथन करनेपर अस्तित्व और नास्तित्वका मिलकर उभयनामका तीसरा भंग इष्ट किया गया है । तथा क्रमसे रहित दोनों धर्मोकी युगपत् यानी एक ही कालमें विवक्षा होनेपर तो अवक्तव्यपना चौथा धर्म माना गया है । अनेक धर्मोको एक ही समयमें कहनेकी एक शद्बकी शक्ति नहीं है । इन कहे हुये चार धर्मोसे अवशेष रहे अस्ति अवक्तव्य ५ नास्ति अवक्तव्य ६ अस्तिनास्तिअवक्तव्य ७ ये पृष्ठ भागमें अवक्तव्यपदको धारण किये हुये तीन भंग भी वास्तविक रूपसे माने हैं । इस प्रकार सात भंगोंके स्थित हो जानेपर उन सात भंगोंके अधीन होकर प्रवर्तनेवाले सात हेतु होने चाहिये । भावार्थ—अर्थोके स्वभावोंकी विशेषता करि यदि हेतुओंके भेद करना बौद्धोंको अभीष्ट है अथवा विधि और निषेधके भेदसे हेतुभेद करना इष्ट है, तब तो सप्तभंगीके अनुसार हेतु सात प्रकारके मानने चाहिये । इनमें सब हेतु गर्भित हो जायेंगे । अच्छा हो यदि नयवादके समान हेतुकी संख्या नियत कर दी जाय ।

विरोधान्नोभयात्मादिरर्थश्चेन्न तथेक्षणात् ।
अन्यथैवाव्यवस्थानात्प्रत्यक्षादिविरोधतः ॥ १४९ ॥
निराकृतनिषेधो हि विधिः सर्वात्मदोषभाक् ।
निर्विधिश्च निषेधः स्यात्सर्वथा स्वव्यथाकरः ॥ १५० ॥

बौद्ध यदि यों कहें कि उभौ अवयवौ यस्य तत् उभय, दो अवयववाले एक अर्थको उभय कहते हैं । अस्ति और नास्ति इन दो धर्मोका परस्परमें विरोध होनेके कारण दोनोंकी खिचडी बनकर एक आत्मक होता हुआ तीसरा धर्म नहीं बन सकता है । तथा पाचवा आदिक भंग बनना भी विरुद्ध है । अतः उभयस्वरूप या अस्तिअवक्तव्यस्वरूप कोई पदार्थ नहीं है । क्या कोई पदार्थ शीत और उष्ण स्पर्शको धारण करता हुआ एक ही समयमें अग्निजलस्वरूप है ? यानी नहीं है । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो बौद्धोंको नहीं कहना चाहिये । क्योंकि हम क्या करें तिस प्रकार अनेक धर्मोसे तदात्मक हो रहे पदार्थोंका दर्शन हो रहा है । चन्द्रकान्तमणिके सन्निधान होनेपर अग्नि भी शीतल हो जाती है । मंत्रतंत्रके निमित्तसे या हिम (बर्फ) से चारों

ओर घिर जानेपर अग्निकी उष्णता छिप जाती है । विष भी प्रक्रियाओंके द्वारा अमृत बना लिये जाते हैं । तीव्र रोगोंपर प्रयुक्त किये गये शुद्ध विष ही चमत्कार दिखलाते हैं । जिस रसायनकी मात्रा एक चावलभर है, उसको एक रत्ती देदेनेपर रोगी मर जाता है । इसी प्रकार स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे पदार्थ अस्तित्व–आत्मक है । तभी तो वह स्वरूपलाभ करता हुआ अर्थ क्रियाओंको बना रहा है । और परचतुष्टयकी अपेक्षा पदार्थ अन्योंसे नास्तित्वरूप है । तभी तो अन्य पदार्थोंके साथ साङ्कर्य नहीं हो रहा है । हां, दूसरे ही प्रकारोंसे एकान्तवादियोंके अनुसार पदार्थकी व्यवस्था होती हुई नहीं देखी जाती है । ब्रह्माद्वैतवादियोंके माने हुये अस्तित्व एकान्तके अनुसार केवल विधिको ही माननेमें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे विरोध आता है । तथा शून्य वादियोंके नास्तिपन माननेके एकान्तमें भी प्रमाणोंसे विरोध आता है । क्योंकि सभी पदार्थ स्वांशोंकी विधि और पराशोंका निषेध लिये हुये वैठे हैं । निषेधोंका सभी प्रकार निराकरण करती हुई विधि तो सर्व पदार्थस्वरूप हो जानेके दोषको धारण करती है । भावार्थ—जिस किसी एककी ओरसे भी यदि पदार्थमें निषेध नहीं प्राप्त होगा उसी समय वह पदार्थ तद्रूप वन जायगा । एक घोडेमें हाथी, ऊंट, बैल, भैंसा, देव, नारकी, मनुष्य, घट, पट, आदि अनंत पदार्थोंकी ओरसे अभाव विद्यमान हैं । यदि घोडेमें एक भी भैंसका अभाव आना रुक गया तो उसी समय घोडा झट भैंसरूप हो जायगा । इसी प्रकार अभावको नहीं माननेपर कोई भी पदार्थ चाहे जिस किसी अन्यपदार्थरूप बन बैठेगा, कोई रोकनेवाला नहीं है । तथा विधिसे सर्वथा रहित यदि निषेधका एकान्त माना जायगा तो भी सभी प्रकार अपनी व्यथाको करनेवाला है अर्थात् सबका निषेध माननेपर इष्टपदार्थका जीवन अशक्य है । एकान्तरूपसे निषेधको कहनेवाले विद्वान् अपनी सत्ता भी जगत्में नहीं स्थिर कर सकेंगे । अतः वस्तुको अनेक धर्म आत्मक माननेपर सात भंगोंके अनुसार सात प्रकारके हेतु मान लेने चाहिये ।

ननु च यथा भावाभावोभयाश्रितस्त्रिविधो धर्मः शब्दविषयोनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठित एव न वहिः स्वलक्षणात्मकस्तथा स्यादवक्तव्यादि परमार्थतो सन्नेवार्थक्रियारहितत्वान्मनोराज्यादिवत् न च सर्वथा कल्पितोर्थो मानविषयो नाम येन तद्भेदात्सप्तविधो हेतुरापाद्यते इत्यत्रोच्यते;—

जैनोंको आमंत्रण कर बौद्ध कह रहे हैं कि शद्बके द्वारा भाव, अभाव और उभयका आश्रय लेकर उत्पन्न हुये तीन प्रकारके धर्म जिस प्रकार अनादिकालसे चली आ रही मिथ्यावासनासे उत्पन्न हुये विकल्पज्ञानमें कोरे स्थित हो रहे ही शद्बके वाच्य अर्थ बन रहे हैं, किन्तु वे तीनों धर्म वस्तुतः वहिरंगस्वलक्षण स्वरूप नहीं हैं । लडकियोंके खेल समान केवल कल्पित हैं । तिस ही प्रकार कथंचित् अवक्तव्य आदि चार धर्म भी परमार्थरूपसे विद्यमान नहीं हैं । क्योंकि अर्थक्रिया करनेसे रहित हैं, जैसे कि दरिद्रोंका अपने मनमें ही राजा बनजाना वस्तुभूत नहीं । खेलमें बना लिये गये

पत्र (कागज) के फूलोंसे गन्ध नहीं आती है, इत्यादिके समान सभी प्रकार कल्पित कर लिया गया सात भंगरूप अर्थ तो प्रमाणोंका गोचर कैसे भी नहीं है। जिससे कि उन सात धर्मोंके भेदसे हेतुका सात प्रकारसे आपदन किया जा सके अर्थात् कार्य, स्वभाव, हेतुके मान चुकनेपर हमारे ऊपर सात हेतुओंके मान लेनेका अनुचित प्रभाव (दबाव) डाला जाय, इस प्रकार बौद्धोंके कथन करनेपर आचार्य महाराजको उत्तर देनेके लिये बाध्य होना पडता है।

नानादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितः।
भावाभावोभयाद्यर्थः स्पष्टं ज्ञानेवभासनात् ॥ १५१ ॥

१ भाव (अस्तित्व) २ अभाव (नास्तित्व) ३ उभय (अस्तिनास्ति) ४ अवक्तव्य ५ अस्तिअवक्तव्य ६ नास्तिअवक्तव्य ७ अस्तिनास्तिअवक्तव्य इन सात धर्मोंसे तदात्मक हो रहा अर्थ वस्तुभूत है। बौद्धोंके मन्तव्य अनुसार अनादिकालकी वासनाओंसे उत्पन्न हो गई कोरी कल्पनाओंमें गढकर बैठा लिया गया नहीं है। क्योंकि प्रमाणज्ञानमें स्पष्टरूपसे अस्तित्व आदि धर्मस्वरूप अर्थका प्रकाश हो रहा है।

शब्दज्ञानपरिच्छेद्योपि पदार्थो स्पष्टतयावभासमानोपि नैकांततः कल्पनारोपितः स्वार्थक्रियाकारित्वान्निर्बाधमनुभूयते किं पुनरध्यक्षे स्पष्टमवभासमानो भावाभावोभयादिरर्थ इति परमार्थ सन्नेव।

आप्तपुरुषके दो शब्दोंसे उत्पन्न हुये ज्ञान द्वारा जान लिया गया भी पदार्थ चाहे वह भले ही अविशदरूपसे प्रतिभासमान हो रहा है, तो भी एकान्तरूपसे कल्पनासे गढ लिया गया नहीं है। क्योंकि अपनेसे की जाने योग्य वास्तविक अर्थक्रियाओंको कर रहा है। अतः शब्दके वाच्य अर्थका भी जब बाधारहित होकर अनुभव किया जा रहा है, तो फिर प्रत्यक्षज्ञानमें स्पष्टरूपसे प्रकाशित हो रहा भाव, अभाव, उभय आदि धर्मस्वरूप अर्थका तो कहना क्या है। अर्थात् प्रत्यक्षसे स्पष्ट जान लिया गया अर्थ तो बडे अच्छे ढंगसे वस्तुभूत हो जाता है। इस प्रकार अस्तित्व आदिक धर्मोंसे तदात्मक हो रहा अर्थ परमार्थरूपसे यथार्थ विद्यमान ही है। कोरी कपोलकल्पनासे ढोंग नहीं बनाया है। अतः " अनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठित । शब्दार्थस्त्रिविधो धर्मो भावाभावोभयाश्रितः " यह बौद्धोंका कथन ठीक नहीं है।

भावाभावात्मको नार्थः प्रत्यक्षेण यदीक्षितः।
कथं ततो विकल्पः स्याद्भावाभावावबोधनः ॥ १५२ ॥
नीलदर्शनतः पीतविकल्पो हि न ते मतः।
भ्रान्तेरन्यत्र तत्त्वस्य व्यवस्थितिमभीप्सतः ॥ १५३ ॥

यदि बौद्ध यों कहें कि प्रत्यक्ष प्रमाण करके तो अस्तित्व, नास्तित्व आत्मक होता हुआअर्थ नहीं देखा गया है। इसपर हम स्याद्वादी कहते हैं कि तिस प्रत्यक्षसे फिर भाव और अभावोंको समझानेवाला विकल्पज्ञान भला कैसे उत्पन्न हो सकेगा? बताओ। अर्थात् बौद्धोंके यहां प्रत्यक्षके द्वारा निर्विकल्पकरूपसे विषय किये गये ही अर्थोंमें निर्णयरूप विकल्पज्ञानकी उत्पत्ति मानी गयी है। तुम बौद्धोंके मतमें नीलके निर्विकल्पकज्ञानसे पीतका विकल्पज्ञान होता हुआ नहीं माना गया है। हां, भ्रान्तज्ञानोंकी दूसरी बात है। भ्रान्तिसे तो चाहे जिसमें चाहे जिसका ज्ञान कर लो। भावार्थ—भ्रान्तिसे अतिरिक्तस्थलोंमें प्रत्यक्ष ज्ञानके अनुसार ही विकल्पोंकी उत्पत्ति होना बौद्धने स्वीकार किया है। उस पीछेसे होनेवाले विकल्पज्ञान करके प्रत्यक्षसे जाने गये तत्त्वोंकी व्यवस्थाको इष्ट करनेवाले बौद्धोंके यहां प्रत्यक्षका विषयभाव आदिरूप अर्थ मान ही लिया गया है, ऐसा समझो।

तद्वासनाप्रबोधाच्चेद्भावाभावविकल्पना।
नीलादिवासनोद्बोधात्तद्विकल्पवदिष्यते ॥ १५४ ॥
भावाभावेक्षणं सिद्धं वासनोद्बोधकारणं।
नीलादिवासनोद्बोधहेतुतद्दृष्टिवत्ततः ॥ १५५ ॥

उन भाव आदिकी वासनाओंके जगजानेसे यदि भाव, अभावोंका विकल्प करोगे, तब तो हमें कहना है कि नील, पीत, आदि स्वलक्षणोंका प्रत्यक्ष कर पीछे नील आदिकी लगी हुई वासनाओंका प्रबोध हो जानेसे जैसे उन नील आदिकोंका विकल्पज्ञान होना इष्ट किया गया है, उसीके समान भाव और अभावोंका प्रत्यक्ष करना ही उन भाव अभावोंके विकल्पज्ञान करानेके लिये उपयोगी बन रहीं वासनाओंके प्रबोध करानेका कारण है। जैसे कि नील आदिकका दर्शन उन नील आदिकी आत्मामें प्रथमसे लगी हुई वासनाओंका प्रबोधक है तिस कारण बौद्धोंके यहां निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा भाव, अभाव आदि धर्मोंका दीख जाना उनकी वासनाओंके उद्बोधका कारण सिद्ध हो गया।

यथा नीलादिदर्शनं नीलादिवासनोद्बोधस्य कारणमिष्टं तथा भावाभावोभयाद्यर्थदर्शनं तद्वासनाप्रबोधस्य स्वयमेषितव्यमिति भावाद्यर्थस्य प्रत्यक्षतः परिच्छेदः सिद्धः।

जिस प्रकार नील आदिकी वासनाओंको जगानेवाला कारण नील आदिकोंका प्रत्यक्ष दर्शन माना गया है, उसी प्रकार भाव, अभाव, उभय, अवक्तव्य, आदि सात धर्मस्वरूप अर्थका प्रत्यक्ष भी उन भाव आदिकी वासनाओंके जगानेका कारण स्वयम् इष्ट करलेना पडेगा। इस प्रकार भाव आदिस्वरूप अर्थकी प्रत्यक्षप्रमाणसे ज्ञप्ति होना सिद्ध हो गया।

यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता ।
क्वान्यथा स्यादनाश्वासाद्विकल्पस्य समुद्भवे ॥ १५६ ॥

बौद्धोंका ग्रन्थ है कि निर्विकल्पकज्ञान जिस ही अंशमें इस सविकल्पक बुद्धिको वासनाओं द्वारा उत्पन्न कराता है, उस ही विषयको जाननेमें इस प्रत्यक्षका प्रमाणपना विकल्पबुद्धिद्वारा व्यवस्थित किया जाता है। जैसे कि नीलप्रत्यक्षने नीलको विषय किया है और क्षणिकत्वको भी जाना है किन्तु नीलप्रत्यक्षके पीछे नीलका निश्चय करनेवाला विकल्पज्ञान तो उत्पन्न हो जाता है। अतः नीलको विषय करनेमें प्रत्यक्षकी प्रमाणता निश्चित होगई, किन्तु क्षणिकपनका पीछे विकल्पज्ञान नहीं हुआ है। अतः क्षणिकपनको विषय करनेमें प्रत्यक्षकी प्रमाणता व्यवस्थित नहीं हुई। तभी तो क्षणिकपनको साधनेके लिये पुनः अनुमानप्रमाण उठाना पडता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकारका बौद्धसिद्धान्त अन्यथा यानी भाव आदिका प्रत्यक्षज्ञान होना न माननेपर भला कहा व्यवस्थित हो सकेगा? विकल्पज्ञानकी समीचीन उत्पत्ति होनेमें कोई विश्वास नहीं रहेगा, यानी प्रत्यक्षकी भित्तिपर ही विकल्पज्ञानकी उत्पत्ति माननेमें तो श्रद्धा हो सकती है। अन्यथा नहीं। बौद्धोंने वैसा माना भी है। तभी प्रत्यक्षमें प्रमाणपनेका विश्वास हो सकता है।

यदि हि भावादिविकल्पवासनायाः प्रबोधकारणमाभोगाद्येव न पुनर्भावादिदर्शनं तदा नीलादिविकल्पवासनाया अपि न नीलादिदर्शनं प्रबोधनिबंधनमाभोगशब्दयोरेव तत्कारणत्वापत्तेः। एवं च नीलादौ दर्शनाभावेपि विकल्पवासनायाः संभवात् सर्वत्र प्रत्यक्षपृष्ठभाविनो विकल्पस्य सामर्थ्यात्प्रत्यक्षस्य प्रमाणतावस्थापनेऽनाश्वास एव स्यात् ।

यदि बौद्ध यों कहें कि भाव आदिकोंकी विकल्पवासनाको जगानेवाला कारण पूर्णपना, अपूर्णपना, भोग, नहीं कहा जा सकना, आदि ही हैं, किन्तु फिर भाव, अभाव, आदिका प्रत्यक्ष करना तो वासनाका प्रबोधक नहीं है, तब तो हम जैन कह देंगे कि नील आदिकोंकी विकल्पवासनाओंका भी प्रबोध करानेवाला कारण नीलादिदर्शन नहीं है। परिपूर्णता और शब्दको ही उन नील आदिकी वासनाओंका प्रबोध करनेमें कारणपना प्राप्त हो जावेगा और इस प्रकार नील आदिमें दर्शनके न होनेपर भी विकल्पवासनाकी उत्पत्ति संभव हो जानेसे सभी स्थलोंपर प्रत्यक्षके पीछे होनेवाले विकल्पज्ञानकी सामर्थ्यसे प्रत्यक्षकी प्रमाणताके व्यवस्थापन करनेमें अविश्वास ही रहेगा।

स्वलक्षणदर्शनप्रभवो विकल्पस्तत्प्रमाणताहेतुर्न सर्व इति चेन्नान्योन्याश्रयप्रसंगात् । तथाहि–सिद्धे स्वलक्षणदर्शनप्रभवत्वे विकल्पस्य ततस्तद्दर्शनप्रमाणतासिद्धिः तत्सिद्धौ च स्वस्य स्वलक्षणदर्शनप्रभवत्वसिद्धिरिति नान्यतरस्यापि तयोर्व्यवस्था ।

बौद्ध कहते हैं कि सैकडों अन्टसन्ट वासनाओंसे संशय, विपर्ययरूप अनेक विकल्पज्ञान हो रहे हैं, वे पूर्ववर्ती प्रत्यक्षोंके प्रमाणपनकी व्यवस्था नहीं करा देते हैं। किन्तु स्वलक्षणतत्त्वके

निर्विकल्प प्रत्यक्षसे उत्पन्न हुआ विकल्पज्ञान उस जनकप्रत्यक्षकी प्रमाणताका व्यवस्थापक हेतु है। सर्व ही विकल्पज्ञान न तो प्रत्यक्षोंसे जन्य ही हैं और उन प्रत्यक्षोंकी प्रमाणताकी व्यवस्था भी नहीं कराते हैं। प्रकरणमें वासनाओंकी सहायतासे उत्पन्न हो गया भाव आदिकोंका विकल्पज्ञान भी भाव आदिकोंके प्रत्यक्षज्ञानसे जन्य नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि बौद्धोंके ऊपर अन्योन्याश्रय दोष होनेका प्रसंग आता है। उसीको स्पष्ट कर कहते हैं कि उत्तरकालवर्त्ती विकल्पज्ञानका स्वलक्षणतत्त्वके दर्शनसे उत्पन्न होनापन सिद्ध हो चुकनेपर तो उस विकल्पसे उसके पूर्ववर्ती जनकप्रत्यक्षका प्रमाणपना सिद्ध होय और पूर्ववर्ती उस प्रत्यक्षका प्रमाणपना सिद्ध हो चुकनेपर स्वयं विकल्पज्ञानका स्वलक्षण वस्तुके प्रत्यक्षसे उत्पन्न होनापन सिद्ध होवे। अर्थात् प्रमाणात्मक दर्शनसे उत्पन्न हुआ विकल्पज्ञान ही तो आप बौद्धोंके कथन अनुसार पूर्वप्रत्यक्षकी प्रमाणताको ठहरावेगा। अतः पूर्वके प्रत्यक्षको प्रमाणपना सिद्ध हो जाय तब तो ऐसे प्रमाणरूप दर्शनसे उत्पन्न हुआ विशेषविकल्पज्ञान ही पूर्ववर्त्ती प्रत्यक्षोंकी प्रमाणताको स्थित करावे और पूर्ववर्तीप्रत्यक्षोंकी प्रमाणता स्थित हो चुके, तब कहीं उस प्रमाणसे उत्पन्न हुआ कोई ही विकल्पज्ञान प्रमाणपनका व्यवस्थापक समझा जाय। इस प्रकार उन दोनोंमेंसे किसी एककी भी व्यवस्था न हो सकी।

स्वलक्षणदर्शनप्रभवत्वं नीलादिविकल्पस्य स्वसंवेदनादेव सिद्धं सर्वेषां विकल्पस्य प्रत्यात्मवेद्यत्वात् ततो नान्योन्याश्रय इति चेत्, तर्हि भावाभावोभयादिविकल्पस्याप्यलिंगजस्याशब्दजस्य च भावादिदर्शनप्रभवत्वं स्वसंवेदनादेव कुतो न सिद्ध्येत्? सर्वथा विशेषाभावात्।

यदि बौद्ध यों कहें कि नील आदिके विकल्पज्ञानका स्वलक्षण प्रत्यक्ष करके उत्पन्न हो जानापन तो स्वयम् विकल्पको जाननेवाले स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे ही सिद्ध हो जाता है। क्योंकि सम्पूर्ण जीवोंके हुये विकल्पज्ञानोंका प्रत्येक आत्मामें अपने अपने स्वसंवेदनसे जानने योग्यपना निर्णीत हो रहा है। तिस कारण परस्परश्रय दोष नहीं आता है। भावार्थ—प्रत्यक्षकी प्रमाणतामें विकल्पज्ञानकी आवश्यकता होय और विकल्पकी उत्पत्तिमें प्रत्यक्षप्रमाणकी आवश्यकता होय, तब तो अन्योन्याश्रय दोष हो जाता था। किन्तु जब नील आदिके प्रत्यक्षकी प्रमाणता व्यवस्थापित करनेमें उत्तरवर्ती विकल्पज्ञानको प्रयोजक मान लिया और इस विकल्पज्ञानका नीलरूप स्वलक्षणके दर्शनसे उत्पन्न होनापन तो इसके उत्तरवर्ती स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे जान लिया जायगा, तब अन्योन्याश्रय दोष नहीं लगता है। यही जैनोंने व्यवस्था की है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम स्याद्वादी कहेंगे कि भाव १ (अस्तित्व) अभाव २ (नास्तित्व) उभय ३ (अस्तिनास्ति) आदि सात धर्मोंको जाननेवाले विकल्पज्ञानका भी जो कि लिङ्गसे जन्यज्ञान नहीं है और जो विकल्पज्ञान शब्दसे भी जन्य नहीं

है, उसका भी भाव आदिके दर्शनसे उत्पन्न होनापन स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे ही क्यों नहीं सिद्ध हो जावेगा ? सभी प्रकारोंसे कोई विशेषता नहीं है। ऐसी दशामें स्वसंवेदन प्रत्यक्षके अनुसार भाव आदिका प्रत्यक्ष होना बौद्धोंको प्राप्त हो गया।

तदयं नीलाद्यर्थं पारमार्थिकमिच्छन्भावाद्यवितथोपगंतुमर्हत्येवेति तदनुमाने सप्तहेतवः स्युः। यतश्चैवं कृत्तिकोदयादेः कथंचित्प्रतीत्यतिक्रमेण स्वभावहेतुत्वं ब्रुवतः सर्वः स्वभावहेतुः स्यादेक एव। संबंधभेदात्तद्भेदं साधयतः सामान्यतो विशेषतश्च स्वेष्टलिंगसंख्याक्षतिः। विषयभेदाच्च तद्भेदमिच्छतः सप्तविधो हेतुरर्थस्यास्तित्वादिसप्तरूपतयानुमेयत्वोपपत्तेः।

तिस कारण नील आदि अर्थोंको वस्तुभूत चाहता हुआ यह बौद्ध भाव आदिक सात धर्मोंको सत्यार्थरूप स्वीकार करनेके लिये योग्य हो जाता ही है। इस प्रकार उन सात धर्मोंके अनुमान करानेमें विशेषरूपसे सात हेतु हो जावेंगे। जिस कारण कि इस प्रकार प्रतीतिका अतिक्रमण करके आकाशको पक्ष गढकर कृत्तिकोदय, भरण्युदय, आदिको स्वभावहेतुपना कह रहे बौद्धोंके यहां यों तो सभी ज्ञापक हेतु स्वभाव हेतु हो जावेंगे, तब तो हेतुका भेद एक स्वभाव नामका ही मान लेना चाहिये। यदि जन्यजनकसंबंध और तादात्म्यसंबंध तथा प्रतियोगित्वसंबंधके भेदसे उस ज्ञापक हेतुके कार्य, स्वभाव, अनुपलब्धि, इन तीन भेदोंकी सिद्धि करोगे तब तो सामान्य और विशेषरूपसे स्वयम् इष्ट की गयी हेतुसंख्याकी क्षति उठानी पडेगी। क्योंकि छत्र आदि कारण हेतुओंमें तथा व्याप्य, पूर्वचर, सहचर, भावसाधक अनुपलब्धि, अभावसाधक उपलब्धि आदि हेतुके भेदोंमें भी जनकजन्यसंबंध, व्याप्यव्यापकसंबंध, पूर्वोत्तरकालसंबंध, आदि संबंधोंके भेद होनेसे यों अनेक हेतु बन जावेंगे। तथा विषयोंके भेदसे उस हेतुके भेदोंको इष्ट कर रहे बौद्धके यहां सात प्रकारका हेतु सिद्ध हो जावेगा। क्योंकि अस्तित्व आदिक सात धर्मरूप करके अर्थका अनुमेयपना बन रहा है।

तस्मात्प्रतीतिमाश्रित्य हेतुं गमकमिच्छता।
पक्षधर्मत्वशून्योस्तु गमकः कृत्तिकोदयः॥ १५७॥

तिस कारण प्रमाणोंसे प्रसिद्ध हो रही प्रतीतिका आश्रय कर हेतुको ज्ञापकपना चाहनेवाले बौद्धोंकरके पक्षमें वृत्तिपनसे रहित होता हुआ भी कृत्तिकोदय हेतु उत्तरकालमें होनेवाले शकटोदय साध्यका या पूर्वकालमें हो चुके भरण्युदय साध्यका ज्ञापक हो जाओ। अतः हेतुका पक्षमें वृत्तिपना लक्षण ठीक नहीं है। अव्याप्ति दोष हुआ। तभी तो हमने एकसौ तीसवीं " उदेष्यति मुहूर्तान्ते " इस वार्तिकमें ठीक कह दिया था।

पल्वलोदकनैर्मल्यं तदागस्त्युदये स च ।
तत्र हेतुः सुनिर्णीतः पूर्वं शरदि सन्मतः ॥ १५८ ॥

पक्षमें नहीं रहनेवाले अन्य भी कई हेतु सद्धेतु हैं। छोटे सरोवरका जल (पक्ष) निर्मल है (साध्य) अगस्ति नामके ताराका उदय होनेसे (हेतु), इस अनुमानमें अगस्तिका उदय हेतु तो अगस्तिमें रहता है और निर्मलतारूप साध्य पोखराके पानीमें रहता है। पूर्व वर्षोंमें शरद ऋतुके आनेपर उस समय साध्यके साथ नियतरूपसे वहां हेतु रहता हुआ भले प्रकार निर्णीत हो रहा मान लिया गया है।

चंद्रादौ जलचंद्रादि सोपि तत्र तथाविधः ।
छायादिपादपादौ च सोपि तत्र कदाचन ॥ १५९ ॥

तिस ही प्रकारके जलमें प्रतिबिंबित हो रहे चन्द्र आदिक भी आकाशमें स्थित हो रहे सूर्य, चन्द्रमा, आदिके उपराग (ग्रहण) कलाहीनता, आदिका अनुमान करनेमें गमक हो रहे हैं। उनका भी पहिले अविनाभाव संबंध वहां जाना जा चुका है। तथा वृक्ष, जल, आदिको साधनेमें छाया, शीतलता आदि हेतु पक्षमें वृत्ति न होते हुये भी गमक माने गये हैं। वहां कभी न कभी उन हेतुओंका अपने साध्यके साथ संबंध भी जाना जा चुका है।

पर्णकोयं स्वसद्धेतुर्बलादाहेति दूरगे ।
कार्यकारणभावस्याभावेपि सहभाविता ॥ १६० ॥

यह वटका वृक्ष है या ढाकका पेड है, इस प्रकार उनके पत्तोंको देखकर दूरमें प्राप्त हुये वृक्षोंमें बलात्कारसे वह हेतु ज्ञान करा लेता है। अत अपने साध्यको सिद्ध करानेमें सद्धेतु कहा गया है। यहां दूरमें सूखे पडे हुये पत्ते और वृक्षका वर्त्तमानमें कार्यकारणभाव संबंध न होते हुये भी सहभावीपना ग्रहण कर लिया जाता है। यह हेतु भी अपने पक्षमें नहीं रहता है।

पित्रोर्ब्राह्मणता पुत्रब्राह्मण्येऽपक्षधर्मकः ।
सिद्धो हेतुरतो नायं पक्षधर्मत्वलक्षणः ॥ १६१ ॥

यह लडका (पक्ष) ब्राह्मण है (साध्य) क्योंकि इसके माता पिता ब्राह्मण हैं (हेतु)। माता पिताका ब्राह्मणपना माता पितामें है और पक्षकोटिमें पुत्र पडा हुआ है। अत पक्षमें वर्तनेवाला धर्म नहीं होता हुआ भी यह हेतु सिद्ध है। इस कारण यह पक्षमें वर्तना हेतुका निर्दोष लक्षण नहीं है।

नन्वाकाशकालादेर्धर्मित्वे भविष्यच्छकटोदयपल्वलोदकनैर्मल्यादेः साध्यत्वे कृत्तिकोदयत्वागस्त्युदयादेर्हेतुत्वे पक्षधर्मत्वयुक्तस्यैव हेतुत्वमतो नापक्षधर्मत्वलक्षणो हेतुः कश्चिदिति चेत्, किमेवं चाक्षुषत्वादिः शद्वानित्यत्वहेतुर्न स्यात् ? न हि जगतो वाऽधर्मश्चाक्षुषत्वं महानसधूमः पक्षधर्मः । तथाहि—शद्वानित्ययोगि जगच्चाक्षुषत्वयोगित्वात् महोदधि जगत् महानसधूमयोगित्वादिति कथं न चाक्षुषत्वं शद्वानित्यत्वं साधयेत् महानसधूमो वा महोदधौ वह्निं ।

बौद्ध अवधारण करते हैं कि आकाश या काल अथवा देश, जगत्, आदिको धर्मी (पक्ष) मान लेनेपर और भविष्यमें होनेवाले रोहिणी उदय या वर्त्तमानमें हो रही पोखरके पानीकी निर्मलता आदिको साध्य बनानेपर तथा कृत्तिकोदयपना, अगस्त्य ताराका उदय, आदिकको हेतु करनेपर तो पक्षमें वृत्तिपनरूप लक्षणसे युक्त हो रहे हीको हेतुपना सिद्ध हुआ । इस कारण कोई भी हेतु पक्षवृत्तिपन लक्षणसे रहित नहीं है । अव्याप्ति दोष टल गया अर्थात् आकाशमें रोहिणीका उदय होवेगा । क्योंकि अत्र कृत्तिकाका उदय हो रहा है । अथवा इस कालमें चन्द्रमाका उदय है । अतः समुद्रजलकी वृद्धि इस समय अवश्य हो रही है । इस वनप्रदेशमें कहीं न कहीं ढाक वृक्ष है । क्योंकि इस स्थलपर ढाक वृक्षके सूखे पत्ते उडते हुये दीख रहे हैं । जगत्में यह लडका ब्राह्मण है । क्योंकि जगत्में इसके माता पिता ब्राह्मण थे । इस ढंगसे सभी अनुमानोंमें योग्य आकाश आदिको पक्षकल्पित कर उनमें हेतुकी वृत्ति बन जावेगी । इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम स्याद्वादी कहते हैं कि यों तो चाक्षुषपना, या स्पर्शन इन्द्रियजन्यज्ञानका गोचरपना आदि भी शद्वको अनित्यपना साधनेके हेतु क्यों न हो जावें ? सिद्धान्तमें पक्षमें न रहनेके कारण चाक्षुषत्व आदि हेतु असिद्ध हेत्वाभास माने गये हैं । किन्तु जगत्को पक्ष बनाकर यह हेतु पक्षमें ठहर जाता है । अथवा रसोई घरका धुआ हेतु भी समुद्रके महत्त्वको सिद्ध कर देवे, रसोई घरका धुआ यद्यपि रसोई घरमें रहता है, किन्तु जगत्को पक्ष बनाकर और महान् समुद्रपनको साध्य बनाकर महानसधूमकी पक्षवृत्तिता घटित हो जाती है, तब तो जगत्का धर्म चाक्षुषत्व होता हुआ भी शद्वके अनित्यत्वको किसी प्रकार सिद्ध कर देवे । अथवा रसोई घरका धुआं हेतु महासमुद्ररूप पक्षमें अग्निको साध देवे, तुम्हारे विचार अनुसार कोई रोकनेवाला नहीं है । जगत्का धर्म चाक्षुषपना नहीं है । यह नहीं समझना अर्थात् जगत् (घटरूप आदिक) का धर्म चाक्षुषत्व है ही । अथवा रसोई घरका धुआ भी जगत्‌रूप पक्षका धर्म है । तिसी बातको दिखलाते हैं कि जगत् (पक्ष) शद्वके अनित्यपनको धारनेवाला है (साध्य) । क्योंकि नेत्र इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षके विषयपनको धारनेवाला होनेसे (हेतु) दूसरा अनुमान यों है कि महान् बडवानलको धारनेवाले समुद्रसे सहित जगत् (पक्ष) अग्निमान् है (साध्य) रसोई घरके धुआका सम्बन्धी होनेसे । इस प्रकार चाक्षुषपना हेतु क्यों नहीं

शद्बके अनित्यपनेको साध देवेगा अथवा रसोई घरका धुआ हेतु महासमुद्रमें अग्निको क्यों नहीं साध देवेगा ? जगत्को पक्ष बनाकर पक्षमें वृत्तिपना हेतुका लक्षण तो घट गया है ।

तथान्वयासंभवादिति चेत् कृत्तिकोदयादेः कुतोन्वयसंभवः पूर्वोपलब्धाकाशादेर्दृष्टान्तस्य सद्भावादन्वयः सिद्ध्यतीति चेत्, पूर्वोपलब्धजगतो दृष्टांतस्य सिद्धेश्चाक्षुषत्वयोगित्वादेरन्वयोस्तु विशेषाभावात् तथाप्यस्याविनाभावासंभवादगमकत्वे विनाभावस्वभावमेव पक्ष धर्मत्वं गमकत्वांगं लिंगस्य लक्षणं ।

बौद्ध कहते हैं कि तिस प्रकार चाक्षुषत्वका शद्बके अनित्यत्वके साथ अन्वय नहीं बना है । और महानस धूमका समुद्रकी अग्निके साथ अन्वय असम्भव है । अतः हेतुका पहिला रूप पक्षवृत्तिपना होते हुये भी दूसरा रूप सपक्षवृत्तिपना नहीं घटित होनेसे वे समीचीन हेतु नहीं हैं । इस प्रकार कहनेपर तो हम बौद्धोंसे पूछते हैं कि कृत्तिकोदय आदिको आकाशरूप पक्षमें धरकर आप बौद्धोंने कैसे अन्वयका सम्भवना मान लिया है ? बताओ । इसपर तुम यदि यों कहो कि हेतु और साध्यसे सहित होते हुये पहिले देखे जाचुके आकाश आदिक दृष्टान्त विद्यमान हैं । अत कृत्तिकोदयका शकटोदयके साथ अन्वयसिद्ध हो जाता है । इस प्रकार कहनेपर तो हम भी आपादन करते हैं कि चाक्षुषत्व, शद्बानित्यत्व, आदिसे सहित होकर पहिले जान लिये गये जगत्को दृष्टान्तपना सिद्ध होनेसे चाक्षुषत्वयोगीपन, महानसधूमसे सहितपन, आदि हेतुओंका भी अन्वय बनजाओ । कोई विशेषता नहीं है । तैसा होनेपर भी यदि अविनाभावका असम्भव हो जानेसे इन चाक्षुषत्व, महानस धूम आदिको शद्बके अनित्यत्व या समुद्रमें अग्निरूप साध्योंका साधकपना नहीं है, ऐसा मानोगे तब तो अविनाभावस्वरूप ही पक्षवृत्तित्व सिद्ध हुआ और वह अन्यथानुपपत्ति ही हेतुके ज्ञापकपनका अङ्ग होता हुआ निर्दोष लक्षण है । त्रैरूप्य लक्षण नहीं है । यह जैनसिद्धान्त प्राप्त हो गया।

तथा च न धर्मधर्मिसमुदायः पक्षो नापि तत्तद्धर्मी तद्धर्मत्वस्याविनाभावस्वभावत्वाभावात् । किं तर्हि, साध्य एव पक्ष इति प्रतिपत्तव्यं तद्धर्मत्वस्यैवाविनाभावित्वनियमादित्युच्यते ।

और तिस प्रकार होनेपर धर्म और धर्मीका समुदायरूप पक्ष नहीं बनता है । यानी साध्यरूपी धर्म और साध्यवान् पर्वत आदि धर्मीका समुदाय होता हुआ पक्ष (प्रतिज्ञा) सिद्ध नहीं हुआ तथा उस उस हेतु और साध्यसे विशिष्ट होता हुआ धर्मी भी पक्ष नहीं है । क्योंकि उस पक्षमें वृत्ति रहनेवालेपनको अविनाभाव स्वभावपना नहीं है । भावार्थ—जो पक्षमें वृत्ति है वही अविनाभाव सहित है, ऐसा नियम नहीं रहा । तो पक्ष क्या है ? ऐसा प्रश्न होनेपर हम जैन उत्तर देते हैं कि अन्यथानुपपत्तिरूप हेतुसे साधने योग्य शक्य, अभिप्रेत, अप्रसिद्धरूप साध्य ही पक्ष है । इस प्रकार समझ लेना चाहिये । ऐसे उस पक्षका धर्मपना ही अविनाभावीपनरूप नियम हो सकता है । इसी बातका ग्रन्थकारद्वारा स्पष्ट निरूपण किया जाता है ।

साध्यः पक्षस्तु नः सिद्धस्तद्धर्मो हेतुरित्यपि ।
तादृक्षपक्षधर्मत्वसाधनाभाव एव वै ॥ १६२ ॥

हम स्याद्वादियोंके यहां तो प्रयोगकालमें साधने योग्य जो साध्य है, वही पक्ष माना गया है। और उस साध्यका धर्म तो हेतु है, यह भी हमें अभीष्ट है, ऐसा होनेपर बौद्धोंके तिस प्रकार माने गये हेतुके पक्षवृत्तित्वरूप साधनेका निश्चयसे अभाव ही हुआ अर्थात् एकान्तरूपसे साध्यवान्को पक्ष मानकर उसमें रहनापन हेतुका रूप नहीं है।

कथं पुनः साध्यस्य धर्मस्य धर्मो हेतुस्तस्य धर्मित्वप्रसंगादिति चेत् न, तेनाविनाभावात्तस्य धर्म इत्यभिधानात्। न हि साध्याधिकरणत्वात्साध्यधर्मः हेतुर्येन साध्यधर्मो धर्मी स्यात्। ततः साध्याविनाभावी हेतुः पक्षधर्म इति स्याद्वादिनामेव पक्षधर्मत्वं हेतोर्लक्षणमविरुद्धं स्पष्टमविनाभावित्वस्यैव तथाभिधानात्। तच्च कृत्तिकोदयादिषु साध्यधर्मिण्यसत्स्वपि यथा प्रतीतिर्विद्यत एवेति किमाकाशादिधर्मिपरिकल्पनया प्रतीत्यतिलंघनापरयातिप्रसंगिन्या।

बौद्ध प्रश्न करते हैं कि साध्य तो स्वयं धर्म है। उस धर्मका धर्म भला फिर हेतु कैसे हो सकता है ? क्योंकि यों तो उस साध्यको धर्मीपनका प्रसंग हो जायगा। धर्मीके ही धर्म हुआ करते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उस साध्यके साथ हेतुका अविनाभाव होनेसे उस साध्यका धर्म हेतु है, ऐसा कह दिया जाता है। जलका घडा, अमरूदका पेड, दूधका लोटा, जोडीका एक घोडा, इस खडाम्की दूसरी खडाम् इत्यादि स्थलोंपर अनेक ढंगसे धर्मीधर्मव्यवस्था हो रही है। संयोगसंबंधसे पर्वतमें अग्नि रहती है। किन्तु निष्ठत्व संबंधसे अग्निमें पर्वत रह जाता है। तथा विषयता संबंध (स्वनिष्ठविषयितानिरूपितविषयता) से अर्थमें ज्ञान निवास करता है। किन्तु विषयिता संबंध (स्वनिष्ठविषयतानिरूपितविषयिता) से ज्ञानमें अर्थ ठहर जाता है। जन्यत्व संबंधसे बेटेका बाप है। और जनकत्व संबंधसे बापका बेटा है। समवाय संबंधसे डालियोंमें वृक्ष है। और समवेतत्वसंबंधसे वृक्षमें डालिया हैं। इसी प्रकार अविनाभाव संबंधसे साध्यमें हेतु रहता हुआ साध्यका धर्म हो जाता है। साध्यको संयोग संबंधसे अधिकरण बनाकर उसमें रहनेवाला हेतु ही साध्य धर्म बने यह कोई नियम नहीं है। जिससे कि साध्यरूपी धर्म पुनः धर्मी बन जाय, तिस कारण साध्यके साथ अविनाभाव रखनेवाला हेतु ही साध्यरूप पक्षका धर्म है। ऐसी विवक्षा होनेपर स्याद्वादियोंके यहां ही पक्षमें वृत्तिपना हेतुका लक्षण विरोधरहित सिद्ध हुआ स्पष्टरूपसे अविनाभावीपनका ही तिस प्रकार पक्षवृत्तित्व करके कथन किया गया है। और वैसा पक्षवृत्तिपना तो साध्यधर्मवाले अधिकरणमें नहीं वर्तरहे भी कृत्तिकोदय, माता पिताका ब्राह्मणपना, अधोदेशमें नदीका पूर देखना, आदि हेतुओंमें भी प्रतीतिके अनुसार

विद्यमान ही है। ऐसी दशामें आकाश, काल, आदिको पूरा बुद्धि बल लगाकर धर्मीपनकी कल्पना करनेसे क्या लाभ निकला? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ। जैसे कोई कोई पौराणिक पुरुष जगत्का आधार गौ, कछवा, शेषनागको मानकर भी पुनः आधारान्तरकी जिज्ञासाको शान्त नहीं करा सकते हैं। निश्चयनयसे पदार्थोंका स्वप्रतिष्ठ रहना मानना ही सतोषप्रद है। इसी प्रकार कृत्तिकोदयके लिये आकाश आदिकी कल्पना भी प्रतीतिका उल्लंघन करनेमें तत्पर हो रही है। और वह कल्पना अतिप्रसंग दोषसे युक्त भी है, यानी यों तो चाक्षुषत्व आदि हेतु भी शब्दके अनित्यत्व आदिको साध देंगे जो कि इष्ट नहीं हैं।

तथा च न परपरिकल्पितं पक्षधर्मत्वं हेतोर्लक्षणं नाप्यन्वय इत्यभिधीयते।

और तिस प्रकार होनेपर दूसरे प्रतिवादी विद्वान् बौद्धों करके सभी हेतुओंके लिये गढ लिया गया पक्षवृत्तित्व तो हेतुका लक्षण नहीं सिद्ध हुआ तथा बौद्धोंसे माना गया हेतुका दूसरा स्वरूप अन्वय भी हेतुका निर्दोष लक्षण नहीं है। अर्थात् सपक्षमें वर्त्तना यह रूप भी समीचीन नहीं है। इसी बातको कहा जाता है।

निःशेषं सात्मकं जीवच्छरीरं परणामिना।
पुंसा प्राणादिमत्त्वस्य त्वन्यथानुपपत्तितः॥ १६३॥
सपक्षसत्त्वशून्यस्य हेतोरस्य समर्थनात्।
नूनं निश्चीयते सद्भिर्नान्वयो हेतुलक्षणम्॥ १६४॥

जीवित पुरुषोंके सम्पूर्ण शरीर (पक्ष) उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप परिणाम करनेवाले पुरुष करके आत्मासहित हो रहे हैं (साध्य)। क्योंकि श्वास, उच्छ्वास, नाडीगति, उष्णस्पर्श, आदिसे सहितपना तो अन्यथा यानी आत्मसहितपनेके बिना नहीं सिद्ध हो पाता है (हेतु)। जो जो सात्मक नहीं है, वह प्राण आदिसे युक्त नहीं है, जैसे कि डेल, घट, पट, आदिक (व्यतिरेक दृष्टान्त) हैं। जो जो प्राणादिमान् हैं, वे वे सात्मक हैं, ऐसा अन्वय दृष्टान्त यहां नहीं मिलता है। क्योंकि सभी जीवित शरीरोंको पक्ष बना रक्खा है। पक्षसे बहिर्भूत सपक्ष होना चाहिये। बौद्ध लोग पक्षके भीतर अन्तर्व्याप्ति करके सपक्ष बना लेना इष्ट नहीं करते हैं। अतः सपक्ष सत्त्वसे रहित भी इस प्राणादिमत्त्व हेतुका समर्थन करनेसे सज्जन पुरुषों करके यह अवश्य निश्चित कर लिया जाता है कि हेतुका लक्षण अन्वय यानी "सपक्षमें वर्तना" नहीं है।

न चादर्शनमात्रेण व्यतिरेकः प्रसाध्यते।
येन संशयहेतुत्वं रागादौ वक्तृतादिवत्॥ १६५॥

आत्माभावो हि भस्मादौ तत्कार्यस्यासमीक्षणात् ।
सिद्धः प्राणाद्यभावश्च व्यतिरेकविनिश्चयः ॥ १६६ ॥
वाक्क्रियाकारभेदादेरत्यंताभावनिश्चितः ।
निवृत्तिर्निश्चिता तज्ज्ञैः चिंताव्यावृत्तिसाधनी ॥ १६७ ॥

बौद्ध यदि यों कहें कि तुम तो लोष्ठ आदिकमें आत्माका केवल नहीं दीखना होनेसे व्यतिरेकको साधते हो, संभव है, लोष्ठमें भी आत्मा विद्यमान होय जो कि तुमको नहीं दीख सके, इसपर हमारा कहना है कि हम कोरे नहीं दीखनेसे ही किसीका अभाव नहीं कर देते हैं, जिससे कि हेतु संदिग्ध व्यभिचारी हो जाय, जैसे कि बुद्धमें राग, द्वेष आदिकी सिद्धि करनेपर वक्तापन, पुरुषपन, आदिक हेतु संदिग्ध व्यभिचारी हो जाते हैं। अर्थात् बुद्ध (पक्ष) रागादिमान् है, (साध्य)। १ वक्ता होनेसे २ पुरुष होनेसे (हेतु) यहां वक्ता या पुरुषके होनेपर भी वीतरागपना सम्भव है। अतः रागादिकको साधनेमें वक्तापन हेतु संदिग्ध व्यभिचारी हुआ। सो ऐसा प्राणादिमत्त्व हेतु नहीं है। उस आत्माके कर्त्तव्य ज्ञान, सुख, बोलना, चलना, आदि कार्योंका भस्म, डेल, चटाई आदिमें अभाव भले प्रकार देखा जा रहा है। अतः प्राण आदिका अभाव सिद्ध किया है। इस प्रकार साध्यके नहीं होनेपर हेतुका नहीं रहनारूप व्यतिरेकका विशेषता करके निश्चय किया गया है। आत्माके वचन, क्रिया, आकार, भोग, चेष्टा, आदि विशेषोंका भस्म आदिमें अत्यन्ताभाव निश्चित हो रहा है। इस कारण उस आत्मतत्त्वको जाननेवाले विद्वानों करके भस्म आदिमें आत्माके साथ प्राणादिकी निवृत्ति निश्चित कर दी गई है। व्यतिरेक व्याप्तिको जाननेवाला व्याप्तिज्ञान साध्य और साधनकी व्यावृत्तिको साध देता है।

सर्वकार्यासमर्थस्य चेतनस्य निवर्तनं ।
ततश्चेत्केन साध्येत कूटस्थस्य निषेधनम् ॥ १६८ ॥

कोई वादी यदि यों कहे कि उस वचन, क्रिया, आकार, आदि विशेषोंके अभावसे भस्म आदिमें आप जैन उसी चैतन्यका निषेध कर सकते हैं, जो कि वचन आदिके बनानेमें समर्थ था, किन्तु गुप्तचैतन्यका निषेध नहीं कर सकते हो। इस प्रकार भस्म, डेल, आदिमें भी छिपे हुये चैतन्यको माननेवाले वादियोंके कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि यों फिर कूटस्थपनेका निषेध करना किस करके साधा जायगा ? बताओ। भावार्थ—यों तो सर्वत्र संपूर्ण पदार्थोंकी सत्ता मानी जासकती है। आकाशमें रूप और पुद्गलमें ज्ञान तथा परिणामी पदार्थमें कूटस्थपना भी प्रच्छन्न रूपसे रह जायगा एवं जीवितपुरुषका और मृतपुरुषका विवेक नहीं हो पायगा। मृतशरीरका अग्निसंस्कार करनेवाले कुटुम्बियोंको महापातकीपनेका प्रसंग हो जायगा। इस प्रकार प्रेमी जनोंके

बनाये हुये भोजनमें विषकी सत्ता मानकर या संदेह कर प्रवृत्ति करनेवाले संशय एकान्तवादियोंके समान इस विद्वान्को भी कहीं कल नहीं पडेगी। " संशयात्मा विनश्यति " बैठने, उठने, खाने, पीने आदि सभीमें कठिनाई उपस्थित हो जायगी।

यथा हि सर्वकारणासमर्थं चैतन्यं कार्याभावाद्भस्मादौ निषेद्धुमशक्यं तथा कूटस्थमपि क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्।

जिस ही प्रकार संपूर्ण कार्योंके करनेमें असमर्थ हो रहे चैतन्यका भस्म आदिमें कोई कार्य नहीं दीखनेके कारण निषेध करनेके लिये अशक्यता प्रगट करोगे अथवा भस्म, मृतशरीर आदिमें वचन, श्वास, आदि कार्योंको करनेवाले चैतन्यका अभाव है। किन्तु सभी कार्योंके करनेमें असमर्थ हो रहे चैतन्यका निषेध नहीं किया जा सकता है। यदि बौद्ध यों मानोगे तब तो उसी प्रकार कूटस्थपनका भी भस्म, आत्मा, शब्द आदिकमें क्रम और युगपत् (एक साथ) पनेसे अर्थक्रियाका विरोध हो जानेके कारण निषेध नहीं कर सकोगे। अर्थात्—ब्रह्माद्वैतवादियोंके समान यदि बौद्ध भी भस्म (राख) में चैतन्य मानने लगेंगे तो उन्हींके समान कूटस्थपना भी हो जायगा। ऐसी दशामें खेतमें प्राप्त हुई भस्म अब खात होकर करब, नाजरूपपर्यायोंको नहीं धारण कर सकेगी। दूसरे नित्यवादियोंका अनुकरण करनेसे बौद्धोंके यहां क्षणिकपनकी रक्षा कैसे होगी ?

क्षणिकत्वेन न व्याप्तं सत्त्वमेवं प्रसिद्ध्यति।
संदिग्धव्यतिरेकाच्च ततोऽसिद्धिः क्षणक्षये॥ १६९॥

इस प्रकार कूटस्थ हो जानेपर सत्त्व हेतु क्षणिकपनके साथ व्याप्त हो रहा नहीं प्रसिद्ध होता है। क्योंकि यहां व्यतिरेकका संदेह हो गया है। क्षणिकत्वरूप साध्यके अभाव होनेपर भी कूटस्थ नित्यमें सत्त्वहेतुका ठहर जाना सम्भव रहा है। तिस कारण बौद्धोंके यहां पदार्थोंके क्षणिकपनकी सिद्धि होनेका अभाव हुआ।

चेतनाचेतनार्थानां विभागश्च न सिद्ध्यति।
चित्तसंताननानात्वं निजसंतान एव वा॥ १७०॥

दूसरी बात यह है कि इस ढंगसे बौद्धोंके यहां चेतन और अचेतन अर्थोंका विभाग करना नहीं सिद्ध होता है। क्योंकि अचेतन पदार्थोंमें भी चैतन्यका सद्भाव आपने मान लिया है। चेतनोंमें भी अचेतनपन संभव जायगा तथा विज्ञानरूप चित्तोंकी अनेक संतानें नहीं बन सकेंगी। क्योंकि जिनदत्तके पहिले पीछेके ज्ञान परिणामोंमें भी इन्द्रदत्तके ज्ञान परिणाम भी अन्तःप्रविष्ट हो रहे मानलिये जा सकेंगे अथवा अपना निजका कोई संतान ही नहीं बन सकेगा। सर्वत्र अन्य संतानोंके संतानी परिणाम घुस पडेंगे।

न वेद्यवेदकाकारविवेकोतः स्वसंविदः।
सर्वकार्येष्वशक्तस्य सत्त्वसंभवभाषणे ॥ १७१ ॥

अपने उचित सभी कार्योंमें अशक्त हो रहे पदार्थका चाहे कहीं सद्भाव बखानते हुये आप बौद्ध प्रकट हो रहे सम्पूर्ण कार्योंके करनेमें असमर्थ ऐसे गुप्तचैतन्यकी सत्ताका यदि भस्म आदिमें सम्भवना कहते रहोगे तो बौद्धोंके यहां स्वसंवेदनज्ञानका इस वेद्याकार और वेदकाकारसे पृथग्भाव नहीं सिद्ध हो सकेगा। भावार्थ—विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध सर्वत्र ज्ञानका सद्भाव मानेंगे, तब तो ज्ञानमें एक दूसरेकी अपेक्षासे वेद्यवेदकपना (विचिर् विचारणे) प्राप्त हो जायगा। शुद्ध ज्ञानाद्वैतवादी वैभाषिक स्वसंवेदनमें वेद्य, वेदक, वित्ति, अंशोंका पृथक्भाव (विच्लृच पृथग्भावे) मानोगे तो भी शुद्धज्ञानकी व्यवस्था नहीं हो सकेगी। क्योंकि वेद्य आदि अंश भी वहां गुप्तरूपसे सम्भव हो सकेंगे।

न संति चेतनेष्वचेतनार्थास्तद्वेदनादिकार्यासत्त्वात्। तथा च न संत्यचेतनार्थेषु चेतनार्थास्तत एवेति चेतनाचेतनविभागो न सिद्ध्यत्येव सर्वकार्यकरणासमर्थानां तेषां तत्र निषेध्दुमशक्तेः।

चेतनपदार्थोंमें अचेतनपदार्थ नहीं हैं। क्योंकि उनके वेदन, सुख, दुःख अनुभव आदि कार्य वहां अचेतनोंमें नहीं पाये जाते हैं। तिस ही प्रकार अचेतन अर्थोंमें चेतनपदार्थ भी नहीं हैं। क्योंकि तिस ही कारण उनके न्यारे न्यारे कार्य परस्परमें नहीं देखे जाते हैं। इस प्रकार हो रहा चेतन और अचेतन पदार्थोंका विभाग तो बौद्धोंके यहां सिद्ध ही नहीं हो पाता है। क्योंकि सम्पूर्ण कार्योंके करनेमें असमर्थ हो रहे उन चैतन्योंका उन अर्थोंमें निषेध करनेके लिये अशक्ति है।

चेतनार्था एव संतु तथा विज्ञानवादावताराज्जडस्य प्रतिभासायोगादिति चेन्न, तथा विज्ञानसंतानानां नानात्वाप्रसिद्धेः। कचिच्चित्तसंताने तेषां संतानांतराणां सर्व कार्यकरणासमर्थानां स्वकार्यासत्त्वेपि सत्त्वाविरोधात्।

विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध कहते हैं कि जगत्भरमें चेतन अर्थ ही रहे कोई भी पदार्थ अचेतन नहीं है। क्योंकि तिस प्रकार सर्वत्र विज्ञानवादका अवतार हो रहा है। जड पदार्थका तो प्रतिभास होना अयुक्त है। घटः प्रतिभासते, घट प्रतिभास रहा है, इस प्रयोगके अनुसार घटमें प्रतिभासरूप ज्ञानकी अधिकरणता पायी जाती है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना चाहिये। क्योंकि तिस प्रकार माननेपर बौद्धोंके यहां विज्ञानकी संतानोंका अनेकपना प्रसिद्ध नहीं हो सकेगा। किसी प्रकृत एक संतानमें सम्पूर्ण दृश्यमान कार्योंके करनेमें असमर्थ हो रहे अन्य संतानोंके निजका कोई कार्य न होते हुये भी उनके सद्भावका कोई विरोध नहीं है। तुम्हारे विचार अनुसार सर्वत्र सबका सद्भाव सम्भवनीय है।

माभूत्संतानान्तरसिद्धिस्तथेष्टेरिति चेन्न, निजसंतानस्याप्यसिद्धिप्रसंगात् ।

वैभाषिक बौद्ध कहते हैं कि जिनदत्तके पूर्व अपर होनेवाले क्षणिक, निरन्वय, परिणामोंकी लडीरूप संतान और देवदत्तके आगे पीछे कालमें होनेवाले क्षणिक संतानियोंकी एकमालारूप संतान, इसी प्रकार अन्य भी इन्द्रदत्त, महावीरप्रसाद आदिकी अन्य न्यारी न्यारी संतानोंकी सिद्धि भले ही मत होवे, तिस प्रकार हमको स्वयं इष्ट है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि यों तो बौद्धोंके यहां अपने निजके पूर्व अपरकालमें वर्त्तनेवाले परिणामोंकी एक संतान बननेकी असिद्धिका प्रसंग होगा, यानी अपनी निजकी सन्तान भी नहीं सध सकेगी।

वर्त्तमानचित्तक्षणे संवेद्यमाने पूर्वोत्तरचित्तक्षणानामनुभवमात्रमप्यकुर्वतां प्रतिषेद्धुमशक्यत्वादेकचित्तक्षणात्मकत्वापत्तेः। न चैकः क्षणः संतानो नाम।

वर्त्तमान कालके एक चित्तक्षणका संवेदन किया गया माननेपर अन्य भूत और भविष्यकालमें हो गये या होनेवाले चित्तक्षणोंका निषेध करनेके लिये अशक्यता है। भले ही वे अपना केवल अनुभव भी नहीं करा रहे हों। फिर भी बौद्धोंके विचार अनुसार उनका गुप्त सद्भाव माना जा सकता है। ऐसी दशामें पहिले पीछे कालोंके सभी विज्ञानरूप चित्तक्षणोंको वर्त्तमानकालके एक चित्तक्षणस्वरूप हो जानेका प्रसंग आवेगा। किन्तु एक ही क्षणका क्षणिक परिणाम तो संतान नहीं बन सकता है। एक दानेकी माला या एक ही सिपाहीकी सेना अथवा एक ही वृक्षका वन तो नहीं देखा गया है। तथा भूतभविष्यके परिणाम यदि वर्त्तमानकालमें उपस्थित रहेंगे, तब तो क्षणिकपनका विघात हुआ। अर्थात् जिनदत्त इन्द्रदत्त आदिकी सन्तानें नहीं मानी जायगी, और अपनी भी सन्तान नहीं मानी जायगी, तब तो अपना एक ही वर्तमानक्षणका परिणाम ठहरा जो कि कथमपि सन्तान नहीं हो सकता है। भूतभविष्यके विना वर्तमान कोई पदार्थ नहीं है।

तत एव संवेदनाद्वैतमस्तु उत्तमं ज्ञानाद्वयमिति वचनात्। नेदमपि सिद्ध्यति वेद्यवेदकाकारविवेकस्याव्यवस्थानात्।

शुद्ध विज्ञानाद्वैतवादी कहते हैं कि तिस ही कारण सम्वेदनका केवल अद्वैत हो जाओ। अपने और परके अन्य संतान या संतानियोंके टटे मिट गये, अच्छा ही हुआ। हमारे ग्रन्थोंमें कहा है कि अन्तमें जाकर संवेदनका अद्वय ही उत्तम है। किन्तु यह भी बौद्धोंका कहना सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि वेद्य आकार और ज्ञानके वेदकआकारोंका पृथग्भाव नहीं व्यवस्थित हो पाता है।

संवेदने वेद्यवेदकाकारौ न स्तः स्वयमप्रतिभासनादिति न शक्यं वक्तुमप्रतिभासमानयोः सत्त्वविरोधात्। ततः क्वचित्कस्यचित्प्रतिभासनादेः स्वकार्यस्याभावादभावसाधने भस्मादौ चैतन्यस्य स्वकार्यनिवृत्तिनिश्चयादभावो निश्चेतव्य इति विपक्षे बाधकप्रमाणादेव प्राणादिमत्त्वस्य व्यतिरेकः साध्यते न पुनरदर्शनमात्रेण यतः संशयहेतुत्वं रागादौ वक्तृत्वादेरिव स्यात्।

बौद्ध कहते हैं कि सम्वेदनमें स्वयं जानने योग्य वेद्य आकार और स्वयं जाननेवाला वेदक आकार ये दोनों नहीं हैं। क्योंकि उन आकारोंका स्वयं प्रतिभास नहीं हो रहा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कह सकते हो। क्योंकि जगत्में नहीं प्रतिभास रहे पदार्थोंका सद्भाव कहना विरुद्ध है। तिस कारण कहीं भी शुद्धसंवेदनमें किसी वेद्य आकार या वेदकआकारका भी यदि अपने प्रतिभासना आदि कार्योंके अभाव होनेसे अभाव साधा जायगा तब तो भस्म, डेल, ताला, घडी, आदिमें चैतन्यका अभाव भी अपने निजी कार्योंकी निवृत्ति होनेका निश्चय हो जानेसे निश्चित करलेना चाहिये। इस प्रकार सभी जीवित शरीर (पक्ष) आत्मासहित हैं (साध्य)। प्राण आदि करके विशिष्ट होनेसे। इस अनुमानमें पडे हुये प्राणादिमत्त्व हेतुका डेल आदि विपक्षमें प्राण आदिकी सत्ताके बाध करनेवाले प्रमाणसे ही व्यतिरेक साधा जाता है। फिर केवल किसीके नहीं दीखने मात्रसे ही किसीका हम अभाव नहीं कह देते हैं, जिससे कि बुद्धके राग आदिको साधनेमें वक्तापन, पुरुषपन आदि हेतुओंके समान प्राणादिमत्त्वका हेतुपना संदिग्ध हो जाय अर्थात् केवल नहीं दीखनेसे जैसे परमाणु, पिशाच, पुण्य, पाप, आदिका अभाव नहीं साध दिया जाता है, वैसे ही आत्माका अभाव हमने नहीं साधा है। किन्तु दृढ बाधकप्रमाणसे भूतल आदिमें घट आदिकका अभाव साधा जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं रहता। इसी प्रकार भस्म आदि व्यतिरेक दृष्टान्तमें प्राणादि हेतु और आत्मपना साध्यका अभाव प्रमाणित किया गया है। ग्रन्थकार अब साध्यभूत सात्मकत्वके आत्माको परिणामी माने गयेपनका सूचन करे देते हैं, जो कि " निःशेषं सात्मकं " इस वार्तिकमें कहा जा चुका है।

न चैवमपरिणामिनात्मना सात्मकं जीवच्छरीरस्य सिद्ध्यति। यतः—

इस प्रकार जीवितशरीरको नहीं परिणमन करनेवाले आत्मासे सात्मकपना नैयायिकोंके अनुसार नहीं सिद्ध होता है। अर्थात् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप परिणाम कर रहे आत्मासे सहित जीवित शरीर है। जिस कारणसे कि—

परिणामिनमात्मानमंतरेण क्रमाक्रमौ।
न स्यातां तदभावे च न प्राणादिक्रिया क्वचित् ॥ १७२ ॥

आत्माको परिणामी माने विना क्रम और अक्रम नहीं हो सकेंगे तथा उन क्रम और युगपत्पनाके अभाव हो जानेपर तो प्राण, चेष्टा, सुख, दुःख, सम्वेदन, आदि क्रियायें कहीं भी आत्मामें नहीं बन सकेंगी।

तन्नैकांतात्मना जीवच्छरीरं सात्मकं भवेत्।
निष्कलस्य सहानेकदेशदेहास्तिहानितः ॥ १७३ ॥

तिस कारण एक ही धर्मस्वरूपसे जीवित शरीर आत्मासहित नहीं होगा। क्योंकि कलाओं यानी अंशोंसे रहित हुये आत्माके एक साथ अनेक देशोंमें ठहरनेवाली देहमें विद्यमान रहनेकी हानि हो जावेगी अर्थात् अंशोंसे सहित हो रहे आत्माकरके जीवित शरीर सात्मक है। निरंश आत्मा जब कोई पदार्थ ही नहीं तो भला ऐसे निरंश आत्मासे सहित जीवित शरीर क्यों होने लगा। भावार्थ—जीवितशरीर अपरिणामी एक धर्मवाले आत्मा करके सात्मक नहीं है। सांश आत्माका ही शरीरके भिन्न भिन्न अवयवोंमें नानारूप करके प्रतिभास होता है।

निष्कलः सकृदनेकदेशदेहं व्याप्नोत्यात्मेति कः श्रद्दधीत ? परममहत्त्वाद्व्याप्नोत्येवेति चेद्व्याहतमिदं निरंशः परममहान् चेति परमाणोरपि परममहत्त्वप्रसंगात्। यदि पुनः स्वारंभकावयवाभावान्निरवयवत्वमात्मनो गगनत्वादिवदिति मतं तदा परमतसिद्धिः सर्वथा निरवयवत्वासिद्धेः परमाणुप्रमीयमाणस्वात्मभूतावयवानामात्मनो प्रतिषेधादिति समर्थयिष्यते।

अपने अंशोंसे रहित होता हुआ आत्मा, उन मस्तक, पाद, उदर, आदि अनेक देशोंमें ठहरे हुये शरीरको एक ही बार व्याप्त कर लेता है, इस बातका कौन भला मनुष्य श्रद्धान कर सकेगा ? अर्थात् कोई नहीं। यहां वैशेषिक यदि यों कहें कि सबसे बडे परममहत्त्व नामके परिमाणका धारी होनेसे आत्मा अनेक देशमें ठहर रहे देहको व्याप्त कर ही लेता है। इस प्रकार कहनेपर तो हम प्रतिपादन करते हैं कि यह वैशेषिकोंका कहना पूर्व अपरमें व्याघातदोषसे युक्त है। जो अंशोंसे रहित है, वह सबसे बडे परिमाणवाला है, यह कह नहीं सकते हो। जो निरंश है, वह परम-महापरिमाणवाला नहीं है, और जो महापरिमाणवाला पदार्थ है, वह अंशोंसे रहित नहीं है। वैशेषिकोंका माना हुआ, आत्मा ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, विदेहक्षेत्र, भरत, समुद्र, बम्बई, पंजाब, बंगाल, आदि स्थलोंको न्यारे न्यारे अंशोंसे ही व्याप सकेगा। अन्यथा यानी अंशरहित ही पदार्थ सब देशोंमें व्याप जावे तब तो अंशरहित परमाणुको भी परममहापरिमाणवालेपनका प्रसंग हो जावेगा। ऐसी दशा होनेपर परमाणु भी अनेक देशोंमें ठहर जावेगा। यदि फिर वैशेषिकोंका यह मन्तव्य होय कि अपने बनानेवाले अवयवोंका अभाव हो जानेसे आत्माका अवयवरहितपना है, जैसे कि आकाशको बनानेवाले कोई छोटे अवयव नहीं हैं। अतः आकाश निरवय माना गया है। या आकाशत्वरूप सखण्डोपाधिका कोई आरम्भक अवयव नहीं है। न्यारे न्यारे अनेक व्यक्ति उसके आश्रय नहीं हैं। अतः आकाशत्व धर्म अवयवोंसे रहित है। वैशेषिकोंका ऐसा विचार होगा। तब तो दूसरे सिद्धान्त यानी स्याद्वाद मतकी सिद्धि हो जावेगी, क्योंकि आत्माका सभी प्रकारोंसे अवयवरहितपना सिद्ध नहीं हुआ। परमाणुके बराबर नाप लिये गये और निजके आत्मभूत हो रहे अवयवों (प्रदेशों) का आत्माके कोई निषेध नहीं हैं। भावार्थ—घट, पट, आदिको बनानेवाले कपाल, तंतु, आदि अवयवोंके समान

आत्माको बनानेवाले कोई अवयव नहीं हैं। इस कारण तो आत्मा अवयवरहित है। किन्तु परमाणुके बराबर आकाशप्रदेशोंसे नाप लिये गये स्वकीय अंशोंपर शरीरव्यापी आत्मा तदात्मक होकर तिष्ठ रहा है। अतः आत्मा अवयवोंसे सहित होता हुआ सांश है। इस प्रकरणका भविष्य पाचवें अध्यायमें भले प्रकार युक्तिपूर्वक निरूपण कर दिया जावेगा। इस प्रकार समक्षमें वृत्तिपनारूप अन्वय भी हेतुका लक्षण नहीं हो सका।

अनेकांतात्मकं सर्वं सत्त्वादित्यादि साधनं।
सम्यगन्वयशून्यत्वेप्यविनाभावशक्तितः ॥ १७४ ॥
नित्यानित्यात्मकः शद्धः श्रावणत्वात्कथंचन।
शद्धत्वाद्वान्यथाभावाभावादित्यादिहेतवः ॥ १७५ ॥

सम्पूर्ण पदार्थ (पक्ष) अनेक धर्मोंसे तदात्मक हो रहे हैं (साध्य)। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप सत्तासे सहितपना होनेसे (हेतु) तथा सभी पदार्थ (पक्ष) परिणामी हैं (साध्य)। अर्थक्रियाको करनेवाले होनेसे (हेतु) इत्यादिकहेतु सपक्षवृत्तिपनसे रहित हैं। फिर भी अविनाभाव नामके गुणकी सामर्थ्यसे समीचीन हेतु माने गये हैं। जब सभी पदार्थोंको पक्षकोटिमें डाल दिया है, तो सपक्ष बनानेके लिये कोई पदार्थ शेष नहीं रह जाता है। अतः उक्त हेतु सपक्षमें वृत्ति नहीं हुये। और भी हेतु ऐसे हैं, जो कि सपक्षमें नहीं वर्तते हैं। शद्व (पक्ष) द्रव्यार्थिक नयसे नित्य और पर्यायार्थिकनयसे अनित्यरूप है (साध्य) कान इन्द्रियसे उत्पन्न हुये प्रत्यक्षका विषय होनेसे (हेतु) अथवा शद्व (पक्ष) नित्य अनित्यरूप है (साध्य) शद्वपना होनेसे (हेतु) यद्यपि इन दो अनुमानोंमें घट, पट, आदिक सपक्ष तो हैं। किन्तु उनमें श्रावणत्व और शद्वत्व हेतु नहीं ठहरते हैं। हां, अन्यथाभाव यानी साध्यके नहीं होनेपर हो जानेका अभाव होनेसे श्रावणत्व, शद्वत्व, इत्यादि हेतु भी व्यतिरेककी सामर्थ्यसे सद्धेतु हैं।

हेतोरन्वयवैधुर्ये व्यतिरेको न चेन्न वै।
तेन तस्य विनैवेष्टेः सर्वानित्यत्वसाधने ॥ १७६ ॥

कोई यदि यों कहें कि सपक्षवृत्तिरूप अन्वयके वियोग हो जानेपर अन्यथानुपपत्तिरूप व्यतिरेक भी नहीं बनेगा, सो यह तो कहना। क्योंकि उस अन्वयके विना ही उस व्यतिरेकका बन जाना नियमसे अभीष्ट किया है। देखिये, बौद्धोंके यहां भी सर्वपदार्थोंका अनित्यपना साधन करनेपर अन्वयके विना भी सत्त्व और अनित्यत्वका अविनाभाव (व्यतिरेक) मान लिया गया है।

निश्चितो व्यतिरेक एव ह्यविनाभावः साधनस्य नान्यः स चोपदर्शितस्य सर्वस्य हेतोरन्वयासंभवेन सिद्ध्यत्येव। सत्येवाग्नौ धूम इत्यन्वयनिश्चयेऽन्यथाभावेन क्वचिद्धूम इति व्यति-

रेकनिश्चयस्य दृष्टत्वात् संदिग्धेन्वये व्यतिरेकसंदेहाच्चेति न वै मन्तव्यं सर्वे भावाः क्षणिकाः सत्त्वादित्यस्यान्वयासत्त्वेपि व्यतिरेकनिश्चयस्य स्वयमिष्टेरन्यथा तस्य गमकत्वायोगात् ।

बौद्ध यदि यों कहें कि निश्चय कर लिया गया व्यतिरेक ही तो हेतुका साध्यके साथ अविनाभाव है, इससे अन्य कोई अविनाभाव नहीं है, और वह अविनाभाव अभी अभी दिखलाये गये सम्पूर्ण हेतुओंका अन्वय नहीं सम्भवनेपर तो नहीं सिद्ध होता है । अग्निके होनेपर ही धुआं है, इस प्रकारके अन्वयका निश्चय होनेपर ही अग्निके न होनेपर कहीं भी धूम नहीं रहता है, इस प्रकारके व्यतिरेकका निश्चय होना देखा गया है । तथा अग्निके होनेपर ही धूम होगा या नहीं होगा, इस प्रकार अन्वयके संदिग्ध होनेपर अग्निके न होनेपर कहीं भी धूम न होगा या होगा ऐसा व्यतिरेकका संदेह भी हो रहा है । इस कारण उक्त सत्त्व, श्रावणत्व, शब्दत्व, आदि हेतुओंका अनेकान्तात्मकपना आदिको साधनेमें अन्वय होते हुये ही व्यतिरेक बनना आप जैन स्वीकार करो । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो बौद्धोंको कभी नहीं मानना चाहिये । क्योंकि सम्पूर्ण भाव (पक्ष) क्षणिक हैं (साध्य), सत्पना होनेसे (हेतु) । इस अनुमानके इस सत्त्व हेतुका अन्वय नहीं बननेपर भी व्यतिरेकका निश्चय हो जाना स्वयं बौद्धोंने इष्ट किया है । अन्यथा यानी अन्वयके समान व्यतिरेक भी हाथसे निकल जायगा तो उस सत्त्वहेतुको क्षणिकत्वका ज्ञापकपना नहीं बन सकेगा । अतः सद्धेतुका लक्षण अन्वय नहीं बना ।

नन्वत्र सत्येव क्षणिकत्वे सत्त्वमिति निश्चयमेवान्वयोस्तीति चेत् । अत्रोच्यते;—

बौद्ध अपने मतका पुनः आग्रह करते हैं कि इस हेतुमें क्षणिकत्वके रहनेपर ही सत्त्वहेतुका ठहरना, इस निश्चयको ही हम अन्वय मानते हैं, जो कि अन्वय सत्त्वहेतुमें विद्यमान है । इस प्रकार अवधारणका प्रकरण उपस्थित होनेपर तो यहां श्रीविद्यानंद आचार्य द्वारा यह समाधान कहा जाता है ।

साध्ये सत्येव सद्भावनिश्चयः साधनस्य यः ।
सोन्वयश्चेत्तथैवोपपत्तिः स्वेष्टा परोऽफलः ॥ १७७ ॥

साध्यके होनेपर ही जो साधनके सद्भावका निश्चय है, वही अन्वय है । इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम कहते हैं कि तिस प्रकार साध्यके होनेपर ही हेतुकी उपपत्ति होना उन्होंने अपने यहां इष्ट करली है, तब तो ठीक है । इससे न्यारा सपक्षमे वृत्तिरूप अन्वय मानना व्यर्थ है ।

यथैव प्रतिषेधप्राधान्यादन्यथानुपपत्तिर्व्यतिरेक इतीष्यते तथा विधिप्राधान्यात्तथोपपत्तिरेवान्वय इति किमनिष्टं स्याद्वादिभिस्तस्य हेतुलक्षणत्वोपगमात् । परोपगतस्तु नान्वयो हेतुलक्षणं पक्षधर्मत्ववत् ।

जिस ही प्रकार प्रतिषेधकी प्रधानता होनेसे साध्यके विना हेतुका नहीं ठहरनारूप अन्यथानुपपत्तिस्वरूप व्यतिरेक यह माना जाता है, तिसी प्रकार विधिकी प्रधानता होनेसे साध्यके होनेपर ही हेतुका रहनारूप तथोपपत्ति ही अन्वय है । यह क्या अनिष्ट है ? अर्थात् नहीं । स्याद्वादियोंकरके उस तथोपपत्तिरूप अन्वयको हेतुका लक्षण स्वीकार किया गया है । हां, दूसरे नैयायिक, बौद्ध, आदिकोंसे स्वीकार किया गया सपक्षमें वर्त्तनारूप अन्वय तो हेतुका लक्षण नहीं है, जैसे कि पक्षमें वृत्ति होना हेतुका रूप नहीं है । यहांतक पक्षवृत्तित्व और सपक्षवृत्तित्व इन दो रूपोंको हेतुका लक्षणपना खण्डित कर दिया है । अब तीसरे विपक्षव्यावृत्तिरूपका विचार चलाते हैं ।

नापि व्यतिरेकः । स हि विपक्षाद्व्यावृत्तिः विपक्षस्तद्विरुद्धस्तदन्यस्तदभावश्चेति त्रिविध एव तत्र—

बौद्धोंका माना गया विपक्षमें नहीं वर्त्तनरूप व्यतिरेक भी हेतुका लक्षण नहीं है । क्योंकि वह तीसरा रूप विपक्षसे व्यावृत्ति होना है । अब बताओ, वह विपक्ष क्या हो सकता है ? उस साध्यवालेसे विरुद्ध विपक्ष होगा उस साध्य (साध्यवान्) से अन्य विपक्ष होगा अथवा उस साध्य (साध्यवान्) का अभावरूप विपक्ष होगा, इस ढंगसे तीन प्रकारका ही विपक्ष हो सकता है । तिन तीनोंमेंसे एक एकका विचार करते हैं ।

तद्विरुद्धे विपक्षे च तदन्यत्रैव हेतवः ।
असत्यनिश्चितासत्त्वाः साकल्यान्नेष्टसाधनाः ॥ १७८ ॥

उस साध्यसे विरुद्ध हो रहे विपक्षमें और उस साध्यसे सर्वथा भिन्न हो रहे ही विपक्षमें साध्यके न होनेपर जिन हेतुओंका नहीं विद्यमान होनापन निश्चित नहीं हुआ है, वे हेतु तो सम्पूर्ण रूपसे इष्टसाध्यको साधनेवाले नहीं हैं । अतः प्रथमविकल्प और द्वितीयविकल्प तो प्रशस्त नहीं हैं ।

यथा साध्यादन्यस्मिन् विपक्षे निश्चितासत्त्वा अपि हेतवोऽग्नित्वादयो नेष्टाः अग्न्यादि साधनास्तेषां साध्याभावलक्षणे विपक्षे कुतश्चिदनिश्चितासत्त्वरूपत्वात् । तथा साध्यविरुद्धेपि विपक्षे निश्चितासत्त्वा अपि धूमादयो नेष्टा अग्न्यादिसाधनास्तेषामग्न्यभावे स्वयमसत्त्वेनानिश्चयात् ।

जिस प्रकार साध्यसे सर्वथा भिन्न हो रहे विपक्षमें असत्त्वका निश्चय रखनेवाले भी अग्नित्व आदिक हेतु अग्नि आदिको साधनेवाले नहीं इष्ट किये गये हैं । क्योंकि उन हेतुओंका साध्याभाव स्वरूप विपक्षमें किसी भी कारणसे विद्यमान नहीं रहनारूप निश्चित नहीं हुआ है । भले ही साध्य भिन्न विपक्षमें वे नहीं रहें, तिसी प्रकार साध्यसे विरुद्ध हो रहे भी विपक्षमें निश्चित है असत्त्व जिनका, ऐसे धूम आदिक भी अग्नि आदिको साधनेके लिये सद्धेतु नहीं माने गये हैं । क्योंकि उन धूम आदिकोंका अग्निके न होनेपर स्वयं अविद्यमानपने करके निश्चय नहीं हुआ है । भावार्थ—

पर्वतमें अग्निको साधनेके लिये दिया गया अग्नित्व हेतु सद्धेतु नहीं है । अग्नित्व अग्निमें रहता है और साध्यको पर्वतमें साधा गया है । अतः अग्नित्व असिद्ध हेत्वाभास है । भले ही अग्निरूप साध्यसे अन्य घट, पट, पुस्तक आदि विपक्षोंमें अग्नित्व नहीं रहता है । और साध्याभावरूप विपक्षमें भी अग्नित्वका नहीं रहना निश्चित नहीं सम्भव है । अत: विपक्षव्यावृत्ति होते हुये भी अग्नित्व सद्धेतु नहीं बना तथा साध्यसे विरुद्ध हो रहे विपक्षमें भले ही धूम आदिकी सत्ताका निश्चय न होय, किन्तु अग्निके न होनेपर धूमका नहीं होना जबतक निश्चित नहीं होगा, तबतक धूम आदिक भी अग्निको साधनेवाले नहीं माने जायगे । अत. असिद्ध धूमहेतुमें भी आप बौद्धोंकी मानी गई विपक्षव्यावृत्ति व्यर्थ पडी । अविनाभावका निश्चय हुये विना विपक्षव्यावृत्तिका कुछ भी मूल्य नहीं है ।

ननु च साध्यविरुद्धो विपक्षः साध्याभावरूप एव पर्युदासाश्रयणात् प्रसज्यप्रतिषेधाश्रयणे तु तदभावस्तद्विरुद्धादन्य इति साध्याभाव विपक्ष एव विपक्षे हेतोरसत्त्वनिश्चयो व्यतिरेको नान्य इत्यत्रोच्यतेः—

बौद्धोंका अनुनय है कि उससे भिन्न उसके सदृशको पकडनेवाले और पदके साथ नञ्का योग रखनेवाले पर्युदासका आश्रय करनेसे साध्यसे विरुद्ध हो रहा विपक्ष साध्याभावस्वरूप ही है । तथा सर्वथा निषेधको करनेवाले और क्रियाके साथ नञ्का योग धारनेवाले प्रसज्य अभावका आश्रय लेनेसे तो उस साध्यका अभाव उसके विरुद्धसे अन्य हो जायगा । इस प्रकार साध्याभाव ही विपक्ष हुआ और विपक्षमें हेतुके नहीं विद्यमानपनका निश्चय कर लेना व्यतिरेक है । इससे न्यारा कोई व्यतिरेक नहीं माना गया है । अर्थात् साध्यके नहीं रहनेपर हेतुका नहीं रहना व्यतिरेक है । इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर अब यहां आचार्य कहते हैं कि—

साध्याभावे विपक्षे तु यो सत्त्वस्यैव निश्चयः ।
सोऽविनाभाव एवास्तु हेतो रूपात्तथाह च ॥ १७९ ॥
अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥ १८० ॥

साध्यका अभावरूप विपक्षमें जो हेतुकी असत्ताका निश्चय है, यदि यही तृतीय पक्षके अनुसार व्यतिरेक है, तब तो वह अविनाभाव ही हो जाओ । हेतुका रूप अविनाभावसे न्यारा अन्य कुछ नहीं है । और तिसी प्रकार महान् आत्माओंने कहा है कि जहां अन्यथानुपपत्ति विद्यमान है, वहां पक्षवृत्ति, सपक्षमें वर्तना और विपक्षमें नहीं रहना, इन तीन रूपोंसे क्या लाभ निकलेगा ? अर्थात् कुछ नहीं, अकेली अन्यथानुपपत्ति ही पर्याप्त है । और जहां अन्यथानुपपत्ति नहीं है, वहां

भी उक्त तीनों रूपोंसे क्या लाभ है। अर्थात् अविनाभावके विना तीनों रूपोंके होनेपर भी कुछ सार नहीं निकलेगा। वृद्ध पुरुषोंसे ऐसा सुना जा रहा है कि देवागम स्तोत्रको सुनकर श्रीविद्यानंद स्वामीनें जैनदर्शनका आश्रय ले लिया था। किन्तु हेतुके लक्षणमें उनको शंका रही आई। रात्रिको पद्मावतीदेवीने स्वप्नमें कहा कि श्रीपार्श्वनाथ भगवान्‌की फणामें हेतुका लक्षण लिखा है। प्रातःकाल स्वामीजीने श्रीपार्श्वनाथ भगवान्‌के दर्शन किये और प्रतिमाजीके ऊपर लगे हुये फनमें इन दो श्लोकोंको देखा "अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥१॥ अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पंचभिः। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पंचभिः ॥२॥ जहा अन्यथानुपपत्ति है, वहा बौद्धोंके माने गये तीन रूपोंसे क्या लाभ और जहा अन्यथानुपपत्ति नहीं है, वहा तीन रूप भले ही रहो तो क्या लाभ है? तथा जहा अन्यथानुपपत्ति है, वहा नैयायिकोंके माने गये सत्प्रतिपक्षरहितपना, और अबाधितपनको उन तीनमें बढाकर पाच रूपोंसे क्या फल निकलेगा? और जहा अन्यथानुपपत्ति नहीं है, वहा भी पाच रूपोंसे क्या प्रयोजन सधेगा? भावार्थ—अविनाभाव ही हेतुका प्राण है।

यथा चैवमन्यथानुपपन्नत्वनियमे सति हेतोर्न किंचित्त्रयेण पक्षधर्मत्वादीनामन्यतमेनैव पर्याप्तत्वात्तस्यैवान्यथानुपपन्नस्वभावसिद्धेरिति च तस्मिंस्तत्त्रयस्य हेत्वाभासगतस्येवाकिंचित्करत्वं युक्तं॥

जिस प्रकार कि ऐसे अन्यथानुपपत्तिरूप नियमके होनेपर हेतुका उन तीन रूपोंसे कुछ भी प्रयोजन नहीं सधता है। क्योंकि पक्षवृत्तित्व आदि तीनमेंसे कोई एक विपक्षव्यावृत्तिरूप करके ही पूर्णरूपसे कार्य सध जाता है। और वही रूप अन्यथानुपपत्तिस्वरूप सिद्ध है। इस प्रकार उस हेतुमें उन तीन रूपोंका रहना कुछ भी कार्य करनेवाला नहीं है। यह हम स्याद्वादियोंका कहना युक्ति पूर्ण है। जैसे कि " उदरस्थपुत्रः श्यामो मित्रातनयत्वात् इतरतत्पुत्रवत् " गर्भमें बैठा हुआ पाचवा पुत्र (पक्ष) श्याम है (साध्य) मित्राका लडका होनेसे, जैसे कि मित्राके अन्य चार लडके काले दीख रहे हैं (दृष्टान्त)। यहा मित्रातनयत्व नामक हेत्वाभासमें जिस प्रकार तीनरूप होते हुये भी साध्यको नहीं साध सकते हैं। क्योंकि बहिरंगमें साग आदिका भक्षण इसबार नहीं करने और अन्तरंगमें बालकके शुक्लवर्ण प्रकृतिका उदय होनेसे मित्राके गर्भका लटका गोरा है। उसी प्रकार सद्धेतुमें पडे हुये तीनरूप भी अकिंचित्कर हैं। अकेला अविनाभाव ही सद्धेतुका विश्वविधाता है।

तद्धेतोस्त्रिषु रूपेषु निर्णयो येन वर्णितः।
असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतः ॥ १८१ ॥
तेन कृतं न निर्णीतं हेतोर्लक्षणमञ्जसा।
हेत्वाभासाऽव्यवच्छेदि तद्वदेतत्कथमन्यथा ॥ १८२ ॥

तिस कारण जो बौद्धने यह कहा था " हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयो येन वर्णितः। असिद्ध विपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतः ,, अर्थात् असिद्ध दोषकी व्यावृत्तिके लिये हेतुका रूप पक्षवृत्तिपना माना गया है, और विरुद्ध हेत्वाभासको हटानेके लिये सपक्षमें वृत्ति होना माना गया है, तथा व्यभिचारदोष निवारण करनेके लिये विपक्षव्यावृत्तिरूप माना गया है। इस प्रकार तीन हेत्वाभासोंके प्रतिपक्षी होनेसे हेतुका तीन रूपोंमें निर्णय जिस कारणसे वर्णन किया गया है। इस प्रकार कथन करनेवाले उस बौद्धने हेतुका लक्षण निर्दोषरूपसे नहीं निर्णीत किया है। अन्यथा वह बौद्ध मित्रातनयत्व आदि हेत्वाभासोंको नहीं व्यवच्छेद करनेवाले उस त्रैरूप्यको कैसे लक्षण कह देता ? बताओ। भावार्थ—जो लक्ष्यका विशेषण अलक्ष्यसे व्यवच्छेद करानेवाला नहीं है, वह निरर्थक है। उसका बोलना निग्रह करा देवेगा।

ननु च पक्षधर्मत्वे निर्णयश्चाक्षुषत्वादेरसिद्धप्रपंचस्य प्रतिपक्षत्वेन वर्णितः सपक्षसत्त्वे विरुद्धप्रपंचप्रतिपक्षत्वेन विपक्षासत्त्वे चानैकांतिकविस्तारप्रतिपक्षेणेति कथं हेत्वाभासाव्यवच्छेदि हेतोर्लक्षणं तेनोक्तं येन पारमार्थिकं रूपं ज्ञानमिति चेत् अन्यथानुपपन्नत्वस्यैव हेतुलक्षणत्वे नाभिधानादिति ब्रूमः। तस्यैवासिद्धाविरुद्धानैकांतिकहेत्वाभासप्रतिपक्षत्वसिद्धेः।

बौद्ध अपने आग्रहको पुष्ट करते हैं कि शब्द अनित्य है, चक्षु इन्द्रियद्वारा ग्राह्य होनेसे, इस अनुमानमें दिये गये चाक्षुषत्व तथा अन्य असिद्ध हेत्वाभासोंके प्रपंचका प्रतिकूल होनेके कारण हेतुका रूप पक्षवृत्तिपनमें निर्णीत कर कहा गया है। तथा विरुद्धके भेदप्रभेदोंका प्रतिपक्षी होनेसे हेतुका सपक्षसत्त्वपनेमें निर्णय कहा है। तथा व्यभिचारके विस्तारका प्रतिपक्षपनेकरके विपक्ष व्यावृत्तिरूपमें निर्णय बताया है। इस प्रकार तीनों रूपोंमें निर्णय करना हेतुका लक्षण है, जो कि हेत्वाभासोंका पृथग्भाव कर रहा है। फिर जैनोंने यह क्यों कहा था कि बौद्धोंके हेतुका लक्षण हेत्वाभासोंको व्यवच्छेद करनेवाला नहीं है, जिससे कि बौद्धोंके यहां अनुमानद्वारा वास्तविकरूपका ज्ञान होय अथवा हमारा लक्षण तो हेत्वाभासोंका निवारण करदेता है। किन्तु जैनोंका माना गया कौनसा रूप हेत्वाभासोंको हटावेगा ? बताओ, जिससे कि जैनोंके यहां अनुमानद्वारा ठीक ठीक वस्तुका ज्ञान होवे। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम जैन आत्मगौरवके साथ यह कहते हैं कि अन्यथानुपपत्तिको ही हेतुका निर्दोष लक्षणपने करके कथन है। वह अविनाभाव ही असिद्ध, विरुद्ध, और अनैकान्तिक हेत्वाभासोंका प्रतिपक्षीरूप करके सिद्ध हो चुका है। और भी हेत्वाभास होवें एक ही उन सबका मुख फेर देता है।

न ह्यन्यथानुपपन्नत्वनियमवचनेऽसिद्धत्वादिसंभवो विरोधात्। न चैकेन सकलप्रतिपक्षव्यवच्छेदे सिद्धे तदर्थं त्रयमभिदधतो तदेकं समर्थं लक्षणं हेतोर्ज्ञातं भवति तदेव त्रिभिः स्वभावैरसिद्धादीनां त्रयाणां व्यवच्छेदकमनस्तानि त्रीणि रूपाणि निश्चितान्यनुक्तानि।

देखो, अन्यथानुपपत्तिरूप नियमके कहनेपर असिद्धपन, विरुद्धपन, व्यभिचारीपन, बाधितपन, सत्प्रतिपक्षपन, इन हेत्वाभासोंकी सम्भावना नहीं है। क्योंकि विरोध है। जहां अविनाभाव विद्यमान है, वहां हेत्वाभास नहीं ठहर सकता है। जब कि एक ही रूपकरके सम्पूर्ण हेत्वाभासरूप प्रतिपक्षियोंका व्यवच्छेद होना सध चुका है तो उसके लिये तीन रूपोंको हेतुका लक्षण कथन करनेवाले बौद्धोंके यहां वह भी हेतुका एक समर्थलक्षण जान लिया गया नहीं बनता है। तभी तो एक विपक्षव्यावृत्तिसे कार्य नहीं होता हुआ समझकर बौद्धोंने हेतुके दो रूप और बढा दिये। किन्तु वस्तुतः देखा जाय तो वह एक अविनाभाव ही अपने तीन स्वभावोंकरके असिद्ध आदि तीन हेत्वाभासोंका व्यवच्छेद कर देता है। इस कारण हम जैनोंने हेतुके निश्चित हुये वे तीन रूप नहीं कहे हैं।

तदवचने विशेषतो हेतुलक्षणसामर्थ्यस्यावचनप्रसंगात् तदुक्तौ तु विशेषतो हेतुलक्षणं ज्ञातमेवेति चेत् न, अबाधितविषयत्वादीनामपि वचनप्रसंगात्। तेषामनुक्तौ बाधितविषयत्वादिव्यवच्छेदासिद्धेः।

बौद्ध कहते हैं कि उन तीनरूपोंके नहीं कथन करनेपर तो विशेषरूपसे हेतुके लक्षणकी सामर्थ्यका नहीं कथन करनेका प्रसंग आता है। किन्तु उन तीनों रूपोंके कथन कर देनेपर तो विशेषरूपसे हेतुका लक्षण ज्ञात ही हो जाता है। अतः विशेषरूपसे व्युत्पत्ति करानेके लिये वे तीनरूप कह दिये हैं, जिनको कि आप जैनोंने अन्यथानुपपन्नके स्वभाव माना है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो बौद्ध नहीं कहें। क्योंकि यों तो बाधितविषयसे रहितपना, असत्प्रतिपक्षपना, आश्रयासिद्धि रहितपना, आदिरूपोंका भी कथन करनेका प्रसंग होगा। यदि उन अबाधितपन आदि रूपोंको नहीं कहोगे तो अग्नि अनुष्ण है, प्रमेय होनेसे, पर्वत अग्निमान् नहीं है, पाषाणका विकार होनेसे, आकाशका फूल सुगंधित है, फूल होनेसे, इत्यादि हेत्वाभासोंका व्यवच्छेद नहीं सिद्ध हो पायगा। हम जैनोंके यहां तो उन तीन स्वभावोंके समान अबाधितविषयत्व आदि भी अन्यथानुपपन्न हेतुके स्वभाव हैं। उन स्वभावोंसे बाधित आदि हेत्वाभासोंका निवारण हो जाता है।

निश्चितत्रैरूप्यस्य हेतोर्बाधितविषयत्वाद्यसंभवात्तद्वचनादेव तद्व्यवच्छेदसिद्धेर्नाबाधितविषयत्वादिवचनमिति चेत् न, हेतोः पंचभिः स्वभावैः पंचानां पक्षाव्यापकत्वादीनां व्यवच्छेदकत्वाद्विशेषतल्लक्षणस्यैव कथनात् अन्यथा तदज्ञानप्रसंगात्। तद्विशेषाविवक्षायां तु पंचरूपत्ववत् त्रिरूपत्वमिति न वक्तव्यं सामान्यतोन्यथानुपपन्नत्ववचनेनैव पर्याप्तत्वात्।

बौद्ध कहते हैं कि जिस हेतुके त्रैरूप्यका निश्चय हो रहा है, उस हेतुके बाधितविषयपना या सत्प्रतिपक्षपना आदि दोषोंकी सम्भावना ही नहीं है। अतः उस त्रैरूप्यके कथन करनेसे ही उन बाधितपन आदि हेतु दोषोंका व्यवच्छेद सिद्ध हो जाता है। अतः अबाधितविषयत्व आदि चौथे, पाचवे, रूप नहीं कहे गये हैं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना। क्योंकि हेतुके पाच स्वभावोंकरके ही पक्षमें नहीं व्यापना आदि हेतु दोषोंका निवारकपना है। इस कारण

विशेषरूपसे उन पाचोंको ही हेतुका लक्षण कहना चाहिये। अन्यथा उन रूपोंके अज्ञान होनेका प्रसंग होगा। हां, हेतुके आवश्यक विशेषरूपकी विवक्षा होनेपर तो बौद्धों द्वारा जैसे नैयायिकोंका पंचरूपपना नहीं कहा जाता है, उसी प्रकार तीन रूपपना भी नहीं कहना चाहिये। सामान्य-रूपसे एक अन्यथानुपपत्तिके वचन करके ही हेतुका पूरा कार्य सध जायगा। अन्य पुंछल्ले लगाना व्यर्थ है।

रूपत्रयमंतरेण हेतोरसिद्धादित्रयव्यवच्छेदानुपपत्तेः। तत्र तस्य सद्भावादुपपन्नं वचनमिति चेत्।

बौद्ध कहते हैं कि तीनों रूपोंके विना तो हेतुके असिद्ध आदि तीन दोषोंका व्यवच्छेद होना नहीं बनता है। और उस हेतुमें तीन रूपोंके सद्भाव होनेसे हेत्वाभासोंका व्यवच्छेद बन जाता है। अतः तीनरूपका कथन करना युक्त है। इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन सिद्धान्ती यों कहेंगे कि—

रूपत्रयस्य सद्भावात्तत्र तद्वचनं यदि।
निश्चितत्वस्वरूपस्य चतुर्थस्य वचो न किम्॥ १८३॥
त्रिषु रूपेषु चेद्रूपं निश्चितत्वं न साधने।
नाज्ञाता सिद्धता हेतो रूपं स्यात्तद्विपर्ययः॥ १८४॥

उस हेतुमें तीन रूपोंका सद्भाव होनेसे यदि उन रूपोंका कथन करना मानोगे तो चौथे निश्चितपन स्वरूपका कथन करना भी क्यों न माना जाय। इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि तीन रूपोंमें निश्चितपनास्वरूप तो है ही। उसको हेतुमें न्यारा नहीं रक्खा जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि अनिश्चित होनेके कारण असिद्धता हेतुका रूप हो जायगा, जो कि समीचीन् हेतुसे विपरीत है। भावार्थ—निश्चितपना नहीं कहनेसे हेतु अज्ञातासिद्ध बन बैठेगा, जो कि इष्ट नहीं है। अथवा निश्चितपना यदि हेतुमें नहीं साधा जायगा तो हेतु अज्ञात होनेके कारण असिद्ध बन बैठेगा, जो कि सद्धेतुपनके विपरीत है।

पक्षधर्मत्वरूपं स्याज्ज्ञातत्वे हेत्वभेदिनः।
हेतोरज्ञानतेष्टा चेन्निश्चितत्वं तथा न किम्॥ १८५॥
हेत्वाभासेपि तद्भावात्साधारणतया न चेत्।
धर्मांतरमिवारूपं हेतो सदपि संमतम्॥ १८६॥

हेतोरसाधारणं सिद्धं साधनस्यैकलक्षणं ।
तत्त्वतः पावकस्येव सोष्णत्वं तद्विदां मतम् ॥ १८७ ॥

हेतुसे अभिन्न होकर रहनेवाले पक्षवृत्तिपन आदि स्वरूप तो जाने जा चुके होते हुये अनुमानके प्रयोजक हैं। हेतुके इन रूपोंको नहीं जाने जा चुकनेपर तो हेतुका अज्ञातपना इष्ट किया यानी वह हेतु अज्ञात होकर असिद्ध है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम कहेंगे कि तिसी प्रकार निश्चितपना भी चौथा हेतुका स्वरूप क्यों न हो जावे ? यदि बौद्ध यों कहें कि निश्चितपना तो हेत्वाभासमें भी विद्यमान है। अतः हेतु और हेत्वाभासमें साधारणरूपसे ठहरजानेके कारण वह निश्चितपना सम्यक्‌हेतुका ही रूप नहीं है। तब तो हेतुके विद्यमान हो रहे पक्षधर्मत्व आदि कभी अन्य धर्मोके समान हेतुके रूप नहीं माने जाय। क्योंकि हेत्वाभासोंमें भी मिल जाते हैं। एक अविनाभाव ही हेतुका निर्दोष स्वरूप है। बौद्धोंको खेद मानना चाहिये कि वे हेतुके साधारणरूपोंको हेतुका लक्षण कह रहे हैं। इसमें अतिव्याप्ति दोष आता है। अतः वास्तविकरूपसे हेतुका असाधारण लक्षण एक अन्यथानुपपत्ति ही सिद्ध हुआ, जिस प्रकार कि उस लक्ष्यलक्षणको जाननेवाले विद्वानोंके यहां अग्निका लक्षण उष्णता सहितपना ही माना गया है।

यो यस्यासाधारणो निश्चितः स्वभावः स तस्य लक्षणं यथा पावकस्यैव सोष्णत्वपरिणामस्तथा च हेतोरन्यथानुपपन्नत्वनियम इति न साधारणानामन्यथानुपपत्तिनियमविकलानां पक्षधर्मत्वादीनां हेतुलक्षणत्वं निश्चितं तत्त्वमात्रवत् ।

जो स्वभाव जिसका असाधारण होकर निश्चित किया गया है, वह उसका लक्षण है। संपूर्ण लक्ष्योंमें रहता हुआ जो अलक्ष्योंमें नहीं व्यापता है, वह असाधारण है। जैसे कि अग्निका ही उष्ण सहितपना परिणाम होता है, अतः अग्निका लक्षण उष्णत्व है। तिसी प्रकार हेतुका लक्षण साध्यके विना हेतुका नहीं होनापनरूप अन्यथानुपपत्ति नियम है। इसका कारण अन्यथानुपपत्तिरूप नियमसे रहित होरहे और हेत्वाभासोंमें भी साधारणरूपसे पाये जा रहे पक्षवृत्तित्व, सपक्षवृत्तित्व, विपक्षव्यावृत्ति, आदिकोंको हेतुका लक्षणपना निश्चित नहीं किया गया है। जैसे कि केवल तत्त्व ही हेतुका लक्षण नहीं है। क्योंकि तत्त्व तो पक्ष, साध्य, जीव, आदिक भी हैं। सामान्यरूपसे सत्‌पना भी हेतुका या किसी विशेषपदार्थका लक्षण नहीं हो सकता है। अथवा तत्‌पना यानी हेतुपना भी हेतुका लक्षण नहीं है। क्योंकि जैसे मनुष्य दुर्जन, सज्जन, चोर, साहूकार, क्रोधी, क्षमावान् आदि सभी प्रकारके होते हैं, उसी प्रकार हेतुओंके समान हेत्वाभासोंमें भी हेतुपना घटित हो रहा है। किन्तु अलक्ष्यमें चले जानेवाले स्वभावको लक्षण नहीं माना गया है। यहांतक बौद्धोंके द्वारा माना गया हेतुका त्रैरूप्यलक्षण अतिव्याप्त सिद्ध करदिया गया है। इस प्रकार एक सौ चौबीसवीं

" निश्चित पक्षधर्मत्व " आदि दो वार्तिकोंका उपसंहार हुआ। अब नैयायिकों द्वारा माने गये हेतुके लक्षणपर विचार चलाते हैं।

एतेन पंचरूपत्वं हेतोर्ध्वस्तं निबुध्यते।
सत्त्वादिष्वग्निजन्यत्वे साध्ये धूमस्य केनचित् ॥ १८८ ॥

इस उक्त कथन करके हेतुका पचरूपपना लक्षण भी निरस्त कर दिया गया समझ लेना चाहिये। धूमको किसीके भी द्वारा अग्निसे जन्यपना साधने पर सत्त्व, द्रव्यत्व, आदि असत् हेतुओंमें पंचरूपपना घटित हो जाता है।

अग्निजन्योयं धूमः सत्त्वात् द्रव्यत्वाद्वा धूमे सत्त्वादेरसंदिग्धत्वात्। तथान्वयं पूर्वदृष्टधूमेग्निजन्यत्वेन व्याप्तस्य सत्त्वादेः सद्भावात् व्यतिरेकश्च खरविषाणादौ साध्याभावे साधनस्य सत्त्वादेरभावनिश्चयात्। तथात्राबाधितविषयत्वं विवादापन्ने धूमेग्निजन्यत्वस्य बाधकाभावात्। तत एवासत्प्रतिपक्षत्वमनग्निजन्यत्वसाधनप्रतिपक्षानुमानासंभवादिति सिद्धं साधारणत्व पंचरूपत्वस्य त्रैरूप्यवत्।

यह धुआ (पक्ष) अग्निसे उत्पन्न हुआ है (साध्य)। सत्त्व होनेसे अथवा द्रव्यत्व होनेसे (हेतु), इस अनुमानमें दिये गये सत्त्व, द्रव्यत्व, पौद्गलिकत्व, हेतुओंकी संदेहरहित होकर धूमरूप पक्षमें वृत्तिता है। तथा अन्वयदृष्टान्तरूप सपक्षमें भी हेतु वर्तरहे हैं। पहिले देखे हुये धुयेंमें अग्निजन्यपनेसे व्याप्त हो रहे सत्त्व आदि हेतुओंका सद्भाव है। और विपक्षव्यावृत्तिरूप व्यतिरेक भी बन जाता है। देखिये, अग्निजन्यत्वरूप साध्यके नहीं होनेपर खरविषाण, वन्ध्यापुत्र, आदि विपक्षोंमें सत्त्व आदि हेतुओंका अभाव निश्चित हो रहा है। तिसी प्रकार चौथा रूप अबाधितविषयपना भी सत्त्वादि हेतुओंमें घट जाता है। विवादमें पडे हुये धूमरूपपक्षमें अग्निसे जन्यपनारूप साध्यका कोई दूसरा बाधकप्रमाण नहीं है। सभी धुयें आगसे उत्पन्न होते हैं। तिस ही कारण यानी पक्षमें साध्यके बाधक प्रमाणोंके न होनेसे सत्त्व आदिक हेतु सत्प्रतिपक्षपन दोषसे रहित हैं। साध्यसे विपरीत अग्निजन्यपनके अभावको साधनेके लिये किसी प्रतिपक्षी अनुमानकी सम्भावना नहीं है। इस प्रकार नैयायिकका पचरूपपना भी बौद्धोंके त्रैरूप्यके समान हेतुका साधारण स्वरूप सिद्ध हुआ अतः हेतुका समीचीन लक्षण पंचरूपत्व नहीं हो सकता है।

सामस्त्येन व्यतिरेकनिश्चयस्याभावादसिद्धमिति चेन्न, तस्यान्यथानुपपन्नत्वरूपत्वात्। तदभावे शेषाणामकिंचित्करत्वापत्तेस्तद्विकलस्यैव पंचरूपत्वादेरलक्षणत्वेन साध्यत्वाद्युक्तोतिदेशः।

नैयायिक यदि यों कहें कि तीसरा रूप विपक्षसे व्यावृत्त होना यहां नहीं है। पूर्णरूपसे व्यतिरेकका निश्चयसत्त्व आदि हेतुओंमें नहीं है। अतः पंचरूपपनको साधारणपना सिद्ध नहीं हुआ।

भावार्थ—सत्त्व, द्रव्यत्व, आदिक तो अग्निसे अजन्य वस्त्र, पुस्तक, आत्मा, पारा, आकाश, आदि विपक्षोंमें रह जाते हैं। अतः सम्पूर्ण विपक्षोंसे व्यावृत्त सत्त्व, आदिक हेतु नहीं हैं। ऐसी दशामें हेत्वाभासोंमें नहीं जानेके कारण पंचरूपपना हेतुका असाधारण लक्षण सिद्ध हो गया। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो उन नैयायिकोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि तब तो आप अन्यथानुपत्तिको ही हेतुका रूप कह रहे हैं। क्योंकि वह अविनाभाव ही तो पूर्णरूपसे व्यतिरेकका निश्चयरूप है। उस अन्यथानुपपत्तिके बिना शेष चाररूप बने भी रहे तो भी कुछ प्रयोजनको साधनेवाले न होनेसे उनको अकिंचित्करपनेका प्रसंग आता है। उस एक अन्यथानुपपत्तिसे रहित हो रहे ही पंचरूपत्व, त्रिरूपत्व आदिको अलक्षणपनेकरके साधने योग्य होनेसे यह हमारा अतिदेश करना समुचित है। अर्थात् समीचीन हेतुओंका अतिक्रमणकर सत्त्व आदिक हेत्वाभासोंमें पंचरूपपना ठहर गया, यह अतिव्याप्ति देनारूप हमारा कथन ठीक है। थोडेसे चिन्हसे विशेषज्ञान कर लिया जाता है।

एवमन्वयव्यतिरेकिणा हेतोः पंचरूपत्वमलक्षणं व्यवस्थाप्यान्वयिनोपि नान्वयो लक्षणं साधारणत्वादेवेत्याह:—

इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेकसे सहित हो रहे हेतुका पंचरूपपना लक्षण नहीं है। इसको व्यवस्थापित कर अब अन्वयवाले हेतुका भी लक्षण सपक्षमें वर्तनारूप अन्वय नहीं है। क्योंकि हेतु और हेत्वाभासोंमें सामान्यरूपसे अन्वय रह जाता ही है, इस बातको ग्रन्थकार स्वयं प्रतिपादन करते हैं।

अन्वयो लोहलेख्यत्वे पार्थिवत्वेऽशनेस्तथा।
तत्पुत्रत्वादिषु श्यामरूपत्वे क्वचिदीप्सिते ॥ १८९ ॥

वज्रं लोहलेख्यं पार्थिवत्वात् काष्ठवत्, इस अनुमान द्वारा वज्रको लोहेसे लेख्यपना (खुरचना) साधनेपर पृथ्वीका विकारपन हेतुमें अन्वय विद्यमान है। अर्थात् वज्र (विशेष हीरा) ही एक पृथ्वीके विकारी हुये पदार्थोंमेंसे लोहे द्वारा नहीं उकेरा जाता है। शेष घट, पाषाण, लोहा, स्फटिक, कांच, पन्ना, आदि सब पार्थिव पदार्थ लोहेसे छील दिये जाते हैं। लोहेकी सुईसे ताडपत्रपर खुरचकर लिखा जाता है। सच तो वही लिखना है। पत्र (कागज) पर तो काष्ठलेखनी द्वारा मषीसे काढना या चितेरना होता है। उस वज्रको तो पक्षकोटिमें डाल लिया। अब पक्षसे न्यारे सभी लोहलेख्य पदार्थोंमें पार्थिवत्व हेतुका अन्वय विद्यमान है। किन्तु यहां पार्थिवत्व सद्धेतु नहीं माना गया है। तथा "गर्भस्थः पुत्रः श्यामो भवितुमर्हति मित्रातनयत्वात् दृष्टपुत्रवत्" इस अनुमान द्वारा किसी अभीष्ट गर्भस्थित पुत्रमें श्यामरूपपना साध्य करनेपर तत्पुत्रत्व आदि हेतुओंमें अन्वय होते हुये भी वे समीचीन हेतु नहीं हैं। क्योंकि गर्भका लडका गोरा है। अतः हेतुका लक्षण अन्वय करना ठीक नहीं है।

लोहलेख्योऽशनिः पार्थिवत्वाद्धातुरूपवत्, स श्यामरूपस्तत्पुत्रत्वात्तन्नप्तृत्वाद्वा परिदृष्टतत्पुत्रादिवदिति हेत्वाभासेपि सद्भावादन्वयस्य साधारणत्वं। ततो हेत्वलक्षणत्वं। यस्तु साध्यसद्भाव एव भावो हेतोरन्वयः सोऽन्यथानुपपन्नत्वमेव तथोपपत्त्याख्यमसाधारणं हेतु लक्षणं। परोपगतस्तु नान्वयस्तल्लक्षणं नापि केवलव्यतिरेकिणो व्यतिरेक इत्याह:—

वज्र (पक्ष) लोहेकी छेनीसे खुरचने योग्य है (साध्य), पृथ्वीद्रव्यका विकार होनेसे (हेतु), जैसे कि अन्य राग, चादी, सोना, आदि धातुभेद या पार्थिव पदार्थ लोहेसे लिखे जाने योग्य है (दृष्टान्त) तथा वह गर्भका लडका (पक्ष) काले रूपवाला है (साध्य)। क्योंकि उस मित्रा नामकी काली स्त्रीका लडका है। अथवा उस विवक्षित पुरुषका नाती है (हेतु)। जैसे कि और भी कतिपय दीख रहे उसके पुत्र, पौत्र, पुत्रिया आदि काले हैं (दृष्टान्त)। इस प्रकार हेत्वाभासमें भी अन्वयका सद्भाव है। अतः अन्वय हेतुका साधारणरूप है। तिस कारण हेतुका लक्षण नहीं हो सकता है। हां, जो साध्यके होनेपर ही हेतुका सद्भावरूप अन्वय कहा जायगा वह तो तथोपपत्ति नामकी अन्यथानुपपत्ति ही हेतुका असाधारण लक्षण हुई। तथोपपत्ति यानी साध्यके रहनेपर ही हेतुका रहना और अन्यथानुपपत्ति यानी साध्यके न रहनेपर हेतुका नहीं रहनारूप दो प्रकारसे अविनाभाव माना गया है। किन्तु दूसरे वादियों द्वारा मान लिया गया तो अन्वयीपना उस हेतुका लक्षण नहीं है। तथा केवल व्यतिरेकको ही धारनेवाले हेतुका लक्षण भी विपक्षव्यावृत्तिरूप व्यतिरेक नहीं है। इस बातका ग्रन्थकार स्पष्ट कथन करते हैं।

अदृष्टिमात्रसाध्यश्च व्यतिरेकः समीक्ष्यते।
वक्तृत्वादिषु बुद्धादेः किंचिज्ज्ञत्वस्य साधने ॥ १९० ॥
साध्याभावे स्वभावस्य निश्चयो यः प्रमाणतः।
व्यतिरेकः स साकल्यादविनाभाव एव नः ॥ १९१ ॥

बुद्धादिः किञ्चिज्ज्ञः वक्तृत्वात्, पुरुषत्वात्, इस अनुमान द्वारा बुद्ध, कपिल, कणाद, आदिको अल्पज्ञपनेका साधन करनेपर वक्तापन, पुरुषपन, आदि हेतुओंमें केवल नहीं देखनेसे साध लिया गया व्यतिरेक अच्छा देखा जाता है। घट, डेला, खाट, चौकी, आदि विपक्षोंमें अल्पज्ञपना न होनेपर वक्तापन आदिका भी अभाव है, किन्तु बौद्ध, नैयायिक, आदि विद्वानोंने अपने अभीष्ट सर्वज्ञमें कुछ गिनतीके थोडेसे पदार्थोंका जानना साधनेमें वक्तापन, पुरुषपन, हेतुको समीचीन नहीं माना है। यदि सपूर्णरूपसे साध्यका अभाव होनेपर सकलतासे हेतुके अभावका प्रमाणोंसे निश्चय करना व्यतिरेक माना जायगा, तब तो वह हमारा अविनाभाव ही अपने व्यतिरेक मान लिया अर्थात् अल्पज्ञ नहीं होते हुये भी तीर्थंकर महाराज वक्ता हैं, पुरुष हैं। अतः अन्यथानुपपत्ति न होनेसे ही वक्तृत्व आदि असद्धेतु हैं।

सत्यामप्यबाधितविषयतायां सत्यामप्यसत्प्रतिपक्षतायां च हेतौ न रूपांतरत्व मन्यथानुपपन्नत्वादित्याह;—

जिस हेतुके साध्यका कोई बाधक प्रमाण नहीं है, इस प्रकारकी अबाधित विषयताके होने- पर भी और जिस हेतुके साध्यका अभावको साधनेके लिये दूसरा प्रतिपक्षी हेतु नहीं है, ऐसी असत्प्रतिपक्षताके होते हुये भी हेतुमें अन्यथानुपपत्तिसे अतिरिक्त कोई दूसरारूप कार्यकारी नहीं है। इस बातका स्वयं वार्तिककार स्पष्ट निरूपण करते हैं।

अबाधितार्थता च स्यान्नान्या तस्मादसंशया।
न वासत्प्रतिपक्षत्वं तदभावेनभीक्षणात् ॥ १९२ ॥

उस अन्यथानुपपत्तिसे भिन्न कोई अबाधितविषयता नहीं हो सकती है। संशयरहित होकर वही अविनाभाव अबाधितविषयरूप है। और उस अन्यथानुपपत्तिके अतिरिक्त असत्प्रतिपक्षपना भी कोई न्यारा रूप नहीं है। क्योंकि उस अन्यथानुपपत्तिके अभाव होनेपर अबाधितविषयपना अथवा असत्प्रतिपक्षपना (कुछ भी मूल्यका) नहीं देखा जा रहा है।

न हि क्वचिद्धेतौ साध्याभावासंभूष्णुतापायेप्यबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं समीक्ष्यते येन ततो रूपांतरत्वं।

किसी भी हेतुमें साध्यका अभाव होनेपर हेतुका नहीं सम्भवनारूप स्वभावके अभाव होनेपर भी अबाधितविषयपना और असत्प्रतिपक्षपना नहीं देखा जाता है। जिससे कि उस अविनाभावसे उन चौथे, पाचवें, अबाधितपन और सत्प्रतिपक्षरहितपनको हेतुका न्यारा रूप माना जाय। अर्थात् वे दोनों हेतुके न्यारे रूप नहीं हैं।

ननु च यथा स्पर्शाभावे क्वचिदसंभववतोपि रूपस्य स्पर्शाद्रूपांतरत्वं तथाविना- भावाभावे क्वचिदसंभवतोपि ततो रूपांतरत्वमबाधितविषयत्वस्यासत्प्रतिपक्षत्वस्य च न विरुद्ध्यतेऽन्यथा स्पर्शाद्रूपस्यापि रूपांतरत्वविरोधादिति चेत् नैतत्सारं, अन्यथानुपप- न्नत्वादबाधितविषयत्वादेरभेदात्। साध्याभावप्रकारेणोपपत्तेरभावो ह्यन्यथानुपपत्तिः स एव चाबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं च प्रतीयते न ततोऽन्यत् किंचिन्नैवं स्पर्शाद्रूप- स्याभेदः प्रतीतिभेदात्ततो विषमोऽयमुपन्यासः।

यहां शंका है कि जिस प्रकार स्पर्शके नहीं होनेपर कहीं भी नहीं सम्भव होनेवाले भी रूपका जैसे स्पर्शसे भिन्न स्वरूपपना है, यानी स्पर्श न्यारा गुण है, और पुद्गलमें रूप न्यारा गुण है, आखोंके नहीं होनेपर किसी भी जीवके कान नहीं होते हैं, फिर भी आखोंसे कान न्यारे हैं, तिसी प्रकार अविनाभावके अभाव होनेपर कहीं भी नहीं सम्भव रहे भी अबाधित विषयत्व और असत्प्रतिपक्षपनको उस अविनाभावसे न्यारा रूपपना नहीं विरुद्ध हो रहा है। अन्यथा यानी

व्यतिरेक घटित हो जानेसे ही यदि दोनोंका अभेद मान लिया जायगा तो स्पर्शसे रूपगुणका भी भिन्नगुणस्वरूप होनेका विरोध हो जावेगा। इस प्रकार यदि कहोगे तो वैशेषिकोंके प्रति हम जैनोंको कहना पडता है कि इस कथनमें कोई सार नहीं है। क्योंकि अन्यथानुपपत्तिसे अबाधित विषयपन आदिरूपोंका अभेद है। जैसे कि उपयोगसे ज्ञानका अभेद है। परस्परमे एक दूसरेके अभाव होनेपर नहीं रहनेवाले कोई कोई पदार्थ अभिन्न होते हैं। जैसे कि सत्त्व और अर्थक्रियाकारीपन सर्वथा भिन्न नहीं हैं। और कोई कोई भिन्न होते हैं। जैसे कि ज्ञानावरणका विघटना और वीर्यान्तरायका विघटना अविनाभाव होते हुये भी न्यारा न्यारा है। प्रकरणमें साध्याभावके प्रकार करके हेतुकी सिद्धिका अभाव होना ही अन्यथानुपपत्ति है। वही अबाधित विषयपना और असत्प्रतिपक्षपनारूप प्रतीत हो रही है। उससे भिन्न कुछ नहीं है। किन्तु इस प्रकार स्पर्श गुणसे रूपगुणका अभेद नहीं दीख रहा है। क्योंकि उनकी न्यारी न्यारी प्रतीति हो रही है। तिस कारण यह दृष्टान्तका उपन्यास करना विषम पडा। भावार्थ—स्पर्श और रूपका दृष्टान्त यहां लागू नहीं हुआ। सत्त्व और वस्तुत्वका दृष्टान्त सम हो जायगा।

ननु हेतूपन्यासे सति क्रमेण प्रतीयमानत्वादविनाभावाबाधितविषयत्वादीनामपि परस्परं भेद एवेति चेन्न, बाधकक्रमापेक्षत्वात्तत्क्रमप्रतीतेः। शक्रेंद्रपुरंदरादिप्रतीतिवदर्थप्रतीतेः क्रमाभावात्। न ह्यभिन्नेप्यर्थे बाधकभेदो विरुद्धो यतस्तत्क्रमप्रतीतिरर्थभेदक्रमं साधयेत्। ततो नाममात्रं भिद्यते हेतोरन्यथानुपपन्नत्वमबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वमिति नार्थः।

पुनः शंकाकारका कहना है कि अनुमानमें हेतुका उपन्यास हो जानेपर पहिले अविनाभाव जाना जाता है, और पीछे क्रमसे अबाधितविषयपन आदि प्रतीत होते हैं। इस कारण अविनाभाव और अबाधितविषयपन आदिकोंका भी परस्परमें भेद ही है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि बाधकोंके क्रमकी अपेक्षासे उनका क्रमसे होनापन प्रतीत हो रहा है। वस्तुतः अर्थकी प्रतीति करनेका कोई क्रम नहीं है। जैसे कि पर्यायवाची शक्र, इन्द्र, पुरन्दर, मघवा, जिष्णु, आदिकी प्रतीतियोंका क्रम नहीं है। एक ही इन्द्ररूप अर्थको कहनेवाले शब्दोंका उच्चारण क्रमसे होता है। किन्तु अर्थ युगपत् जानलिया जाता है। इसी प्रकार प्रकृत साध्यमें सम्भावना करने योग्य प्रत्यक्ष, अनुमान, आदिक बाधकोंका क्रम क्रमसे उत्थान होता है। और उनका निराकरण भी एक अविनाभाव द्वारा क्रमसे कर दिया जाता है। किन्तु अर्थ वही एक बना रहता है। एक अभिन्न भी अर्थमें भिन्न भिन्न बाधकोंका होना विरुद्ध नहीं है। जिससे कि उन बाधकोंका क्रमसे प्रतीत होना अर्थके भिन्नपनेको और क्रमको साध देवें, तिस कारण केवल नामका ही भेद हो रहा है। हेतुका अन्यथानुपपन्नपना कहो, चाहे अबाधितविषयपना और असत्प्रतिपक्षपना कहो, इस प्रकार अर्थमें कोई भेद नहीं है।

एतेन यदुक्तं हेतोरबाधितविषयत्वाभावेऽनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वात् नित्यो घटः सत्त्वात् प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषगुणविशेषत्वादित्येवमादेः प्रत्यक्षानुमानागमबाधितविषयस्यापि गमकत्वप्रसक्तिरसत्प्रतिपक्षत्वाभावे च सत्प्रतिपक्षस्य सर्वगतं सामान्यं सर्वत्र सत्प्रत्ययहेतुत्वादित्येवमादेर्गमकत्वापत्तिरिति तत्प्रत्याख्यातं । प्रत्यक्षादिभिः साध्यविपरीतस्वभावव्यवस्थापनस्य बाधितविषयत्वस्य वचनात् । प्रतिपक्षानुमानेन च तस्य सत्प्रतिपक्षत्वस्याभिधानात् तद्द्वयव्यवच्छेदस्य च साध्यस्वभावेन तथोपपत्तिरूपेण सामर्थ्यादन्यथानुपपत्तिस्वभावेन सिद्धत्वादबाधितविषयत्वादे रूपांतरत्वकल्पनानर्थक्यात् ।

और जो यह कहा गया था कि हेतुका अबाधितविषयपनारूप माननेपर अग्नि (पक्ष) ठंडी है (साध्य), क्योंकि द्रव्य है (हेतु) । जैसे कि वस्त्र, पुस्तक, जल आदि (अन्वयदृष्टान्त) । तथा घट (पक्ष) नित्य है (साध्य), क्योंकि वह सत् है । जैसे कि आत्मा, आकाश, कालपरमाणु आदि (अन्वयदृष्टान्त) । और मरकरके दूसरे जन्ममें धर्म करना (पक्ष) सुखको देनेवाला नहीं है (साध्य) । क्योंकि आत्माका गुणविशेष होनेसे (हेतु) । जैसे कि पाप कर्म परजन्ममें दुःख दुःख देनेवाला है (दृष्टान्त) । इत्यादिक हेतुओंको भी अपने साध्यके बोधकपनका प्रसंग आवेगा । किन्तु अबाधितविषय लगानेसे द्रव्यत्व हेतु समीचीन हेतु नहीं हो पाता है, कारण कि अग्निमें ठंडापन साधनेके लिये दिये गये द्रव्यत्व हेतुका विषय प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित है । और घटमें नित्यपना साधनेके लिये दिये गये सत्त्वहेतुका साध्य नित्यत्व तो, घट (पक्ष) अनित्य है (साध्य), परिणामी होनेसे (हेतु), इस अनुमानसे बाधित है । तथा मरकरके परजन्ममें धर्मसे सुखकी प्राप्ति होती है । इस आगमसे पुरुषगुणविशेषत्व हेतुका साध्य सुख नहीं देना बाधित हो रहा है । अतः हेतुका गुण अबाधितविषयत्व मानना चाहिये तथा हेतुका गुण असत्प्रतिपक्षपना नहीं माननेपर सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभासोंको भी साध्य ज्ञापकपनेका प्रसंग हो जायगा, सामान्यस्वरूप जाति (पक्ष) सर्वत्र व्यापक है (साध्य), क्योंकि सभी स्थलोंपर " है है " इस ज्ञानका कारण होनेसे (हेतु), इस अनुमानका प्रतिपक्षी अनुमान यों है कि सदृशपरिणामरूप सामान्य (पक्ष) व्यापक नहीं है (साध्य), क्योंकि नियतदेशव्यापी व्यक्तियोंके साथ न्यारे न्यारे सामान्य तदात्मक हो रहे हैं (हेतु), यदि सामान्य व्यापक होता तो दूरवर्ती दो व्यक्तियोंके अन्तरालमें भी दीखना चाहिये था । इसी प्रकार शब्द नित्य है, प्रत्यभिज्ञानका विषय होनेसे, इसका प्रतिपक्ष शब्द अनित्य है, कृतक होनेसे, यह विद्यमान है । इत्यादि सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभासोंको गमकपनका प्रसंग हो जायगा । उसका निवारण करनेके लिये हेतुका गुण असत्प्रतिपक्षपना कहो । इस प्रकार दोनों गुणोंके लिये जो नैयायिक उत्साहित कर रहे थे, वह भी इस उक्त कथनसे खंडित कर दिया गया समझ लेना चाहिये । क्योंकि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों करके साध्यसे विपरीत स्वभावकी व्यवस्था करा देना ही तो बाधित विषयपना कहा गया है । और प्रतिपक्ष साधनेवाले दूसरे अनुमान

करके उस पूर्वहेतुका सत्प्रतिपक्षपना कहा गया है। किन्तु उन दोनों दोषोंका व्यवच्छेद करना तो तिस प्रकार साध्यके होनेपर ही हेतुका बना रहनारूप साधने योग्य स्वभावकरके सिद्धकर दिया जाता है। तथा विना कहे यों ही सामर्थ्यसे प्राप्त हो गये अन्यथानुपपत्तिरूप स्वभावकरके उन दोषोंका निराकरण सिद्ध हो जाता है। इस कारण अबाधितविषयपन आदिको हेतुका न्यारा न्यारा रूप माननेकी कल्पना करना व्यर्थ है।

सत्यपि तस्य रूपांतरत्वे तन्निश्चयासंभवः परस्पराश्रयणात् तत्साध्यविनिश्चययोरित्याह-

उन अबाधित विषयपन, आदिको हेतुका निरालारूपपना " अस्तु अशिष्टतोष " न्याय अनुसार मान भी लिया जाय तो भी उनका निश्चय करना असम्भव है। क्योंकि अबाधितविषयत्व आदि रूपोंसे सहित हो रहे उस हेतुके साध्य और उन रूपोंका विशेष निश्चय करनेमें अन्योन्याश्रय दोष आता है, इस बातका ग्रन्थकार स्वयं स्पष्टनिरूपण करते हैं, सुनिये।

यावच्च साधनादर्थः स्वयं न प्रतिनिश्चितः।
तावन्न बाधनाभावस्तत्स्याच्छक्यविनिश्चयः ॥ १९३ ॥

जबतक हेतुसे साध्यरूप अर्थका स्वयं प्रतिज्ञापूर्वक निश्चय नहीं किया जायगा, तबतक उस हेतुके विषय साध्यमें बाधाओंके अभावका विशेषरूपसे निश्चय करना शक्य नहीं होगा। इसी प्रकार हेतुका असत्प्रतिपक्षपना जाननेपर उत्तरहेतुके साध्यका निर्णय होय और साध्यका निर्णय हो जानेपर पूर्वहेतुके साध्यमें बाधा आनेके कारण उत्तरवर्ती अनुमानके हेतुका असत्प्रतिपक्षपना जाना जाय, यह परस्पराश्रय दोष हुआ।

सति हि बाधनाभावनिश्चये हेतोरबाधितविषयत्वासत्प्रतिपक्षत्वसिद्धेः साध्यनिश्चयस्तन्निश्चयाच्च बाधनाभावनिश्चय इतीतरेतराश्रयान्न तयोरन्यतरस्य व्यवस्था। यदि पुनरन्यतः कुतश्चित्तद्बाधनाभावनिश्चयात्तदनिश्चयांगीकरणाद्वा परस्पराश्रयपरिहारः क्रियते तदाप्यकिंचित्करत्वं हेतोरुपदर्शयन्नाहः—

बाधकोंद्वारा बाधा होनेके अभावका निश्चय हो चुकनेपर तो हेतुके अबाधितविषयपन और असत्प्रतिपक्षपनकी सिद्धि हो जानेसे उस हेतु द्वारा साध्यका निश्चय होय तथा उस साध्यका निश्चय हो जानेसे बाधाओंके अभावका निश्चय होय इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष हो जानेसे उन दोनोंमेंसे एककी भी व्यवस्था नहीं हुई। यदि फिर नैयायिक अन्य किसी हेतुसे उन बाधाओंके अभावका निश्चय मानेंगे अथवा आवश्यकता न होनेके कारण बाधाओंके अभावका निश्चय नहीं होना स्वीकार करेंगे, तब परस्पराश्रय दोषका परिहार तो कर दिया जायगा, किन्तु तब भी हेतु अकिंचित्कर हो जायगा, इस बातको दिखलाते हुये ग्रन्थकार विशदनिरूपण करते हैं।

तद्बाधाभावनिर्णीतिः सिद्धा चेत्साधनेन किम् ।
यथैव हेतोर्वेशस्य बाधाऽसद्भावनिश्चये ॥ १९४ ॥

यदि किसी अन्य कारणसे उस हेतुके साध्यमें बाधाओंके अभावका निर्णय सिद्ध हो गया है तो फिर इस ज्ञापकहेतु करके क्या लाभ निकला ? जिस ही प्रकार हेतुके वेश (शरीर) को बाधा देनेवालोंके असद्भावका निश्चय हो जानेपर पुनः हेतुके लिये अन्य हेतु देनेकी आवश्यकता नहीं है । अर्थात् जैसे वन्हिको साधनेके लिये दिये गये धूमहेतुको साधनेके लिये पुनः अन्य हेतुकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हेतुका शरीर बाधारहित होकर पहिलेसे ही निर्णीत है । इसी प्रकार साध्यके शरीरमें भी अन्य कारणोंसे बाधाओंके अभावका निर्णय होना मान लेनेपर फिर हेतुका प्रयोग करना कुछ भी प्रयोजनको करनेवाला नहीं ठहरता है ।

तत्साधनसमर्थत्वादकिंचित्करत्वं तथा वा विरहनिश्चये कुतश्चित्तस्य सद्भावसिद्धेः सततसाधनाय प्रवर्त्तमानस्य सिद्धसाधनादपि न साधीयस्तल्लक्षणत्वं ।

तिस कारण किन्हीं अन्य हेतुओंको ही बाधाओंके अभावके निर्णयको साधनेमें समर्थपना होनेसे प्रकृत कहा गया हेतु कुछ भी प्रयोजनसिद्धि करनेवाला नहीं है । अथवा तिस प्रकार चाहे जिस तिस अन्ट सन्ट कारणसे बाधाओंके अभावका निश्चय माननेपर तो किसी अन्य हेतुसे उन बाधाओंका सद्भाव भी सिद्ध हो जायगा । यदि उन अन्ट सन्ट कारणोंद्वारा निरन्तर बाधाओंके अभावको साधन करनेके लिये प्रवृत्ति करना माना जायगा, तब तो प्रकृतहेतुसे सिद्ध पदार्थका ही साधन हुआ । अतः सिद्ध साधन दोष हो जानेसे भी उन अबाधितविषयत्व आदिको हेतुका लक्षणपना अधिक अच्छा नहीं है ।

नन्वेवमविनाभावोपि लक्षणं माभून्निश्चयस्यापि साध्यसद्भावनियमनिश्चायायत्तत्वात् तस्य चाविनाभावाधीनत्वादितरेतराश्रयस्य प्रसंगात् इति चेन्न, अविनाभावनियमस्य हेतौ प्रमाणांतरान्निश्चयोपगमादितरेतराश्रयानवकाशात् । ऊहाख्यं हि प्रमाणमविनाभावनिश्चयनिबंधनं प्रत्यक्षानुमानयोस्तत्राव्यापारादित्युक्तं ।

यहां शंका है कि यों तो आप जैनोंके यहां भी इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष आता है । अतः हेतुका लक्षण अविनाभाव भी नहीं होवो, क्योंकि अविनाभावी हेतुका निश्चय तो साध्यके सद्भाव होनेपर ही हेतुका नियमसे होनारूप निश्चयके अधीन है । और वह नियमका निश्चय तो अविनाभावके अधीन है । इस कारण अन्योन्याश्रयदोषका प्रसंग आता है । आचार्य कहते हैं कि यह किसीकी अनुज्ञा ठीक नहीं है । क्योंकि अविनाभावरूप नियमका हेतुमें निश्चय करना अन्य तर्कज्ञान नामके प्रमाणसे स्वीकार किया गया है । अतः अन्योन्याश्रयदोषको अवकाश नहीं मिलता है । उपलम्भ और अनुपलम्भको निमित्त मानकर उत्पन्न हुआ ऊह नामका प्रमाण अविनाभावके निश्चय

करानेका ज्ञापक कारण है। उस अविनाभावके निश्चय करनेमें प्रत्यक्ष और अनुमानका व्यापार नहीं है, जिससे कि अन्योन्याश्रय दोष हो सके। इस बातको हम तर्कज्ञानको स्वतंत्ररूपसे परोक्ष प्रमाणपना सिद्ध करते समय कह चुके हैं।

तर्हि यत एवान्यथानुपपन्नत्वनिश्चयो हेतोस्तत एव साध्यसिद्धेस्तत्र हेतोरकिंचित्करत्वमिति चेन्न, ततो देशादिविशेषावच्छिन्नस्य साध्यस्य साधनात् सामान्यत एवोहात्तत् सिद्धेरित्युक्तप्रायं। अथवा—

नैयायिक कहते हैं कि तब तो जिस ही तर्कज्ञानसे हेतुके अविनाभावका निश्चय हुआ है, उस ही तर्कसे साध्यकी ज्ञप्ति भी हो जायगी। अतः उस साध्यका ज्ञापन करनेमें हेतु कुछ भी कार्यकारी नहीं हुआ, अकिंचित्कर हो गया। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उस अविनाभावी हेतुसे देश, काल, आकार, आदिकी विशेषताओंसे युक्त हो रहे साध्यका ज्ञापन किया जाता है। ऊहसे तो सामान्यरूपसे ही उस साध्यकी ज्ञप्ति हो चुकी थी अर्थात् जितने धूमवान् प्रदेश हैं वे अग्निमान् होते हैं। इस प्रकार सामान्यरूपसे साध्यको हम पहिलेसे ही जान रहे हैं। किन्तु पर्वतमें धूमके देखनेसे विशेषस्थलपर उस समय अग्निको हेतु द्वारा विशेषरूपसे जाना जाता है। इस बातको भी हम पहिले बहुत समझाकर कई बार कह चुके हैं अथवा दूसरी बात यह भी है कि:-

त्रिरूपहेतुनिष्ठानवादिनैव निराकृते।
हेतोः पंचस्वभावत्वे तद्ध्वंसे यतनेन किम् ॥ १९५ ॥

हेतुके पक्षसत्व, सपक्षसत्व, विपक्षव्यावृत्ति इन तीन रूपोंकी व्यवस्था करनेवाले बौद्धवादी करके ही जब हेतुके उक्त तीनके साथ अबाधितपन तथा सत्प्रतिपक्षपन इन पाच स्वभावसहितपनेका निराकरण करदिया गया है, अर्थात् पंचरूपोंका खण्डन करने पर ही तो बौद्धोंके त्रैरूप्यकी प्रतिष्ठा हो सकती है, ऐसी दशा होनेपर उस पंचरूपपनके खण्डन करनेमें हम व्यर्थ प्रयत्न क्यों करें? अर्थात् नैयायिकोंके हेतुकी पचरूपताको जब बौद्धोंने ही पंचत्व (मरण) पर पहुंचा दिया है तो हम इसके लिये व्यर्थ कष्ट क्यों उठावें, जिस अच्छे कार्यको दूसरे लोग समीचीन ढंगसे कर रहे हैं, उसमें हमारी सहानुभूति है।

न हि स्याद्वादिनामयमेव पक्षो यत्स्वयं पंचरूपत्वं हेतोर्निराकर्तव्यमिति त्रिरूपव्यवस्थानवादिनापि तन्निराकरणस्याभिमतत्वात् परमतमभिमतमप्रतिषिद्धमितिवचनात् तदलमत्राभिप्रयतनेनेति।

हम स्याद्वादियोंका यही पक्ष (आग्रह) नहीं है, जो हेतुके पंचरूपपनका स्वयं ही इस ढंगसे निराकरण करना चाहिये। किन्तु हेतुके तीन रूपकी व्यवस्थाको कहनेवाले बौद्धोंकरके भी

उस पंचरूपपनका निराकरण करना अभीष्ट सिद्धान्तसे ही अन्य नैयायिकोंका मत खंडित हो जाता है। दूसरोंका विरुद्ध मन्तव्य अपने अविरुद्ध अभिमतसे निषिद्ध कर दिया जाता है। तिस कारण इस प्रकरणमें हमारे चारों ओरके घोर प्रयत्नसे कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहा है। दूसरों द्वारा की जा रही और हमको अभीष्ट हो रही बातका हमें आह्वान करना चाहिये। यहांतक बौद्धोंके त्रैरूप्य और नैयायिकोंके पाचरूप्यका खण्डन करदिया गया है।

हेतुलक्षणं वार्तिककारेणैवमुक्तं " अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् " इति स्वयं स्याद्वादिनां तु तन्निराकरणप्रयत्ने त्रयं पंचरूपत्वं किमित्यपि वक्तुं युज्यते।

राजवार्त्तिकको बनानेवाले श्रीअकलंकदेवने हेतुका लक्षण इस प्रकार ही कहा है कि जहां अन्यथानुपपत्ति विद्यमान है उस हेतुमें तीनरूपों करके क्या प्रयोजन सधता है ? अर्थात् कुछ नहीं और जिस हेतुमें अन्यथानुपपत्ति नहीं है, वहां तीन रूपोंके बोझ होनेपर भी इष्टसिद्धि नहीं हो पाती है। ऐसे ही पाचरूपोंमें लगा लेना। इस प्रकार स्याद्वादियोंके यहां स्वयं उन रूपोंके निराकरण करनेका प्रयत्न होनेपर वह तीनरूपपना या पांचरूपपना क्या कर सकता है ? यानी कुछ नहीं, यह भी कहनेके लिये युक्त पड जाता है। इस विषयको अब यहां परिपूर्ण करते हैं।

साम्प्रतं पूर्ववदादित्रयेण वीतादित्रयेण वा किमिति व्याख्यानांतरं समर्थयितुं प्रत्यक्ष पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं चेति न्यायसूत्रस्य वाक्यभेदात्त्रिसूत्री कैश्चित् परिकल्पिता स्यात् तामनूद्य निराकुर्वन्नाह;—

इस समय पूर्ववत् (केवलान्वयी) शेषवत् (केवलव्यतिरेकी) और सामान्यतो दृष्ट (अन्वयव्यतिरेकी) इन तीनरूपकरके अथवा वीत, अवीत, और वीतावीत इन तीन भेदोंकरके कुछ भी दूसरे व्याख्यानको समर्थन करनेके लिये किन्हीं टीकाकारने न्यायसूत्रका उल्लेख कर यह कल्पना की है कि गौतमके बनाये हुये न्यायदर्शनका पाचवां सूत्र " **अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टं च** " इस सूत्रके वाक्योंका भेद हो जानेसे १ पूर्ववत् शेषवत् २ शेषवत् सामान्यतो दृष्ट, ३ पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्ट, इस प्रकार एक सूत्रमें योगविभागकर तीन सूत्रोंका समाहार किन्हीं विद्वानों द्वारा कल्पित किया जा सकता है। उस कल्पनाका अनुवाद कर निराकरण करते हुये आचार्य महाराज स्पष्ट कथन करते हैं।

पूर्वं प्रसज्यमानत्वात् पूर्वः पक्षस्ततोपरः।
शेषः सपक्ष एवेष्टस्तद्योगो यस्य दृश्यते ॥ १९६ ॥
पूर्ववच्छेषवत्प्रोक्तं केवलान्वयिसाधनम्।
साध्याभावे भवत्तच्च त्रिरूपान्न विशिष्यते ॥ १९७ ॥

पूर्ववत् शब्दमें पूर्व और मतुप् ये दोपद हैं । पूर्वमें प्रसंग प्राप्त हो रहा होनेसे पूर्वका अर्थ पक्ष है । उससे भिन्न शेषका अर्थ अन्वयदृष्टान्तरूप सपक्ष ही माना गया है । मतुप्का अर्थ योग है । उन पूर्व यानी पक्ष और शेष यानी सपक्ष इन दोनोंका जिस हेतुके योग देखा जाता है, वह पूर्ववत् शेषवत् अनुमान अच्छे ढंगसे कहा गया है । इस अनुमानका हेतु केवलान्वयी है । जैसे कि सभी पदार्थ कथन करने योग्य हैं, क्योंकि प्रमेय हैं । जैनोंके यहां कथन करने योग्य पदार्थोंसे भिन्न पडा हुआ अनंतानंतगुणा अनभिलाप्य पदार्थ माना गया है । किन्तु नैयायिकोंके यहा सम्पूर्ण पदार्थोंका ईश्वरकी इच्छारूप संकेत होकर निरूपण करना इष्ट किया है । अतः यहा केवलअन्वय ही मिलनेसे पूर्ववत् शेषवत्का अर्थ केवलान्वयि है । यह प्रमेयत्व हेतु पक्ष और सपक्षमें वर्त रहा है । इसपर आचार्य कहते हैं कि यदि आपका यह हेतु साध्यके अभाव होनेपर नहीं रहता है, तब तो बौद्धोंके त्रिरूपहेतुसे कोई भी विशेषता नहीं रखता है । अर्थात् पक्ष और सपक्षमें वृत्ति तो आपने मान ही लिया । किन्तु विपक्षमें व्यावृत्ति होना भी पीछेसे विकल्प उठानेपर मान लिया है । अत. त्रिरूपका खण्डन करनेसे पूर्ववत् शेषवत् हेतुका भी खण्डन हो जाता है । व्यर्थ परिश्रम क्यों करें ।

यस्य वैधर्म्यदृष्टांताधारः कश्चन विद्यते ।
तस्यैव व्यतिरेकोस्ति नान्यस्येति न युक्तिमत् ॥ १९८ ॥
ततो वैधर्म्यदृष्टान्ते नेष्टोवश्यमिहाश्रयः ।
तदभावेप्यभावस्याविरोधाद्धेतुतद्वतोः ॥ १९९ ॥

नैयायिक कहते हैं जिस हेतुका वैधर्म्य दृष्टान्तरूप कोई आधार (व्यतिरेक व्याप्तिके साधनेका सहारा) विद्यमान है, उस हेतुके ही साध्यके न रहनेपर हेतुका न रहनारूप व्यतिरेक माना जाता है । अन्य केवलान्वयी हेतुओंका व्यतिरेक नहीं है । आचार्य कहते हैं कि यह कहना तो युक्तियोंसे सहित नहीं है । क्योंकि तिस कारण वैधर्म्यदृष्टान्तमें आश्रय अवश्य होना ही चाहिये । ऐसा यहा इष्ट नहीं किया है । हेतु और उससे सहित साध्य इन दोनोंका उस साध्यके न होनेपर हेतुके अभाव हो जानेका कोई विरोध नहीं है । खरविषाण, वन्ध्यापुत्र, आदिमें व्यतिरेक बना लिया जाता है । वे भले ही वस्तुभूत नहीं हों । तभी तो व्यतिरेक अच्छा बन गया ।

केवलव्यतिरेकीष्टमनुमानं न पूर्ववत् ।
तथा सामान्यतो दृष्टं गमकत्वं न तस्य वः ॥ २०० ॥

केवलान्वयीका विचारकर अब केवलव्यतिरेकीका विचार करते हैं कि जिस प्रकार केवल व्यतिरेकव्याप्तिको रखनेवाले अनुमानको पूर्ववत् अनुमान नहीं इष्ट करते हो और वह अविनाभाव

नहीं होनेसे साध्यका बोधक नहीं है। उसी प्रकार तुम्हारे यहां सामान्यतो दृष्ट नामका, अन्वय-व्यतिरेकवाला वह हेतु भी साध्यका गमक न हो सकेगा।

तद्विरुद्धे विपक्षेऽस्यासत्त्वे व्यवसितेपि हि।
तदभावेत्वनिर्णीते कुतो निःसंशयात्मता ॥ २०१ ॥
यो विरुद्धोत्र साध्येन तस्याभावः स एव चेत्।
ततो निवर्तमानश्च हेतुः स्याद्वादिनां मतम् ॥ २०२ ॥

उस साध्यवान्से विरुद्ध विपक्षमें इस हेतुका अविद्यमानपना निर्णीत होनेपर भी उस साध्यके अभाव होनेपर हेतुके अभावका जबतक केवलान्वयी हेतुमें निर्णय नहीं हुआ है, तो तबतक संशयस्वरूपसे रहितपना भला कैसे कहा जा सकता है ! यदि नैयायिक यों कहें कि जो यहां साध्यसे विरुद्ध है, वही तो उस साध्यका अभाव है। यों कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि उस विरुद्धसे निवृत्त हो रहा हेतु मान लिया यही तो स्याद्वादियोंका सिद्धान्त है। यहांतक हेतुके दो भेदोंका विचार कर दिया गया है।

अन्वयव्यतिरेकी च हेतुर्यस्तेन वर्णितः।
पूर्वानुमानसूत्रेण सोप्येतेन निराकृतः ॥ २०३ ॥

उन नैयायिकों द्वारा पहिलेके अनुमानसूत्रकरके जो " पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्ट स्वरूप अन्वयव्यतिरेकवाले हेतुका वर्णन किया गया है, वह भी इस उक्त कथन करके खण्डित कर दिया गया है। जैसे कि पर्वतो वह्निमान् धूमात्, यहां " हेतुमन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगि साध्यसामानाधिकरण्य "रूप अन्वयव्याप्ति है। हेतुमान्में रहनेवाला जो अभाव उसका प्रतियोगी नहीं बननेवाले साध्यके साथ हेतुका समानाधिकरणपना अन्वय है। प्रसिद्ध उदाहरण यह है कि धूमवान् आधार पर्वत, रसोईघर, अधियाना, आदि हैं। उनमें अग्निका अभाव तो रहता नहीं है। हां, जल, मणि, घोडा, सिंह आदिका अभाव है। इन अभावोंके षष्ठीविभक्तिवाले प्रतियोगी जल आदिक हैं। अप्रतियोगी वह्नि है। उसका समानाधिकरणपना धूममें है। अतः धूमहेतुमें अन्वय व्याप्ति है। यहां रसोईघर आदिक अन्वयदृष्टान्त हैं। तथा " साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वरूपव्यतिरेकव्याप्ति भी धूमहेतुमें विद्यमान है। यहां साध्याभाव पदसे लिया वह्निका अभाव उसका व्यापक होरहा अभाव धुआंका अभाव है। क्योंकि थोडे देशमें रहनेवाले व्याप्यका अभाव अधिकदेशमें रह जानेके कारण व्यापक हो जाता है। और अधिक देशमें रहनेवाले व्यापकका अभाव थोडे देशमें वर्तनेसे व्याप्य हो जाता है। जैसे कि शीशम व्याप्य है, और वृक्ष व्यापक है, किन्तु नीम, आम, जामुनके पेडोंमें शीशोंपनका अभाव है, वृक्षपनका अभाव नहीं है। अतः शीशोंका

अभाव व्यापक है, और वृक्षका अभाव व्याप्य है। प्रकरणमें वह्निके अभावका व्यापक धुआंका अभाव है। जिसका अभाव किया गया है, वह उस अभावका प्रतियोगी होता है। अतः धूम प्रतियोगी हो गया। इस प्रकार धूआ अन्वयव्यतिरेकवाला हेतु हो सकता है। यह भी त्रैरूप्यके सदृश संदिग्ध हुआ। निःसंशयपना तो अन्यथानुपपत्तिसे ही प्राप्त होता है।

कार्यादित्रयवत्तस्मादेतेनापि त्रयेण किम्।
भेदानां लक्षणानां च वीतादित्रितयेन च ॥ २०४ ॥

जैसे कि कार्यहेतु, कारणहेतु, और अकार्यकारणहेतुओंका इस उक्त कथनसे निवारण हो जाता है, धुआ, घट आदि हेतुओंसे अग्नि, कुशूलरूप साध्योंका ज्ञान होनेपर कार्यसे कारणका ज्ञान माना गया है, और छत्र, कुशूल (मट्टीकी चाकपर ऊंची उठाई हुई घटकी पूर्व अवस्था) आदि कारणहेतुओंसे छाया, घट, आदि कार्योंका अनुमान करना कारणोंसे कार्योंका अनुमान है। तथा जो कार्य अथवा कारण भी नहीं हैं, उन हेतुओंसे कार्यकारणोंसे भिन्न हो रहे साध्योंका ज्ञान करना अकार्यकारण हेतुसे उत्पन्न हुआ अनुमान है। जैसे कृत्तिकाके उदयसे पूर्व कालमें उग चुके भरणी उदय या उत्तरकालमें उदय होनेवाले शकट उदयका ज्ञान कर लेना है। अथवा शद्वमें परिणामीपन साधनेके लिये दिया गया हेतु कृतकपना अकार्यकारण हेतु है। तिस कारण हेतुओंके इन तीन भेदोंके करनेसे और उनके लक्षणोंके तीन भेद करनेसे क्या लाभ निकला? अर्थात् कुछ प्रयोजन नहीं सिद्ध हुआ। अथवा कार्य, आदि तीन भेदोंके समान इन पूर्ववत् आदि हेतुके भेदों और लक्षणोंसे कोई फल नहीं सधता है। तथा वीत, अवीत, और वीतावीत इन तीन भेदवाले हेतु करके भी कोई लाभ नहीं हुआ। तथोपपत्ति यानी साध्यके रहनेपर ही हेतुका ठहरनारूप अन्वयव्याप्तिसे विशिष्ट हुये हेतुको वीत कहते हैं। जैसे कि घट, पट, आदिक पदार्थ (पक्ष) सत् हैं, (साध्य), प्रमेय होनेसे (हेतु) और जिस हेतुमें " साध्याभाववदवृत्तित्व " साध्याभाववाले विपक्षमें हेतुका नहीं रहनास्वरूप व्यतिरेकव्याप्ति केवल पायी जाती है, वह अवीत है। जैसे कि जीवितशरीर (पक्ष) आत्माओंसे सहित हैं। (साध्य), प्राण आदि सहितपना होनेसे (हेतु)। तथा जिस हेतुमें अन्वयव्यतिरेक दोनों घटजाते हैं, वह वीतावीत है। जैसे कि शद्व (पक्ष) अनित्य है (साध्य), कृतक होनेसे (हेतु), यहां " प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोग्यनाधिकरणीभूतहेत्वधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगितासामान्ये यत्संबधावच्छिन्नत्व यद्धर्मावच्छिन्नत्वोभयाभाववत्तेन सबन्धेन तद्धर्मावच्छिन्नस्य तद्धेतुव्यापकत्वं व्यापकसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः " यह व्याप्तिका लक्षण घट जाता है। वस्तुत यह कहना है कि अन्यथानुपपत्तिरूप व्याप्ति ही हेतुका प्राण है। अन्य किसीसे भी किसी विशेषप्रयोजनकी सिद्धि नहीं है। तथा संयोगी, समवायी, एकार्थसमवायी और विरोधी इन चार भेदों आदिसे भी कोई प्रयोजन नहीं सधता है।

पूर्ववच्छेषवत्केवलान्वयिसाधनं यथावयवावयविनौ गुणगुणिनौ क्रियाक्रियावंतौ जातिजातिमंतौ वा परस्परतो भिन्नौ भिन्नप्रतिभासत्वात् सह्यविंध्यवदिति तत्साध्याभावेपि यदि सत्तदानैकांतिकमेव । अथासत्कथं न व्यतिरेक्यपि ? साध्याभावे साधनस्याभावो हि व्यतिरेकः, स चास्यास्तीति तदा केवलान्वयिलिंगं त्रिरूपादविशिष्टत्वात् ।

नैयायिकों द्वारा माने गये हेतुओंका विवरण करते हैं । तिनमें केवल अन्वयव्याप्तिको धारनेवाला हेतु तो पहिला पूर्ववत् शेषवत् नामका है । जैसे कि अवयव और अवयवी, गुण और गुणी अथवा क्रिया और क्रियावान्, तथा जाति और जातिमान्, ये पदार्थ (पक्ष) परस्परमें एक दूसरेसे भिन्न हैं (साध्य) ज्ञान द्वारा न्यारा न्यारा प्रतिभास हो जानेसे (हेतु) सह्य और विंध्य पर्वतके समान (अन्वयदृष्टान्त) । इस प्रकार नैयायिकोंके द्वारा माने गये पूर्ववत् शेषवत् नामके हेतुमें हम जैन यह पूछते हैं कि वह केवलान्वयी हेतु यदि साध्यके नहीं रहनेपर भी कहीं विद्यमान रहता है, तब तो व्यभिचारी ही हुआ और वह भिन्नप्रतिभासपना हेतु यदि साध्यका अभाव रहनेपर भी नहीं विद्यमान रहता है तो भला वह साधनव्यतिरेकी भी क्यों नहीं होगा ? अर्थात् नैयायिकोंसे माना गया केवलान्वयी हेतु भी व्यतिरेक व्याप्तिको धारनेवाला बन गया । क्योंकि साध्यके नहीं रहनेपर नियमसे हेतुका नहीं रहना ही व्यतिरेक माना गया है । और वह व्यतिरेक इस भिन्नप्रतिभासत्व हेतुका विद्यमान है, तब तो इस प्रकार नैयायिकों द्वारा माना गया केवलान्वयी हेतु बौद्धोंके तीन रूपवाले हेतुसे कोई विशेषता नहीं रखता है । भावार्थ—केवल अन्वयव्याप्तिको ही रखनेवाला माना गया हेतु व्यतिरेकव्याप्तिको भी धारनेवाला हो गया । ऐसी दशामें नैयायिकों द्वारा हेतुके पूर्ववतशेषवत् (केवलान्वयी) १ पूर्ववत् सामान्यतो दृष्ट (केवलव्यतिरेकी) २ पूर्ववत्शेषवत् सामान्यतो दृष्ट (अन्वयव्यतिरेकी) ३ हेतुके ये तीन भेद करना व्यर्थ हुआ । क्योंकि केवलान्वयी और अन्वयव्यतिरेकीमें कोई अन्तर नहीं रहा । त्रैरूप्यके समान यहां भी व्यभिचारकी शंका बनी रहती है ।

वैधर्म्यदृष्टांताधाराभावान्नास्य व्यतिरेक इति चेन्नेदं युक्तिमत्, तदभावेपि साध्याभावप्रयुक्तस्य साधनाभावस्याविरोधात् । न ह्यभावे कस्यचिदभावो विरुध्यते खरविषाणाभावे गगनकुसुमाभावस्य विरोधप्रसंगात् सर्वत्र वैधर्म्यदृष्टांताधिकरणस्यावश्यंभावितया निष्टत्वाच्च ।

यदि नैयायिक यों कहें कि इस भिन्नप्रतिभासत्व हेतुका कोई वैधर्म्यदृष्टान्तरूप आधार नहीं है । इस कारण व्यतिरेक नहीं घटता है । ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार नैयायिकोंका यह कहना तो युक्तिसहित नहीं है । क्योंकि उस वैधर्म्यदृष्टान्तके न होनेपर भी साध्यका अभाव रहनेपर प्रयुक्त किया गया साधनके अभावका कोई विरोध नहीं है । किसी एक विवक्षित पदार्थके अभाव होनेपर किसी एक पदार्थका अभाव होना सर्वथा विरुद्ध नहीं हो रहा है । अन्यथा खरविषाणके अभाव

होनेपर आकाशपुष्पके अभावका विरोध होजानेका प्रसंग आ जावेगा। बात यह है कि सभी वैधर्म्य दृष्टान्तोंमें अधिकरणका आवश्यकरूपसे होनापन इष्ट नहीं किया है। अर्थात् पर्वत वह्निवाला है, धूम होनेसे, यहां वैधर्म्यदृष्टान्त सरोवर मिल जाता है, किन्तु सम्पूर्ण पदार्थ अनेक धर्मस्वरूप हैं, सत् होनेसे, यहां अश्वविषाणके वैधर्म्यदृष्टान्त होते हुये भी वस्तुभूत अश्वविषाणरूप आधार विद्यमान नहीं है। फिर भी वैधर्म्यदृष्टान्त वह मान लिया गया है।

किं चेदं भिन्नप्रतिभासत्वं यदि कथञ्चित्तदान्यथानुपपन्नत्वादेव कथञ्चिद्भेदसाधनं नान्वयित्वात् द्रव्यं गुणकर्मसामान्यविशेषसमवायप्रागभावादयः प्रमेयत्वात् पृथिव्यादिवदित्येतस्यापि गमकत्वप्रसंगात्। धर्मिग्राहकप्रमाणबाधितत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वान्नेदं गमकमिति चेत्, तर्ह्यबाधितविषयत्वमपि लिंगलक्षणं तच्चान्यथानुपपन्नत्वमेवेत्युक्तं।

एक बात हम नैयायिकोंसे पूछते हैं कि यह गुणगुणी आदिकोंमें सर्वथा भेदको साधनेवाला भिन्न प्रतिभासत्व हेतु यदि कथंचित् न्यारा न्यारा प्रतिभास होनारूप है, तब तो अन्यथानुपपत्ति होनेसे ही गुण, गुणी, क्रिया, क्रियावान्, आदिमें कथंचित् भेदको साध देवेगा, जो कि हम जैनोंको इष्ट ही है। आत्मा ज्ञान, या चलना चलनेवाले, आदिमें कथंचित् भेद हमने स्वीकार किया है। हां, नैयायिकोंके विचार अनुसार केवलान्वयीपनेसे सर्वथा भेदको साधना आवश्यक न हुआ, फिर भी यदि अन्वयसहितपनेसे ही हेतु साध्यका ज्ञापक माना जावेगा तो गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और प्रागभाव, ध्वंस, अन्योन्याभाव, अत्यन्ताभाव ये सम्पूर्ण भाव, अभाव पदार्थ (पक्ष) द्रव्यस्वरूप हैं (साध्य), प्रमेय होनेसे (हेतु), जैसें कि पृथिवी, जल, तेज, आदिक पदार्थ द्रव्य माने गये हैं (अन्वयदृष्टान्त), इस अनुमानमें दिये गये प्रमेयत्व हेतुको भी अन्वयदृष्टांतवाला होनेसे ज्ञापकपनेका प्रसंग हो जावेगा। नैयायिक या वैशेषिकोंने गुण, कर्म, आदिमें द्रव्यपना इष्ट नहीं किया है। इसपर नैयायिक यदि यों कहें कि गुण, कर्म आदिकरूप पक्षको ग्रहण करनेवाले प्रमाणसे बाधित हो जानेके कारण कालात्ययापदिष्ट (बाधित) हो जानेसे यह हेतु गमक नहीं है, अर्थात् जो भी कोई प्रमाण गुण आदि पक्षको जानेगा वह द्रव्यसे भिन्नरूप ही उनको जानेगा तो फिर ऐसी दशा होनेपर गुण आदिमें द्रव्यपना साधना बाधित है। अतः प्रमेयत्व हेतु बाधित हेत्वाभास हुआ, इस प्रकार नैयायिकोंके कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि तब तो अबाधित विषयपना भी हेतुका लक्षण बन गया और वह ठीक अबाधितपना अन्यथानुपपत्तिरूप ही तो है। इस बातको हम पूर्वमें कह चुके हैं।

सत्प्रतिपक्षत्वान्नेदं गमकत्वमिति चेत्तर्हि असत्प्रतिपक्षत्वं हेतुलक्षणं तदप्यविनाभाव एवेति निवेदितं ततोन्यथानुपपन्नत्वाभावादेवेदमगमकं।

गुण, कर्म, आदिमें द्रव्यपनका निषेध साधनेवाला प्रतिपक्षी हेतु गुणवत्त्व या कर्मवत्त्व विद्यमान है। अतः सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास हो जानेसे यह प्रमेयत्व हेतु गमक नहीं है। इस प्रकार

नैयायिकोंके कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि तब तो सत्प्रतिपक्षरहितपना भी हेतुका लक्षण बन गया, जो कि नैयायिकोंने इष्ट किया है। किन्तु वह भी अविनाभाव ही हुआ, इस बातका निवेदन भी हम कर चुके हैं। तिस कारण अन्यथानुपपत्ति न होनेके कारण ही यह प्रमेयत्व हेतु साध्यका गमक नहीं बना। यहांतक कथञ्चित् पक्षका विचार किया। अब दूसरे सर्वथा पक्षका विचार करते हैं।

एतेन सर्वथा भिन्नप्रतिभासत्वं भेदसाधनमगमकमुक्तं कालात्ययापदिष्टत्वसत्प्रतिपक्षत्वाविशेषात्। अवयवादीनां हि सत्त्वादिना कथंचिदभेदः प्रमाणेन प्रतीयते सर्वथा तद्भेदस्य सकृदप्यनवभासनात्। तत एवासिद्धत्वान्नेदं गमकं सिद्धस्यैवान्यथानुपपत्तिसंभवात्।

इस उक्त कथनकरके द्वितीय विकल्प अनुसार सर्वथा भिन्न प्रतिभासीपना हेतु भी गुण, गुणी, आदिके भेदको साधनेमें गमक नहीं है। यह बात कही जा चुकी है। क्योंकि बाधितपना और सत्प्रतिपक्षपना ये दोनों दोष अन्तररहित होते हुये आ जाते हैं। अर्थात् कथंचित भिन्न प्रतिभासीपन और सर्वथा भिन्नप्रतिभासीपन ये दोनों ही हेतु सर्वथा भेदको साधनेमें बाधित और सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास हैं। अवयव अवयवी आदिकोंका सत्त्व, वस्तुत्व आदि हेतुओंसे कथंचित् अभेद हो रहा प्रमाणो द्वारा प्रतीत हो रहा है। सभी प्रकार उनका भेद एक बार भी अद्यावधि नहीं भासता है। तिस ही कारण असिद्ध हेत्वाभास होनेसे यह भिन्न प्रतिभासत्वहेतु सर्वथा भेदका गमक नहीं है। पक्षमें सिद्ध हो रहे ही हेतुकी अन्यथानुपपत्ति भले प्रकार सम्भवती है। यहांतक नैयायिकोंके पहिले हेतुका परामर्श हो चुका।

तथा पूर्ववत्सामान्यतोऽदृष्टं केवलव्यतिरेकिलिंगं विपक्षे देशतः कात्स्न्र्यतो वा तस्यादृष्टत्वात्। सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वात् यन्न सात्मकं तन्न प्राणादिमत् दृष्टं यथा भस्मादि न च तथा जीवच्छरीरं तस्मात्सात्मकमिति। तदेतदपि न परेषां गमकं। साध्यविरुद्धे विपक्षे अननुभूयमानमपि साध्याभावे विपक्षे स्वयमसत्त्वेनानिश्चयात् तत्र तत्र तस्य सत्त्वसंभावनायां नैकांतिकत्वोपपत्तेः।

तिसी प्रकार नैयायिकोंने दूसरे पूर्ववत् सामान्यतोऽदृष्टको केवलव्यतिरेकी हेतु माना है। क्योंकि सामान्यतो दृष्टमेंसे अकारका प्रश्लेष निकालकर विपक्षमें एक देशसे अथवा सम्पूर्णरूपसे रहता हुआ वह केवलव्यतिरेकी हेतु नहीं देखा गया है। अतः अन्वयदृष्टान्तके न मिलनेसे यह हेतु अकेले व्यतिरेकको ही धारनेवाला कहा जाता है। जैसे कि यह जीवित हो रहा शरीर (पक्ष) आत्मासे सहित है (साध्य), प्राण, वायु, नाडी चलना, उष्णता आदिसे सहित होनेसे (हेतु), जो पदार्थ आत्मासे सहित नहीं है, वे प्राण आदिसे सहित नहीं देखे गये हैं। इस व्याप्तिके भस्म, डेल, आदि दृष्टान्त हैं, (व्यतिरेक उदाहरण), तिस

प्रकारका प्राण आदिसे रहित जीवित शरीर नहीं है (उपनय) । तिस कारण जीवितशरीर आत्मासे सहित है (निगमन) । यह केवलव्यतिरेकी हेतुका उदाहरण प्रसिद्ध है । सो यह भी उन न्यारे नैयायिकोंके यहां माना गया " पूर्ववत् सामान्यतोऽदृष्ट " हेतु साध्यका बोधक नहीं हो सकता है । क्योंकि साध्यसे विरुद्ध हो रहे भस्म आदि विपक्षमें यद्यपि अनुभव नहीं किया जा रहा है, तो भी साध्याभावरूप विपक्षमें हेतुका स्वयं नहीं रहनेपनसे निश्चय नहीं हो रहा है । उन उन विपक्षोंमें उस हेतुके विद्यमान रहनेकी सम्भावना हो जाना माननेपर तो प्राणादिमत्त्व हेतु व्यभिचारी बन जावेगा ।

साध्यविरुद्ध एव साध्याभावस्ततो निवर्तमानत्वाद्गमकमेवेदमिति चेत् तर्हि तदन्यथानुपपन्नत्वसाधनं साध्याभावसंभवानियमस्यैव स्याद्वादिभिरविनाभावस्येष्टत्वात् न पुनः केवलव्यतिरेकित्वान्नेदं क्षणिकं शद्बत्वाच्चित्तशून्यं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वात् सर्वं क्षणिकं सत्त्वादित्येवमादेरपि गमकत्वप्रसंगात् ।

इसपर यदि नैयायिक यों कहें कि साध्यसे विरुद्ध ही तो साध्याभावरूप विपक्ष है । उस विपक्षसे निवृत्त हो रहा होनेके कारण यह प्राणादिमत्त्व हेतु आत्मसहितपनेका गमक ही है । तब तो हम जैन कहेंगे कि वह केवलव्यतिरेकीपना हेतुकी अन्यथानुपपत्तिको साध रहा है । साध्यके अभाव होनेपर हेतुका नियमसे असम्भव होनेको ही स्याद्वादियोंने अविनाभाव अभीष्ट किया है । तब तो अन्यथानुपपत्तिसे ही हेतुका गमकपना सिद्ध हुआ । किन्तु फिर केवल व्यतिरेकीपनसे नहीं। यदि अन्यथानुपपत्तिका त्यागकर कोरे केवलव्यतिरेकीपनसे ही हेतुको गमक माना जायगा तो यह (पक्ष) क्षणिक नहीं है (साध्य), शद्बपना होनेसे (हेतु), इस अनुमानका शद्बत्व हेतु भी गमक हो जाओ। किन्तु नैयायिकोंने शद्बको दो क्षणतक ठहरनेवाला क्षणिक माना है " योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्तियोग्यविभुविशेषगुणनाश्यत्वनियमात् ", पहिले क्षणमें शद्ब उत्पन्न होता है। दूसरे क्षणमें ठहरता है । तीसरे क्षणमें नष्ट हो जाता है । हां, अपेक्षाबुद्धिका तीन क्षणतक ठहरना इष्ट किया है । अतः नैयायिकोंके यहां क्षणिकत्वका अभाव साधनेके लिये दिया गया शद्बत्व हेतु सद्धेतु नहीं माना गया है । भले ही वह बिजली चकचा आदि विपक्षोंमें नहीं ठहरे तथा जीवितशरीर (पक्ष) आत्मासे रहित है (साध्य), प्राण आदि करके विशिष्ट होनेसे (हेतु) और सम्पूर्णपदार्थ (पक्ष) क्षणिक हैं (साध्य) सत्रूप होनेसे (हेतु) इस प्रकारके अन्य भी छाया, अग्नि आदि हेतुओंको भी अपने साध्यकी ज्ञप्ति करानेपनका प्रसंग आवेगा । कौन रोक सकता है ? ।

साध्याभावेऽप्यस्य सद्भावान्न साधनत्वमिति चेत् तर्ह्यन्यथानुपपत्तिबलादेव परिणामिना सात्मकत्वे प्राणादिमत्त्वं साधनं नापरिणामिना सर्वथा तदभावात् ।

यदि नैयायिक यों कहें कि साध्यके न रहनेपर भी इन सत्त्व, प्राणादिमत्त्व, आदि हेतुओंका सद्भाव है, अतः ये समीचीन हेतु नहीं हैं, जैन कहते हैं कि इस प्रकार कहनेपर तो यही आया

कि अन्यथानुपपत्तिकी सामर्थ्यसे ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य–रूप परिणामसे युक्त हो रहे आत्माका सहितपना साधनेमें प्राणादिमत्त्व हेतु समीचीन है। हां, परिणमन करनेसे रहित सर्वथा कूटस्थ आत्मासे सहितपना जीवित शरीरमें प्राणादिमत्त्व हेतुकरके नहीं साधा जासकता है। क्योंकि अपरिणामी आत्मासे सहितपनके साथ प्राणादिमत्त्व हेतुकी उस अन्यथानुपपत्तिका अभाव है। अत. नैयायिकोंद्वारा माना गया हेतुका दूसरा भेद भी प्रतिष्ठित नहीं हो सका।

तथा पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टमन्वयव्यतिरेकिसाधनं, यथाग्निरत्र धूमादिति। तदपि केवलव्यतिरेकिणो योगोपगतस्य निराकरणादेव निराकृतं, साध्याभावासंभवनियमनिश्चयमंतरेण साधनत्वासंभवात्।

तथा तीसरा भेद अन्वय और व्यतिरेक दोनोंसे सहित हेतुको साधनेवाला " पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्ट " है। जैसे कि इस पर्वतमें आग है, धूम होनेसे, इस प्रयोगके धूम हेतुमें अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति दोनों बन जाती हैं। इस प्रकार वह तीसरा अन्वय व्यतिरेकी हेतु भी नैयायिकों द्वारा स्वीकार किये गये दूसरे केवलव्यतिरेकी हेतुका खण्डन कर देनेसे ही निराकृत कर दिया गया है। क्योंकि साध्यके न रहने पर हेतुका नहीं सम्भवनारूप नियमके निश्चय विना कोरे अन्वय या व्यतिरेकसे सद्धेतुपनेका असम्भव है।

तदनेन न्यायवार्तिकटीकाकारव्याख्यानमनुमानसूत्रस्य त्रिसूत्रीकरणेन प्रत्याख्यातं प्रतिपत्तव्यमिति लिंगलक्षणानामन्वयित्वादीनां त्रयेण पक्षधर्मत्वादीनामिव न प्रयोजनं।

तिस कारण इस उक्त कथन करके न्यायवार्तिककी टीका करनेवालेके उस व्याख्यानका खण्डन कर दिया गया समझलेना चाहिये, जो कि " अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टञ्च " इस गौतमके बनाये हुये अनुमानसूत्रका योगविभागकर तीन सूत्रोंके समुदाय कर देनेसे बखाना गया है। इस प्रकार हेतुके अन्वयसहितपन, व्यतिरेकसहितपन, और अन्वयव्यतिरेकसहितपन, लक्षणोंके तीन अवयवों करके नैयायिकोंके यहां कुछ भी प्रयोजन नहीं सधा, जैसे कि बौद्धोंके द्वारा माने गये पक्षवृत्तित्व, सपक्षवृत्तित्व, विपक्षव्यावृत्ति, इन तीन रूपोंसे कोई प्रयोजन नहीं निकलता है।

नापि पूर्ववदादिभेदानां कार्यादीनामिव सत्यन्यथानुपपन्नत्वे तेनैव पर्याप्तत्वात्।

तथा पूर्ववत्, १ या शेषवत्, २ अथवा सामान्यतो दृष्ट ३ इन भेदोंके त्रय करके भी कोई फल नहीं है। जैसे कि कार्य और कारण तथा अकार्यकारण इन तीन भेदोंकरके कोई अभीष्ट सिद्ध नहीं होता है। एवं वीत, आदिकोंका कोई प्रयोजन नहीं है। हेतुमें अन्यथानुपपत्तिके होनेपर उसमे ही संपूर्ण प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं। अर्थात् अकेली अन्यथानुपपत्ति ही हेतुकी परिपूर्ण शक्ति है।

यदप्यत्रावाचि उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुरिति वीतलक्षणं लिंगं तत्स्वरूपेणार्थपरिच्छेदकत्वं वीतधर्म इति वचनात् तद्यथा—

और भी यहां जो यह कहा गया था कि उदाहरणके समानधर्मपनेसे साध्यको साधनेवाला हेतु है। इस प्रकार वीतनामक हेतुका लक्षण है। क्योंकि उस हेतुके स्वरूपकरके साध्यरूप अर्थकी ज्ञप्ति करा देनापन वीतहेतुका धर्म है, ऐसा मूलग्रन्थोंमें कहा गया है। उसीको उदाहरणपूर्वक स्पष्ट दिखलाते हैं कि—

अनित्यः शब्दः उत्पत्तिधर्मकत्वाद्घटवदिति शब्दरूपेणोत्पत्तिधर्मकत्वेनानित्यत्वार्थस्य परिच्छेदात्। तथोदाहरणवैधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुरित्यवीतलक्षणं परपक्षप्रतिषेधेनार्थपरिच्छेदने वर्त्तमानमवीतमिति वचनात्। तद्यथा—नेदं नैरात्मकं जीवच्छरीरम प्राणादिमत्त्वप्रसंगादिति। यदुभयपक्षसंप्रतिपन्नमप्राणादिमत्तन्निरात्मकं दृष्टं यथा घटादि न चेदमप्राणादिमज्जीवच्छरीरं तस्मान्न निरात्मकमिति निरात्मकत्वस्य परपक्षस्य प्रतिषेधनं जीवच्छरीरे सात्मकत्वस्यार्थपरिच्छित्तिहेतुत्वादिति न्यायवार्त्तिककारवचनात्।

शब्द (पक्ष) अनित्य है (साध्य), उत्पत्ति नामके धर्मसे सहित होनेके कारण (हेतु), जैसे कि घडा। यहां शब्दके स्वरूप हो रहे उत्पत्ति धर्मसहितपने करके अनित्यपनारूप साध्य अर्थकी ज्ञप्ति की गई है। यह पहिले वीतका उदाहरण हुआ। तथा उदाहरणके विधर्मापनेसे साध्यको साधनेवाला हेतु है। यह अवीत हेतुका लक्षण है। क्योंकि साध्यसे न्यारे परपक्षका निषेध करके साध्य अर्थकी ज्ञप्ति करनेमें वर्त्तरहा हेतु अवीत है। इस प्रकार ग्रन्थोंमें कहा गया है। उसीको उदाहरण द्वारा कहते हैं कि यह जीवित शरीर (पक्ष) आत्मरहित नहीं है (साध्य)। अन्यथा प्राणादिसहितपनके अभावका प्रसग हो जावेगा (हेतु)। इस प्रकार निषेधपूर्वक साध्यकी विधि समझाई गई है। न्यायवार्त्तिकको बनानेवाले विद्वान्ने भी ऐसा कथन किया है कि जो वादी, प्रतिवादी, इन दोनोंके पक्ष अनुसार भले प्रकार प्राण आदि युक्तसे भिन्न जान लिया गया है, वह आत्मासे रहित देखा गया है। जैसे कि घडा, रेत, आदि पदार्थ हैं (व्यतिरेकदृष्टान्त), यह जीवितशरीर प्राणादिमान्से भिन्न नहीं है (उपनय), तिस कारण आत्मरहित नहीं है (निगमन)। इस प्रकार आत्मरहितपनारूप परपक्षका निषेध करना जीवितशरीरमें आत्मसहितपनरूप अर्थकी परिच्छित्तिका कारण होनेसे अवीत हेतु माना गया है। यहांतक दूसरे अवीतका निरूपण किया।

तथोदाहरणसाधर्म्यवैधर्म्याभ्यां साध्यसाधनमनुमानमिति वीतावीतलक्षणं स्वपक्षविधानेन परपक्षप्रतिषेधेन चार्थपरिच्छेदहेतुत्वात्। तद्यथा—साग्निः पर्वतोयमनग्निर्न भवति धूमवत्त्वादन्यथा निर्धूमत्वप्रसंगात्। धूमवान्महानसः साग्निर्दृष्टोऽनग्निस्तु महानसो निर्धूम इति तदेतद्वीतादित्रितयं यदि साध्यभावासंभूष्णु तदान्यथानुपपत्तिबलादेव गमकत्व न पुनर्वीतादित्वेनैवेत्यन्यथानुपपत्तिविरहेपि गमकत्वप्रसंगात्।

तथा उदाहरणके सधर्मापन और विधर्मापनसे साध्यकी ज्ञप्ति सधादेनेवाला अनुमान होता है। इस प्रकार वीतावीत तीसरे हेतुका लक्षण किया गया है। अपने पक्षकी विधिकरके और पर

पक्षका निषेध करके अर्थकी परिछित्तिका हेतु होनेसे वीतावीत हेतु माना जाता है। उसीका उदाहरण कहते हैं कि यह पर्वत अग्निसहित है (विधि) अग्निरहित नहीं है (प्रतिज्ञा), धूमसहित होनेसे (हेतु) अन्यथा यानी पर्वतको अग्निरहित माना जावेगा तो धूमरहितपनेका प्रसंग हो जावेगा। देखिये, रसोईघर धूमसहित होता हुआ अग्निसहित ही देखा गया है। अग्निसे रहित हो रहा रसोई घर तो धूमरहित देखा जाता है (निषेध)। इस प्रकार वीतावीत हेतु सिद्ध हुआ। सो यह वीत, अवीत, और वीतावीतका त्रितय भी यदि साध्य सद्भावके अभाव होनेपर नहीं सम्भवनेकी टेव रखता है, तब तो अन्यथानुपपत्तिकी सामर्थ्यसे ही इनमें गमकपना आया। फिर वीतपन, अवीतपन, आदि करके ही कुछ प्रयोजन नहीं सधा। यदि वीतपन आदि करके ही सद्धेतुपना मान लिया जायगा तो अन्यथानुपपत्तिके न होनेपर भी मित्रातनयत्व आदि हेत्वाभासोंको वीत या अवीतपनेकरके गमकपनेका प्रसंग हो जावेगा। अतः वीत आदिका कहा गया लक्षण या भेद करना प्रशस्त नहीं है।

यदि पुनरन्यथानुपपत्तिर्वीतादित्वं प्राप्य हेतोर्लक्षणं तदा "देवतां प्राप्य हरीतकी विरेचयते" इति कस्यचित्सुभाषितमायातं। हरीतक्यन्वयव्यतिरेकानुविधानाद्विरेचनस्य न स्वदेवतोपयोगिनी तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावात्तस्येति प्रकृतेपि समानं। हेतोरन्यथानुपपत्तिसदसत्त्वप्रयुक्तत्वाद्गमकत्वागमकत्वयोरिति न किंचिद्वीतादित्रितयेन लक्षणानां भेदानां वा सर्वथा गमकत्वानंगत्वात् सर्वभेदासंग्रहाच्च ॥

यदि फिर प्रतिवादियोंका यह कहना होय कि वीत आदिपनेको प्राप्त होकर अन्यथानुपपत्ति तो हेतुका लक्षण बनसकता है। स्वतन्त्र अन्यथानुपपत्ति हेतुका लक्षण नहीं है। आचार्य कहते हैं कि तब तो यह परिभाषा चरितार्थ हुई कि देवताको प्राप्त होकर हर्र रेचन (दस्तावर) कराती है। देवताको प्राप्त नहीं हुई हर्र कुछ नहीं करेगी। इस प्रकार किसीका विनोदयुक्त या श्रद्धापूर्ण भाषण मान लिया आगया कहना चाहिये। भावार्थ—शक्ति दुर्गा आदि देवताओंके किसी अन्धभक्तका विचार है कि सम्पूर्ण कार्योंको देवता करते हैं। अन्नदेवता, जलदेवता ही गेहूं, जौ, चना, पानी, ठंडाई, आदिमें प्रविष्ट होकर भूंख, प्यासको दूर करते हैं। रेलगाडीको चलानेवाले इञ्जनमें भी धुआं निकालनेवाले भोंपूके पीछे महादेवकी पिण्डी स्थापित है। वही एंजिनको चलाती है। मोटरकारमें भी देवता घुसा हुआ है। घडी, कुतुबनुमा, थरमा मेटर (तापमापकयंत्र) बिजलीघर आदिमें भी देवता कार्य करते हैं, इत्यादि अज्ञतापूर्ण किंवदन्तियोंको कहनेवालोंने पदार्थोंकी स्वतंत्रशक्ति जैसे नहीं मानी है, उसी प्रकार इस प्रतिवादीने अन्यथानुपपत्तिको हेतुकी शक्ति न मानकर वीतपन अवीतपन आदिको ही हेतुका प्रधानस्वरूप स्वीकार किया है। अन्यथानुपपत्तिको गौणरूप दिया गया है। जिस प्रकार हण्ड, ऐंजन, कुतुबनुमा आदिमें कोई देवता नहीं बैठा है, सम्पूर्ण पदार्थ अपनी गांठकी शक्तियोंसे अर्थक्रियाओंको कर रहे हैं, अन्यथानुपपत्ति भी हेतुका स्वरूप होती हुई हेतुको साध्यका गमक बना देती है। मध्यमें वीत आदिपनेको डालनेकी आवश्य-

कता नहीं है। यदि साख्य यों कहें कि विशेषरूपसे कई वार हंगनेका हरडके साथ अन्वयव्यतिरेक बन रहा है, अपना इष्टदेवता तो रेचन करानेमें उपयोगी नहीं है। क्योंकि उस देवताके साथ उस रेचनक्रियाका अन्वयव्यतिरेक इस ढंगसे नहीं बनता है कि हर्रमें देवताके होनेपर मल निकल जाता है, और हरडमें देवताके न होनेपर रेचन नहीं होता है। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार अन्वयव्यतिरेकका अनुविधान नहीं करना तो प्रकरणप्राप्त हेतुमें भी समानरूपसे विद्यमान है। अर्थात् वीतपन आदिके होनेपर हेतुका गमकपना और वीतपन आदिके नहीं होनेपर हेतुका नहीं गमकपना यह अन्वयव्यतिरेक नहीं बनता है। हां, अन्यथानुपपत्तिके साथ अन्वय-व्यतिरेक बन जाता है। अन्यथानुपपत्तिकी सत्तासे हेतुका गमकपना प्रयुक्त किया गया है। और अन्यथानुपपत्तिकी असत्तासे हेतुका अगमकपना प्रयोजन रखता है। इस प्रकार हेतुके वीत आदि तीन अवयवोंसे कुछ प्रयोजन नहीं निकला तथा हेतुके लक्षण और भेदोंके मनगढन्त स्वरूपोंसे कुछ लाभ नहीं है। क्योंकि वे सभी प्रकारोंसे हेतुके गमकपनेके प्रयोजक अंग नहीं हैं। तथा यह भी बात है कि उन पूर्ववत् आदि या वीत आदि भेदोंमें सम्पूर्ण हेतुओंके भेदोंका समावेश भी नहीं हो पाता है।

कारणात्कार्यविज्ञानं कार्यात्कारणवेदनम्।
अकार्यकारणाच्चापि दृष्टात्सामान्यतो गतिः ॥ २०५ ॥
तादृशी त्रितयेनापि नियतेन प्रयोजनम्।
किमेकलक्षणाध्यासादन्यस्याप्यनिवारणात् ॥ २०६ ॥

पूर्ववत् आदिका ही व्याख्यान कोई इस प्रकार करते हैं अथवा स्वतन्त्ररूपसे कार्य, कारण, अकार्यकारण ये तीन हेतुके भेद न्यारे माने गये हैं। तिनमें कारणसे कार्यका विज्ञान होना, जैसे कि छत्रसे छायाको जान लेना १ और कार्यसे कारणका ज्ञान करना, जैसे धुयेंसे आगको पहिचानना २ तथा कार्यकारणभावसे रहित किसी पदार्थसे नियत हो रहे, दूसरे कार्यकारण भिन्न पदार्थकी ज्ञप्ति हो जाना, जैसे कि कृत्तिकोदयसे मुहूर्त पीछे होनेवाले रोहिणीके उदयको जान लेना ३। ये भी सामान्यसे देखे हुये पदार्थोंद्वारा तिसप्रकार अन्य पदार्थोंकी ज्ञप्ति है। यहां भी इन तीनोंसे कोई प्रयोजन नहीं निकलता है। हां, यदि अन्यथानुपपत्तिरूप नियमसे नियत हो रहे उक्त तीन हेतुओंसे साध्यकी ज्ञप्ति होना इष्ट करोगे, तब तो एक अन्यथानुपपत्तिरूप लक्षणके अधिष्ठित हो जानेसे ही हेतुका गमकपना निर्णीत हुआ। दूसरा लाभ यह भी है कि अन्य हेतुओंका भी संग्रह हो जाता है। अनुपलब्धि, उत्तरचर, आदि हेतुओंका निवारण नहीं किया जा सकता है।

ननु च यववीजसंतानोत्थं च कारणं वानुभयं वा स्यात् सर्वं वस्तुकार्यं वा नान्या गतिरस्ति यतोऽन्यदपि लिंगं संभाव्यतेऽन्यथानुपपन्नत्वाध्यासादिति चेन्न, उभयात्मनोपि वस्तुनो भावात्। यथैव हि कारणात्कार्येऽनुमानं वृष्ट्युत्पादनशक्तयोमी मेघा गंभीरध्वानत्वे चिरप्रभावत्वे च सति समुन्नतत्वात् प्रसिद्धैवंविधमेघवदिति। कार्यात्कारणे वह्निरत्र धूमान्महानसवदिति। अकार्यकारणादनुभयात्मनि ज्ञानं मधुररसमिदं फलमेवंरूपत्वात्तादृशान्य फलवदिति। तथैवोभयोत्मकात् लिंगादुभयात्मके लिंगिनि ज्ञानमविरुद्धं परस्परोपकार्योपकारकयोरविनाभावदर्शनात्, यथा वीजांकुरसंतानयोः। न हि वीजसंतानोऽकुरसंतानाभावे भवति, नाप्यंकुरसंतानो बीजसंतानाभावे यतः परस्परं गम्यगमकभावो न स्यात्। तथा चास्त्यत्र देशे यववीजसंतानो यवांकुरसंतानदर्शनात्। अस्ति यवांकुरसंतानो यववीजोपलब्धेरित्यादि लिंगांतरसिद्धिः।

कार्य आदि तीन हेतुओंको माननेवालेका अनुनय है कि तीन हेतुओंमें ही सम्पूर्ण हेतु भेदोंका अंतर्भाव हो जाता है। जौके अंकुरोंकी संतानको साधनेवाला जौके बीजोंकी संताननामका हेतु भी इन ही में प्रविष्ट हो जाता है। देखिये। जौके बीजकी संतानसे उत्पन्न होना या तो कारण हेतु है। अथवा कार्यकारण दोनोंसे भिन्न तीसरी जातिका हेतु है। या कार्यरूप हेतु होगा। संसारमें सभी वस्तुयें कार्य १ कारण २ अकार्यकारण ३ इन तीन स्वरूप ही तो होंगी। अन्य चौथा कोई उपाय नहीं है। जिससे कि इन तीनसे न्यारे और भी किसी हेतुकी सम्भावना की जाय, जो कि अन्यथानुपपत्तिके अधिष्ठित करनेसे जैनों द्वारा न्यारा माना जा रहा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह अनुनय तो उनको नहीं करना चाहिये। क्योंकि चौथे प्रकारकी कार्यकारण दोनों स्वरूप हो रही वस्तु भी विद्यमान है। जिस ही प्रकार पहिला कारणसे अवश्य कार्यमें अनुमान कर लेते हो कि ये दीखते हुये मेघ (पक्ष) वृष्टिको उत्पन्न करानेवाली शक्तिसे युक्त हैं (साध्य), गम्भीर शद्ववाले और अधिक देरतक घटा माडकर ठहरनेवाले प्रभाव या प्रभवसे युक्त होते संते भले प्रकार उन्नत हो रहे हैं (हेतु), वृष्टि करनेवालेपनसे प्रसिद्ध हो रहे इस प्रकारके अन्य मेघोंके समान (दृष्टान्त)। तथा दूसरा हेतुद्वारा कार्यसे कारणका अनुमान कर लेते हैं कि इस पर्वतमें अग्नि है। क्योंकि धुआ दीख रहा है। रसोई घरके समान, यह कार्यहेतु है। तथा कार्यकारण रहितसे दोनोंसे भिन्नस्वरूप उदासीनपदार्थका ज्ञान होना तीसरा अनुमान है। उसका दृष्टान्त यह है कि यह आम्रफल (पक्ष) मीठा रसवाला है (साध्य), इस प्रकार कोमलता (नरमाई) को लिये हुये पीला आदिरूप धारनेसे (हेतु), तिस प्रकारके मीठे, पीले, अन्य फलोंके समान (अन्वयदृष्टान्त), यह तीसरे प्रकारका हेतु है। इन तीन हेतुओंके समान तिस ही प्रकार चौथा हेतु भी मानना आवश्यक है। कार्यकारण इन दोनों स्वरूपसाध्यके ज्ञान हो जानेमें भी कोई विरोध नहीं आता है। परस्परमें एक दूसरेका उपकारक रहे और उपकृत हो रहे पदार्थोंमें भी एक दूसरेके साथ अविनाभाव

हो रहा देखा जाता है। जैसे कि असंख्यवर्षोंसे चली आ रही बीजोंकी संतान और अनादिसे चली आ रही अंकुरोंकी संतानका परस्परमें हेतु साध्यभाव है। अंकुर संतानके विना बीजसंतान नहीं होती है, और बीजसंतानके विना अंकुरसंतान भी नहीं होती है, जिससे कि परस्परमें ज्ञाप्यज्ञापकभाव न होता अर्थात् अन्यथानुपपत्ति होनेसे बीजसंतान और अंकुरसंतानका हेतु-हेतुमद्भाव है। तथा प्रयोग भी देखा जाता है कि इस विवक्षित देशमें जौके बीजोंका संतान चालू है। क्योंकि जौके अंकुरोंकी संतान देखी जा रही है। तथा इस देशमें जौके अङ्कुरोंका संतान है। क्योंकि जौके बीजोंकी उपलब्धि हो रही है। इसी प्रकार अन्य भी अनुमानके प्रयोग हैं। नटका वास ठीक व्यवस्थित हो रहा है। क्योंकि नट व्यवस्थित है और नटके वासकी व्यवस्था होनेसे नट व्यवस्थित हो रहा है। जाडेमें सौडसे शरीरमें गर्मी आती है, और शरीरकी गर्मीसे सौडमें गर्मी आती है, इत्यादि कार्यकारण उभयरूपसे दूसरे हेतुओंकी भी सिद्धि मान लेनी चाहिये। यों तो हेतुके चार भेद मानना अनिवार्य हो जायगा। समझे !

ननूषरक्षेत्रस्थेन यवबीजसंतानेन व्यभिचारस्तदंकुरसंताने क्वचित्साध्ये तद्बीजसंताने नोह्यते तदंकुरसंतानेन यवबीजमात्ररहितदेशस्थेनेति न मंतव्यं विशिष्टदेशकालाद्यपेक्षस्य तदुभयस्यान्योन्यमविनाभावसिद्धेः स्वसाध्ये धूमादिवत्। धूमावयविसंतानो हि पावकावयविसंतानैरविनाभावी देशकालाद्यपेक्ष्यैवान्यथा गोपालघटिकायां धूमावयविसंतानेन व्यभिचारप्रसंगात्।

यहां प्रतिवादीकी शंका है कि ऊसर भूमिके खेतमें स्थित हो रही जौके बीजोंकी संतानसे व्यभिचार होता है। जबतक जौपर्याय रहेगी तबतक जौका सदृश परिणाम होती हुई संतान चलेगी। किसी पक्षमें उन जौके अंकुरोंकी संतानको साध्य करनेपर और उन जौके बीजोंकी संतानको हेतु बनानेपर ऊसरा भूमिमें बो दिये गये जौके बीजोंकी संतानसे व्यभिचार हुआ। तथा कहीं जौके बीजोंकी संतानको साध्य बनाकर और जौके अंकुरोंकी संतानको हेतु बनानेपर सामान्यरूप जौके बीजोंसे रहित देशमें स्थित हो रहे उन जौके अंकुरोंकी संतान करके भी व्यभिचार होता है। अर्थात् ऊसर भूमिमें पडे हुये जौ अपने कार्य अंकुरोंको उत्पन्न नहीं करते हैं। तथा आग, बरफ, कीडे, आदि द्वारा झुलस गये अंकुर अपने कार्य बीजोंको उत्पन्न नहीं करते हैं। इस प्रकार साध्यके न रहनेपर हेतुके रह जानेसे व्यभिचार दोष खडा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं मानना चाहिये। क्योंकि विशिष्ट देश और विशिष्ट काल तथा विशेषरूप आकृति आदिकी अपेक्षा रखते हुये उन कार्यकारणोंके उभयका परस्परमें अविनाभाव सिद्ध हो रहा है। जैसे कि अपने साध्य अग्नि आदिको साधनेमें देश आदिककी अपेक्षा रखते हुये धूम आदिक सद्धेतु माने गये हैं। किन्हीं नव्य न्यायवालोंने तो चौंसठ विशेषणोंसे युक्त हो रहे धूमको अग्निके साधनेमें सद्धेतु माना है। अन्यथा धूम अवयव आदिमें व्यभिचार हो जाते हैं। धूमस्वरूप अवयवीका कुछ कालतक

उत्तरोत्तर पर्यायोंमें धूमस्वरूप सदृशपरिणमन करता हुआ सदृश धूमसंतान तो नियमसे विशेष देश, काल, अवस्था, संसर्ग, आदिकी अपेक्षा रखता हुआ ही अग्निस्वरूप अवयवीके उत्तरोत्तर समयोंमें परिणत हुई अग्निरूप संतानोंके साथ अविनाभाव रखता है। अन्यथा यानी विशेषणोंकी नहीं अपेक्षा रखकर चाहे जिस धूमसे अग्निकी ज्ञप्ति मानी जायगी तो ग्वालियाकी घडिया या इन्द्रजालिया (बाजीगर) के घडेमें अग्निके विना धूमरूप अवयवीकी संतानके ठहर जानेसे व्यभिचारका प्रसंग होगा। यों तो प्रायः सभी सद्धेतु व्यभिचारी बन जायंगे। कालिकसंबंध या दैशिक संबंध आदिसे वे हेतु साध्यके विना भी ठहर सकेंगे। ऐसी दशा होनेपर जगत्में सद्धेतुका मिलना अलीक हो जावेगा।

संतानयोरुपकार्योपकारकाभावोपि न शंकनीयः पावकधूमावयविसंतानयोस्तदभाव-प्रसंगात्। न चैवं वाच्यं, तयोर्निमित्तनिमित्तिभावोपगमात्।

यवबीज और यव अंकुरोंका परस्परमें कार्यकारणभावको नहीं माननेवाले यदि यों शंका करें कि संतानोंमें परस्पर उपकारी--उपकृतपना नहीं है। व्यक्तियोंमें कार्यकारणभाव संभव है, संतानोंमें नहीं। आचार्य कहते हैं कि सो यह भी शंका नहीं करना चाहिये। क्योंकि यों तो अग्निरूप अवयवीकी संतान और धूमस्वरूप अवयवीकी संतानमें भी उस उपकार्यउपकारकभावके अभावका प्रसंग हो जायगा। किन्तु इस प्रकार धूम और अग्निकी संतानोंमें कार्यकारणभावका अभाव तो नहीं कहना चाहिये। क्योंकि उनमें निमित्तनैमित्तिकभाव जैन, नैयायिक, मीमांसक आदि अनेक विद्वानोंसे स्वीकार किया गया है। तभी तो अग्निरूप उपादान कारणसे आदिके धुआके उत्पन्न हो जानेपर कुछ देर पीछे भी ऊपर पहुंचगये उस धुयेंसे अग्निका ज्ञान हो जाता है। अर्थात् यहां धुऐंकी उत्तरोत्तर पर्यायोंसे अग्निकी उत्तर उत्तरपर्यायोंका अनुमान हुआ है। जिस पहिली अग्नि व्यक्तिसे प्रथम धूमका उत्पादन हुआ था, उस प्रथमधूमसे प्रथम अग्निका अनुमान करना तो कठिन है। किन्तु सभी अनुमान धूमसंतानसे अग्निसंतानके हुआ करते हैं। अतः प्रथम धूमके साथ प्रथमअग्निका उपादान उपादेय भाव है। और उत्तर उत्तरधूम और अग्निकी संतानोंका परस्परमें निमित्तनैमित्तिकभाव माना गया है। सभी रागी संसारी जीव संतानके लिये अनेक परिश्रम उठा रहे हैं। देशहितैषी अनेक दुःखोंको झेलते रहे हैं कि देश स्वतन्त्र होवे और संतान सुखी रहे। अनुभवनीय विषय यह है कि प्रथमधूमका उपादान कारण अग्नि है। फिर तो उपादान धूमसे ही धूम होते चले जाते हैं। अग्नि निमित्तकारण हो जाती है। जिस प्रकार कि प्रथमअंकुरका उपादान बीज है। किन्तु फिर मृत्तिका, जल, आतप वायु, खात, आदि उपादानोंसे ही वृक्ष बनता चला जाता है। बीज तो निमित्तकारण ही कहना चाहिये।

पावक धूमावयविद्रव्ययोर्निमित्तनिमित्तिभावसिद्धेस्तत्संतानयोरुपचारान्निमित्तभाव इति चेन्न, तद्व्यतिरिक्तसंतानासिद्धेः। कालादिविशेषात्संतानः संतानिभ्यो व्यतिरिक्त इति

चेत्, कुतः कालादिविशेषस्तेषां संतानस्यानादिपर्यवसानत्वादप्रतिनियतक्षेत्रकार्यकारित्वाच्च संतानिनां तद्विपरीतत्वादिति चेन्न, तस्य पदार्थांतरत्वप्रसंगात् ।

यदि यहां कोई यों कहे कि अग्निरूप अवयवी द्रव्य और धूमस्वरूप अवयवी द्रव्यमें निमित्त नैमित्तिकभाव सिद्ध हो रहा है। इस कारण उनकी संतानोंमें भी उपचारसे निमित्तनैमित्तिकभाव मान लिया गया है। वस्तुत. सतानोंमें उपकार्य उपकारक भाव नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उन व्यक्तियोंसे भिन्न होकर धूमसंतान और अग्निसतान सिद्ध नहीं हो रहा है। अर्थात् निमित्त हो रहे अग्निसंतानसे नैमित्तिक धूमसंतानकी उत्पत्ति होना सिद्ध है। सन्तानियोंसे सन्तान अभिन्न है। यदि कोई यों कहे कि काल आदि विशेषोंकी अपेक्षा संतानियोंसे सतान भिन्न है। इस प्रकार कहनेपर तो हम पूछते हैं कि उन सतानियों और संतानके काल आदि विशेष भला कैसे हुआ ? बताओ। यदि यों कहोगे कि संतानका काल अनादिसे अनततक है और सतानीका उससे विपरीत है, यानी सादिसान्त है। तथा संतानको विशेषरूपसे नियत नहीं हो रहे प्रायः सर्व क्षेत्रोंमें कार्यका कर्त्तापना है। और संतानी व्यक्ति नियत क्षेत्रमें हो रहे कार्यको करता है। इस प्रकार संतान और संतानियोंका देश, काल न्यारा न्यारा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि वैशेषिकोंको यह तो नहीं कहना चाहिये। क्योंकि ऐसा माननेपर उस संतानको संतानियोंसे सर्वथा भिन्न न्यारा पदार्थ हो जानेका प्रसग होगा, जो कि इष्ट नहीं किया गया है।

संतानो हि संतानिभ्यः सकलकार्यकारणद्रव्येभ्योर्थांतरं भवंस्तद्वृत्तिरतद्वृत्तिर्वा ? तद्वृत्तिश्चेन्न तावद्गुणस्तस्यैकद्रव्यवृत्तित्वात्। संयोगादिवदनेकद्रव्यवृत्तिः संतानो गुण इति चेत् स तर्हि संयोगादिभ्योऽन्यो वा स्यात्तदन्यतमो वा ? यद्यन्यः स तदा चतुर्विंशतिसंख्याव्याघातः, तदन्यतमश्चेत्तर्हि न तावत्संयोगस्तस्य विद्यमानद्रव्यवृत्तित्वात् । संतानस्य कालत्रयवृत्तिसंतानिसमाश्रयत्वात्। तत एव न विभागोपि परत्वमपि वा तस्यापि देशापेक्षस्य वर्त्तमानद्रव्याश्रयत्वात् ॥

हम जैन पूछते हैं कि पूर्व, उत्तर कालोंमें होनेवाले सम्पूर्ण कार्यकारण द्रव्यरूप संतानियोंसे सर्वथा भिन्न होता हुआ संतान क्या उन संतानियोंमें वर्तता है ? अथवा उन संतानियोंमें नहीं वर्तता है ! बताओ। यदि पहिले पक्षके अनुसार उन संतानियोंमें संतानकी वृत्ति मानोगे तो अनेक कार्यकारणरूप, द्रव्योंमें वर्त रहा वह संतानगुण पदार्थ तो हो नहीं सकता है। क्योंकि रूप, रस, आदिक गुण एकद्रव्यमें रहते हैं। और नैयायिकोंने संतानको अनेक द्रव्योंमें वर्तता हुआ माना है। हां, यदि सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्वित्व आदि संख्या इन गुणोंके समान संतानको भी अनेक द्रव्योंमें वर्तनेवाला गुण मानोगे तब तो वह संतान क्या संयोग आदि गुणोंसे भिन्न माना जायगा ? अथवा संयोग आदि अनेक आश्रित गुणोंमेंसे कोई एक अनेकस्थ गुणस्वरूप माना

जायगा ? बताओ। यदि वह संतान संयोग आदिकोंसे भिन्न है, तब तो गुणोंकी रूप १ रस २ गंध ३ स्पर्श ४ संख्या ५ परिणाम ६ पृथक्त्व ७ संयोग ८ विभाग ९ परत्व १० अपरत्व ११ गुरुत्व १२ द्रवत्व १३ स्नेह १४ शब्द १५ बुद्धि १६ सुख १७ दुःख १८ इच्छा १९ द्वेष २० प्रयत्न २१ धर्म २२ अधर्म २३ संस्कार २४ इस वैशेषिकोंके यहां नियत हो रही चौवीस संख्याका विघात होता है। यदि द्वितीय पक्षके अनुसार संयोग आदिकोंमेंसे कोई एक व्यासज्यवृत्ति धर्मावच्छिन्न गुणको संतान मानोगे तब तो वह संतान सबसे पहिले संयोगस्वरूप तो हो नहीं सकता है। क्योंकि वह संयोगगुण वर्त्तमान कालमें विद्यमान हो रहे द्रव्योंमें वर्तता है। और संतान तो तीनों कालमें वर्तनेवाले संतानियोंमें भले प्रकार आश्रित हो रही है। अतः संयोगगुणस्वरूप संतान नहीं हुआ। तिस ही कारण विभागरूप भी संतान नहीं है। अर्थात् विभाग भी वर्त्तमान कालके अनेक द्रव्योंमें ठहरता है। किन्तु संतान तो तीनों कालके संतानियोंमें चारों ओर पग पसारकर रहनेवाला माना गया है। तथा परत्वगुणरूप भी संतान नहीं है। क्योंकि सहारनपुरसे काशीकी अपेक्षा श्री सम्मेदशिखरक्षेत्र पर है। इस प्रकार वह परत्व भी देश आदिककी अपेक्षा रखता हुआ वर्त्तमानकालके द्रव्योंके आश्रित हो रहा है। किन्तु संतान तो तीनों कालके द्रव्य या पर्यायोंमें वर्तता हुआ माना गया है।

पृथक्त्वं इत्यप्यसारं, भिन्नसंतानद्रव्यपृथक्त्वस्यापि संतानत्वप्रसंगात्। तत एवमसंख्योऽसौ। एतेन संयोगादीनां संतानत्वे भिन्नसंतानगतानामप्येषां संतानत्वप्रसंगः समापादितो बोद्धव्यः।

अनेक पदार्थोंमें ठहरनेवाला संतान चलो पृथक्त्वगुणरूप हो जायगा, यह कहना भी सार रहित है। क्योंकि यों तो भिन्नसंतानवाले द्रव्योंमें ठहरनेवाले पृथक्त्वको भी संतानपनेका प्रसंग होगा। भावार्थ—देवदत्तसे यज्ञदत्त पृथक् है, और देवदत्तकी पूर्व, उत्तरपर्यायें भी परस्परमें पृथक् हैं। ऐसी दशामें देवदत्तकी पूर्व उत्तरसमयोंमें होनेवाली पर्यायोंके पृथक्त्वको यदि संतान मान लिया जायगा तो यज्ञदत्तमें सुलभतासे रहनेवाले पृथक्त्वको सम्मिलित कर देवदत्तकी संतान बन जानेका प्रसंग होगा। अतः पृथक्त्व गुणस्वरूप होता हुआ तो संतान सिद्ध नहीं हुआ। तिस ही कारण वह सतान अनेकोंमें रहनेवाली द्वित्व, त्रित्व, बहुत्व आदि संख्यास्वरूप भी नहीं है। अर्थात् भिन्नद्रव्य या भिन्नद्रव्यकी पर्यायोंमें रहनेवाली संख्याको मिलाकर भी प्रकृतद्रव्योंकी संख्याको संतान बन जानेका प्रसंग होगा। इस उक्त कथनसे यह भी भले प्रकार आपादन कर दिया गया समझलेना चाहिये कि संयोग, विभाग, आदिको संतान माननेपर भिन्नसंतानोंमें प्राप्त हो रहे भी इन संयोग आदिकोंके संतान बन जानेका प्रसंग हो जावेगा। यों सन्तानियोंमें ठहरनेवाला गुणपदार्थ तो सन्तान बना नहीं।

कार्यकारणपरंपरा विशिष्टा सत्ता संतान इति चेत् कुतस्तद्विशिष्टः कार्यकारणोपाधित्वा-दिति चेत्, कथमेवमनेका सत्ता न स्यात्। विशेषणानेकत्वादुपचारादनेकास्त्विति चेत् कथमेवं पार्थतोनेकसंतानसिद्धिर्येनैकसंतानांतरे प्रवृत्तिरविसंवादिनी स्यात्।

कार्य और कारणोंकी परम्परासे विशिष्ट हो रही, एकसत्ताको यदि संतान कहोगे तो बताओ, किस कारणसे उस सत्तामें विशिष्टता प्राप्त हुई। यदि कार्यकारणरूप विशेषणोंसे सत्ताकी विशिष्टताको स्वीकार करोगे तब तो इस प्रकार अनेकसत्तायें क्यों नहीं हो जायेंगी ! अर्थात् अनेक कार्यकारणोंमें न्यारी न्यारी रहनेवाली सत्ता अनेक हो जायेंगी, किंतु वैशेषिकोंने सत्ताको एक माना है। यदि वैशेषिक यों कहें कि विशेषणोंके अनेक होनेके कारण उपचारसे भले ही सत्ता अनेक हो जाओ, वस्तुतः सत्ता एक है, जैसे कि अनेक क्षेत्र या अनेक गृहोंमें रहनेवाला सूर्यका आतप एक है। इस पर तो हम जैन कहेंगे कि इस प्रकार वास्तविकरूपसे अनेक देवदत्त, यज्ञदत्त, मिट्टी, सोना आदि संतानोंकी सिद्धि भला कैसे होगी ? बताओ, जिससे कि एक संतानसे न्यारी दूसरी संतानमें सम्वादको रखनेवाली प्रवृत्ति ठीक ठीक हो सके अर्थात् सत्ता एक है तो संपूर्ण पदार्थोंकी सत्तारूप संतान भी एक ही ठहरेगी। ऐसी दशामें एक द्रव्यकी स्थूलपर्यायें-स्वरूप अनेक संतानों या वंशसंतानों अथवा ज्ञानोंकी संतानोंकी प्रवृत्ति नहीं बन सकेगी।

येषां पुनरेकानेका च वस्तुनः सत्ता तेषां सामान्यतो विशेषतश्च तथा संतानैकत्वनानात्व-व्यवहारो न विरुध्यते। न च विशिष्टकार्यकारणोपाधिकयोः सत्ताविशेषयोः संतानयोः परस्पर-मुपकार्योपकारकभावाभावः शाश्वतत्वादिति युक्तं वक्तुं, कथंचिदशाश्वतत्वाविरोधात्। पर्या-यार्थतः सर्वस्यानित्यत्वव्यवस्थितिः। ततः संतानिनामिव संतानयोः कथंचिदुपकार्योपका-रकभावोऽभ्युपगंतव्य इति सिद्धमुभयात्मकयोरन्योन्यं साधनत्वं लिंगत्रितयनियमं विघटयत्येव। न चैवमन्योन्याश्रयणं तयोरेकतरेण प्रसिद्धे नान्यतरस्याप्रसिद्धस्य साधनात्। तदुभयसिद्धौ कस्यचिदनुमानानुदयात्।

जिन स्याद्वादियोंके यहां फिर वस्तुकी सत्ता एक और अनेक भी मानी गई है, उनके यहां तो सामान्यरूप और विशेषरूपसे तिस प्रकार संतानके एकपन या अनेकपनका व्यवहार होना विरुद्ध नहीं पडता है। यदि यहां कोई यों कहे कि कार्यकारणरूप उपाधियोंसे विशिष्ट हो रहे सत्ता विशेषरूप संतानोंका परस्परमें उपकार्य उपकारकभाव नहीं है। क्योंकि वे सत्तायें नित्य वर्त रहीं हैं। नित्योंमें कार्यकारणभाव नहीं होता है, इस प्रकार कहना तो युक्त नहीं है। क्योंकि सत्ता विशेषोंमें भी कथंचिद् अनित्यपनेका कोई विरोध नहीं है। स्याद्वादसिद्धान्तमें संपूर्ण पदार्थोंका पर्यायार्थिकदृष्टिसे अनित्यपना व्यवस्थित किया गया है। तिस कारण व्यक्तिरूपसंतानियोंके समान सत्ताविशेषरूपसे संतानोंका भी कथंचिद् उपकृत उपकारकभाव स्वीकार करलेना चाहिये। इस प्रकार लम्बे चौडे प्रकरण द्वारा बीजसंतान और अंकुरसंतान इन दोनोंस्वरूप कार्यकारणोंका

परस्परमें एक दूसरेका ज्ञापकपना सिद्ध हो गया। अतः यह कार्यकारण उभयरूप हेतु तो लिंगोंके कार्य, कारण, और अकार्यकारणरूप तीन संख्याके नियमका विघटन करा देता ही है। इस प्रकार परस्पर हेतु साध्य बनकर एकसे दूसरेका ज्ञापन करनेमें कोई अन्योन्याश्रयदोष नहीं है। क्योंकि उन दोनोंमें प्रसिद्ध हो रहे एक हेतुकरके दोनोंमेंसे अप्रसिद्ध बचें हुये एक साध्यकी सिद्धि करली जाती है। जिस विद्वान्को उन दोनोंका निर्णय हो रहा है, उसको उन दोनोंमेंसे किसका भी अनुमान करना उत्पन्न नहीं होता है। शद्बके परिणामीपन और कृतकत्वमें भी तो परस्पर साध्य साधनभाव सभीने अभीष्ट किया है। अतः हेतुकी संख्याओंका उक्त नियम करना ठीक नहीं है। कार्य और कारण तथा अकार्यकारण इन तीन हेतुओंसे न्यारा भी चौथा कार्यकारण उभय हेतु है।

संप्रति पराभिमतसंख्यांतरनियमनूद्य दूषयन्नाह;—

अब इस समय अन्य वादियोंके द्वारा स्वीकार की गई हेतुओंकी अन्य अन्य विभिन्न संख्याके नियमका अनुवाद कर उसको दूषित करते हुये आचार्य महाराज स्पष्ट निरूपण करते हैं—

> **यच्चाभूतमभूतस्य भूतं भूतस्य साधनं।**
> **तथा भूतमभूतस्याभूतं भूतस्य चेष्यते ॥ २०७ ॥**
> **नान्यथानुपपन्नत्वाभावे तदपि संगतम्।**
> **तद्भावे तु किमेतेन नियमेनाफलेन वः ॥ २०८ ॥**

जो किसीके द्वारा चार प्रकारके ज्ञापक हेतु माने गये हैं कि अभूत साध्यका अभूत हेतु ज्ञापक है और भूत (हो चुके) साध्यका साधक भूतहेतु है। तिस ही प्रकार अभूतका साधक भूतहेतु है। तथा भूतसाध्यको साधनेवाला अभूत हेतु इष्ट किया गया है। वह सभी अन्यथानुपपत्तिके न होनेपर संगठित नहीं होता है। हां, उस अन्यथानुपपत्तिके होनेपर तो इन चार भेदोंके निष्फल नियम करनेसे तुम्हारे यहां क्या प्रयोजन सधा ? अर्थात् अभूत आदि भेद करना व्यर्थ है। अन्यथा सिद्ध हैं।

न ह्यभूतादिलिंगचतुष्टयनियमो व्यवतिष्ठते भूताभूतोभयस्वभावस्यापि लिंगस्य तादृशि साध्ये संभवात्। न च तद्व्यवच्छेदमकुर्वन्नियमः सफलो नाम।

अभूत आदिक हेतुके चार भेदरूप अवयवोंका नियम करना व्यवस्थित नहीं होता है। क्योंकि तिस प्रकारके भूत, अभूत, उभयस्वरूप साध्यको साधनेमें भूतअभूत–उभयस्वभाव हेतुका भी सम्भवना बन रहा है। और उस पांचवें हेतु भेदके व्यवच्छेदको नहीं कर रहा चारका नियम तो कैसे भी सफल नहीं कहा जा सकता है। भावार्थ—विरोधी हेतुओंके उदाहरण इस प्रकार हैं कि तीव्रवायु और बादलोंका संयोग हो चुका था, क्योंकि वर्षा नहीं हुई थी। इस अनुमानमें भूत

वायुबादलसंयोगका अभूतवर्षा हेतु है। बरसनेवाले बादलोंको भी वायु उडा देती है। इसी प्रकार नहीं उत्पन्न हो चुके स्फोट आदिक हेतुभूत मंत्रपाठके ज्ञापक लिङ्ग हैं। मंत्रपाठ कर देनेसे विषधर जीवके काटनेपर या अग्निसे पीडा, फोडा, फलक नहीं होते हैं। तथा भूतस्फोट आदिक हेतु अभूतमंत्रपाठके ज्ञापक हैं। मंत्र नहीं पढनेसे तो फोडा आदिक हो जाते हैं। इसी प्रकार हो चुका (भूत) वायु और मेघोंका संयोग अभूत (नहीं हो चुकी) वर्षाका ज्ञापकहेतु है। अभूतमणि आदिके सन्निकटताका भूतदाह हेतु है। चन्द्रकान्तमणिके निकटवर्ती न होनेसे दाह हो चुकी है। नहीं तो दाहका प्रतिबंध हो जाता। तथा भूतलिङ्ग भूत-साध्यका ज्ञापक है। विद्यमान विरोधी जीवकरके विद्यमान हो रहे विरोधीका कहीं अनुमान हो जाता है। जैसे कि मुरझाये हुये सर्पको देखकर झाडीमें छिपे हुये नौलेका अनुमान हो जाता है। तथा अभूतसे यानी वर्षाके नहीं उपयोगी बादलोंसे अभूतवर्षाका अनुमान कर लिया जाता है। अच्छी मेघघटा नहीं होनेसे वर्षा नहीं हो सकी। किन्तु इन चारोंसे अतिरिक्त अभूत, उभय स्वभाववाले एक ही साध्य और हेतु भी देखे जाते हैं। जैसे कि औषधिके सेवनसे रोगके अभावका अनुमान करना। औषधिसे रोग दूर भी हो जाता है, नहीं भी होता है। विना औषधिके भी रोग दूर हो जाते हैं। अभिप्राय यह है कि यदि अन्यथानुपपत्ति नहीं है तो हेतुभेदोंका नियम करना व्यर्थ है, और यदि अन्यथानुपपत्ति है तो भी भेद, प्रभेद, करना निःसार है। हां, शिष्यकी बुद्धिको विशद करानेके लिये समुचित भेद करना उपयोगी है।

सर्वहेतुविशेषाणां संग्रहो भासते यथा।
तथा तद्भेदनियमे द्विभेदो हेतुरिष्यताम् ॥ २०९ ॥
संक्षेपादुपलंभश्चानुपलंभश्च वस्तुनः।
परेषां तत्प्रभेदत्वात्तत्रांतर्भावसिद्धितः ॥ २१० ॥

यदि संपूर्ण हेतुओंके भेदोंका संग्रह हो जाना जिस प्रकार प्रतिभासित हो जाय उस ढंगसे उस हेतुके भेदोंका नियम करना चाहते हो तब तो दो प्रकारके हेतु इष्ट करलो। अन्य टंटा बढाना व्यर्थ है। संक्षेपसे वस्तुका उपलम्भ होना और अनुपलम्भ होना ये दो भेद हेतुके करना अच्छा है। क्योंकि अन्य शेषभेदोंको उन दो भेदोंका ही प्रभेदपना हो जानेसे उन हीमें अन्तर्भाव करना सिद्ध हो जाता है।

उपलब्ध्यनुपलब्ध्योरेवेति सर्वहेतुविशेषाणामंतर्भावः प्रतिभासते संक्षेपाच्चेषां तत्प्र-भेदत्वादिति तदिष्टिः श्रेयसी। न हि कार्यादयः संयोग्यादयः पूर्ववदादयो वीतादयो वा हेतुविशेषास्ततो भिद्यंते तदप्रभेदत्वाप्रतीतेः।

इस प्रकार सम्पूर्ण हेतुओंके भेद प्रभेदोंका उपलब्धि और अनुपलब्धिमें ही अंतर्भाव होना प्रतिभास रहा है। क्योंकि संक्षेपसे उन दो भेदोंके ही वे सब कार्य आदिक, भूत आदिक, वीत आदिक प्रभेद हैं। इस प्रकार वह दो भेदोंका इष्ट करना ही श्रेष्ठ है। कार्य, कारण, आदिक तथा संयोगी, समवायी, एकार्थसमवायी, और विरोधी तथा पूर्ववत् आदिक अथवा वीत आदिक ये सब हेतुओंके विशेष उन दो भेदोंसे न्यारे नहीं हो रहे हैं। क्योंकि कार्य आदिकोंको उपलब्धि–अनुपलब्धि का प्रभेद रहितपना प्रतीत नहीं हो रहा है। प्रत्युत कार्य आदिकोंसे अतिरिक्त अन्य भी पूर्वचर, व्यापक व्यापकविरुद्ध आदिक अनेक हेतु भी उपलब्धि और अनुपलब्धिके बडे पेटमें समाजाते हैं।

ननूपलभ्यमानत्वमुपलंभो यदीष्यते ।
तदा स्वभावहेतुः सद्व्यवहारप्रसाधने ॥ २११ ॥
अथोपलभ्यते येन स तथा कार्यसाधनः ।
समानोनुपलंभेपि विचारोयं कथं न ते ॥ २१२ ॥

जैनोंद्वारा माने गये हेतुके दो भेदोंपर बौद्धोंकी शंका है कि उपलंभ शब्दका अर्थ यदि कर्म अर्थकी प्रतिपत्ती कराते हुए घञ् प्रत्ययकर उपलम्भ किया गयापन इष्ट किया गया है, तब तो स्वभाववान्के सद्भावके व्यवहारको अच्छा साधनेमें वह उपलम्भ हेतु स्वभावहेतु ही हुआ और यदि अब उपलम्भ किया जाय, जिसकरके वह उपलम्भ है, तैसा करणमें घञ् प्रत्यय करनेपर उपलम्भ बनाया जायगा, तो उपलम्भहेतु कार्यहेतु क्यों नहीं तुम जैनोंके यहां बन जावेगा ? फिर कार्य और स्वभावके अतिरिक्त उपलम्भ हेतुके माननेकी क्या आवश्यकता है ? यह विचार अनुपलम्भ शब्दमें भी कर्मसाधन और करणसाधन व्युत्पत्ति करनेपर समानरूपसे लागू होता है। अतः तुम्हारे यहां कार्य, स्वभाव अनुपलम्भ हेतुओंमें ही सर्वहेतुओंका अन्तर्भाव क्यों नहीं कर लिया जाता है। यह उपलम्भ अनुपलम्भका क्यों ढोंग रचा जाता है। तुम्ही हम बौद्धोंकी ओर झुक आओ, जैसे कि हमें अपनी ओर खींचते हो।

यद्युपलंभः कर्मसाधनस्तदा स्वभावहेतुरेव सद्व्यवहारे साध्ये करणसाधनमनुपलंभे ततः सोपि न स्वभावकार्यहेतुभ्यां भिन्नः स्यात् । कर्मसाधनत्वेऽनुपलभ्यमानत्वस्य स्वभावहेतुत्वात् । करणसाधनत्वेऽनुपलंभनस्य कार्यस्वभावयोर्विधिसाधनत्वादनुपलंभस्य प्रतिषेधविषयत्वादन्यस्ताभ्यामनुपलंभ इत्यसंगतं इत्याह—

बौद्ध कह रहे हैं उपलंभ शब्द यदि कर्ममें प्रत्ययकर साधा गया है, तब तो स्वभावहेतु ही होगा। जो देखा जा रहा है, वह वस्तुका स्वभाव है। अतः शिंशपासे वृक्षपनके व्यवहार समानभावके सद्भावका व्यवहारको साध्य करनेमें साध्यका स्वभाव उपलम्भ हेतु है और करणसाधन

उपलम्भ शब्द यदि माना जायगा तो उसका अर्थ कार्य हेतु हो जायगा। यही बात अनुपलम्भमें भी लगा लेना। तिसकारण वह भी स्वभाव और कार्य हेतुओंसे भिन्न नहीं हो सकेगा। अनुपलम्भ शब्दको कर्मसाधन माननेपर उपलम्भ नहीं किया गयापन तो स्वभावहेतु हुआ और करणसाधन माननेपर तो अनुपलम्भका अनुपलब्धिमें अंतर्भाव हो जाता है। हम बौद्धोंके यहां विधिको साधने वाले कार्य और स्वभाव दो हेतु माने गये हैं। तथा उन दोनोंसे न्यारा प्रतिषेधको विषय करनेवाला होनेसे तीसरा अनुपलम्भ हेतु इष्ट किया है। इस प्रकार बौद्धोंका कहना असंगत है। इस बातका आचार्य महाराज स्पष्ट कथन करते हैं।

यथा चानुपलंभेन निषेधोऽर्थस्य साध्यते।
तथा कार्यस्वभावाभ्यामिति युक्ता न तद्भिदा ॥ २१३ ॥

जिस प्रकार अनुपलम्भ करके अर्थका निषेध साधा जाता है, उसी प्रकार कार्य और स्वभावोंसे भी वस्तुका निषेध साधा जा सकता है। इस कारण अनुपलम्भका उन कार्य और स्वभावसे भेद करना युक्त नहीं है। भावार्थ—बौद्धोंके माने गये हेतुके तीन भेद ठीक नहीं हैं।

ननु च द्वौ साधनावेकः प्रतिषेधहेतुरित्यत्र द्वावेव वस्तुसाधनौ प्रतिषेधहेतुरेवैक इति नियम्यते न पुनर्द्वौ वस्तुसाधनावेव ताभ्यामन्यव्यवच्छेदस्यापि साधनात्। तथा नैक एव प्रतिषेधहेतुरित्यवधार्यते तत एव यतो लिंगत्रयनियमः संक्षेपान्न व्यवतिष्ठत इति न तद्भिभेदो हेतुरिष्यते तस्याव्यवस्थानादित्यत्राह—

पुनः बौद्धोंका अवधारण है कि हमारे यहां कहा गया है कि वस्तुविधिको साधनेवाले हेतु दो प्रकारके हैं और एक हेतु प्रतिषेधको साधनेवाला है। इस प्रकार इस कथनमें दोनों ही हेतु वस्तुको साधनेवाले हैं और एक हेतु प्रतिषेधको साधनेवाला ही है। इस प्रकार एवकार लगाकर नियम कर दिया जाता है। किन्तु फिर वस्तुकी विधिको ही साधनेवाले दो हेतु हैं, ऐसा नियम तो नहीं किया गया है। क्योंकि उन दो स्वभाव और कार्यहेतुओंसे अन्य पदार्थोंका व्यवच्छेद करना भी साधा जाता है। तथा एक ही हेतु निषेधका साधक है। यह भी हम अवधारण नहीं करते हैं। वही कारण होनेसे यानी निषेधसाधक हेतुसे अन्य किसी पदार्थकी विधि भी साधली जाती है, जिससे कि हम बौद्धोंके यहां संक्षेपसे तीन प्रकारके हेतुका नियम करना व्यवस्थित न होवे अर्थात् हमारे माने गये तीन हेतु ठीक हैं। इस प्रकार हेतुके जैनोंद्वारा माने गये उन उपलम्भ, अनुपलम्भ दो भेदोंको हम इष्ट नहीं करते हैं। क्योंकि उनकी समीचीन-व्यवस्थिति नहीं हो सकी है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं।

निषेधहेतुरेवैक इत्ययुक्तं विधेरपि।
सिद्धेरनुपलंभेनान्यव्यवच्छिद्विधिर्यतः ॥ २१४ ॥

आप बौद्धोंने कहा था कि निषेधको साधनेवाला एक ही अनुपलम्भ हेतु है, यह कहना अयुक्त है। क्योंकि अनुपलम्भकरके पदार्थोंके विधिकी भी सिद्धि हो जाती है। जिस कारण कि अन्यके व्यवच्छेदकी विधि भी तो अनुपलम्भसे कर दी जाती है। यानी विधिकी सिद्धि भी तो अनुपलम्भ हेतुसे हुई।

नास्तीह प्रदेशे घटादिरुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरित्यनुपलंभेन यथा निषेध्यस्य प्रतिषेधस्तथा व्यवच्छेदस्य विधिरपि कर्तव्य एव। प्रतिषेधो हि साध्यस्ततोऽन्योऽप्रतिषेधस्तद्व्यवच्छेदस्याविधौ कथं प्रतिषेधः सिद्ध्येत् ? तद्विधौ वा कथं प्रतिषेधहेतुरेवैक इत्यवधारणं सुघटं ॥

यहां भूतलरूप प्रदेशमें घट, पुस्तक, आदि नहीं हैं। क्योंकि उपलब्धिस्वरूपकी योग्यताको प्राप्त हो रहेकी उपलब्धि नहीं हो रही है। अर्थात् यहां घट आदिक यदि होते तो अवश्य दीखनेमें आते, दीखने योग्य होकर वे नहीं दीख रहे हैं। अतः वे यहां नहीं हैं। इस प्रकार अनुपलम्भ करके जैसे निषेध करने योग्य घट आदिका प्रतिषेध हो जाता है, तिस ही प्रकार अन्य घट आदिके व्यवच्छेदकी विधि भी तो करने योग्य ही है। कारण कि यहां अनुमान द्वारा निषेध करना साध्य किया गया है। उस प्रतिषेधसे भिन्न अप्रतिषेध है। यदि उस अप्रतिषेधके निराकरण की विधि न की जायगी तो भला निषेध कैसे पक्का सिद्ध होगा ? बताओ। और यदि अनुपलम्भ हेतु करके उस अप्रतिषेधकी विधि भी साधी गयी मानोगे तो एक हेतु प्रतिषेधका ही साधक है। इस प्रकारका एवकारद्वारा अवधारण करना भला किस प्रकार अच्छा घटित होगा ? तुम्हीं कहो अर्थात् यहां एवकार नहीं लग सकता है।

गुणभावेन विधेरनुपलंभेन साधनात्प्राधान्येन प्रतिषेधस्यैव व्यवस्थापनात्सुघटं तथावधारणमिति चेत्, तर्हि द्वौ वस्तुसाधनावित्यवधारणमस्तु ताभ्यां वस्तुन एव प्राधान्येन विधानात्। प्रतिषेधस्य गुणभावेन साधनात्। यदि पुनः प्रतिषेधोपि कार्यस्वभावाभ्यां प्राधान्येन साध्यते यथा नानग्निरत्र धूमात्, नावृक्षोऽयं शिंशपात्वादिति मतं तदानुपलंभेनापि विधिः प्रधानभावेन साध्यतां। यथास्त्यत्राग्निरनौष्ण्यानुपलब्धेरिति कथं निषेध साधन एवैक इत्येकं संविधित्सोरन्यत्प्रच्यवते।

बौद्ध कहते हैं कि अनुपलम्भ हेतुकरके गौणरूपसे विधिका भी साधन हो जाता है। किन्तु प्रधानतासे निषेधकी ही अनुपलब्धि करके व्यवस्था कराई जाती है। इस कारण तिस प्रकार एक हेतु प्रतिषेधका साधक है, यह अवधारण करना अच्छा बन जाता है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि तब तो कार्य, स्वभाव, ये दो हेतु भावस्वरूप वस्तुके ही साधनेवाले हैं, यह नियम करना भी हो जाओ। क्योंकि उन दो कार्य स्वभाव हेतुओंसे वस्तुके भावकी ही प्रधानतासे विधि की जाती है। निषेधका गौणरूपसे साधन किया जाता है। यदि फिर कार्य और स्वभाव हेतुसे प्रतिषेध

भी प्रधानता करके साधा जायगा जैसे कि यहां अग्निरहितपना नहीं है (प्रतिज्ञा) क्योंकि धुआं हो रहा है (कार्य हेतु)। तथा यहां वृक्षरहितपना नहीं है, क्योंकि शीशोंका पेड खडा है (स्वभावहेतु) इस प्रकार प्रधानतासे निषेध भी सध गया, ऐसा मानोगे तब तो अनुपलम्भकरके भी प्रधानतासे विधिकी सिद्धि होना मानलो। जिस प्रकार यहां अग्नि है, क्योंकि उष्णतारहितपना नहीं दीख रहा है, या विलक्षण शीतलपना नहीं प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार एक अनुपलब्धि हेतु निषेधको ही साधनेवाला भला कैसे बना ? बताओ। इस कारण एक बातको भले प्रकार बनाओगे तो तुम्हारे हाथसे दूसरी बात गिरी जाती है। अर्थात् अपने लगाये हुये अनुपलब्धि हेतुमें नियमकी रक्षा करनेसे कार्य, स्वभाव, हेतुओंमें भी नियम लगा देना आवश्यक हो जाता है। और कार्यस्वभाव हेतुओंमें नियमकी शिथिलता कर देनेसे अनुपलब्धिमें भी नियम करनेकी शिथिलिता हुई जाती है। एक बातकी रक्षा करनेसे बौद्धोंकी दूसरी बातका स्वयं घात हुआ जाता है।

ननु च नानग्निरत्र धूमादिति विरुद्धकार्योपलब्धिः प्रतिषेधस्य साधिका नावृक्षोऽयं शिंशपात्वादिति विरुद्धव्याप्तोपलब्धिश्च यावत्कश्चित्प्रतिषेधः स सर्वोनुपलब्धेरिति वचनात्। तथास्त्यत्राग्निरनौष्ण्यानुपलब्धेरित्ययमपि स्वभावहेतुरौष्ण्योपलब्धेरेव हेतुत्वात्प्रतिषेधद्वयस्य प्रकृतार्थसमर्थकत्वादिति न प्राधान्येन द्वौ प्रतिषेधसाधनौ। नाप्येको विधिसाधनो यतो-दोषः स्यादिति कश्चित्, सोपि न प्रातीतिकाभिधायी कार्यस्वभावानुपलब्धिषु प्रतीयमा-नासु विपर्ययकल्पनात्।

बौद्ध पुन. अपना आग्रह स्थिर करनेका प्रयत्न करते हैं कि यहां अग्निका अभाव नहीं है। धूम होनेसे, इस अनुमानमें विरुद्धकार्यकी उपलब्धिरूप अनुपलम्भ हेतु निषेधका साधक है। तथा यह प्रदेश वृक्षरहित नहीं है, शीशोंके होनेसे, यह विरुद्धसे व्याप्तिकी उपलब्धिरूप अनुपलम्भ हेतु है, अर्थात् अनग्निसे विरुद्ध अग्नि हुई उसका कार्य धूम है। अवृक्षका विरुद्ध वृक्ष है। उसका व्याप्य शीशम है। जितने भी कोई निषेध साधे जा रहे हैं, वे सभी अनुपलब्धिसे ही सधते हैं। ऐसा हमारे बौद्ध ग्रन्थोंमें कहा गया है। अतः अनुपलब्धिसे ही निषेधकी सिद्धि हुई। कार्य और स्वभावोंसे निषेध नहीं साधा गया। धूम और शिंशपा ये हेतु अभावको साधनेमें अनुपलम्भरूप माने गये हैं। तथा यहां अग्नि है, अनुष्णताके नहीं दीखनेसे, इस प्रकार यह भी बहिरंगसे अनुपलब्धिसरीखी दीखती है, किन्तु वस्तुत. यह उष्णताकी उपलब्धि स्वभाव हेतु ही है। क्योंकि अनुष्णताकी अनुपलब्धि भी स्वभाव है। अनुष्णताकी अनुपलब्धि उष्णताकी उपलब्धि ही तो है। अभावका अभाव भावरूप होता है। दो निषेधोंको प्रकृत अर्थका समर्थकपना है। " घट नहीं है यह नहीं समझना " इसका अर्थ घटका सद्भाव ही होता है। इस कारण दो कार्य और स्वभाव हेतुओंको हम प्रधानतासे निषेध को साधनेवाले नहीं मानते हैं, किन्तु गौणरूपसे निषेधको और प्रधानतासे सद्भावको साधनेवाले मानते हैं। तथा एक अनुपलम्भ हेतु तो विधिका साधनेवाला कैसे भी नहीं माना गया है, जिससे

कि उक्त दोष हमारे ऊपर आवे। इस प्रकार कोई बौद्ध कह रहा है। वह भी प्रमाणद्वारा विश्वास करने योग्य कथन करनेवाला नहीं है। क्योंकि सम्पूर्ण लौकिक परीक्षक विद्वानोंद्वारा प्रतीत किये जा रहे, कार्य, स्वभाव और अनुपलब्धि हेतुओंमें बौद्धोंने विपरीत ही कल्पना कर रक्खी है।

तथाहि—सर्वत्र कार्यस्वभावहेतोर्विरुद्धव्याप्तोपलब्धिरूपतापत्तेरनुपलब्धिरेवैका स्यात् अनुपलब्धेर्वा कार्यस्वभावहेतुतापत्तेस्तावेव स्यातां तत्र प्रतीत्यनुसरणे यथोपयोक्त्रभिप्रायं कार्यस्वभावावपि प्राधान्येन विधिप्रतिषेधसाधनावुपेयौ। विधिसाधनश्चानुपलंभ इति न विषयभेदाल्लिंगसंख्यानियमः सिद्ध्येत्।

उस बौद्धोंकी विपरीतकल्पनाका ही निदर्शन कराते हैं कि यों तो सभी स्थानोंपर कार्य और स्वभाव हेतुओंको विरुद्धसे व्याप्तकी उपलब्धिस्वरूपपना प्राप्त हो जावेगा। अतः एक अनुपलब्धि ही हेतुका भेद मान लिया जाय अर्थात् बौद्धोंके विचार अनुसार धूम और शीशोंको भी अनुपलम्भमें अंतर्भूत किया जाता है। तब तो सभी हेतु अनुपलम्भरूप ही मान लिये जांय अथवा अनुपलब्धि हेतुको भी कार्यहेतुपने या स्वभावहेतुपनेकी आपत्ति हो जायगी। अतः अनुपलब्धिका दोमें अन्तर्भाव हो जानेसे कार्य और स्वभाव ये दो ही हेतु रहे हैं। क्योंकि अनुष्णताकी अनुपलब्धिको बौद्धोंने स्वभावहेतुमें गिनदिया है। यदि वहां प्रतीतिका अनुसरण करोगे, तब तो उपयोग करनेवालेके अभिप्रायका नहीं अतिक्रमण कर कार्य, स्वभावहेतुओंको प्रधानतासे विधि और निषेधका भी साधनेवाला मान लेना चाहिये तथा अनुपलम्भ हेतु प्रधानतासे विधिको भी साधनेवाला मान लिया जाना चाहिये। इस कारण विधि और निषेधरूप विषयोंके भेदसे हेतु भेदोंकी संख्याका नियम नहीं सिद्ध हो सकेगा, जो कि बौद्धोंने मान रक्खा है। जैनसिद्धान्त तो " उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च " ऐसा है।

यस्मादनुपलंभोत्रानुपलभ्यत्वमिष्यते।
तथोपलभ्यमानत्वमुपलंभः स्वरूपतः॥ २१५॥
भिन्नावेतौ न तु स्वार्थभेदादिति नियम्यते।
भावाभावात्मकैकार्थगोचरत्वाविशेषतः॥ २१६॥

जिस कारणसे कि यहां हेतुभेदोंमें नहीं उपलम्भ किया जा रहापन ही अनुपलम्भ माना जाता है, तिसी प्रकार उपलम्भ किया गयापन ही स्वरूपसे उपलम्भ हेतु इष्ट किया गया है। अतः वस्तुके धर्मोंकी अपेक्षासे ये उपलम्भ और अनुपलम्भ भिन्न माने गये हैं, किंतु अपने धर्मी अर्थके अभेद होनेसे तो दोनों अभिन्न ही हैं, भिन्न नहीं है, ऐसा नियम किया जाता है। क्योंकि भाव और अभावस्वरूप एक अर्थ (साध्य) को विषय करनापन धर्म दोनों हेतुओंमें अंतररहित है।

उपलभ्यत्वानुपलभ्यत्वस्वरूपभेदादेव भिन्नादुपलंभानुपलंभौ मंतव्यौ न पुनः स्वविषयभेदादिति नियम्यते विधिप्रतिषेधात्मकैकवस्तुविषयत्वस्य तयोर्विशेषाभावात्।

एक वस्तुके उपलभ्यपन और अनुपलभ्यपन–नामक स्वरूपभूत धर्मोंके भेदसे ही उपलम्भ और अनुपलम्भोंको भले ही भिन्न मान लेना चाहिये, किन्तु फिर अपने धर्मीरूप विषयके भेदसे ये हेतु भिन्न नहीं हैं, इस प्रकार नियम किया जाता है। क्योंकि विधि और प्रतिषेधस्वरूप एक वस्तु (साध्य) को विषय करनापन उन दोनोंमें विशेषतारहित होकर विद्यमान है। भावार्थ—बौद्धोंके समान प्रमेयभेदसे प्रमाणके भेद होनेको जैसे हम नहीं मानते हैं, प्रमाण कई होय किन्तु सामान्य विशेष आत्मक वस्तुनामका प्रमेय एक ही है। हां, प्रत्यक्षप्रमाणका विषयपन, अनुमानका विषयपन, आगमद्वारा जानने योग्यपन, आदि धर्मोंको वस्तुमें न्यारा न्यारा अवश्य मानते हैं। उसी प्रकार विषयी अर्थके भेदसे उनके ज्ञापक हेतुओंका भेद हमें अभीष्ट नहीं है। हां, अर्थके धर्मोंकी अपेक्षासे हेतुसंबंधी भेद बन जाना समुचित है। " यावन्ति कार्याणि तावन्तः प्रत्येकस्वभावभेदाः " ऐसा अकलंकवचन है।

यथैवेत्युपलंभेन प्राधान्याद्विधिर्गुणभावात् प्रतिषेधश्च विषयीक्रियते तथानुपलंभेनापि। यथानुपलंभेन प्रतिषेधः प्राधान्यात्, विधिश्च गुणभावात्तथोपलंभेनापीति यथायोग्यमुदाहरिष्यते। ततः संक्षेपादुपलंभानुपलंभावेव हेतू प्रतिपत्तव्यौ।

जिस ही प्रकार यों उपलम्भ हेतुकरके प्रधानतासे विधिको और गौणरूपसे निषेधको विषय किया जाता है, तिस ही प्रकार अनुपलम्भ हेतुकरके भी प्रधानतासे विधि और गौणरूपसे निषेध जाना जाता है। तथा जिस प्रकार अनुपलम्भकरके प्रधानतासे निषेध और गौणरूपसे विधिका जानना अभीष्ट है, उसी प्रकार उपलम्भ करके भी प्रधानतासे निषेध और गौणरूपसे विधिका ज्ञापन करना इष्ट करलो। इन सब हेतुभेदोंके यथायोग्य भविष्यमें उदाहरण दिये जावेंगे। तिस कारण संक्षेपसे उपलम्भ और अनुपलम्भ ही दो हेतु समझलेने चाहिये।

तत्त्रैवोपलंभः स्यात्सिद्धः कार्यादिभेदतः।
कार्योपलब्धिरग्न्यादौ धूमादिः सुविधानतः॥ २१७॥

तिस कारण तिन हेतुभेदोंमें उपलम्भ नामका हेतु तो कार्य, व्याप्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर, इन भेदोंसे छह प्रकारका सिद्ध है। जैनसिद्धान्त अनुसार हेतुओंकी अच्छी भेद गणना करनेसे अग्नि आदि कारणोंको साध्य करनेमें धूम आदिक हेतु कार्य उपलब्धिरूप हैं। अर्थात् अग्निके कार्य धूमहेतुके दीख जानेसे अग्निरूप कारणका अनुमान हो जाता है।

कारणस्योपलब्धिः स्याद्विशिष्टजलदोन्नतेः।
वृष्टौ विशिष्टता तस्याश्चित्या छायाविशेषतः॥ २१८॥

कारणकी उपलब्धिके उदाहरण इस प्रकार विचार लेना चाहिये कि विशिष्ट ढंगके मेघोंकी उन्नति होनेसे भविष्यमें होनेवाली वर्षाकी विशिष्टता उससे जानली जाती है। तथा छायाविशेषकी छत्रसे ज्ञप्ति हो जाती है। इसी ढंगके अन्य निदर्शन विचार लिये जासकते हैं।

कारणानुपलंभेपि यथा कार्ये विशिष्टता।
बोध्याभ्यासात्तथा कार्यानुपलंभेपि कारणे ॥ २१९ ॥

कारणका प्रत्यक्ष न होनेपर भी जिस प्रकार कार्यमें विशिष्टताको अभ्याससे जान लिया जाता है, अर्थात् प्रत्यक्षकार्यसे परोक्षकारणका अनुमान हो जाता है, उसी प्रकार कार्यका अनुपलम्भ होनेपर भी कारणमें विशिष्टता जानली जाती है। भावार्थ—प्रत्यक्ष हो रहे कारणहेतुसे परोक्ष कार्यका अनुमान करलिया जाता है।

समर्थं कारणं तेन नांत्यक्षणगतं मतम्।
तद्बोधे येन वैयर्थ्यमनुमानस्य गद्यते ॥ २२० ॥

कार्यके करनेमें समर्थ हो रहे कारणको हम हेतु मानते हैं, तैसा होनेसे अन्त्यक्षणको प्राप्त हो रहा कारण हमारे यहां हेतु नहीं माना गया है, जिससे कि उत्तरक्षणमें उस कार्यका प्रत्यक्ष हो जानेपर अनुमानप्रमाण उठानेका व्यर्थपना कहा जाय। भावार्थ—कारणकूट मिलकर समर्थ सामग्री हो जानेसे अव्यवहित उत्तरक्षणमें कार्य उत्पन्न हो जाता है। ऐसी दशामें अन्त्यक्षणको प्राप्त हो रहे कारणसे कार्यका अनुमान करना व्यर्थ है। क्योंकि अनुमानके समयमें तो कार्यका प्रत्यक्ष ही हो जायगा।

न चानुकूलतामात्रं कारणस्य विशिष्टता।
येनास्य प्रतिबंधादिसंभवाद्व्यभिचारिता ॥ २२१ ॥

तथा कारणको ज्ञापक हेतु बनानेके प्रकरणमें स्वरूपयोग्यतारूप केवल अनुकूलताको भी हम कारणकी विशिष्टता नहीं मानते हैं। जैसे कि वृक्षमें लग रहा या कोनेमें धरा हुआ दंड तो घटका कारण नहीं है। हां, स्वरूपयोग्य होकर अनुकूल है, फलका उपधायक नहीं हैं, तिसी प्रकार अंकुरके अनुकूल हो रहे कारण अकेले खेत, बीज, जल, आदिको ही हम ज्ञापक कारण नहीं मानते हैं, जिससे कि इस कारणका प्रतिबंध, पृथक्करण, आदि सम्भवनेसे कारणहेतुका व्यभिचार दोष बन बैठे अर्थात् कार्य करानेमें उपयोगी हो रहे और कारणपनेकी सामर्थ्यके प्रतिबन्धसे रहित कारणको कार्यका ज्ञापक हेतु माना जाता है। अन्य सभी कारणोंको नहीं।

वैकल्यप्रतिबंधाभ्यामनासाद्य स्वभावताम्।
विशिष्टतात्र विज्ञातुं शक्या छायादिभेदतः ॥ २२२ ॥

तद्विलोपेऽखिलख्यातव्यवहारविलोपनम् ।
तृप्त्यादिकार्यसिद्ध्यर्थमाहारादिप्रवृत्तितः ॥ २२३ ॥

बौद्धजन कार्यको तो ज्ञापकहेतु मानते हैं, किन्तु कारणको ज्ञापकहेतु नहीं मानते हैं। क्योंकि कार्य तो अवश्य ही कारणोंसे उत्पन्न होते हैं। किन्तु कारण अवश्य ही कार्यको उत्पन्न करे ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि अनेक कारण कार्यको उत्पन्न किये विना ही स्वरूपयोग्यतारूप कारणतासहित बने रहते हैं। अन्य कारणोंके एकत्रित न हो पानेसे फलको नहीं उत्पन्न कर पाते हैं। जैसे कि खेतमें पड़ी हुई मट्टी अन्य कुम्हार, चक्र, जल, आदि कारणोंके न मिलनेसे घटको नहीं बना पाती है। अतः कारणको ज्ञापक हेतु बनानेसे व्यभिचार दोष आता है। इस प्रकार बौद्धोंका अनुमत होनेपर आचार्य महाराज कहते हैं कि अन्यकारणोंकी विकलता (रहितता) और कारणोंकी सामर्थ्यका प्रतिबन्ध करके अपने हेतुस्वभावपनेको नहीं प्राप्त होकर तो कारणहेतु व्यभिचारी बन जायगा। किन्तु अन्य कारणोंकी परिपूर्णता और कार्य करनेमें हेतुकी सामर्थ्यका प्रतिबंध न होनेसे यहा कारणहेतुकी विशिष्टताको विशेषरूपसे जाना जा सकता है। छाया उष्णता, आदिके भेदसे छत्र, अग्नि, आदिका कारणपना सुव्यवस्थित होरहा है। यदि अन्य कारणोंकी पूर्णता और हेतुसामर्थ्यकी अक्षुण्णता रहते हुये भी उस कारणसे कार्यके ज्ञान होनेका विलोप हो जानेको बौद्ध मानेंगे तो जगत्प्रसिद्ध सम्पूर्ण-व्यवहारोंका विलोप हो जावेगा। तेलके लिये तिलोंका उपादान न हो सकेगा। भविष्यमें सुख, शान्तिको प्राप्त करनेके लिए धर्मसाधनमें प्रवृत्ति न हो सकेगी, किन्तु ऐसा नहीं है। तृप्ति, प्यास बुझना आदि कार्योंकी सिद्धिके लिये आहार, जलपान, आदिमें प्रवृत्ति होना देखा जा रहा है। अतः सभी कारण तो नहीं, किंतु कार्यको नियमसे करनेवाले कारणोंको ज्ञापक हेतु मानना न्याय्य है। " किञ्चित्कारणं हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबंधकारणान्तरावैकल्ये " ऐसा परीक्षामुखमें लिखा है।

हेतुना यः समग्रेण कार्योत्पादोनुमीयते ।
अर्थान्तरानपेक्षत्वात्स स्वभाव इतीरणे ॥ २२४ ॥
कार्योत्पादनयोग्यत्वे कार्ये वा शक्तकारणम् ।
स्वभावहेतुरित्यार्यैर्विचार्य प्रथमे मतः ॥ २२५ ॥
स्वकार्ये भिन्नरूपैकस्वभावं कारणं वदेत् ।
कार्यस्यापि स्वभावत्वप्रसंगादविशेषतः ॥ २२६ ॥
समग्रकारणं कार्यस्वभावो न तु तस्य तत् ।
कोऽन्यो ब्रूयादिति ध्वस्तप्रज्ञनैरात्मवादिनः ॥ २२७ ॥

बौद्धजनोंको भी स्वभाव और कार्यके सदृश कारणहेतु मानना आवश्यक होगा। देखिये, रससे एक सामग्रीका अनुमानकर रूपका अनुमान चाहनेवालोंको कारण हेतु इष्ट करना पडता है। मुखमें चाट लिये गये रससे एक सामग्रीका पहिले अनुमान होता है। यह तो कार्यसे कारणका अनुमान है। किन्तु सामग्रीसे पुनः रूपका अनुमान करना यह कारणसे कार्यका अनुमान है। दाल या शाकमें पडे हुये नीबूके रसका ज्ञान तो रसनासे प्रत्यक्ष हो रहा है। किंतु नीबूके रस जलमें रूपका ज्ञान अनुमानसे ही हो सकता है। रूपसामग्री रसको उत्पन्न करनेमें रूपको बनाती हुई ही व्यापार कर सकती है। अर्थात् रूपको नहीं बनाकर अकेले रसका बनाना उससे असंभव है। अतः रूपस्कंधस्वरूप एक सामग्रीसे खट्टी दालमें नीबूके रूपका ज्ञान हो जाना, कारणहेतुद्वारा अनुमान–साध्य कार्य है। हां, यह अवश्य है कि मणि, मंत्र आदिसे यदि अग्निकी सामर्थ्य नष्ट हो गई है, ऐसी दशामें अग्निसे दाह करनेका अनुमान नहीं किया जा सकता है। तथा बोरेमें भरे हुये गेंहूं चना आदिसे उनके अंकुरोंका अनुमान नहीं होता है। क्योंकि खेत, पानी, मिट्टी, आदि कारणोंकी विकलता होनेसे बीज अकेला अंकुरोंको नहीं पैदा करता है। यदि सामग्रीसे युक्त हो रहे हेतुकरके जो कार्यके उत्पादका अनुमान किया जाता है, वह अन्य अर्थोंकी नहीं अपेक्षा होनेसे स्वभाव हेतु है। ऐसा कहोगे अथवा कार्यके उत्पाद करानेकी योग्यता होते संते कार्य करनेमें समर्थ हो रहा कारण यदि स्वभाव हेतु है। इसपर आर्य विद्वानोंकरके विचार कर पहले स्वभाव हेतुमें कारण हेतु मानना नीतियुक्त होगा। किन्तु जो बौद्ध अपने कार्य करनेमें भिन्नस्वरूप हो रहे एक कारणको यदि स्वभाव कहेगा, तब तो कार्यहेतुको भी स्वभाव हेतुपनका प्रसंग हो जायगा। कोई विशेषता नहीं है। अर्थात् स्वभाववान् कारणका स्वभाव कार्य हेतु हो सकता है। बुद्धपनसे कोई कहता है कि समग्र कारण तो कार्यका स्वभाव है, किन्तु उस समग्र कारणका स्वभाव वह कार्य नहीं है। इस बातको नष्ट हो गई है विचारशालिनी बुद्धि जिसकी, और आत्माको न मानकर पदार्थोंको निःस्वभाव माननेवाले बौद्धोंके अतिरिक्त अन्य कौन कह सकेगा। अतः स्वभावहेतुसे अतिरिक्त जैसे कार्यहेतु माना जाता है, उसी प्रकार कारणहेतु भी न्यारा मानना चाहिये।

यत्स्वकार्याविनाभावि कारणं कार्यमेव तत्।
कार्यं तु कारणं भावीत्येतदुन्मत्तभाषितम् ॥ २२८ ॥

जो कारण अपने कार्यके साथ अविनाभाव रखता है, वह तो कार्य ही है। भविष्यमें होनेवाले कारण भी कार्यके जनक माने गये हैं, जैसे कि भविष्यमे होनेवाले पत्नीवियोगरूप कारण द्वारा पहले ही तिल, मसा आदि चिन्ह शरीरमें बन जाते हैं। यों कार्यहेतुद्वारा प्रयोजन सध जाता है। इस प्रकार बौद्धोंका यह कहना तो उन्मत्तोंका भाषण है। भला विचारो तो सही

कि कार्यमें व्यापार करनेवाले कारण माने जाते हैं। भविष्यमें होनेवाले कारण भला कार्यमें कैसे सहायता कर सकते हैं ? कथमपि नहीं।

परस्पराविनाभावात् कश्चिद्धेतुः समाश्रितः।
हेतुतत्त्वव्यवस्थैवमन्योन्याश्रयणाज्जनैः॥ २२९॥

कार्य और कारणका परस्परमें अविनाभाव हो जानेसे दोनोंमेंसे चाहे जिस किसीको हेतु बनानेका आश्रय लोगे तब तो इस ढंगसे मनुष्यों द्वारा हेतुत्त्वकी व्यवस्था हो चुकी ? (उपहास) क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष आता है।

राज्यादिदायकादृष्टविशेषस्यानुमापकम्।
पाणिचक्रादि तत्कार्यं कथं वो भाविकारणम्॥ २३०॥

राजापन, सेठपन, यशस्वीपन, पुत्र, कलत्र, धन, आदिसे सहितपना, विद्वत्ता, तथा पुत्रवियोग, दरिद्रता, चिरस्थिररोग, मूर्खता आदिको भविष्यमें दिलानेवाले, पुण्यपापविशेषोंका अनुमान करानेवाले पाणिचक्र आदि चिन्ह उन भविष्यमें होनेवाले राज्य आदि कारणोंसे बनाये गये हैं अर्थात् हाथमें चक्र, हाथी, मछली, रेखा अथवा, पैरोंमें शंख आदि चिन्ह उनके कार्य हैं। और भविष्यमें होनेवाले राज्य, पतिवियोग आदिक कारण हैं। आचार्य कहते हैं कि तिस प्रकार भविष्यमें होनेवाले कारणोंका आश्रय कर वे भूत हो चुके राज्य आदिक कार्य तुम्हारे यहा कैसे हो जाते हैं ? यह महान् आश्चर्य है। जहा सरोवर भविष्यमें खुदनेवाला है। वहा पूर्वसे ही मगर कैसे किलोलें कर सकता है ? अर्थात् नहीं, भविष्यमें होनेवाले पदार्थ भूतकार्यके कारण नहीं बन सकते हैं। हां, सामग्रीयुक्त समर्थकारणसे कार्यका अनुमान कर लिया जाता है।

तत्परीक्षकलोकानां प्रसिद्धमनुमन्यताम्।
कारणं कार्यवद्धेतुरविनाभावसंगतम्॥ २३१॥

तिस कारण परीक्षकजनोंको यह बात प्रसिद्ध हो रही मान लेनी चाहिये कि कार्यके समान अविनाभावसे युक्त हो रहा कारण भी ज्ञापक हेतु बन जाता है।

एवं कार्योपलब्धिं कारणोपलब्धिं च निश्चित्य संप्रत्यकार्यकारणोपलब्धिं विधिषोदाहरन्नाह;—

इस प्रकार विधिको साधनेवाले उपलम्भ हेतुओंमेंसे कार्य–उपलम्भ और कारण–उपलम्भ हेतुओंका निश्चयकर इस समय कार्य, कारणसे रहित उपलब्धिके विशेषभेदका उदाहरण दिखलाते हुए आचार्य महाराज स्पष्ट निरूपण करते हैं।

कार्यकारणनिर्मुक्तवस्तुदृष्टिर्विवक्ष्यते ।
तत्स्वभावोपलब्धिश्च तदसम्बन्धनिश्चिता ॥ २३२ ॥
कथंचित्साध्यतादात्म्यपरिणाममितस्य या ।
स्वभावस्योपलब्धिः स्यात्साविनाभावलक्षणा ॥ २३३ ॥
उत्पादादित्रयाक्रांतं समस्तं सत्त्वतो यथा ।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं द्रव्यत्वादिति चोच्यते ॥ २३४ ॥

कार्य और कारणसे रहित हो रहे वस्तुका उपलम्भ जब विवक्षित किया जाता है, तब वह कार्यकारण सम्बन्धके रहितपनसे निश्चित की गई स्वभावउपलब्धि कही जाती है। साध्यके साथ कथंचित् तदात्मकपन परिणामको प्राप्त हो रहे स्वभावका उपलम्भ जो होगा वह अविनाभावस्वरूप होता हुआ स्वभाव उपलम्भ हेतुका बीज है। उसके उदाहरण यों हैं कि सम्पूर्ण पदार्थ (पक्ष) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन धर्मोंसे अधिरूढ हो रहे हैं (साध्य), सत्त्व होनेसे (हेतु) घडा, कडा, पेडा, आदिके समान (दृष्टान्त) तथा द्रव्य (पक्ष) सहभावी गुण और क्रमभावी पर्यायोंसे युक्त है (साध्य), द्रवणपना होनेसे (हेतु), इस प्रकार स्वभाव उपलम्भके उदाहरण कहे जाते हैं। सम्पूर्ण पदार्थोंका सत्पना स्वभाव है। और गुणपर्ययवान्का स्वभाव द्रव्यत्व धर्म है।

यस्यार्थस्य स्वभावोपलंभः स व्यवसायकः ।
सिद्धिस्तस्यानुमानेन किं त्वयान्यत्प्रसाध्यते ॥ २३५ ॥
समारोपव्यवच्छेदस्तेनेत्यपि न युक्तिमत् ।
निश्चितेर्थे समारोपासंभवादिति केचन ॥ २३६ ॥

किसी प्रतिवादीका यहां पूर्वपक्ष है कि जिस अर्थके स्वभावका उपलम्भ निश्चयसहित हो रहा है, उस स्वभाववान् अर्थके निश्चयकी सिद्धि तो अवश्य ही हो चुकी है। फिर उस स्वभाववान् अर्थका अनुमान करनेसे तुमने किस अतिरिक्त अर्थको बढिया साधा है ? बताओ। यदि तुम जैन यों कहो कि स्वभाववान् अर्थमें किसी कारणसे संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, अथवा अज्ञानरूप समारोप उत्पन्न होगया है, उसका व्यवच्छेद करना अनुमानसे साधा जाता है, यह तुम्हारा कहना भी युक्तिसहित नहीं है। क्योंकि निश्चित किये जा चुके अर्थमें समारोप होनेका असंभव है। इस प्रकार कोई कह रहे हैं।

तदसद्वस्तुनोनेकस्वभावस्य विनिश्चिते ।
सत्त्वादावपि साध्यात्मनिश्चयान्नियमान्नृणाम् ॥ २३७ ॥

निश्चितानिश्चितात्मत्वं न चैकस्य विरुध्यते ।
चित्रताज्ञानवन्नानास्वभावैकार्थसाधनात् ॥ २३८ ॥

वह किसीका कहना समीचीन नहीं है, क्योंकि वस्तुके अनेक स्वभावोंका विशेष निश्चय होते हुये भी कतिपय धर्मयुक्त वस्तुका निश्चय नहीं हो पाता है । ऐसी दशा होनेपर सत्व, परिणामित्व आदि हेतुओंमें उत्पाद आदिसे घिरे हुये साध्यस्वरूपके साथ अविनाभावका निश्चय होनेसे भी साध्यका निश्चय होना मनुष्योंके देखा जाता है । उष्णताको देखकर अग्निका ज्ञान हो जाता है । एक भावके निश्चितस्वरूपपन और अनिश्चितस्वरूपपनमें कुछ विरोध नहीं पडते हैं । कारण कि अनेक स्वभाववाले एक अर्थको चित्रपनके ज्ञानसमान साध दिया गया है । अर्थात् वस्तुके एक निश्चितस्वभावसे अनुमान द्वारा अन्य स्वभावोंके साथ तदात्मक हो रहे वस्तुका निश्चय हो जाता है ।

तत एव न पक्षस्य प्रमाणेन विरोधनं ।
नापि वृत्तिर्विपक्षे तद्धेतोरेकान्ततश्च्युतेः ॥ २३९ ॥
उत्पादव्ययनिर्मुक्तं न वस्तु खरशृंगवत् ।
नापि ध्रौव्यपरित्यक्तं त्र्यात्मकं स्वार्थतत्त्वतः ॥ २४० ॥

तिस ही कारण पक्षका यानी प्रतिज्ञाका प्रमाणकरके विरोध नहीं हुआ । एक ही धर्मसे युक्त पदार्थ हैं, इस सिद्धांतसे च्युत हो जानेके कारण उस सत्त्वहेतुकी विपक्षमें वृत्ति भी नहीं है । जो उत्पाद और व्ययसे सर्वथा रहित है, वह गधेके सींगसमान कोई वस्तु नहीं है । तथा ध्रुवपनसे छोड दिया गया भी शशाके सींग समान कोई वस्तुभूत पदार्थ नहीं है । अतः कूटस्थ नित्यवादी सांख्योंका और निरन्वय क्षणिकवादी बौद्धोंका मन्तव्य गिर जाता है । विचार करनेपर अपना अर्थ-क्रिया करनारूप, प्रयोजन तत्त्वकी अपेक्षासे सम्पूर्ण पदार्थ पूर्वस्वभावका त्याग, उत्तरवर्त्ती स्वभावोंका ग्रहण, तथा अन्वितरूपसे ध्रुवपनारूप तीन धर्मोंकरके तदात्मक हो रहे हैं ।

सहभाविगुणात्मत्वाभावे द्रव्यस्य तत्त्वतः ।
क्रमोत्पित्सु स्वपर्यायाभावत्वे च न कस्यचित् ॥ २४१ ॥
नाक्रमेण क्रमेणापि कार्यकारित्वसंगतिः ।
तदभावे कुतस्तस्य द्रव्यत्वं व्योमपुष्पवत् ॥ २४२ ॥
एवं हेतुरयं शक्तः साध्यं साधयितुं ध्रुवम् ।
सत्त्ववन्नियमादेव लक्षणस्य विनिश्चयात् ॥ २४३ ॥

अनादिसे अनंतकालतक ठहरनेवाले द्रव्यके साथ ध्रुवरूपसे हो रहे सहभावी गुणात्मकपना न माननेपर द्रव्यकी यथार्थ करके अक्रमपनेसे यानी युगपत् कार्यकारीपनकी संगति नहीं बनेगी, तथा क्रमसे उत्पन्न होना चाह रहे 'उत्पाद, व्ययरूप अपने पर्यायोंके अभाव माननेपर किसी भी द्रव्यके क्रम, क्रमसे कार्यकारीपनेकी समीचीन गति नहीं हो सकती है, जब अर्थक्रियाको संपादन करानेके बीजभूत वे उत्पाद व्यय, ध्रौव्यस्वरूप सहभावी और क्रमभावी परिणाम नहीं माने जायगे तो उस पदार्थका द्रव्यपना कैसे सिद्ध होगा ? जैसे कि क्रम और युगपत्पन सो अर्थक्रियाको न करनेसे आकाश पुष्पको द्रव्यपना नहीं सिद्ध होता है। इस प्रकार यह द्रव्यत्व हेतु सत्त्वहेतुके समान उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, आत्मक साध्यको साधनेके लिये पक्के तौरसे समर्थ है। क्योंकि अविनाभाव यहां विद्यमान है। अविनाभावसे ही समीचीन हेतुके लक्षणका विशेष निश्चय हो जाता है।

तदियमकार्यकारणरूपस्य साध्यस्वभावस्योपलब्धिर्निश्चितोक्ता। साध्यादन्यस्योपलब्धिं पुनर्विभज्य निश्चिन्वन्नाह;—

तिस कारण यह कार्य, कारण, दोनों स्वरूपोंसे रहित साध्यस्वभावकी उपलब्धि निश्चित की जा चुकी कह दी गई है। अब साध्यसे अन्यकी उपलब्धिरूप हेतुका फिर विभाग कर निश्चय कराते हुये आचार्य महाराज स्पष्ट निरूपण करते हैं।

साध्यादन्योपलब्धिस्तु द्विविधाप्यवसीयते।
विरुद्धस्याविरुद्धस्य दृष्टेस्तेन विकल्पनात् ॥ २४४ ॥

साध्यसे अन्यपदार्थकी उपलब्धि तो दोनों भी प्रकारकी निश्चित जानी जा रही है। उस साध्यके साथ विरुद्ध हो रहेका उपलम्भ होना और उस साध्यसे अविरुद्धका उपलम्भ होना, इस प्रकार दो भेद किये जाते हैं। साध्यकोटिमेंसे न को निकालकर उससे विरुद्धकी उपलब्धि समझ लेना।

साध्यादन्यस्य हि तेन साध्येन विरुद्धस्योपलब्धिरविरुद्धस्य वा द्विधा कल्प्यते सा गत्यंतराभावात्। तत्र—

कारण कि साध्यसे अन्यकी उस साध्यकरके विरुद्ध हो रहे की उपलब्धि और साध्यसे अविरुद्धकी उपलब्धि इस ढगसे वह उपलब्धि दो प्रकार कल्पित की गई है। अन्य उपायका अभाव है। तिनमें पहिलीका निरूपण करते हैं।

प्रतिषेधे विरुद्धोपलब्धिरर्थस्य तद्यथा।
नास्त्येव सर्वथैकांतोऽनेकांतस्योपलंभतः ॥ २४५ ॥

यावान्कश्चिन्निषेधोत्र स सर्वोनुपलंभवान् ।
यत्तदेष विरुद्धोपलंभोस्त्वनुपलंभनम् ॥ २४६ ॥
इत्ययुक्तं तथाभूतश्रुतेरनुपलंभनम् ।
तन्मूलत्वात्तथाभावे प्रत्यक्षमनुमास्तु ते ॥ २४७ ॥

अर्थके निषेधको साधनेपर निषेध्य अर्थके विरुद्धकी उपलब्धिरूप हेतुका यह उदाहरण इस प्रकार है कि सम्पूर्ण प्रकारोंसे एकान्त नहीं है, क्योंकि अनेक धर्मोंकी उपलब्धि हो रही है। यहां किसीकी शंका है कि जिस कारण कि जितने भी कोई यहां निषेध हैं, वे सभी अनुपलम्भयुक्त हैं, तिस कारण यह एकान्तसे विरुद्ध अनेकान्तका उपलम्भ होना अनुपलंभ हो जाओ। आचार्य कहते हैं कि यह कहना युक्तिरहित है। क्योंकि तिस प्रकार होता हुआ अनुपलम्भ सुना गया है। अनुपलम्भका मूल कारण प्रत्यक्ष है। तिस प्रकार न माननेपर तो तुम्हारे यहां प्रत्यक्षप्रमाण अनुमान हो जाओ अर्थात् अनेकान्तके प्रत्यक्षस्वरूप उपलम्भसे एकान्तोंका अभाव अनुमित हो जाता है। ऐसी दशामें प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रतिष्ठित बने रहते हैं, अन्यथा नहीं।

तथैवानुपलंभेन विरोधे साधिते क्वचित् ।
स्यात्स्वभावविरुद्धोपलब्धिवृत्तिस्तथैव वा ॥ २४८ ॥
लिंगे प्रत्यक्षतः सिद्धे साध्यधर्मिणि वा क्वचित् ।
लिंगिज्ञानं प्रवर्तेत नान्यथातिप्रसंगतः ॥ २४९ ॥
गौणश्चेद्व्यपदेशोऽयं कारणस्य फलेस्तु नः ।
प्रधानभावतस्तस्य तत्राभिप्रायवर्तनात् ॥ २५० ॥

तिस ही प्रकार अनुपलम्भ करके कहीं विरोधका साधन करनेपर स्वभाव विरुद्धकी उपलब्धिका वर्तना होवेगा। जैसे कि विशिष्ट उष्णताके अनुपलम्भसे अग्निका अभाव (विरोध) साधा जाता है। अथवा तिस ही प्रकार किसी साध्यरूप धर्मसे सहित हो रहे दृष्टान्तमें प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा हेतुके प्रसिद्ध हो जानेपर कहीं लिङ्गीका ज्ञान प्रवर्तेगा। ज्ञापकत्व संबंधसे लिंगसहित लिंगी साध्य कहलाता है। दूसरे प्रकारोंसे लिंगीके ज्ञानोंकी प्रवृत्ति नहीं है। क्योंकि अतिप्रसंग दोष हो जायगा अर्थात् दृष्टान्तमें व्याप्तिका ग्रहण किये विना ही चाहे जिस अतीन्द्रिय हेतुसे चाहे जिस साध्यका अनुमान हो सकेगा। यदि बौद्ध यों कहें कि यह कारणपनेका व्यवहार करना गौण है। तब तो हम जैन कहेंगे कि हमारे यहां फलरूप कार्यमें स्वभावपनेका व्यपदेश गौणरूपसे हो जाओ कि उस स्वभाववान्के साधनेमें अथवा स्वभावविरुद्ध हेतुका विरोधी भावके साधनेमें प्रधानरूपसे अभिप्राय वर्त रहा है।

स्वभावविरुद्धोपलब्धिं निश्चित्यानुपलब्धेरर्थांतरभूतां व्याप्यविरुद्धोपलब्धिमुदाहरति;-

यहांतक निषेध्यसाध्यके स्वभावसे विरुद्धकी उपलब्धिका निश्चय कर अब ग्रन्थकार अनुपलब्धिसे भिन्नस्वरूप हो रही व्याप्यविरुद्ध-उपलब्धिका उदाहरण दिखाते हैं।

व्यापकार्थविरुद्धोपलब्धिरत्र निवेदिता।
यथा न सन्निकर्षादिः प्रमाणं परसंमतम् ॥ २५१ ॥
अज्ञानत्वादतिव्याप्तेर्ज्ञानत्वेन मितेरिह।
व्यापकव्यापकद्विष्टोपलब्धिर्वेयमिष्यते ॥ २५२ ॥
स्यात्साधकतमत्वेन स्वार्थज्ञप्तौ प्रमाणता।
व्याप्ता या च तया व्याप्तं ज्ञानात्मत्वेन साध्यते ॥ २५३ ॥

लगे हाथ यहां व्यापक अर्थसे विरुद्ध हो रहे की उपलब्धि भी निवेदन कर दी गई है। उसका उदाहरण यों है कि वैशेषिक सांख्य आदि परवादियोंके सम्मत हो रहे सन्निकर्ष, इन्द्रियवृत्ति, कारकसाकल्य, आदिक (पक्ष) प्रमाण नहीं हैं (साध्य), अज्ञानरूप होनेसे (हेतु) यहां ज्ञानपने करके प्रमाणताकी व्याप्ति हो रही है। अज्ञानको प्रमाण माननेपर अतिव्याप्ति दोष है। अर्थात् घट आदिक भी प्रमाण बन बैठेंगे, जो कि इष्ट नहीं है। अतः प्रमाणरहितपना साध्यमेंसे निषेध अंशको निकालकर प्रमाणपनरूप साध्यके व्यापक ज्ञानत्वसे विरुद्ध अज्ञानपनकी उपलब्धि व्यापकविरुद्ध उपलब्धि है। अथवा यह अज्ञानत्व हेतु व्यापकव्यापक-विरुद्ध उपलब्धि इष्ट किया गया है। प्रमाणपनका व्यापक प्रमितिका साधकतमपना है, और प्रमितिके साधकतमपनेका व्यापक-ज्ञानपना है। उस ज्ञानपनेके विरुद्ध अज्ञानत्वकी उपलब्धि हो रही है। स्व और अर्थकी ज्ञप्ति करनेमें प्रकृष्ट उपकारकपनेकरके जो प्रमाणता व्याप्त हो रही है, वही प्रमाणता ज्ञानरूपपनेसे व्याप्त हो रही है। और व्यापकज्ञानपनेके निषेधस्वरूप अज्ञानपनकरके प्रमाणत्वका अभाव साध लिया जाता है।

यदा प्रमाणत्वं ज्ञानत्वेन व्याप्तं साध्यतेऽज्ञानस्य प्रमाणत्वेतिप्रसंगात् तदा तद्विरुद्धस्याज्ञानत्वस्योपलब्धिर्व्यापकविरुद्धोपलब्धिर्बोध्या न सन्निकर्षादिरचेतनः प्रमाणमज्ञानत्वादिति। यदा तु प्रमाणत्वं साधकतमत्वेन व्याप्तं तदपि ज्ञानात्मकत्वेन व्याप्तं साध्यतेऽसाधकतमस्य प्रमाणतानुपपत्तेरज्ञानात्मकस्य च स्वार्थप्रमितौ साधकतमत्वायोगात्। छिदिक्रियादावेवाज्ञानात्मनः परश्वादेः साधकतमत्वोपपत्तेः। तदा व्यापकव्यापकविरुद्धोपलब्धिः सैवोदाहर्तव्या ॥

जिस समय प्रमाणपना ज्ञानपनेसे व्याप्त हो रहा साधा जा रहा है, अज्ञानको प्रमाणपना माननेसे प्रदीप, घट, आदिमें अतिप्रसंग हो जायगा, तब तो उस निषेधरहितसाध्यके व्यापक ज्ञानपनसे विरुद्ध अज्ञानपनकी उपलब्धिरूप हेतु व्यापकविरुद्ध उपलब्धि समझ लेनी चाहिये। अचेतन हो रहे सन्निकर्ष आदिक प्रमाण नहीं हैं (प्रतिज्ञा), अज्ञानपना होनेसे (हेतु), इस अनुमानमें व्यापकविरुद्ध–उपलब्धि हेतु है। किन्तु जब प्रमाणपना प्रमितिके साधकतमपनसे व्याप्त हो रहा है और ज्ञानस्वरूपसे प्रमितिका साधकतमपना व्याप्त हो रहा साधा जाता है। क्योंकि प्रमितिके असाधकतमको प्रमाणपना नहीं बनता है। तथा अज्ञानस्वरूप पदार्थोंको स्वार्थोंकी प्रमितिमें साधकतमपना अयुक्त भी है। हां, छेदन, तक्षण, प्रकाश, आदि क्रियाओंमें भले ही अज्ञानस्वरूप फर्सा, वसूला, प्रदीप, आदिको साधकतमपना युक्त है, तब तो वही अनुमान व्यापकव्यापकविरुद्ध–उपलब्धिका उदाहरण समझ लेना चाहिये। किसी किसी सद्धेतुमें सद्धेतुओंके अनेक गुण भी रह जाते हैं। जैसे कि वायु ज्ञानवान् है, स्नेह होनेसे, इस अनुमानके असद्धेतुमें कई हेत्वाभास दोष सम्भव रहे हैं।

व्यापकद्विष्ठकार्योपलब्धिः कार्योपलब्धिगा।
श्रुतिप्राधान्यतः सिद्धा पारंपर्याद्विरुद्धवत् ॥ २५४ ॥
यथा नात्मा विभुः काये तत्सुखाद्युपलब्धितः।
विभुत्वं सर्वमूर्तार्थसंबंधित्वेन वस्तुनः ॥ २५५ ॥
व्याप्तं तेन विरोधीदं कायसंबंधमात्रकं।
काय एव सुखादीनां तत्कार्याणां विबोधनम् ॥ २५६ ॥

कार्य उपलब्धिको प्राप्त हो रही व्यापकविरुद्ध कार्य उपलब्धि हेतु भी आगम प्रमाणकी प्रधानतासे सिद्ध हो रही है। जैसे कि स्वभावविरुद्ध या कार्यविरुद्ध हेतु सिद्ध हैं। उसी प्रकार व्यापक या व्यापककारण आदिकी परम्परा लगानेसे भी हेतु भेद बन जाते हैं। जैसे कि आत्मा (पक्ष) व्यापक नहीं है (साध्य), शरीरमें ही उसके सुख, दुःख आदि गुणोंकी उपलब्धि हो रही है। वैशेषिकोंने आत्मा, काल, आकाश, दिक्वस्तुओंका विभुपना सम्पूर्ण पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और मन इन पांच मूर्त अर्थोंके संबंधीपनसे व्याप्त हो रहा माना है। उस व्यापकपनसे यह केवल कायसे ही संबंधी होनापन विरुद्ध है। उस आत्माके कार्य हो रहे सुख आदिकोंका शरीर हीमें तो विशद बोध हो रहा है। अतः " सर्वमूर्तद्रव्यसयोगित्वं विभुत्वम् " ऐसे निषेध करने योग्य विभुपनका व्यापक सम्पूर्ण मूर्तद्रव्योंसे सबंधीपना है। और सर्व मूर्त संबंधीपनसे विरुद्ध केवल शरीरमें ही संबंधीपना है। उस कायसंबंधीपनका कार्य शरीरमें ही सुख, दुःख, प्रयत्न, आदिका उपलम्भ होना है। अतः यह व्यापकविरुद्धकार्य उपलब्धि हेतु है।

ननु प्रदेशवृत्तीनां तेषां संवादनं कथं ।
शरीरमात्रसंबंधमात्मनो भावयेत्सदा ॥ २५७ ॥
यतो निःशेषमूर्तार्थसंबंधविनिवर्तनात् ।
विभुत्वाभावसिद्धिः स्यादिति केचित्प्रचक्षते ॥ २५८ ॥
तदयुक्तं मनीषायाः साकल्येनात्मनास्थितेः ।
तच्छून्यस्यात्मताहानेस्तादात्म्यस्य प्रसाधनात् ॥ २५९ ॥

यहां वैशेषिककी शंका है कि व्यापकपदार्थोंके गुण सम्पूर्ण प्रदेशोंमें तो हम लोगोंको नहीं दीख सकते हैं, जैसे कि व्यापक आकाशका शद्ब किसी परिमित देशमें ही सुना जाता है। जैनोंके मत अनुसार शरीरके ही परिमाण मानी गई आत्मामें भी सम्पूर्ण अंशोंमें पीडा, सुख, आदि तो कभी कभी अनुभवे जाते हैं। किन्तु एक एक प्रदेशमें पीडाका अनुभव अनेक बार होता रहता है। शिरमें वेदना है, पेटमें पीडा है, घोंटुओंमें व्यथा है, नेत्रमें क्लेश है, हृदयमें गुदगुदीका सुख है। इस प्रकार आत्माके एक एक अंशमें ही उसके कार्योंका उपलम्भ होता है। व्यापक पदार्थोंके सभी अंशोंमें रहनेवाले सर्वगतकार्योंका उपलम्भ होना तो कठिन है। हां, व्यापकद्रव्यके प्रदेशोंमें वर्त रहे उन सुख आदिकोंका अच्छा सम्वादीज्ञान हो रहा है। वह सदा आत्माके केवल शरीरमें ही संबंधीपनको भला कैसे समझा सकता है ? जिससे कि सम्पूर्ण पांचों मूर्त अर्थोंके साथ संबंध होनारूप सर्वगतपनकी विशेषतया निवृत्ति हो जानेसे आत्मामें व्यापकपनका अभाव सिद्ध हो जाय अर्थात् व्यापक आत्माके कतिपय छोटे छोटे अंशोंमें जाने जा रहे दुःख, सुख, आदिक आत्माके व्यापकपनका बिगाड नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार कोई बडी ऐंठके साथ बखान रहे हैं। उनका वह कथन अयुक्त है। क्योंकि बुद्धि नामका गुण आत्माके सकल अंशोंमें व्याप रहा माना गया है। उस बुद्धिसे रहित पदार्थोंको आत्मापनेकी हानि है। कारण कि आत्माका बुद्धिके साथ तदात्मक होना भले प्रकार साध दिया गया है। और बुद्धि तो शरीरमें ही वर्त रहे आत्मामें जानी जा रही है। परीक्षा दे रहे विद्यार्थीके निकट गुरुके आत्माकी बुद्धि नहीं पहुंच रही है। अतः आत्माके सकल अंशोंमें व्याप रही बुद्धिकी स्थिति केवल शरीरमें ही हो रही है। अतः आत्मा शरीरके परिमाण ही है। व्यापक नहीं है।

यद्यपि शिरसि मे सुखं पादे मे वेदनेति विशेषतः प्रदेशवृत्तित्वं सुखादीनामनुभूयते तदनुभवविशेषाणां च तथापि ज्ञानसामान्यस्य सर्वात्मद्रव्यवृत्तित्वमेव, ज्ञानमात्रशून्यस्यात्मविरोधादतिप्रसक्तेरिति साधितं उपयोगात्मसिद्धौ । ततो युक्तेयं व्यापकविरुद्धकार्योपलब्धिः ।

मेरे शिरमें सुख है, मेरे पांवमें वेदना है, इत्यादि विशेषरूपोंसे आत्माके सुख आदिकोंका यद्यपि प्रदेशोंमें वर्तना अनुभवा जा रहा है। और उन सुख आदिकोंके विशेष सम्वेदन होनेका भी अखण्ड आत्माके कतिपय प्रदेशोंमें ही अनुभव हो रहा है, तो भी ज्ञानसामान्यका सम्पूर्ण आत्मा द्रव्यके प्रदेशोंमें वर्तना ही सिद्ध है। जो पदार्थ सामान्यज्ञानसे भी रहित है, उसके आत्मपनका विरोध है। क्योंकि ज्ञानरहितको भी यदि आत्मा मान लिया जायगा तो डेल, कटोरा, आदि जड पदार्थोंमें भी आत्मापनेकी अतिव्याप्ति हो जावेगी। इस बातको हम उपयोगस्वरूप आत्माको साधते समय सिद्ध कर चुके हैं। तिस कारण आत्माको अव्यापक साधनेके लिये दिया गया " कार्यमें ही सुख आदिककी उपलब्धिरूप हेतु व्यापकविरुद्ध–कार्य उपलब्धि है। यह युक्तिओंसे भरपूर है "।

विरुद्धकार्यसंसिद्धिर्नास्त्येकांतेनपेक्षिण्य- ।
नेकांतेऽर्थक्रियादृष्टेरित्येवमवगम्यते ॥ २६० ॥

विरुद्ध कार्य उपलब्धिका उदाहरण इस प्रकार जाना जाता है कि अपेक्षारहित एकान्तमें किसी भी कार्यकी भले प्रकार सिद्धि नहीं है। अतः अपेक्षाओंसे रहित हो रहा सर्वथा एकान्त नहीं है। क्योंकि अनेक धर्मोंसे युक्त हो रहे पदार्थमें अर्थक्रियाका होना देखा जा रहा है। यहां कविसङ्केतकी नहीं अपेक्षा कर नैयायिक आचार्यने द्वितीयपाद और तृतीयपादमें सन्धि कर दी है।

निरपेक्षैकांतेन ह्यनेकांतो विरुद्धस्तत्कार्यमर्थक्रियोपलब्धिर्निषेध्यस्याभावं साधयति।

कारण कि अपेक्षाओंसे रहित हो रहे एकान्तसे अनेकान्त विरुद्ध है। उस अनेकान्त अर्थका कार्य अर्थक्रियाकी उपलब्धि है। वह निषेध करने योग्य एकान्तके अभावका साधन करा देती है। अतः साध्य कोटिमेंसे अभावको निकालकर उस निषेध्यसे विरुद्ध अर्थके कार्यकी संसिद्धि होनेसे यह विरुद्धकार्य–उपलब्धिरूप हेतु है।

कारणार्थविरुद्धा तूपलब्धिर्ज्ञायते यथा ।
नास्तिमिथ्याचरित्रं मे सम्यग्विज्ञानवेदनात् ॥ २६१ ॥
तद्धि मिथ्याचारित्रस्य कारणं विनिवर्तयेत् ।
मिथ्याज्ञाननिवृत्तिस्तु तस्य तद्विनिवर्तिका ॥ २६२ ॥

कारणरूप अर्थसे विरुद्धकी उपलब्धि तो इस उदाहरण द्वारा जान ली जाती है कि मेरे पास मिथ्याचारित्र नहीं है (प्रतिज्ञा), क्योंकि सम्यग्ज्ञान प्रकाश रहा है (हेतु)। इस अनुमानमें निषेध करने योग्य मिथ्याचारित्रका कारण मिथ्याज्ञान है। उस मिथ्याज्ञानके विरुद्ध हो रहे

सम्यक्ज्ञानकी उपलब्धि हो रही है। अतः वह सम्यक्ज्ञानका प्रकाश मिथ्याचारित्रके कारण मिथ्याज्ञानकी निवृत्तिको करावेगा और मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति तो उस मिथ्याचारित्रकी विशेषरूपसे निवृत्त करानेवाली हो जायगी।

ननु च सम्यग्विज्ञानान्मिथ्याज्ञाननिवृत्तिर्न मिथ्याचारित्रस्य निवृत्तिका प्रादुर्भूतसम्यग्ज्ञानस्यापि पुंसोऽचारित्रप्रसिद्धेः पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरमिति वचनादन्यथा तद्व्याघातादिति चेन्न, मिथ्याचारित्रस्य मिथ्यागमादिज्ञानपूर्वस्य पंचाग्निसाधनादेर्निषेधत्वात्। चारित्रमोहोदये सति निवृत्तिपरिणामाभावलक्षणस्याचारित्रस्य तु निषेध्यत्वानिष्टे मोहोदयमात्रापेक्षित्वस्य तु द्वयोरप्यचारित्रमिथ्याचारित्रयोरभेदेन वचनमागमे व्यवस्थितिविरुद्धमेव मिथ्यादर्शने मिथ्याचारित्रस्यांतर्भावाच्च मिथ्याज्ञानवत् ॥

यहां शंका है कि सम्यग्ज्ञानसे मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति अवश्य हो जाती है। किन्तु मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति तो मिथ्याचारित्रकी निवृत्ति करानेवाली नहीं ठहरती है। क्योंकि जिस आत्माके सम्यग्ज्ञान उत्पन्न भी हो गया है, उसके भी चतुर्थ–गुणस्थानमें अचारित्रकी प्रसिद्धि हो रही है। " एवं पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम् " पूर्वके सम्यग्ज्ञानके लाभ होनेपर भी उत्तरवर्त्ती चारित्र भजनीय है। अर्थात् सम्यग्ज्ञान हो जाय और चारित्र होय भी अथवा नहीं भी होय, ऐसा मूलसूत्र अनुसार बखानेगये वार्तिक शास्त्रोंमें कहा गया है। अन्यथा यानी सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्रकी भी सिद्धि मानी जायगी तब तो उस अकलङ्कवचनका व्याघात होता है। अतः सम्यग्ज्ञानके हो जानेसे मिथ्याचारित्रका निषेध नहीं साधा जा सकता है। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना। क्योंकि सम्यक्ज्ञान हेतुसे मिथ्याआगम, मिथ्याउपदेश, हिंसापोषकवेद, आदिके ज्ञानोंको कारण मानकर उत्पन्न होनेवाले पंच अग्निसाधन, पेडोंपर उल्टा लटकना, एक हाथको ऊपर ही उठाये रखना, नख जटा बढा लेना, आदिक मिथ्याचारित्रोंका निषेध किया गया है। अर्थात् मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी और मिश्रप्रकृतिका उदय होनेपर हो रहे मिथ्याचारित्र या मिश्रचारित्रका सम्यग्ज्ञानसे निषेध साधा जाता है। अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण आदि चारित्रमोहनीयकर्मका उदय होते संते हो रहे निवृत्तिपरिणामोंके अभावस्वरूप अचारित्रका तो निषेध्यपना अनिष्ट है। हां, सामान्यरूपसे मोहनीयकर्मके उदयकी अपेक्षा रखनेवालापनका तो अचारित्र और मिथ्याचारित्र दोनोंमें भी अभेद करके आगममें प्ररूपण कहा गया है। अथवा मिथ्याचारित्र और अचारित्रका अभेद करके कथन करना तो आगममें की गई व्यवस्थाके विरुद्ध ही पडता है। दूसरी बात यह है कि मिथ्यादर्शनमें मिथ्याज्ञानके समान मिथ्याचारित्रका अन्तर्भाव किया गया है। अतः मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति मिथ्याचारित्रको निवृत्त करावेगी ही, उत्तरवर्त्ती गुण भजनीय है। यह विशेषचारित्रकी अपेक्षासे कथन है। अतः अचारित्रके होते हुये भी सम्यग्ज्ञानसे मिथ्याचारित्रकी निवृत्ति जान ली जाती है। कई चतुरमनुष्य पंडित न होते हुये भी मूर्ख नहीं होते हैं।

कारणद्विष्टकार्योपलब्धिर्याथात्म्यवाक्ततः ।
तस्य तेनाविनाभावात् पारंपर्येण तत्त्वतः ॥ २६३ ॥

कारणविरुद्ध कार्य उपलब्धिका उदाहरण यों समझना कि मेरे मिथ्याचारित्र नहीं है। क्योंकि सत्यार्थवचन बोलना हो रहा है। वस्तुतः विचारा जाय तो उस यथार्थ वचनका उस मिथ्याचारित्रके अभावके साथ परम्परासे अविनाभाव हो रहा है। अतः यह हेतु साध्यका भले प्रकार ज्ञापक है।

नास्ति मिथ्याचारित्रमस्य याथात्म्यवाक्कादिति कारणविरुद्धकार्योपलब्धिः मिथ्याचारित्रस्य हि निषेध्यस्य कारणं मिथ्याज्ञानं तेन विरुद्धं सम्यग्ज्ञानं तस्य कार्यं याथात्म्यवचनं तन्निर्माय सुविवेचितं निषेध्याभावं साधयत्येव व्यभिचाराभावात् ॥

इस जीवके मिथ्याचारित्र नहीं है (प्रतिज्ञा), यथार्थस्वरूप वचनप्रयोग होनेसे (हेतु), इस अनुमानमें दिया गया हेतु कारणविरुद्ध–कार्यउपलब्धिरूप है। क्योंकि निषेध करने योग्य मिथ्याचारित्रका कारण मिथ्याज्ञान है। उस मिथ्याज्ञानसे विरुद्ध सम्यग्ज्ञान है। उस सम्यग्ज्ञानका कार्य यथार्थवचन कहना है। अतः सम्यग्ज्ञानद्वारा बनाया जाकर वह यथार्थ वचन हेतु भले प्रकार विवेचन किये गये निषेध्य मिथ्याचारित्रके अभावको साध देता ही है। कोई व्यभिचार, असिद्ध, आदि दोष नहीं आते हैं।

कारणव्यापकद्विष्टोपलब्धिर्नास्तिनिर्वृतिः ।
सांख्यादेर्ज्ञानमात्रोपगमादिति यथेक्ष्यते ॥ २६४ ॥
निर्वृतेः कारणं व्याप्तं दृष्ट्यादित्रितयात्मना ।
तद्विरुद्धं तु विज्ञानमात्रं सांख्यादिसम्मतम् ॥ २६५ ॥

निषेधरहित साध्यके कारणके व्यापकसे विरोध रखनेवालेकी उपलब्धि हेतुका उदाहरण इस प्रकार पहिचाना जाता है कि सांख्य, अक्षपाद, कणाद आदिके यहां मोक्ष नहीं बनती है, क्योंकि उन्होंने अकेले तत्त्वज्ञानको ही मुक्तिका कारण स्वीकार किया है। अर्थात् रत्नत्रयसे मुक्तिसंपादन किया जाता है। अकेले ज्ञानसे तो मोक्ष नहीं हो पाती है। इस अनुमानमें निषेध करने योग्य मुक्तिका कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इस त्रितयस्वरूपसे व्याप्त हो रहा है। और उस रत्नत्रयसे अकेला विज्ञान तो विरुद्ध पडता है, जो कि सांख्य नैयायिक आदि वादियोंकी सम्मतिमें आरहा है। सांख्योंने " तत्त्वज्ञानान्मोक्षः " प्रकृति और पुरुषका भेदज्ञानरूप-तत्त्वज्ञानसे मोक्ष होना अभीष्ट किया है। नैयायिकोंने दुःख-जन्म-प्रवृत्ति आदि सूत्र द्वारा तत्त्वज्ञान हीको मोक्षका कारण माना है। वैशेषिक, यौग, आदि वादियोंकी भी यही दशा है।

न हीयं कारणव्यापकविरुद्धोपलब्धिरसिद्धा निषेधस्य निर्वाणस्य हेतोर्व्यापकस्य सम्यग्दर्शनादित्रयात्मकत्वस्य निश्चयात् तद्विरुद्धस्य ज्ञानमात्रात्मकत्वस्य सांख्यादिभिः स्वयं संमतत्वात् ॥

यह कारणव्यापकविरुद्ध उपलब्धि हेतु असिद्ध नहीं है, अर्थात् पक्षमें वर्त्त रहा है। क्योंकि निषेध करने योग्य निर्वाणका कारण मोक्षमार्ग है। उस मोक्षमार्गका व्यापक सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनोंकी एकतास्वरूप है, ऐसा इसका निश्चय हो रहा है। उस रत्नत्रयसे विरुद्ध अकेले ज्ञानस्वरूपको ही सांख्य आदिकोंने स्वयं मोक्षका कारण सम्मत किया है।

कारणव्यापकद्विष्टकार्यदृष्टिस्तु तद्वचः ।
सम्यग्विवेचितं साध्याविनाभावि प्रतीयते ॥ २६६ ॥

इसी कहे हुये हेतुमें कार्य लगाकर कारणव्यापकविरुद्ध कार्यउपलब्धिका उदाहरण तो इस प्रकार है कि सांख्य आदिकोंके यहां मोक्ष नहीं बनती है। क्योंकि उनके यहां मोक्षका कारण अकेले ज्ञानका ही वचन सुना जाता है। यह हेतु अपने साध्यके साथ अविनाभाव रखनेवाला प्रतीत हो रहा है। इसका हम भले प्रकार विवेचन कर चुके हैं। अथवा भले प्रकार विचार कर लिया गया साध्यसे अविनाभावी हेतु अपने साध्यको साधनेवाला प्रतीत हो रहा है।

सांख्यादेर्नास्ति निर्वाणं ज्ञानमात्रवचनश्रवणादिति कारणव्यापकविरुद्धकार्योपलब्धिः प्रत्येया सुविवेचितस्य कार्यस्य साध्याविनाभावसिद्धेः ।

सांख्य आदि प्रतिवादियोंके यहां मोक्ष नहीं हो पाती है। क्योंकि उनके यहां मोक्षके कारणोंमें अकेले ज्ञानका ही वचन सुना जाता है। इस प्रकार कारणव्यापकविरुद्ध-कार्यउपलब्धि समझ लेनी चाहिये। निषेध करने योग्य निर्वाणका कारण मोक्षमार्गरूप परिणाम है। उसका व्यापक रत्नत्रय है। रत्नत्रयके विरुद्ध अकेला ज्ञान है। उस अकेले ज्ञानका कार्य उनके शास्त्रोंमें मुक्तिके कारण अकेले ज्ञानका ही वचन सुना जाता है। प्रतिपादकके ज्ञानका कार्य प्रतिपादकका वचन है। अच्छे प्रकार विवेचन कर दिया गया, कार्य तो साध्यके साथ अविनाभाव रखता हुआ सिद्ध हो जाता है।

दृष्टा सहचरद्विष्टोपलब्धिस्तद्यथा मयि ।
नास्ति मत्याद्यविज्ञानं तत्त्वश्रद्धानसिद्धितः ॥ २६७ ॥
सहचारिनिषेधेन मिथ्याश्रद्धानमीक्षितम् ।
तन्निहंत्येव तद्घाति तत्त्वश्रद्धानमंजसा ॥ २६८ ॥

तदभावे च मत्याद्यविज्ञानं विनिवर्तते ।
मतिज्ञानादिभावेन तदास्य परिणामतः ॥ २६९ ॥

प्रतिषेध करने योग्य अर्थात् जिस साध्यदलमेंसे अमात्र अंश छोड दिया गया है, ऐसे साध्यके सहचारीके विरुद्धकी उपलब्धिरूप हेतु देखा गया है । उसका उदाहरण इस प्रकार है कि मुझमें मति आदिक अज्ञान यानी कुमति, कुश्रुत, विभंग, या तीसरे गुणस्थानके मिश्रज्ञान नहीं हैं, क्योंकि जीव आदि तत्त्वार्थोके श्रद्धानकी सिद्धि हो रही हैं । यहां सहचारीके निषेध करके मिथ्याश्रद्धान देखा जा चुका है । अतः निषेध्य कुज्ञानोंके साथ चरनेवाले मिथ्याश्रद्धानसे विरुद्ध तत्त्वश्रद्धानकी सिद्धि देखी जाती है । तिस कारण उस मिथ्याश्रद्धानको घातनेवाला तत्त्वश्रद्धान उस मिथ्याश्रद्धानको शीघ्र नष्ट कर देता ही है । और मिथ्याश्रद्धानका अभाव हो जानेपर कुमति, कुश्रुत, विभंग, अज्ञानोंकी विशेषतया निवृत्ति हो जाती है । क्योंकि उस समय तत्त्वश्रद्धानके होनेपर इस कुज्ञानका ही उत्तरकालमें सुमति, सुश्रुत, और अवधिज्ञानपर्याय करके परिणमन हो जाता है । जैसे कि श्रेष्ठ औषधिके सेवनसे दूषितरक्त, मांस आदिका ही समीचीन पुष्ट, बलिष्ठ, रक्त, मांस आदि परिणाम हो जाता है ।

सहचरविरुद्धोपलब्धिरपि हि गमिका प्रतीयते इति प्रसिद्धासौ ।

सहचरविरुद्ध उपलब्धि भी अपने साध्यकी ज्ञापिका हो रही है । इस कारण वह भी हेतुके भेदोंमें प्रसिद्ध हो रही गिनी जाती है ।

तथा सहचरद्विष्टकार्यसिद्धिर्निवेदिता ।
प्रशमादिविनिर्णीतेस्तत्रास्मास्विति साधने ॥ २७० ॥

इस ही साध्यवाले अनुमानमें सहचर विरुद्ध कार्य उपलब्धिका निवेदन कर दिया गया समझ लेना, जो कि हम धार्मिक जैन लोगोंमें कुज्ञान नहीं है (प्रतिज्ञा) क्योंकि प्रशम, संवेग, अनुकम्पा आदि गुणोंका विशेषरूपसे निर्णय हो रहा है (हेतु), इस प्रकार साधनेपर घटित हो जाती है । निषेध करने योग्य मत्यज्ञान आदिका सहचारी मिथ्याश्रद्धान है । उससे विरुद्ध तत्त्वश्रद्धान है । उसका कार्य प्रशम आदि गुणोंकी सिद्धि है ।

तस्मिन्सहचरव्यापिविरुद्धस्योपलंभनम् ।
सद्दर्शनत्वनिर्णीतेरिति तज्ज्ञैरुदाहृतम् ॥ २७१ ॥

उस पूर्वोक्त साध्यको साधनेमें ही सम्यग्दर्शनपनेका निर्णय करनारूप हेतु लगा देनेसे सहचर व्यापक विरुद्धकी उपलब्धि हो जाती है । इस प्रकार अनुमानवेत्ता विद्वानोंने उदाहरण दिया है ।

अर्थात् हम लोगोंमें मत्यज्ञान आदिक नहीं हैं । क्योंकि सम्यग्दर्शको निर्णय हो रहा है । यहां कुज्ञानोंका सहचारी मिथ्याश्रद्धान है, मिथ्याश्रद्धानका व्यापक मिथ्यादर्शन है । उसके विरुद्ध सम्यग्दृष्टिपनेकी उपलब्धि हो रही है ।

तदेतत्सहचरव्यापि द्विष्टकार्योपलंभनम् ।
प्रमाणादिप्रतिष्ठानसिद्धेरिति निबुध्यताम् ॥ २७२ ॥

इसी अनुमानमें प्रमाण, प्रमेय, वस्तुत्व, आत्मा आदि तत्त्वोंकी प्रतिष्ठापूर्वक सिद्धि होनेसे इस प्रकार हेतु लगा देनेसे यह सहचरव्यापकविरुद्ध–कार्य उपलब्धि समझ लेनी चाहिये । वह इस प्रकार है कि निषेध्य कुज्ञानोंका सहचर मिथ्याश्रद्धान है, उसका व्यापक मिथ्यात्व है । उसका विरुद्ध सम्यग्दृष्टिपना है । सम्यग्दृष्टिपनका कार्य प्रमाण, प्रमाता, संवर, निर्जरा, आदि तत्त्वोंकी प्रतिष्ठा करना है, तिस कारण यह सहचर-व्यापकविरुद्ध–कार्यउपलब्धिहेतु है ।

सहचारिनिमित्तेन विरुद्धस्योपलंभनं ।
तन्नास्त्यस्मासु दृग्मोहः प्रतिपक्षोपलंभतः ॥ २७३ ॥

निषेध्य साध्यके सहचारीके निमित्त कारणसे विरुद्ध हो रहेकी उपलब्धिरूप न्यारा हेतु है । उसका उदाहरण यों है कि अर्हतदेवकी उपासना करनेवाले हम आदि लोगोंमें दर्शनमोहनीयकर्मका उदय नहीं है । क्योंकि उसके प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शनरूप परिणामोंकी उपलब्धि हो रही है । यहां निषेध योग्य दर्शनमोहनीय उदयका सहचारी कुमतिज्ञान है । उसका निमित्तकारण मिथ्याश्रद्धान है । उसके विरुद्ध सम्यग्दर्शन परिणामोंकी उपलब्धि हो रही है ।

यथेयं सहचरविरुद्धोपलब्धिर्नास्ति मयि मत्याद्यज्ञानं तत्त्वश्रद्धानोपलब्धेरिति तथा सहचरविरुद्धकार्योपलब्धिः प्रशमादिनिश्चितेरिति सहचरव्यापकविरुद्धोपलब्धिः सद्दर्शनत्वनिश्चितेरिति सहचरव्यापकविरुद्धकार्योपलब्धिः प्रमाणादिव्यवस्थोपलब्धेरिति सहचरकारणविरुद्धोपलब्धिर्दर्शनमोहप्रतिपक्षपरिणामोपलब्धेरिति निबुध्यतां मत्याद्यज्ञानलक्षणनिषेध्याभावाविनाभावप्रतीतेरविशेषात् ।

जिस प्रकार यह सहचरविरुद्ध उपलब्धि है । यह विशेष स्पष्टीकरण यों समझ लेना कि मुझमें मति, श्रुत, अवधिके प्रतिकूल अज्ञान नहीं हैं । क्योंकि तत्त्वोंके श्रद्धानकी उपलब्धि हो रही है, यह हेतु है, उसी प्रकार सहचरविरुद्ध–कार्यउपलब्धि हेतु प्रशम आदिका निश्चय होना है । तथा सद्दर्शनपनेका निश्चय यह हेतु सहचरव्यापक-विरुद्ध उपलब्धि है । और प्रमाण आदिकी व्यवस्थाका उपलम्भ होना यह सहचरव्यापक–विरुद्धकार्यउपलब्धि हेतु है । तथैव दर्शनमोहनीयके प्रतिपक्षी परिणामोंकी उपलब्धि यह हेतु तो सहचरकारणविरुद्ध-उपलब्धि है, ऐसा

समझ लेना चाहिये। क्योंकि मति आदिकोंका अज्ञानस्वरूप निषेध्यके अभावरूप साध्यके साथ इन हेतुओंके अविनाभाव प्रतीत होनेका कोई अन्तर नहीं है। अर्थात् उक्त हेतुओंका अपने साध्यके साथ अविनाभाव विशेषतारहित होकर प्रतीत हो रहा है।

इत्येवं तद्विरुद्धोपलब्धिभेदाः प्रतीतिगाः।
यथायोगमुदाहार्याः स्वयं तत्त्वपरीक्षकैः॥ २७४॥

इत्यादि ढंगसे उस विरुद्ध उपलब्धिके प्रतीतिमें आरूढ हो रहे, भेदोंके यथायोग्य उदाहरण तत्त्वोंकी परीक्षा करनेवाले विद्वानोंकरके स्वयं समझ लेने चाहिये। ग्रन्थविस्तारके भयसे यहां अधिक उदाहरण नहीं लिखे हैं। व्युत्पन्नपुरुष उन उदाहरणोंकी स्वयं ऊहा कर सकते हैं।

इत्येवं निषिद्धे विरुद्धोपलब्धिभेदाश्चतुर्दशोदाहृताः प्रतीतिमनुसरंति कार्यकारण स्वभावोपलब्धिभेदत्रयवत्ततो यथायोगमन्यान्युदाहरणानि लोकसमयप्रसिद्धानि परीक्षकैरुपदर्शनीयानि प्रतीतिदार्ढ्योपपत्तेः।

इस पूर्वोक्त प्रकार निषेधयुक्त साध्य करनेपर विरुद्ध-उपलब्धिके चौदह उदाहरण कहे जा चुके हैं। वे सभी भेद कार्योपलब्धि, कारणउपलब्धि, स्वभावउपलब्धि, इन तीन भेदोंके समान प्रतीतिका अनुसरण कर रहे हैं। अर्थात् कारण, भाव, आदिको साधनेमें कार्य, स्वभाव आदिक हेतु जैसे प्रतीत हैं, उसी प्रकार निषेधको साधनेमें विरुद्ध उपलब्धिके भेद भी प्रतीत किये जा रहे हैं। तिस कारण परीक्षक विद्वानोंकरके योग्यता अनुसार अन्य भी लोक और शास्त्रमें प्रसिद्ध हो रहे उदाहरण दिखला देने चाहिये। क्योंकि उदाहरणोंसे प्रतीतिकी दृढता सिद्ध हो जाती है। साधारण बुद्धिको रखनेवाले पुरुष भी उदाहरणोंसे कठिन प्रमेयोंको जान जाते हैं। यहांतक दो सौ चवालीसवीं वार्तिकमें कही गयी पहिली विरुद्ध–उपलब्धिका विस्तार कहा।

संप्रति साध्येनाविरुद्धस्याकार्यकारणेनार्थस्योपलब्धिभेदान् विभज्य प्रदर्शयन्नाह—

इस समय साध्य अर्थसे अविरुद्ध हो रहे और कार्य, कारणपनेसे रहित अर्थकी उपलब्धिके भेदोंका विभाग कर प्रदर्शन कराते हुए, आचार्य महाराज कहते हैं। अर्थात् तीसरे अकार्यकारण-हेतुका विस्तार कहा जाता है।

साध्यार्थेनाविरुद्धस्य कार्यकारणभेदिनः।
उपलब्धिस्त्रिधाम्नाता प्राक्सहोत्तरचारिणः॥ २७५॥

साध्यरूप अर्थके साथ अविरोधको प्राप्त हो रहे और कार्यकारणपनेसे भेदवान् हो रहे हेतुकी उपलब्धि तीन प्रकारकी पूर्वाचार्य सम्प्रदाय अनुसार मानी गई है। वह पूर्वचर, सहचर और उत्तरचरभेदोंमें विभक्त है।

तत्र पूर्वचरस्योपलब्धिः सिद्धान्तवेदिनाम् ।
यथोदेष्यति नक्षत्रं शकटं कृत्तिकोदयात् ॥ २७६ ॥

तिन तीन भेदोंमें पूर्वचरहेतुकी उपलब्धिका तो सिद्धान्त जाननेवालोंके यहां यह उदाहरण प्रदर्शित किया है कि एक मुहूर्तके पीछे रोहिणी नक्षत्रका उदय होवेगा। क्योंकि कृत्तिका नक्षत्रका उदय अभी हुआ है। यहां अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, इस क्रमके अनुसार शकट उदयका पूर्वचारी कृत्तिकाका उदय है।

पूर्वचारि न निःशेषं कारणं नियमादपि ।
कार्यात्मलाभहेतूनां कारणत्वप्रसिद्धितः ॥ २७७ ॥
न रोहिण्युदयस्तु स्यादमुष्मिन् कृत्तिकोदयात् ।
तदनंतरसंधित्वाभावात्कालान्तरेक्षणात् ॥ २७८ ॥

पूर्वमें रहनेवाले सम्पूर्ण ही पदार्थ कारण नहीं हुआ करते हैं। जिससे कि यह कृत्तिका उदय हेतु भी कारण हेतुमें गर्भित हो जाय। क्योंकि जो पूर्ववर्त्ती होते हुये नियमसे कार्यके आत्मलाभ करनेमें कारण भी हो रहे हैं, उनको कारणपनेकी प्रसिद्धि है। सहारनपुरसे शिखरजीको जानेपर पहिले मध्यमें अयोध्या पडती है। एतावता संमेदशिखरका कारण अयोध्या नहीं है। नहीं तो कलकत्ता या आरावालोंको भी अयोध्या अवश्य पडती। रेलगाडी आनेके प्रथम सिगनल गिरता है। किन्तु वह रेलगाडीको खींचनेमें कारण नहीं है। मध्यान्हके प्रथम प्रातःकाल होता है। परन्तु इनका कार्यकारणभाव नहीं है। हां, पूर्वचर उत्तरचरपना है। दूसरी बात यह है कि अन्वय, व्यतिरेकसे कार्यकारणभावका निर्णय किया जाता है। कृत्तिका उदय होनेसे उस समयमें रोहिणीका उदय तो नहीं है। क्योंकि उस कृत्तिका उदय के अव्यवहित उत्तरकालमें शकट उदयका सम्मेलन नहीं देखा जाता है। किन्तु मुहूर्त्त पीछे अन्यकालमें शकटका उदय होना देखा जाता है। अतः शकट उदय और कृत्तिका उदय कार्यकारणभाव नहीं होनेसे कृत्तिका उदयका कारण हेतुओंमें अंतर्भाव नहीं हो सकता है।

विशिष्टकालमासाद्य कृत्तिकाः कुर्वते यदि ।
शकटं भरणिः किं न तत्करोति तथैव च ॥ २७९ ॥

यदि बौद्ध यों कहें कि सभी कारण अव्यवहित उत्तरक्षणमें ही कार्यको थोडे ही कर देते हैं। अन्य सामग्रीके जुटने या स्वयंके परिपक्व होनेके लिये अवसरकी आकांक्षा रखते हुये वे कारण कार्योंको करते हैं। अतः कृत्तिका नक्षत्रका उदय भी विशिष्टकालको प्राप्त होकर शकटके उदयको

कर देता है। तब तो हम जैन कहते हैं कि एक मुहूर्तका व्यवधान देकर जैसे कृत्तिका रोहिणीको कर देती है, वैसे ही दो मुहूर्तका व्यवधान देकर भरणी और तीन मुहूर्तका व्यवधान देकर अश्विनीनक्षत्र ही शकट (रोहिणी) को क्यों नहीं तिस ही प्रकार उदयरूप बना देते हैं। कई ताराओंका समुदाय होकर कृत्तिका नक्षत्र बना है। अतः कृत्तिका शब्द बहुवचनान्त प्रयुक्त किया गया है। त्रिलोकसारमें "कित्तियपडुदिसु तारा छप्पण तिय एक" यों कृत्तिकामें छह तारे माने हैं।

व्यवधानादहेतुत्वे तस्यास्तत्र क्व वासना।
स्मृतिहेतुर्विभाव्येत तत्त एवेत्यवर्तिनम् ॥ २८० ॥

वहां अधिक व्यवधान हो जानेसे अश्विनी, भरणीको यदि उस रोहिणीके उदयका हेतुपना न मानोगे तब तो हम कहेंगे कि धारण नामक अनुभव करते समय बहुतकाल पहिले हो चुकी वासना भला अधिक काल पीछे होनेवाली स्मृतिका कारण कहां समझी जावेगी ? अर्थात् अधिक काल पहिले हो चुकीं धारणाज्ञानस्वरूप वासनायें वर्षों पीछे होनेवाली स्मृतिकी कारण तुम बौद्धोंके यहां तिस ही कारण यानी बहुत व्यवधान पड जानेसे नहीं बन सकेंगी। इस प्रकार कार्यमें व्यापार करते हुये नहीं वर्त्त रहे पदार्थको कारण नहीं मानना चाहिये।

कारणं भरणिस्तत्र कृत्तिका सहकारिणी।
यदि कालांतरापेक्षा तथा स्यादश्विनी न किम् ॥२८१॥

कृत्तिकाको सहकारि कारण बनाती हुई भरणी भी उस शकटके उदयमें यदि कारण मान ली जावेगी तब तो कुछ और भी अन्यकालकी अपेक्षा रखती हुई अर्थात् भरणी और कृत्तिकाको सहकारीकारण मानती हुई अश्विनी भी तिसी प्रकार शकटका कारण क्यों न हो जाय ? यों तो कोई व्यवस्था नहीं टिक सकेगी, पोल मच जायगी। मूर्ख भी पंडितकी थोडी सहायता प्राप्त कर व्याख्याता या पाठक बन जायगा। कछुआ भी हिरणकी सहकारितासे लम्बी दौड लगा लेगा। धर्मात्माओंके विमानोंको पकडकर पापीजन भी स्वर्गोंकी चहल पहलका आनन्द भोग लेंगे।

पितामहः पिता किं न तथैव प्रपितामहः।
सर्वो वानादिसंतानः सूनोः पूर्वत्वयोगतः ॥ २८२ ॥

जिस प्रकार पुत्रका कारण पिता है, तिस ही के समान पितामह (बाबा) अथवा प्रपितामह (पडबाबा) भी बाप क्यों नहीं हो जावे एवं पुत्रके पूर्वमें रहनेपनका सम्बंध होनेसे सभी सैकडों हजारों पीढियां और पहिलेकी अनादि संतान भी पुत्रका बाप बन जावेंगीं जो कि मानी नहीं गई हैं।

स्वरूपलाभहेतोश्चेत् पितृत्वं नेतरस्य तु ।
प्राक् शकटस्य मा भूवन् कृत्तिका हेतवस्तथा ॥ २८३ ॥

यदि पुत्रके स्वरूपको लाभ करानेमें कारण हो रहे पहिली पीडीमें होनेवाले जनकको ही पितापन है, अन्य बाबा आदिको पितापना नहीं है, तभी तो माताको दादी परदादीपनका प्रसंग दूर हो जाता है । इस प्रकार कहनेपर तो पूर्वकालमें वर्त्त रही कृत्तिका भी तिस ही प्रकार शकटका कारण नहीं होवे । न्याय सर्वत्र एकसा होना चाहिये ।

पूर्वपूर्वचरादीनामुपलब्धिः प्रदर्शिता ।
पूर्वाचार्योपलंभेन ततो नार्थांतरं मतम् ॥ २८४ ॥

पूर्ववर्त्ती नक्षत्रोंके भी पहले चरनेवाले आदिकोंकी उपलब्धि भी इस पूर्वचर नामके भेदसे ही दिखलादी गयी है । पूर्व आचार्योंने इसी प्रकार देखा है । अथवा पूर्वसे भी पूर्वचरनेवाले नक्षत्र आदिकोंमें पूर्वचरपना देखा जाता है । तिस कारण वे पूर्वचर हेतुसे भिन्न हेतु नहीं मानी गयी हैं । जैसे कि दो मुहूर्त्त पीछे रोहिणी का उदय होगा, क्योंकि भरणीका उदय हो रहा है । अथवा इस चाकके ऊपर कोश बन जावेगा । क्योंकि इस समय छत्र बन गया है । कुम्हार द्वारा चाकपर घडा बनानेके पहिले मिट्टीकी शिवक (पिंडी) छत्र (हाथसे चौडा छत्ता बनाना) स्थास (कुछ ऊंचेकी ओर चौडाई करना) कोश (मिट्टीमें सरवा सरीखा बनाना) कुशूल (ऊंचा उठाकर भींतें बनाना) अवस्थायें रची जाती हैं । पुनः थोडी क्रिया करनेसे घट बन जाता है । अतः कोश पर्यायके पूर्वमें स्थास है और स्थासके पहिले मृत्तिकाकी छत्रपर्याय है ।

सहचार्युपलब्धिः स्यात्कायश्चैतन्यवानयम् ।
विशिष्टस्पर्शसंसिद्धेरिति केश्चिदुदाहृतम् ॥ २८५ ॥

अब सहचरउपलब्धि हेतुका उदाहरण देते हैं कि यह शरीर (पक्ष) चैतन्ययुक्त है । अर्थात् मृत नहीं है (साध्य) जीवित पुरुषोंमें पाये जानेवाले विशिष्ट प्रकारके स्पर्शकी अच्छी सिद्धि हो रही है (हेतु) इस प्रकार किन्हीं विद्वानोंने सहचर उपलब्धिका उदाहरण दिया है । आयुर्वेद, या शारीरिक शास्त्रको जाननेवाले विद्वान् चैतन्य और स्पर्शविशेषका सहचरपना जानते हैं ।

कार्ये हेतुरयं नेष्टः समानसमयत्वतः ।
स्वातंत्र्येण व्यवस्थानाद्वामदक्षिणश्रृंगवत् ॥ २८६ ॥

यह सहचरहेतु कार्यहेतुमें गर्भित हो जाय ऐसा इष्ट नहीं है । क्योंकि इन दोनोंका समय समान है । साथ साथ रहनेवाले साध्य और हेतु स्वतंत्रतासे व्यवस्थित हो रहे हैं । जैसे कि गौके

मस्तकपर बाये ओरका और दाहिने ओरका सींग साथ रहकर स्वतंत्र व्यवस्थित हैं । पहिले और पीछे समयोंमें होनेवालोंमें कार्यकारणभाव सम्भवता है, साथ रहनेवालोंमें नहीं । अतः यह सहचर हेतु कार्यहेतुसे निराला ही है ।

एकसामग्र्यधीनत्वात्तयोः स्यात्सहभाविता ।
क्वान्यथा नियमस्तस्यास्ततोन्येषामितीति चेत् ॥ २८७ ॥
नैकद्रव्यात्मतत्वेन विना तस्या विरोधतः ।
सामग्र्येका हि तद्द्रव्यं रसरूपादिषु स्फुटम् ॥ २८८ ॥

बौद्ध कहते हैं कि एक सामग्रीके अधीन होनेसे यदि उन डेरे सीधे सींगोंमें सहभावीपना माना जाय, अन्यथा उस सामग्रीका नियम भला कहा माना जायगा ? । उससे भिन्नोंका नियम तो कहीं भी न बनेगा । अर्थात् सहचर हेतुओंमें भी कार्यकारणभाव मान लो । तभी तो एक सामग्रीके अनुसार उनमें सहचरपना बन जाता है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह बौद्धोंका कहना तो ठीक नहीं है । क्योंकि एक द्रव्यस्वरूप हो जानारूप तत्त्वके विना उस सामग्रीका विरोध है । कारण कि वह द्रव्य ही तो एक सामग्री है । यह रूप रस आदिकोंमें स्पष्ट देखा जाता है । ऐसी दशामें रस, रूप, आदिकोंका कार्यकारणभाव कैसा ? ।

न च तस्यानुमा स्वाद्यमानाद्रसविशेषतः ।
समानसमयस्यैव रूपादेरनुमानतः ॥ २८९ ॥
कार्येण कारणस्यानुमानं येनेदमुच्यते ।
कारणेनापि रूपादेस्ततो द्रव्येण नानुमा ॥ २९० ॥

रससे रूपका अनुमान करते समय वह कार्यसे कारणका अनुमान नहीं है । किन्तु सहचर हेतु है । नीबूके चाट लिये जा रहे रसविशेषसे समान समयवाले ही रूप आदिका अनुमान होना देखा जाता है । बौद्धोंने भी प्रत्यक्ष हुये रससे रूपसामग्रीका अनुमान कर पुनः रूपका अनुमान न होना माना है । जिस बौद्धने इसको कार्य द्वारा कारणका ज्ञान होनारूप अनुमान कहा है, उसके यहां कारणकरके भी रूप आदिका अथवा तिस ही कारणद्रव्यकरके रूप आदिका अनुमान होना नहीं बन सकेगा । बौद्धोंने कारणहेतु तो स्वीकार नहीं किया है ।

समानकारणत्वं तु सामग्र्येका यदीष्यते ।
पयोरसात्सरोजन्मरूपस्यानुमितिर्न किम् ॥ २९१ ॥

यथैव हि पयोरूपं (?) रूपाद्रससहायकात ।
तथा सरोद्भवेपीति स्यात्समाननिमित्तता ॥ २९२ ॥

यदि रूप और रसका कारण समान है, अतः रूप और रसकी एक सामग्री इष्ट की जायगी, तब तो जलके रससे कमलके रूपका अनुमान क्यों न हो जावे ? क्योंकि जलके रसका कारण जल है। और कमलके रूपका कारण भी वही जल है। जिस ही प्रकार रस है सहायक जिसका, ऐसे रूपस्कंधसे जलका रूप बनता है, तिस ही प्रकार कमलमें भी रूप बन जाता है। ऐसी दशामें समाननिमित्तपना हो जावेगा।

प्रत्यासत्तेरभावाच्चेत्साध्यसाधनतानयोः ।
नष्टैकद्रव्यतादात्म्यात् प्रत्यासत्तिः परा च सा ॥ २९३ ॥

कार्य और कारणोंकी प्रत्यासत्ति न होनेसे इन कार्यकारणभिन्नोंका साध्यसाधनपना यदि मानोगे तब तो हम जैन कहेंगे कि एक द्रव्यके साथ तदात्मक हो रहे रूपसंबंधके अतिरिक्त और कोई वह प्रत्यासत्ति नहीं है। कार्यकारण भावको प्राप्त हो रहे पदार्थोंमें अन्य क्षेत्रप्रत्यासत्ति, काल-प्रत्यासत्ति आदिका हम खण्डन कर चुके हैं। अथवा प्रत्यासत्ति नहीं होनेसे बौद्ध इन सहचरोंके साध्यसाधनभावको नष्ट कर देंगे तब तो हम जैन कहते हैं कि एक द्रव्यमें तदात्मक होनेसे वह बढिया द्रव्यप्रत्यासत्ति उनकी विद्यमान है। जिनकी माता वर्तमान है, उनको विना मैय्याका क्यों कहा जाता है ?

नन्वर्थान्तरभूतानामहेतुफलताश्रिताम् ।
सहचारित्वमर्थानां कुतो नियतमीक्ष्यते ॥ २९४ ॥
कार्यकारणभावास्ते कस्मादिति समं न किम् ।
तथा संप्रत्ययात्तुल्यं समाधानमपीदृशं ॥ २९५ ॥

यहां बौद्धोंकी शंका है कि सर्वथा एक दूसरेसे भिन्न हो रहे और कार्यकारण भावके आश्रय नहीं हो रहे पदार्थोंका सहचारिपना किस हेतुसे नियत हो रहा विचारा जा सकता है ? बताओ। अर्थात् किसी भी प्रकारसे कुछ भी संबंध नहीं रखनेवाले सर्वथा उदासीन दो सहचर पदार्थोंका अविनाभाव जान लेना दुःशक्य है। इसका समाधान आचार्य महाराज करते हैं कि तुम बौद्धोंके यहां पूर्व, उत्तरवर्त्ती निरन्वयक्षणिक पदार्थोंका कार्यकारणभाव भला किससे निर्णीत किया जाता है ? बताओ। पूर्वसमयवर्त्ती क्षणका उत्तर समयवर्त्ती क्षणिकपरिणामके साथ तुमने कोई भी संबंध नहीं माना है। इस प्रकार तुम्हारा सर्वथा भिन्न हो रहे पदार्थोंमें कार्यकारणभाव मानना और हमारा

अविनाभाव मानना समान क्यों नहीं हो जावेगा। इस पर यदि तुम यह समाधान करो कि हम क्या करें सर्वथा भिन्न पड़े हुये भी पूर्व अपर क्षणोंमें कार्यकारणभाव हो रहा तिस प्रकार अच्छे ढंगसे जाना जा रहा है। तब तो इस प्रकारका समाधान हम जैनोंके यहां भी तुल्य पडता है। अपने रुपयेको सुन्दर, सुडौल, दृढ, कहकर मागना और उसके द्वारा पहिले दे दिये गये रूपयेको रुपिल्ली कहकर तिरस्कार करना अन्याय्य है।

स्वकारणात्तथाग्निश्चेज्जातो धूमस्य कारकः।
चैतन्यसहकार्यस्तु स्पर्शोंगे तददृष्टतः॥ २९६॥
दृष्टाद्धेतोर्विना येर्था नियमात्सहचारिणः।
अदृष्टकरणं तेषां किंचिदित्यनुमीयते॥ २९७॥

अपने कारणोंसे उत्पन्न हो चुकी अग्नि धुआ को बनानेवाली देखी जाती है। ऐसा कहने पर तो हम भी कहते हैं कि तिसी प्रकार शरीरमें पाया जा रहा स्पर्श भी तो उसके पुण्य, पापसे सहकृत हो रहे चैतन्यरूप सहकारी कारणसे उत्पन्न हो गया है। प्रत्यक्ष देखे गये हेतुके विना भी जो अर्थ नियमसे सहचारी हो रहे हैं, उनका भी कोई न कोई अदृष्ट कारण इस प्रकार अनुमान द्वारा जानलिया जाता है। तभी तो एक ही गुरुके पढाये हुये अनेक विद्यार्थियोंकी व्युत्पत्तिका वैलक्षण्य देखकर उनके ज्ञानावरणके तीव्र, मन्द, मन्दतर, मध्यम, आदि विजातीय क्षयोपशमोंका अनुमान कर लिया जाता है। प्रकरणमें साथ रहनेवाले हेतु और साध्योंके संबंधका अविनाभाव रूपसे कहीं कहीं अनुमान कर लिया जाता है।

द्रव्यतोऽनादिरूपाणां स्वभावोस्तु न तादृशः।
साध्यसाधनतैवैषां तत्कृतान्योन्यमित्यसत्॥ २९८॥

बौद्ध कहते हैं कि अनादिनिधनद्रव्यकी अपेक्षासे अनादिसे चले आये स्वरूपोंका तिस प्रकारका स्वभाव तो नहीं है। क्योंकि हम बौद्ध किसी भी द्रव्य को अनादिनिधन नहीं मानते हैं। जिससे कि इन सहचारियोंका उस द्रव्यस्वरूपसे किया गया परस्परमें साध्यसाधनभाव हो जाय। आचार्य कहते हैं कि यह बौद्धोंका कहना प्रशंसनीय नहीं है। पदार्थोंका कालान्तरतक स्थायीपना और संबंध तो पूर्वप्रकरणोंमें साध दिया गया है, वहांसे समझलेना।

ये चार्वाक्परभागाद्या नियमेन परस्परम्।
सहभावमितास्तेषां हेतुरेतेन वर्णितः॥ २९९॥

और भी किसी भींत या डेरे, सूर्य आदिके उरले भाग परले भाग आदिक जो नियम करके परस्परमें साथ रहनेपनको प्राप्त हो रहे हैं, उनका भी साध्यसाधनभाव है। इस कथन करके उनके सहचारीपनका साधन भी वर्णन कर दिया गया है। इस भींतमें परभाग अवश्य है, क्योंकि उरला भाग दीख रहा है, अथवा इस अधिक चौडी नदीमें परला पार (किनारा) अवश्य है। क्योंकि यह उरला तट दीख रहा है। विचारशील पुरुषोंकरके साथ रहनेवाले कतिपय पदार्थोंका अविनाभाव जाना जा सकता है। वह भी पदार्थोंकी स्वरूपभूत हो रही किसी न किसी परिणतिपर अवलंबित है।

ततोतीतैककालानां गतिः किं कार्यलिंगजा।
नियमादन्यथा दृष्टिः सहचार्यादसिद्धितः॥ ३०० ॥

तिस कारण अधिक काल पहिले हो चुके और एक ही कालमें हो रहे पदार्थोंका ज्ञान क्या कार्यहेतुसे उत्पन्न हुआ माना जायगा ? चिरभूतमें हुये और वर्तमानमें हो रहे पदार्थका तथा वर्तमानमें ही साथ हो रहे दो पदार्थोंका कार्यकारणभाव तो असम्भव है। व्यापार, सहकारिता, उपादेयताको कर रहे पूर्वक्षणवर्ती पदार्थका व्यापार आदिके झेल रहे अव्यवहित उत्तरवर्ती पदार्थके साथ कार्यकारणभाव संबंध माना गया है। बौद्धोंने जो यह कहा था कि " अतीतैककालानां गतिर्नानागताना " सो आग्रह करना ठीक नहीं है। नियमके विना दूसरे प्रकारोंसे सहचरपनेसे केवल देख लेना तो गमक नहीं है। क्योंकि अविनाभावरहित पदार्थोंके हेतु हेतुमद्भावकी असिद्धि है, दो खडाम् साथ रहते हैं, गाडीके दो पहिये या पर्वत नारद अथवा सन्दूकका ऊपर नीचेका परला साथ रहते हैं। फिर भी अविनाभ नहीं होनेके कारण इनका सहचारीपनसे हेतु हेतुमद्भाव असिद्ध है। संभव है एक ही खडाम् किसीने बनाई होय, अथवा दूसरी खडाम् खो गई होय, आदि यहांतक पूर्वचर हेतुका वर्णन किया है।

तथोत्तरचरस्योपलब्धिस्तज्ज्ञैरुदाहृता।
उदगाद्भरणिराग्नेयदर्शनान्नभसीति सा॥ ३०१ ॥

अब उत्तरचर हेतुका वर्णन करते हैं। उन हेतुभेदोंको जाननेवाले विद्वानोंकरके तिसी प्रकार उत्तरचरकी उपलब्धिका उदाहरण यों दिया है कि आकाशमण्डलमें (पक्ष) भरणी नक्षत्रका उदय हो चुका है (साध्य), क्योंकि कृत्तिकाका उदय देखा जा रहा है (हेतु)। इस प्रकार वह भरणी उदयके मुहूर्त पीछे उदय होनेवाली कृत्तिकाकी उपलब्धि है।

सर्वमुत्तरचारीह कार्यमित्यानिराकृतेः।
नानाप्राणिगणादृष्टात्सातेतरफलाद्विना॥ ३०२ ॥

यदि बौद्ध यों कहें कि उत्तरचर हेतुओंको कार्यहेतुमें गर्भित कर लिया जाय, कार्य भी तो कारणके उत्तरकालमें रहता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि सो ठीक नहीं है। क्योंकि यहां उसका चारों ओरसे निराकरण कर दिया है। अनुकूल वेदनीय सातस्वरूप सुख और प्रतिकूल होकर अनुभव किये गये असातरूप दुःख हैं फल जिनके, ऐसे अनेक प्राणीसमुदायके पुण्यपापोंके विना कोई कार्य होता नहीं है। अतः सुखदुःखरूप फलसे जो पुण्यपापका अनुमान है, वह कार्यसे कारणका अनुमान है। और घडीमें चार बजचुकनेका ज्ञापक वर्त्तमानमें पांच बजना यह उत्तरचर हेतु है। यह कुछ अप्रसंगसा दीखता है। विशेष बुद्धिमान् विचार कर ठीक कर लेंगे ऐसी सम्भावना है।

पूर्वोत्तरचराणि स्युर्भानि क्रमभुवः सदा।
नान्योन्यं हेतुता तेषां कार्यबाधा ततो मता ॥ ३०३ ॥

क्रमकरके होनेवाले उत्तर पूर्ववर्त्ती पदार्थोंसे पूर्वउत्तरमें उदय होकर गमन कर रहे नक्षत्र जो होवेंगे, उनका परस्परमें हेतुपना नहीं करना चाहिये। हां, भूत, भविष्यत् कालको मध्यमें देकर तिस कारण निर्बाध होकर उनको हेतुपना माना गया है। जिस प्रकार लौकिक अथवा शास्त्रीय विद्वानोंका बाधारहित व्यवहार होवे, उस प्रकार हेतु हेतुमद्भाव मानकर समीचीन हेतुकी व्यवस्था कर लेनी चाहिये।

साध्यसाधनता च स्यादविनाभावयोगतः।
हेत्वाभासास्ततोन्ये ये सौगतैरुपदर्शितं ॥ ३०४ ॥

अन्यथानुपपत्तिरूप अविनाभावके योगसे साध्यसाधनभाव माना गया है। अविनाभावको न मानकर जो सौगतोंने उन व्याप्य आदिकोंसे न्यारे हेतु माने हैं, वे सब हेत्वाभास हैं, इस बातको हम भले प्रकार दिखला चुके हैं। अथवा अविनाभावके संबंधसे साध्यसाधनभाव नहीं होता है। कार्य, स्वभाव, अनुपलब्धि, ये तीन ही हेतु हैं। उनसे न्यारे पूर्वचर आदिक हेत्वाभास ही हैं। इस प्रकार बौद्धोंका कथन ठीक नहीं है।

तदेवं सहचरोपलब्ध्यादीनां कार्यस्वभावानुपलब्धिभ्योन्यत्वभाजां व्यवस्थापनात्ततोन्ये हेत्वाभासा एवेति न वक्तव्यं सौगतैरित्युपदर्शयति;—

तिस कारण इस प्रकार सहचर उपलब्धि, पूर्वचर उपलब्धि, आदि जो कि बौद्धों द्वारा माने गये कार्यहेतु, स्वभावहेतु और अनुपलब्धिहेतुओंसे न्यारेपनको प्राप्त हो रहे हैं। उनकी व्यवस्था कर दी गयी होनेसे बौद्ध यदि यों कहें कि उन कार्य आदि तीन हेतुओंसे भिन्न सभी हेतु हेत्वाभास ही हैं। सो यह तो उन्हें नहीं कहना चाहिये। इस बातको ग्रन्थकार दिखलाते हैं। अर्थात्

बौद्धोंके माने गये तीन ही हेतु नहीं हैं । किंतु अन्य सहचर आदि हेतुओंकी भी व्यवस्था की जा चुकी है ।

पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः ।
अविनाभावनियमादिति वाच्यं न धीमता ॥ ३०५ ॥
पक्षधर्मात्यये युक्ताः सहचार्यादयो यतः ।
सत्यं च हेतवो नातो हेत्वाभासास्तथापरे ॥ ३०६ ॥

बौद्ध कहते हैं कि उस साध्यवान् पक्षके अंशरूप साध्यकरके व्याप्त हो रहा वह हेतु पक्षमें वर्तता संता तीन ही प्रकारका है । पक्षमें वर्तरहे हेतुका अविनाभावनियम भी घटित हो जाता है । आचार्य कहते हैं कि यह तो बुद्धिमान बौद्धोंको नहीं कहना चाहिये । जिस कारणसे कि सहचारी, उत्तरचारी, आदि हेतु भी पक्षमें वर्तना नहीं होनेपर भी सत्यार्थरूपसे हेतु माने गये हैं । इस कारण तिस प्रकार पक्षसत्त्व नामक गुण नहीं रहनेसे कार्यस्वभाव, अनुपलब्धि हेतुओंसे भिन्न सभी हेतु हेत्वाभास नहीं हो सकते हैं । भावार्थ—पक्षमें वर्तना न होते हुये भी पूर्वचर आदि हेतुओंको सद्धेतुपना साध दिया गया है ।

त्रिधैव वाविनाभावानियमाद्धेतुरास्थितः ।
कार्यादिर्नान्य इत्येषा व्याख्यैतेन निराकृता ॥ ३०७ ॥

" हेतुस्त्रिधैव " इसका व्याख्यान बौद्ध यों करते हैं कि पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्ष व्यावृत्ति, इन तीन गुणोंसे युक्त हो रहे कार्य, स्वभाव, अनुपलब्धि, ये तीन ही हेतु हैं । अथवा कोई यों व्याख्या करते हैं कि कार्य १ कारण २ अकार्यकारण ३ तथा वीत १ अवीत २ वीतावीत ३ एवं पूर्ववत् आदि तीन संयोगी आदि तीन ही प्रकारके हेतु सब ओर व्यवस्थित हो रहे हैं । अन्य हेतुओंके भेद नहीं हैं । अविनाभाव नियमकी कोई आवश्यकता नहीं है । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार ये व्याख्यान भी इस उक्त कथनकरके निराकृत कर दिये गये हैं । अर्थात् पूर्ववत् आदि, कार्य आदिसे न्यारे सहचर आदिक हेतु भी अविनाभावकी सामर्थ्यसे सद्धेतु प्रसिद्ध हैं ।

तदेवं कस्यचिदर्थस्य विधौ प्रतिषेधे वोपलब्धिभेदानभिधाय संप्रति निषेधेनुपलब्धिप्रपंचं निश्चिन्वन्नाह;—

तिस कारण इस ढंगसे किसी भी अर्थकी विधिको अथवा प्रतिषेधको साधनेमें दिये गये उपलब्धिके भेदोंका कथन कर चुकनेपर अब (इस समय) निषेधको साधनेमें अनुपलब्धि हेतुओंके विस्तारका निश्चय कराते हुये आचार्य महाराज कहते हैं ।

निषेधेऽनुपलब्धिः स्यात्फलहेत्वद्वयात्मना।
हेतुसाध्याविनाभावनियमस्य विनिश्चयात् ॥ ३०८ ॥

निषेधको साधनेमें फल (कार्य) कारण और इन दोनोंसे न्यारे तीसरे अकार्यकारण स्वरूप करके तीन प्रकारकी अनुपलब्धि हैं। क्योंकि हेतुका साध्यके साथ अविनाभाव रखनारूप नियमका विशेषरूपसे निश्चय हो रहा है।

निषेधेऽनुपलब्धिरेवेति नावधारणीयम्, विरुद्धोपलब्ध्यादेरपि तत्र प्रवृत्तिः निषेध एवानुपलब्धिरित्यवधारणे तु न दोषः प्रधानेन विधौ तदप्रवृत्तेः। सा च कार्यकारणानुभयात्मनामवबोद्धव्या।

निषेधको साधनेमें अनुपलब्धि ही हेतु है, इस प्रकारका अवधारण नहीं करना चाहिये, क्योंकि उस निषेधको साधनेमें विरुद्ध उपलब्धि आदिकी भी प्रवृत्ति हो रही है। हां, निषेधको साधनेमें ही अनुपलब्धि हेतु उपयोगी है। ऐसा अवधारण करनेमें तो कोई विशेष दोष नहीं आता है। कारण कि प्रधानरूपसे विधि करनेमें उस अनुपलब्धिकी प्रवृत्ति, नहीं मानी गई है। तथा वह अनुपलब्धि कार्यकी कारणकी और उभयभिन्न अकार्यकारणकी समझ लेनी चाहिये।

तत्र कार्याप्रसिद्धिः स्यान्नास्ति चिन्मृतविग्रहे।
वाक्क्रियाकारभेदानामसिद्धेरिति निश्चिता ॥ ३०९ ॥

तिस अनुपलब्धिके तीन भेदोंमें कार्यकी अनुपलब्धिका उदाहरण इस प्रकार निश्चित किया गया समझो कि इस मृतक शरीरमें (पक्ष) चैतन्य नहीं है (साध्य) वचनोंके विशेष, क्रियाओंके विशेष, और आकारोंके विशेषोंकी अनुपलब्धि हो रही है।

ननु वागादिष्वप्रतिबद्धसामर्थ्याया एव चितो नास्तित्वं वचनानुपलब्धेः सिध्येन्न तु प्रतिबद्धसामर्थ्याया विद्यमानाया अपि वागादिकार्ये व्यापारासंभवान्नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवंति प्रतिबंधवैकल्यसंभवे कस्यचित्कारणस्य स्वकार्याकरणदर्शनात्ततो नेयं कार्यानुपलब्धिर्गमिका चिन्मात्राभावसिद्धाविति कश्चित्। तस्यापि संबंधकार्याभावात्कथं नित्यात्माद्यभावसिद्धिरिति स्वमतव्याहतिरुक्ता। ततः स्वसंताने संतानांतरं वर्तमान क्षणे क्षणांतरं संविदद्वये वेद्याकारभेदं वा तत्कार्यानुपलब्धेरसत्त्वेन साधयन्कार्यानुपलब्धेरन्यथानुपपत्तिसामर्थ्यनिश्चयाद्गमकत्वमभ्युपगंतुमर्हत्येव।

यहां ब्रह्म अद्वैतवादीके किसी, एकदेशीका या बौद्धोंका पूर्वपक्ष है कि वचन बोलना, हाथ पावकी क्रिया करना, नाडी चलना, आदि व्यापारोंमें नहीं रोकी जा रही सामर्थ्यसे युक्त हो रहे

चैतन्यका ही नास्तिपना (साध्य) मृतशरीरमें वचन अनुपलब्धि हेतुसे सिद्ध हो सकेगा, किन्तु जिस छिपे हुये चैतन्यकी बोलना, नाडी चलना, हृदयकी धडकन, आदि व्यापार करानेकी सामर्थ्य नष्ट हो गई है, उस गुप्तचैतन्यका निषेध तो वचन आदिकी अनुपलब्धिसे नहीं हो सकता है। सर्पकरके काटे गये किसी किसी पुरुषका चैतन्य विद्यमान रहता है। फिर भी बोलना, नाडी चलना, आदि कार्योंमें व्यापार होनेका असंभव है। मत्त, मूर्च्छित, अंडस्थ आदि अवस्थाओंके समान मृतशरीरमें भी सूक्ष्मचैतन्य विद्यमान हो सकता है। वह नाडी चलाना, आदि कार्योंको नहीं करता है। सभी कारण आवश्यक रूपसे कार्योंको करें ही, ऐसा कोई नियम नहीं है। वृक्षमें स्थित हो रहा दण्ड देखो घटको नहीं कर रहा है। प्रतिबन्धकोंके आजानेसे अथवा अन्य कारणोंकी विकलता (कमी) सम्भवने पर कोई कोई कारण तो अपने कार्योंको अपनी स्थिति (पूरी आयु) पर्यन्त भी नहीं करते हुये देखे गये हैं। तिस कारण यह कार्यअनुपलब्धि हेतु अपने साध्यका गमक नहीं है। अतः स्थूल, सूक्ष्म, गुप्त सभी सामान्य रूपसे चैतन्योंके अभावको साधनेमें दिया गया वचन आदिकी अनुपलब्धि हेतु अपने साध्यका साधक न हो सका, इस प्रकार कोई कह रहा है। अब आचार्य कहते हैं कि उसके यहां संबंधरूप कार्यके नहीं होनेसे नित्य आत्मा, आकाश, आदिके अभावकी सिद्धि भला कैसी हो जायगी ? इस कारण उसको अपने मतका व्याघात दोष प्राप्त हुआ कह दिया गया है। अर्थात् बौद्धोंने आत्माको नित्य नहीं माना क्योंकि उसके कार्य अनादि अनंत पर्यायोंमें संबंध रहना, अन्वितसंतान बनजाना, आदि नहीं देखे जाते हैं। ऐसी दशामें कोई कह सकता है कि नित्य आत्मा बना रहे और उसके कार्य न भी होवें, जैसे कि नाडी चलना आदि कार्योंको नहीं करता हुआ भी चैतन्य उन्होंने मृतशरीरमें मानलिया है। इस ढंगसे बौद्धोंको अपने क्षणिकसिद्धान्तकी क्षति उठानी पडती है। दरिद्रपुरुषोंके भी करोडों रुपयोंकी सत्ता मानली जायगी, मूर्ख भी पंडित बन जावेंगे। मृतका दाह करनेवालोंको महापातकीपनका प्रसंग होगा। तिस कारण अपनी संतानमें अन्य संतानोंके अभावको उनके कार्योंके नहीं दीखनेसे साधन करा रहा बौद्ध कार्य–अनुपलब्धि हेतुसे किसी अविनाभावी कारणके अभावकी सिद्धिको अवश्य मान रहा है। अथवा वर्त्तमान क्षणिकपर्यायके अवसरमें अन्य कालोंकी पर्यायके अभावको साध रहा प्रतिवादी बौद्ध कार्य अनुपलब्धि हेतुसे अन्यथानुपपत्तिकी सामर्थ्य द्वारा कारणका अभाव स्वीकार कर ही रहा है। तथा शुद्धसंवेदन अद्वैतमें वेद्य, वेदक, संवित्ति, इन तीनके भेदको उनके कार्यकी अनुपलब्धिसे असत्पने करके साधन कर रहा वैभाषिक बौद्ध अन्यथानुपपत्तिकी सामर्थ्यके निश्चयसे कार्यानुपलब्धि हेतुका गमकपना स्वीकार करनेके लिये समर्थ हो जाता ही है। सौत्रान्तिक पक्षसे नाता तोडकर योगाचार बनो या योगाचार भी नहीं बनकर वैभाषिक बननेका अभिनय करो, कार्यानुपलब्धिको गमक मानना ही पडेगा। शून्यवादी माध्यमिक तो " सर्वं सर्वत्र विद्यते "

इस कपिलमतको कालत्रयमें भी स्वीकार नहीं करेगा। दृश्य कार्योंकी अनुपलब्धिसे कारणका निषेध जानलेना समुचित है।

स्वभावानुपलब्धेस्तु तादृशेनिष्टेः प्रकृतकार्यानुपलब्धौ पुनरन्यथानुपपन्नत्वसामर्थ्यनिश्चयो लोकस्य स्वत एवात्यंताभ्यासात्तादृशं लोको विवेचयतीति प्रसिद्धेस्ततः साधीयसी कार्यानुपलब्धिः।

कारण कि स्वभाव अनुपलब्धिको तो तिस प्रकारके अभावको साधनेमें नहीं इष्ट किया गया है। अर्थात् मृतव्यक्तिमें जीवका निषेध करनेके लिये स्वभावानुपलब्धि पर्याप्त नहीं है। योग्य कारणके अभावको साधनेमें दी गई प्रकरणप्राप्त कार्य–अनुपलब्धिमें फिर अन्यथानुपपत्तिकी सामर्थ्यका निश्चय तो जनसमुदायको स्वत ही हो जाता है। बौद्धोंके यहां भी यह प्रसिद्ध है कि अत्यन्त अभ्यास हो जानेसे तिस प्रकारके अर्थका लोक स्वयं विचार कर लेता है। जिसके पास पचास रुपये भी नहीं हैं, उसके पास सौ रुपये नहीं हैं। वृक्षके न होनेसे शीशोंका अभाव या विलक्षण उष्णताके न होनेसे अग्निका अभाव जान लिया जाता है। वृद्धजन या वैद्य विद्वान् महिनों, दिनों, घन्टों, प्रथम ही किसीकी मृत्युको बता देते हैं। मृतकी परीक्षा विशेष कठिन कार्य नहीं है। तिस कारण कार्यकी अनुपलब्धि बहुत अच्छी सिद्ध कर दी गई है।

कारणानुपलब्धिस्तु मयि नाचरणं शुभम्।
सम्यग्बोधोपलम्भस्याभावादिति विभाव्यते ॥ ३१० ॥

दूसरी कारणअनुपलब्धिका उदाहरण तो इस प्रकार विचारकर निर्णीत किया जाता है कि मुझमें समीचीन चारित्र नहीं है, क्योंकि सम्यग्ज्ञानका उपलम्भ नहीं हो रहा है। यहां निषेध्य सम्यक्चारित्रके कारण सम्यग्ज्ञानकी अनुपलब्धि होनेसे यह कारण–अनुपलब्धि हेतु समझा गया।

सम्यग्बोधो हि कारणं सम्यक्चारित्रस्य तदनुपलब्धितः स्वसंताने तदभावं साधयति कुतश्चिदुपजातस्य विभ्रमस्यान्यथा विच्छेदायोगात् ॥

सम्यग्ज्ञान अवश्य ही सम्यक्चारित्रका कारण है। उस सम्यक्ज्ञानका अनुपलम्भ होनेसे। वह ज्ञानाभाव अपनी आत्मसंतानमें उस सम्यक्चारित्रके अभावका साधन करा देता है। किसी भी भ्रमका दूसरे प्रकारोंसे निराकरण नहीं हो पाता है। जैसे कि किसी झूठे पुरुष द्वारा अपनेमें दरिद्रताका आरोप किये जानेपर सम्पत्ति, भूषण, यथायोग्य पूर्ण भोजन सामग्रीके सद्भाव अथवा ऋण देना न होनेसे दरिद्रताके आरोपकी भ्रान्तिका निवारण हो जाता है।

अहेतुफलरूपस्य वस्तुनोनुपलंभनम्।
द्वेधा निषेध्यतादात्म्येतरस्यादृष्टिकल्पनात् ॥ ३११ ॥

निषेधको साधनेमें दिये गये अनुपलब्धि हेतुका तीसरा भेद अकार्यकारणस्वरूप वस्तुका अनुपलम्भ है। वह दो प्रकारका मान लिया गया है। निषेध करने योग्यके साथ तादात्म्य रखनेवालेकी अनुपलब्धि और निषेध्यके साथ तादात्म्य नहीं रखनेवालेकी अनुपलब्धि, ये दो भेद हैं।

तत्राभिन्नात्मनोः सिद्धिर्द्विविधा संप्रतीयते।
स्वभावानुपलब्धिश्च व्यापकादृष्टिरेव च ॥ ३१२ ॥

तिन दो भेदोंमेंसे पहिले निषेध्यसे अभिन्नस्वरूप हो रहे दो पदार्थोंकी सिद्धि तो दो प्रकारकी भली प्रतीत हो रही है। पहिली स्वभावकी अनुपलब्धि और दूसरी व्यापककी अनुपलब्धि, इस ढंगसे ही दो भेद किये गये हैं।

आद्या यथा न मे दुःखं विषादानुपलंभतः।
व्यापकानुपलब्धिस्तु वृक्षादृष्टेर्न शिंशपा ॥ ३१३ ॥

पहिली स्वभाव अनुपलब्धिका उदाहरण इस प्रकार है कि मुझको दुःख नहीं है (प्रतिज्ञा) क्योंकि कोई खेद नहीं देखा जा रहा है (हेतु)। और दूसरी व्यापक अनुपलब्धिका उदाहरण यों है कि यहां शीशों नहीं है (प्रतिज्ञा), क्योंकि कोई वृक्ष नहीं देखा जा रहा है (हेतु)। दुःखका स्वभाव विषाद है और शीशोंका व्यापक वृक्ष है, अतः स्वभाव और व्यापककी अनुपलब्धि स्वभाववान् और व्याप्यके निषेधको सिद्ध करा देती हैं।

कार्यकारणभिन्नस्यानुपलब्धिर्न बुध्यताम्।
सहचारिण एवात्र प्रतिषेध्येन वस्तुना ॥ ३१४ ॥
मयि नास्ति मतिज्ञानं सद्दृष्ट्यनुपलब्धितः।
रूपादयो न जीवादौ स्पर्शासिद्धेरितीयताम् ॥ ३१५ ॥

कार्य और कारणसे भिन्न हो रहे, चाहे जिसकी अनुपलब्धिसे चाहे जिस किसीका अभाव साध लेना तो नहीं समझना चाहिये, किन्तु प्रतिषेध करने योग्य वस्तुके साथ रहनेवालेका ही यहां अभाव साधा जाता है अर्थात् अकार्यकारणरूप वस्तुकी अनुपलब्धिका दूसरा भेद अतादात्म्य अनुपलब्धिहेतु अपने अविनाभावी साध्यको ही साध सकेगा। जैसे कि मुझमें मतिज्ञान नहीं है (प्रतिज्ञा) क्योंकि सम्यग्दर्शन नहीं अनुभूत हो रहा है (हेतु)। जीवद्रव्य, आकाशद्रव्य, आदिमें रूप आदिक नहीं है, क्योंकि स्पर्शगुणकी अनुपलब्धि हो ही है। इस प्रकार समझ लेना चाहिये। अर्थात् मतिज्ञानका सहचारी सम्यग्दर्शन है और रूप आदिका सहचारी स्पर्श है। एक सहचारीके न होनेसे दूसरे अविनाभावी सहचारीका अभाव साध दिया जाता है। हेतुकी जीवनशक्ति अविनाभाव है।

सैवमनुपलब्धिः पंचविधोक्ता श्रुतिप्राधान्यात् ।

इस प्रकार वह अनुपलब्धि अपने भेदप्रभेदोंकरके पांच प्रकारकी कह दी गई है । क्योंकि लोकमें और शास्त्रमें उक्त प्रकार प्रयोगोंके सुननेकी प्रधानता हो रही है । जो समीचीन प्रयोग अविनाभावके अनुसार हो रहे हैं, उनको सद्धेतुओंसे अनुमान द्वारा साध लिया जाता है ।

ननु कारणव्यापकानुपलब्धयोपि श्रूयमाणाः संति । सत्यं । तास्त्वत्रैवांतर्भाव-मुपयांतीत्याह;—

यहां शंका है निषेध्य–साध्यअंशके कारणसे व्यापक हो रहे की अनुपलब्धि अथवा साध्य दल निषेध्यके व्यापकसे व्यापक हो रहे की अनुपलब्धि आदिक भी तो सुनी जा रही हैं । फिर उक्त ढंगसे पाच ही अनुपलब्धियां क्यों कहीं ? इसपर आचार्य कहते हैं कि भाई तुम ठीक कहते हो, पाच प्रकारोंके अतिरिक्त भी अनुपलब्धिया हैं । किन्तु वे सब इन पाचोंमें ही अंतर्भावको प्राप्त हो जाती हैं । इस बातको स्पष्ट कहकर दिखलाते हैं ।

कारणव्यापकादृष्टिप्रमुखाश्चास्य दृष्टयः ।
तत्रांतर्भावमायांति पारंपर्यादनेकधा ॥ ३१६ ॥

इस निषेध्यसाध्यकी कारण, व्यापक, अनुपलब्धिको आदि लेकरके जो अनुपलब्धियां देखी सुनी जा रही हैं, वे सब अनेक प्रकारकी उन पाचोंमें ही परम्परासे अंतर्भावको प्राप्त हो जाती हैं । कई उपलब्धिया भी तो उपलब्धिहेतुओंमें प्रविष्ट हो चुकी हैं । फिर अनुपलब्धिमें ही ऐसी कौनसी नयी बात आ पडी है ।

काः पुनस्ता इत्याह;—

वे अंतर्भूत हो रहीं अनुपलब्धियां फिर कौन कौनसी हैं ? इस बातको स्पष्ट कहते हैं ।

प्राणादयो न संत्येव भस्मादिषु कदाचन ।
जीवत्वासिद्धितो हेतुव्यापकादृष्टिरीदृशी ॥ ३१७ ॥
क्वचिदात्मनि संसारप्रसूतिर्नास्ति कार्त्स्न्यतः ।
सर्वकर्मोदयाभावादिति वा समुदाहृता ॥ ३१८ ॥

भस्म, डेल, कटोरा, आदिकमें (पक्ष) प्राण, नाडी चलना, आदिक कभी भी नहीं है । (साध्य), क्योंकि प्राणधारणरूप जीवपनेकी उनमें सिद्धि नहीं हो रही है । इस प्रकारकी हेतु व्यापक अनुपलब्धि है । निषेध करने योग्य प्राण आदिकोंका कारण शरीरसहितपना है । और शरीरसहितपनेका व्यापक जीवत्व है । अथवा यह भी उदाहरण बहुत अच्छा दिया गया है कि किसी

आत्मामें (पक्ष) पुनः संसारमें जन्म लेना सम्पूर्णरूपसे नहीं है (साध्य) ज्ञानावरण आयुष्य आदि सम्पूर्ण कर्मोंके उदयका अभाव होनेसे (हेतु)। संसारमें जन्ममरण करनेका कारण आयुष्यकर्म या राग, द्वेष, योग, और द्रव्यकर्म हैं। इनका व्यापक सम्पूर्ण कर्मोंमेंसे चाहे किसीका भी उदय है। अतः यह कारण-व्यापक-अनुपलब्धि है।

तद्धेतुहेत्वदृष्टिः स्यान्मिथ्यात्वाद्यप्रसिद्धितः।
तन्निवृत्तौ हि तद्धेतुकर्माभावान्न संसृतिः ॥ ३१९ ॥

उस निषेध्यके हेतुओंके हेतुओंकी-अनुपलब्धि तो यों होगी कि किसी आत्मामें (पक्ष) फिर संसारकी उत्पत्ति नहीं है (साध्य), क्योंकि मिथ्यादर्शन, अविरत, कषाय आदिकी अप्रसिद्धि हो रही है (हेतु)। उन मिथ्यात्व आदिकी निवृत्ति हो चुकनेपर उनका कारण मानकर उत्पन्न होनेवाले कर्मोंका अभाव हो जाता है। और समस्त कर्मोंका अभाव हो जानेसे फिर भला संसारकी उत्पत्ति कहां हो सकती है ? अर्थात् कर्मरहित जीवकी पुनः संसारमें उत्पत्ति, विपत्तियां नहीं हो पाती हैं। यहां निषेध करने योग्य संसारमें जन्म लेना है, उसका कारण समस्त कर्मोंका या यथायोग्य कर्मोंका उदय है। और कर्मोंके उदयका कारण तो मिथ्यात्व, अविरति, आदिक हैं। अतः हेतुके हेतुकी अनुपलब्धि मिथ्यात्व आदिकी असिद्धि है।

तत्कार्यव्यापकासिद्धिर्यथा नास्ति निरन्वयं।
तत्त्वं क्रमाक्रमाभावादन्वयैकांततत्त्ववत् ॥ ३२० ॥

उस निषेध्यके कार्यके व्यापककी अनुपलब्धिका उदाहरण यह है कि सत्स्वरूपतत्त्व (पक्ष) पूर्व उत्तर पर्यायोंमें अन्वय नहीं रखता हुआ, क्षणिक हो रहा नहीं है (साध्य) क्रम और अक्रम नहीं बन रहा होनेसे (हेतु) जैसे कि सर्वथा कूटस्थवादी द्वारा माना गया कोरा अन्वय रख रहा सर्वथा नित्य एकान्तरूप तत्त्व नहीं है (दृष्टान्त), अथवा अन्वय नहीं रखता हुआ क्षणिक पदार्थ (पक्ष) तत्त्व नहीं है (साध्य) क्रम और अक्रम नहीं बननेसे (हेतु)। यहां साध्य दलमें निषेध्य पडे हुये तत्त्वका कार्य अर्थक्रिया है। तथा अर्थक्रियाके व्यापकक्रम और अक्रम हैं। अतः उन क्रम, अक्रमोंकी अनुपलब्धि होनेसे यह कार्य व्यापक अनुपलब्धि है।

तत्कार्यव्यापकव्यापि पदार्थानुपलंभनं।
परिणामविशेषस्याभावादिति विभाव्यताम् ॥ ३२१ ॥

उस निषेध्यके कार्यके व्यापकके व्यापक हो रहे पदार्थकी अनुपलब्धि तो इस प्रकार समझ लेनी चाहिये कि बौद्धों द्वारा माना गया निरन्वय क्षणिक पदार्थ (पक्ष) तत्त्व नहीं है (साध्य) उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप परिणाम विशेषका अभाव होनेसे (हेतु)। यहां निषेध्य तत्त्वका कार्य

अर्थक्रिया है। अर्थक्रियाके व्यापक क्रम और अक्रम हैं। तथा क्रम और अक्रमको भी व्यापनेवाला परिणामविशेष है। उसकी अनुपलब्धि है। अतः यह कार्यव्यापकव्यापक–अनुपलब्धि है।

कारणव्यापकादृष्टिः सांख्यादेर्नास्ति निर्वृतिः।
सद्दृष्ट्यादित्रयासिद्धेरियं पुनरुदाहृता ॥ ३२२ ॥

कारणव्यापक–अनुपलब्धिका उदाहरण फिर इस प्रकार कहा गया समझो कि सांख्य, नैयायिक आदि प्रतिवादियोंके यहां (पक्ष) मोक्ष नहीं होती है (साध्य), सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनकी असिद्धि होनेसे (हेतु)। यहां निषेध करने योग्य मोक्षका कारण मोक्षमार्गरूप परिणाम है, उसका व्यापक रत्नत्रय है, उसकी अनुपलब्धि है। अतः यह कारणव्यापक–अनुपलब्धि है। पहिली कही हुई कारणव्यापकाविरुद्ध–उपलब्धिसे इस अनुपलब्धिका ढंग निराला है।

कारणव्यापकव्यापि स्वभावानुपलंभनं।
तत्रैव परिणामस्यासिद्धेरिति यथोच्यते ॥ ३२३ ॥
परिणामनिवृत्तौ हि तद्व्याप्तं विनिवर्तते।
सद्दृष्ट्यादित्रयं मार्गे व्यापकं पूर्ववत्परम् ॥ ३२४ ॥

उस ही को साध्य करनेमें कारणके व्यापकसे व्यापक हो रहे स्वभावकी अनुपलब्धि तो इस दृष्टान्त द्वारा कही जाती है कि सांख्य आदिकोंके मतमें या सांख्य, नैयायिक, आदि विद्वानोंकी (पक्ष) मोक्ष सिद्ध नहीं हो पाती है, (साध्य), परिणाम विशेषकी असिद्धि होनेसे (हेतु)। यहां निषेध्य मोक्षका कारण मोक्षमार्गरूप परिणाम है। उसका व्यापक रत्नत्रय है। उसका भी व्यापक परिणाम होना है। जब सांख्य आदिकोंके यहां आत्मामें परिणाम नहीं बनते हैं, तो पूर्वस्वभावका त्याग, उत्तर स्वभावका ग्रहण, और द्रव्यरूपसे या स्थूलपर्यायरूपसे रूपपरिणामकी निवृत्ति हो जानेपर उससे व्याप्त हो रहे रत्नत्रयकी तो अवश्य निवृत्ति हो जाती है। व्यापकके नहीं रहने पर व्याप्य तो नहीं ठहरपाता है। और सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयकी निवृत्तिसे मार्गकी तथा दूसरे व्यापककी पूर्वके समान निवृत्ति हो जाती है। अतः यह कारणव्यापकव्यापकस्वभावकी अनुपलब्धि है।

सहचारिफलादृष्टिर्मत्यज्ञानादि नास्ति मे।
नास्तिक्याध्यवसानादेरभावादिति दर्शिता ॥ ३२५ ॥
नास्तिक्यपरिणामो हि फलं मिथ्यादृशः स्फुटम्।
सहचारितया मत्यज्ञानादिवद्धिपश्रिताम् ॥ ३२६ ॥

सहचरकार्यकी अनुपलब्धि तो इस प्रकार दिखलाई गई है। मेरी आत्माके (पक्ष) मति अज्ञान, श्रुतअज्ञान, आदिकभाव नहीं हैं, (साध्य), कारण कि परलोक, स्वर्ग, मोक्ष, पुण्य, पाप, आदि पदार्थोंके नास्तिपनके आग्रह, अभिनिवेश, आदिका अभाव है। यहां निषेध्य–कुमतिज्ञानका सहचारी मिथ्याश्रद्धान है। उसको फल नास्तिकपनेका अध्यवसाय, कलुषता, तीव्रक्रोध, विपरीतज्ञान, आदिक हैं। उनका अभाव अनुभूत हो रहा है। अतः यह सहचर कार्य अनुपलब्धि हेतु है। मिथ्यादर्शनका कार्य नास्तिक्य परिणाम है। वह सहचारीपनकरके मति अज्ञान आदिसे विशिष्ट हो रहा है। यह विद्वानोंके सन्मुख स्पष्ट विषय है।

सहचारिनिमित्तस्यानुपलब्धिरुदाहृता।
दृष्टिमोहोदयासिद्धेरिति व्यक्तं तथैव हि ॥ ३२७ ॥

निषेध्यके सहचारीके निमित्तकी अनुपलब्धि तो इस प्रकार उदाहरण प्राप्त की गई है कि मेरी आत्मामें (पक्ष) मति अज्ञान आदि नहीं हैं (साध्य), क्योंकि दर्शनमोहनीय कर्मके उदयकी असिद्धि हो रही है। तिस ही प्रकार यह उदाहरण भी प्रकट है। मति अज्ञानका सहचारी मिथ्याश्रद्धान है। उस मिथ्याश्रद्धानका निमित्तकारण दर्शनमोहनीय कर्मका उदय है। अतः यह सहचारी-निमित्त-अनुपलब्धि है या सहचारि–कारणानुपलब्धि है।

सहभूव्यापकादृष्टिर्नास्ति वेदकदर्शने।
सहभाविमतिज्ञानं तत्त्वश्रद्धानहानितः ॥ ३२८ ॥

साथ होनेवाले (सहचर) के व्यापककी अनुपलब्धि तो इस प्रकार है कि मुझमें क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनोंके साथ होनेवाला मतिज्ञान नहीं है (साध्य), क्योंकि तत्त्वोंके श्रद्धानकी हानि देखी जाती है (हेतु) । यहां निषेध्य मतिज्ञानका सहचारी क्षयोपशम सम्यक्त्व है। उसका व्यापक तत्त्वश्रद्धान है। अतः यह सहचर व्यापक अनुपलब्धि है।

सहभूव्यापिहेत्वाद्यदृष्टयोप्यविरोधतः।
प्रत्येतव्याः प्रपंचेन लोकशास्त्रनिदर्शनैः ॥ ३२९ ॥

सहचरव्यापक–हेतु अनुपलब्धि या सहचरव्यापककार्य–अनुपलब्धि आदिक भी विस्तारकरके लोकप्रसिद्ध और शास्त्रप्रसिद्ध दृष्टान्तोंद्वारा समझ लेनी चाहिये। यह ध्यान रहे कि कोई प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे विरोध प्राप्त न हो जाय। जैसे कि इस चक्रपर (पक्ष) कुशूल नहीं हुआ है (साध्य); कारण कि शिवकके पीछे छत्रकी अनुपलब्धि हो रही है (हेतु) । यह कारण-कारण-कारण-अनुपलब्धि है। निषेध करने योग्य कुशूलका कारण कोश है। और कोशका कारण स्थास

है, तथा छायाका कारण छत्र है। अतः यह कारणकी परम्परासे अनुपलब्धि है। ग्रन्थवृद्धिके भयसे वार्त्तिक ग्रन्थमें सभी उदाहरण नहीं दिये जासकते हैं। विद्वानोंकरके स्वयं ऊहा करलेनी चाहिये।

सहचरव्यापककार्यानुपलब्धिर्यथा नास्त्यभव्ये सम्यग्विज्ञानं दर्शनमोहोपशमाद्यभावात्। सहचरव्यापककारणानुपलब्धिर्यथा तत्रैवाधःप्रवृत्तादिकरणकाललब्ध्याद्यभावात्। सहचरव्यापककारणव्यापकानुपलब्धिस्तत्रैव दर्शनमोहोपशमादित्वाभावादिति समयप्रसिद्धान्युदाहरणानि।

सहचरव्यापककार्य-अनुपलब्धिका दृष्टांत तो इस प्रकार है कि अभव्यमें (पक्ष) समीचीन ज्ञान नहीं है [साध्य] दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम, क्षय, क्षयोपशम नहीं होनेसे [हेतु] यहां निषेध्य सम्यग्ज्ञानके सहचारी क्षयोपशमसम्यक्त्व आदि तीन सम्यग्दर्शन हैं। उनका व्यापक सम्यग्दर्शन हैं। उस सम्यग्दर्शनका कार्य भविष्यमें दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम, क्षयोपशम, क्षय, करना है। तथा सहचरव्यापक--कारणकी अनुपलब्धिका दृष्टान्त तो इस प्रकार है कि तिस हीको साध्य करनेमें यानी अभव्यमें सम्यग्ज्ञान नहीं है, क्योंकि अधःप्रवृत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, काललब्धि आदिका अभाव है। यहां निषेध्य सम्यग्ज्ञानके सहचारी क्षयोपशम आदि सम्यक्त्व हैं। उनका व्यापक सम्यग्दर्शन सामान्य है। उसके कारण अधःप्रवृत्तकरण, काललब्धि, आदि हैं। उनकी अनुपलब्धिसे सम्यग्ज्ञानका निषेध सिद्ध हो जाता है। अब सहचरव्यापककारण--व्यापककी अनुपलब्धिका उदाहरण सुनिये। तिस ही अभव्यमें सम्यग्ज्ञानके अभावको साध्य करनेपर दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम आदि भावोंके अभाव हेतुसे वह साधी जाती है। निषेध्य सम्यग्ज्ञानके सहचारी क्षयोपशम सम्यक्त्व आदि हैं। उनका व्यापक सम्यग्दर्शन है। उसके कारण अधःकरण आदिक हैं। उन करणत्रय, काललब्धि, आदिके व्यापक दर्शनमोहके उपशम आदिक हैं। उनका अभाव होनेसे अभव्यमें सम्यग्ज्ञानका निषेध साध दिया जाता है। इस प्रकार आप्तोपज्ञ शास्त्रोंके अनुसार अनेक उदाहरण प्रसिद्ध हो रहे हैं। चौइंद्रिय भौंरा, बर्र आदि जीवोंके कान नहीं हैं। क्योंकि कर्ण इंद्रिय आवरण कर्मके सर्वघातिस्पर्द्धकोंका क्षयोपशम नहीं है। अथवा मनुष्य आयु या तिर्यञ्च आयु अथवा नरक आयुको बांध चुका मनुष्य महाव्रतों और अणुव्रतोंको धारण नहीं कर सकता है, क्योंकि व्रतियोंके होनेवाले परिणामोंका अभाव है। नरकोंसे आकर जीव तीर्थंकर हो सकते हैं। किन्तु नारायण, चक्रवर्ती, बलभद्र, नहीं हो सकते हैं। क्योंकि तिस जातिका पुण्य उनके पास नहीं है। इत्यादिक आत्माके परिणामोंके अनुसार अनेक अतीन्द्रिय पदार्थोंके विधि या निषेध आर्षशास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं। एक अविनाभावी हेतुसे द्वितीयका अनुमान कर लिया जाता है।

लोकप्रसिद्धानि पुनर्नास्त्यस्य दक्षिणं शृंगं शृंगारंभकाभावादिति सहचरव्यापककारणानुपलब्धिः। दक्षिणशृंगसहचारिणो हि वामशृंगस्य व्यापकं शृंगमात्रं तस्य कारणं

तदारंभकाः पुद्गलविशेषाः तदनुपलब्धिर्दक्षिणशृंगस्याभावं साधयत्येव । सहचरव्यापक-कारणकारणानुपलब्धिस्तत्रैव शृंगारंभकपुद्गलसामान्याभावादिति प्रतिपत्तव्यानि ।

लोकमें प्रसिद्ध हो रहे तो अनुपलब्धिके उदाहरण फिर इस प्रकार हैं कि घोडेके (पक्ष) दक्षिण [दाहिना] सींग नहीं है (साध्य), सींगको बनानेवाले पुद्गलस्कन्धोंका अभाव होनेसे (हेतु)। भावार्थ—घोडेके शिरमें ऐसे स्कन्ध नहीं हैं, जो कि सीधे या डेरे सींगको बना सकें। यहां दक्षिणसींगका सहचारी डेरा सींग है। उसका व्यापक सामान्यरूपसे सभी सींग हैं। उनके कारण उन सींगोंको बनानेवाले विशेषजातिके पुद्गल हैं, जो कि गाय, भैंस, आदिमें पाये जाते हैं। इनकी अनुपलब्धि हेतु दक्षिणसींगके अभावको साध ही देती है। अतः यह लोकमें प्रसिद्ध हो रही सहचरव्यापक-कारणकी अनुपलब्धि है। तथा सहचरव्यापककारणकारणकी अनुपलब्धि तो इस प्रकार समझना कि उस ही को साध्य करनेमें यानी अश्वके सीधी ओरका सींग नहीं है (प्रतिज्ञा) क्योंकि सींगको बनानेवाले पुद्गल सामान्यका अभाव है। अङ्गोपाङ्ग नामकर्मके उदयसे आहारवर्गणा द्वारा बनाये गये सींगके उपयोगी पुद्गलसामान्यका अश्वमें अभाव है। यहां दक्षिणशृंगका सहचारी वामशृंग है। उसका व्यापक शृंगसामान्य है। उसका कारण उसको बनानेवाले पुद्गलविशेष हैं। उनके भी कारण सामान्य पुद्गल हैं, जो कि सींगके उपयोगी हो रहे विशेषपुद्गलको बनाया करते हैं। उनकी अनुपलब्धि होनेसे घोडेके शिरमें दक्षिणसींगका अभाव साधा गया है। अतः यह सहचरव्यापक-कारण कारण अनुपलब्धि है। एवं देवदत्त शास्त्रीय परीक्षामें उत्तीर्ण नहीं है। क्योंकि प्रवेशिकामें उत्तीर्ण नहीं हो सका है। निषेध्य शास्त्रीय परीक्षाकी कारण विशारद परीक्षा है, उस विशारदका भी कारण प्रवेशिका है। अतः यह कारणकारण अनुपलब्धि है। पूर्वचर, पूर्वचर, अनुपलब्धि भी यह हो सकती है। इसी ढंगसे इतर भी उदाहरण समझ लेने चाहिये।

उपलब्ध्यनुपलब्धिभ्यामित्येवं सर्वहेतवः ।
संगृह्यन्ते न कार्यादित्रितयेन कथंचन ॥ ३३० ॥
नापि पूर्ववदादीनां त्रितयेन निषेधने ।
साध्ये तस्यासमर्थत्वाद्द्विधा चैव प्रयुक्तितः ॥ ३३१ ॥

इस प्रकार पूर्वमें दिखलायी गयी उपलब्धियों और अनुपलब्धियोंकरके तो संपूर्ण हेतुओंका संग्रह कर लिया जाता है। किन्तु कार्य, स्वभाव, अनुपलब्धि, इस बौद्धोंके माने हुए हेतुत्रयसे कैसे भी सम्पूर्ण हेतुओंके भेद संग्रहीत नहीं हो पाते हैं। तथा पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतो दृष्ट इन तीन हेतुओं करके भी सभी हेतुओंका संग्रह नहीं हो पाता है। क्योंकि निषेधको साध्य करनेमें वे पूर्वचर आदि तीनों भी असमर्थ हैं। इस कारण, जैनसिद्धान्त अनुसार उपलब्धि और अनुपलब्धि ये दो

प्रकारके ही हेतु प्रयुक्त किये गये हैं। गौण और मुख्य रूपसे विधि और निषेध दोनोंको साधनेवाले इन दो हेतुओंमें ही करोडो, असंख्यों, भेदोंका गर्भ हो जाता है। फिर भी इनका बडा पेट बचा रहता है।

ननु च कार्यस्वभावानुपलब्धिभिः सर्वहेतूनां संग्रहो माभूत् सहचरादीनां तत्रान्तर्भावयितुमशक्तेः। पूर्ववदादिभिस्तु भवत्येव, विधौ निषेधे च पूर्ववतः परिशेषानुमानस्य सामान्यतो दृष्टस्य च प्रवृत्त्यविरोधात्सहचरादीनामपि तत्रांतर्भावयितुं शक्यत्वात् ते हि पूर्ववदादिलक्षणयोगमनतिक्रामंतो न ततो भिद्यंत इति कश्चित्। सोपि यदि पूर्ववदादीनां साध्याविरुद्धानामुपलब्धिं विधौ प्रयुंजीत निषेध्यविरुद्धानां च प्रतिषेधे निषेध्यस्वभावकारणादीनां त्वनुपलब्धिं तदा कथमुपलब्ध्यनुपलब्धिभ्यां सर्वहेतुसंग्रहं नेच्छेत्।

नैयायिक शंका करते हैं कि बौद्धों द्वारा माने गये कार्य, स्वभाव, अनुपलब्धि हेतुओंकरके भले ही संपूर्ण हेतुओंका संग्रह नहीं होवे। क्योंकि सहचर, पूर्वचर, आदिकोंका उन तीनमें अंतर्भाव करनेके लिये सामर्थ्य नहीं है। किन्तु पूर्ववत् आदि भेदोंकरके तो सब हेतुओंका संग्रह हो ही जाता है। देखिये, विधि और निषेधको साध्य करनेमें पूर्ववत् हेतुकी और प्रसंग प्राप्तोंका निषेध किये जा चुकनेपर परिशेषमें अवशिष्ट रहे का अनुमान करानेवाले शेषवत् हेतुकी तथा सामान्यतो दृष्ट हेतुकी प्रवृत्ति होनेमें कोई विरोध नहीं आता है। सहचर, पूर्वचर, आदिकोंका भी उन पूर्ववत् आदिकोंमें अन्तर्भाव किया जा सकता है। कारण कि वे सहचर आदिक हेतु पूर्ववत् आदिके लक्षणके सम्बन्धको नहीं अतिक्रमण करते हुये उन पूर्ववत् आदिकोंसे भिन्न नहीं हो रहे हैं। इस प्रकार कोई अक्षपादका अनुयायी कह रहा है। अब आचार्य कहते हैं कि वह नैयायिक भी यदि साध्यसे अविरुद्ध हो रहे पूर्ववत् आदिकोंकी उपलब्धिको विधि साधनेमें प्रयोग करेगा और निषेध्यसे विरुद्ध हो रहे पूर्ववत् आदिकोंकी उपलब्धिको प्रतिषेध साधनेमें प्रयुक्त करेगा तथा निषेध करने योग्य स्वभाव, कारण, आदिकोंकी अनुपलब्धिको विधि और निषेधको साधनेमें प्रयुक्त करेगा तब तो उपलब्धि और अनुपलब्धि हेतुओंकरके ही सब हेतुओंके संग्रहको क्यों नहीं इच्छेगा, अर्थात् विधि और निषेधको साधनेवाली उपलब्धि तथा विधि और निषेधको साधनेवाली अनुपलब्धिके ढंगपर ही संपूर्ण हेतुओंका संग्रह होना बनता है। अन्यथा नहीं।

पूर्ववत्कारणात्कार्येनुमानमनुमन्यते।
शेषवद्कारणे कार्याद्विज्ञानं नियतस्थितेः॥ ३३२॥
कार्यकारणनिर्मुक्तादर्थात्साध्ये तथाविधे।
भवेत्सामान्यतो दृष्टमिति व्याख्यानसंभवे॥ ३३३॥

विधौ तदुपलंभः स्युर्निषेधेनुपलब्धयः ।
ततश्च षड्विधो हेतुः संक्षेपात्केन वार्यते ॥ ३३४ ॥

कारणसे कार्यमें (का) अनुमान करानेवाला पूर्ववत् हेतु माना जाता है । और कार्यसे कारणमें अनुमान करानेवाला शेषवत् है । विषये सप्तमी विभक्तिः । क्योंकि हेतुकी अपने साध्यके साथ नियत स्थिति होनी चाहिये तथा कार्यकारणरहित पदार्थसे तिस प्रकारके कार्यकारणरहित साध्यमें जिस हेतुसे अनुमान किया जायगा वह सामान्यतो दृष्ट हेतु होगा । यदि इस प्रकार नैयायिकोंद्वारा व्याख्यान होना संभव है, तब तो विधिको साधनेमें उन पूर्ववत् आदि तीनके उपलम्भ हुये और निषेधको साधनेमें उन तीनकी अनुपलब्धियां हुईं । तिस ढंग करके तो संक्षेपसे हुये छह प्रकारके हेतुका कौन निवारण करता है ? अर्थात् हम स्याद्वादी भी किसी अपेक्षासे पूर्ववत् आदिकोंकी उपलब्धि और अनुपलब्धिके भेदसे छह प्रकारका हेतु अभीष्ट करते हैं । किसी भी वस्तुके प्रकारोंकी गणना अनेक अपेक्षाओंसे भिन्न भिन्न ढंगकी हो जाती है ।

अत्र निषेधेनुपलब्धय एवेति नावधार्यते स्वभावविरुद्धोपलब्ध्यादीनामपि तत्र व्यापारात् तत एव विधावेवोपलब्धय इति नावधारणं श्रेय इत्युक्तमार्यं ।

इस प्रकरणमें निषेधको साधनेमें अनुपलब्धियां ही उपयोगी हो रही हैं, यह अवधारण नहीं करना चाहिये । क्योंकि स्वभावसे विरुद्ध उपलब्धि आदिकोंका भी उस निषेधको साधनेमें व्यापार हो रहा है । यहां अग्नि नहीं है, क्योंकि विशेष ठंड छूई जा रही है । इसमें अग्निके स्वभाव उष्णपनसे विरुद्ध शीतपनेकी उपलब्धिसे अग्निका अभाव साधा गया है । तिस ही कारण विधिको साधनेमें ही उपलब्धियां चलती हैं । यह अवधारण (आग्रह) करना श्रेष्ठ नहीं है । देखो, शीतस्पर्शकी विधिको साधनेमें अग्नि आदि उष्ण द्रव्योंकी अनुपलब्धि हेतु माना जाता है । इस बातको हम पूर्व प्रकरणोंमें कह ही चुके हैं ।

एतेन प्राग्व्याख्यानेपि पूर्ववदादीनामुपलब्धयस्तिस्रोनुपलब्धयश्चेति संक्षेपात् षड्विधो हेतुरनिवार्यत इति निवेदितं । अतिसंक्षेपाद्विशेषतो द्विविध उच्यते सामान्यादेक एवान्यथानुपपत्तिनियमलक्षणोर्थ इति न किंचिद्विरुद्धमुत्पश्यामः ।

इस कथनसे यह भी निवेदन कर दिया गया समझो कि पूर्वमें किये हुये व्याख्यानमें भी पूर्ववत् आदिकोंकी उपलब्धियां तीन हैं । और पूर्ववत् आदिकोंकी अनुपलब्धियां तीन हैं । इस प्रकार संक्षेपसे छह प्रकारका हेतु नहीं निवारण किया जाता है । हां, अत्यन्त संक्षेपसे भेदोंकी विवक्षा करनेपर तो दो प्रकारका हेतु कहा जाता है । और सामान्यकी अपेक्षासे तो अन्यथानुपपत्तिरूप नियम नामके लक्षणसे युक्त हो रहा यह हेतु एक ही है । इस प्रकार कथन करनेमें कुछ भी विरुद्ध हमको नहीं दीख रहा है । अर्थात् सामान्यकी अपेक्षासे एक ही हेतु अन्यथानुपपत्तिस्वरूप

है । और विशेषभेदोंकी अपेक्षा करनेपर अतिसंक्षेपसे दो प्रकार है । वे दो भेद उपलब्धि, अनुपलब्धि हैं । तथा संक्षेपसे पूर्ववत् आदिके साथ उपलब्धि अनुपलब्धिको जोडकर छह प्रकारका हेतु है । एवम् विस्तारसे अनेक भेद हो सकते हैं ।

षड्विधो हेतुः कुतो न निवार्यत इत्याह—

नैयायिक और जैनोंके अर्द्धसम्मेलन अनुसार मान लिया गया छह प्रकारका हेतु क्यों नहीं निवारित किया जाता है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं ।

केवलान्वयिसंयोगी–वीतभूतादिभेदतः ।
विनिर्णीताविनाभावहेतूनामत्र संग्रहात् ॥ ३३५ ॥

केवलान्वयी आदिक, संयोगी आदिक, वीत आदिक, भूत आदिक, भेदोंसे मान लिये गये सभी हेतुओंका इन छह हेतुओंमें संग्रह हो जाता है । किन्तु उन केवलान्वयी आदिकोंका अपने साध्यके साथ अविनाभाव विशेषरूपसे निर्णीत हो चुका रहना चाहिये अर्थात् जिन हेतुओंका अपने साध्यके साथ अविनाभावरूप–नियम निश्चित हो रहा है, वे वीत आदिक कोई भी हेतु होंय इन दो, या छह भेदोंमें ही गर्भित हो जाते हैं । जैसे कि मनुष्य आयुका उदय होनेसे लंगडे, अंधे, चमार, चाण्डाल, सम्मूर्च्छन, भोगभूमिया नर, लडकिया, वृद्धायें, हीजडा, ये सब भेद मनुष्योंमें अन्तर्भूत हो जाते हैं ।

न हि केवलान्वयिकेवलव्यतिरेक्यन्वयव्यतिरेकिणः संयोगिसमवायिविरोधिनो वा वीतावीततदुभयस्वभावा चाभूतादयो वा कार्यकारणानुभयोपलंभानतिक्रामं नियतो नियतहेतुभ्योन्ये भवेयुरविनाभावनियमलक्षणयोगिनां तेषां तत्रैवांतर्भवनादिति प्रकृतमुपसंहरन्नाह ।

केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी, अन्वयव्यतिरेकी और संयोगी, समवायी, विरोधी, अथवा वीत, अवीत, उन वीतावीत दोनों स्वभाववाले तथा भूत, अभूत, भूताभूत ये माने गये हेतुओंके भेद (कर्ता) कार्य, कारण, अकार्यकारण उपलब्धियोंका अतिक्रमण नहीं करते हैं, जिससे कि हमारे नियम युक्त हो रहे हेतुओंसे न्यारे हो जाते । अविनाभाव नामके नियमरूप लक्षणसे युक्त हो रहे उन केवलान्वयी आदिकोंका उन पूर्ववत् आदिमें ही अन्तर्भाव हो जाता है । अर्थात् " पूर्ववत्कारणात्कार्येऽनुमानमनुमन्यते " इत्यादि दो कारिकाओं द्वारा पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतो दृष्टका व्याख्यान जो कारण, कार्य और अकार्यकारण किया गया है, तदनुसार इन कारण हेतु आदिमें ही सम्पूर्ण केवलान्वयी, भूत, आदिकोंका अन्तर्भाव हो जाता है । आवश्यकता (शर्त) यह है कि उन हेतुओंमें अविनाभावलक्षण घटित होना चाहिये। इस प्रकार प्रकरणप्राप्त व्याख्यानका उपसंहार करते हुये आचार्य महाराज अंतिम निर्णय कहते हैं कि—

अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं साधनं ततः ।
सूक्तं साध्यं विना सद्भिः शक्यत्वादिविशेषणं ॥ ३३६ ॥

तिस कारण अन्यथानुपपत्ति ही है एक लक्षण जिसका, ऐसा समीचीन हेतु होता है। साधनेके लिये शक्यपना और वादीको अभीष्ट होनापन तथा प्रतिवादीको अप्रसिद्ध होनापन इन तीन विशेषणोंसे युक्त हो रहे साध्यके विना जो हेतु नहीं रहता है, वह सज्जनों करके समीचीन हेतु कहा गया है। अथवा अन्यथानुपपत्तिनामक एक ही लक्षणसे युक्त समीचीन हेतु होता है। और शक्यपन, अभिप्रेतपन, अप्रसिद्धपन, इन तीन विशेषणोंसे युक्त साध्य होता है। यों सज्जन विद्वानों करके बहुत अच्छा कहा जा चुका है।

एवं हि यैरुक्तं " साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततो परं । साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः॥ " इति तैः सूक्तमेव, अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणसाधनविषयस्य साध्यत्वप्रतीतेस्तदविषयस्य प्रत्यक्षादिविरुद्धस्य साधयितुमशक्यस्य प्रसिद्धस्यानभिप्रेतस्य वा साध्याभासत्वनिर्णयात् । तत्र हि—

तब तो जिन वादियोंने इस प्रकार कहा था कि साधन करसकनेके योग्य और वादीको इष्ट हो रहा तथा प्रतिवादी या तटस्थ पुरुषोंको विवादापन्न होकर असिद्ध हो रहा धर्म साध्य होता है। उससे भिन्नधर्म साध्याभास कहा जाता है। जो कि विरुद्ध, बाधित, आदि हेतुओं (हेत्वाभासों) द्वारा कहा गया है। समीचीन साधनके विषय नहीं होनेसे वे अशक्य, अनभिप्रेत और प्रसिद्ध हो रहे धर्म साध्याभास कहे जाते हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो उन वादियोंने बहुत ही अच्छा कहा था। उनकी विद्वत्ताकी जितनी भी प्रशंसा की जाय थोडी है। क्योंकि अन्यथानुपपत्ति नामक एक लक्षणवाले हेतु द्वारा साधेगये विषयको साध्यपना प्रतीत हो रहा है। उस अविनाभावी हेतुका अविषय साध्य नहीं होता है। जो कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे विरुद्ध है। इस ही कारण जो साध्य करनेके लिये अशक्य है, और जन समुदायमें प्रसिद्ध हो रहा है, अथवा जो वादीको अभीष्ट नहीं है, क्योंकि सन्मुख बैठे हुये पुरुषोंको समझानेके लिये वादीकी ही इच्छा होती है, ऐसे बाधित, प्रसिद्ध, अनिष्ट, होरहे धर्मको साध्याभासपनेका निर्णय हो रहा है। साध्यके लक्षण हो रहे उन तीन विशेषणोंमें यों व्यवस्था है। कारण कि—

शक्यं साधयितुं साध्यमित्यनेन निराकृतः ।
प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्न पक्ष इत्येतदास्थितम् ॥ ३३७ ॥

इस प्रकार साधनेके लिये शक्य जो होगा वह साध्य है। इस शक्य विशेषणकरके प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे निराकृत कर दिया गया पक्ष नहीं होना चाहिये, यह सिद्धान्त व्यवस्थित किया

है। अर्थात् जिस प्रतिज्ञावक्यमें प्रत्यक्ष आदिसे बाधा उपस्थित होगी वह साध्यकोटिमें नहीं स्थिर रह सकेगा। " प्रत्यक्षनिराकृतो न पक्षः "।

तेनानुष्णोग्निरित्येष पक्षः प्रत्यक्षबाधितः।
धूमोनग्निज एवायमिति लैंगिकबाधितः॥ ३३८॥
प्रेत्यासुखप्रदो धर्म इत्यागमनिराकृतः।
नृकपालं शुचीति स्याल्लोकरूढिप्रबाधितः॥ ३३९॥
पक्षाभासः स्ववाग्बाध्यः सदा मौनव्रतीति यः।
स सर्वोपि प्रयोक्तव्यो नैव तत्त्वपरीक्षकैः॥ ३४०॥

तिस कारण अर्थात् साध्यके लक्षणमें शक्यपद डाल देनेसे इनकी व्यावृत्ति हो जाती है कि अग्नि अनुष्ण (ठंडी) है, यों यह पक्ष स्पर्शन इंद्रियजन्य प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित है और धुआ तो अग्निभिन्न पदार्थोंसे ही उत्पन्न है, यह प्रतिज्ञा अनुमानसे बाधित है। क्योंकि अग्निसे उत्पन्न हुआ धुआं है। इस प्रकार अव्यभिचारी कार्यकारणभावका अनुमान कर लिया गया है। तथा धर्मपालन करना मरनेके पीछे सुख देनेवाला नहीं है, यह पक्ष आगमप्रमाणसे निराकृत हो जाता है। क्योंकि प्रायः सर्व ही वादियोंके अभीष्ट शास्त्रोंमें धर्मपालनद्वारा परलोकमें सुखप्राप्ति होना माना गया है। " धर्मः सुखस्य हेतुः " " धर्मेण गमनमूर्ध्वं " " यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म. " " धर्मात्प्रभवति सुखं " " संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे " इत्यादि आगमोंके निर्दोष वाक्य हैं। एवं मनुष्यके शिरका कपाल शुद्ध है, (प्रतिज्ञा) प्राणीका अंग होनेसे, यह पक्ष लोकरूढिसे प्रबाधित हो रहा है। कोई भी सत्कर्मा मनुष्य खोपडीको पवित्र नहीं मानता है। अघोरी या कुत्सितमंत्रोंको साधनेवालोंकी कथा न्यारी है। तथैव अपने वचनोंसे ही बाधी जा रही यह प्रतिज्ञा पक्षाभास है कि कोई चिल्लाकर कहे कि मै सर्वदा मौनव्रत रखता हूं, इत्यादि और भी जो पक्षाभास (साध्याभास) हैं, वे सभी तत्त्वोंकी परीक्षा करनेवाले विद्वानोंकरके नहीं प्रयोग करने चाहिये। क्योंकि हम जैनोंने शक्य यानी अबाधितको ही साध्य अभीष्ट किया है।

शब्दक्षणक्षयैकांतः सत्त्वादित्यत्र केचन।
दृष्टांताभावतोशक्यः पक्ष इत्यभ्यमंसत॥ ३४१॥
तेषां सर्वमनेकान्तमिति पक्षो विरुध्यते।
तत एवोभयोः सिद्धो दृष्टांतो न हि कुत्रचित्॥ ३४२॥

प्रमाणबाधितत्वेन साध्याभासत्वभाषणे ।
सर्वस्तथेष्ट एवेह सर्वथैकांतसंगरः ॥ ३४३ ॥

यहां कोई बौद्ध विद्वान् इस प्रकार मान बैठे हैं कि शब्दमें क्षणिकपनके एकान्तको साधने पर सत्त्वात् यह हेतु दृष्टान्त नहीं मिल सकनेके कारण अशक्य भी पक्ष मानलिया गया है। फिर जैनोंद्वारा साध्यका विशेषण शक्य क्यों लगाया जाता है ? इसपर आचार्य कहते हैं कि तब तो उनके यहां तिस ही कारण यानी दृष्टांत नहीं मिल सकनेसे संपूर्ण पदार्थ अनेक धर्मवाले हैं, इस प्रकार प्रतिज्ञा बोलना विरुद्ध हो जावेगा। दोनोंके यहां पहिलेसे प्रसिद्ध हो रहा दृष्टान्त तो कहीं भी नहीं मिल सकता है। अतः अशक्यका अर्थ दृष्टान्तका अभाव करना ठीक नहीं। यदि प्रमाणोंसे बाधित हो जानेके कारण सबको अनेकान्तपनके इस साधनेको साध्याभासपना कहोगे तब तो तिस प्रकार सब पदार्थोंके सर्वथा एकान्तपनकी प्रतिज्ञा यहां इष्ट ही करली गयी। किन्तु सर्वथा एकान्त भी तो प्रमाणसे बाधित है।

तथा साध्यमभिप्रेतमित्यनेन निवार्यते ।
अनुक्तस्य स्वयं साध्यभावाभावः परोदितः ॥ ३४४ ॥
यथा ह्युक्तो भवेत्पक्ष तथानुक्तोपि वादिनः ।
प्रस्तावादिबलात्सिद्धः सामर्थ्यादुक्त एव चेत् ॥ ३४५ ॥
स्वागमोक्तोपि किं न स्यादेव पक्षः कथंचन ।
तथानुक्तोपि चोक्तो वा साध्यः स्वेष्टोस्तु तात्त्विकः ॥
नानिष्टोतिप्रसंगस्य परिहर्तुमशक्तितः ॥ ३४६ ॥ (षट्पदम्)

तथा वादीको अभिप्रेत हो रहा साध्य होता है। यों साध्यके लक्षणमें पड़े हुये अभिप्रेत इस विशेषण करके अनिष्टको स्वयं ही साध्यपना निवारण कर दिया जाता है। दूसरे वादियोंने भी अनिष्टका साध्यपना नहीं कहा है। अथवा शब्दद्वारा भले ही साध्यको न कहा होय, यदि वादीने अन्य अभिप्रायोंसे समझा दिया है तो वह भी साध्य हो जाता है। अनुक्तको साध्यरहितपनका अभाव है। कारण कि जिस प्रकार वादीके द्वारा कंठोक्त कह दिया गया पक्ष हो जाता है, उसी प्रकार वादीकरके नहीं कहा गया किन्तु अभिप्रेत हो रहा भी पक्ष हो जाता है। यदि कोई यों कहे कि प्रस्ताव, प्रकरण, अवसर, आदिके बलसे सिद्ध हो रहा भी पक्षसामर्थ्यसे कह दिया गया ही समझो, तब तो हम सिद्धान्ती कहेंगे कि अपने प्रामाणिक आगमोंसे कहा गया भी कथंचित् पक्ष क्यों नहीं हो सकेगा ? तब तो यह सिद्ध हुआ कि उक्त हो

अथवा अनुक्त भी होय यदि वादीको स्वयं इष्ट है, वह तो यथार्थरूपसे साध्य हो जावेगा। हां, जो वादीको इष्ट नहीं है, वह कैसे भी साध्य नहीं हो सकता है। क्योंकि अतिप्रसंगका परिहार नहीं किया जा सकता है अर्थात् मीमांसकोंको शब्दका क्षणिकपना और जैनोंको या बौद्धोंको आत्माका कूटस्थपना भी साध्य करनेके लिये बाध्य होना पडेगा, जो कि इष्ट नहीं है।

ननु नेच्छति वादीह साध्यं साधयितुं स्वयम्।
प्रसिद्धस्यान्यसंवित्तिकारणापेक्ष्य वर्तनात् ॥ ३४७ ॥
प्रतिवाद्यपि तस्यैतन्निराकृतिपरत्वतः।
सभ्या नोभयसिद्धान्तवेदिनोऽपक्षपातिनः ॥ ३४८ ॥
इत्ययुक्तमवक्तव्यमभिप्रेतविशेषणम्।
जिज्ञासितविशेषत्वमिवान्ये संप्रचक्षते ॥ ३४९ ॥

यहां शंका है कि वादी स्वयं तो साध्यको साधनेके लिये इच्छा नहीं करता है। प्रसिद्ध हो रहे पदार्थकी अन्यको सम्वित्ति करादेनेकी अपेक्षासे वादी प्रवर्त रहा है और प्रतिवादी भी उस साध्यके इस प्रकरण प्राप्त निराकरणको करनेमें तत्पर हो रहा है। निकटमें बैठे हुए सभाके जन तो पक्षपातरहित हैं और वादी प्रतिवादी दोनोंके सिद्धान्तोंको जाननेवाले नहीं हैं। इस कारण साध्यके लक्षणमें अभिप्रेत यह विशेषण लगाना अयुक्त है। जैनोंको साध्य इष्ट नहीं कहना चाहिये। जैसे कि जाननेकी इच्छाका विषयपना यह साध्यका विशेषण नहीं कहा जाता है अर्थात् वादीकी अपेक्षासे यदि साध्यका इष्ट विशेषण लगाया जाता है, तो प्रतिवादीकी अपेक्षासे साध्यका विशेषण जिज्ञासितपना भी लगाना चाहिये। क्योंकि प्रतिवादीको जिसकी जिज्ञासा होगी उस विषयका प्रतिपादन वादी करता है। यदि जैन यों कहें कि प्रतिवादी तो किसी तत्त्वकी जिज्ञासा नहीं करता है। वह तो खण्डन करनेके लिये आवेशयुक्त होकर संनद्ध हो रहा है, तब तो वादीकी ओरसे भी कुछ कहे जाना मान लिया जाय, इष्ट विशेषण लगाना व्यर्थ है। सभ्य पुरुषोंमें बहुभाग विनोद चाहनेवाले होते हैं। वे इष्ट और जिज्ञासितकी ओर नहीं ढूंकते हैं। इस प्रकार कोई अन्य शंकाकार आटोपसहित बखान रहे हैं।

तदसद्वादिनेष्टस्य साध्यत्वाप्रतिघातितः।
स्वार्थानुमासु पक्षस्य तन्निश्चयविवेकतः ॥ ३५० ॥

आचार्य कहते हैं कि उनका वह कहना सत्य नहीं है। क्योंकि वादीद्वारा इष्ट हो रहे धर्मके साध्यपनका प्रतिघात नहीं किया जा सकता है। भले ही प्रतिवादी खण्डन करे किन्तु वादी

अपने अभीष्ट साध्यको प्रतिवादीके सन्मुख समीचीन हेतुओंसे साधता ही रहेगा। जिस सभामें विद्वान् वादी, प्रतिवादी, सभाजन, दर्शक आदि बैठे हुये हैं, ऐसी दशामें भला वादी अन्ट सन्ट क्यों बकता फिरेगा। यह कोई गंवारोंका खिलवाड नहीं है। न कोई यों ही ठलुआ बैठा है। दूसरी बात यह है कि स्वार्थानुमानोंमें किये गये पक्षका तो उस इष्टपनेकरके निश्चयका विचार कर लिया गया है, जैसे कि स्वयं ही दूरवर्ती धूमको देखकर अभीष्ट अग्निका अनुमान कर लिया जाता है।

परार्थेष्वनुमानेषु परो बोधयितुं स्वयम्।
किं नेष्टस्येह साध्यत्वं विशेषानभिधानतः ॥ ३५१ ॥

और दूसरे प्रतिपाद्योंके लिये किये गये अनुमानोंमें तो दूसरा प्रतिपाद्य ही स्वयं समझानेके लिये योग्य होता है। जो वादीको इष्ट है वही तो प्रतिपाद्यको समझाया जावेगा, जैसे कि भूषणोंको बेचनेवाला सर्राफ ग्राहकको अपने निकटवर्ती भूषण मोल लेनेके लिये समझाता है। अत यहां स्वार्थ अनुमान परार्थअनुमान इन विशेषोंके नहीं कथन करनेसे सामान्यकरके इष्टको साध्यपना क्यों नहीं अभीष्ट किया जाता है ?

इष्टः साधयितुं साध्यः स्वपरप्रतिपत्तये।
इति व्याख्यानतो युक्तमभिप्रेतविशेषणं ॥ ३५२ ॥

जो वादीको अभीष्ट हो रहा है, वही अपने और दूसरेकी प्रतिपत्तिके अर्थ साधनेके लिये साध्य मानना चाहिये, इस प्रकार व्याख्यान करनेसे साध्यका विशेषण अभिप्रेत (इष्ट) लगाना युक्त है। यहांतक साध्यके शक्य और अभिप्रेत इन दो विशेषणोंका विचार कर दिया गया है। अब तीसरे अप्रसिद्ध विशेषणकी सफलताको दिखलाते हैं।

अप्रसिद्धं तथा साध्यमित्यनेनाभिधीयते।
तस्यारेका विपर्यासाव्युत्पत्तिविषयात्मता ॥ ३५३ ॥
तस्य तद्व्यवच्छेदत्वात्सिद्धिरर्थस्य तत्त्वतः।
ततो न युज्यते वक्तुं व्यस्तो हेतोरपाश्रयः ॥ ३५४ ॥

तथा वादीके द्वारा कहा गया साध्य प्रतिवादी या प्रतिपाद्य-श्रोताओंको अप्रसिद्ध होना चाहिये। अतः इस अप्रसिद्ध विशेषणकरके यह कहा जाता है कि वह साध्य श्रोताओंके संशय, विपर्यय, और अज्ञानका विषयस्वरूप हो रहा है। वादीके द्वारा साध्यका ज्ञान करादेने पर श्रोताओंके उन संशय, विपर्यय, अज्ञानोंका व्यवच्छेद हो जानेसे अर्थकी यथार्थरूपसे सिद्धि हो

जाती है । तिस कारण यह कहनेके लिये युक्ति नहीं है कि तीन समारोपोंमेंसे एक ही संशयका हेतु द्वारा निराकरण होता है । भावार्थ—साध्यका निर्णय हो जानेसे प्रतिपाद्यके समस्त संशय, विपर्यय, और अज्ञानोंका निवारण हो जाता है ।

संशयो ह्यनुमानेन यथा विच्छिद्यते तथा ।
अव्युत्पत्तिविपर्यासावन्यथा निर्णयः कथं ॥ ३५५ ॥

कारण कि जिस प्रकार अनुमान ज्ञानकरके सशयका विच्छेद करा दिया जाता है, तिस ही प्रकार अव्युत्पत्ति (अन ध्यवसाय अज्ञान) और विपर्ययका भी विच्छेद करा दिया जाता है । अन्यथा यानी सशयके दूर हो जानेपर भी विपर्यय और अज्ञानोंके टिके रहनेसे भला निर्णय हो गया कैसे कहा जा सकता है ? अत प्रमाणज्ञानसे तीनों समारोपोंकी निवृत्ति होना मानना चाहिये ।

अव्युत्पन्नविपर्यस्तौ नाचार्यमुपसर्पतः ।
कौचेदेव यथा तद्वत्संशयात्मापि कश्चन ॥ ३५६ ॥
नावश्यं निर्णयाकांक्षा संदिग्धस्याप्यनर्थिनः ।
संदेहमात्रकास्थानात्स्वार्थसिद्धौ प्रवर्तनात् ॥ ३५७ ॥

यदि कोई यों कहे कि कोई कोई अज्ञानी और विपर्ययज्ञानी पुरुष तो यों ही प्रमाद या कोरी ऐंठमें बैठे रहते हैं । निर्णय करानेके लिये बहुज्ञानी आचार्य महाराजके पास उत्साहसहित होकर नहीं जाते हैं । किन्तु संशय रखनेवाला पुरुष निर्णय करानेके लिये विशेष ज्ञानीके निकट चावसे दौडता है । इसपर हम जैनोंका यह कहना है कि जैसे कोई कोई अज्ञानी, विपर्ययज्ञानी वस्तुका यथार्थ निर्णय करानेके लिये विद्वान् आचार्यके निकट नहीं जाते हैं, उन्हींके समान कोई सदेहवाला पुरुष भी तो प्रमादवश होता हुआ निर्णय करानेके लिये गुरुके निकट जाकर नहीं पूछता है । प्रत्येक असर्वज्ञको असंख्य पदार्थोंमें संशय बना रहता है । हा, अपनी इच्छा होने पर और संशय निवृत्त हो जानेकी योग्यता होनेपर किसी अभिलाषुक जीवकी प्रवृत्ति हो जाती है । संदिग्ध भी पुरुषको यदि प्रयोजन न होनेके कारण उस वस्तुकी अभिलाषा नहीं है, तो निर्णय करानेके लिये आवश्यकरूपसे आकाक्षा नहीं होती है । सदेहमात्रमें ही वह असंख्यकालतक बैठा रहता है । हा, यदि अपने किसी अर्थकी सिद्धि होती होय तब तो निर्णय करानेके लिये प्रवृत्ति करता है । मार्गमें जाते हुये या गम्भीर शास्त्रका अन्वेषण करते हुये अपरिमित संशय उपज बैठते हैं । किसका किससे निर्णय करे । कतिपय संशयोंका साधन मिलनेपर निवारण करालिया जाता है । शेष यों ही पडे सडते रहते हैं ।

यथाऽप्रवर्तमानस्य संदिग्धस्य प्रवर्त्तनम् ।
विधीयतेनुमानेन तथा किं न निषिध्यते ॥ ३५८ ॥
अव्युत्पन्नविपर्यस्तमनसोप्यप्रवर्तनम् ।
परानुग्रहवृत्तीनामुपेक्षानुपपत्तितः ॥ ३५९ ॥

उत्साहसे नहीं प्रवर्त रहे संदिग्ध पुरुषकी अनुमानद्वारा निर्णीत साध्यमें प्रवृत्ति करा दी जाती है। और उदास (सुस्त) पनेकी अप्रवृत्तिका निषेध कर दिया जाता है। उसी प्रकार अव्युत्पन्न और विपर्यस्त मनवाले जीवोंकी भी अप्रवृत्तिका निषेध अनुमानद्वारा क्यों न करा दिया जाय? दूसरे जीवोंके अनुग्रह करनेमें सर्वदा प्रवृत्त हो रहे आचार्योंकी अज्ञानी और विपर्यय ज्ञानी जीवोंके लिये उपेक्षा [लापरवाही] नहीं हो सकती है। अर्थात् आचार्य महाराज जैसे संदिग्ध जीवको यथार्थ निर्णीत विषयमें प्रवर्ता देते हैं, उसी प्रकार अज्ञानी और मिथ्याज्ञानीको भी यथार्थ वस्तुमें लगा देते हैं। अतः अनुमानप्रमाणद्वारा तीनों समारोपोंका व्यवच्छेद होना मानना चाहिये।

अविनेयिषु माध्यस्थ्यं न चैवं प्रतिहन्यते ।
रागद्वेषविहीनत्वं निर्गुणेषु हि तेषु नः ॥ ३६० ॥
स्वयं माध्यस्थ्यमालंब्य गुणदोषोपदेशना ।
कार्या तेभ्योपि धीमद्भिस्तद्विनेयत्वसिद्धये ॥ ३६१ ॥

यहां कोई यों शंका करे कि अविनीत, मिथ्याज्ञानियोंको भी आचार्य महाराज यदि समझाकर सुमार्गमें प्रवर्त्ताते हैं, तब तो अविनीतोंमें माध्यस्थ भावना रखनेका उपदेश यों बिगडता है। तत्त्वार्थसूत्रकारने " मैत्रीप्रमोद " आदि सूत्रकरके आग्रही, विपरीतज्ञानियोंके प्रति उपेक्षा (माध्यस्थता) भावनेका निर्देश किया है। इसपर हम जैन कहते हैं कि इस प्रकार अविनीतोंमें (मध्यस्थता) मध्यस्थपना रखनेका प्रतिघात नहीं होता है। उपेक्षाका अर्थ गुणरहित उन दोषी, विपर्ययज्ञानियोंमें हमारे द्वारा रागद्वेष नहीं करना है। हमको स्वयं माध्यस्थभावनाका अवलम्ब लेकर उनके लिये भी बुद्धिमानोंकरके गुण और दोषोंका उपदेश कर देना चाहिये। तभी तो उन अविनीतोंको विनीतपना सिखाये जानेकी सिद्धि हो सकेगी। परोपकारियोंका कर्तव्य मूर्खको पंडित बनाना है। कुचारित्रवालोंको सच्चारित्रपर लाना है। अविनीतोंको विनय संपत्तिपर झुकाना है। जितने भी जीवोंने मोक्षलाभ किया है, वे पूर्वजन्मोंमें बडे अज्ञानी, कुचारित्री, विपरीत ज्ञानी थे। तभी तो आप्तवचनोंद्वारा उनका सुधारा हो सका है। पले पढायेको पाठ देना उतना कठिन नहीं है, जितना कि अरक्षितका संरक्षण करना कठिन होता हुआ वीरोचित कार्य है।

अव्युत्पन्नविपर्यस्ताप्रतिपाद्यत्वनिश्चये ।
प्रतिपाद्यः कथं नाम दुष्टोज्ञः स्वसुतो जनैः ॥ ३६२ ॥

यदि व्युत्पत्तिरहित मूर्ख और मिथ्यादृष्टी, विपरीत ज्ञानी जीवोंको नहीं प्रतिपादन करने योग्यपनेका निर्णय कर दिया जायगा तो बताओ प्रचड, दुष्ट, और वज्रमूर्ख अपना कोई लडका भला हितैषी गुरुजनोंकरके समझाने योग्य कैसे होगा ? अर्थात् अज्ञानी और आग्रही जीवोंके लिये उपदेश देना यदि नहीं माना जायगा तो मातापिताओंकरके खिलाडी मूर्ख अपने लडकेको भी सीख नहीं देनी चाहिये । किन्तु सभी हितैषीजन अपने मूर्ख, हठी, बालक, बालिकाओंको उपदेश देकर हितमार्गपर लगाते हैं । तीर्थंकर महाराजके समान सभी लडके पेटमेंसे ही सीखे सिखाये नहीं जन्मते हैं ।

लौकिकस्याप्रबोध्यत्वे कथमस्तु परीक्षकः ।
प्रबोध्यस्तस्य यत्नेन क्रमतस्तत्त्वसंभवात् ॥ ३६३ ॥
प्रतिपाद्यस्ततस्त्रेधा पक्षस्तत्प्रतिपत्तये ।
संदिग्धादिः प्रयोक्तव्योऽप्रसिद्ध इति कीर्तनात् ॥ ३६४ ॥

सदिग्ध पुरुषको ही विद्वानों द्वारा समझाया जाना माननेवाले यदि यों कहें कि लौकिक विपर्यज्ञानी तो समझाने योग्य नहीं है । अर्थात् लोकमें ऐसा ही देखा गया है कि संदेह करनेवाले विनीतोंकी शंकाका समाधान तो कर दिया जाता है । मूर्ख और विपरीतज्ञानीको तो अनेक भद्र विद्वान् नहीं समझाते हैं । टाल देते हैं । इसपर हम जैनोंका यह कहना है कि यों तो परीक्षा करनेवाला तर्की कैसे समझाया जा सकेगा । तत्त्वोंकी अन्त.प्रविष्ट होकर परीक्षा करनेवाला तो कभी किसी विषयमें मूर्ख बन जाता है । किसी विषयमें विपरीत ज्ञानी हो रहा है,उस परीक्षकको तो क्रमसे ही यत्न करके तत्त्वोंकी ज्ञप्ति कराना संभवती है । जो ठोस वक्ता विद्वान् हैं, वे तो परोपकारिणी बुद्धिसे सभी प्रकारके मिथ्याज्ञानी जीवोंको सहर्ष उत्साहसहित समझा देते हैं । सभी हितैषी प्रतिपादकोंको संसारमें अज्ञानी और विपरीतज्ञानी जीवोंके समझानेके अधिक प्रकरण प्राप्त हुये हैं । श्री अर्हत महाराज तथा उनके अनुसार चलनेवाले श्री आचार्य महाराज अथवा अनेक विद्वान पुरुष सर्वदासे अज्ञानी और मिथ्यादृष्टियोंको जितनी संख्यामें समझाते चले आ रहे हैं, सम्भवत उतनी सख्या सदिग्ध जीवोंके समझानेकी नहीं है । तिस कारण यह फल बलात् सिद्ध हो जाता है कि सदिग्ध, विपर्यस्त और अव्युत्पन्न ये तीनों ही प्रकारके जीव विद्वानों द्वारा प्रतिपादन करने योग्य हैं । अन्यथा वे परीक्षक कैसे हो सकेंगे ? केवल संदिग्ध भोले जीवोंको समझा देनेसे ही परीक्षकपनका प्रमाणपत्र नहीं मिल जाता है । अत उन तीनोंको प्रतिपत्ति करानेके लिये संदिग्ध, विपर्यस्त, और अज्ञात हो

रहा अप्रसिद्ध पक्ष वादीके द्वारा प्रयुक्त करना चाहिये। इस प्रकार साध्यके विशेषणोंका सफलता प्रतिपादक कीर्तन करते हुये व्याख्यान किया है।

सुप्रसिद्धश्च विक्षिप्तः पक्षोऽकिंचित्करत्वतः ।
तत्र प्रवर्तमानस्य साधनस्य स्वरूपवत् ॥ ३६५ ॥
समारोपे तु पक्षत्वं साधनेपि न वार्यते ।
स्वरूपेणैव निर्देश्यस्तथा सति भवत्यसौ ॥ ३६६ ॥

वादी, प्रतिवादी, सभ्य, सभापति, या बालक स्त्रियोंतकमें भले प्रकार प्रसिद्ध हो रहे पक्ष (प्रतिज्ञा) को साध्यकोटिमें रखना तो निरस्त कर दिया गया है। क्योंकि वह अकिंचित्कर है। अर्थात् अग्नि उष्ण है, जल प्यासको बुझाता है, पत्थर भारी है, इत्यादि प्रसिद्ध हो रहे विषय साध्य नहीं बनाये जाते हैं। उन प्रसिद्ध साध्योंके साधनेमें प्रवर्त रहे हेतुको कुछ भी कार्य नहीं करनेपनका दोष आता है। जैसे कि कोई हेतु अपने स्वयं स्वरूप [डील] को साधनेमें अकिंचित्कर है। हां, यदि उस साध्यमें कोई संशय, विपर्यय, अज्ञाननामका समारोप उपस्थित हो जाय, तब तो उस साध्यका पक्षपना नहीं निवारण किया जाता है। हेतुके शरीरमें भी यदि समारोप हो जाय तो उस हेतुको साध्यकोटिपर लाकर अन्य हेतुओंसे पक्ष बना लिया जाता है। कई अनुमान मालाओंमें ऐसा देखा गया है, जैसे कि अर्हंत भगवान् सर्वज्ञ हैं [प्रतिज्ञा] निर्दोष होनेसे [हेतु] अर्हंत निर्दोष हैं [प्रतिज्ञा दूसरी] युक्ति और शास्त्रसे अविरोधी बोलनेवाले होनेसे [हेतु] अर्हंत युक्ति और शास्त्रसे अविरुद्धभाषी हैं [प्रतिज्ञा तीसरी] क्योंकि उनके द्वारा कहे गये मोक्ष, मोक्षकारण, संसार, संसारकारण, तत्त्वोंका प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे विरोध नहीं आता है [हेतु] ये शास्त्रीय अनुमान हैं। लौकिक अनुमान यों समझना कि यहां उष्णता है, अग्नि होनेसे १ यहां अग्नि है, धूम होनेसे २ यहां धूम है, कंठ नेत्र आदिमें विक्षेप करनेवाला होनेसे ३ मेरे कंठ और आखोंमें खासी आसू आदि विकार हैं, क्योंकि उनसे उत्पन्न हुई पीडाका अनुभव हो रहा है, ४। अतः तिस प्रकार संदिग्ध, विपर्यस्त, अज्ञात, होता संता ही वह साध्य अपने स्वकीय रूपकरके ही निर्देश करने योग्य होता है।

जिज्ञासितविशेषस्तु धर्मी यैः पक्ष इष्यते ।
तेषां सन्ति प्रमाणानि स्वेष्टसाधनतः कथं ॥ ३६७ ॥
धर्मिण्यसिद्धरूपेपि हेतुर्गमक इष्यते ।
अन्यथानुपपन्नत्वं सिद्धं सद्भिरसंशयं ॥ ३६८ ॥

पक्ष तो प्रसिद्ध ही होना चाहिये । किन्तु जिस पक्षके जाननेकी इच्छा विशेषरूपसे उत्पन्न हो रही है, वह धर्मी पक्ष बना लिया जाता है । यह जिन प्रवादियों करके माना जा रहा है। उन नैयायिक या बौद्धोंके यहां तो " प्रमाणानि सन्ति स्वेष्टसाधनात् " प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण (पक्ष) हैं (साध्य) अपने अपने अभीष्ट तत्त्वोंकी सिद्धि होना देखा जाता है (हेतु), यह पक्ष कैसे बन सकेगा ? यहां धर्मी प्रमाणोंके सर्वथा अप्रसिद्धरूप होनेपर भी भला हेतु गमक कैसे मान लिया गया है । बताओ । किन्तु सज्जन विद्वानोंने यहां संशयरहित होकर अन्यथानुपपत्ति सिद्ध हो रही मानी है । अत यह समीचीन हेतु है । बौद्धोंका यह अभिप्राय था कि संदिग्धपुरुषको ही जिज्ञासा होती है । विपर्ययी और अज्ञानी तो जानने, समझनेकी इच्छा नहीं रखते हैं । इसपर आचार्योंने कहा है कि इष्टसाधनकी व्यवस्था होनेसे प्रमाणतत्त्व हैं । यह तो विपरीत ज्ञानी या अज्ञानियोंके प्रति ही विशेषरूपसे साधा जाता है । जो शून्यवादी या उपप्लववादी प्रमाणको कथमपि जानना नहीं चाहते हैं, उनके प्रति उक्त प्रमाण साधक अनुमान बोला गया है, तब तो प्रसिद्ध हो रहे किन्तु जिज्ञासित विशेषको पक्ष नहीं कहना चाहिये । क्षणिक सिद्धान्ती बौद्धोंके यहां प्रतिज्ञा बोल चुकनेपर हेतुकथन, व्याप्तिस्मरण, पक्षवृत्तित्वज्ञान आदि करते समय वह प्रतिज्ञा तो नष्ट हो जाती है । इस ढंगसे भी पक्ष प्रसिद्ध न हो सका । फिर प्रसिद्धको पक्ष बनानेका आग्रह क्यों किया जा रहा है ?

धर्मिसंतानसाध्याश्चेत् सर्वे भावाः क्षणक्षयाः ।
इति पक्षो न युज्येत हेतोस्तद्धर्मतापि च ॥ ३६९ ॥
प्रत्यक्षेणाप्रसिद्धत्वाद्धर्मिणामिह कात्स्न्र्यतः ।
अनुमानेन तत्सिद्धौ धर्मिसत्ताप्रसाधनं ॥ ३७० ॥

यदि बौद्ध यों कहे कि चली आरही धर्मीकी संतानको साध्य बनालिया जायगा वह संतान तो देरतक टिकती है । ऐसा कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं, यह पक्ष तुम्हारे यहां युक्त नहीं हो सकेगा तथा हेतुको उस पक्षका धर्मपना भी नहीं बन सकेगा । क्योंकि इस प्रकरणमें संपूर्णरूपसे धर्मी पदार्थोंकी प्रत्यक्ष प्रमाणसे प्रसिद्धि नहीं हो रही है । अर्थात् पक्षकोटिमें पडे हुये संपूर्ण पदार्थोंका प्रत्यक्षज्ञान प्रतिपाद्य और प्रतिपादकोंको नहीं हो रहा है । यदि अन्य अनुमानसे उन संपूर्ण पदार्थोंके ज्ञानकी सिद्धि करोगे तब तो यहां धर्मियोंकी सत्ताको प्रसिद्ध करना आवश्यक कार्य हो गया । क्षणिकत्वको साधनेवाला अनुमान गौण पड गया, जो कि माना नहीं गया है । अथवा अनुमानसे भी धर्मिओंकी सत्ताका प्रसिद्धरूपसे साधन नहीं हो सकता है ।

परप्रसिद्धितस्तेषां धर्मित्वं हेतुधर्मवत्।
ध्रुवं तेषां स्वतंत्रस्य साधनस्य निषेधकम्॥ ३७१ ॥
प्रसंगसाधनं चेच्छेत्तत्र धर्मिग्रहः कुतः।
इति धर्मिण्यसिद्धेपि साधनं मतमेव च॥ ३७२ ॥

पक्षके धर्म हो रहे हेतुके समान उन धर्मियों (सम्पूर्ण पदार्थ) की अन्यवादियोंके यहां प्रसिद्ध होनेके कारण प्रसिद्धि हो जानेसे उनको धर्मीपना दृढरूपसे निश्चित है। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहने वाले उन बौद्धोंके यहां स्वतंत्र नामके साधनका निषेध करनेवाला यह प्रसंग साधन इष्ट किया जावेगा ? किन्तु वहां भी धर्मीका ग्रहण कैसे होगा, बताओ ? भावार्थ—बाधा देनेवाले अनुमानोंके सिवाय प्रकृत साध्यको साधनेवाले हेतु दो प्रकारके होते हैं। एक स्वतंत्रसाधन है। दूसरा प्रसंगसाधन है। पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, जहां विद्यमान रहते हैं, वहांपर व्याप्तिस्मरण कराकर साध्यको साधनेवाला हेतु स्वतंत्रसाधन कहा जाता है। और परकी दृष्टिसे ही उसपर वादीको अनिष्टका आपादन करा देनेवाला हेतु प्रसंगसाधन कहलाता है। पर्वत वह्नियुक्त है, धूम होनेसे, या शद्ब परिणामी है, कृतक होनेसे, इत्यादि हेतु अपने अपने साध्यको साधनेमें स्वतंत्र हैं। प्रसंग साधन हेतुसे कोई परोक्षपदार्थ नहीं साधा जाता है। केवल थोडीसी अज्ञाननिवृत्ति करा दी जाती है। न्यारे न्यारे सौ रुपयोंकी सत्ताको माननेवाला गँवार यदि पचास रुपयोंकी उनमें सत्ता नहीं मानता है, किन्तु सौ रुपयोंका व्याप्यपना और पचास रुपयोंका व्यापकपना स्वीकार किये हुये है। उस ग्रामीणके प्रति प्रसगसाधन द्वारा यह समझाया जाता है कि फुटकर सौ रुपयोंका सद्भाव मानना पचास रुपये हुये विना असिद्ध है। इसी प्रकार तीन वीसीको नहीं माननेवाला यदि साठको मान रहा है, तो उसके लिये तीन वीसीका भी ज्ञान प्रसंगद्वारा करा दिया जाता है। कभी कभी विद्वान् पुरुषोंको भी विप्रलम्भ हो जाता है कि सौ रुपये तो हैं किन्तु पचास हैं या नहीं, तब दूसरा ज्ञान उठाकर पचासका ज्ञान किया जाता है। एक वस्तुका निर्णय करनेके लिये न जाने पूर्वमें कितने ज्ञान शीघ्रतासे हो जाते हैं। तब कहीं पीछेसे एक पक्का ज्ञान होता है। " साध्य साधनयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयको व्यापकाभावो वा व्याप्या-भावाविनाभावीत्येतत्प्रदर्श्यते येन तत्प्रसंगसाधनं " इस प्रकार धर्मीका ग्रहण करना कठिन है। तभी तो सिद्धान्तमें धर्मीके अप्रसिद्ध होनेपर भी सद्धेतु मान लिया ही गया है। अतः साध्य (पक्ष) के प्रसिद्ध होनेका आग्रह करना प्रशस्त नहीं है।

व्याप्यव्यापकभावे हि सिद्धे साधनसाध्ययोः।
प्रसंगसाधनं प्रोक्तं तत्प्रदर्शनमात्रकं॥ ३७३ ॥

साधन और साध्यके व्याप्य व्यापकभावके सिद्ध हो जानेपर व्याप्यका स्वीकार करना व्यापकके स्वीकार करनेसे अविनाभाव रखता है। इस प्रकार व्यापकका प्रदर्शन करा देना केवल इतना ही फल उस प्रसंगहेतुका अच्छा कहा गया है। कोई परोक्ष नये पदार्थकी ज्ञप्ति नहीं कराई जाती है। अर्थात् जो भोला जीव शीशोंपनसे वृक्षपनको अधिक देशवर्त्ती व्यापक मानता है, किन्तु सन्मुख देशमें शीशोंको खडा हुआ देख रहा है, फिर भी उसमें वृक्षपनेका व्यवहार नहीं कर रहा है, उस भद्र जीवको वृक्षपनका व्यवहार करादेना ही प्रसंगसाधन हेतुका फल है।

अथ निःशेषशून्यत्ववादिनं प्रति तार्किकैः।
विरोधोद्भावनं स्वेष्टे विधीयेतेति संमतं ॥ ३७४ ॥
तदप्रमाणकं तावदकिंचित्करमीक्ष्यते।
सप्रमाणकता तस्य क्व प्रमाणाप्रसाधने ॥ ३७५ ॥

अब आचार्य इस वातको कहते हैं कि संपूर्ण पदार्थोका शून्यपना कहनेकी टेववाले वादीके प्रति नैयायिकोंद्वारा जो अपने इष्ट विषयमें विरोधका उत्थापन किया जाता है, यह तो हमको भले प्रकार सम्मत है। सबसे प्रथम वह शून्यवाद प्रमाणोंसे नहीं सिद्ध होता हुआ अकिंचित्कर दीख रहा है। जब कि " सर्वं शून्यं शून्य " इस मंतव्यकी प्रमाणसे प्रकृष्टसिद्धि नहीं होगी तबतक उस शून्यवादको प्रामाणिकता कहा ठहर सकती है ? भावार्थ—शून्यवादीके यहा पहिले ही व्यवहारिकरूपसे प्रमाणोंकी सिद्धि हो चुकनेपर नैयायिकोंने इष्टसाधनहेतु द्वारा परमार्थरूपसे प्रमाणोंको सधाया है। यदि शून्यवादी प्रथमसे कथमपि प्रमाणोंको न मानते होते तो अपने अभीष्ट शून्यतत्त्वकी सिद्धि कैसे करलेते ? अतः नैयायिकोंका यह विरोध उठाना उपयुक्त है कि शून्यकी सिद्धि कर रहे हो और उपायतत्त्व प्रमाणोंको वास्तविक नहीं मान रहे हो, यह बडी पोल है।

नन्विष्टसाधनात् संति प्रमाणानीति भाषणे।
समः पर्यनुयोगोयं प्रमा शून्यत्ववादिनः ॥ ३७६ ॥
तदिष्टसाधनं तावदप्रमाणमसाधनम्।
स्वसाध्येन प्रमाणं तु न प्रसिद्धं द्वयोरपि ॥ ३७७ ॥

यहा शून्यवादीकी ओरसे शका है कि इष्टकी सिद्धि की जा रही है। इससे सिद्ध होता है कि उसके उपाय प्रमाणपदार्थ जगत्में है, इस प्रकार कथन करनेपर नैयायिकोंके ऊपर भी प्रमाणका शून्यपना माननेवाले वादीकी ओरसे यही सकटाक्ष प्रश्न उठानारूप पर्यनुयोग समानरूपसे लागू होगा। क्योंकि शून्यवादियोंको तो इष्टका साधन प्रमाणशून्यपना है। अतः इष्टसाधनद्वारा वस्तु-

भूत प्रमाणोंकी सिद्धि नहीं हो सकी है। नैयायिक, शून्यवादी, इन दोनोंके यहां भी अपने अपने साध्यके साथ प्रमाणपना तो प्रसिद्ध नहीं हुआ है अर्थात् तिस इष्टसाधनके द्वारा नैयायिक प्रमाणोंकी सिद्धि कर लेते हैं। उसी इष्ट साधनसे शून्यवादी अपने प्रमाणशून्यपनकी सिद्धि कर लेते हैं। प्रत्युत प्रमाणको बनानेकी अपेक्षा प्रमाणका मिटा देना सरल कार्य है।

तदसंगतमिष्टस्य संविन्मात्रस्य साधनं।
स्वयं प्रकाशनं ध्वस्तव्यभिचारं हि सुस्थितं ॥ ३७८ ॥
स्वसंवेदनमध्यक्षं वादिनो मानमंजसा।
ततोन्येषां प्रमाणानामस्तित्वस्य व्यवस्थितिः ॥ ३७९ ॥

आचार्य कहते हैं कि वह शून्यवादी बौद्धोंका कहना तो पूर्वापरसंगतिसे रहित है। क्योंकि उनको इष्ट हो रहे अकेले शुद्धसंवेदनका ही साधन करना उन्हें अभिप्रेत है, जो कि स्वयं प्रकाशित हो रहा और व्यभिचार दोषोंसे विनिर्मुक्त हो रहा ही भले प्रकार स्थित माना गया है। तब तो स्वसंवेदनामका प्रत्यक्ष ही वादीके यहां प्रमाण शीघ्र सिद्ध हो गया। तिस कारण अन्य इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनुमान, आदि प्रमाणोंके अस्तित्वकी भी व्यवस्था हो जाती है। कुछ भी प्रमाण, प्रमेय, स्व, पर, वादी, प्रतिवादी, स्वपक्षसाधन, परपक्षदूषण, सम्यग्ज्ञान, मिथ्याज्ञान, आदिको जो नहीं मानता है, वह तो स्वयं भी नहीं है। अतः इष्टतत्त्वके साधनेसे प्रमाणोंकी सिद्धिका आपादन करना समुचित ही है।

नन्विष्टसाधनं धर्मि प्रमाणैरपरैर्युतम्।
तदिष्टसाधनत्वस्येतरथानुपपत्तितः ॥ ३८० ॥
एवं प्रयोगतः सिद्धिः प्रमाणानामनाकुलम्।
तत्सत्ता नैव साध्या स्यात्सर्वत्रेति परे विदुः ॥ ३८१ ॥

यहा पुनः प्रतिवादीका अनुनय है कि जिन शून्यवादियोंके यहां इष्टसाधन हेतुकी प्रसिद्धि नहीं है, उनके प्रति इष्टसाधनको धर्मी बनाकर फिर दूसरे प्रमाणोंसे युक्त होना साधोगे, अन्यथा उस इष्टसाधनपनकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। यदि इस प्रकारके अनुमान प्रयोग करनेसे ही प्रमाणोंकी आकुलतारहित होकर सिद्धि मानली जायगी तब तो सभी स्थानोंपर उन प्रमाणोंकी सत्ताको नहीं साध्य करना चाहिये। इस प्रकार दूसरे विद्वान् जान रहे हैं।

यतोभयं तदेवैषां स्वयमग्रे व्यवस्थितम्।
हेतोरनन्वयत्वस्य प्रसंजनमसंशयं ॥ ३८२ ॥

सत्तायां हि प्रसाध्यायां विशेषस्यैव साधनात् ।
यथानन्वयता दोषस्तथात्राप्यनिदर्शनात् ॥ ३८३ ॥

अब आचार्य कहते हैं कि जिस बातसे इनको भय लगता था वही बात इनके सन्मुख आकर स्वयं उपस्थित होगई, अर्थात् शून्यवादी प्रमाणोंकी सिद्धिको नहीं मानना चाहते थे। इष्टसाधन हेतुका अन्वयदृष्टान्त नहीं मिलनेका उनको बल था कि अन्वयदृष्टातके विना इष्ट साधनहेतु प्रमाणोंको सिद्ध नहीं कर सकता है। हम शून्यवादियोंने अन्वयदृष्टान्त बन जानेके लिये कोई वस्तुभूत पदार्थ माना ही नहीं है। अतः हेतुके अन्वयदृष्टान्तसे रहितपनका प्रसंग देना निःसंशय हो जाता है, किन्तु उन शून्यवादियोंको विचारना चाहिये कि चाहे शून्यवादी होय या तत्त्वोपप्लववादी होय अथवा वल्लभसंप्रदायके अनुसार सर्वत्र प्रेमी भगवान्की उपासना करनेवाले होंय, उनको सम्वृत्तिसे या व्यवहारसे अथवा कल्पनासे सामान्य करके प्रमाण मानना ही पडेगा। सामान्यरूपसे प्रमाणकी सत्ताको अच्छा साध्य करते सन्ते, ऐसी दशामें सामान्यप्रमाणकी सत्ता सिद्ध हो चुकनेपर विशेष प्रमाणकी ही सत्ताको साध्य बनानेमें इष्टसाधन हेतुका प्रयोग करना सफल हो जाता है। जिस प्रकार अन्वयरहितपना दोष हमारे ऊपर लगता है, उसी प्रकार दृष्टातके न होनेसे तुम शून्य वादियोंके यहां भी अपने इष्टकी सिद्धि नहीं हो सकती है। यथार्थ बात यह है कि दृष्टान्त कोई साध्यसिद्धिका मुख्य अंग नहीं है। बालकोंको व्युत्पन्न करनेके लिए क्वचित् उपयोगी मान लिया गया है।

हेतोरनन्वयस्यापि गमकत्वोपवर्णने ।
सत्ता साध्यास्तु मानानामिति धर्मी न संगरः ॥ ३८४ ॥

भगवान् तुमको सम्यग्ज्ञान करावें यदि अन्वय दृष्टान्तसे रहित हेतुको भी साध्यका ज्ञापकपना अभीष्ट करलोगे, तब तो प्रमाणोंकी सत्ता भी साध्य हो जाओ। इस प्रकार धर्मी प्रसिद्ध ही होना चाहिये, यह प्रतिज्ञा नहीं सधसकी।

धर्मिधर्मसमूहोत्र पक्ष इत्यपसारितम् ।
एतेनेति स्थितः साध्यः पक्षो विध्वस्तबाधकः ॥ ३८५ ॥

इस प्रकरणमें धर्मी (आधार) और धर्म (साध्य) का समुदाय पक्ष है, यह भी इस उक्त कथनकरके निवारण कर दिया गया है। अतः इससे यह स्थित हुआ कि जिसके बाधकज्ञान विध्वस्त हो गये हैं वह साध्य पक्ष माना गया है।

व्याप्तिकाले मतः साध्य पक्षो येषां निराकुलः ।
सोन्यथैव कथं तेषां लक्षणव्यवहारयोः ॥ ३८६ ॥
व्याप्तिः साध्येन निर्णीता हेतोः साधं प्रसाध्यते ।
तदेवं व्यवहारेपीत्यनवद्यं न चान्यथा ॥ ३८७ ॥

जिन विद्वानोंके यहां व्याप्तिग्रहण करते समय निराकुल होकर साध्य ही पक्ष माना गया है, उनके यहां वह साध्य व्याप्तिस्वरूप ग्रहण करनेके कालमें, और अनुमान प्रयोग करनेपर व्यवहारकालमें दूसरे दूसरे प्रकारका कैसे हो सकता है ? साध्यके साथ हेतुकी व्याप्ति निर्णीत हो रही भले प्रकार जब व्याप्तिकालमें साधी जा रही है, तब तो उसी प्रकार व्यवहारकालमें भी साध्य उतना ही पकडा जायगा । दूसरे ढंगसे व्यवस्था करना ठीक नहीं है । जो विचारशील विद्वान् पंच पुरुषोंमें निर्णीत हुआ है, उसको व्यवहारमें लाओ यह निर्दोषमार्ग है ।

धर्मिणोप्यप्रसिद्धस्य साध्यत्वाप्रतिघातितः ।
अस्ति धर्मिणि धर्मस्य चेति नोभयपक्षता ॥ ३८८ ॥

अतः अप्रसिद्ध हो रहे भी धर्मीको साध्यपना प्रतिहत नहीं हो पाता है । अर्थात् अप्रसिद्ध धर्मीका भी साध्यपना सुरक्षित है । और धर्मीके होनेपर धर्मका अस्तित्व है । इस कारण धर्मी और धर्म दोनोंके समुदायको पक्ष कहना ठीक नहीं है, व्यर्थ पडता है ।

तद्यत्र साधनाद्बोधो नियमादभिजायते ।
स तस्य विषयः साध्यो नान्यः पक्षोस्तु जातुचित् ॥ ३८९ ॥

तिस कारण जहां अविनाभाव नियमके अनुसार साधनसे साध्यका बोध प्रकृष्ट उत्पन्न हो जाता है, वह साध्य उस अविनाभावी हेतुका ज्ञेय विषय है । उससे न्यारा पक्ष कदाचित् भी नहीं होवेगा, यह समझे रहो ।

तदेवं शक्यत्वादिविशेषणसाध्यसाधनाय कालापेक्षत्वेन व्यवस्थापिते अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणे साधने च प्रकृतमभिनिबोधलक्षणं व्यवस्थितं भवति ।

तिस कारण यहांतक हेतु, साध्य, और पक्षका इस प्रकार विशेष विचार कर दिया गया है । शक्यपन आदि विशेषणोंसे युक्त हो रहे साध्यको साधनेके लिये प्रयोगकालकी अपेक्षा करके अन्यथानुपपत्ति ही एक लक्षणवाले हेतुकी व्यवस्था करा चुकनेपर यह प्रकरणप्राप्त अनुमानस्वरूप अभिनिबोधका लक्षण करना व्यवस्थित हो जाता है । अर्थात् इस प्रकरणमें सामान्य मतिज्ञानको

अभिनिबोध नहीं माना है। किन्तु अन्यथानुपपत्ति लक्षणवाले हेतुसे शक्य, अभिप्रेत, असिद्ध, साध्यका ज्ञान करलेना अभिनिबोध है।

यः साध्याभिमुखो बोधः साधनेनानिंद्रियसहकारिणा नियमितः सोभिनिबोधः स्वार्थानुमानमिति।

मनकी सहकारिताको प्राप्त हो रहे ज्ञापकहेतुकरके साध्यके अभिमुख होकर नियम प्राप्त हो रहा जो ज्ञान है, वह अभिनिबोध है। " अभि " यानी अभिमुख " नि " यानी अविनाभावरूप नियम प्राप्त बोध यानी ज्ञान है। वह अभिनिबोध स्वार्थानुमान है। यह प्रकरणके अनुसार अभिनिबोधका सिद्धान्त लक्षण है।

कश्चिदाह;—

कोई जैनका एकदेशीय पण्डित यहां कह रहा है—

इंद्रियातींद्रियार्थाभिमुखो बोधो ननु स्मृतः।
नियतोक्षमनोभ्यां यः केवलो न तु लिंगजः ॥ ३९० ॥

यहां विचार करना चाहिये कि इन्द्रियोंसे ग्रहण करने योग्य अर्थ और बहिरंग इन्द्रियोंसे नहीं भी ग्रहण करने योग्य अतीन्द्रिय अर्थकी ओर अभिमुख हो रहा नियमित ज्ञान करना तो अभिनिबोध माना गया है किन्तु इन्द्रिय और मनकरके सहकृत हो रहे केवल ज्ञापक लिंगकरके ही जो ज्ञान उपज रहा है, वही तो अभिनिबोध नहीं माना जाता है। अर्थात् " मतिः स्मृति. " आदि सूत्रमें पडे हुये अभिनिबोधका अर्थ स्वार्थानुमान और क्वचित् अभेददृष्टिसे आपने पकडा परार्थानुमान है, किन्तु सामान्य अभिनिबोधका अर्थ सभी मतिज्ञान है। अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, ये सभी ज्ञान इन्द्रिय अथवा मनसे उत्पन्न हुये होनेके कारण मतिज्ञान माने गये चले आ रहे हैं, फिर अकेले अनुमानको ही अभिनिबोध क्यों कहा जा रहा है ? बताओ।

इन्द्रियानिन्द्रियाभ्यां नियमितः कृतः स्वविषयाभिमुखो बोधोभिनिबोधः प्रसिद्धो न पुनरनिन्द्रियसहकारिणा लिंगेन लिंगिनियमितः केवल एव चिन्तापर्यन्तस्याभिनिबोधत्वाभावप्रसंगात्। तथा च सिद्धान्तविरोधोऽशक्यः परिहर्तुमित्यत्रोच्यते।

इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) से नियमित करदिया गया तथा अपने विषयकी ओर अभिमुख हो रहा ज्ञान अभिनिबोधपनसे प्रसिद्ध हो रहा है। किन्तु फिर मनको ही सहकारी कारण मानकर ज्ञापक हेतुकरके साध्यके साथ नियमित हो रहा केवल अनुमान ही तो अभिनिबोध नहीं है। यों तो अवग्रह, आदिक तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्कपर्यन्त ज्ञानोंको अभिनिबोधपनके अभावका प्रसंग होगा और तैसा होनेपर आक्षेपक सिद्धान्तके साथ आये हुये विरोधका परिहार

नहीं किया जा सकता है । श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने गोम्मटसारमें लिखा है " अहिमु-हणियमियवोहणमाभिणिवोहियमणिंदइंदियजं । अवग्गहईहावाया धारणगा होन्ति पत्तेयं " इस प्रकार हमको हमारे ही सिद्धान्तसे विरोध आगया, दिखलाने पर तो हमें समाधान कहनेके लिये बाध्य होना पडता है ।

सत्यं स्वार्थानुमानं तु विना यच्छब्दयोजनात् ।
तन्मानांतरतां मागादिति व्याख्यायते तथा ॥ ३९१ ॥

किसी एकदेशीयका यह कहना सत्य है । हमको आधे ढंगसे स्वीकृत है । शद्बकी योजनाके विना जो हेतुजन्य–स्वार्थानुमान हो रहा है, वह मतिज्ञानके सिवाय दूसरे श्रुत, अवधि, आदि प्रमाणपनको प्राप्त न हो जावे, इस कारण तिस प्रकार व्याख्यान करदिया गया है । अर्थात् शद्बकी योजनासे सहित हो रहा परार्थानुमान भले ही श्रुतज्ञान बन जाय, किन्तु अर्थसे अर्थान्तरका ज्ञान नहीं बन रहा स्वार्थानुमान तो अभिनिबोध (मतिज्ञान) ही है ।

न हि लिंगज एव बोधोभिनिबोध इति व्याचक्ष्महे । किं तर्हि, लिंगजो बोधः शब्द-योजनरहितोभिनिबोध एवेति तस्य प्रमाणान्तरत्वनिवृत्तिः कृता भवति सिद्धांतश्च संगृहीतः स्यात् । न हीन्द्रियानिन्द्रियाभ्यामेव स्वविषयेभिमुखो नियमितो बोधोभिनिबोध इति सिद्धान्तोस्ति स्मृत्यादेस्तद्भावविरोधात् । किं तर्हि । सोनिन्द्रियेणापि वाक्यभेदात् । कथं अनिन्द्रियजन्याभिनिबोधिकमनिंद्रियजाभिमुखनियमितबोधनमिति व्याख्यानात् ।

ज्ञापक हेतुसे ही उत्पन्न हुआ ज्ञान अभिनिबोध होता है । इस प्रकार एवकार लगाकर हम नहीं बखान रहे हैं । तो क्या कह रहे हैं ? सो सुनो, वाचक शद्बोंकी जोडकलासे रहित हो रहा जो लिङ्गजन्य ज्ञान (स्वार्थानुमान) है, वह अभिनिबोध ही है । इस प्रकार उद्देश्यदलमें एवकार नहीं लगाकर विधेयदलमें एवकार द्वारा अवधारण किया है । इस कारण उस लिंगजन्य ज्ञानको मतिज्ञानपना ही स्थापनकर श्रुतज्ञान आदि अन्य प्रमाणपन हो जानेकी निवृत्ति कर दी गई है । और यों कहनेसे हमारे जैन सिद्धान्तका संग्रह भी कर लिया गया समझ लो । केवल इन्द्रियों और अनिन्द्रियोंकरके ही अपने विषय स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शद्ब और सुख, ज्ञान, वेदना, आदि विषयोंमें अभिमुख हो रहा नियम प्राप्त बोध ही अभिनिबोध है, यह जैन सिद्धान्त नहीं है । यों माननेपर तो स्मृति, तर्क, संज्ञा, इन ज्ञानोंको उस अभिनिबोधपनके सद्भावका विरोध हो जावेगा अर्थात् इन्द्रिय और अनिन्द्रियसे नियमित हो रहे अभिमुख आये हुये विषयोंमें एक देश विशद जाननेको ही अभिनिबोध यदि माना जावेगा तो स्मृति, संज्ञा, चिंता, ज्ञानोंको अभिनिबोधपना विरुद्ध हो जायगा, तो वह अभिनिबोध क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर हमारा यह उत्तर है कि वह अभिनिबोध अनिन्द्रियकरके भी अपने विषयमें अभिमुख होकर नियमित अर्थको जान रहा है । इस

प्रकार " इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं " अथवा " अणिदइन्दियजं " इन वाक्योंके योगविभागकर वाक्य-भेद कर देनेसे उक्त अर्थ निकल आता है। कैसे निकलता है ? इसपर यह कहना है कि मनरूप अनिन्द्रियसे उत्पन्न हुआ आभिनिबोधिक तो अनिन्द्रियसे सहकृत लिंगसे उत्पन्न हुआ और नियमयुक्त साध्यके अभिमुख हो रहा ज्ञान है, इस प्रकार व्याख्यान किया गया है। भावार्थ–इन्द्रिय और अनिन्द्रियसे मतिज्ञान उत्पन्न होता है। इस पहिले वाक्यकरके अवग्रह आदिक गृहीत हो जाते हैं और अनिन्द्रियसे मतिज्ञान होता है। इस दूसरे वाक्यमें लिंगसे सहकृतपना डालकर अभिनिबोध करके स्वार्थानुमानका संग्रह हो जाता है।

नन्वेवमप्यर्थापत्तिः प्रमाणान्तरमप्रत्यक्षत्वात् परोक्षभेदेपूक्तेष्वनंतर्भावात् । प्रमाणषट्कविज्ञातस्यार्थस्यान्यथाभवनयुक्तस्य सामर्थ्याददृष्टान्यवस्तुकल्पने अर्थापत्तिव्यवहारात् । तदुक्तं । "प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थोन्यथाभवन् । अदृष्टं कल्पयेदन्यं सार्थापत्तिरुदाहृता ॥"

यहां मीमांसकोंकी शंका है कि इस प्रकार अर्थापत्ति नामका भी एक न्यारा प्रमाण मानना चाहिये। क्योंकि वह अविशद होनेके कारण प्रत्यक्षप्रमाणरूप तो नहीं है। और परोक्ष प्रमाणके कहे हुये मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता, अभिनिबोध, आगम इन भेदोंमें उस अर्थापत्तिका अंतर्भाव नहीं होता है। लौकिक जनोंका भी इस लक्षणमें अर्थापत्तिप्रमाणरूपसे व्यवहार हो रहा है। उसका यह लक्षण है कि प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शाद्ब, अर्थापत्ति, अभाव, इन छह प्रमाणोंसे अच्छा जान लिया गया जो अर्थ उस अदृष्टके विना नहीं होनेपनसे युक्त है, उस अर्थ द्वारा जिस प्रमाणकी सामर्थ्यसे अदृष्ट हो रही दूसरी वस्तुकी कल्पना की जाती है, वह अर्थापत्ति प्रमाण है। वही हमारे ग्रन्थोंमें कहा गया है कि प्रत्यक्ष आदि छैऊ प्रमाणोंमेंसे चाहे जिस प्रमाणके द्वारा भले प्रकार जान लिया गया अर्थ जहां अनन्यथाभूत हो रहा है, उस दूसरे अदृष्ट अर्थकी जिस प्रमाणसे कल्पना कराई जाती है, वह अर्थापत्ति प्रमाण समझा गया है।

प्रत्यक्षपूर्विका ह्यर्थापत्तिः प्रत्यक्षविज्ञातादर्थादन्यत्रादृष्टेर्थे प्रतिपत्तिर्यथारात्रिभोजी देवदत्तोयं दिवाभोजनरहितत्वे चिरजीवित्वे च सति स्तनपीनांगत्वान्यथानुपपत्तेरिति ।

मीमांसक विद्वान् अपनी छह प्रमाणोंसे हुई अर्थापत्तियोंके उदाहरण स्वयं दिखला रहे हैं। तिनमें प्रत्यक्षप्रमाणको परम्परा कारण मानकर हुई अर्थापत्तिका लक्षण यह है कि प्रत्यक्षसे जान लिये गये और अविनाभूत हो रहे अर्थके द्वारा जो अदृष्ट अर्थमें प्रतिपत्ति होना है, वह प्रत्यक्षपूर्वक अर्थापत्ति है। अच्छे घरकी विधवावधूकी गर्भयोग्य उदरवृद्धिको देखकर उसके व्यभिचारदोषका ज्ञान कर लिया जाता है। प्रसिद्ध उदाहरण यह है कि भोजन करनेवाला और भोजन नहीं करनेवाला इस प्रकार विवादमें पड़ा हुआ यह देवदत्त अवश्य रातमें खाता होगा, क्योंकि दिनमें भोजन करनेसे रहित होता हुआ और अधिक कालतक जीवित होता संता यह देवदत्त

स्थूलस्तनसे सहित शरीरवाला है। अर्थात् देवदत्तके शरीरमें और विशेषकर छातीपर स्तनोंमें मोटापन है जो कि स्थूलता बीमारीकी सूजन ततैया, बर्र, आदिके काटेकी नहीं है। जो जीव बहुत दिनोंसे दिनमें नहीं खा रहा है, और बहुत दिनतक जीवित रहता है, उसके वक्षःस्थलकी स्थूलता रातको खाये विना नहीं स्थिर रह सकती है। रातको खाते हुये देवदत्तको यद्यपि नहीं देखा है, फिर भी उक्त प्रकारके मोटे पुष्ट शरीरधारीपनसे रात्रिमें भोजन करना अर्थापत्तिसे जान लिया जाता है। जैनसिद्धान्त अनुसार तीर्थंकर महाराज, कामदेव, बलभद्र, आदि महान् पुरुषोंके यद्यपि तपश्चरण करते समय दिनरात उपवास करनेपर भी वक्षःस्थलकी सुन्दरस्थूलतामें कोई अन्तर नहीं पडता है। भगवान् श्रीआदीश्वर महाराज या बाहुबलीस्वामीने एक वर्षपर्यन्त निराहार रहकर तपश्चर्या की थी। फिर भी उनके शरीरमें कोई शिथिलता, लटजाना, दुर्बलता आदिके चिन्ह नहीं प्रगट हुये थे। भोगभूमिया लम्बे चौडे शरीरवाले होकर भी एक दो, तीन, दिन पीछे अति अल्प आहार करते हुए पुष्ट, बलिष्ठ, स्थूल, सुन्दर शरीरवाले होकर अधिक कालतक जीवित रहते हैं। देवता तो कभी कवल आहार नहीं करते हैं। उनके तो वर्षों पीछे कंठसे झरे हुये अमृतका मानस आहार है। फिर भी मीमांसकोंने वर्त्तमानकालके अन्नकीट पुरुषोंकी अपेक्षा यह उदाहरण दिया है। चलो अच्छा है।

अनुमानपूर्विका वानुमानविज्ञातादर्थाद्यथागमनशक्तिमानादित्यादिर्गत्यन्यथानुपपत्तेरिति।

मीमांसक ही कहे जा रहे हैं कि अनुमानपूर्वक अर्थापत्ति तो इस प्रकार है कि अनुमानप्रमाणोंद्वारा जान लिये गये अर्थसे अदृष्ट अर्थको जानलेना जैसे कि सूर्य, चन्द्रमा, रक्त, आदिकपदार्थ (पक्ष) गमनशक्तिसे युक्त हो रहे हैं (साध्य) क्योंकि देशसे देशांतर जानारूप गति होना उनमें गमनशक्तिके विना नहीं बन सकता है। सूर्यका विमान अत्यधिक चमकीला है। हम लोग आंखें खोलकर बहुत देरतक सूर्यकी गतिको देखनेके लिये तो नहीं बैठ सकते हैं। और चन्द्रमाकी गतिको प्रत्यक्ष करनेके लिये भी कोई ठलुआ नहीं बैठा है। हां, कोई इस चन्द्रमाकी गतिको जाननेके लिये ही कमर कसकर बहुत देरतक बैठा रहे तो उसको चन्द्रमाकी गतिका प्रत्यक्ष हो सकता है। काले काच, वस्त्र आदिकी परम्परासे सूर्यकी गतिका भी प्रत्यक्ष हो सकता है, किन्तु जिस विद्वान्‌ने पहिला अनुमान उठाकर देशसे देशान्तर होनारूप हेतुसे सूर्यकी गतिका अनुमान किया है, और पीछे गतिकी अन्यथानुपपत्तिसे अर्थापत्ति द्वारा सूर्यमें गमन करनेकी अतीन्द्रियशक्तिको जाना है। वह अनुमानपूर्वक अर्थापत्तिका उदाहरण यहां मीमांसकोंने दिया है।

तथोपमानपूर्विकोपमानविज्ञातादर्थाद्वाहादिशक्तिरयं गवयो गवयत्वान्यथानुपपत्तेरिति।

तथा उपमानप्रमाणपूर्वक अर्थापत्ति यों मानी गई है कि उपमान प्रमाणसे जानलिये गये अनन्यथाभूत अर्थसे अदृष्ट अर्थकी जो कल्पना की जाती है। जैसे कि यह रोझ पशु (पक्ष) लादना, दौडना, आदि शक्तियोंसे युक्त है (साध्य) अन्यथा यानी दौडना आदि शक्तियोंसे

सहितपनके विना गवयपना नहीं बनता है । यहां गौके सदृश गवय होता है । ऐसे वृद्धवाक्यको सुनकर वनमें जाकर ढाट और गलकम्बलसे रहित हो रहे बैल सरीखे पशुको देखकर " यह गवय है " ऐसा उपमान प्रमाण (सादृश्य प्रत्यभिज्ञान) द्वारा जान लिया जाता है । पुनः गवय-पनेसे वाह आदि अतीन्द्रिय शक्तियोंका अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान कर लिया जाता है ।

तथागमपूर्विका आगमविज्ञातादर्थादर्थप्रतिपादनशक्तिः शद्बो नित्यार्थसंबंधित्वान्यथानुपपत्तेरिति ।

तिसी प्रकार आगमप्रमाणद्वारा जान लिये गये अर्थसे अविनाभावी अदृष्ट अर्थका ज्ञान कर लेना आगमपूर्वक अर्थापत्ति है । जैसे कि यह शद्ब (पक्ष) अमुक अर्थको प्रतिपादन करनेकी शक्तिसे तदात्मक हो रहा है (साध्य) । नित्य ही अर्थके साथ संबंध सहितपना अन्यथा यानी अर्थ प्रतिपादनशक्तिके साथ तदात्मक हुये विना बन नहीं सकता है (हेतु) । यहां स्वाभाविकी योग्यता और संकेतके वश शद्ब और अर्थके नित्य रहनेवाले संबंध सहितपनको आगम प्रमाणद्वारा निर्णीत कर पुनः नित्य ही अर्थके संबंधीपनसे शद्बकी अर्थ प्रतिपादनशक्तिका अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान कर लिया जाता है ।

तथार्थापत्तिपूर्विकार्थापत्तिरर्थापत्तिप्रमाणविज्ञातादर्थाद्यथा रात्रिभोजनशक्तिः विवादापन्नो देवदत्तोयं रात्रिभोजित्वान्यथानुपपत्तेरिति ।

मीमांसक ही कहते चले आ रहे हैं कि प्रत्यक्ष, अनुमान, आदिको कारण मानकर पहिली अर्थापत्ति बना ली जाय, पुनः उस अर्थापत्ति प्रमाणसे जान लिये गये अर्थसे अविनाभावी हो रहे अदृष्ट अर्थकी दूसरी ज्ञप्ति करना अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्ति कही जाती है । जैसे कि भोजन कर सकनेवाला और भोजन नहीं कर सकनेवाला, इस प्रकार विवादमें पड़ा हुआ यह देवदत्त (पक्ष) रातको खानेकी शक्तिसे युक्त है (साध्य), क्योंकि अर्थापत्तिसे जान लिया गया रात्रिभोजीपना अन्यथा यानी भोजन करनेकी शक्तिके विना अनुपपन्न है (हेतु) । यहां प्रत्यक्षप्रमाणसे देवदत्तके अविकृत मोटेपनको देखकर दिनमें नहीं खानेवाले, चिरजीवी, देवदत्तका रात्रिमें डटकर भोजन करना पहिली अर्थापत्तिसे जान लिया जाता है । पुनः रात्रिभोजीपनकी अन्यथानुपपत्तिसे रातमें भोजन करनेकी शक्तिका ज्ञान दूसरी अर्थापत्तिसे किया जाता है । इससे भी आगे तीसरी अर्थापत्तिको उठाकर देवदत्तका द्रव्यपना या अव्रतीपना जाना जा सकता है । इसके उपरांत भी चौथी अर्थापत्तिसे तिर्यञ्च आयुके बंधकी योग्यता जानी जा सकती है । किन्तु इतनी ऊंची कोटीतक चलना विद्वानोंका उद्देश्य रहता है । साधारण लौकिक जनोंकी तो एक, दो, अर्थापत्ति या अनुमानको उठाकर ही जिज्ञासा शान्त हो जाती है । हां, विशेष जिज्ञासा बढनेपर लौकिक जन भी किसी जटिल विषयमें ग्रन्थियोंको सुलझानेके लिये अनेक प्रमाण उठाकर विवादोंको सिद्धान्तमार्गपर ले आते हैं ।

तथैवाभावपूर्विकार्थापत्तिरभावप्रमाणविज्ञातादर्थाद्यथास्माद्गृहाद्बहिरस्तिष्ठति देवदत्तो जीवित्वे सत्यत्राभावान्यथानुपपत्तेरिति ।

तिस ही प्रकार अभाव प्रमाणद्वारा ठीक जान लिये गये अविनाभूत अर्थसे अदृष्ट हो रहे अन्य अर्थमें कल्पना उठाना अभावपूर्वक अर्थापत्ति है । जैसे कि इस घरसे बाहर प्रदेशमें देवदत्त ठहरा हुआ है । क्योंकि जीवित होते संते देवदत्तका यहां घरमें नहीं रहना अन्यथा यानी बाहर ठहरनेके विना असम्भव है । यदि देवदत्त जीवित न होता तब तो यहां घरमें भी नहीं पाया जाता और घरसे बाहर चौपारि, बाग, ग्रामान्तर, आदिमें भी नहीं पाया जाता, किन्तु देवदत्त जीवित है । और यहां नहीं है । अतः आसपास बाहर गया हुआ है । यह अर्थापत्तिसे जान लिया जाता है । यहां जीवित देवदत्तका घरमें नहीं ठहरना तो अभाव प्रमाणसे जान लिया, पुनः अनन्यथाभूत बाहर ठहरना अभावप्रमाणपूर्वक अर्थापत्तिसे जाना गया है । इस प्रकार छह प्रमाणोंसे उत्पन्न हुई अर्थापत्तियोंको परोक्षप्रमाणके भेदोंमें परिगणित करना जैनोंको आवश्यक है । नहीं कहनेसे अव्याप्ति दोष आता है ।

एतेनाभावस्य प्रमाणांतरत्वमुक्तमुपमानस्य वा वस्तुनो सतः सदुपलंभकप्रमाणाप्रवृत्तेरभावप्रमाणस्यावश्याश्रयणीयत्वात् । सादृश्यविशिष्टाद्वस्तुनो वस्तुविशिष्टाद्वा सादृशात् परोक्षार्थप्रतिपत्तिरभ्युपगमनीयत्वाच्चेति केचित् ।

इस उक्त कथनसे अभावप्रमाणको भी स्मृति आदिकोंसे न्यारा प्रमाणपना कह दिया गया समझ लेना चाहिये तथा सादृश्यको विषय करनेवाला उपमान भी न्यारा प्रमाण है । वस्तुके सद्भावोंको ही जाननेवाले प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शाब्द, अर्थापत्ति इन पांच प्रमाणोंकी वस्तुके असद्भाव (अभाव) को जाननेमें प्रवृत्ति नहीं होती है । अतः अभावको जाननेके लिये अभाव प्रमाणका आश्रय करना भी अत्यावश्यक है । जैसे, अभावको जाननेवाले प्रमाणकी भावोंको जाननेमें गति नहीं है । उसी प्रकार अभावको जाननेमें भाव उपलम्भक प्रमाणोंको भी आज्ञा प्राप्त नहीं है । विषयोंके अनुसार प्रमाण भी न्यारे न्यारे होने चाहिये तथा उपमानका भी न्यारा प्रमाणपना यों आवश्यक है कि सादृश्यविशिष्ट वस्तुसे अथवा वस्तुविशिष्ट सादृश्यसे परोक्ष अर्थकी प्रतिपत्ति करना सभी वादियोंको स्वीकार करने योग्य है, इस प्रकार कोई मीमांसक विद्वान् बडी देरसे कह रहे हैं ।

संभवः प्रमाणान्तरमाढकं दृष्ट्वा संभवत्यर्द्धाढकमिति प्रतिपत्तेरन्यथा विरोधात् । प्रातिभं च प्रमाणान्तरमत्यंताभ्यासादन्यजनावेद्यस्य रत्नादिप्रभावस्य झटिति प्रतिपत्तेर्दर्शनादित्यन्ये ।

किन्हीं विद्वानोंका कहना है कि सम्भव भी न्यारा प्रमाण है । आढकको देखकर इसमें अर्द्ध आढक (अढैया) सम्भव रहा है । तौलने या नापनेका एक विशेष परिमाण आढक है । उसका

आधा नाप अर्ध आढक है । सौमें पंचास है । इस प्रकारकी प्रतिपत्तियां होनेका अन्यथा यानी सम्भवको न्यारा प्रमाण मानेबिना विरोध है । एक न्यारा प्रमाण प्रातिभ भी है । अत्यन्त अभ्यासके वशसे अन्य जनोंकरके नहीं जाने गये रत्न, सुवर्ण, आदिके प्रमाणकी झट प्रतिपत्ति होना देखा जाता है । नवीन नवीन उन्मेषोंको धारनेवाली प्रतिभा बुद्धिसे ऐसे ज्ञान हो जाते हैं कि मेरा भाई कल आवेगा, अन्न महार्घ (महंगा) होगा, सुवर्ण मन्दा जायगा इत्यादि ज्ञान अनुभवगत हो रहे हैं । सम्यग्दर्शनका या आत्मानुभवका संवेदन भी विलक्षणज्ञान है । इस प्रकार कोई अन्य विद्वान् सात, आठ, नौ, आदि प्रमाण माननेवाले कह रहे हैं ।

तान्प्रतीदमुच्यते;—

उन मीमांसक आदि विद्वानोंके प्रति आचार्य महाराज द्वारा यह समाधान कहना पडता है कि—

सिद्धः साध्याविनाभावो ह्यर्थापत्तेः प्रभावकः ।
संभवादेश्च यो हेतुः सोपि लिंगान्न भिद्यते ॥ ३९२ ॥

साध्यके साथ अविनाभाव रखना ही अर्थापत्ति प्रमाणको उत्पन्न करानेवाला सिद्ध किया गया है । तथा सम्भव, प्रातिभ, आदि प्रमाणोंका उत्थापक जो हेतु माना गया है, वह भी अविनाभावी हेतुसे भिन्न नहीं है । अर्थात् अविनाभावी उत्थापक हेतुओंसे उत्पन्न हुये सम्भव आदिक भी अनुमान प्रमाणमें गर्भित हो जाते हैं । अविनाभावसे रीते उत्थापक अर्थसे उपजे तो सम्भव-प्रातिभ, आदि ज्ञान अप्रमाण हैं । उपमान प्रमाण तो सादृश्य प्रत्यभिज्ञानरूप हमने कंठोक्त स्वीकार ही किया है । अतः उक्त प्रमाणोंसे अतिरिक्त अन्य प्रमाण माननेकी आवश्यकता नहीं है ।

दृष्टांतनिरपेक्षत्वं लिंगस्यापि निवेदितम् ।
तन्न मानांतरं लिंगादर्थापत्त्यादिवेदनम् ॥ ३९३ ॥

मीमांसकोंने अर्थापत्ति और अनुमानका जो यह भेदक माना है कि जहां दृष्टान्तमें व्याप्ति ग्रहण होकर न्यारे पक्षमें हेतु द्वारा साध्यको जाना जाता है, वह अनुमान प्रमाण है और वहां ही व्याप्तिग्रहण कर उसी स्थलपर अन्यथानुपपन्न पदार्थसे अदृष्टपदार्थको जाना जाता है । वह अर्थापत्ति है । आचार्य कहते हैं कि यह भेद करना ठीक नहीं है । क्योंकि ज्ञापक हेतुका दृष्टान्तकी नहीं अपेक्षा रखनापन भी हमने निवेदन कर दिया है । यानी अन्वय दृष्टान्तके विना भी हेतुओंसे साध्यका ज्ञान अनुमान द्वारा हो जाता है । तिस कारण लिंगसे उत्पन्न हुये अनुमान प्रमाणसे अतिरिक्त अर्थापत्ति, सम्भव, प्रातिभ आदिक न्यारे प्रमाण नहीं हैं । जैसे प्रत्यक्षके कारण चक्षुः, कर्म क्षय, क्षयोपशम, आदि भिन्नजातिके होते हुये भी उनका कार्य प्रत्यक्ष एकसा माना गया है । एक

इन्द्रिय जीवका स्पर्शन इन्द्रियजन्य एकदेश प्रत्यक्ष कहां ? या जघन्य देशावधिवालेका आवलीके असंख्यातवें भाग कालतककी और अङ्गुलके असंख्यातवें भाग आकाशमें रखी हुई द्रव्यको जानने वाला अवधिज्ञान कहां ? और अनंतानंत प्रमेयोंका जाननेवाला सर्वज्ञका प्रत्यक्ष कहां ? इन दोनें प्रत्यक्षोंमें महान् अन्तर है। अथवा जघन्य निगोदिया जीवका स्पर्शज्ञानजन्य छोटासा श्रुतज्ञान कहां ? और द्वादशांगरूप सम्पूर्ण वेदोंका आगमज्ञान कहां ? फिर भी ये सभी ज्ञान समानजातिके होनेसे प्रत्यक्ष या आगम कहे जाते हैं। उसी प्रकार अनेक प्रकारके अविनाभावी लिङ्गोंसे लिंगीके सभी ज्ञान अनुमानप्रमाण माने जाते हैं। भले ही लिंग कहा गया न होय या दृष्टान्तमें व्याप्ति-ग्रहणका उल्लेख नहीं किया गया होय अथवा हेतुपक्षमें वृत्ति न होय तथा भले ही पक्ष, सपक्ष, विपक्ष, कोई न होय, फिर भी अन्यथानुपपत्तिरूप प्राणको लेकर हेतु जीवित रहता हुआ अनुमानको उत्पन्न करा ही देता है।

मतिज्ञानविशेषाणामुपलक्षणता स्थितं ।
तेन सर्वं मतिज्ञानं सिद्धमाभिनिबोधिकम् ॥ ३९४ ॥

इस " मतिःस्मृतिः " आदि सूत्रमें मतिज्ञानके विशेष भेदोंका उपलक्षणरूपसे स्थित होना कहा है। जैसे कि "काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्" कौओंसे दहीकी रक्षा करना, यहां कौआ पदसे दहीको बिगाडनेवाले बिल्ली कुत्ता, मूमटा, चील, गिलगिलिया आदि सबका ग्रहण है। ऐसे ही स्मृति आदिकसे सभी प्रतिभा, स्वानुभूति, स्फूर्ति, प्रेक्षा, प्रज्ञा आदिका संग्रह कर लिया जाता है। तिस कारण इन्द्रिय अनिन्द्रियजन्य सर्व ही मतिज्ञान आभिनिबोधिक सिद्ध हो जाते हैं। अवान्तर भेद प्रभेदोंमें पडे हुये सूक्ष्म अन्तर ग्राह्य नहीं हैं। स्थूलरूपसे भेद करनेवाले सभी गम्भीर विद्वानोंको इस बातका ध्यान रखना पडता है। यहांतक मतिज्ञानके सम्पूर्ण अनर्थान्तर विशेषोंका वर्णन कर दिया गया है।

इस सूत्रका सारांश ।

इस सूत्रके प्रकरणोंका संक्षिप्त इतिहास इस प्रकार है। प्रथम ही मति आदि पांचों ज्ञानोंमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, आदिके संग्रह नहीं होनेकी आशंका उपस्थित होनेपर मतिज्ञानमें ही इन सबका समावेश कर दिया गया बताया है। कारण कि ये स्मृति आदिकज्ञान मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न होते हैं। प्रकार अर्थवाले इति शब्दसे दूसरे वादियोंद्वारा माने गये बुद्धि, मेधा, प्रतिभा, सम्भव, उपमान, आदि प्रमाणोंका भी मतिज्ञानमें ही संग्रह करा दिया है। विशिष्ट स्मृति, विलक्षण प्रतिभा, आदि ज्ञानोंको धारनेवाले मनुष्य लोकमें मेधावी, प्रज्ञाशाली तार्किक आदिक उपाधियों द्वारा उद्घोषित होते हैं। ये सब मतिज्ञानी हैं। इति शब्दका समाप्ति अर्थकर सम्पूर्ण

मतिज्ञानोंको स्मृति आदिकमें ही अंतर्भाव कर पूर्ण किया है। ऐसा करनेसे उपलक्षण मानकर असंख्य भेदोंकी गुरुतर कल्पना नहीं करनी पडती है। बौद्ध, नैयायिक, मीमांसक आदि सभी प्रतिवादी स्मृतिको प्रमाण नहीं मानते हैं। किन्तु हम स्याद्वादी कहते हैं कि स्मृतिको प्रमाण न माननेपर प्रत्यक्ष भी प्रमाण नहीं बन सकता है। तब तो किसी भी प्रमेयकी सिद्धि न हो सकेगी। महामारीके फैलने समान शून्यवाद छा जायगा। स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अनुमान, आगम, देशप्रत्यक्ष, सकलप्रत्यक्ष, ये सर्व ही प्रमाण परस्पर अपनी सिद्धिमें सख्यभाव रखते हैं। गृहीतका ग्रहण करनेसे स्मृतिको प्रमाण नहीं माननेवाला अनुमानको भी प्रमाण नहीं मान सकेगा। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे जैसे अज्ञाननिवृत्ति होती है, उसी प्रकार स्मृतिसे भी प्रमिति, हान, उपादान होते हैं। केवल शरीरका काला रंग हो जानेसे किसी व्यक्तिमें अस्पृश्यता, निर्बलता, मूर्खता, पराजितपन आदि दोष लगा देना विचारशीलोंको समुचित नहीं है। संपूर्ण प्रत्यक्षोंकी प्रमाणता सिद्ध करनेके लिये और अनुमानोंके लिये स्मृतिको प्रमाण मानना अत्यावश्यक है। यहां स्मृतिके पृथक् प्रमाणपनका बहुत अच्छा विचार किया है। अनन्तर प्रत्यभिज्ञानकी प्रमाणताको साधते हुये अनेक पर्यायोंमें व्यापनेवाले द्रव्य विषयमें प्रत्यभिज्ञानकी प्रवृत्ति मानी है। स्मरण और प्रत्यक्षसे न्यारा प्रत्यभिज्ञान है। कर्मोंके विलक्षण जातिके क्षयोपशमोंसे अनेक प्रकारके स्मरण प्रत्यभिज्ञान हो जाते हैं। कोई विद्यार्थी परीक्षा पर्यंत ही पाठका स्मरण रखता है। कोई छात्र दश वर्षतक नहीं भूलता है। तीसरा विनीत शिष्य जन्मपर्यन्त कठिन प्रमेयोंका अवधान रखता है। देवदत्तने अपने अधिकारीको लेन देन समझा दिया, बस, पीछे घंटे दो घंटे बाद ही वह भूल जाता है। किसी प्रमेयका स्मरण रखनेकी अभिलाषा रखते हुये भी हम आवरणवश भूल जाते हैं। किसी दुःखकर प्रकरण या ग्लानियुक्त पदार्थोंके विस्मरण होना चाहते हुये भी अच्छी स्मृति होती रहती है। यही प्रत्यभिज्ञानोंमें समझलेना। उक्त संपूर्ण व्यवस्थाका कारण अंतरंगमें ज्ञानावरणका क्षयोपशमविशेष है। दूसरे हेतुओंका तो व्यभिचार देखा जाता है। यहां बौद्धोंके मतका निरास कर एकत्व, सादृश्य, प्रत्यभिज्ञानों और उनके विषयोंको सिद्ध किया है। अनुमानप्रमाणमें लिंगके प्रत्यभिज्ञानकी अत्यावश्यकता है। अर्थक्रिया, स्थिति, परितोष, समारोपव्यवच्छेदरूप सम्वाद प्रत्यभिज्ञानकी प्रमाणताको व्यवस्थापित करते हैं। कोई बाधक नहीं है। वस्तुका कथंचित् नित्यपना माननेपर ही क्रम, अक्रमसे, अर्थक्रियायें सधती हैं। क्षणिकपक्षका अनेक बार खण्डन कर दिया गया है। प्रमाणप्रसिद्ध विप्रकृष्ट अर्थोंमें शंका नहीं करनी चाहिये। परिणामी और द्रव्यपर्यायस्वरूप हो रही नित्यवस्तुमें सादृश्य परिणाम बन जाता है। अभ्यासदशामें स्वतः प्रमाणपना सिद्ध हो कर अनभ्यास दशाके ज्ञानोंमें उससे प्रमाणपना जान लिया जाता है। एकत्वके समान सादृश्य भी वस्तुभूत है। अनेक सदृश वस्तुओंमें न्यारा न्यारा रहनेवाला सादृश्य उनके साथ तदात्मक हो रहा है। अनेक सादृश्योंको उपचारसे एक कह देते हैं। इसमें नैयायिकोंके कुतर्कोंको अवकाश नहीं मिलपाता है। संशय,

विरोध, आदि दोष तो प्रतीयमान वस्तुके निकट नहीं फटकते हैं । बौद्धोंने वैसादृश्यका जैसे निर्वाह किया है, वैसे ही सादृश्यकी सिद्धि कर दी जाती है । अनेक पदार्थोंमें समानपनेका स्पष्ट प्रत्यक्ष हो रहा है । सम्पूर्ण पदार्थ समान और विसमान परिणामोंसे तदात्मक हो रहे हैं । बौद्धोंके माने हुये सर्वथा विलक्षण स्वलक्षणकी कभी किसी जीवको प्रतीति नहीं होती है । यहां और भी विचार चलाकर सादृश्यको परमार्थभूत साध दिया है । एकत्व या सादृश्यको जाननेवाले ज्ञान अविद्यारूप नहीं हैं । प्रत्यभिज्ञानकी निर्दोषसिद्धि कराकर तर्कज्ञानको साधनेका प्रकरण चलाया है । अनुमानके लिये उपयोगी व्याप्तिरूप–संबंधका ग्रहण तर्कसे ही संभव है । बौद्ध लोग संबंधको वास्तविक नहीं मानते हैं । उनके प्रति संबंधकी सिद्धि कराई है । अनेक अर्थक्रियायें संबंध द्वारा बन रही हैं । पुद्गलपुद्गलके संबंधसे अथवा जीव पुद्गलके सम्बन्धसे ही अनेकानेक कार्य हो रहे देखे जाते हैं । संबंधसे परितोष प्राप्त होता है । शून्यवादी, तत्त्वोपप्लववादी, ब्रह्माद्वैतवादी विद्वानोंको भी संबंध स्वीकार करना अनिवार्य हो जायगा । संबंधको जाननेवाले तर्कज्ञान द्वारा ही निःसंशय अनुमान हो सकेंगे । अतः अनुमानप्रमाणको माननेवाले या संपूर्ण भूत, भविष्य या माता पिता गुरुओंके प्रत्यक्षोंका प्रमाणपना बखाननेवालेको तर्कज्ञानका आशीर्वाद प्राप्त करना आवश्यक है । कथंचित् गृहीत अर्थका ग्राही होनेपर भी प्रमाणता अक्षुण्ण रहती है । जैसे पाराभस्मके योगसे सभी रसायनें निर्दोष हो जाती हैं, उसी प्रकार कथंचिद् लगा देनेसे दोष भी गुण हो जाते हैं । ठोस विद्वान् वस्तुओंकी परिणतिकी भित्तिपर ही कथंचित्के अपेक्षणीयोंका सन्निवेश करता है । तर्कज्ञानसे समारोपका व्यवच्छेद होता है । ऊह प्रमाणद्वारा संबंधग्रहण करनेपर पुनः ऊहकी आवश्यकता नहीं है । जिससे कि अनवस्था हो जाय । ऊहज्ञानकी स्वयं योग्यता ही उन कार्योंको संभाल लेती है । यदि यहां कोई यों कहे कि अनुमान भी तर्कके विना ही अपनी योग्यतासे साध्यज्ञानको कर लेगा, इसपर स्याद्वादियोंका बडा अच्छा उत्तर यह है कि वस्तुतः तुम्हारा कहना ठीक है । अनुमान अपने विषयकी ज्ञप्तिको स्वतंत्रतासे ही संभालता है, किन्तु उसकी उत्पत्ति तो निरपेक्ष नहीं है । अतः ऊहज्ञान अनुमानका उत्पादक कारण है, जैसे कि केवलज्ञानके उत्पादक महाव्रत, क्षपकश्रेणी, द्वितीयशुक्लध्यान आदिक हैं । किन्तु केवलज्ञानके उत्पन्न हो जानेपर स्वतंत्रतापूर्वक वह त्रिलोक-त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको सर्वदा जानता रहता है । अतः प्रत्यक्षके समान तर्क भी स्वतंत्र प्रमाण है । तर्कज्ञानसे समारोपका व्यवच्छेद और हान, उपादान, उपेक्षा बुद्धियां होती हैं । इस प्रकार विस्तारके साथ तर्कज्ञानका साधन कर अनुमान प्रमाणकी परिशुद्धि की है । अन्यथानुपपत्तिरूप एक लक्षणवाले हेतुसे शक्य, अभिप्रेत, असिद्ध, साध्यके अभिमुख बोध करना अनुमान है । यहां अभिनिबोधका अर्थ स्वार्थानुमान पकडना सामान्य मतिज्ञान नहीं । बौद्धोंने हेतुके तीन रूप माने हैं । उनका विस्तारके साथ खण्डन किया है । त्रैरूप्यके विना भी अविनाभावकी शक्तिसे सद्धेतुपना व्यवस्थित हो रहा है । कृत्तिकोदयको शकटोदय साधनेमें सद्धेतुपना है । संयोगी, समवायी, आदि

हेतुओंका विस्तार करना व्यर्थ है। यह प्रतिवादियोंके साथ हुआ जैनोंका शास्त्रार्थ सुनने योग्य है। जैनोंने अन्य हेतुभेदोंकी अपेक्षा अस्तित्व आदि सात भंगोंको हेतुभेद माननेके लिये प्रतिवादियोंको बाध्य किया है। बौद्धोंकी वासनाका निर्वासन कर सबको स्वभाव हेतुमें ही अन्तः प्रविष्ट हो जानेका आपादन करते हुये प्रातीतिक मार्गपर बौद्धोंको लाना यह जैनोंका ही अनुपम कार्य है। दृष्टान्त देकर अविनाभावकी पुष्टि की है। अनन्तर पक्षका विचार चलाया गया है। प्रतिज्ञा वाक्यके साध्यको ही पक्ष मानकर बौद्धोंके पक्षधर्मत्वरूपका खण्डन कर चुकनेपर सपक्षसत्व रूपका विचार चलाया है। सपक्षसत्व यानी अन्वयदृष्टान्तके बिना भी प्राणादिमत्त्वको सद्धेतु माना गया है। भस्म, कोयला, सूखे तृण, कपडा, शद्व, अन्धकार आदिमें चैतन्य नहीं है। ब्रह्माद्वैतवादियोंका सर्वत्र चैतन्य मानना अप्रासंगिक है। जडपदार्थोंका ज्ञानद्वारा प्रतिभास होता है। स्वयं नहीं। बौद्धोंका विज्ञानाद्वैत सिद्ध नहीं हो पाता है। परिणामी सांश आत्मामें ही प्राण आदिक क्रियायें सम्भवती हैं। सबको अनेकान्तात्मकपना साधनेपर अन्वयके विना भी अविनाभावकी शक्तिसे सत्त्वहेतु समीचीन माना है। बौद्धोंने भी सबको क्षणिकपना सिद्ध करनेपर सत्त्वको सद्धेतु माना है। अतः अन्वय यानी सपक्षमें वर्तना हेतुका लक्षण नहीं है। तीसरा विपक्षव्यावृत्तिरूप व्यतिरेक भी हेतुलक्षण नहीं है। व्यतिरेकका अन्तिमसिद्धान्त अविनाभाव ही निकलता है। अतः वे तीनों रूप अकिंचित्कर हैं। अकेले अविनाभावसे ही असिद्ध आदि हेत्वाभासोंकी व्यावृत्ति होती है। एक अत्यावश्यकरूपसे ही सम्पूर्ण प्रयोजन सध जाय तो परदेशमें व्यर्थ तीन रूपोंका लादे फिरना उपहासास्पदके अतिरिक्त श्रमवर्धक भी है। नैयायिकोंके द्वारा पांचरूपोंका बोझ लादना तो और भी अधिक क्षोभवर्धक है। असाधारण धर्मको लक्षण पुकारनेवाले ऐसी मोटी भूलकर बैठते हैं, इसपर खेद होता है। उनके माने हुये केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी हेतुओंमें पंचरूपत्व लक्षण घटित नहीं होता है। मित्रातनयत्व और लोहलेख्यत्व आदि हेत्वाभासोंमें रह जाता है। अतः अव्याप्ति, अतिव्याप्तिग्रस्त लक्षण समीचीन नहीं है। अविनाभावकी शक्तिसे ही प्रतिपक्षी अनुमान नहीं उठ सकेंगे तथा प्रत्यक्ष आदिसे बाधा भी नहीं आवेगी। यहां और भी विचार है। त्रैरूप्यका खण्डन कर देनेसे ही पांचरूप्यका निरास हो जाता है। जिसके पास तीन रुपया भी नहीं हैं, उसके पास पांच रुपये तो कैसे भी नहीं हैं। इसके पीछे नैयायिकों द्वारा माने गये पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट, हेतुओंके न्यारे न्यारे व्याख्यानोंका निरास किया है। केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी, अन्वयव्यतिरेकीरूप इनका व्याख्यान करना भी नहीं घटित होता है। गुण, गुणी, आदिके सर्वथा भेदको साधनेवाला अनुमान ठीक नहीं, यहां व्यतिरेक साधनेपर अच्छा विचार चलाया है। अवयवअवयवी, गुणगुणी, आदिका कथंचित् अभेद है। इस प्रकार "पूर्ववत्, शेषवत्" तो केवलान्वयी नहीं है। और "पूर्ववत्, सामान्यतोदृष्ट" केवलव्यतिरेकी नहीं है। तथा तीसरा "पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट" भी अन्वयव्यतिरेकी नहीं है। यह

नैयायिकोंके ग्रन्थोंका प्रमाण देकर कतिपय व्याख्यानोंका प्रत्याख्यान किया है। कार्य आदिक, वीत आदिक, रूप व्याख्यान भी फीके हैं। अन्यथानुपपत्तिके सत्त्व और असत्त्वसे हेतुका गमकपना या अगमकपना व्यवस्थित है। इसके आगे कारण या कार्य और अकार्यकारण इन तीनोंसे भी कोई प्रयोजन नहीं सधता, साधा है। कार्यकारण दोनोंके उभयरूप पदार्थका भी सद्भाव है। अंकुरकी संतान बीजकीसंतान एक दूसरेके कार्य और कारण हैं। सामान्य श्रुतज्ञान और सामान्य केवलज्ञान परस्परमें एक दूसरेके कार्य या कारण हैं। सन्तानियोंसे सन्तान कथंचित् भिन्न है। वह द्रव्य या गुणरूप नहीं है। वैशेषिकों द्वारा माने गये अभूताभूत आदि हेतु भी अन्यथानुपपत्तिके विना सफल नहीं हैं। अतः संक्षेपसे उपलम्भ और अनुपलम्भमें ही सम्पूर्णहेतुओंका अन्तर्भाव हो जाता है। कार्य आदि भेद करना निरर्थक है। उपलम्भ हेतु भी निषेधको साधते हैं। और अनुपलम्भ हेतु भी विधिको साधते हैं। अतः उपलम्भ और अनुपलम्भके लिये विधि और निषेधको ही साधनेका अवधारण करना उचित नहीं है। कार्य, कारण, स्वभाव, पूर्वचर आदि भेदोंसे उपलब्धि अनेक प्रकारकी है। अथवा अकार्यकारण नामक भेदके स्वभाव, व्यापक, आदि अनेक प्रभेद हो जाते हैं। प्रतिषेधको साधनेमें अर्थकी विरुद्ध उपलब्धिके भेद दिखाकर विद्वत्ताके अनेक ढंगोंसे अनेक प्रकारकी विरुद्ध उपलब्धिया दिखलाई हैं। मध्यमें अनेक विषयोंको स्पष्ट किया है। कारणको ज्ञापकहेतु माननेमें अन्त्यक्षण प्राप्तिको हटाते हुये अन्य कारणोंकी समग्रता और सामर्थ्यका नहीं रोका जाना बीज बताया है। कथंचित् नित्य अनित्य द्रव्यमें ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य बनते हुये अर्थक्रिया हो सकती है। आत्मा उपात्त शरीरके अनुसार परिमाणवाला है। व्यापक नहीं है। अनेक शास्त्रीयदृष्टान्तों द्वारा विरुद्ध उपलब्धिके भेदोंके प्रातीतिक उदाहरण दिये हैं। इन उदाहरणोंको उपलक्षण मानकर ज्ञापक हेतुओंके अन्य भी उदाहरण परीक्षकों द्वारा स्वयं लोकप्रसिद्धिके अनुसार प्रदर्शन कर लेना चाहिये, ऐसी हित शिक्षा दी है। आगे चल कर कार्यकारणसे भिन्न हो रहे यानी अकार्यकारण हेतुके भेदोंका उदाहरण दिखा लाया है। चिरपूर्व और उत्तरकालके अर्थोंको कारण माननेवाले बौद्धोंके मन्तव्यका निरास कर एक द्रव्य तादात्म्य ही रूप आदि गुणोंकी द्रव्यके साथ प्रत्यासत्ति बताई है। बौद्धोंके द्वारा कहे गये सम्पूर्ण हेतु तो अविनाभावसे विकल होनेके कारण हेत्वाभास हो जाते हैं। अनन्तर निषेध साधनेमें उपलब्धि, अनुपलब्धियोंके अनेक उदाहरण साधे हैं। इनका विशेष लम्बा व्याख्यान है। सभी हेतु उपलब्धि, अनुपलब्धियोंमें संग्रहीत हो जाते हैं। संयोगी, वीत, केवलान्वयी, कार्य, पूर्ववत् आदि आदि भेद करना अव्यवहार्य है। आगे चलकर साध्यके लक्षणमें पडे हुये शक्य, अभिप्रेत, अप्रसिद्ध, विशेषणोंकी कीर्त्ति करते हुये वार्त्तिकोंद्वारा बहुत अच्छा विवेचन किया है। पक्षका भी विचार किया है। संशय या जिज्ञासाको धरनेवाले ही प्रतिपाद्य नहीं होते हैं। किन्तु विपर्ययज्ञानी और अज्ञानी भी उसी प्रकार प्रतिपाद्य हैं। अन्वयरहित भी ज्ञापक हेतु होते हैं। पक्षके भीतर व्याप्ति बनाकर अन्तर्व्याप्तिके

बलसे भी सद्धेतु बन जाते हैं। अभिनिबोधका अर्थ यहां स्वार्थानुमान है। अर्थापत्ति प्रमाण, अभावप्रमाण, सम्भव, प्रतिभा, ये सब इनमें ही गर्भित हो जाते हैं। अथवा स्मृति आदिकको उपलक्षण मानकर अर्थापत्ति, प्रतिमा आदि सभी भेद मतिज्ञानके कह दिये गये समझ लेने चाहिये। इस सूत्र द्वारा मतिज्ञानके प्रकारोंका प्ररूपण किया गया है।

यस्माद्धृत्कमले जिनस्य चरणौ स्मृत्वा निजात्मार्थदृक् ।
सिद्धं स्वात्मसमानतैक्यविधिना संज्ञाय तं चिंतयन् ॥
मत्युत्थश्रुतशुक्लजामनुमितो प्राप्नोति सिद्धिं नरः ।
तच्छ्रीमुक्तिपितामहोपममतिज्ञानं सभेदं जयेत् ॥ १ ॥

———×———

अब मतिज्ञानके निमित्तकारणोंका निरूपण करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्रका अवतार करते हैं।

तदिंद्रियानिंद्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥

वह मतिज्ञान इन्द्रिय स्पर्शन आदि पांच तथा अनिन्द्रिय मनरूप निमित्तोंसे उत्पन्न होता है।

मतिविज्ञानस्याभ्यंतरत्वान्निमित्तं मतिज्ञानावरणवीर्यांतरायक्षयोपशमलक्षणं प्रसिद्धमेव वामुनानुमानादेस्तद्भावायोगादतः किमर्थमिदमुच्यते सूत्रमित्याशंकायामाह ।

मतिनामके विज्ञानका अभ्यन्तर होनेसे मतिज्ञानावरण कर्म और वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम स्वरूप वह निमित्तकारण जब प्रसिद्ध ही हो रहा है, तो फिर यह सूत्र किस प्रयोजनके लिये कहा जाता है। अथवा उस सूत्रके कहनेपर भी अनुमान, प्रत्यभिज्ञान, आदि मतिज्ञानोंको जब इन्द्रिय अनिन्द्रिय निमित्तपनेका सम्बन्ध नहीं होने पाता है, यानी अनुमानके कारण हेतुज्ञान, व्याप्तिस्मरण, तर्कज्ञान हैं। प्रत्यभिज्ञानके कारण दर्शन और स्मरण हैं। स्मृतिका कारण धारणा ज्ञान है। तर्कके कारण उपलम्भ और अनुपलम्भ हैं। इन्द्रिय और अनिन्द्रिय तो अनुमान, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क इन मतिज्ञानोंके कारण नहीं हैं। धारणाका भी अव्यवहित कारण अवायज्ञान है। अवायका अव्यवहित कारण ईहा मतिज्ञान है। ईहाका निमित्त या उपादान अवग्रह ज्ञान है। अवग्रहका अव्यवहित पूर्ववर्ती दर्शन उपयोग है। हां, दर्शनके निमित्त कारण इन्द्रिय और मन हो सकते हैं। अन्तरंग कारण तो मतिज्ञानावरणका क्षयोपशम सभी मतिज्ञानोंमें उपयोगी हो रहा है। ऐसी दशामें इन्द्रिय और अनिन्द्रियको मतिज्ञानका निमित्तकारण कहनेवाले इस सूत्रकी क्या आवश्यकता है? व्यर्थ अव्याप्ति दोषोंका खटका रखना ठीक नहीं, ऐसी आशंका होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य स्पष्ट समाधान कहते हैं।

तस्य बाह्यनिमित्तोपदर्शनायेदमुच्यते ।

तदित्यादिवचः सूत्रकारेणान्यमतच्छिदे ॥ १ ॥

उस मतिज्ञानके बहिरंग निमित्तोंका प्रदर्शन करानेके लिये यह सूत्र कहा जाता है अर्थात्-अन्यवादियोंकरके ज्ञानके जो निमित्तकारण मन और इन्द्रियां मानी हैं; वे बहिरंग निमित्त हैं, ऐसा हम अभीष्ट करते हैं। तथा अन्यमतोंके व्यवच्छेद करनेके लिये सूत्रकार द्वारा तत् इन्द्रिय अनिन्द्रिय आदि वचन कहे गये हैं। अर्थात्-अन्यमती विद्वानोंने कदाचित् योगीका प्रत्यक्ष भी इन्द्रियजन्य माना है। घट आदिके मतिज्ञानोंमें आलोक, सन्निकर्ष, इन्द्रियवृत्ति, आदिको भी निमित्त कारण इष्ट किया है। किन्तु इस सूत्रमें अवधारण कर उन मतोंका निराकरण हो जाता है।

कस्य पुनस्तच्छब्देन परामर्शो यस्य बाह्यनिमित्तोपदर्शनार्थं तदित्यादि सूत्रमभिधीयत इति तावदाह ।

तत् यह सर्वनाम पद पूर्वमें जाने गये विषयका परामर्श करनेवाला माना गया है। तो फिर बताओ, यहां तत् शद्बकरके किस परोक्षपदार्थका परामर्श किया जाता है, जिसके कि बहिरंग निमित्त कारणोंको दिखलानेके लिये " तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् " यह सूत्र उमास्वामी महाराज करके कहा जाता है। इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर तो श्रीविद्यानन्द स्वामी उत्तर कहते हैं।

तच्छद्बेन परामर्शोनर्थांतरमिति ध्वनेः ।

वाच्यस्यैकस्य मत्यादिप्रकारस्याविशेषतः ॥ २ ॥

पूर्वसूत्रमें कहे हुये अनर्थान्तर इस शद्बका तत् शद्बकरके परामर्श होता है। पूर्वसूत्रमें इतिका अर्थ प्रकार कहा गया है। अतः मतिः स्मृतिः आदि प्रकार स्वरूप एक ही वाच्य अर्थका सामान्यरूपसे परामर्श कर लिया गया है।

मतिज्ञानस्य सामर्थ्याल्लभ्यमानस्य वाक्यतः ।

तदेव तच्च विज्ञानं नान्यथानुपपत्तितः ॥ ३ ॥

किसीका कटाक्ष है कि ऊपरके सूत्रवाक्यकी सामर्थ्यसे प्राप्त करने योग्य मतिज्ञानका तत् शद्ब करके परामर्श होना चाहिये। अर्थात्-मतिः स्मृतिः इस सूत्रमें मतिज्ञानके प्रकारोंका ही कण्ठोक्त कथन किया है। मतिज्ञानका नामनिर्देश नहीं है। फिर भी वाक्यकी सामर्थ्यसे मतिज्ञान ही प्रधान होकर तत् शद्बसे पकड़ा जा सकता है। अतः वही मतिज्ञानविशेष तत् है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि अव्यवहित पूर्वमें उपात्त हो रहा अनर्थान्तर शद्ब ही अन्यथानुपपत्ति होनेसे ग्राह्य है।

प्रत्यासन्नत्वादभिनिबोधस्य तच्छद्वेन परामर्शः प्रसक्तश्चिंतायास्तस्य च प्रत्यासत्तेरिति न मन्तव्यमनर्थान्तरमिति शद्वेन वाच्यस्य मत्यादिप्रकारस्यैकस्याविशेषतः सामर्थ्याल्लभ्यमानस्य प्रत्यासन्नतरस्य सुखवद्भावात्तच्छद्वेन परामर्शोपपत्तेः स्वेष्टसिद्धेश्च तस्यास्य बाह्यनिमित्तमुपदर्शयितुमिदमुच्यते ।

पूर्वसूत्रद्वारा कहे गये मतिज्ञानके पाच भेदोंमें अन्तमें कहे गये अभिनिबोधका निकटवर्त्ती होनेसे तत् शद्व द्वारा परामर्श होना प्रसग प्राप्त होता है । और उस अभिनिबोधके निकटवर्त्ती होनेसे चिंताके परामर्श होनेका भी प्रसंग आता है । यह तो नहीं मानना चाहिये । क्योंकि अनर्थान्तरं इस शद्वकरके कहे जा रहे मति स्मृति आदिक प्रकारोंसे युक्त हो रहे एकका या मति आदि प्रकाररूप एकका सामान्यरूपसे परामर्श होना बन जाता है । वह एक प्रकार ही वाक्यकी सामर्थ्यसे लभ्यमान है । अनर्थान्तरका वाच्य वह अत्यन्त निकट भी है । अतः सुखपूर्वक उपस्थिति हो जानेके कारण उसका तत् शद्वकरके परामर्श होना बन सकता है । तथा उसीसे हमारे अभीष्टकी सिद्धि भी होती है । इस कारण उस मति स्मृति आदिसे अनर्थान्तर हो रहे इस मतिज्ञानके बहिरंग निमित्त कारणोंको दिखलानेके लिये यह सूत्र कहा जाता है । अथवा निकटतम सुखका आत्मामें जैसे झट प्रतिभास हो जाता है, वैसे ही अनर्थान्तरका शीघ्र परामर्श हो जाता है ।

किं पुनस्तदित्याह ।

बहिरग कारण फिर वे कौन हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं ।

वक्ष्यमाणं च विज्ञेयमत्रेंद्रियमनिंद्रियम् ।
तद्द्वैविध्यं विधातव्यं निमित्तं द्रव्यभावतः ॥ ४ ॥

इस सूत्रमें कहे गये इन्द्रिय और अनिन्द्रिय उस मतिज्ञानके निमित्त कारण जान लेने चाहिये । द्रव्य इन्द्रिय और भाव इन्द्रियके भेदसे वे इन्द्रिय अनिन्द्रिय दो प्रकारके कर लेने चाहिये । जो कि प्रकार भविष्य दूसरे अध्यायमें कह दिये जायंगे ।

वक्ष्यते हि स्पर्शनादींद्रियं पंच द्रव्यभावतो द्वैविध्यमास्तिघ्नुवानं तथानिंद्रियं चानियतमिंद्रियेष्टेभ्योन्यत्वमात्मसात्कुर्वदिति नेहोच्यते । तद्बाह्यनिमित्तं प्रतिपत्तव्यं ।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, ये पांचों बहिरंग इन्द्रिया द्रव्य और भावसे दो प्रकारपनको प्राप्त हो रहीं कह दीं ही जावेंगी तथा मन भी द्रव्य, भाव, रूपसे दो प्रकारका समझा दिया जायगा । जैसे चक्षु, रसना आदिके लिये स्थान नियत हो रहे हैं, विषय नियत हो रहे हैं, वैसे मनका स्थान और विषय नियत नहीं है । हृदयमें बने हुये आठ पाखुरीके विकसित कमल समान

उपकरणमें अङ्गुलके असंख्यातवें भाग अवगाहनावाला द्रव्य मन कभी किसी पांखुरीपर चला जाता है। कभी कर्णिकामें आ बैठता है। अतः विचलित हो रहा मन नियत स्थितपनेसे इष्ट की गयीं पांच इन्द्रियोंसे भिन्नपनेको अपने अधीन करता संता दोपनेको प्राप्त हो रहा है। आत्माकी मन इन्द्रियावरणके क्षयोपशम अनुसार विचाररूप परिणति भावमन है। और हृदयस्थ कमलमें मनोवर्गणासे बन गया पौद्गलिक पदार्थ द्रव्यमन है। आठ पत्तेवाले कमलसे अतिरिक्त स्थानोंपर मनकी गतिको हम जैन इष्ट नहीं करते हैं। जैसे कि नैयायिक एक ही समयमें लाखों योजन तक मनका चला जाना आ जाना अभीष्ट करते हैं। सर्वव्यापक आत्मामें चाहे जहां मन घूमता रहता है। परमाणुके बराबर मन है, ऐसा हम स्याद्वादी नहीं मानते हैं। जब कि इन्द्रियों और मनको भेदसहित द्वितीय अध्यायमें कह देवेंगे ही, इस कारण यहां उनका व्याख्यान नहीं करते हैं। मतिज्ञानके बहिरंग कारण उनको समझ लेना चाहिये।

किमिदं ज्ञापकं कारकं वा तस्येष्टं कुतः स्वेष्टसंग्रह इत्याह।

क्या ये इन्द्रिय, अनिन्द्रियें उस मतिज्ञानके ज्ञापक हेतु हैं ? अथवा कारक हेतु इष्ट किये हैं ? बताओ। किस ढंगसे इनको हेतु मानकर अपने इष्ट सभी भेदोंका संग्रह हो सकता है ? ऐसी प्रतिपाद्यकी आकांक्षा होनेपर विद्यानन्द आचार्य स्पष्ट कथन करते हैं।

निमित्तं कारकं यस्य तत्तथोक्तं विभागतः।
वाक्यस्यास्य विशेषाद्वा पारंपर्यस्य चाश्रितौ ॥ ५ ॥

जिसका निमित्त कारण जो कहा जाता है, वह उसका तिस प्रकार कारक हेतु समझना चाहिये। इस सूत्रके वाक्यका विशेषकरके योग–विभाग करनेसे सभी इष्टभेदोंमें इन्द्रिय अनिन्द्रिय निमित्तपना बन जाता है। अथवा परम्पराका आश्रय करनेपर तो योगविभाग न करते हुये भी स्पर्शज्ञान, रूपज्ञान, स्मृति, चिंता आदिमें इन्द्रिय और मनका निमित्तपना घटित हो जाता है।

तद्धि निमित्तमिह न ज्ञापकं तत्प्रकरणाभावात्। किं तर्हि। कारकं। तथा च सति प्रकृतमिंद्रियमनिंद्रियं च निमित्तं यस्य तत्तथोक्तमेकं मतिज्ञानमिति ज्ञायते इष्टसंग्रहः। पुनरस्य वाक्यस्य विभजनात्तदिंद्रियानिंद्रियनिमित्तं धारणापर्यंतं तदनिंद्रियनिमित्तं स्मृत्यादीनां सर्वसंग्रहात्।

वह निमित्तपना यहां ज्ञप्तिके निमित्त कारण ज्ञापकपनेसे गृहीत नहीं किया है। क्योंकि यहां उन ज्ञापक हेतुओंका प्रकरण नहीं है। ज्ञापकज्ञान स्वयं कारकोंसे बनाया जा रहा है, तो क्या है ? इसका उत्तर वे कारक हेतु हैं, यह है और तैसा होनेपर बहुव्रीहि समासकी सामर्थ्यसे वे इन्द्रिय, अनिन्द्रिय, जिसके निमित्त हैं, वह तिस प्रकारका एक मतिज्ञान कहा गया है। इस प्रकार मतिज्ञानके इष्ट किये गये सभी भेदप्रभेदोंका संग्रह कर लिया गया समझ लेना चाहिये। इस

सूत्रवाक्यका एकवार इन्द्रिय और अनिन्द्रिय अर्थ कर लेना चाहिये। पुनः इस वाक्यका विभाग कर अकेले अनीन्द्रिय अर्थको ही पकडना चाहिये। वह मतिज्ञान इन्द्रिय अनिन्द्रियनिमित्तोंसे उत्पन्न होता है। ऐसा अर्थ करनेसे तो अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, तकके मतिज्ञान इस लक्षणसे उक्त हो जाते हैं। और वह अनिन्द्रियनिमित्तसे उत्पन्न होता है। ऐसा विभाग करनेसे स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, इन सबका ग्रहण हो जाता है। भावार्थ—धारणापर्यन्तज्ञान तो इन्द्रिय अनिन्द्रिय चाहे जिनसे न्यारे न्यारे उत्पन्न हो जाते हैं। अतः पूरा वाक्य तो धारणापर्यन्त मतिज्ञानोंमें घटित होता है। किन्तु स्मृति आदिक मतिज्ञान तो मनके निमित्तसे ही उत्पन्न होते हैं। अतः उस सूत्रका योगविभाग कर अनिन्द्रिय पदको ही खेंचकर अर्थ संघटित होता है।

पारंपर्यस्य चाश्रयणे वाक्यस्याविशेषतो वाभिप्रेतसिद्धिः। यथा हि धारणापर्यंतं तदिंद्रियनिमित्तं तथा स्मृत्यादिकमपि तस्य परंपरयेंद्रियानिंद्रियनिमित्तत्वोपपत्तेः।

हां, यदि परम्परासे भी पडनेवाले निमित्त कारणोंका आश्रय किया जाय तब तो विशेषरूपसे विभाग नहीं करते हुये भी अभिप्रेतकी सिद्धि हो जाती है। जिस कारण कि जैसे अवग्रहसे प्रारम्भ कर धारणापर्यन्त उन मतिज्ञानोंके निमित्तकारण इन्द्रिय अनिन्द्रिय हो रहे हैं, तिसी प्रकार स्मृति आदिक भी स्वकीय निमित्तकारण इन्द्रिय, अनिन्द्रियोंसे बन रहे हैं। यह बात दूसरी है कि उन स्मृति आदिकोंमें इन्द्रिया परम्परासे निमित्तकारण हैं। किन्तु सामान्यरूपसे निमित्तकारणोंका विचार करनेपर सम्पूर्ण मतिज्ञानोंके कारण इन्द्रिय अनिन्द्रिय पड जाते हैं। ऐसी परम्परा दशामें योग विभाग कर अनिन्द्रियपदको अकेला न्यारा खींचनेकी आवश्यकता नहीं है।

किं पुनरत्र तदेवेंद्रियानिंद्रियनिमित्तमित्यवधारणमाहोस्वित्तदिंद्रियानिंद्रियनिमित्तमेवेति कथंचिदुभयमिष्टमित्याह।

यहां फिर किसीका प्रश्न है कि क्या वह मतिज्ञान ही इन्द्रिय और अनिन्द्रियरूप निमित्त कारणसे होता है। इस प्रकार पहिले उद्देश्य दलमें एवकार लगाकर अवधारण करना अभीष्ट है? अथवा क्या वह मतिज्ञान इन्द्रिय, अनिन्द्रियरूप निमित्तोंसे ही उत्पन्न होता है। यह विधेय दलमें एवकार लगाकर नियम करना इष्ट है? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज कथंचित् दोनों ही अवधारणोंको इष्ट करते हुये इस वक्ष्यमाण कारिकाको कहते हैं।

वाक्यभेदाश्रये युक्तमवधारणमुत्तरं।
तदभेदे पुनः पूर्वमन्यथा-व्यभिचारिता ॥ ६ ॥

" तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं " इस सूत्रका योगविभागकर वाक्यभेदका आश्रय करनेपर तो पिछला अवधारण करना युक्त है। अर्थात्—इन्द्रिय अनिन्द्रिय निमित्तोंसे ही वह मतिज्ञान होता है। धारणापर्यन्त मतिज्ञान तो इन्द्रिय, मन, दोनोंसे ही उपजते हैं। और स्मृति आदिक मतिज्ञान

मनसे ही बनते हैं। हां, यदि वाक्यभेद इष्ट नहीं है, तब तो पिछला अवधारण करना अयुक्त है। क्योंकि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमानरूप वह मतिज्ञान तो स्वातंत्र्यसे इन्द्रिय मन दोनों करके नहीं उत्पन्न होता है। हां, उस वाक्यभेदका आश्रय नहीं करनेपर तो फिर पहिला अवधारण करना उपयुक्त है। अन्यथा सूत्रवाक्यके अर्थमें व्यभिचारीपन दोष उपस्थित हो जायगा। भावार्थ—मन, इन्द्रिय दोनों ही स्वतंत्र कारणोंसे मतिज्ञान ही उत्पन्न होता है। श्रुतज्ञान तो अकेले मनसे ही बन जाता है। पूर्व अवधारण नहीं माननेपर तो मतिज्ञानके सिवाय अन्यज्ञानोंको भी इन्द्रियजन्यपनेका प्रसंग प्राप्त होगा। ऐसी दशामें मतिज्ञानके लक्षणका या मतिज्ञानपनको साध्य बनाकर इन्द्रियमनसे जन्यपना हेतु करनेसे व्यभिचार दोष होना संभवता है। पहिला अवधारण कर देनेसे व्यभिचारकी सम्भावना नहीं है। मतिज्ञान ही इन्द्रिय अनिन्द्रिय उभयसे जन्य है। अन्य ज्ञान नहीं।

कुतः पुनरवधारणादन्यमतच्छित्कुतो वा मत्यज्ञानं श्रुतादीनि च व्यवच्छिन्नानीत्याह।

शंकाकार फिर कहता है कि पहिली कारिकामें आपने कहा था कि इस सूत्रके करनेसे अन्य मतोंका फिर निरास हो जाता है! सो बताओ, कौनसे अवधारणसे अन्य मतोंका छेद हुआ है? तथा किस अवधारणके करनेसे मति अज्ञान और श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, कुश्रुत, विभंग, मनःपर्यय आदि ज्ञानोंका व्यवच्छेद हुआ है? बताओ। इस प्रकार प्रश्न होने पर आचार्य महाराज समाधान करते हैं।

ध्वस्तं तत्रार्थजन्यत्वमुत्तरादवधारणात्।
मत्यज्ञानश्रुतादीनि निरस्तानि तु पूर्वतः ॥ ७ ॥

पिछले विधेय दलमें अवधारण करनेसे बौद्धों द्वारा माना गया उस ज्ञानमें अर्थजन्यपना नष्ट कर दिया जाता है। अर्थात्—मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रियसे ही उत्पन्न हुआ है। अन्य विषयरूप अर्थसे जन्य नहीं। तथा प्रथम अवधारणसे तो पहिले, दूसरे, तीसरे, गुणस्थानोंमें सम्भवनेवाला मति अज्ञान, और चौथे आदि गुणस्थानोंमें सम्भव रहा श्रुतज्ञान या अवधिज्ञान तथा छठे आदिमें सम्भव रहा मनःपर्ययज्ञान एवं तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानों या सिद्धपरमेष्ठियोंके केवलज्ञानका अथवा पहिले दूसरे गुणस्थानके कुश्रुत, विभंगज्ञानोंका निवारण कर दिया जाता है। यानी इन्द्रिय अनिन्द्रिय दोनोंसे उत्पन्न होने वाला एक मतिज्ञान ही है। दूसरे ज्ञान ऐसे नहीं हैं। तिनमें कुश्रुत और श्रुतज्ञानमें तो बहिरंग कारण मन ही पड सकता है। अन्य प्रत्यक्ष ज्ञानोंमें मन और इन्द्रियोंको निमित्त कारण बननेकी आवश्यकता नहीं पडती है। अभिप्राय यह है कि प्रस्तावप्राप्त समीचीन पांच ज्ञानोंमें अकेला मतिज्ञान ही इन्द्रिय अनिन्द्रिय उभयसे जन्य है।

अत्रार्थजन्यमेव विज्ञानमनुमानात्सिद्धं नार्थाजन्यं यतस्तद्व्यवच्छेदार्थमुत्तरावधारणं स्यादिति मन्यमानस्यानुमानमुपन्यस्य दूषयन्नाह ।

यहां बौद्ध कहते हैं कि लोकमें प्रसिद्ध हो रहा प्रत्यक्षस्वरूप विज्ञान तो विकल्परहित स्वलक्षणरूप अर्थसे जन्य हो ही रहा है । इस बातको हम अनुमानसे सिद्ध कर चुके हैं । अतः कोई भी यथार्थज्ञान अर्थसे अजन्य नहीं है, जिससे कि उस अर्थजन्यपनका निषेध करनेके लिये पिछला अवधारण किया जाय, इस प्रकार मान रहे बौद्धोंके अनुमानका उपकथन कर उसको दूषित करते हुये श्री विद्यानन्द आचार्य स्पष्ट निरूपण करते हैं ।

स्वजन्यज्ञानसंवेद्योर्थः प्रमेयत्वतो ननु ।
यथानिंद्रियमित्येके तदसद्व्यभिचारतः ॥ ८ ॥
निःशेषवर्तमानार्थो न स्वजन्येन सर्ववित् ।
संवेदनेन संवेद्यः समानक्षणवर्तिना ॥ ९ ॥

बौद्धोंकी अनुज्ञा है कि अर्थ (पक्ष) अपनेसे उत्पन्न हुये ज्ञान करके भले प्रकार जानने योग्य है (साध्य), प्रमेयपना होनेसे (हेतु), जैसे कि मन (दृष्टान्त), अर्थात्—मन इन्द्रियको मन इन्द्रियजन्य अनुमान द्वारा ही जाना जाता है । अथवा जैन लोग क्षयोपशमको क्षयोपशमजन्य ज्ञान द्वारा जान लेते हैं । इस प्रकार मनको बड़ा अच्छा दृष्टांत पाकर कोई एक बौद्ध कह रहे हैं । वह उनका कहना प्रशंसनीय नहीं है । क्योंकि व्यभिचार दोष हो रहा है । देखिये, वर्तमान कालके सम्पूर्ण अर्थ तो स्वयं अपनेसे उत्पन्न हुये ज्ञानद्वारा नहीं जाने जा रहे हैं । जानने योग्य अर्थके समानक्षणमें वर्त रहे सम्वेदनकरके वह अर्थ नहीं जाना जा सकता है । अर्थात्—बौद्ध, नैयायिक, जैन, मीमांसक, सभीके यहां यह निर्णीत हो चुका है कि अव्यवहित पूर्वक्षणमें वर्तनेवाले कारण द्वितीय क्षणवर्त्ती कार्योंका सम्पादन करते हैं । बैलके डेरे सीधे सींगों समान एक ही क्षणमें रहनेवाले पदार्थोंमें परस्पर कार्यकारणभाव नहीं माना गया है । अतः ज्ञानके भी कारण उसके पूर्व समयमें रहनेवाले पदार्थ हो सकते हैं । किन्तु क्षणिकवादियोंके मत अनुसार ज्ञानकी उत्पत्ति हो जानेपर वे कारण अर्थ नष्ट हो जाते हैं । ऐसी दशामें बौद्धोंके यहां कोई भी विद्यमान पदार्थ स्वजन्यज्ञान द्वारा वेद्य नहीं हो सकेगा । अर्थके कालमें स्वजन्यज्ञान नहीं और ज्ञानकालमें अर्थ नहीं रहा तथा बौद्धोंके यहां स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष भी नहीं बन सकेगा । किन्तु बौद्धोंने ज्ञानजन्य न होते हुये भी ज्ञानका सम्वेदन प्रत्यक्षसे ज्ञान होना माना है । अर्थजन्यपनेका ज्ञानमें आग्रह करनेपर सर्वज्ञता नहीं बन सकेगी है । क्योंकि चिरंतर, भूत, और भविष्यकालों तथा वर्तमानकालके अर्थोंको सर्वज्ञज्ञानमें कारणपना नहीं बन सकनेसे बुद्धकी सर्वज्ञता क्षीण हो जायगी । केवलज्ञानके अव्यवहित पूर्ववर्त्ती

समयके पदार्थ ही कारण बन सकते हैं। उतने ही अर्थोंको अधिकसे अधिक सर्वज्ञ जान सकेगा तथा अर्थके विना भी द्विचन्द्रज्ञान या शुक्तिमें रजतज्ञान हो जाते हैं। वर्तमानमें नहीं उग रहे रोहिणी नक्षत्रकी कृत्तिकोदयहेतुसे अनुमान द्वारा ज्ञप्ति हो जाती है। कहांतक कहा जाय, प्रत्यक्ष, अनुमान, आगमद्वारा भूत, भविष्य, दूरवर्त्ती, उन प्रमेयोंकी ज्ञप्ति हो जाती है, जो कि उक्त ज्ञानोंमें कैसे भी कारण नहीं बन सके हैं। विशेष जातिके खिच्चरको उत्पन्न कर जैसे अश्वतरी मर जाती है, पुत्र अपनी जननीको नहीं देख पाता है, वैसे ही बौद्धोंका ज्ञान अपनी जननी—वस्तुको नहीं जान सकेगा।

स्वार्थजन्यमिदं ज्ञानं सत्यज्ञानत्वतोन्यथा।
विपर्यासादिवत्तस्य सत्यत्वानुपपत्तितः॥ १०॥
इत्यप्यशेषविद्बोधैरनैकांतिकमीरितं।
साधनं न ततो ज्ञानमर्थजन्यमिति स्थितम्॥ ११॥

सीपमें हुये चांदीके ज्ञानके या चन्द्रद्वयज्ञानके व्यभिचारको हटाते हुये यदि बौद्ध यह दूसरा अनुमान करें कि यह प्रत्यक्षज्ञान (पक्ष) अपने विषयभूत आलम्बन अर्थसे जन्य है (साध्य), सत्यज्ञानपना होनेसे (हेतु), अन्यथा यानी प्रत्यक्षज्ञानको अर्थजन्य न माननेपर विपर्यय, संशय आदि कुज्ञानोंके समान उस प्रत्यक्षका सत्यपना नहीं बन सकेगा। अब आचार्य कहते हैं कि इस दूसरे अनुमानका हेतु भी सर्वज्ञज्ञानोंसे व्यभिचार दोष युक्त हो रहा कह दिया गया समझ लो। अर्थात्—त्रिलोक त्रिकालवर्ती पदार्थोंको जाननेवाले सर्वज्ञके ज्ञान अपने आलम्बन अखिल विषयोंसे जन्य नहीं होते हुये भी सत्यज्ञान हैं। जो कार्यके आत्मलाभमें कुछ व्यापार करता है, वह कारण होता है। भूत, भविष्यकी पर्यायें जब ज्ञानकालमें विद्यमान ही नहीं हैं, तो वे कार्यकी उत्पत्तिमें कथमपि सहायता नहीं कर सकती हैं। पहिले तुलचुका या आगे तुलनेवाला घृत कृपण बनियेंकी तखरीमें बोझ नहीं बढा सकता है। चिरभूत या चिरभविष्यकालमें रहनेवाले पदार्थोंको भी कारण मान लेना तो बुद्धपनका लालबुझक्कड न्याय किसीको भी मान्य नहीं हो सकता है। देखो अन्वय और व्यतिरेकसे कार्यकारणभाव साधा जाता है। ज्ञानको अर्थजन्य माननेमें अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेक व्यभिचार दोष आते हैं, ये हम कह चुके हैं। तिस कारण विषयभूत अर्थसे जन्यज्ञान नहीं है, यह सिद्धान्त स्थित हो चुका है। अतः उत्तर अवधारण करना चाहिये, जिससे कि बौद्धमन्तव्यका व्यवच्छेद हो जाता है।

नन्वेवमालोकजन्यत्वमपि ज्ञानस्य चाक्षुषस्य न स्यादिष्टं च तदन्यथानुपपत्तेः। परप्रत्ययः पुनरालोकलिंगादिरिति वचनात्। तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात्तस्य तज्जन्यत्वेऽर्थजन्यत्वमपि सत्यस्यास्मदादिज्ञानस्यास्तु विशेषाभावात्।

अत्र नैयायिकोंको सहायक बनाते हुये बल पाकर बौद्ध कहते हैं कि इस प्रकार अर्थजन्य-पनके खण्डनार्थ उठाये गये झपटेमें तो चाक्षुषप्रत्यक्षका आलोकसे जन्यपना भी नहीं रक्षित रह सकेगा। नैयायिकों और वैशेषिकोंने अन्यथानुपपत्तिसे ज्ञानको उस आलोकसे जन्य अभीष्ट किया है। यानी ज्ञेय अर्थके साथ तैजस आलोकका सम्बन्ध हुये विना चक्षुइन्द्रिय जन्य प्रत्यक्षकी उपपत्ति नहीं बनती है। तथा इस प्रकार ग्रन्थोंमें भी कहा है कि ज्ञानोंके न्यारे दूसरे कारण फिर आलोक, लिङ्ग, शब्द, आदिक हैं। यदि आलोकके साथ उस ज्ञानका अन्वयव्यतिरेक अनुविधान हो रहा है, अतः उस चाक्षुषप्रत्यक्षका उस आलोकसे जन्यपना मानोगे तब तो अर्थजन्यपना भी हम आदि जीवोंके सत्यज्ञानोंको हो जाओ। ज्ञानके साथ अन्वयव्यतिरेकके अनुविधानकी अपेक्षा आलोक और अर्थमें कोई अन्तर नहीं है।

न चैवं संशयादिज्ञानमंतरेण विरुध्यते तस्य सत्यज्ञानत्वाभावात्। नापि सर्वविद्बोधैरनैकांतिकत्वमस्मदादिसत्यज्ञानत्वस्य हेतुत्वात्। अस्मदादिविलक्षणानां तु सर्वविदां ज्ञानं चार्थाजन्यं निश्चित्यास्मदादिज्ञानेऽर्थाजन्यत्वशंकायां नक्तंचराणां मार्जारादीनामंजनादिसंस्कृतचक्षुषां वास्मद्विजातीयानामालोकाजन्यत्वमुपलभ्यास्मदादीनामपि नार्थवेदनस्यालोकाजन्यत्वं शंकनीयमिति कश्चित् तं प्रत्याह।

अभी बौद्ध ही कह रहा है कि इस प्रकार अर्थके विना भी हो रहे संशय, विपर्यय आदि ज्ञान देखे जाते हैं, यह तो विरुद्ध नहीं पडता है। क्योंकि उन संशय आदिकोंको सत्यज्ञानपन नहीं है। तथा हम बौद्धोंके हेतुका सर्वज्ञज्ञानोंकरके भी व्यभिचार दोष नहीं आता है। क्योंकि हम, तुम, आदि लौकिक जीवोंके सम्यग्ज्ञानका सत्यज्ञानपना हमने हेतु माना है। जो हम सारिखे व्यवहारीजनोंसे विलक्षण हैं। उन सर्वज्ञोंका ज्ञान तो अर्थजन्य नहीं है। यदि उन महान् पुरुषोंके ज्ञानोंमें अर्थसे अजन्यपनेका निश्चय कर हम आदि लोगोंके ज्ञानोंमें भी अर्थसे नहीं उत्पन्न हुयेपनकी शंका रक्खी जावेगी तब तो रातमें यथेच्छ विचरनेवाले बिल्ली, सिंह, उल्लूक, चिमगादर, आदि पशु, पक्षियों या अंजन, मंत्र, पिशाच, आदि कारणोंसे संस्कारयुक्त हो रहे चक्षुओंवाले मनुष्यों जो कि हम लोगोंसे भिन्न जातिवाले हैं, उन जीवोंके चाक्षुषप्रत्यक्षको आलोकसे अजन्यपना देख कर असमत् आदिकोंके भी अर्थप्रत्यक्षको आलोकसे अजन्यपना सम्भव जायगा जो कि कथमपि नहीं शंकित करना चाहिये। क्योंकि वह सर्वज्ञ हम लोगोंसे अतिशययुक्त ज्ञानका धारी है। घोडीके पैरमें नाल जडते हुये देख कर मैंडकीका उन नालोंके लिये पाव पसारना अनुचित है। इस प्रकार कोई बौद्धवादी कह रहा है। उसके प्रति आचार्य महाराज समाधान वचन कहते हैं।

आलोकेनापि जन्यत्वे नालंबनतया विदः।
किं त्विंद्रियबलाधानमात्रत्वेनानुमन्यते ॥ १२ ॥

तथार्थजन्यतापीष्टा कालाकाशादितत्त्ववत् ।
सालंबनतया त्वर्थो जनकः प्रतिषिध्यते ॥ १३ ॥

आलोकके द्वारा भी ज्ञानका जन्यपना माननेपर आलम्बनरूपसे आलोकको ज्ञानके प्रति कारणता नहीं है। किन्तु कतिपय चक्षुइन्द्रियोंको बल (अतिशय) प्राप्त करा देना केवल इतना ही सहारा दे देनेसे काल, आकाश, आदि तत्त्वोंके समान आलोकको भी निमित्त माना जा सकता है। और तिसी प्रकार बलाधायकरूपसे ज्ञानमें अर्थजन्यपना भी इष्ट कर लिया जाता है। प्रमेयत्वगुणका भोग होनेसे अर्थोंका अपने अपने कालमें सद्भाव रहना मात्र ज्ञानका बलाधायक बन सकता है। किन्तु सालम्बनरूप करके तो अर्थका जनकपना निषेधा जा रहा है। अर्थात्— बूढे पुरुषको लठिया पद पदपर जैसे आलम्बन हो रही है, वैसे ज्ञानकी उत्पत्ति करनेमें ज्ञेय अर्थ सहायता नहीं दे रहे हैं। ज्ञानका ज्ञेयके साथ विषयविषयीभावके अतिरिक्त कोई कार्यकारण आधार आधेय-भाव सम्बन्ध नहीं माना गया है।

इदमिह संप्रधार्यं किमस्मदादिसत्यज्ञानत्वेनालोको निमित्तमात्रं चाक्षुषज्ञानस्येति प्रतिपाद्यते कालाकाशादिवत् आहोस्विदालंबनत्वेनेति ? प्रथमकल्पनायां न किंचिदनिष्टं द्वितीयकल्पना तु न युक्ता प्रतीतिविरोधात्। रूपज्ञानोत्पत्तौ हि चक्षुर्बलाधानरूपेणालोकः कारणं प्रतीयते तदन्वयव्यतिरेकानुविधानस्यान्यथानुपपत्तेः तद्वदर्थोपि यद्याध्यक्षणज्ञानस्य जनकः स्यान्न किंचिद्विरुध्यते तस्यालंबनत्वेन जनकत्वोपगमे व्याघातात्। आलंबनं ह्यालंबनत्वं ग्राह्यत्वं प्रकाश्यत्वमुच्यते तच्चार्थस्य प्रकाशकसमानकालस्य दृष्टं यथा प्रदीपः स्वप्रकाश्यस्य। न हि प्रकाश्योर्थः स्वप्रकाशकं प्रदीपमुजनयति स्वकारणकलापादेव तस्योपजननात्।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यहां यह विचार चलाकर निर्णय कर लेना चाहिये कि हम आदि लौकिक जीवोंके सत्यज्ञानपने करके आलोक चाक्षुष प्रत्यक्षका काल, आकाश, आदिके समान केवल निमित्तकारण है। ऐसा समझा रहे हो ? अथवा क्या आलोकको चक्षु-इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षका आलम्बनपनेकरके कारणता आप वैशेषिक बखान रहे हो ? इसका उत्तर वैशेषिक स्पष्ट कहें। पहिले पक्षकी कल्पना करनेपर तो हम जैनोंको कोई अनिष्ट नहीं है। अर्थात्— सम्पूर्ण कार्योंमें जैसे काल, आकाश, आदि पदार्थ अप्रेरक होकर निमित्तकारण हो रहे हैं। वैसे ही मनुष्य आदिके चाक्षुषज्ञानका आलोक भी सामान्य निमित्त हो जाता है। हां, द्वितीयपक्षकी कल्पना करना तो युक्तिपूर्ण नहीं है। क्योंकि प्रतीतियोंसे विरोध हो जावेगा। देखिये, मार्जार, व्याघ्र, आदि जीवोंके चाक्षुषप्रत्यक्षमें तो आलोक कारण कथमपि नहीं है। हां, मन्दतेजको धारनेवाली चक्षुओंसे युक्त हो रहे मनुष्य, कबूतर, तोता आदिकोंको रूपके ज्ञानकी उत्पत्ति करनेमें चक्षुका बलाधानरूप

करके आलोक कारण होकर प्रतीत हो रहा है, अर्थात् हम सारिखे कुछ जीवोंकी चक्षु इन्द्रियां रूपके ज्ञानको तब उत्पन्न करती हैं, जब कि उन चक्षुओंके आलोकद्वारा बल प्राप्त हो जाय। कुत्ताके भोंकनेमें या कुत्ताद्वारा मनुष्यको काटलेनेमें वह कुत्ता ही कारण है। फिर कुत्ताके प्रेमियोंकी लैलैकर प्रेरित करनेसे कुत्तेको बल प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार कतिपय दिवाचरोंकी आंखोंको बलका आधायक आलोक जाना जा रहा है। अन्यथा यानी अस्मदादिकोंके रूपज्ञानकी उत्पत्तिमें बलाधायक रूपकरके यदि आलोकको कारण नहीं माना जायगा तो चाक्षुषज्ञानका उस आलोकके साथ अन्वय, व्यतिरेकका यह अनुविधान करना नहीं बन सकेगा कि आलोकके होनेपर चक्षुद्वारा हम दिवाचरोंको रूपज्ञान होता है। और आलोकके नहीं होनेपर मन्दतेजोधारी चक्षुसे रूपज्ञान नहीं हो पाता है। अतः रूपज्ञानका कारण बलाधायकपनेसे आलोक हो सकता है। अर्थात्—रूपज्ञानके मुख्यकारण चक्षुओंमेंसे कुछ चक्षुओंकी सहायता कर देता है। उस आलोकके समान ही यदि अर्थको भी आयसमयके ज्ञानका जनक कहोगे तब तो कोई विरोध नहीं है। हां, उस अर्थको ज्ञानका आलम्बनपने करके जनकपना माननेपर तो व्याघात दोष आता है। अर्थात्—ज्ञानका विषयभूत अर्थ अपना ज्ञान उत्पन्न करानेमें प्रधान होकर अवलम्ब नहीं दे रहा है। चक्षुको जिस प्रासाद, रेलगाडी, आदि पदार्थोंकी ओर उन्मुख उपयुक्त कर देते हैं, वे पदार्थ चक्षुसे दीख जाते हैं। किन्तु चाक्षुषप्रत्यक्षकी उत्पत्तिमें वे पदार्थ कारण नहीं हैं। आलम्बनका अर्थ आलम्बनपना, जानने योग्यपना, प्रकाशित होने योग्यपना, कहा जाता है। ऐसा वह आलम्बनपना तो प्रकाशक ज्ञान या प्रदीप, सूर्य, आदिके समानकालमें हो रहे अर्थका देखा जाता है। जैसे कि अपने प्रकाशका आलम्बन कारण प्रदीप है। जो प्रकाशित होने योग्य अर्थ है। वह अपने प्रकाश करनेवाले प्रदीपको उत्पन्न नहीं कराता है। किन्तु अपने बत्ती, तेल, पात्र, गैस, विद्युत् शक्ति, आदि, कारण समुदायसे ही उस दीपककी उत्पत्ति हो जाती है। अतः अर्थ या आलोकको ज्ञानका कारण-कारण भले ही कह दो किन्तु ज्ञानका आलम्बनकारण अर्थ नहीं है। चक्कू या वसूला आदि अस्त्र कतरने योग्य पदार्थ पर उपयुक्त अवश्य हो रहे हैं। किन्तु पत्ता, काठ, आदि पदार्थ उन चक्कू, वसूलाके उत्पादक कारण नहीं है। एक बात यह भी है कि अनेक कार्योंमेंसे अत्यल्पकार्योंका परम्पराकारण हो जानेसे आलोक या अर्थ यावत् चाक्षुषप्रत्यक्षोंका मुख्यकारण कथमपि नहीं समझा जा सकता है।

प्रकाश्यस्याभावे प्रकाशकस्य प्रकाशकत्वायोगात् स तस्य जनक इति चेत्, प्रकाशकस्याभावे प्रकाश्यस्यापि प्रकाश्यत्वाघटनात् स तस्य जनकोस्तु। तथा चान्योन्याश्रयणं प्रकाश्यानुपपत्तौ प्रकाशकानुपपत्तेस्तदनुत्पत्तौ च प्रकाश्यानुत्पत्तिरिति।

प्रकाशने योग्य अर्थके नहीं होनेपर प्रकाशककी प्रकाशकताका योग नहीं है। अतः वह अर्थ उस प्रकाशकका उत्पादक कारण माना जाता है। इस प्रकार अन्वय, व्यतिरेक, बनाकर कहनेपर तो हम जैन भी कह देंगे कि प्रकाशकके न होनेपर प्रकाश्य अर्थकी भी प्रकाश्यता नहीं

घटित होती है। अतः वह प्रकाशक भी उस प्रकाश्यका जनक हो जाओ। भावार्थ—प्रकाशक दीपकका कारण यदि प्रकाश्य अर्थ माना जाता है, तो प्रकाश्य अर्थका भी कारण प्रकाशक दीपक हो जाओ। बडे बडे धनवान् पुरुष सगर्व होकर निर्धनोंके सहायक हो रहे हैं। इसके उत्तरमें यों ही क्यों न कह दिया जावे कि छोटे छोटे निर्धन पुरुषोंके रक्तसमान धनको छल, छिद्रोंसे हडपकर या व्यापारकी तेजी मन्दी द्वारा निर्धनोंके प्राण समान धनको चूसकर ही वे धनी पुरुष अपनी ऐंठमें इठ रहे हैं। न्यायपूर्वक पावनद्रव्य उत्पन्न करना या पुण्योदयसे परिशुद्ध द्रव्यकी प्राप्ति हो जाना सभी धनवानोंके पुरुषार्थ या भाग्यमें नहीं बदा है। फिर भी अनेक धनिकोंकी कमाईमें दयनीय दीन, विधवा और ऋणी किसानोंकी कमाईका परम्परासे सहयोग है। जो समुद्र दिनरात अपने बहु जलपनेकी तरङ्गरूप बाहें उछालकर गम्भीर शब्दद्वारा प्रशंसा (शेखी) को पुकारता रहता है, वह समुद्र भी अनेक जलबिंदुओंका समुदाय है। प्रकरणमें प्रकाश्य और प्रकाशकके कार्यकारणभावकी विनिगमना नहीं रही और तैसा होनेसे अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है। प्रकाश्यके न होनेपर प्रकाशक नहीं बनता है और उस प्रकाशकके नहीं होनेपर अर्थका प्रकाश्यपना असिद्ध हो जाता है। क्रेताओंके विना विक्रेताओंकी गति नहीं और विक्रेताओंके विना क्रेताओंका निर्वाह नहीं होता है।

यदि पुनः स्वकारणकलापादुत्पन्नयोः प्रदीपघटयोः स्वरूपतोऽभ्युपगमादन्योन्यापेक्षौ प्रकाशकत्वप्रकाश्यत्वधर्मौ परस्पराविनाभाविनौ भविष्येते तथान्योन्याश्रयणात्तदभावाज्ज्ञानार्थयोरपि स्वसामग्रीबलादुपजातयोः स्वरूपेण परस्परापेक्षया ग्राह्यग्राहकभावधर्मव्यवस्था स्थीयतां तथा प्रतीतेरविशेषात्। तदुक्तं। "धर्मधर्म्यविनाभावः सिध्यत्यन्योन्यवीक्षया। न स्वरूपं स्वतो ह्येतत्कारकज्ञापकादिति" ततो ज्ञानस्यालंबनं चेदर्थो न जनकः जनकश्चेन्नालंबनं विरोधात्।

यदि फिर आप बौद्ध यों कहें कि प्रदीप और घट अपने अपने कारणोंके समुदायसे स्वरूप करके उत्पन्न हो रहे स्वीकार किये हैं, किंतु प्रदीपमें प्रकाशपना और घटमें प्रकाश्यपना धर्म तो परस्परमें अविनाभाव रखते हुए इतर इतरकी अपेक्षावाले हो जायेंगे, तिस प्रकार अन्योन्याश्रय होने पर भी उस अन्योन्याश्रय दोषका अभाव माना गया है, उसी प्रकार अपनी अपनी सामग्रीके बलसे उत्पन्न हो चुके ज्ञान और ज्ञेय अर्थोंका भी स्वरूपकरके परस्परकी अपेक्षाद्वारा ग्राह्य ग्राहकपन धर्मकी व्यवस्थाका श्रद्धान कर लेना चाहिये, क्योंकि तिस प्रकार प्रतीति होनेका कोई अन्तर नहीं है। अर्थात् पिता और पुत्रके शरीरोंकी उत्पत्ति परस्परापेक्ष नहीं है। हां, पितापन और पुत्रपन यह व्यवहार ही एक दूसरे की अपेक्षा रखनेवाला है। इसी प्रकार दीप, घट, ज्ञान, ज्ञेय, इन पदार्थोंकी उत्पत्ति तो स्वकीय नियत कारणोंसे ही होती है। किन्तु आपेक्षिक धर्म एक दूसरेकी सहायतासे व्यवहृत हो जाते हैं। अतः कारकपक्षका अन्योन्याश्रय दोष तो यहां नहीं आता है।

और ज्ञापकपक्षका भी परस्पर आश्रय दोष लागू नहीं होता है। केवल व्यवहार परस्परकी अपेक्षासे कर लिया जाता है। एक नदीके दो किनारे अपने अपने कारणोंसे स्वयं सिद्ध हो चुके हैं। फिर भी इस पारवाले मनुष्य परभागको परलीपार कहते हैं। और परलीपारवाले इस पारको परलीपार कहते हैं। व्यवहारमें इस प्रकारका अन्योन्याश्रय दोष नहीं माना गया है। किन्तु गुण ही है। उसीको गुरुवर्य और भविष्य चौवीसीमें तीर्थंकर होनेवाले श्री समन्तभद्र आचार्य भगवान्ने स्वनिर्मित देवागम स्तोत्रमें कहा है कि धर्म और धर्मियोंका अविनाभाव तो परस्परकी अपेक्षाकरके ही सिद्ध हो रहा है। किन्तु उनका स्वरूपलाभ तो अन्योन्यापेक्ष नहीं है। क्योंकि धर्म और धर्मी पदार्थोंका यह डौल तो पहिलेसे ही स्वकीय न्यारे न्यारे कारणों द्वारा बन चुका है। जैसे कि कारकके अवयव कर्त्ता, कर्म, करण, आदिक पहिलेसे ही निष्पन्न हैं। फिर भी किसी विवक्षित क्रियाकी अपेक्षासे उनमें कर्त्तापन, कर्मपनका व्यवहार साध दिया जाता है। देवदत्त कर्त्ता और भात कर्म तथा हाथ करण ये पहिलेसे ही स्वरूपलाभ कर चुके हैं। फिर भी खानेरूप क्रियाकी अपेक्षासे देवदत्तमें कर्त्तापन भातमें कर्मपन और हाथमें करणपनका व्यवहार एक दूसरेकी अपेक्षासे प्रसिद्ध हो जाता है। अन्नके लिये (सम्प्रदान) ग्रामसे (अपादान) नगरमें (अधिकरण) देवदत्त आता है। ऐसे परस्पर अपेक्षा रखनेवाले व्यवहार हो रहे हैं। कर्त्तापन कर्मके निश्चय हो चुकनेपर व्यवहृत होता है और कर्मपनेका व्यवहार भी कर्त्ताकी प्रतिपत्ति हो चुकनेपर जानने योग्य है। इसी प्रकार ज्ञापकके अवयव प्रमाण, प्रमेयोंका स्वरूप तो स्वतःसिद्ध है। हां, ज्ञाप्यज्ञापक व्यवहार ही परस्परकी अपेक्षा रखनेवाला है। ऐसे ही वाच्य अर्थ और वाचक शद्बका स्वरूपलाभ अपने अपने कारणों द्वारा पूर्वमें ही हो चुका है। केवल ऐसा व्यवहार अन्योन्याश्रित है। गुरुशिष्य भावमें भी यही मार्ग आलम्बनीय है। कुलीन गृहिणीका स्वामी उसका पति है। साथमें सच्चरित्र स्वामीकी पत्नी वह गृहिणी है। यह पतिपत्नी सम्बन्धका व्यवहार परस्परापेक्ष है। उन दोनोंका शरीर तो पूर्वसे ही बन चुका था। पति शद्बका ही स्त्रीलिङ्गकी विवक्षा करनेपर पत्नी बन जाता है। पतिकी स्त्रीका नाम ही पत्नी नहीं है। किन्तु पतिकी स्वामिनी पत्नी कही जाती है। स्त्रीस्वरूप पति ही पत्नी है। यहांतक पूर्व महर्षियोंके आगमका प्रमाण दिया है। तिस कारण सिद्ध होता है कि यदि ज्ञानका विषयभूत आलम्बन अर्थ माना जायगा तो वह अर्थ अपने ज्ञानका उत्पादक नहीं हो सकता है। क्योंकि ज्ञानका आलम्बन तो ज्ञानके समानकालमें रहना चाहिये और कारण पूर्वक्षणमें रहना चाहिये क्षणिकवादियोंके यहां कार्यक्षणमें कारण नहीं आ सकता है। तथा अर्थको यदि ज्ञानका जनक कहोगे तो वह अर्थ ज्ञानका आलम्बन नहीं हो सकेगा। क्योंकि विरोध है। इन्द्रिय, अदृष्ट, आदिक पदार्थ घटज्ञानके कारण हैं। किन्तु घटज्ञानके विषय नहीं हैं। और चिरभूत कालके पदार्थ स्मरणमें आलम्बन हैं, किन्तु स्मरणके अव्यवहित पूर्वसमयवर्ती होकर उत्पादक कारण नहीं हैं।

पूर्वकालभाव्यर्थो ज्ञानस्य कारणं समानकालः स एवालंबनं तस्य क्षणिकत्वादिति चेत् न हि, यदा जनकस्तदालंबनमिति कथमालंबनत्वेन जनकोर्थः संविदः स्यात् ।

पूर्वकालमें हो रहा अर्थ तो ज्ञानका कारण है । और वही अर्थ वर्तमान समानकालमें वर्त रहा उस ज्ञानका आलम्बन हो जाता है । क्योंकि वह अर्थ क्षणिक है । अतः दूसरे क्षणमें आ नहीं सकता है । हां, वह मर गया अर्थ दूसरे क्षणमें उत्पन्न हुये ज्ञानका आलम्बन विषय हो जाता है । इस प्रकार बौद्धोंके कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि जिस समय वह क्षणिक अर्थ ज्ञानका जनक हो रहा है, तब तो आलम्बन नहीं है । और जब नष्ट हो चुका अर्थ आलम्बन बन रहा माना है । उस समय वह जनक नहीं है । ऐसी दशामें आलम्बनपनेकरके वह अर्थ भला कैसे ज्ञानका जनक हो सकेगा ? अर्थात्—तुम बौद्धोंके कथन अनुसार ही ज्ञानका जनक पदार्थ ही तो ज्ञानका आलम्बन कारण नहीं हो सका ।

पूर्वकाल एवार्थो जनको ज्ञानस्यालंबनं च स्वाकारार्पणक्षमत्वादिति वचनमयुक्तं समानार्थसमनंतरज्ञानेन व्यभिचारात् ।

अव्यवहित पूर्वक्षणमें ही रहनेवाला अर्थ ज्ञानका जनक है । और ज्ञानके लिये अपने आकारको अर्पण करनेमें समर्थ होनेके कारण आलम्बन भी है । इस प्रकार तदुत्पत्ति और ताद्रूप्य दोनोंका कथन करना तो युक्तिरहित है । क्योंकि समान अर्थके अव्यवहित उत्तर (पूर्व) वर्त्ती ज्ञानकरके व्यभिचार हो जाता है । अर्थात्—घटका या कपडेके थानका ज्ञान हो जानेपर उस घट या थानके सदृश आकारवाले दूसरे घट पटोंका ज्ञान क्यों न हो जाय, जब कि एक अर्थका प्रतिबिम्ब ज्ञानमें पड चुका है, तो समानपदार्थोंका प्रतिबिम्ब भी आ ही चुका है । फिर ताद्रूप्य होनेसे एक घटके जाननेपर उसके सदृश देशान्तर, कालान्तरवर्ती अनेक घटोंका चाक्षुष प्रत्यक्ष क्यों नहीं हो जाता है ? अतः अपने आकारको अर्पण करनेसे आलम्बनका नियम करना ठीक नहीं है । यद्यपि तदुत्पत्ति कह देनेसे उक्त व्यभिचार टल जाता है । फिर भी समान अर्थके उत्तरवर्त्ती ज्ञानमें तदुत्पत्ति भी घट जाती है । अतः तज्जन्य कह कर भी बचना कठिन है । पंक्तिका अर्थ यह है कि प्रथमक्षणमें " नील है " ऐसा ज्ञान उत्पन्न हुआ, उसने अगले समयमें द्वितीयज्ञानको उपजाया, इस दूसरे ज्ञानमें ताद्रूप्य और तदुत्पत्ति दोनों हैं । द्वितीयज्ञान ज्ञानपनेसे प्रथमके समान है । अव्यवहितपनेसे अनन्तर है । यदि बौद्ध ताद्रूप्य और तदुत्पत्ति होनेसे ज्ञानको अर्थका नियामक मानेंगे तब तो प्रथमज्ञानकरके व्यभिचार हो जायगा अर्थात् द्वितीयज्ञान जैसे अर्थको जानता है, उसी प्रकार प्रथमज्ञानका नियामक बन बैठे, किन्तु ताद्रूप्य, तदुत्पत्ति होते हुए भी द्वितीयज्ञान द्वारा प्रथमज्ञानका नियम किया जाना इष्ट नहीं किया गया है । ज्ञान अर्थका नियामक है । ज्ञान ज्ञानका व्यवस्थापक नहीं है । दीपकसे प्रदीपान्तरकी व्यवस्था नहीं कराई जाती है । सभी ज्ञान अपने स्वतंत्र नियामक हैं ।

नन्वालंबनत्वेन यो जनकः स्वाकारार्पणक्षमश्च स ग्राह्यो ज्ञानस्य न पुनः समनंतरत्वेनाधिपतित्वेन वा यतो व्यभिचार इति चेदितराश्रयप्रसंगात्। सत्यालंबनत्वेन जनकत्वेऽर्थस्य ज्ञानालंबनत्वं सति च तस्मिन्नालंबनत्वेन जनकत्वमिति।

बौद्धोंका स्वमतस्थापनके लिये अवधारण है कि जो आलम्बन (विषय) पने करके ज्ञानका जनक है, और अपने आकारको अर्पण करनेमें दक्ष है, वह पदार्थ ज्ञानका ग्राह्य होता है। किन्तु फिर अव्यवहितपूर्वपने करके यानी ज्ञानके अव्यवहित पूर्वक्षणमें वर्त रहे स्वरूपसे किसी पदार्थको ज्ञानकी ग्राह्यता प्राप्त नहीं है। तथा ज्ञानके अधिपतिपनेकरके भी ग्राह्यता नहीं है। यानी जो ज्ञानका सर्वतंत्र स्वतंत्र अधिष्ठाता है, वह भी ज्ञानका विषय नहीं है। जिससे कि समान अर्थ या चक्षु आदिकमे व्यभिचार हो जाय। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो अन्योन्याश्रय दोष होनेका प्रसंग आता है। आलम्बनपने करके अर्थका जनकपना सिद्ध हो चुकनेपर तो अर्थको ज्ञानका आलम्बनपना बने और अर्थको ज्ञानका आलम्बनपना बन चुकनेपर आलम्बनपनेकरके जनकपना सिद्ध होय इस प्रकार अन्योन्याश्रय हुआ।

स्वाकारार्पणक्षमत्वविशेषणं चैवमनर्थकं स्यादालम्बनत्वेन जनकस्य ग्राह्यत्वाव्यभिचारात्। परमाणुना व्यभिचार इत्यपि न श्रेयः परमाणोरेकस्यालंबनत्वेन ज्ञानजनकत्वासंभवात्। संचितालंबनाः पंचविज्ञानकाया इति वचनात्। प्रत्येकं परमाणूनामालंबनत्वे न ते बुद्धिगोचरा इति ग्रन्थविरोधात्।

दूसरी बात यह है कि इस प्रकार ज्ञानके विषयभूत अर्थको ही यदि ज्ञानका जनकपना माना जायगा तब तो अपने आकार (प्रतिबिम्ब) को ज्ञानके लिये अर्पण करनेमें सन्नद्ध (तयार) रहनापन यह विशेषण लगाना व्यर्थ पडेगा। क्योंकि ज्ञानके आलम्बन होकर जो पदार्थ जनक होंगे वे ग्राह्यपनका व्यभिचार नहीं करेंगे। अर्थात्—ज्ञानका आलम्बन होता हुआ जो जनक होगा वह ज्ञानद्वारा ग्राह्य अवश्य हो जावेगा। फिर ज्ञानकी विषयताका नियम करनेके लिये अपने आकारको ज्ञानके लिये समर्पण करनेकी शक्ति रखना यह ग्राह्य विषयका विशेषण क्यों व्यर्थ लगाया जाय ? यदि बौद्ध यों कहें कि विशेषण लगाना व्यर्थ नहीं है। अन्यथा परमाणुसे व्यभिचार हो जायगा। देखिये, हम बौद्धोंके यहां क्षणिक, असाधारण, परमाणुऐं वस्तुभूत मानी गयीं हैं, वे ज्ञानकी उत्पत्तिमें आलम्बन होती हुयीं जनक हैं। किन्तु ज्ञानके द्वारा विषय नहीं हो रही हैं। कारण कि वे परमाणुऐं ज्ञानके लिये अपने आकारोंका समर्पण नहीं कर सकती हैं। अतः स्वाकारार्पणक्षम विशेषण देना सफल है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंका कथन भी श्रेष्ठ नहीं है। क्योंकि आलम्बनपने करके ज्ञानका जनकपना एक परमाणुके असम्भव है। अनेक परमाणु एकत्रित होकर जब रूप स्कन्ध, वेदनास्कन्ध, विज्ञानस्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध, ये विज्ञानके पांच काय बन जाते हैं, तब ज्ञानके आलम्बन होते हैं, इस प्रकार बौद्ध ग्रन्थोंमें कहा गया है। तथा बौद्ध अनेक परमाणु-

ओंमेंसे एक एक न्यारी परमाणुको यदि ज्ञानका आलम्बन कारण मानेंगे तो " वे न्यारे न्यारे परमाणु बुद्धिके विषय नहीं हैं " इस ग्रन्थसे स्वयं बौद्धोंको विरोध ठन जायगा। अतः स्वाकारको अर्पण करनेके लिये समर्थ रहना यह विशेषण लगाना व्यर्थ ही रहा।

तर्हि योधिपतिसमनंतरालंबनत्वेनाजनको निमित्तमात्रत्वेन जनकः स्वाकारार्पणक्षमः स संवेदनस्य ग्राह्योस्त्वव्यभिचारादिति चेन्न, तस्यासंभवात्। न हि संवेदनस्याधिपत्यादिव्यतिरिक्तोन्यः प्रत्ययोस्ति। तत्सामान्यमस्तीति चेत् न, तस्यावस्तुत्वेनोपगमाज्जनकत्वविरोधात्। वस्तुत्वे तस्य ततोर्थांतरत्वे तदेव ग्राह्यं स्यान्न पुनरर्थो नीलादिर्हेतुत्वसामान्यजनकनीलाद्यर्थो ग्राह्यः संवेदनस्येति ब्रुवाणः कथं जनक एव ग्राह्य इति व्यवस्थापयेत्। ततो न पूर्वकालोर्थः संविदो ग्राह्यः। किं तर्हि समानसमय एवेति प्रतिपत्तव्यं।

बौद्ध कहते हैं कि तब तो यों कह देना अच्छा है कि जो पदार्थ ज्ञानके अधिपतिपनेकरके और अव्यवहित पूर्ववर्तीपनेकरके तथा विषयभूत आलम्बनपनकरके जो ज्ञानका जनक नहीं है, किन्तु ज्ञानका केवल निमित्तकारण बन जानेसे जनक हो रहा है और अपने आकारको ज्ञानके प्रति अर्पण करनेके लिये शक्त (तैयार) है, वह पदार्थ संवेदनका ग्राह्य बन जाओ। ऐसा नियम करनेमें कोई व्यभिचार दोष नहीं आता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो बौद्ध नहीं कहें। क्योंकि उसका असम्भव है। अधिपति या समनन्तर अथवा आलम्बनपनके अतिरिक्त कोई अन्य कारण (उपाय) सम्वेदनको उत्पन्न करानेमें नहीं सम्भवता है। जो पदार्थ उन तीन रूपोंसे जनक नहीं है, वह पदार्थ ज्ञानका कैसे भी उत्पादक नहीं हो सकता है। फिर भी बौद्ध यों कहें कि ज्ञानके अधिपति कारण आत्मा, इन्द्रिय, आदिक हैं। और ज्ञानका समनन्तर कारण तो अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती ज्ञानपर्याय है, जो कि उपादान कारण मानी गयी है। तथा ज्ञानका आलम्बनकारण तो ज्ञेयविषय है। इन तीनके अतिरिक्त भी उन तीनोंमें रहनेवाला एक सामान्य पदार्थ है। वह ज्ञानका जनक बन जायगा। ग्रन्थकार समझाते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि बौद्धोंने सामान्यको अवस्तुरूपसे स्वीकार किया है। जो वस्तुभूत नहीं है उसको उत्पत्ति रूप क्रियाका जनकपना विरुद्ध है। जैसे कि कच्छपके रोमोंसे ऊनी वस्त्रोंको नहीं बुना जा सकता है। यदि उस सामान्यको वस्तुभूत मानते हुये उन तीन कारणोंसे भिन्न मानोगे तब तो कारणरूप वह सामान्य ही ज्ञानके द्वारा ग्रहण करने योग्य हुआ। फिर नील आदि स्वलक्षणरूप अर्थ तो ज्ञानका ग्राह्य नहीं हो सका। इसपर भी बौद्ध यदि यों कहता फिरे कि ज्ञानका जनक सामान्य है, और हेतुत्वरूप सामान्यका जनक नीलादिक अर्थ है, जो कि सम्वेदनका ग्राह्य हो जाता है। पितासे उत्पन्न हुआ पुत्र पितामहकी सेवा कर देता है। इस प्रकार कह रहा बौद्ध ज्ञानका जनक पदार्थ ही ग्राह्य होता है, इस बातकी कैसे व्यवस्था करा सकेगा ? अर्थात्—ज्ञानका जनक सामान्य हुआ और ज्ञानका जनक ही पदार्थग्राह्य नहीं बन सका। तिस कारण पूर्वकालमें वर्त रहा अर्थ

सम्वित्तिका ग्राह्य नहीं हो सकता है, तो कौनसे समयका पदार्थ ज्ञानका ग्राह्य है। इसमें हमारा यह उत्तर है कि ज्ञानके समानकालमें रहनेवाला ही पदार्थ ग्राह्य होता है, यह समझ लेना चाहिये। ज्ञानके उत्पादक कारण तो पूर्वक्षणवर्ती ही पदार्थ हो सकते हैं। किन्तु ज्ञानके विषयभूत पदार्थ ज्ञानके समानकालवर्ती भी हैं।

नन्वेवं योगिविज्ञानं श्रुतज्ञानं स्मृतिप्रत्यभिज्ञादि वा कथमसमानकालार्थपरिच्छिदि सिध्येदिति चेत्, समानसमयमेव ग्राह्यं संवेदनस्येति नियमाभावात्। अक्षज्ञानं हि स्वसमयवर्तिनमर्थं परिच्छिनत्ति स्वयोग्यताविशेषनियमाद्यथा स्मृतिरनुभूतमात्रं पूर्वमेव प्रत्यभिज्ञातीतवर्तमानपर्यायवृत्त्येकं पदं चिंता त्रिकालसाध्यसाधनव्याप्तिं स्वार्थानुमानं त्रिकालमनुमेयं श्रुतज्ञानं त्रिकालगोचरानंतव्यंजनपर्यायात्मकान् भावान् अवधिरतीतवर्तमानानागतं च रूपिद्रव्यं मनःपर्ययोऽतीतानागतान् वर्तमानांश्चार्थान् परमनोगतान्, केवलं सर्वद्रव्यपर्यायानिति वक्ष्यतेग्रतः।

यहां बौद्धकी या किसी तटस्थ विद्वान्की बहुत अच्छी शंका है कि समानसमयवाले पदार्थोंको ही यदि ज्ञानका विषय माना जायगा तो योगी सर्वज्ञके विज्ञान भला वर्तमान ज्ञानके असमान कालीन भूत, भविष्य, पदार्थोंको प्रत्यक्ष जाननेवाले कैसे सिद्ध होंगे? अथवा भूत, भविष्य, वर्तमान, त्रिकालवर्ती पदार्थोंको परोक्ष जाननेवाला आगमजन्य ज्ञान कैसे सध सकेगा? तथा स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, व्याप्तिज्ञान, आदिक भला भूत, भविष्यकालीन पदार्थोंको जाननेवाले कैसे माने जावेंगे? इस प्रकार शंका करनेपर तो हम उत्तर देते हैं कि समानसमयवर्ती ही पदार्थ सम्वेदनके ग्राह्य होते हैं, ऐसा नियम हम नहीं करते हैं। बौद्धोंके विचार अनुसार वर्तमानकालके अर्थज्ञानके विषय नहीं हो पाते हैं। अतः बल देकर हमने कह दिया है (वा)। एवका अर्थ अपि है, यानी ही का अर्थ भी समझना। देखिये, ज्ञानोंमेंसे इन्द्रियजन्यज्ञान तो नियमसे अपने समयमें ही वर्त रहे अर्थको जानता है। क्योंकि अपने आवरण कर्मोंकी क्षयोपशमरूप योग्यताके विशेषनियमसे ऐसा ही व्यवस्थित हो रहा है। इन्द्रियजन्य ज्ञान भूत, भविष्यकालके अर्थोंको नहीं जान सकते हैं। अतः चक्षु, रसना आदिसे वर्तमानकालमें वर्त रहे रूप, रस, रूपवान्, रसवान्, आदि पदार्थ ही जाने जाते हैं। जिस प्रकार कि स्मरणज्ञान अपनी क्षयोपशमरूप योग्यताके अनुसार पूर्वमें अनुभूत हो चुके ही केवल भूतकालके अर्थोंको जानता है। तथा प्रत्यभिज्ञान तो भूत और वर्तमान कालकी पर्यायोंमें वर्त रहे एक पदार्थको जानता है, अथवा वर्तमानकालके सादृश्य, दूरपन, स्थूलपन आदि अर्थोंको भी जानता है। तथा चिंताज्ञान तीनों कालके साध्य और साधनोंका उपसंहार कर अविनाभावसम्बन्धको जान लेता है। एवं स्वार्थानुमान कालत्रयवर्ती अनुमेय पदार्थोंको परोक्षरूपसे जान लेता है। इसी प्रकार आप्त वाक्यजन्य श्रुतज्ञान या अनक्षरात्मक अवाच्य श्रुतज्ञान तो अत्यन्तपरोक्ष भी तीन कालमें वर्त रहे संख्यात असंख्यात अनन्त व्यंजनपर्यायस्वरूप भावोंको अविशद जान लेता है। अवधिज्ञान अपने

योग्य भूत, भविष्य, वर्तमान, तीनों कालके रूपीद्रव्योंको प्रत्यक्षरूपसे विषय कर लेता है। और मनःपर्यय ज्ञान तो अपने और पराये मनमें स्थित हो रहे अतीत, अनागत, वर्तमान, कालके अर्थोंको विशद जान रहा है। तथा सर्वोत्तम केवलज्ञान तो त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायोंको अतिविशद रूपसे जान रहा है। इस प्रकरणको श्रीउमास्वामी महाराज अग्रिम ग्रन्थद्वारा स्पष्ट निरूपण कर देवेंगे।

ततो नाकारणं वित्तेर्विषयोस्तीति दुर्घटम्।
स्वं रूपस्याप्रवेद्यत्वापत्तेः कारणतां विना ॥ १४ ॥

तिस कारण सिद्ध हुआ कि ज्ञानका विषय ज्ञानका कारण नहीं है। बौद्धोंका यह कहना कि " नाकारणं विषयः " ज्ञानका जो कारण नहीं है, वह ज्ञानका विषय नहीं है। यह मन्तव्य कैसे भी परिश्रमसे घटित नहीं हो सका है। देखो, कारणपनके विना भी ज्ञानका स्वकीयरूप भले प्रकार वेद्य हो रहा है। यदि ज्ञानके कारणको ही ज्ञानका विषय माना जायगा तो ज्ञानके स्व-शरीरको नहीं वेद्यपना होनेका प्रसंग आवेगा जो कि बौद्धोंको इष्ट नहीं है। बौद्धोंने ज्ञानका स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होना स्वीकार किया है। और स्वयं ही स्वका कारण हो नहीं सकता है। " नैकं स्वस्मात् प्रजायते "।

संवेदनस्य नाकारणं विषय इति नियमे स्वरूपस्याप्रवेद्यत्वमकारणत्वात् तद्वद्वर्तमानानागतानामतीतानां चाऽकारणानां योगिज्ञानाविषयत्वं प्रसज्यते।

सम्वेदनका जो उत्पादक कारण नहीं है, वह सम्वेदनका विषय नहीं है। इस प्रकार बौद्धों द्वारा नियम कर चुकनेपर तो ज्ञानके स्वरूपको असम्वेद्यपना प्राप्त होगा। क्योंकि ज्ञानकी उत्पत्तिमें ज्ञान तो स्वयं कारण नहीं बना है। यदि कारण नहीं हुये विना भी ज्ञानका स्वसम्वेदन प्रत्यक्षद्वारा विषय होना मान लोगे तो उसीके समान वर्तमान, भविष्य, और अतीतकालके अर्थ जो कि योगी-ज्ञानके कारण नहीं बने हैं, वे सर्वज्ञज्ञानके विषय हो जायेंगे, कोई क्षति नहीं पड सकती है। अन्यथा उसीके समान वर्तमान, भविष्य और चिर अतीत पदार्थोंको योगीज्ञानके विषय नहीं होनेका प्रसंग आवेगा। क्योंकि वे त्रिकालवर्ती पदार्थ योगीज्ञानके उत्पादक कारण नहीं हो सके हैं। जो कार्यकी उत्पत्तिमें सहायक होकर अर्थक्रियाको कर रहे हैं वे अव्यवहित पूर्वक्षणके पदार्थ तो कारण माने जाते हैं। किन्तु जो बहुत देर पहिले मर चुके हैं, या भविष्य कालकी गोदमें पडे हुये हैं, वे पदार्थ क्या राख कार्य करेंगे? स्वयं आत्मलाभ रखते हुये पदार्थ ही कार्यकी उत्पत्तिको करा सकते हैं। दो वर्ष पूर्वमें मर चुका पति या दो वर्ष पीछे विवाहित होनेवाला पति पतिव्रता स्त्रीके अधुना संतानको उत्पन्न नहीं करा सकता है। किन्तु बौद्धोंने योगीज्ञानद्वारा त्रिकालवर्ती पदार्थोंका जानना अभीष्ट किया है।

अस्वसंवेद्यविज्ञानवादी पूर्वं निराकृतः ।
परोक्षज्ञानवादी चेत्यलं संकथयानया ॥ १५ ॥

जो नैयायिक, वैशेषिक आदि वादी विद्वान् ज्ञानका स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होना नहीं कहते हैं, उनका हमने पूर्व प्रकरणोंमें निराकरण कर दिया है। तथा ज्ञानको सर्वथा परोक्ष माननेवाले मीमांसक आदिके मन्तव्यका भी हम विशदरूपसे खण्डन कर चुके हैं। अतः ज्ञानका स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होनेके सिद्धान्तमें व्यर्थ विघ्न डालनेवाले इस लम्बे चौडे विवाद कथन करनेसे पूरा पडो, अर्थात्—व्यर्थ झगडा नया खडा करनेसे नैयायिक, मीमांसकोंको कुछ हस्तगत नहीं हो सकता है।

ततः सूक्तमिदमुत्तरावधारणं परमतालंबनजन्यत्वव्यवच्छेदार्थं सूत्रे पूर्वं तु मत्यज्ञानादिनिवृत्त्यर्थं संज्ञिपंचेंद्रियजमेवेति तदेवेंद्रियानिंद्रियनिमित्तमुच्यते । संज्ञिपंचेंद्रियाणां मिथ्यादृशां मत्यज्ञानमपींद्रियानिंद्रियनिमित्तमस्ति तस्य कुतो व्यवच्छेदः सम्यगधिकारात् ।

तिस कारण श्री विद्यानन्द आचार्यने यह बहुत अच्छा कहा था कि " तदिन्द्रियानिन्द्रिय निमित्तम् " इस सूत्रमें अनुक्त भी दोनों एवकार उद्देश्य विधेय दलोंमें उमास्वामी महाराजको अभिप्रेत हैं। तिनमें वह मतिज्ञान इन्द्रिय अनिन्द्रियोंसे ही उत्पन्न होता है। यह विधेय दलका उत्तर अवधारण तो अन्य मति बौद्धोंके मन्तव्यानुसार ज्ञानका आलम्बन विषयसे उत्पन्न होनेपनको व्यवच्छेद करनेके लिये दिया गया है। और वह मतिज्ञान ही इन्द्रिय अनिन्द्रियरूप निमित्तोंसे उत्पन्न होता है। यह पहिला अवधारण तो मतिअज्ञान, श्रुतज्ञान, आदिकी निवृत्ति करनेके लिये है। वह मतिज्ञान संज्ञी पचेन्द्रिय जीवोंके ही उत्पन्न होता है। इस कारण वह मतिज्ञान ही इन्द्रिय और अनिन्द्रिय निमित्तोंसे बना हुआ कहा जाता है। अन्य एकेन्द्रियको आदि लेकर असज्ञी पंचेन्द्रिय तक जीवोंके उत्पन्न हुये मति अज्ञानमें तो बहिरंग इन्द्रिया ही निमित्त हैं। यदि यहां कोई यों कहे कि संज्ञी पचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीवोंके भी तो मति अज्ञान उत्पन्न होनेमें इन्द्रिय और अनिन्द्रिय निमित्त बन जाते हैं, तो फिर उस मति अज्ञानका पहिले अवधारणसे व्यवच्छेद कैसे हुआ ? बताओ। इसपर हम जैन कहते हैं कि पूर्व सूत्रोंसे यहां सम्यक् शद्धका अधिकार चला आ रहा है। मिथ्यादृष्टियोंका ज्ञान समीचीन नहीं है। तथा मिथ्यादृष्टियोंके इन्द्रिय, अनिन्द्रिय, भी सम्यक् नहीं हैं।

तत एवासंज्ञिपंचेंद्रियांतानां मत्यज्ञानस्य व्यवच्छेदोस्तु तर्हि श्रुतव्यवच्छेदार्थं पूर्वावधारणं तस्यानिंद्रियमात्रनिमित्तत्वात् । तथा मिथ्यादृशां दर्शनमोहोपहतमनिंद्रियं सदप्यसत्कल्पमिति विवक्षायां तद्वेदनमिंद्रियजमेवेति मत्यज्ञानं सर्वं नोभयनिमित्तं ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं च युक्तं पूर्वावधारणम् ।

इसपर यदि कोई यों कहे कि तिस ही कारण यानी सम्यक्का अधिकार चले आनेसे ही एकेन्द्रियको आदि लेकर असज्ञी पचेन्द्रियपर्यन्त जीवोंके मति अज्ञानका व्यवच्छेद हो जावेगा,

सम्यग्दर्शन नहीं होनेसे असंज्ञीपर्यंत जीवोंका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है। फिर पहिला एवकार व्यर्थ क्यों लगाया जा रहा है ? तिसपर हमारा यह कहना है कि अच्छा, तब तो श्रुतज्ञानके व्यवच्छेदके लिये पहिला अवधारण रहो, क्योंकि वह श्रुतज्ञान केवल मनरूप निमित्तसे ही उत्पन्न होता है। अतः सूत्रवाक्यका भेद नहीं कर पहिला अवधारण करना समुचित है। तथा दूसरी बात यह है कि मिथ्यादृष्टि जीवोंका दर्शनमोहनीयकर्मके उदयसे नष्ट भ्रष्ट हो रहा मन विद्यमान भी हो रहा अविद्यमान सदृश है। इस प्रकार विवक्षा करनेपर तो वह मिथ्यादृष्टियोंका ज्ञान इन्द्रियजन्य ही हुआ इस कारण सभी संज्ञी असंज्ञी जीवोंके मति अज्ञानोंमेंसे कोई भी मति अज्ञान दोनों इन्द्रिय अनिन्द्रियरूप निमित्तोंसे उत्पन्न नहीं हुआ है। तिस कारण उस मति अज्ञानका व्यवच्छेद करनेके लिये पहिला अवधारण करना युक्तिपूर्ण है।

इस सूत्रका सारांश।

इस सूत्रका लघुसूचन यों है कि मतिज्ञानके बहिरंग और अन्यवादियोंके यहां प्रसिद्ध हो रहे निमित्त कारणोंके दिखलानेके लिये यह सूत्र अवतीर्ण हुआ है। तत् शद्ब करके अनर्थान्तर शद्बका परामर्श किया है। यहां ज्ञानके उत्पादक कारकोंका वर्णन है। ज्ञापक हेतुओंका निरूपण नहीं है। सूत्रका योगविभाग कर धारणापर्यन्त ज्ञान तो इन्द्रिय, अनिन्द्रिय दोनोंसे उत्पन्न हो जाते निर्णीत हैं। तथा स्मृति आदिकोंमें केवल मन ही निमित्त पडता है। हां, परम्परासे इन्द्रियां भी स्मृति आदिकोंका निमित्त हो जाती हैं। ऐसी दशामें योगविभाग करनेकी आवश्यकता नहीं है। इस सूत्रमें उद्देश्य, विधेय, दोनों ओरसे एवकार लगाना अभीष्ट है। वाक्यभेद करनेपर उत्तर अवधारणसे बौद्धोंके अर्थजन्यत्वका खण्डन हो जाता है। और एक ही वाक्य होनेपर पहिले अवधारणसे मति अज्ञान, श्रुतज्ञान आदिमें अतिव्याप्ति नहीं हो पाती है। अर्थ और आलोक ज्ञानके कारण नहीं हैं। अनेक दोष आते हैं। आलोकके समान अर्थ भी ज्ञानका आलम्बन कारण नहीं है। ज्ञान और ज्ञेयका यद्यपि विषयिता सम्बन्ध है। यानी स्वनिष्ठ—विषयिता—निरूपित—विषयता सम्बन्धसे ज्ञान ज्ञेयमें ठहरता है। किन्तु यह सम्बन्धवृत्तिताका नियामक नहीं है। ऐसी दशामें कार्यकारणभावकी कथा तो दूर ही समझो, हां, ज्ञानपना और ज्ञेयपना परस्पर आश्रित है। किन्तु ज्ञान और ज्ञेयकी उत्पत्ति तो अपने अपने न्यारे कारणोंसे अपने नियत कालमें होती है। इसका अच्छा विचार चलाया है। अनेक ज्ञान समानकालके पदार्थोंको जानते हैं। और कोई ज्ञान आगे पीछेके अर्थोंको जानते हैं। ज्ञाप्य ज्ञापकके अतिरिक्त और कोई भी सम्बन्ध (ताल्लुक) ज्ञान, ज्ञेयोंमें नहीं है। अत ज्ञानका कारण ही ज्ञान द्वारा जाना जायगा, यह बौद्ध मत दुर्घट हुआ। सम्पूर्ण ही ज्ञान स्वशरीरको स्वके द्वारा प्रत्यक्षरूपसे सम्वेदन करते हैं। अतः पिछला अवधारण अन्य मतियोंके मन्तव्यका व्यवच्छेद करनेके लिये है। और पहिला अवधारण तो मति

अज्ञान, श्रुत, अवधि, आदिमें अतिव्याप्तिके निवारणार्थ है। अधिकारसे चले आरहे सम्यक् शब्द करके पूर्व अवधारणकी पुष्टि प्राप्त होती है। सभी मतिअज्ञान दोनों निमित्तोंसे जन्य नहीं है। अतः सूत्रके प्रमेयरूप धनकी रक्षाके लिये दोनों ओरसे अवधारणरूप ताले लगा दिये गये हैं। स्वांश-ग्रहण और परांशत्याग करते हुये प्रायः सभी वाक्य उक्त चाहे अनुक्त अवधारणोंसे रक्षित रहते हैं।

प्रकृष्टपुण्याप्तिनिदानभूता मनोहृषीकावधृतात्मलाभा।
विपर्ययानध्यवसायसंशीत्यज्ञान (त्यवित्ति) नाशाय भवेन्मतिर्नः॥ १॥

——x——
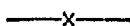
अब श्री उमास्वामी मतिज्ञानके भेदोंका निरूपण करनेके लिये गम्भीर सूत्रको कहते हैं।

अवग्रहेहावायधारणाः॥ १५॥

अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणा ये चार मतिज्ञानके भेद हैं। अर्थात् पूर्वसूत्रके अनुसार इन्द्रिय और मनसे ये चारों मतिज्ञान होते हैं।

किमर्थमिदमुच्यते न तावत्तन्मतिभेदानां कथनार्थं मतिः स्मृत्यादिसूत्रेण कथनात्। नापि मतेरज्ञातभेदकथनार्थं प्रमाणांतरत्वप्रसंगादिति मन्यमानं प्रत्युच्यते।

कोई तर्की सूत्रके अवतार करनेमें आपत्ति उठाता है कि यह "अवग्रहेहावायधारणाः" सूत्र किस प्रयोजनके लिये कहा जा रहा है? यदि सबसे पहिले तुम जैन यों कहो कि उस मतिज्ञानके भेदोंको कहनेके लिये यह सूत्र है, सो तो नहीं कहना। क्योंकि मतिज्ञानके भेद तो "मतिःस्मृतिः-संज्ञाचिंताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्" इस सूत्रकरके कहे जा चुके हैं। तथा इस सूत्रका यह प्रयोजन भी नहीं है कि मतिज्ञानके अबतक नहीं जाने जा चुके भेदोंको कह दिया जाय। अर्थात्— मतिज्ञानके अज्ञातभेदोंका कथन करनेके लिये भी यह सूत्र नहीं आरम्भा गया है। क्योंकि यों तो इन अवग्रह आदिकोंको मतिज्ञानसे न्यारे अन्य प्रमाणपनका प्रसंग आता है। मतिके कह दिये जा चुके मति, स्मृति, आदिक प्रकारोंमें तो इन अज्ञात भेदोंका अन्तर्भाव हो नहीं सकता है। अतः प्रत्यक्ष, परोक्षसे या मति, श्रुत, आदिसे अतिरिक्त ये अवग्रह आदिक चार ज्ञान न्यारे प्रमाण बन बैठेंगे। इस प्रकार अपने मनमें मान रहे आपादक प्रतिवादीके प्रति आचार्य महाराजद्वारा समाधान कहा जाता है।

मतिज्ञानस्य निर्णीतप्रकारस्यैकशो विदे।
भिदामवग्रहेत्यादिसूत्रमाहाविपर्ययम्॥ १॥

निर्णीत कर दिये गये हैं, मति स्मृति आदिक प्रकार जिसके, ऐसे मतिज्ञानके एक एक भेदोंको समझानेके लिये उमास्वामी महाराज श्रोताओंकी विपरीतबुद्धिका अभाव करते हुये " अवग्रहेहावायधारणाः " इस सूत्रको निर्भ्रान्त कहते हैं।

मतिज्ञानस्य निर्णीताः प्रकारा मतिस्मृत्यादयस्तेषां प्रत्येकं भेदानां वित्त्यैव सूत्रमिदमारभ्यते। यथैव हींद्रियमनोमतेः स्मृत्यादिभ्यः पूर्वमवग्रहादयो भेदास्तथानिंद्रियनिमित्ताया अपीति प्रसिद्धं सिद्धांते।

मतिज्ञानके मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, स्वार्थानुमान, प्रतिभा, अर्थापत्ति आदि प्रकारोंका प्रपूर्वसूत्रमें निर्णय किया जा चुका है। उन प्रकारोंके प्रत्येकके भेदोंकी सम्वित्ति करानेके लिये ही यह सूत्र आरम्भा जाता है। अथवा एक मतिः स्मृति आदि सूत्रका यह परिवार बनाया जाता है। जिस ही प्रकार इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न हुई मतिके स्मृति आदिक प्रकारोंसे पहिले अवग्रह, ईहा, अवाय, आदिक भेद उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार केवल मनरूप निमित्तसे ही उत्पन्न हुई मतिके भी पूर्वमें अवग्रह आदिक भेद बन रहे हैं। इस प्रकार जैनसिद्धान्तके उच्च कोटिके धवल, सिद्धान्त, आदि ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध हो रहा है। अर्थात्—जिस प्रकार अनुमानके पहिले व्याप्तिज्ञान, व्याप्तिज्ञानके पहिले प्रत्यभिज्ञान, प्रत्यभिज्ञानके पहिले स्मृतिज्ञान होता है, स्मृतिके पहिले धारणा, धारणाके पहिले अवाय, अवायके पहिले ईहा, ईहाके पूर्वमें अवग्रह, ये सम्यग्ज्ञान होते हैं। यद्यपि अवग्रहके पहिले कदाचित् निर्विकल्पक ज्ञान और सर्वत्र आलोचनात्मक दर्शन होता है। फिर भी सम्यग्ज्ञानका प्रकरण होनेसे उनको गिनाया नहीं है। उसी प्रकार सुख, वेदना, इच्छा, क्रोध पश्चात्ताप सम्यग्दर्शन आदिके मनइन्द्रियजन्य मतिज्ञानके भी पहिले इन सुख आदि प्रमेयोंके अवग्रह आदिक ज्ञान हो जाते हैं। अत्यन्त शीघ्र उत्पन्न हो जानेसे भले ही उन अवग्रह आदिकोंका अन्तराल दीखता हुआ सम्वेदन न होय, फिर भी कार्यकारणभावका अतिक्रमण नहीं होते हुये उन अवग्रह आदिकोंकी क्रमसे उत्पत्ति होना अभीष्ट किया गया है। कारणस्वरूप पूर्वपर्यायके हुये विना उत्तरसमयमें कार्यपर्याय नहीं बन सकती है। जैसे कि पुष्पका उदय होनेके पश्चात् ही फल लगता है।

किंलक्षणाः पुनरवग्रहादय इत्याह।

फिर उन अवग्रह, ईहा, आदिकोंका निर्दोष लक्षण क्या हो सकता है ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्रीउमास्वामी महाराजके अभिप्राय अनुसार श्रीविद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

अक्षार्थयोगजाद्वस्तुमात्रग्रहणलक्षणात्।
जातं यद्वस्तुभेदस्य ग्रहणं तदवग्रहः॥ २॥

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, ये छह इन्द्रिया तथा जानने योग्य पुद्गलपर्याय आत्मीय पर्याय, रूप, रूपवान्, सुख, दुःख, जीव, आदिक अर्थोंकी योग यानी दूर, नातिदूर, अव्यवहित, संयुक्त, बद्ध, आदि स्वरूपकरके यथायोग्य देशमें अवस्थिति हो जानेपर उससे वस्तुकी सामान्य-महासत्ताका आलोचन करना स्वरूप दर्शन उपयोग उत्पन्न होता है। पीछे अवान्तर सत्तावाली वस्तुके विशेषभेदको ग्रहण करनेवाला जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अवग्रह नामका मतिज्ञान है। सम्पूर्ण वस्तुओंमें न्यारी न्यारी होकर रहनेवाली और उपचारसे एकत्रित कर ली गयी महासत्ताका निर्विकल्पक दर्शन उपयोग द्वारा आलोचन हो जाता है। तदनन्तर स्वकीय अवान्तरसत्तावाली विशेषवस्तुका सविकल्पकज्ञान अवग्रह कहा जाता है। जैसे कि " यह मनुष्य है " ॥

तद्गृहीतार्थसामान्ये यद्विशेषस्य कांक्षणम् ।
निश्चयाभिमुखं सेहा संशीतेर्भिन्नलक्षणा ॥ ३ ॥

उस अवग्रहसे ग्रहण किये जा चुके विशेष जातिवाले सामान्यअर्थमें जो विशेष अंशोंके निश्चय करनेके लिये अभिमुख हो रहा आकाक्षारूप ज्ञान है, उसको ईहा कहते हैं। वह ईहा ज्ञान संशय आत्मकज्ञानसे भिन्नलक्षणवाला है। संशयमें तो विरुद्ध दो तीन आदि कोटियोंका स्पर्श होता रहता है। किन्तु ईहाज्ञानमें एक कोटिका ही निश्चय करनेके लिये उन्मुखता पायी जाती है। जगत्के प्राय. सभी होनेवाले कार्य पहिले अपने कारणोंद्वारा उन्मुख कर लिये जाते हैं, तब कहीं पश्चात् बनाये जाते हैं। मारणान्तिक समुद्घात करनेवाला जीव मरनेके अन्तर्मुहूर्त पहिले उस स्थानका स्पर्शकर पीछे वहा जाकर जन्म लेता है। अत: अवायज्ञानके पूर्वमें वस्तु स्वभावके अनुसार भवितव्यतारूप आकाक्षाज्ञान ईहा उत्पन्न हो जाती है। जैसे कि " यह मनुष्य दक्षिणदेशवासी होना चाहिये "।

तस्यैव निर्णयोऽवायः स्मृतिहेतुः सा धारणा ।
इति पूर्वोदितं सर्वं मतिज्ञानं चतुर्विधम् ॥ ४ ॥

आकांक्षाज्ञान द्वारा जाने गये उस ही अर्थका दृढ निर्णय कर लेना अवायज्ञान है। यदि वही निर्णय पीछे कालान्तरतक स्मरण बनाये रखनेका हेतु होता हुआ दृढतर संस्काररूप बन जाय तो वह धारणामतिज्ञान समझा जाता है। इस सम्पूर्ण विषयको हम पहिले कह चुके हैं। इस प्रकार मतिज्ञान चार प्रकारके सिद्ध कर दिये गये हैं।

समानाधिकरण्यं तु तदेवावग्रहादयः ।
तदिति प्राक्सूत्रतच्छद्बसंबंधादिह युज्यते ॥ ५ ॥

यहां अधिकार प्राप्त हो रहे मतिज्ञानका सूत्रोक्त अवग्रह आदिकके साथ समान अधिकरणपना तो यों कर लेना कि वह मतिज्ञान ही अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणास्वरूप है। पहिलेके " तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् " इस सूत्रके तत् शद्बका सम्बन्ध हो जानेसे यहां भी तत् यानी वह मतिज्ञान अवग्रह आदि भेदस्वरूप है। इस प्रकार उद्देश्य विधेय दल बनाकर अवग्रह आदिकके साथ सामानाधिकरण्य बना लेना युक्तिपूर्ण साध लिया जाता है। उद्देश्यदलमें एवकार लगाना उचित है।

तदिंद्रियानिंद्रियनिमित्तमित्यत्र पूर्वसूत्रे यत्तद्ग्रहणं तस्येह संबंधात्सामानाधिकरण्यं युक्तं तदेवावग्रहादय इति । भावतद्वतोर्भेदात्तस्यावग्रहादयोभिहितलक्षणा इति वैयधिकरण्यमेवेति नाशंकनीयं तयोः कथंचिदभेदात्सामानाधिकरण्यघटनात् । भेदैकांते तदनुपपत्तेः सह्यविंध्यवदित्युक्तप्रायम् ।

" तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् " ऐसे इस पहिलेके सूत्रमें तत् शद्बका जो कण्ठोक्त उपादान किया है, उस तत्शद्बका इस " अवग्रहेहावायधारणाः " सूत्रमें अनुवृत्ति कर सम्बन्ध कर देनेसे वह मतिज्ञान ही अवग्रह आदि स्वरूप है। इस प्रकार समान अधिकरणपना बना लेना युक्त हो जाता है। यदि यहां कोई यों शंका करे कि भाव यानी परिणाम और उस भावसे सहित यानी परिणामी पदार्थोंका भेद हो जानेके कारण उस मतिज्ञानरूप परिणामीके अवग्रह आदिक परिणाम हैं, जिनके कि लक्षण कहे जा चुके हैं। इस प्रकार प्रकरण अनुसार अर्थके वशसे तत्शद्बकी प्रथमा विभक्तिका षष्ठीविभक्तिरूप विपरिणाम कर षष्ठ्यन्त मतिज्ञानका प्रथमान्त अवग्रह आदिकके साथ व्यधिकरणपना ही सुबोध कारक दीखता है। गेहूं चून है, इस समानाधिकरणकी अपेक्षा गेहूं का चून है, यह व्यधिकरण समुचित प्रतीत होता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि उन परिणामी और परिणाम हो रहे मतिज्ञान और अवग्रह आदिकका कथंचित् अभेद हो जानेसे समान अधिकरणपना घटित हो जाता है। सर्वथा भेदका एकान्त माननेपर तो भाव और भाववान्में वह समान अधिकरणपना नहीं बन पाता है। जैसे कि सर्वथा भिन्न हो रहे सह्य पर्वत और विंध्यपर्वतका सह्य ही विंध्य है, अथवा विंध्य ही सह्य है, यह सामानाधिकरण्य नहीं बनता है। इस बातको हम पहिले कई वार कह चुके हैं। लोकमें भी देवदत्त स्वामीके गेहूं है, इस प्रकार भेदमें वैयधिकरण्य करना ठीक पडता है। किन्तु कथंचित् अभेद हो जानेपर गेहूं पिसकर चून बन गया है, यह समानाधिकरणपना सत्य जचता है। गहरा विचार करो।

तत्र यद्वस्तुमात्रस्य ग्रहणं पारमार्थिकम् ।
द्विधा त्रेधा क्वचिज्ज्ञानं तदित्येकं न चापरम् ॥ ६ ॥

तत्र साध्वक्षजस्यार्थभेदज्ञानस्य तत्त्वतः ।
स्पष्टस्यानुभवाद्बाधा विनिर्मुक्तस्य सर्वदा ॥ ७ ॥

तिस प्रकरणमें ब्रह्माद्वैतवादीका कहना है कि जो शुद्ध सत्तामात्र वस्तुको ग्रहण करता है, वह ज्ञान ही पारमार्थिक है। अवान्तर भेदवाली सत्ताको जाननेवाला भेदज्ञान तो यथार्थ नहीं है। कहीं भी इन्द्रिय, अनिन्द्रियसे उत्पन्न हुआ दो प्रकारका ज्ञान या भेद, अभेद, भेदाभेदके अनुसार सामानाधिकरणपना व्यधिकरणपना बनाकर तीन प्रकारके कल्पित किये गये ज्ञान वे सब एक ही हैं, न्यारे न्यारे नहीं हैं। चिदाकार, शुद्ध, चिन्मात्रकी विधिको निरूपनेवाला एक ही ज्ञान वास्तविक है। क्योंकि सर्वत्र प्रतिभासमात्र प्रकाश रहा है। प्रत्यक्ष परोक्ष, अथवा अत्यन्तपरोक्ष, मिलाकर ये दो तीन ज्ञान नहीं हो सकते हैं। देशप्रत्यक्ष सकलप्रत्यक्ष और परोक्ष भेद करना भी ठीक नहीं पड़ता है। अब आचार्य कहते हैं कि वह ब्रह्म अद्वैतवादियोंका कहना तो अच्छा नहीं है। क्योंकि अर्थोंके इन्द्रियोंसे उत्पन्न हो रहे भेदज्ञानकी यथार्थरूपसे प्रतीति हो रही है। प्रत्युत केवल अभेदको ही ग्रहण करनेवाले चिन्मात्रका अनुभव नहीं हो रहा है। किन्तु विशेष वस्तुओंको ग्रहण करनेवाले और बाधाओंसे विशेषतया सब ओरसे रहित हो रहे विशदस्वरूप भेद ज्ञानका सदा अनुभव हो रहा है।

प्रतिभासमात्रस्य परमब्रह्मणोपि हि सत्यत्वं सर्वदा बाधविनिर्मुक्तत्वमिष्टमन्यथा तदव्यवस्थानात् तच्चार्थभेदज्ञानस्यापि स्पष्टस्यानुभूयते प्रतिनियतकालसंवेदनेन । कथमस्मदादेस्तत्र सर्वदा बाधरहितत्वं सिध्येदिति चेत् प्रतिभासमात्रे कथं । सकृदपि बाधानुपलंभनात्सर्वदा बाधासंभवनानुपपत्तेरिति चेत् भेदप्रतिभासेपि तत एव ।

ब्रह्माद्वैतवादियोंके यहां माने गये केवल प्रतिभासरूप परमब्रह्मका भी तो सत्यपना सदा बाधाओंसे विरहितपना ही उन अद्वैतवादियोंको इष्ट करना पड़ेगा। अन्यथा यानी निर्बाधस्वरूप सत्य हुये विना उस प्रतिभासस्वरूप परमब्रह्मकी व्यवस्था नहीं हो सकेगी। किन्तु वह सत्यपनका प्राण बाधारहितपना तो पदार्थोंके स्पष्ट हो रहे भेदज्ञानके भी अनुभूत हो रहे हैं। प्रत्येक ज्ञानके लिये नियत हो रहे कालमें उत्पन्न हुये विशेषज्ञानों करके घट पट आदिकोंके विशेषज्ञानोंका स्पष्ट अनुभव हो रहा है। इन सत्यज्ञानोंमें कभी बाधा नहीं आती है। यहां अद्वैतवादी पूंछता है कि उन भेदज्ञानोंमें सदा बाधारहितपना है, यह हम लोगोंके द्वारा कैसे जाना जा सकता है? इन भेदज्ञानोंमें कभी बाधाऐं न हुयीं, न हैं, और न होंगी, इस बातको अल्पज्ञ जीव जान नहीं सकता है। इस प्रकार अद्वैतवादियोंके पूंछनेपर तो हम स्याद्वादी कहते हैं कि तुम्हारे शुद्ध प्रतिभासमात्र या उसके ज्ञानमें सदा बाधारहितपना कैसे तुम अल्पज्ञों (एकज्ञों) के द्वारा जाना जा सकेगा? बताओ। यदि इसका उत्तर अद्वैतवादी यों कहें कि शुद्ध चिन्मात्रमें एकबार

भी हो रही बाधा नहीं दीखती है। इस कारण सदा ही बाधावोंकी संभावना नहीं बन रही है। इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन भी उत्तर देते हैं कि तिस ही कारण यानी एक बार भी बाधाओंकी उपलब्धि नहीं होती है। अतः बाधाओंके असम्भवकी सिद्धि भेदप्रतिभासोंमें भी समझ लेना। इस विषयमें हमारा, तुम्हारा, प्रश्नोत्तर उठाना, देना, एकसा पडेगा।

चंद्रद्वयादिवेदने भेदप्रतिभासस्य बाधोपलंभादन्यत्रापि बाधसंभवनान्न भेदप्रतिभासे सदा बाधवैधुर्यं सिध्यतीति चेत्तर्हि वकुलतिलकादिवेदने दूरादभेदप्रतिभासस्य बाधसहितस्योपलंभनादभेदप्रतिभासेपि सदा बाधशून्यत्वं मासिधत्। तत्रापि प्रतिभासमात्रस्य बाधानुपलंभ इति चेत् चंद्रद्वयादिवेदनेपि विशेषमात्रप्रतिभासे बाधानुपलंभ एवेत्युपालंभसमाधानानां समानत्वादलमतिनिर्बंधनेन।

ब्रह्मअद्वैतवादी कहते हैं कि एक चन्द्रमामें विशेषरूपसे दो चन्द्रमाका ज्ञान हो जाता है। या पैलदार छिलव्वी काचसे देखनेपर एक घटके अनेक घट दीखते हैं। इत्यादि झूठे ज्ञानोंमें भेदके प्रतिभासोंकी बाधाऐं उपस्थित हो रहीं देखी जाती हैं। अतः अन्य घट, पट, आदिके भेदप्रतिभासोंमें भी बाधाओंकी सम्भावना है। एक चावलको देख कर कसेंडीके पके, अधपके, सभी चावलोंका अनुमान लगा लिया जाता है। अतः जैनोंके भेदप्रतिभासमें सदा बाधारहितपना नहीं सिद्ध होता है। ऐसा कहनेपर तो हम जैन भी कह देंगे कि मौलश्री, तिलक, आम्र, चम्पा, अशोक आदि वृक्षोंके ज्ञानमें दूरसे हुये अभेदप्रतिभासके बाधासहितपनकी उपलब्धि हो रही है। अतः तुम्हारे प्रतिभासमात्ररूप अभेद प्रतिभासमें (के) भी सर्वदा बाधारहितपना नहीं सिद्ध होगा। भला विचारनेकी बात है कि भूठे विशेषज्ञानोंका अपराध सच्चे विशेष ज्ञानोंपर क्यों लादा जाता है? अद्वैतवादियोंके यहां गधे घोडे, सज्जन दुर्जन, मूर्ख पण्डित, चोर साहूकार, सब एक कर दिये गये हैं। ऐसी दशामें अन्योंसे न्यारे अपने अद्वैत मतकी वे सिद्धि नहीं कर सकेंगे। यदि वेदान्ती यों कहें कि दूरसे बगीचेमें वकुल, तिलक आदि अनेक वृक्ष समुदित होकर एक दीख रहे हैं। किन्तु निकट जानेपर भिन्न भिन्न होकर विशद दीख जाते हैं। फिर भी वहां सामान्य प्रतिभास होनेकी कोई बाधा नहीं दीख रही है। चाहे भिन्न दीखें या अभिन्न दीखें सामान्यप्रतिभास होनेमें तो कोई बाधा नहीं है। ऐसा स्थूलबुद्धिका उत्तर देनेपर तो हम भी कह देंगे कि दो चन्द्रमा आदिके ज्ञानोंमें भी केवल विशेष अंश यानी विशेष्यदलके प्रतिभासनेमें तो कोई बाधा नहीं दीखती ही है। केवल विशेषणभूत संख्याका अतिक्रमण हो गया है। इस प्रकार हमारे तुम्हारे दोनोंके यहां उलाहने और समाधान समान हैं। इस विषयमें आपको अधिक आग्रह करनेसे कुछ हाथ नहीं लगेगा। अतः भेदप्रतिभास या अभेद प्रतिभासके प्रकरणको अधिक बढाना नहीं चाहिये। बात यह है कि सभी ज्ञान भेदात्मक अभेदात्मक वस्तुओंके हुये भले प्रकार स्पष्ट अनुभूत हो रहे हैं। एककी काणी आंख हो जानेसे जगत्भरको काणा मत कह दो।

ननु च विषयस्य सत्यत्वे संवेदनस्य सत्यत्वमिति न्याये प्रतिभासमात्रमेव परमब्रह्म सत्यं तद्विषयस्य सन्मात्रस्य सत्यत्वान्न भेदज्ञानं तद्गोचरस्यासत्यत्वादिति मतमनूद्य दूषयन्नाह।

यहां अद्वैतवादियोंकी शंका है कि विषयके सत्य होनेपर उसको जाननेवाले ज्ञानकी सत्यता मानी जाती है। इस प्रकार न्याय हो जानेपर प्रतिभास मात्र ही परमब्रह्म जब सत्य है, तो उसको विषय करनेवाला केवल शुद्ध सत्का अभेदज्ञान ही सत्य होगा। भेदज्ञान तो सत्य नहीं हो सकता है। क्योंकि उसका विषय हो रहा भेदपदार्थ असत्य है, अपरमार्थ है। इस प्रकारके अद्वैत मतका अनुवाद कर उसको दूषित कराते हुये आचार्य महाराज स्पष्ट कथन करते हैं।

ननु सन्मात्रकं वस्तु व्यभिचारविमुक्तितः।
न भेदो व्यभिचारित्वात्तत्र ज्ञानं न तात्त्विकम् ॥ ८ ॥
इत्ययुक्तं सदाशेषविशेषविधुरात्मनः।
सत्त्वस्यानुभवाभावाद्भेदमात्रकवस्तुवत् ॥ ९ ॥
दृष्टेरभेदभेदात्मवस्तुन्यव्यभिचारतः।
पारमार्थिकता युक्ता नान्यथा तदसंभवात् ॥ १० ॥

यहां अद्वैतवादी अपने मन्तव्यकी स्थापनाके लिये पुनः आमंत्रण करते हैं कि चित्, आनन्दस्वरूप, केवल शुद्ध सत् ही परमार्थ वस्तु है। क्योंकि उस केवल सत्में कहीं भी व्यभिचार नहीं देखा जाता है। सीपमें चांदीको जाननेपर भी सत्पनेका ज्ञान तो निर्दोष है। चांदी हो या सीप होय, कुछ है तो सही। द्विचन्द्रज्ञानका विषय सन्मात्र तो निर्दोष है। दीन, निर्धन, चिर–असाध्य रोगी, वन्ध्या, विधवा, इन जीवोंके पास भले ही आत्मगौरव, धन, स्वास्थ्य, पुत्र, पति, नहीं हैं। किन्तु इनकी अक्षुण्ण सत्ता तो जगत् में है ही। अतः सर्वत्र, सर्वदा, सर्वसुलभ, सत्मात्र ही वास्तविक है। विशेषरूपसे देखे जारहे भेद तो यथार्थ नहीं हैं। क्योंकि भेदका ज्ञान होना व्यभिचारदोषसे युक्त है। प्रायःकरके सभी भेदप्रतिभासोंमें दोष देखे जाते हैं। रूप, रस, स्पर्शके आपेक्षिक ज्ञान ठीक ठीक नहीं उतरते हैं। वृक्षका एक ही प्रकारका रूप दूर, दूरतर, समीप, समीपतरसे देखनेपर कई प्रकारका दीखता है। शुक्ल वस्त्र पहिननेसे मनुष्य कुछ लम्बासा दीख पडता है। किन्तु काले वस्त्र पहिननेसे वही मनुष्य कुछ नाटा दीखने लग जाता है। तीव्र रसवाले पदार्थका भक्षण करनेपर मन्द रसवाला पदार्थ सर्वथा नीरस जाना जाता है। अस्वच्छ नगरमें रहनेवाले संपन्न पुरुषोंकी भी नासिका इन्द्रियें थोडीसी दुर्गन्धिका तो प्रतिभास नहीं कर पाती हैं। जब कि स्वच्छग्रामका रहनेवाला किसान नाक भोंह सिकोडकर वहांसे भगनेको उद्यत हो जाता है। निग्रहशक्तिशाली प्रतिष्ठित पुरुषके सन्मुख सामान्य प्रसिद्ध बातको कोई भी कह देता है। किन्तु

विशेषबातोंको कहनेके लिये असत्य हो जानेकी शंका बनी रहती है। अतः उस विशेषमें ज्ञान होना पारमार्थिक नहीं है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार अद्वैतवादियोंका कहना युक्तिरहित है। क्योंकि सम्पूर्ण विशेषोंसे रहित हो रहे सत्त्वस्वरूपका सर्वदा अनुभव नहीं होता है। जैसे कि सामान्यसे सर्वथा रहित हो रहे केवल विशेषस्वरूप वस्तुकी कभी भी प्रतीति नहीं होती है। किन्तु अभेद और भेदस्वरूप वस्तुमें व्यभिचारसे रहित हो रही प्रतीतिको ही पारमार्थिकपना युक्त है। दूसरे प्रकारोंसे यानी बौद्धोंके केवल विशेष अंशको जाननेवाले निर्विकल्पक दर्शनको और अद्वैतवादियोंके शुद्ध सामान्यसत्ताको प्रकाशनेवाले दर्शनको तात्त्विकपना नहीं है। क्योंकि सामान्यके विना केवल उस विशेषका और विशेषके विना केवल उस सामान्यका ठहरना असम्भव है " निर्विशेषं हि समान्यं भवेत् खरविषाणवत्। सामान्यरहितत्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि "।

न हि सकलविशेषविकलं सन्मात्रमुपलभामहे निःसामान्यविशेषवत् सत्सामान्यविशेषात्मनो वस्तुनो दर्शनात्। न च तद्व्यभिचारोस्ति केनचित्सद्विशेषेण रहितस्य सन्मात्रस्योपलंभेपि सद्विशेषांतररहितस्यानुपलंभनात्। ततस्तस्यैव सत्सामान्यविशेषात्मनोर्थस्याव्यभिचारित्वलक्षणं पारमार्थिकत्वं युक्तमिति तद्विधातृप्रत्यक्षं सिद्धम्।

सम्पूर्ण विशेषोंसे सर्वथा रहित हो रहे शुद्ध सन्मात्रको हम कभी भी नहीं देख रहे हैं। जैसे कि सामान्यसे सर्वथा रीता विशेष कभी देखा नहीं जाता है। किन्तु सबको उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यवाले सामान्य विशेषात्मक सत् वस्तुका दर्शन होता है। उस सामान्य विशेष–आत्मक वस्तुमें कोई व्यभिचार नहीं देखा जाता है। किसी एक विशेषसत्से रहित हो रहे केवल सत्का उपलम्भ होनेपर भी सत्के अन्य विशेषोंसे रहित हो रहे सत्मात्रका तो किसीको आजतक उपलम्भ नहीं हुआ है। द्विचन्द्र ज्ञानमें एकत्व नामके विशेषका उपलम्भ नहीं है। फिर भी द्वित्व नामका विशेष प्रविष्ट हो रहा है। भले ही वह झूंठा पड जाय तथा द्विचन्द्र ज्ञानमें चन्द्रपना, प्रकाशकपना, गगनतलमें स्थितपना, गोलपना, आदि विशेष धर्म तो दीख ही रहे हैं। दर्शनावरणके क्षयोपशमसे होनेवाले दर्शन उपयोगके समान कोई अद्वैतवादीका निर्विकल्पक दर्शन यदि वस्तुविशेषोंको नहीं देख सके तो इसमें वस्तुका दोष नहीं है। उन दर्शनोंकी त्रुटिको वस्तुका स्वरूप नहीं सम्भाल सकता है। चिमगादरको यदि दिनमें नहीं दीखे तो यह दोष सूर्यके ऊपर मढना ठीक नहीं है। इसी प्रकार किसीको यदि सामान्य नहीं दीखे तो इससे वस्तु सामान्यरहित नहीं कही जा सकती है। तलवारका आघात स्वयं अपने ऊपर करनेवाला पुरुष तलवारपर दोष नहीं लगा सकता है। प्रयोक्ताका दोष प्रयोज्यपर लगाना अन्याय है या बालकपन है। तिस कारण उस सामान्य–विशेषआत्मक सत् पदार्थको ही अव्यभिचारीपनका लक्षण पारमार्थिक कहना युक्तिपूर्ण है। अतः उस सामान्य विशेष आत्मक वस्तुका विधान करनेवाला प्रत्यक्ष प्रमाणसिद्ध है। अर्थात्—'आहुर्विधातृ-प्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चितः' विद्वान् लोक प्रत्यक्षको विधान करनेवाला ही कहते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण

निषेध करनेवाला नहीं है। इस कारिकासे अद्वैतवादियोंने प्रत्यक्ष द्वारा एकत्वकी विधि की है। किन्तु सच पूछो तो सब जीवोंके प्राचीन आर्वाचीन सभी प्रत्यक्ष सामान्य विशेष आत्मक वस्तुका विधान कर रहे हैं। सामान्य विशेष आत्मक वस्तुका निषेध नहीं करते हैं। हां, विशेषकी ओर लक्ष्य जानेपर अन्यके निषेधोंको भी साध देते हैं। प्रतीतिके अनुसार वस्तुकी व्यवस्था मानलेनी चाहिये। अन्यथा घपला मच जायगा।

जात्यादिकल्पनोन्मुक्तं वस्तुमात्रं स्वलक्षणम्।
तज्ज्ञानमक्षजं नान्यदित्यप्येतेन दूषितम् ॥ ११ ॥

इस उक्त कथनसे बौद्धोंका यह मन्तव्य भी दूषित कर दिया गया समझ लेना चाहिये कि जाति, नामयोजना, संसर्ग, द्रव्यपन, स्थूलता, साधारणता, स्थिरता, प्रत्यभिज्ञानविषयता, दूरत्व, परत्व, ममतवभाव, आदि कल्पनाओंसे सर्वथा रहित हो रहा क्षणिक स्वलक्षणमात्र ही वस्तुभूत है, ऐसे निर्विकल्पक स्वलक्षणका ज्ञान इन्द्रियोंसे जन्य हुआ यथार्थ है। अन्य कोई ज्ञेय या ज्ञान समीचीन नहीं है। इस प्रकारके बौद्धसिद्धान्तमें प्रमाणोंसे विरोध होनेके कारण अनेक दूषण आते हैं। उनको हम पहिले कह चुके हैं।

किं पुनरेवं स्याद्वादिनो दर्शनमवग्रहपूर्वकालभावि भवेदित्यत्रोच्यते।

यहां अब दूसरे प्रकारकी जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि स्याद्वादियोंके यहां माना गया सामान्यको ग्रहण करनेवाला दर्शन उपयोग क्या फिर इस प्रकार सामान्य विशेष आत्मक वस्तुको जाननेवाले अवग्रह ज्ञानसे पूर्वकालमें होनेवाला होगा ? या कैसा होगा ? इस प्रकार सच्छिष्यकी आकांक्षा होनेपर यहां आचार्य महाराज द्वारा सप्रमोद उत्तर कहा जाता है।

किंचिदित्यवभास्यत्र वस्तुमात्रमपोध्दृतं।
तद्ग्राहि दर्शनं ज्ञेयमवग्रहनिबंधनम् ॥ १२ ॥

" कुछ है " इस प्रकार प्रतिभास करनेवाला और पृथक्कृत (नहीं) हुई उस सामान्य वस्तुको ग्रहण करनेवाला दर्शन उपयोग जानना चाहिये। आखोंको मीचकर पुनः खोलनेपर सन्मुख स्थित पदार्थके विशेषोंको नहीं ग्रहण कर केवल उसकी महासत्ताका आलोचन करनेवाला दर्शन है। पीछे झटिति विशेषोंको जाननेवाला ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इस सामान्यग्राही दर्शनके पीछे हुये ज्ञानका कालव्यवधान सब जीवोंको नहीं प्रतीत होता है। फिर भी जिनकी विशुद्ध प्रतिभा है, उनको दर्शन और ज्ञानका अन्तरकाल प्रतीत हो जाता है। यद्यपि " कुछ कुछ है " सत् सामान्य है, ये भी एक प्रकारके अनध्यवसायरूप ज्ञान हैं। किन्तु शिष्योंको दर्शन उपयोगकी

विशेष प्रतिपत्ति करानेके लिये कुछ शब्दों द्वारा उल्लेख करना ही पडता है। चुप रहनेसे कार्य नहीं चलता है। यह आलोचन करनेवाला दर्शन उपयोग अवग्रह मतिज्ञानका कारण है।

अनेकांतात्मके भावे प्रसिद्धेपि हि भावतः ।
पुंसः स्वयोग्यतापेक्षं ग्रहणं क्वचिदंशतः ॥ १३ ॥

यद्यपि सम्पूर्ण पदार्थ भावदृष्टिसे सामान्य विशेष आधार आधेय, जन्य जनक, सत्ता अवान्तर सत्ता, धर्म धर्मी, विकल्प्य अविकल्प्य, नित्य अनित्य, एक अनेक, तत् अतत्, आदि अनेक धर्म स्वरूप प्रसिद्ध हो रहे हैं। फिर भी आत्माके अपनी ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमरूप योग्यताकी अपेक्षा रखता हुआ किसी किसी धर्ममें अंशरूपसे ग्रहण होना बन जाता है।

तेनार्थमात्रनिर्भासाद्दर्शनाद्भिन्नमिष्यते ।
ज्ञानमर्थविशेषात्माभासि चित्त्वेन तत्समम् ॥ १४ ॥

तिस कारण सत्तामात्र सामान्य अर्थको प्रकाशनेवाले दर्शनसे यह विशेषस्वरूप अर्थोको ग्रहण करनेवाला अवग्रह ज्ञान भिन्न माना गया है। भले ही चैतन्यपन करके वे दर्शन और अवग्रह समान हैं। बात यह है कि सत्ताका आलोचन करनेवाला दर्शन न्यारा है। बौद्धोंके निर्विकल्पक समान कुछको जाननेवाला अनध्यवसाय न्यारा है। और सामान्य विशेष वस्तुको जाननेवाला अवग्रह प्रमाण भिन्न है। पहिला दर्शन तो प्रमाण अप्रमाण कुछ भी नहीं है। दूसरा अनध्यवसाय अप्रमाण है। तीसरा अवग्रह प्रमाण है।

कृतो भेदो नयात्सत्तामात्रज्ञात्संग्रहात्परम् ।
नरमात्राच्च नेत्रादिदर्शनं वक्ष्यतेग्रतः ॥ १५ ॥

त्रिलोक, त्रिकालकी वस्तुओंके सत्त्वमात्रको समस्त ग्रहण कर जाननेवाले संग्रह नयसे यह आलोचन आत्मक दर्शन उपयोग निराला है। अतः संग्रहनयसे दर्शनका भेद कर दिया गया है। क्योंकि संग्रहनय द्वारा स्वजातिके अविरोध करके भेदोंका समस्त ग्रहण होता है। और अद्वैतवादियोंके ब्रह्मदर्शन समान केवल आत्माका मन इन्द्रिय द्वारा अचक्षु दर्शन हो जाना ही सम्पूर्ण दर्शन उपयोग नहीं है। क्योंकि अग्रिम ग्रन्थमें आत्मज्ञानके पूर्वभावी आत्मदर्शनके अतिरिक्त, चक्षु, अवधि, केवल, दर्शनोंको भी दर्शन उपयोगमें परिगणित कर कह देवेंगे।

न हि सन्मात्रग्राही संग्रहो नयो दर्शनं स्यादित्यतिव्याप्तिः शंकनीया तस्य श्रुतभेदत्वादस्पष्टावभासितया नयत्वोपपत्तेः श्रुतभेदा नया इति वचनात्। नाप्यात्ममात्रग्रहणं दर्शनं चक्षुरवधिकेवलदर्शनानामभावप्रसंगात्। चक्षुराद्यपेक्षस्यात्मनस्तदावरणक्षयोपशम-

विशिष्टस्य चक्षुर्दर्शनादिविभागभाक्के तु नात्ममात्रग्रहणे दर्शनव्यपदेशः श्रेयानित्यग्रे प्रपंचतो विचारयिष्यते ।

सम्पूर्ण वस्तुओंकी संग्रहीत केवल सत्ताको ग्रहण करनेवाला परसंग्रहनय यों तो दर्शन उपयोग हो जावेगा । इस प्रकार दर्शनके लक्षणकी अतिव्याप्ति दोष हो जानेकी शंका नहीं करनी चाहिये । क्योंकि वह संग्रहनय तो श्रुतज्ञानका भेद है । अविशद प्रतिभासनेवाला ज्ञान होनेसे उस संग्रहको नयपना बन रहा है । श्रुतज्ञानके भेद नयज्ञान होते हैं । ऐसा ग्रन्थोंमे कहा गया है । तथा केवल आत्माका ही ग्रहण करना भी दर्शन उपयोग नहीं है । क्योंकि यों तो अचक्षुर्दर्शनके सिवाय चक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन, और केवलदर्शनोंके अभावका प्रसंग हो जावेगा । यदि चक्षु या स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र, मन, रूप अचक्षु आदिकी अपेक्षा रखनेवाले और चक्षुः आवरण कर्मके क्षयोपशम आदिसे विशिष्ट हो रहे आत्माको ही चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शनरूप विभागोंको धारण करलेनेवालापन माना जायगा, तब तो केवल आत्माके ग्रहण करनेमें ही दर्शन उपयोगका व्यवहार करना श्रेष्ठ नहीं है । इस बातको आगेके ग्रन्थमें विस्तारसे विचरवा देंगे । " दृष्टव्योयमात्मा " केवल इतनेसे ही उपयोग पर्याप्त नहीं हो जाते हैं ।

> नन्ववग्रहविज्ञानं दर्शनाज्जायते यदि ।
> तस्येंद्रियमनोजत्वं तदा किं न विरुध्यते ॥ १६ ॥
> पारंपर्येण तज्जत्वात्तस्येहादिविदामिव ।
> को विरोधः क्रमाद्वाक्षमनोजन्यत्वनिश्चयात् ॥ १७ ॥
> इंद्रियानिंद्रियाभ्यां हि यत्वालोचनमात्मनः ।
> स्वयं प्रतीयते यद्वत्तथैवावग्रहादयः ॥ १८ ॥

यहां शंका होती है कि अवग्रहरूप मतिज्ञान यदि दर्शनसे उत्पन्न होता है, तब तो उस मतिज्ञानका पूर्व सूत्र अनुसार इन्द्रिय और मनसे जन्यपना क्यों नहीं विरुद्ध पड़ेगा ? इसपर आचार्य उत्तर कहते हैं कि ईहा, अवाय, आदि ज्ञानोंके समान वह अवग्रह भी परम्परा करके इन्द्रिय और मनसे जन्य है । अथवा क्रमसे अक्ष और मन द्वारा जन्यपनेका निश्चय हो जानेके कारण कौन विरोध आता है ? अर्थात्—साक्षात् रूपसे अवग्रह दर्शन करके जन्य है । और परम्परा करके इन्द्रियमनोंसे जन्य है । यह क्रम चालू है, कारण कि जिस प्रकार अनिन्द्रियसे जो आत्माका आलोचन होना स्वयं प्रतीत हो रहा है । तिस ही प्रकार अवग्रह, ईहा, आदिक भी तो इन्द्रिय और मनसे होते हुये स्वयं प्रतीत हो रहे हैं । फिर शंका उठाना व्यर्थ है । कार्यकी उत्पत्तिमें असाधारण होकर व्यापार करनेवाले परम्परा कारण भी प्रेरक कारणोंमें गिनाये जाते हैं ।

य एवाहं किंचिदिति वस्तुमात्रमिंद्रियानिंद्रियाभ्यामद्राक्षं स एव तद्वर्णसंस्थानादि सामान्यभेदेनावगृह्णामि तद्विशेषात्मनाकांक्षामि तदेव तथावैमि तदेव धारयामीति क्रमशः स्वयं दर्शनावग्रहादीनामिंद्रियानिन्द्रियोत्पाद्यत्वं प्रतीयते प्रमाणभूतात्प्रत्यभिज्ञानात् क्रमभाव्यनेकपर्यायव्यापिनो द्रव्यस्य निश्चयादित्युक्तप्रायम् ।

जो ही मैं " कुछ है ", इस प्रकार महासत्तास्वरूप केवल सामान्य वस्तुको इन्द्रिय अनिन्द्रियोंके द्वारा देख चुका हूं (दर्शन उपयोग) सो ही मैं रूप आकृति रचना आदि सामान्य भेदोंकरके उस वस्तुका अवग्रह कर रहा हूं (अवग्रह) तथा वही मैं अन्य विशेष अंश स्वरूपकरके उस वस्तुका आकांक्षारूप ज्ञान कर रहा हूं (ईहा) तथा वही मैं तिस प्रकार ही है, इस ढंगसे उसी वस्तुका निश्चय कर रहा हूं (अवाय) एवं वही मैं उसी वस्तुकी कालान्तरतक स्मरण करने योग्यपनसे धारणा कर रहा हूं (धारणा) । इस प्रकार क्रमसे दर्शन, अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, ज्ञानोंका इन्द्रिय अनिन्द्रियोंके द्वारा उत्पत्ति योग्यपना स्वयं प्रतीत हो रहा है । वही एक आत्मा क्रमसे दर्शन और अनेक ज्ञानोंको उत्पन्न करता है । प्रमाणभूत सिद्ध हो रहे प्रत्यभिज्ञानसे क्रमसे होनेवाली अनेक पर्यायोंमें व्यापनेवाले द्रव्यका निश्चय हो रहा है । इसको हम पहिले कई बार कह चुके हैं ।

वर्णसंस्थादिसामान्यं यत्र ज्ञानेवभासते ।
तन्नो विशेषणज्ञानमवग्रहपराभिधम् ॥ १९ ॥
विशेषनिश्चयोवाय इत्येतदुपपद्यते ।
ज्ञानं नेहाभिलाषात्मा संस्कारात्मा न धारणा ॥ २० ॥
इति केचित्प्रभाषंते तच्च न व्यवतिष्ठते ।
विशेषवेदनस्येह दृष्टस्येहात्वसूचनात् ॥ २१ ॥
ततो दृढतरावायज्ञानाद् दृढतमस्य च ।
धारणत्वप्रतिज्ञानात् स्मृतिहेतोर्विशेषतः ॥ २२ ॥
अज्ञानात्मकतायां तु संस्कारस्येह तस्य वा ।
ज्ञानोपादानता न स्याद्रूपादेरिव सास्ति च ॥ २३ ॥

कोई अपना राग अलाप रहे हैं कि जिस ज्ञानमें वर्ण, रचना, आकृति आदिका सामान्यरूपसे प्रतिभास होता है वह ज्ञान तो हमारे यहां विशेषणज्ञान माना गया है । आप जैनोंने उसका दूसरा नाम अवग्रह धर दिया है । तथा जिस ज्ञानकरके वस्तुके विशेष अंशोंका निश्चय कराया जाता है,

वही अवाय है। इस प्रकार यह हमारे यहां भी बन जाता है। किन्तु अभिलाषारूप माना गया ईहा ज्ञान और संस्कारस्वरूप धारणा ज्ञान नहीं सिद्ध हो पाते हैं। क्योंकि अभिलाषा तो इच्छा है। वह आत्माका ज्ञानसे न्यारा स्वतंत्र गुण है। तथा भावनारूप संस्कार भी ज्ञानसे न्यारा स्वतंत्र गुण है। इच्छा और संस्कार तो ज्ञानस्वरूप नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार कोई विद्वान् स्वमत को प्रकृष्ट मानकर भाषण कर रहे हैं। किन्तु उनका वह मन्तव्य व्यवस्थित नहीं हो पाता है। इस प्रकरणमें वस्तुके अंशोंकी आकांक्षारूप दृढ विशेष ज्ञान को ईहापना सूचित किया है। उस दृढ ईहा ज्ञानसे अधिक दृढ अवाय ज्ञान है। और, अवायज्ञानसे भी बहुत अधिक दृढ धारणा ज्ञान है। स्मृतिके विशेषरूपसे कारण हो रहे धारणाज्ञानको दृढतमपनेकी प्रतिज्ञा है। हम जैनोंके यहां भी मोहनीय कर्मके उदयसे आत्माके चारित्र गुणकी विभाव पर्याय को इच्छा माना है। और आत्माके चैतन्यगुणका परिणाम ज्ञान है। अतः इच्छासे ज्ञान न्यारा है। किन्तु पूर्व समयवर्तिनी आकांक्षाका विकल्प करता हुआ ईहा ज्ञान उपजता है। अतः उसको आकांक्षापनसे व्यवहार कर देते हैं। जैसे कि क्षपकश्रेणीमें मोक्षकी इच्छा नहीं रहते हुये भी पूर्व इच्छा अनुसार कर्मोंका क्षय चाहनेकी अपेक्षासे मुमुक्षुपना कह दिया जाता है। चौथा धारणाज्ञान तो संस्काररूप है। ज्ञानमें विशिष्ट क्षयोपशम अनुसार अतिशयोंका उत्पन्न हो जाना ही ज्ञानस्वरूप संस्कार है। इससे न्यारा कोई भावना नामका संस्कार हमें अभीष्ट नहीं है। यदि इस प्रकरणमें संस्कारको अज्ञान स्वरूप माना जायगा, तब तो वह संस्कार स्मरणज्ञानका उपादान कारण न हो सकेगा। जैसे कि रूप, रस आदिक गुण ज्ञानके उपादान कारण नहीं हैं, किन्तु संस्काररूप धारणाको स्मृति ज्ञानकी वह उपादानता प्राप्त है। अतः वह संस्कार धारणा नामक ज्ञान ही पडता है। ज्ञानभिन्न कोई गुण भावना नामका संस्कार नहीं सिद्ध हो पाता है। इसका विवरण प्रमेयकमलमार्तण्डमें किया गया है।

सुखादिना न चात्रास्ति व्यभिचारः कथंचन।
तस्य ज्ञानात्मकत्वेन स्वसंवेदनतासिद्धितः ॥ २४ ॥
सर्वेषां जीवभावानां जीवात्मत्वार्पणान्नयात्।
संवेदनात्मतासिद्धेर्नापसिद्धान्तसंभवः ॥ २५ ॥

यहां कोई दोष देता है कि यदि जैन लोग ज्ञानभिन्न किसी भी गुणको ज्ञानका उपादान कारण न मानेंगे तो सुख, दुःख, आदि परिणामोंकरके व्यभिचार होता है। अर्थात्—सुख, दुःख आदिक भी ज्ञानके उपादान कारण बन रहे प्रतीत हो रहे हैं। अब आचार्य कहते हैं कि हमारे यहां यह व्यभिचार कैसे भी नहीं आता है। क्योंकि उन सुख आदिकोंकी ज्ञानस्वरूपपनेकरके स्वसम्वेदनप्रत्यक्ष द्वारा सिद्धि हो रही है। चेतन आत्माके सुख, इच्छा, भावना आदि रूप सभी

परिणामोंपर चैतन्यभाव अन्वित हो रहा है। जैसे कि कढ़ियासे अति उष्ण निकाली हुई इमर्तीको चाशनीमें डाल देनेपर चारों ओरसे खांड उसके ऊपर लद बैठती है। उसी प्रकार आत्माके स्वसम्वेद्य गुणोंपर ज्ञानआत्मकपना लद जाता है। जीवके सम्पूर्ण परिणामोंको चेतन जीवस्वरूपपनेकी अर्पणा करनेवाली नयसे सम्वेदनस्वरूपपना सिद्ध है। जैनसिद्धान्त इस बातको स्वीकार करता है। इस कारण हम स्याद्वादियोंके यहां अपसिद्धान्त हो जानेकी सम्भावना नहीं है। अर्थात्—संस्कार, सुख, इच्छा, आदिको ज्ञानपना माननेपर जैन लोग हम वैशेषिकोंके प्रभावमें आकर अपने सिद्धान्तसे स्खलित हो गये, यह जीतकी बाज़ी मारनेके लिये हृदयमें सम्भावना नहीं करना। क्योंकि हम जैन कालत्रयमें अपने स्याद्वादसिद्धान्तसे च्युत होनेवाले नहीं हैं। सुमेरुके समान स्वसिद्धान्तपर आरूढ हैं। जो कुछ हमने कहा है, जैनसिद्धान्त अनुसार ही कहा है।

औपशमिकादयो हि पंच जीवस्य भावाः संवेदनात्मका एवोपयोगस्वभावजीवद्रव्यार्थादेव। तत्र केषांचिदसंवेदनात्मत्वोपदेशादन्यथा तत्रव्यवस्थितिविरोधादिति वक्ष्यते।

जीवके औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, पारणामिक पांच भाव सम्यग्दर्शन, ज्ञान, लब्धि, क्रोध, मनुष्यत्व आदि त्रेपन भेदोंमें विभक्त हो रहे हैं। ये सब सम्वेदनस्वरूप ही हैं। क्योंकि चैतन्य उपयोगस्वरूप जीव पदार्थको विषय करनेवाली द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे ही वे चेतनस्वरूप हो रहे हैं। तभी तो प्रमाणदृष्टि या पर्यायार्थिक नयसे तिनमें कोई कोई भावोंका असम्वेदनस्वरूपना उपदेश किया गया है। अन्यथा यानी ज्ञानात्मक हुये विना उन भावोंकी ठीक ठीक व्यवस्था होनेका विरोध पडेगा, यह बात आगे ग्रन्थमें स्पष्ट कह दी जावेगी। पर्यायदृष्टिसे यद्यपि उपशमचारित्र, इच्छा, आदिक पर्यायें ज्ञानपर्यायसे भिन्न हैं। अतः वे कथंचित् असम्वेदनस्वरूप हो सकती हैं। फिर भी चैतन्यद्रव्यका अन्वितपना अपरिहार्य है। अनुकूलवेदन प्रतिकूलवेदनरूप सुखदुःखोंका अनुभव हो रहा है। इच्छा, संयम, असंयम, क्रोध, जीवपना, आदि भाव चेतन आत्मक अनुभवे जा रहे हैं। प्रधानगुणकी छाप अन्य गुणोंपर पडती है, गन्धद्रव्यवत्।

तत एव प्रधानस्य धर्मा नावग्रहादयः।
आलोचनादिनामानः स्वसंवित्तिविरोधतः ॥ २६ ॥

तिस ही कारण यानी चेतन जीवद्रव्यके तदात्मक परिणाम होनेसे ही अवग्रह आदिक ज्ञान सत्त्वगुण, रजोगुण और, तमोगुणकी साम्य अवस्थारूप प्रकृतिके भी धर्म (स्वभाव) नहीं हैं, जो कि सांख्योंने आलोचन, संकल्प, अभिमान, आदि नामोंसे संकेतित किये हैं। अवग्रह आदिको जड प्रकृतिका धर्म माननेपर उनके स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होनेका विरोध पडेगा। ज्ञानस्वरूप या चेतन जीवस्वरूप पदार्थोंका ही स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होना सम्भवता है। जड धर्मोंका स्वसम्वेदन कालत्रयमें नहीं हो पाता है।

आलोचनसंकल्पनाभिमननाध्यवसाननामानोऽवग्रहादयः प्रधानस्य विवर्ताश्चेतना पुंसः स्वभाव इति येप्याहुस्तेपि न युक्तवादिनः, स्वसंवेदनात्मकत्वादेव तेषामात्मस्वभावत्वप्रसिद्धेरन्यथोपगमे स्वसंवित्तिविरोधात् । न हीदं स्वसंवेदनं भ्रांतं बाधकाभावादित्युक्तं पुरस्तात् ।

कपिल मतानुयायी मानते हैं कि पदार्थोंका सामान्यरूपसे आलोचन करना अवग्रह है। यह इन्द्रियोंद्वारा हुआ प्रकृतिका विवर्त है। " संकल्प करना " ईहा है। यह भी मनद्वारा हुआ प्रकृतिका परिणाम है। " यह ऐसा ही है " इस प्रकार अभिमान करना अवाय है, जो कि प्रकृतिकी अहंकाररूप पर्याय है। तथा दृढ निर्णय करलेना धारणा है। यह तो प्रकृतिका बुद्धिरूप पहिला परिणमन है। अतः हमारे यहां आलोचन, संकल्पन, अभिमान, अध्यवसाय, नामोंको धारनेवाले अवग्रह आदिक ज्ञान प्रकृतिके ही परिणाम हैं। हां, चेतना तो पुरुषका स्वभाव है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार जो भी सांख्य कह रहे हैं, वे भी युक्तिपूर्वक कहनेकी टेव रखनेवाले नहीं हैं। क्योंकि उन आलोचन आदिक रूप अवग्रह आदि ज्ञानोंको स्वसम्वेदनस्वरूप होनेके कारण ही आत्मस्वभावपना प्रसिद्ध हो रहा है। दूसरे ढंगसे यानी जडप्रकृतिका धर्म माननेपर तो उनका स्वसम्वेदन होना विरुद्ध पडेगा। जैसे कि घट, पट आदिका स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होना नहीं बनता है। इन अवग्रह आदिकोंका हो रहा यह स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष भ्रान्त नहीं है। क्योंकि इस प्रत्यक्षका बाधक प्रमाण कोई उपस्थित नहीं होता है। इस बातको हम पहिले प्रकरणोंमें कह चुके हैं। अतः अवग्रह आदिक ज्ञान चेतन आत्माके परिणाम हैं। बुद्धि और चेतनामें कोई विशेष अन्तर नहीं है। बुद्धिको प्रकृतिका धर्म माननेपर आत्मतत्त्वकी कल्पना व्यर्थ पडती है। अथवा जैसे किसी मनोनुकूल खाद्य पदार्थ या रमणीय स्पृश्य पदार्थका प्रसङ्ग प्राप्त होनेपर क्रमसे उसमें आलोचन, संकल्प, अभिमान, अध्यवसाय होते हैं। यदि ये आत्मासे सर्वथा भिन्न प्रकृतिके विवर्त हैं, तब तो वस्तुतः जड हैं। स्वसम्वेद्य नहीं हो सकते हैं। किन्तु इनका स्वसम्वेदन हो रहा है।

ननु दूरे यथैतेषां क्रमशोर्थे प्रवर्तनं ।
संवेद्यते तथासन्ने किन्न संविदितात्मनाम् ॥ २७ ॥
विशेषणविशेष्यादिज्ञानानां सममीदृशं ।
वेद्यं तत्र समाधानं यत्तदत्रापि युज्यते ॥ २८ ॥

अब यहां अवग्रह आदिक मतिज्ञानोंकी क्रमसे प्रवृत्ति होनेमें शंका की जाती है कि जिस प्रकार दूरवर्ती पदार्थमें इन अवग्रह आदि ज्ञानोंका क्रम क्रमसे प्रवर्तना अच्छा जाना जा रहा है,

पहिले इन्द्रिय और अर्थकी योग्यदेशमें अवस्थिति हो जानेपर दर्शन होता है, पीछे अवग्रह हो जाता है, अनन्तर आकांक्षारूप ईहा ज्ञान होता है, पुनः अवाय, उसके पीछे धारणाज्ञान होते हैं, उसी प्रकार निकटदेशवर्ती पदार्थमें सम्विदितस्वरूप माने जा रहे अवग्रह आदिकोंकी क्रमसे होती हुई प्रवृत्ति क्यों नहीं जानी जाती है ? समीपदेशके पदार्थमें तो युगपत् ये ज्ञान होजाते हैं। इसपर आचार्य उत्तर कहते हैं कि नैयायिक या वैशेषिकोंके यहां भी विशेषणविशेष्यका या सामान्य-विशेष आदि ज्ञानोंका क्रमसे होना नहीं अनुभूत हो रहा है। किन्तु इसी प्रकार अवग्रह आदिकके समान उन ज्ञानोंका क्रमसे प्रवर्तना समानरूपसे तुमने माना है। उसमें यदि नैयायिक जो यह समाधान करें कि हम क्या करें, तिस प्रकारका उन विशेषणविशेष्य आदि ज्ञानोंका क्रमसे प्रवर्तना क्वचित् प्रत्यक्षसे कहीं अनुमानसे जाना जा रहा है। पहिले दण्ड आदि विशेषणोंका ज्ञान होता है। उसके अव्यवहित उत्तरकालमें पुरुष (दण्डी) आदि विशेष्योंका ज्ञान जन्मता है। किन्तु युगपत् हो रहा सरीखा दीखता है। वह समाधान तो यहां अवग्रह आदिमें भी उपयोगी हो जाता है। सौ पत्तोंकी गड्डी बनाकर सूईसे छेदनेपर क्रमसे ही उनमें सूई जाती है। झटिति संचार हो जानेसे अक्रम सरीखा दीखता है। बात यह है कि जब एक पुद्गल परमाणु एक समयमें चौदह राजू चला जाता है, तो सूई भी भले ही एक समयमें लाखों पत्तोंको छेद डाले। स्थूलदृष्टिसे परप्रसिद्धि अनुसार दृष्टान्त दे दिया गया है। किन्तु क्रमवर्ती अवग्रह आदिक ज्ञानोंकी उत्पत्ति तो एक समयमें कथमपि नहीं हो सकती है। आत्माके उपयोग आत्मक ज्ञानपरिणाम एक समयमें एक एक ही होकर उपजते हैं। एक समयमें दो उपयोग नहीं हो पाते हैं। अवग्रहके पहिले दर्शन अवश्य रहना चाहिये। ईहाके पूर्वमें अवग्रह पर्याय अवश्य उपज लेनी चाहिये। अवायके प्रथम भी ईहाज्ञानका रहना आवश्यक है। तथा अवायज्ञानके पूर्वसमयवर्ती होनेपर ही पहिला धारणाज्ञान धारण किया जाता है। हां, पिछले अवाय भले ही अवायपूर्वक होते रहें या पिछली धारणाओंकी धारा विशेषांशोंको जानती हुई भले ही धारणापूर्वक चलती रहे, फिर भी स्थास, कोश, कुशूल, घट या बाल्य, कौमार, युवत्व, वृद्धत्वके समान अवग्रह आदिकोंका क्रम अनिवार्य है।

तथैवालोचनादीनां दृगादीनां च बुध्यते।
संबंधस्मरणादीनामनुमानोपकारिणाम् ॥ २९ ॥
अत्यंताभ्यासतो ह्याशु वृत्तेरनुपलक्षणम्।
क्रमशो वेदनानां स्यात्सर्वेषामविगानतः ॥ ३० ॥

तिस ही प्रकार कापिलोंने आलोचन, संकल्प, अभिमान, अध्यवसायको क्रमसे होना समझा है। तथा अद्वैतवादियोंके यहां दर्शन, श्रवण, मनन, निदिध्यासनकी क्रमप्रवृत्ति जानी गयी है। अनुमानका उपकार करनेवाले सम्बन्धस्मरण आदिका क्रमसे प्रवर्तना जाना जा रहा है। पहिले

हेतुका दर्शन होता है। पीछे व्याप्तिका स्मरण किया जाता है। पुनः पक्षवृत्तित्व ज्ञानकरके अनुमान कर लिया जाता है। आगमज्ञानमें भी क्रम देखा जाता है। शब्दका श्रोत्र इन्द्रियसे श्रावण प्रत्यक्ष कर संकेतका स्मरण करते हुये और इस शब्दमें वैसे ही पूर्वसांकेतिक शब्दका सादृश्य-प्रत्यभिज्ञान करते हुये आगम ज्ञान उपजता है। अत्यन्त अधिक अभ्यास हो जानेसे उक्त ज्ञानोंकी झटिति प्रवृत्ति हो जाती है। अतः स्थूलदृष्टिजीवोंको उनका अन्तराल नहीं दीख पाता है। वस्तुतः आत्माके सम्पूर्ण ज्ञानोंकी निर्दोष रूपसे क्रम करके ही प्रवृत्ति होती है। आखका पलक मीचनेमें लगे असंख्यात समयोंमें ज्ञानकी असंख्यातपर्यायें हो जाती हैं। अत्यधिक अभ्यास हो जानेसे आशुवृत्तिका दीखना नहीं होता है। जैसे शीघ्र पुस्तकको बाचनेवाला जन अक्षरोंपर क्रमसे जानेवाली दृष्टिकी शीघ्र क्रमप्रवृत्तिको नहीं निरखपाता है। ऊपर कहे हुये घट आदिक दृष्टान्त वे ही पकडना जो क्रमसे हो रहे सम्भवते हैं। यदि किसीने जुडे हुये दो घटोंकी या चार घडोंकी इटली बनाई यहा प्रथम तो शिवक, छत्र, स्थास, आदिके क्रमसे दो या चार घट उपजे हैं। किन्तु वर्षदिनों पीछे दो घडे या चार घडेके अवयवीमेंसे काट देने पर जो एक घट कार्य उत्पन्न हो गया है, "भेद संघातेभ्य उत्पद्यन्ते" वह तो शिवक, छत्र आदि अवयवोंके क्रमसे उत्पन्न हुआ नहीं है। पाषाणमें उकेरी गयी प्रतिमा भी अवयवक्रमसे नहीं बनाई है। तथा किसीको हेतुदर्शन करते ही अभेददृष्टिसे स्वार्थानुमानरूप मतिज्ञान युगपत् हो जाता है। अतः तिस प्रकार क्रमसे हो रहे दृष्टान्तोंको हमारी ओरसे दार्ष्टान्तोंमें लागू करना। दृष्टान्तोंपर किसीको कुचोद्य नहीं उठाना चाहिये। वादीको व्यक्तिरूप दृष्टान्त देनेका अधिकार है। अत. किसी अन्य विशेष दृष्टान्तको पकड कर दार्ष्टान्तिके रहस्यको निर्बल करना अन्याय है। रस, रक्त, मास, मेद, हड्डी, मज्जा, शुक्र, की उत्पत्ति या शब्दोंकी क्रमप्रवृत्ति अथवा क्षपकश्रेणी, केवलज्ञान, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती, व्युपरत क्रियानिवृत्ति इनकी क्रमसे उत्पत्ति होनेके समान अवग्रह आदिक ज्ञान क्रमसे ही होते हैं। भले ही उनका क्षयोपशम युगपत् हो जाय, फिर भी क्षयोपशममें विशिष्ट चमत्कार तो क्रमसे ही उपजेगा।

ततः क्रमभुवोवग्रहादयो अनभ्यस्तदेशादाविवाभ्यस्तदेशादौ सिद्धाः स्वावरणक्षयोपशमविशेषाणां क्रमभावित्वात् ।

तिस कारण सिद्ध हुआ कि अभ्यास नहीं किये गये देश, स्थानवर्ती आदि पदार्थोंमें जैसे अवग्रह आदिक ज्ञान क्रमसे हो रहे सिद्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार अभ्यास प्राप्त हो रहे देश, काल, पदार्थ, आदिमें भी क्रमसे ही हुये सिद्ध समझने चाहिये। क्योंकि अपने अपने आवरण कर्मोंके क्षयोपशमकी विशेषतायें क्रमसे ही होनेवाली हैं। एक नयका सिद्धान्त है कि उदय कालमें ही बन्ध हुआ कहना चाहिये। यद्यपि कर्मोंका बन्ध पहिले ही हो जाता है। किन्तु बन्धे हुये दोनों पदार्थोंकी गुणच्युति जब होय तभी बन्ध कहना शोभा देता है। पहिले तो विस्रसोपचयके समान व्यर्थ पडा रहता है। अनेकक्षणस्थायी कारणोंमें अतिशय नहीं पैदा होनेके कारण ही वे कार्यकी

उत्पत्ति करनेमें विलम्ब करते रहते हैं। और कार्यकी उत्पत्तिके अवसरको उसी प्रकार टाल देते हैं। जैसे कि कोई कृपण धनाढ्य या जिसका पेटा खाली है, वह योग्य अर्थियोंको बातोंमें उडा देता है। भले ही सामान्य क्षयोपशम हो गये हों, किन्तु उनके अतिशयोंकी पूर्णता ज्ञानके पूर्वक्षणमें ही होती है। इस विषयको श्रीविद्यानन्द आचार्यने स्वोपज्ञ अष्टसहस्री ग्रन्थमें विशेष स्पष्ट किया है। " उपज्ञाज्ञानमाद्यं स्यात् " देवागमस्तोत्र (आप्तमीमांसा) की टीका अष्टशती है। और अष्टशतीके प्रतीकोंपर अष्टसहस्री रची गयी है।

अत्रापरः प्राह। नाक्षजोवग्रहस्तस्य विकल्पात्मकत्वात्तत एव न प्रमाणभवस्तुविषयत्वादिति तं प्रत्याह।

यहां कोई दूसरा बौद्ध विद्वान् सगर्व कह रहा है कि अवग्रहज्ञान इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ नहीं है। वह अवग्रह तो विकल्पस्वरूप ज्ञान है। इन्द्रियां तो संकल्प, विकल्परूप ज्ञानोंको नहीं उत्पन्न करा सकती हैं। विकल्प करना तो मिथ्यावासनाओंका कार्य है। इन्द्रियां तो निर्विकल्पक ज्ञानको उत्पन्न करती हैं। जब कि अवग्रह ज्ञान विकल्पस्वरूप है। तिस ही कारण वह अवस्तुको विषय करनेवाला होनेसे प्रमाणज्ञान नहीं माना गया है। इस प्रकार जो वादी कह रहा है, उसके प्रति आचार्य महाराज स्पष्ट उत्तर कहते हैं।

द्रव्यपर्यायसामान्यविषयोवग्रहोक्षजः।
तस्यापरविकल्पेनानिषेध्यत्वात् स्फुटत्वतः ॥ ३१ ॥

सामान्यरूपसे द्रव्य और पर्यायोंको विषय करनेवाला अवग्रहज्ञान अवश्य ही इन्द्रियोंसे जन्य सम्भव जाता है। क्योंकि वह अवग्रहज्ञान अन्य विकल्पज्ञानोंसे निषेध करने योग्य नहीं है। यदि वह अवग्रहज्ञान मिथ्या माने गये विकल्पज्ञानस्वरूप होता तो अन्य विकल्पोंसे बाधने योग्य हो जाता। जैसे कि सीपमें हुये चांदीके विकल्पज्ञानको " यह चांदी नहीं है " इस प्रकारका उत्तर समयवर्ती विकल्पज्ञान बाध लेता है। तथा यह अवग्रहज्ञान स्पष्ट भी है। इन्द्रियजन्यज्ञान स्पष्ट हो रहे माने गये हैं। किन्तु बौद्धोंने विकल्पज्ञानोंको स्पष्ट नहीं माना है। अतः एकदेश–वैशद्य होनेसे अवग्रहज्ञान इन्द्रियोंसे जन्य साधलिया जाता है।

संवादकत्वतो मानं स्वार्थव्यवसितिः फलं।
साक्षाद्व्यवहितं तु स्यादीहा हानादिधीरपि ॥ ३२ ॥

यह अवग्रहज्ञान (पक्ष) प्रमाण है (साध्य), सम्वादकपना होनेसे (हेतु), जो ज्ञान सफलप्रवृत्तिजनक या बाधारहितरूप सम्वादक होते हैं, वे प्रमाण होते हैं। इस अवग्रहज्ञानका साक्षात् फल तो अपना और अर्थका निर्णय करना है। तथा परम्पराप्राप्त–फल तो ईहा ज्ञानको

उत्पन्न कराना अथवा अपने विषयमें हान, उपादान, उपेक्षा, बुद्धियां उत्पन्न करा देना भी है। जब इन्द्रियोंसे उपज रहा अवग्रह इतना बढिया होकर इतने उत्तम प्रमाण योग्य कार्योंको कर रहा है, तब तो उसे इन्द्रियजन्य नहीं मानना और इसी कारण प्रमाण नहीं मानना दिन दहाडे अन्याय करना है।

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषयोरवग्रहोऽक्षजो युक्तः प्रतिसंख्यानेनाविरोध्यत्वाद्विशदत्वाच्च तस्यानक्षजत्वे तदयोगात्। शक्यंते हि कल्पनाः प्रतिसंख्यानेन निवारयितुं नेंद्रियबुद्धय इति स्वयमिष्टेः। मनोविकल्पस्य वैशद्यानिषेधः।

" यह मनुष्य है " " यह शुक्ल वस्तु है " " यह पुस्तक है " इस प्रकार सामान्य रूपसे द्रव्य और विशेषस्वरूपसे पर्यायोंको विषय करनेवाले अवग्रह ज्ञानको इन्द्रियोंसे जन्य कहना युक्त ही है। क्योंकि अवग्रह ज्ञान प्रतिकूल साधक प्रमाणों करके विरोध करने योग्य नहीं है, तथा अवग्रहज्ञान स्पष्ट है। यदि उस अवग्रहको इन्द्रियोंसे जन्य नहीं माना जायगा तो प्रतिकूल प्रमाणोंसे विरोध करने योग्य हो जायगा और उस विशदज्ञानपनेका अयोग हो जावेगा। जैसे कि मिथ्यावासनाओंसे उत्पन्न हुए मनोराज्य आदिके विकल्पज्ञान प्रमाणोंसे विरोध्य हैं और स्पष्ट नहीं हैं, " कल्पना ज्ञान तो प्रतिकूल प्रमाणोंकरके निवारण किये जा सकते हैं, किन्तु इन्द्रियजन्य ज्ञान तो अन्य ज्ञानोंसे बाध्य नहीं हैं " इस प्रकार आप बौद्धोंने स्वयं अपने ग्रंथोंमें अभीष्ट किया है। मन इन्द्रिय जन्य सच्चे विकल्पज्ञानके विशदपनका निषेध नहीं किया गया है।

प्रमाणं चायं संवादकत्वात्साधकतमत्वादनिश्चितार्थनिश्चायकत्वात् प्रतिपत्त्रपेक्षणीयत्वाच्च। न पुनर्निर्विकल्पकं दर्शनं तद्विपरीतत्वात्सन्निकर्षादिवत्। फलं पुनरवग्रहस्य प्रमाणत्वे स्वार्थव्यवसितिः साक्षात्परंपरयात्वीहा हानादिबुद्धिर्वा।

तथा विकल्पस्वरूप होनेसे अवग्रह ज्ञानको अप्रमाण कहना ठीक नहीं है। यथार्थरूपसे देखा जाय तो यह विकल्पज्ञान ही (पक्ष) प्रमाण है (साध्य) निर्बाधरूप सम्वादकपना होनेसे (हेतु १) प्रमितिका साधकतम होनेसे (हेतु दूसरा) अनिश्चित अर्थोंका निश्चित करानेवाला होनेसे (हेतु तीसरा) और अर्थोंकी प्रतिपत्ति करनेवाले आत्माओंको अपेक्षा करने योग्य होनेसे (हेतु चौथा) किन्तु फिर बौद्धोंद्वारा माना गया वस्तु, वस्तु अंश, संसर्ग, विशेष्य, विशेषण, अर्थविकल्प आदि कल्पनाओंसे रहित हो रहा निर्विकल्पक दर्शन तो (पक्ष) प्रमाण नहीं है (साध्य) उस प्रमाणत्वके साधक हेतुओंसे विपरीत प्रकारके हेतुओंका प्रकरण (हेतु) अर्थात् विसम्वादकत्व यानी संशयपना या निरर्थक प्रवृत्तिजनकपना होनेसे (हेतु पहिला) प्रमितिका करण नहीं होनेसे (हेतु दूसरा) अनिश्चित अर्थका निश्चय करानेवाला नहीं होनेसे (हेतु तीसरा) जिज्ञासु पुरुषोंको अपेक्षणीय नहीं होनेसे (हेतु चौथा) जैसे कि वैशेषिकोंद्वारा माने गये सन्निकर्ष या कापिलोंद्वारा मानी गयी इन्द्रियवृत्ति आदिक प्रमाण नहीं हैं (अन्वयदृष्टान्त) । प्रकरणमें

अवग्रह नामका मतिज्ञान प्रमाणसिद्ध हो जाता है। प्रमाणज्ञानोंका फल अवश्य होना चाहिये। क्योंकि क्रियाके विना करणपना विफल है। अतः अवग्रहज्ञानको प्रमाणपना सिद्ध हो चुकनेपर उसका साक्षात् यानी अव्यवहित उत्तरकाल या समानकालमें ही होनेवाला फल तो स्व और अर्थका व्यवसाय करा देना है। तथा अवग्रहका परम्परासे होनेवाला फल तो ईहाज्ञान अथवा हान, उपादान, उपेक्षाबुद्धियां करा देना है। जैनसिद्धान्त अनुसार दीप और प्रकाश (अन्धकारनिवृत्ति) के समान समकाल पदार्थोंमें भी कार्यकारणभाव मान लिया है। हां, कार्यमें व्यापार करनेवाले कारण कार्यसे पूर्वक्षणमें रहने चाहिये। किन्तु कारणके साथ कथंचित् अभेद सम्बन्ध रखनेवाले निवृत्ति, व्यवहारप्रयोजकत्व, आदि कार्य तो कारणके समानकालमें ठहर जाते हैं। नानापर्यायरूप कार्य और कारणोंका एक समयमें ठहरना नहीं होता है। क्योंकि किसी भी पर्यायी पदार्थकी एक समयमें अनुजीवी दो पर्यायें नहीं हो सकती हैं। कोई कोई कार्य जैसे कारणके कालमें रह जाता है, उसी प्रकार जगत्के सम्पूर्ण कार्योंका केवलान्वयी होकर कारण बन रहा प्रतिबन्धकोंका अभाव-रूप कारण तो कार्यके समानकालमें ठहरना चाहिये। दीपकलिकाकी उत्पत्ति करानेमें बत्ती, तैल, पात्र, दीपशलाका, ये पूर्वसमयमें वर्त रहे हैं। किन्तु प्रतिबन्धक तीव्रवायुका अभावरूप कारण तो प्रदीप उत्पत्ति क्षणमें भी विद्यमान रहना चाहिये। सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान अथवा पितापन और पुत्रपनके व्यपदेश करनेपर भी समानकालीन पदार्थोंमें कार्यकारणभाव मान लिया गया है। चौदहवें गुणस्थानके अन्त्य समयमें तो संसार है। असिद्धपना है। बारह या तेरह प्रकृतियां आत्मासे लगी हुई हैं। हां, उस अन्त्यके पिछले समयमें कर्मोंका नाश, ऊर्ध्वगमन, सिद्धलोकमें स्थिरता, ये तीनों कार्य हो जाते हैं। इनमेंसे पहिला पहिला उत्तरका एक अपेक्षाकरके कारण भी है। अतः क्वचित् कोई किसीका समकालीन पदार्थ भी कार्य या कारण बन जाता है। स्याद्वाद सिद्धान्तमें कोई विरोध नहीं आता है।

ननु च प्रमाणात्फलस्याभेदे कथं प्रमाणफलव्यवस्था विरोधादिति चेत् न, एकस्यानेकात्मनो ज्ञानस्य साधकतमत्वेन प्रमाणत्वव्यवस्थितेः। क्रियात्वेन फलत्वव्यवस्थानाद्विरोधानवतारात्।

यहां नैयायिक शंका उठाते हैं कि प्रमाणसे फलका अभेद माननेपर जैनोंके यहां प्रमाण और फलपनेकी व्यवस्था कैसे होगी? विरोध दोष आता है। प्रमाणपन और फलपन धर्मोका एक ही समय एक पदार्थमें साथ ठहरना नहीं बनता है। भला कहीं वह वृक्ष ही स्वयं अपना फल बन सकता है? अर्थात्—नहीं। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना चाहिये। क्योंकि अनेकधर्मस्वरूप हो रहे एक ज्ञानको भी प्रमितिके साधकतमपनकी अपेक्षा करके प्रमाण-पना व्यवस्थित हो रहा है। और उसी ज्ञानकी स्वकीय शरीर ज्ञानक्रियापनकी अपेक्षासे फलपना व्यवस्थित कर दिया है। विरोध दोषका अवतार नहीं है। दीप ही प्रकाशका कारण है। और

प्रदीप ही प्रकाश करनारूप क्रिया है। देवदत्त मल्ल अपने शरीरके व्यायामसे अपने शरीरको ही दृढ कर रहा है।

कथमेकं ज्ञानं करणं क्रिया च युगपदिति चेत् तच्छक्तिद्वययोगात् पावकादिवत्। पावको दहत्यौष्ण्येनेत्यत्र हि दहनक्रिया तत्कारणं चौष्ण्यं युगपत्पावके दृष्टं तच्छक्तिद्वय संबंधादिति निर्णीतप्रायं।

एक ज्ञान एक ही समयमें करण और क्रिया भी कैसे हो सकता है ? ऐसा आक्षेप करनेपर तो हम जैन समाधान करते हैं कि उन दो कार्योंको करानेवाली दो शक्तियोंके योगसे दो कार्योंको ज्ञान सम्भाल लेता है। जैसे कि अग्नि, पाषाण, लड्डू, आदिक पदार्थ अपनी अनेक शक्तियोंके बलसे एक समयमें अनेक कार्योंको कर देते हैं। अग्नि अपनी उष्णतासे जल रही है। या जला रही है। इस प्रकार यहां जलनारूप क्रिया और उसका कारण उष्णपना एक ही समय अग्निमें उन दो दाह्यत्व दाहकत्व शक्तियोंके सम्बन्धसे हो रहे देखे गये हैं। इस बातको हम बहुत अंशोंमें निर्णीत कर चुके हैं। एक पदार्थमें दो तीन क्या अनेकानेक शक्तिया विद्यमान हैं। और उनके कार्य भी सतत होते रहते हैं। अल्पज्ञ जीवोंको उनके कतिपय कार्य ज्ञात हो जाते हैं। बहुतसे नहीं, क्या करें बहुभाग कार्योंको जाननेके लिये उनके पास उपाय नहीं है। अनेक शक्तिया तो द्रव्य, क्षेत्र आदि निमित्त मिलनेपर अपना चमत्कार (जौहार) दिखला सकती हैं। निमित्त नहीं मिलनेपर तो तृणरहित दशामें पडी हुई आगके समान स्वयं शान्त हो रहती हैं। हमको संसारमें ऐसा कोई पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है, जो कि एक समयमें व्यक्त, अव्यक्त अनेक कार्योंको नहीं कर रहा होय, एक वक्ता या अध्यापक पढा रहा है, उसी समय स्वशरीरमें रक्त आदि बना रहा है। चटाई या गद्दीको भी फाड रहा है। कोनेमें पडा हुआ, थोडासा कूडा भी भूमिको बोझ दे रहा है, वायुको दूषित कर रहा है, दरिद्रता बढा रहा है, स्वच्छ आत्मामें आलस्य पैदा कर रहा है। फूअरपना प्रगट करा रहा है रोग कीटोंका योनिस्थान बन रहा है, इत्यादि उस कूडेके अनेक कार्य कहांतक गिनाये जाय। यही दशा छोटेसे छोटे टुकडेकी समझ लेना। सर्वत्र अनेकान्तका साम्राज्य फैल रहा है।

नन्वर्थोपि वैशद्यस्य प्रतिसंख्यानानिरोध्यत्वस्य चासंभवान्न ततोवग्रहस्याक्षजत्वसिद्धिरिति पराकूतमुपदर्श्य निराकुरुते।

शंकाकार कहता है कि आप जैनोंने अर्थावग्रहके इन्द्रियजन्यत्वकी जिन हेतुओंसे सिद्धि की थी सो तो ठीक नहीं बैठती है। क्योंकि अवग्रह ज्ञानके विशदपने और प्रतिकूल प्रमाणसे अविरोध्यपनेका असम्भव है। अतः उन हेतुओंसे अवग्रहके अर्थजन्यत्व या इन्द्रियजन्यत्वकी सिद्धि नहीं हो सकी। इस प्रकार दूसरे प्रतिवादियोंकी अनभिप्रायचेष्टा को दिखलाकर आचार्य महाराज उसका निराकरण करते हैं।

निर्विकल्पकया दृष्ट्या गृहीतेर्थे स्वलक्षणे ।
तदान्यापोहसामान्यगोचरोऽवग्रहो स्फुटः ॥ ३३ ॥

बौद्ध निवेदन करते हैं कि परमार्थभूत निर्विकल्पक दर्शनकरके वस्तुभूत अर्थ स्वलक्षणका ग्रहण जब किया जा चुका है, तब कहीं पीछेसे अवस्तुभूत अन्यापोह सामान्यको विषय करनेवाला अवग्रह ज्ञान होता है। यह विद्यार्थी है, यह वस्त्र है, इस प्रकार झूंठे सामान्यको जान रहा अवग्रह सब जीवोंके प्रकट होकर अनुभूत हो रहा है। अथवा " अहग्रहोस्फुटः " ऐसा अच्छा पाठ होनेपर तो सामान्यग्राही अवग्रह अस्पष्ट [अविशद] ज्ञान है। अतः अवग्रह विशद नहीं हो सका।

सहभावी विकल्पोपि निर्विकल्पकया दृशा ।
परिकल्पनया वातो निषेध्य इति केचन ॥ ३४ ॥

बौद्ध ही कह रहे हैं कि निर्विकल्पक दर्शनके पीछे हुआ नहीं मान कर उसके साथ समान समयमें हुआ भी अवग्रहरूप विकल्पज्ञान तो निर्विकल्पक दर्शन करके अथवा दूसरी प्रतिकल्पना करके निषेध्य हो जाता है। अतः अवग्रह ज्ञान प्रतिसंख्यानसे अविरोध्य नहीं हो सका, इस प्रकार कोई बौद्धपण्डित कह रहे हैं। अब आचार्य उत्तर कहते हैं कि—

तदसत्स्वार्थसंवित्तेरविकल्पत्वदूषणात् ।
सदा सव्यवसायाक्षज्ञानस्यानुभवात्स्वयं ॥ ३५ ॥

वह बौद्धोंका निवेदन करना समीचीन नहीं है। क्योंकि सम्यग्ज्ञानोंके द्वारा हुई स्व और अर्थकी सम्वित्तिको निर्विकल्पकपनेका दूषण है। सर्वदा ही निश्चय आत्मक सहित हो रहे इन्द्रियजन्य ज्ञानोंका स्वयं अनुभव हो रहा है। निर्विकल्पक ज्ञानोंसे स्वार्थोंकी सम्वित्ति नहीं हो पाती है। सविकल्प ज्ञानोंका आदर करना सीखो।

मनसोर्युगपद्वृत्तिः सविकल्पाविकल्पयोः ।
मोहादैक्यं व्यवस्यंतीत्यसत्पृथगपीक्षणात् ॥ ३६ ॥

बौद्धोंके यहां ज्ञान परणतियोंके दो प्रकार माने हैं। एक तो एक ही ज्ञानधारामें क्रमसे शीघ्र शीघ्र निर्विकल्पकज्ञान और सविकल्पकज्ञान उपजते रहते हैं। शीघ्र घुमाये गये पहियेमें एकके ऊपर दूसरा अरा आजानेसे एकपनेकी परिच्छित्ति हो जाती है। झट चक्कर लग जानेसे अराओंका मध्यवर्त्ती अन्तराल छिप जाता है। क्वचित् अरोंकी ठोसाई छिप कर खाली पोल ही दीखती रहती है। उसीके सदृश एक ज्ञानधारामें आगे पीछे अतिशीघ्र हुये निर्विकल्पक सविकल्पक ज्ञानोंका ऐक्य

प्रतीत हो जाता है। दूसरा प्रकार उन्होंने यों माना है कि दो ज्ञानधाराओंकी साथ साथ प्रवृत्ति हो रही हैं। अतः मनरूप दो ज्ञानोंकी युगपत् प्रवृत्ति होनेके कारण व्यवहारी जन मोहसे सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञानोंकी एकताका निर्णय कर लेते हैं, अथवा दो ज्ञानधाराओंमें सदा बह रही सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञानोंकी प्रवृत्तियां ही मोहसे दोनोंके ऐक्यका निश्चय करा देती हैं। अतः व्यवहारी पुरुष सविकल्पकके व्यवसायधर्मका निर्विकल्पक ज्ञानमें अध्यारोप कर लेता है और निर्विकल्पकके स्पष्टत्व धर्मका सविकल्पक मिथ्याज्ञानमें अध्यवसाय कर लेता है। ग्रन्थकारका निरूपण है कि इस प्रकार बौद्धोंका कहना प्रशंसनीय नहीं है, क्योंकि पृथक् पृथक् भी स्वार्थव्यवसाय हो रहा देखा जाता है। किसी पदार्थमें प्रकृतधर्मकी बाधा उपस्थित होनेपर फिर कदाचित् उस धर्मके दीख जानेसे वहां उसका आरोप कर लिया जाता है। जैसे जपाकुसुमके सन्निधानसे स्फटिकमें रक्तिमाका आरोप किया जाता है, किन्तु सर्वदा सम्यग्ज्ञानोंके स्वार्थव्यवसायका जब सम्वेदन हो रहा है तो ऐसी दशामें अध्यारोप करनेका अवकाश नहीं रहता है। अन्यथा कोई भी धर्म किसीके आत्मभूत नहीं सध सकेंगे। आत्माके ज्ञानको, घटके रूपको, शद्बके क्षणिकपनेको, भी यहां वहांसे आरोपित कर लिये गये कहनेवालेका मुख टेडा नहीं हो जायगा। व्यवहारमें स्त्री, पुत्र, धन, गृह, पदार्थ, किसीके घरू नहीं बन सकेंगे। झूंठे आरोपे गये या चुराये गये ही मान लिये जावेंगे।

लैंगिकादिविकल्पस्यास्पष्टात्मत्वोपलंभनात्।
युक्ता नाक्षविकल्पानामस्पष्टात्मकतोदिता ॥ ३७ ॥
अन्यथा तैमिरस्याक्षज्ञानस्य भ्रांततेक्षणात्।
सर्वाक्षसंविदो भ्रांत्या किन्नोह्यंते विकल्पकैः ॥ ३८ ॥

लिंगजन्य अनुमानज्ञान या श्रुतज्ञान आदि विकल्पज्ञानोंका अविशदपना देखनेसे इन्द्रियजन्य विकल्पज्ञानोंको भी अविशदस्वरूपना कहना युक्त नहीं है, इसपर हम कह चुके हैं। अर्थात्— समीचीनज्ञानका स्वभाव स्वपरनिर्णय करना है। चाहें वह सर्वज्ञका ज्ञान होय और भले ही अल्पज्ञानीका सबसे छोटा ज्ञान व्यंजनावग्रह ही क्यों न होय। टिमटिमाते हुये लघुदीपकका और महाप्रकाशक सूर्यका स्वपरप्रकाशपना धर्म एकसा है। निश्चयनयसे सब जीवोंकी आत्मायें एकसी हैं। तथा कुछ ज्ञानोंको अस्पष्ट देखकर सभी ज्ञानोंको अविशद नहीं कहो। अन्यथा यानी अनुमानके समान प्रत्यक्षज्ञानको भी यदि अस्पष्ट कह दिया जावेगा तब तो तमारा रोगवाले तैमिरिक पुरुषके चक्षु इन्द्रियजन्य ज्ञानका भ्रान्तपना देखनेसे निर्दोष आखोंवाले अन्य सम्पूर्ण जीवोंके इन्द्रियप्रत्यक्षोंकी भी भ्रान्तिरूपसे तर्कणा क्यों नहीं कर ली जाय? क्योंकि विकल्प करनेवाले बौद्ध सदृश

भ्रमी जीवोंको एकको देखकर सबको वैसा जाननेकी टेव पड गयी है। भाई विचारो तो सही, भ्रान्तिज्ञानोंका भला समीचीनज्ञानोंके साथ मेल मिलाते रहनेसे कोई लाभ नहीं निकलता है।

सहभावोपि गोदृष्टितुरंगमविकल्पयोः।
किन्नैकत्वं व्यवस्यंति स्वेष्टदृष्टिविकल्पवत् ॥ ३९ ॥
प्रत्यासत्तिविशेषस्याभावाच्चेत्सोत्र कोपरः।
तादात्म्यादेकसामग्र्यधीनत्वस्याविशेषतः ॥ ४० ॥

यदि बौद्ध यों कहें कि नील स्वलक्षणके निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञानोंका सहभाव यानी साथ साथ उत्पत्ति होना हो रहा है। अतः दोनोंके धर्मोंका परस्परमें बटजाना होकर एकपनेका आरोप हो जाता है। तब तो हम जैन कहते हैं कि इस प्रकार अपने अभीष्ट हो रहे नीलदर्शन और नीलविकल्पोंके समान वह सहभाव भी गोदर्शन और अश्वविकल्पोंमें एकपनेका व्यवसाय क्यों नहीं करा देता है ? अर्थात्—निर्विकल्पकज्ञान धारामें हुये प्रत्यक्ष गोदर्शनमें सविकल्पकज्ञान धाराके अविशद अश्वविकल्पका परस्पर धर्म बंटना हो जाना चाहिये। यदि बौद्ध यों कहें कि गोदर्शन और अश्वविकल्पमें इष्ट की गयी विशेष प्रत्यासत्ति नहीं है। अतः एकके धर्मका दूसरेमें आरोप नहीं होता है। किन्तु नील स्वलक्षणके दर्शन और नील विकल्पमें वह विशेष प्रत्यासत्ति एकविषयत्व विद्यमान है। अतः निर्विकल्पक और सविकल्पका एकत्व अध्यवसाय हो जाता है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर तो हम कहेंगे कि वह विशेषप्रत्यासत्ति भला तादात्म्यसम्बन्धके सिवाय और न्यारी क्या हो सकती है। एक ही सामग्रीके अधीनपनारूप सम्बन्ध तो दोनों यानी नीलदर्शन नीलविकल्प और गोदर्शन अश्वविकल्पमें विशेषतारहित होकर विद्यमान है। अतः एक सामग्रीके वश रहनापन तो नियामक नहीं हो सका। हां, तादात्म्य सम्बन्धसे सब निर्वाह हो जाता है।

तादृशी वासना काचिदेकत्वव्यवसायकृत्।
सहभावाविशेषेपि कयोश्चिद्दृग्विकल्पयोः ॥ ४१ ॥
साभीष्टा योग्यतास्माकं क्षयोपशमलक्षणा।
स्पष्टत्वेक्षविकल्पस्य हेतुर्नान्यस्य जातुचित् ॥ ४२ ॥

फिर भी बौद्ध यदि अपनी रक्षाकी गलीको झांक कर यों कहें कि तिस प्रकारकी कोई आत्मामें लगी हुई विशेषवासना है, जो कि किन्हीं किन्हीं विशेष दर्शन विकल्पोंमें ही एकत्वके अध्यवसायको करती है। किन्तु गोदर्शन, अश्वविकल्प, आदि सभी दर्शनविकल्पोंमें सहभावके

समानरूप होनेपर भी एकपनेका निर्णय नहीं कराती है। तब तो हम जैन कहेंगे कि यह उपाय अच्छा है। हमारे यहां भी वह क्षयोपशमस्वरूप योग्यता मानी गयी है। इन्द्रियजन्य विकल्पज्ञानोंके स्पष्टपनमें वह स्पष्टज्ञानावरण क्षयोपशमरूप योग्यता ही कारण है। अन्य अनुमान, आगम ज्ञान, या भ्रान्तज्ञानोंके स्पष्टता नहीं करा सकती है। क्योंकि अनुमान आदि ज्ञानोंमें आपकी मानी हुई वासना और हमारी मानी हुई विशदपनेका हेतु योग्यता विद्यमान नहीं है।

तन्निर्णयात्मकः सिद्धोवग्रहो वस्तुगोचरः।
स्पष्टाभोक्षबलोद्भूतोऽस्पष्टो व्यंजनगोचरः ॥ ४३ ॥

तिस कारण सिद्ध हुआ कि सामान्य, विशेषात्मक वस्तुको विषय करनेवाला व्यवसाय आत्मक अवग्रह ज्ञान है, इन्द्रियोंकी सामर्थ्यसे उत्पन्न हुआ द्रव्यरूप व्यक्त अर्थको प्रकाशनेवाला अर्थावग्रह स्पष्ट है और अव्यक्त हो रहे शब्द, रस, गन्ध, स्पर्श, स्वरूप व्यंजनको जाननेवाला व्यंजन अवग्रह अस्पष्ट है। स्पष्टता और अस्पष्टताका, सर्वथ विषयसे नहीं है। किन्तु विषयी ज्ञानके कारण ज्ञानावरण क्षयोपशम विशेषसे है।

स्पष्टाक्षावग्रहज्ञानावरणक्षयोपशमयोग्यता हि स्पष्टाक्षावग्रहस्य हेतुरस्पष्टाक्षावग्रहज्ञानावरणक्षयोपशमलक्षणा पुनरस्पष्टाक्षावग्रहस्येति तत एवोभयोरप्यवग्रहः सिद्धः परोपगमस्य वासनादेस्तद्धेतुत्वासंभवात्।

स्पष्ट इन्द्रियजन्य अवग्रहज्ञानका आवरण करनेवाले कर्मोंके क्षयोपशमरूप योग्यता तो नियमसे इन्द्रिजन्य स्पष्ट अवग्रहका कारण है और अस्पष्टइन्द्रिय अवग्रहज्ञानके आवरण कर्मोंका क्षयोपशम स्वरूप योग्यता तो फिर अस्पष्ट इन्द्रिय अवग्रहका हेतु है। इस प्रकार तिस ही कारण अर्थ, व्यजन दोनोंका भी अवग्रह सिद्ध हो जाता है। दूसरे बौद्ध, अद्वैतवादी, आदि विद्वानों द्वारा मानी गयी वासना, युगपत्वृत्ति, इन्द्रिय, अविद्या, आदिको स्पष्टपन या अस्पष्टपनको लिये हुये हो रहे इन्द्रियजन्य उस अवग्रह मतिज्ञानकी हेतुताका असम्भव है। यहांतक अवग्रहका विचार हो चुका है।

सांप्रतमीहां विचारयितुमुपक्रम्यते। किमनिंद्रियजैवाहोस्विदक्षजैवोभयजैव वेति। तत्र—

अब प्रकरणप्राप्त ईहाका इस समय विचार करनेके लिये उपक्रम रचा जाता है। क्या मन इन्द्रियसे ही उत्पन्न होनेवाली ईहा है? अथवा क्या बहिरंग इन्द्रियोंसे ही उत्पन्न हो रहा ईहाज्ञान है? या इन्द्रिय अनिन्द्रिय दोनोंसे उत्पन्न हो रहा ही ईहा ज्ञान है? इस प्रकार प्रश्न होनेपर उनमेंसे एक एक विकल्पका विचार करते हैं।

नेहानिंद्रियजैवाक्षव्यापारापेक्षणा स्फुटा।
स्वाक्षव्यापृत्यभावेस्याः प्रभवाभावनिर्णयात् ॥ ४४ ॥

पहिले विकल्प अनुसार केवल मनसे ही उत्पन्न हुई ईहा नहीं है। क्योंकि सभी इन्द्रियोंके व्यापारकी अपेक्षा रखनेवाली ईहा स्पष्ट प्रतीत हो रही है। आत्मा और इन्द्रियके व्यापार नहीं होनेपर उस ईहाकी उत्पत्तिके अभावका निर्णय हो रहा है। अर्थात्—केवल मनसे ही ईहा उत्पन्न नहीं हो जाती है। किन्तु आत्मा और बहिरंग इन्द्रियां भी ईहाकी उत्पत्तिमें व्यापार करती हैं। अतः उभयजन्या ईहा है।

न हि मानसं प्रत्यक्षमीहास्तु स्पष्टत्वादक्षज्ञानसमनंतरप्रत्ययत्वाच्च निश्चयात्मकमपि जात्यादिकल्पनारहितमभ्रांतं चेति कश्चित्। तदनिश्चयात्मकमेव निर्विकल्पस्याभ्रांतस्य च निश्चयात्मविरोधादित्यपरः। तन्मतमपाकुर्वन्नाह।

केवल मन इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ही ईहा ज्ञान नहीं है। क्योंकि वह ईहाज्ञान स्पष्टपना होनेके कारण और इन्द्रियजन्य अवग्रहज्ञानके अव्यवहित उत्तरवर्त्तीज्ञान होनेके कारण निश्चय आत्मक भी है। अर्थात्—मानस प्रत्यक्षके अतिरिक्त भी सविकल्पक, निश्चय आत्मक, अन्य ईहाज्ञान सम्भवते हैं। यहां कोई कह रहा है कि वह ईहाज्ञान जाति, सम्बन्ध, शद्बयोजना, आदि कल्पनाओंसे रहित है और भ्रान्तिरहित है "कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं" इस प्रकार कोई ताथागत विद्वान् कह रहा है। तथा वह ईहाज्ञान अनिश्चयस्वरूप ही है, निश्चय आत्मक नहीं है। क्योंकि भ्रान्तिरहित निर्विकल्पक ज्ञानको निश्चयस्वरूप होनेका विरोध है। इस प्रकार कोई दूसरा बौद्ध कह रहा है। उनके मतका निवारण करते हुये आचार्यमहाराज समाधान कहते हैं।

नापीयं मानसं ज्ञानमक्षवित्समनंतरं।
निश्चयात्मकमन्यद्वा स्पष्टाभं तत एव नः ॥ ४५ ॥

यह ईहाज्ञान मनःइन्द्रिय जन्य मानस प्रत्यक्ष ही नहीं है। क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञानके अव्यवहित उत्तरकालमें ईहाज्ञान उत्पन्न होता है और तिस ही कारण ईहाज्ञान निश्चय आत्मक अथवा अन्य भी अगृहीतग्राहक, प्रतिपत्ताको अपेक्षणीय, समारोप निषेधक आदि विशेषणोंसे युक्त है। हम स्याद्वादियोंके यहां तभी तो ईहाज्ञान स्पष्ट प्रकाशनेवाला इष्ट किया गया है। अतः वह झूंठी कल्पनारूप नहीं है।

तस्य प्रत्यक्षरूपस्य प्रमाणेन प्रसिद्धितः।
स्वसंवेदनतोन्यस्य कल्पनं किमु निष्फलम् ॥ ४६ ॥

सांव्यवहारिक प्रत्यक्षस्वरूप हो रहे उस ईहाज्ञानकी प्रमाणकरके प्रसिद्धि हो रही है। इस कारण और स्वसम्वेदन प्रत्यक्षसे भी ईहाज्ञान प्रत्यक्षस्वरूप हो रहा है। अत इस प्रकरणमें अन्य कल्पनारूप ज्ञान क्यों व्यर्थ माना जाता है? ईहाज्ञान ही पर्याप्त है।

मानसस्मरणस्याक्षज्ञानादुत्पत्त्यसंभवात् ।
विजातीयात्प्रकल्प्येत यदि तत्तस्य जन्म ते ॥ ४७ ॥
तदाक्षवेदनं च स्यात्समनंतरकारणम् ।
मनोध्यक्षस्य तस्येव वैलक्षण्याविशेषतः ॥ ४८ ॥

यदि ईहाको मन इन्द्रियजन्य स्मरणज्ञान माना जायगा तो ईहाकी बहिरंग इन्द्रियजन्य ज्ञानोंसे उत्पत्ति होनी असम्भव हो जायगी। क्योंकि इन्द्रियप्रत्यक्षज्ञानसे मानसस्मरणकी जाति न्यारी है। तैसा होनेपर यदि विजातीय इन्द्रियज्ञानसे भी उस मानसस्मरणकी उत्पत्तिको तुम बौद्धोंके यहां हर्षपूर्वक कल्पित कर लिया जावेगा तब तो मानसप्रत्यक्षका अव्यवहित पूर्ववर्ती कारण इन्द्रियज्ञान हो सकेगा। क्योंकि तिस ही के समान विलक्षणपना विशेषतारहितरूपसे रह जाता है। अर्थात्— बौद्धोंने विजातीयज्ञानसे भिन्न जातिवाले ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं मानी थी। किन्तु अब तो इन्द्रियज्ञानसे मानसस्मरणरूप ईहाकी उत्पत्ति स्वीकार कर ली। ऐसी दशामें मानस प्रत्यक्षका कारण इन्द्रियप्रत्यक्ष भी हो सकेगा, भले ही वह भिन्न जातिवाला होय।

प्रत्यक्षत्वेन वैशद्यवस्तुगोचरतात्मना ।
सजातीयं मनोध्यक्षमक्षज्ञानेन चेन्मतम् ॥ ४९ ॥
स्मरणं संविदात्मत्वसंतानैक्येन वस्तथा ।
किन्न सिध्येद्यतस्तस्य तत्रोपादानकारकम् ॥ ५० ॥

यदि बौद्धोंका यह मन्तव्य होय कि परमार्थवस्तुको विशदरूपसे विषय करलेनापन धर्मकी अपेक्षासे मानसप्रत्यक्ष भी इन्द्रियजन्यज्ञानके समानजातिवाला है, तब तो हम जैन कहेंगे कि तुमने जैसे इन्द्रियप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्षको प्रत्यक्षपनेसे सजातीय मान लिया है, उसी प्रकार तुम बौद्धोंके यहां ज्ञानस्वरूपपन और संतानके एकत्वकी अपेक्षासे स्मरण भी इन्द्रियज्ञानके साथ समानलक्षणवाला सजातीय क्यों नहीं सिद्ध हो जाय, जिससे कि उस इन्द्रियज्ञानको उस स्मरणमें या ईहा ज्ञानमें उपादानकारणपना बन जायगा, अर्थात्— स्मरण या ईहाका उपादान कारण इन्द्रियजन्य ज्ञान हो सकता है। ज्ञानपनेसे सजातीयता है। सजातीयात् सजातीयमुत्पद्यते न तु विजातीयात् ॥

अन्यथा न मनोध्यक्षं स्मरणेन सलक्षणं ।
अस्योपादानतापायादित्यनर्थककल्पनम् ॥ ५१ ॥

अन्यथा यानी उक्त प्रकारसे सजातीयपनका यदि निर्वाह नहीं किया जायगा तो स्मरणके साथ सजातीय मानस प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। ऐसी दशामें इस मानसप्रत्यक्षको स्मरणकी उपादान

कारणताका अभाव हो जायगा। अतः इन्द्रियज्ञान और स्मरणके बीचमें मानसप्रत्यक्षकी कल्पना करना व्यर्थ पड़ा। इन्द्रियज्ञानसे अव्यवहितकालमें उपादेयभूत स्मरण उपज जावेगा।

स्मरणाक्षविदोर्भिन्नौ संतानौ चेदनर्थकम्।
मनोध्यक्षं विनाप्यस्मात्स्मरणोत्पत्तिसंभवात् ॥ ५२ ॥
अक्षज्ञानं हि पूर्वस्मादक्षज्ञानाद्यथोदियात्।
स्मृतिः स्मृतेस्तथानादिकार्यकारणतेदृशी ॥ ५३ ॥

यदि बौद्ध यों कहें कि स्मरणज्ञान और इन्द्रियज्ञानकी दो सन्तान भिन्न भिन्न चल रही हैं। अतः स्मरणका उपादान कारण इन्द्रियज्ञान नहीं होता है। तब तो हम जैन कहते हैं कि तुम्हारे यहां मानसप्रत्यक्षकी कल्पना करना व्यर्थ रहा। क्योंकि इस मानसप्रत्यक्षके विना भी स्मरण ज्ञानकी सन्तान धारा अनुसार स्मरणकी उत्पत्ति होना सुलभतासे सम्भव जाता है। जिस प्रकार अपनी सन्तानरूप लडीके अनुसार इन्द्रियजन्य ज्ञान अपने पहिले इन्द्रियज्ञानरूप उपादानसे उत्पन्न हो जावेगा, उसी प्रकार स्मृतिज्ञान भी अपनी सन्तानमें पडे हुये पहिलेके स्मरणरूप उपादानसे उपज जायगा। इस प्रकारकी कार्यकारणता तुम्हारी मान्यता अनुसार अनादि कालसे चली आ रही है।

संतानैक्ये तयोरक्षज्ञानात्स्मृतिसमुद्भवः।
पूर्वं तद्वासनायुक्तादक्षज्ञानं च केवलात् ॥ ५४ ॥

यदि बौद्ध महाशय उन इन्द्रियज्ञान और स्मरणज्ञानकी एकसन्तान स्वीकार कर लेंगे तब तो इन्द्रियज्ञान स्वरूप उपादानसे स्मृतिकी उत्पत्ति भले प्रकार हो सकती है। वासनारहित केवल पूर्वके अक्षज्ञानसे इन्द्रियज्ञान उत्पन्न होगा और पूर्वकालकी उसकी वासनासे सहित हो रहे विशिष्ट अक्षज्ञानसे स्मरणज्ञान उत्पन्न हो जायगा, यह उपाय अच्छा है।

सह स्मृत्यक्षविज्ञाने ततः स्यातां कदाचन।
सौगतानामिति व्यर्थं मनोध्यक्षप्रकल्पनं ॥ ५५ ॥

पूर्वविचार अनुसार बौद्ध यदि स्मरण और इन्द्रियज्ञानकी सन्तानधारायें दो मानेंगे तब तो बौद्धोंके यहां तिन दो सन्तानोंसे कभी कभी स्मरण और अक्षज्ञान साथ साथ हो जावेंगे। इस प्रकार मध्यमें मानसप्रत्यक्षकी सौकर्यके लिये कल्पना करना व्यर्थ पड़ा।

स्याद्वादिनां पुनर्ज्ञानाद्वृत्तिच्छेदविशेषतः।
समानेतरविज्ञानसंतानो न विरुध्यते ॥ ५६ ॥

हम स्याद्वादियोंके यहां तो फिर कोई विरोध नहीं आता है। कारण कि ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशम विशेषसे सजातीय और विजातीय ज्ञानोंकी सन्तान बन जाती है। इन्द्रियज्ञानके उत्तर कालमें स्मरण आवरणका क्षयोपशम होनेपर उससे स्मरणज्ञान हो जाता है। और इन्द्रिय आवरणका क्षयोपशम होनेपर इन्द्रियज्ञानसे इन्द्रियज्ञान उपज बैठता है। एक चैतन्यकी धारापर प्रतिपक्षी कर्मोंके क्षयोपशम या क्षय अनुसार अनेक सजातीय विजातीयज्ञान व्यक्त होते रहते हैं। अवधिज्ञान, श्रुतज्ञानका उपादान हो जाय और श्रुतज्ञान मन:पर्ययका उपादान हो जाय तथा श्रुतज्ञानसे केवलज्ञान उपादेय हो जाय, कोई विरोध नहीं आता है। सहोदर भाईयोंमें विरोध होना गर्हणीय, लज्जाजनक और अनुचित है।

नन्वेवं परस्यापि समानेतरज्ञानसंतानैकत्वमदृष्टविशेषादेवाविरुद्धमतोऽक्षज्ञानसमनंतरप्रत्ययं निश्चयात्मकं मानसमत्यक्षं सिध्यतीत्यभ्युपगमेपि दूषणमाह।

कोई मध्यवर्ती तटस्थ विद्वान् बौद्धोंका पक्षपातकर अवधारण करता है कि इस प्रकार स्याद्वादियोंके अनुसार तो दूसरे बौद्धोंके यहां भी पुण्यपापरूप अदृष्ट विशेषसे ही सजातीय विजातीय ज्ञानोंकी संतानका एकपना अविरुद्ध हो जाओ अर्थात् एकसन्तानमें ही अदृष्ट अनुसार क्रमसे सजातीय विजातीय ज्ञान उत्पन्न हो जावेंगे। इससे इन्द्रियजन्य ज्ञानको अव्यवहित पूर्ववर्ती कारण मानकर निश्चयस्वरूप मानसप्रत्यक्षकी उत्पत्ति सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार स्वीकार करनेपर भी दूषण आता है। उसको स्पष्ट करते हुए आचार्य महाराज कहते हैं।

प्रत्यक्षं मानसं स्वार्थनिश्चयात्मकमस्ति चेत्।
स्पष्टाभमक्षविज्ञानं किमर्थक्यादुपेयते ॥ ५७ ॥

यदि बौद्धोंके यहां अपना और अर्थका निश्चय करानेवाला मानसप्रत्यक्ष अभीष्ट कर लिया है तो स्पष्ट प्रकाश रहा इन्द्रियजन्य निर्विकल्पकज्ञान भला किस प्रयोजनकी अपेक्षासे स्वीकार किया जा रहा है? बताओ। स्वपरका निर्णय करनेवाले मानस प्रत्यक्षके मान चुकनेपर उसके पूर्वमें इन्द्रियजन्य निर्विकल्पक ज्ञान मानना छिरियाके गलेके थनसमान व्यर्थ है।

अक्षसंवेदनाभावे तस्योत्पत्तौ विरोधतः।
सर्वेषामंधतादीनां कृतं तत्कल्पनं यदि ॥ ५८ ॥
तदाक्षानिंद्रियोत्पाद्यं स्वार्थनिश्चयनात्मकं।
रूपादिवेदनं युक्तमेकं ख्यापयितुं सताम् ॥ ५९ ॥

बौद्ध कहते हैं कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मानना व्यर्थ नहीं है। इन्द्रियजन्य निर्विकल्पक ज्ञानके नहीं होनेपर उस मानसप्रत्यक्षकी उत्पत्तिमें विरोध पड जायगा। इन्द्रियप्रत्यक्षके विना सभी अन्धे बहिरे, आदि इन्द्रियविकल जीवोंके भी मानसप्रत्यक्ष हो जानेका प्रसंग हो जायगा। अतः उस इन्द्रियप्रत्यक्षकी कल्पना करना सफल है। अन्धे, बहिरोंको इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं होनेके कारण मानस प्रत्यक्ष भी नहीं हो पाता है। आचार्य कहते हैं कि यदि बौद्ध यों कहेंगे तब तो इन्द्रिय और अनिन्द्रियसे उत्पत्ति करने योग्य और स्वार्थोंका निश्चय करनास्वरूप ऐसा एक ज्ञानरूप, रस, सुख, आदिको विषय करनेवाला मान लेना युक्त है। सज्जन पुरुषोंको उक्त प्रकारका ज्ञान निःशंक होकर प्रसिद्ध कर देना चाहिये। अर्थात्—इन्द्रिय अनिन्द्रियोंसे उत्पन्न हो रहे और स्वार्थोंका निश्चय करानेवाले तथा रूप आदिको विषय करनेवाले एक मतिज्ञानकी डोंडी पीट देनी चाहिये।

यथैव ह्यक्षव्यापाराभावे मानसप्रत्यक्षस्य निश्चयात्मकस्योत्पत्तौ जात्यंधादीनामपि तदुत्पत्तिप्रसंगादंधबधिरतादिविरोधस्तथा मनोव्यापारापायेप्यक्षज्ञानस्योत्पत्तिर्विगुणमनस्कस्यापि तदुत्पत्तिप्रसंगात् मनस्कारापेक्षत्वविरोध इत्यक्षमनोपेक्षमक्षज्ञानमक्षमनोपेक्षत्वादेव च निश्चयात्मकमस्तु किमन्येन मानसप्रत्यक्षेण।

इन्द्रिय व्यापारके नहीं होनेपर निश्चय आत्मक मानसप्रत्यक्षकी उत्पत्ति माननेमें जन्मान्ध, जन्मबधिर, उन्मत्त आदि जीवोंको भी रूप, शब्द, सुख, आदिके ज्ञानजन्य उन, मानसप्रत्यक्षोंकी उत्पत्ति हो जानेका प्रसंग आवेगा। अतः अन्धपन, बहिरापन, पागलपन, आदि व्यवहारका विरोध होगा। यह जिस ही प्रकार बौद्धोंद्वारा विरोध उठाया जाता है, उसी प्रकार हम स्याद्वादी भी विरोध दे सकते हैं कि मनके व्यापार विना भी यदि इन्द्रियजन्य ज्ञानकी उत्पत्ति मानी जायगी तो अमनस्क या अन्यगतमनस्क अथवा विभ्रान्तमनस्क जीवके भी उस इन्द्रियज्ञानकी उत्पत्ति हो जानेका प्रसंग होगा, तब तो जगत् में प्रसिद्ध हो रहे मनकी ज्ञान सुखादिकमें तत्परताकी अपेक्षा रखनेका विरोध होगा। इस कारण अक्ष और मनकी अपेक्षा रखनेवाला है (साध्य), इन्द्रियज्ञान (पक्ष) लोकप्रसिद्ध अक्ष और मनकी अपेक्षा रखनेवाला ही होनेसे (हेतु) तथा इस ही कारण वह एक मतिज्ञान निश्चय आत्मक भी हो जाओ। इस प्रकार सध जानेपर फिर अन्य निर्विकल्पक मानस प्रत्यक्षके माननेसे क्या लाभ है? अतः इन्द्रिय और अनिन्द्रियजन्य ज्ञानोंसे उत्पन्न हुआ ईहाज्ञान मानना चाहिये।

ननु यद्येकमेवेदमिंद्रियानिन्द्रियनिमित्तरूपादिज्ञानं तदा कथं क्रमतोवग्रहेहास्वभावौ परस्परं भिन्नौ स्यातां नोचेत्कथमेकं तद्विरोधादित्यत्रोच्यते।

कोई विद्वान् शंका करता है कि जैनसिद्धान्तमें यह इन्द्रिय और अनिन्द्रियरूप निमित्तोंसे उत्पन्न हुआ रूप, सुख आदिका ज्ञान यदि एक ही माना गया है, तब तो क्रमसे होते हुये माने गये अवग्रह और ईहास्वरूप ज्ञान परस्परमें भिन्न कैसे हो सकेंगे? बताओ, यों तो वे अवग्रह, ईहा,

भिन्न नहीं होकर अभिन्न हो जायंगे और यदि आप जैन उनको अभिन्न न मानोगे यानी स्वसिद्धान्त अनुसार भिन्न भिन्न मानते रहोगे तो फिर उन ज्ञानोंके एक मतिज्ञान कैसे कह सकोगे ? क्योंकि भेद और एकत्वका विरोध है, इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर यहां आचार्य महाराजद्वारा समाधान कहा जाता है।

क्रमादवग्रहेहात्मद्रव्यपर्यायगोचरं ।
जीवस्यावृतिविच्छेदविशेषक्रमहेतुकम् ॥ ६० ॥
तत्समक्षेतरव्यक्तिशक्त्येकार्थवदेकदा ।
न विरुद्धं विचित्राभज्ञानवद्वा प्रतीतितः ॥ ६१ ॥

ज्ञानावरणके क्षयोपशमविशेषके क्रमको हेतु मानकर उत्पन्न हुये तथा द्रव्य और पर्यायको विषय करनेवाले अवग्रह, ईहास्वरूप ज्ञान जीवके (में) क्रमसे उत्पन्न हो जाते हैं। उन अवग्रह आदि ज्ञानोंमें एक ही समय स्वग्रहणकी अपेक्षासे प्रत्यक्षपना और विषय अंशकी अपेक्षासे परोक्षपना विरुद्ध नहीं है। तथा उपयोगरूप व्यक्ति और योग्यतारूप शक्तियुक्त एक अर्थसहितपना भी विरुद्ध नहीं है। क्योंकि नील, पीत, आदि विचित्र प्रतिभासनेवाले चित्रज्ञानके समान अवग्रह, ईहा, आदिकी तैसी प्रतीति हो रही है। सौत्रान्तिक अथवा ज्ञानाद्वैतवादी बौद्धोंके मत अनुसार ये तीन दृष्टान्त समझना चाहिये। बौद्धोंने शुद्धज्ञान अंशको प्रत्यक्ष माना है। और वेद्य, वेदक, सम्वित्ति, अंशोंको इतर यानी परोक्ष माना है। तथा शुद्धज्ञान अद्वैतवादियोंने ज्ञान अंशकी व्यक्ति मानी है। और वेद्य, वेदक, सम्वित्ति, अंशोंके विवेक यानी पृथक्भाव (अभाव) की ज्ञानमें शक्ति मानी है। साङ्ख्योंने भी प्रकृतिरूप एक अर्थको एक ही समय शक्ति और व्यक्तिरूप माना है। एवं अनेक आकाररूप प्रतिभासोंसे युक्त हो रहा ज्ञान भी बौद्धोंने इष्ट किया है। इन दृष्टान्तोंसे अवग्रह, ईहा आदिको द्रव्यपर्यायस्वरूप अर्थको ग्रहण करनेवाला एक मतिज्ञानपना अविरुद्ध साध दिया है।

प्रत्यक्षपरोक्षव्यक्तिशक्तिरूपमेकमर्थं विचित्राभासं ज्ञानं वा स्वयमविरुद्धं युगपदभ्युपगच्छन् क्रमतो द्रव्यपर्यायात्मकमर्थं परिच्छिंददवग्रहेहास्वभावमभिन्नमेकं मतिज्ञानं विरुद्धमुद्भावयतीति कथं विशुद्धात्मा ? तदशक्यविवेचनस्याविशेषात्। न ह्येकस्यात्मनो वर्णसंस्थानादिविशेषणद्रव्यतद्विशेष्यग्राहिणावग्रहेहाप्रत्ययौ स्वहेतुक्रमात्क्रमशो भवन्तौ वात्मांतरं नेतुं शक्यौ संतौ शक्यविवेचनौ न स्यातां चित्रज्ञानवत् तथा प्रतीतेरविशेषात्।

घट नामके एक ही पदार्थको व्यक्तिकी अपेक्षासे प्रत्यक्षस्वरूप और उसी समय उसकी अतीन्द्रिय शक्तियोंकी अपेक्षासे परोक्षस्वरूप एक ही समयमें जो मीमांसक स्वीकार कर रहा है, अथवा युगपत् नील, पीत, आदिक विचित्र प्रतिभासवाले एक चित्रज्ञानको जो बौद्ध अविरुद्ध स्वयं स्वीकार कर रहा है, किन्तु द्रव्य और पर्यायस्वरूप अर्थको क्रमसे जान रहे और अवग्रह, ईहा

रूप स्वभावोंसे भेदभावको प्राप्त हो रहे एक मतिज्ञानके ऊपर विरोध दोषका उद्भाव करा रहा है। इस प्रकार पक्षपातग्रस्त प्रतिवादी कैसे विशुद्ध आत्मावाला कहा जा सकता है? उस एक ही प्रकारकी घी, चावल, खाड आदि वस्तुओंमेंसे अपनी दूकानकी सौदाको बढिया और दूसरेके मालको घटिया बतानेवाले हीन वणिक्की आत्मा जैसे दूषित है। विशुद्ध नहीं है। उसी प्रकार अनेक धर्म आत्मक एक वस्तुको अनेक प्रतिवादी अपने घरमें स्वीकार कर रहे हैं। मीमांसक या सांख्य विद्वान् शक्ति व्यक्तिरूप हो रहे एक पदार्थको मानते हैं। नैयायिक पण्डित समूहालम्बन एक ज्ञानको स्वीकार करते हैं। वैशेषिक धीमान् सामान्यका विशेषस्वरूप हो रहे पृथिवीत्व या घटत्व पदार्थको एक मानते हैं। बौद्ध वृद्ध भी चित्रज्ञानकी स्वीकृति चाहते हैं। ज्ञान अद्वैतवादी महा-पण्डित तो एक ज्ञानको युगपत् प्रत्यक्ष परोक्षपनेसे गा रहे हैं। किन्तु द्रव्य, पर्यायस्वरूप एक अर्थको जाननेवाले अवग्रह, ईहास्वरूप एक मतिज्ञानमें विरोध दोष उठा रहे हैं। भला यह भी कोई न्यायसंगत व्यवहार कहा जा सकता है? जिस प्रकार भिन्न भिन्न पृथक् करनेकी अशक्यता चित्रज्ञान आदि पदार्थोंमें है, वैसे ही अशक्यविवेचना अवग्रह, ईहा स्वभाववाले मतिज्ञानमें भी है। एक देवदत्त आत्माके अपने अपने हेतुओंके क्रम अनुसार क्रम क्रमसे हो रहे और वर्ण, संस्थान, रचना, ऊंचापन, आदि विशेषणरूप पर्याय और उन पर्यायोंसे सहित हो रहे विशेष्यद्रव्यको ग्रहण करनेकी टेववाले ये अवग्रह ईहा स्वरूप दो ज्ञान (कर्ता) अन्य जिनदत्त, पार्श्वदत्त, आदि आत्माओंमें प्राप्त करानेके लिये शक्य हो रहे नहीं हैं। एक आत्माके एक मतिज्ञानस्वरूप अवग्रह, ईहा, ज्ञान चित्रज्ञानके समान पृथक् करने योग्य नहीं हो सकेंगे। अवग्रह, ईहाज्ञान और चित्रज्ञानमें तिस प्रकारकी प्रतीति होनेका कोई विशेष (भेद) नहीं है। एक पदार्थ अनेक धर्म आत्मक हो रहा है। इस सिद्धान्तको हम कई बार निर्णीत कर चुके हैं। किन्तु पुनः पुनः प्रतिवादियोंके शंकापिशाचिनी ग्रस्त हो जानेसे उनकी बार बार चिकित्सा करनी पडती है। स्याद्वाद सिद्धान्तका रहस्य प्रतीत हो जानेपर तो अखिल सिद्धिया प्राप्त हो जाती हैं।

कथं पुनरवायः स्यादित्याह ।

एक मतिज्ञानके अवग्रह, ईहा, भेदोंको हम समझ चुके हैं। अब आप बताईये कि फिर तीसरा अवाय मतिज्ञान किस प्रकारका होगा? इस प्रकार प्रतिपाद्यकी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्दस्वामी अवायका लक्षण कहते हैं।

अवग्रहगृहीतार्थभेदमाकांक्षतोक्षजः ।
स्पष्टोवायस्तदावारक्षयोपशमतोत्र तु ॥ ६२ ॥
संशयो वा विपर्यासस्तदभावे कुतश्चन ।
तेनेहातो विभिन्नोसौ संशीतिभ्रांतिहेतुतः ॥ ६३ ॥

अवग्रहज्ञानसे गृहीत हो चुके अर्थके विशेष अंशोंकी आकांक्षा करनेवाले ईहाज्ञानसे उत्पन्न हो रहा निर्णय आत्मक स्पष्ट अवायज्ञान है । वह अवायज्ञान इन्द्रियोंसे जन्य है और इस प्रकरणमें ग्रहण किया गया अवायज्ञान तो उस अवायको आवरण करनेवाले कर्मोंके क्षयोपशमसे होनेवाला लिया गया है । *उस अवायज्ञानके नहीं होनेपर ईहाज्ञानसे जान लिये गये उस ईहित विषयमें किसी* कारणसे संशय या विपर्ययज्ञान हो सकते हैं । तिस कारण संशय और विपर्ययके निमित्तकारण हो रहे ईहाज्ञानसे वह अवायज्ञान सर्वथा भिन्न है । अर्थात्—मनुष्यका अवग्रह हो चुकनेपर दक्षिण देशीय या उत्तरदेशीयकी शंका उपस्थित हो जानेपर यह मनुष्य दक्षिणी होना चाहिये ऐसा ईहाज्ञान उत्पन्न होता है । किन्तु ईहाज्ञानसे वह संशय सर्वथा दूर नहीं हो सका है । उत्तरीको दक्षिणी कह दिया गया होय ऐसा विपर्यय हो जाना भी सम्भव रहा है । इस विपर्ययज्ञानका निरास भी ईहासे नहीं हो सका है । किन्तु अवायज्ञानसे संशय और विपर्यय दोनोंका निरास कर दिया जाता है । यों अपने अपने नियत विषयोंमें तो अवग्रह, ईहा ज्ञान भी व्यवसाय आत्मक हैं । विशेष अंशोंके भी निर्णय करादेनेका ठेका उन्होंने नहीं ले रखा है । पदार्थोंमें अनेक विशेष अंश तो ऐसे पडे हुए हैं कि जिन अर्थ पर्यायोंको अवाय, धारणा, महाधारणा तो क्या, केवलज्ञानके अतिरिक्त अन्य कोई भी ज्ञान नहीं जान सकता है ।

विपरीतस्वभावत्वात्संशयाद्यनिबंधनं ।
अवायं हि प्रभाषंते केचिद् दृढतरत्वतः ॥ ६४ ॥

संशय, विपर्यय, ज्ञानोंके विपरीत स्वभाववालापन होनेसे अवायज्ञान संशय आदिक ज्ञानोंका कारण नहीं है । क्योंकि वह अवायज्ञान अत्यन्त अधिक दृढस्वरूप है । दृढ अवाय हो जानेपर पीछे संशय आदिकी उत्पत्ति होना असम्भव है । इस प्रकार कोई विद्वान् प्रकृष्ट भाषण करते हैं । हमको भी वह इष्ट है । अतः उन समानधर्मा सज्जनोंके प्रति हमारा सप्रमोद सादर व्यवहार है ।

अक्षज्ञानतया त्वैक्यमीहयावग्रहेण च ।
यात्यवायः क्रमात्पुंसस्तथात्वेन विवर्तनात् ॥ ६५ ॥

इन्द्रियजन्यज्ञानपन'—स्वरूपकरके अवग्रह और ईहाके साथ अवायज्ञान एकताको प्राप्त हो जाता है । कारण कि चेतन आत्माका क्रम क्रमसे तिस प्रकार अवग्रह, ईहा, अवायपनेकरके परिणमन होता रहता है ।

विच्छेदाभावतः स्पष्टप्रतिभासस्य धारणा ।
पर्यंतस्योपयुक्ताक्षनरस्यानुभवात्स्वयम् ॥ ६६ ॥

अवग्रह आदि ज्ञानोंका विच्छेद करनेवाले कर्मोंके क्षयोपशमरूप अभाव हो
आदिक धारणापर्यन्त स्पष्ट प्रतिभासनेवाले ज्ञानोंका स्वयं तैसा अनुभव हो रहा है।
आत्मा या इन्द्रिय और आत्माको कारण मानकर अवग्रह आदिकका आत्मलाभ
है। अर्थात्—इन्द्रिय और आत्माकी सहायतासे तथा क्रमकरके हुये क्षयोपशम
ईहा, अवाय और धारणा इन ज्ञानोंका उत्पाद होते हुये स्पष्ट प्रतिभास हो रहा है।

ननु च यत्रैवावग्रहगृहीतार्थस्य विशेषप्रवर्तनमीहायास्तत्रैवावायस्य नावायधारणयोः प्रमाणत्वं गृहीतग्रहणादिति परकूतमनूद्य प्रतिक्षिपन्नाह।

यहां किसी प्रतिवादीका स्वमन्तव्य अनुसार आमंत्रण है कि जिसी अर्थको
किया है, उसी गृहीत हो चुके अर्थके विशेष अंशोंमें ईहाज्ञानकी प्रवृत्ति है।
पनेका निर्वाह है। किन्तु जहां ही ईहाज्ञानकी प्रवृत्ति है, वहां ही अवायज्ञान
जिसी गृहीत अर्थमें अवायज्ञानकी प्रवृत्ति रही है, उसीमें धारणाका विशेष
तिस कारण अवाय और धारणाको प्रमाणपना नहीं हो सकता है। क्योंकि इन
विषयको ही ग्रहण किया है। इस प्रकार दूसरे प्रतिवादियोंके सचेष्ट कथनका
खण्डन करते हुये श्रीविद्यानन्द आचार्य प्ररूपण करते हैं।

अवायस्य प्रमाणत्वं धारणायाश्च नेष्यते।
समीहयेहिते स्वार्थे गृहीतग्रहणादिति ॥ ६७ ॥
तदानुमाप्रमाणत्वं व्याप्रियात्तत एव ते।
इत्युक्तं स्मरणादीनां प्रामाण्यप्रतिपादने ॥ ६८ ॥

समीचीन ईहाज्ञानके द्वारा विचार लिये गये स्वकीय
प्रवृत्ति हो रही है। इस कारण गृहीतका ग्रहण करनेसे अवा
नहीं इष्ट किया जायगा, तब तो तुम्हारे यहां अनुमानप्रमाण
पनका व्यापार कर बैठेगा, यानी अनुमान भी अप्रमाण हो
व्याप्तिज्ञानसे गृहीत हो चुके विषयमें व्यापार करता है। इस बात
प्रमाणपना प्रतिपादन करते समय कह चुके हैं। अर्थात्—साम
हो चुके भी विषयोंके विशेष देश, काल, अवस्था, व्यक्तिपना,
नहीं हुये अर्थको जाननेवाले स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान
पठन, चर्वितका चर्वण, भुक्तका भोजन, गृहीतका ग्रहण,
साक्षात अव्यवहित रूपसे होय। ...

नेसे तो नूतन वस्तु हो जानेके कारण वह दोष नहीं गिना जाता है। चाण्डालसे साक्षात् स्पर्श हो जाना दोष है। किन्तु भूमि, क्षेत्र, गृहका व्यवधान हो जानेपर परम्परासे क्रूरकर्मा चाण्डालका स्पर्श उतना दोष नहीं गिना जाता है। भंगीका पैसा या नाजके छूजानेपर भी कोई कोई स्नान नहीं करते हैं। दृष्टपदार्थ भी समारोप हो जानेसे अदृष्टके समान हो जाता है। इसी प्रकार गृहीत हो चुके अर्थमें भी विशेष विशेषांशोंको ग्रहण करनेवाले अवाय, धारणा, ज्ञान प्रमाण हैं। सर्वथा नवीनता तो विस्मयकरी और भयावह है।

सत्यपि गृहीतग्राहित्वेवायधारणयोः स्वस्मिन्नर्थे च प्रमाणत्वं युक्तमुपयोगविशेषात्। न हि यथेहागृह्णाति विशेषं कदाचित्संशयादिहेतुत्वेन तथा चावायः तस्य दृढतरत्वेन सर्वदा संशयाद्यहेतुत्वेन व्यापारात्। नापि यथावायः कदाचिद्विस्मरणहेतुत्वेनापि तत्र व्याप्रियते तथा धारणा तस्याः कालांतराविस्मरणहेतुत्वेनोपयोगादीहावायाभ्यां दृढतमत्वात्। प्रपंचतो निश्चितं चैतत्स्मरणादिप्रमाणत्वप्ररूपणायामिति नेह प्रतन्यते।

गृहीतका ग्राहकपना होते हुये भी अवाय और धारणा ज्ञानोंका स्व और अर्थ विषयको जाननेमें प्रमाणपना मानना युक्त है। क्योंकि विशेष उपयोग उत्पन्न हो रहा है। जिन अंशोंको अवग्रह, ईहा ज्ञानोंने छूआ भी नहीं था, उनमें अवाय और धारणाज्ञान विशेष उपयोग करा रहे हैं। जिस प्रकार ईहाज्ञान अर्थके विशेषको कभी कभी संशय, विपर्यय आदिके कारणपने करके जान रहा है, तिस प्रकार अवाय नहीं जानता है। क्योंकि वह अवायज्ञान अपने विषयको जाननेमें अतिदृढ है। इस कारण सभी कालोंमें संशय आदिका हेतु नहीं हो करके अवाय अपने विषयको जाननेमें व्यापार कर रहा है। अर्थात्—ईहाज्ञान हो करके भी उस विषयमें संशय, विपर्यय उत्पन्न हो सकते हैं। किन्तु अवाय हो जानेपर उस विषयमें कदाचित् भी (सर्वदा) संशय विपर्यय नहीं हो पाते हैं। क्या यह विशेषता कम है ? तथा धारणामें भी यों ही लगाना कि जिस प्रकार अवायज्ञान कभी कभी विस्मरणका कारण होनेपनसे भी उस अर्थको जाननेमें व्यापार कर रहा है, उस प्रकार धारणाज्ञान व्यापार नहीं कर रहा है। क्योंकि वह धारणाज्ञान तो कालान्तरोंमें नहीं विस्मरण होने देनेका हेतु है। इस कारण अवायज्ञानसे धारणाज्ञानद्वारा विशेष उपयोग ज्ञान हुआ। अतः यह धारणाज्ञान अवग्रह, ईहाज्ञानोंसे वज्रकीलके समान ठुका हुआ अत्यधिक दृढ हो रहा है। यह विशेषता तो बडी पुष्ट है। इस विषयको हम स्मरण आदि ज्ञानोंके प्रमाणपनका प्रकृष्ट कथन करनेके अवसरमें विस्तारसे निश्चित करा चुके हैं। इस कारण यहां अधिक विस्तार नहीं किया जाता है। जितना कुछ नवीन प्रमेय कहा था, उसको यहां प्रकरणमें कहकर तुमको अगृहीत ज्ञेयका ग्रहण करा दिया गया है। जैसे कि विषयोंको जाननेमें रह गई त्रुटिको अगृहीतका ग्रहण कर अवाय और धारणाज्ञान पूर्ण करा देते हैं।

इस सूत्रका सारांश ।

इस सूत्रभाष्यके प्रकरणोंका स्थूलरूपसे परिचय यों है कि सबसे प्रथम मतिज्ञानके निर्णीत हो चुके प्रकारोंका भेद निर्णयार्थ सूत्रका अवतार हुआ बताया है । पश्चात् अवग्रह आदिका निर्दोष लक्षण कहकर मतिज्ञानके साथ समानाधिकरणपना साधा गया है । अद्वैतवादियोंका निराकरण कर भेदज्ञानद्वारा स्पष्ट प्रतिभास होना बताया है । सभी ज्ञान सामान्य विशेष आत्मक वस्तुको विषय करते हैं । अकेले सत् सामान्यका ही निर्बाध ज्ञान नहीं होता है । बौद्धोंका स्वलक्षण को जाननेवाला निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी पारमार्थिक नहीं है । जब कि पदार्थ अनेक धर्मस्वरूप हैं, तो आत्मा क्षयोपशमके अनुसार अवग्रह आदि द्वारा अंशी, अंश, उपांशोंको यथायोग्य जानता रहता है । दर्शन उपयोगसे अवग्रह ज्ञान न्यारा है । ये अवग्रह आदिक ज्ञान सदा क्रमसे ही होते हैं । आकांक्षासे कुछ मिला हुआ ईहाज्ञान और संस्काररूप धारणाज्ञान स्वसम्वेदन प्रत्यक्षसे प्रमाणरूप जाने जा रहे हैं । आत्माका चैतन्य आत्माके अन्य गुणोंपर छाप मारता रहता है । सांख्योंका अवग्रह आदिको प्रकृतिका परिणाम मानना ठीक नहीं है । दूर पदार्थमें क्रमसे होते हुये जाने जा रहे अवग्रह आदिके समान निकट देशमें अवग्रह आदिकोंका क्रमसे होना सूक्ष्म ज्ञानियोंको अनुभूत हो रहा है । सविकल्पक अवग्रह ज्ञान प्रमाण है । उसके साक्षात् फल स्वार्थनिर्णय और परम्परासे ईहाज्ञान, हान आदि बुद्धियां हैं । प्रमाण और फलका कथंचित् भेद, अभेद, इष्ट किया है । निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञानोंका या स्वलक्षण और विकल्प्य विषयोंका एकत्वाध्यवसाय होना अशक्य है । यहां विशेष विचार किया गया है । विशिष्ट क्षयोपशमके अनुसार ज्ञानमें स्पष्टता, अस्पष्टता, आ जाती हैं । इस कारण अवग्रह आदिक स्पष्ट ज्ञान हैं । सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हो सकते हैं । हां, व्यंजनावग्रह अस्पष्ट होनेसे परोक्ष है । मन इन्द्रियसे ही ईहा नहीं होती है किंतु अन्य इन्द्रियोंसे भी ईहाज्ञान होता है । इस अवसरपर बौद्धोंके साथ अच्छी चर्चा की गई है । इंद्रिय और मनसे उत्पन्न हुये अवग्रह, ईहाज्ञान, आत्माकी क्रमसे उत्पन्न हुई भिन्न भिन्न पर्यायें हैं । किन्तु ये सब पर्यायें एक मतिज्ञानस्वरूप हैं । तभी तो तत् ऐसे उद्देश्यदलके एकवचन मतिज्ञानके साथ "अवग्रहेहावाय-धारणाः" इस विधेयदलके बहुवचनका सामानाधिकरण्य बन जाता है । सभी प्रतिवादियोंने भिन्न भिन्न ढंगोंसे अनेकान्तकी शरण पकडी है । संशय और विपर्ययज्ञानोंका निराकरण करता हुआ स्पष्ट अवायज्ञान है । ईहासे इतना कार्य नहीं हो सकता है । आवरणोंका विशेष अपगम हो जानेसे दृढतरज्ञान होता है । अवाय और धारणा कथंचित् अगृहीतग्राही हैं । श्वेताम्बर लोगोंने प्रमाणके लक्षणमें अपूर्वार्थ विशेषण नहीं डाला है । उनका अनुभव है कि सम्पूर्णपदार्थ भविष्यमें एक एक समय पीछे नवीन नवीन पर्यायोंको धारते रहते हैं । अतः सभी अपूर्वार्थ हैं । दहीको जमा हुआ कह देनेसे कोई प्रयोजन नहीं साधता है । इसपर हम दिगम्बर सम्प्रदायवालोंका कहना है कि

पदार्थ तो नवीन उत्पन्न हो जाते हैं, किन्तु ज्ञान द्वारा उस नवीनताका ग्रहण नहीं होनेपर धारावाहिक हो जानेसे वह ज्ञान अप्रमाण हो जाता है। विषयके अनुसार विषयीको हो जानेकी व्यवस्था नहीं है। अतः प्रमाणके लक्षणमें अपूर्व विशेषणका प्रयोग करना व्यभिचार दोषकी निवृत्तिके लिये सफल है। किसी विषयमें ईहाज्ञान हो चुकनेपर भी संशय आदिक उठ सकते हैं किन्तु अवायज्ञान हो जानेपर संशय, विपर्ययको अवसर नहीं मिलता है। तथा किसी विषयका अवाय हो जानेपर भी कालान्तरमें वह विषय भूला जा सकता है। किन्तु धारणाज्ञान हो जानेपर कालान्तरोंमें विस्मरण नहीं होने पाता है। क्षयोपशम अनुसार तारतम्यको लिये हुये जैसी जैसी धारणा होगी तदनुसार एक मिनट, एक घण्टा, एक दिन, एक मास, वर्षभर, जन्मतक, जन्मान्तरोंतक भी उद्बोधक कारण मिलनेपर पीछे स्मरण हो जाता है। इस प्रकार सामान्य विशेष आत्मक वस्तुमें क्रमसे हो रहे अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणाज्ञान हैं। ये सब मतिज्ञान हैं। एकदेशविशद होनेसे न्याय ग्रन्थोंमें साव्यवहारिक प्रत्यक्ष माने गये हैं। वस्तुतः ये सभी ज्ञान परोक्ष हैं।

सदा लोचनाद्दर्शनात्स्युः क्रमेणाऽऽत्मनोवग्रहेहादि संवेदनानि ।
मतिज्ञानहर्म्यस्थसुस्थम्भतुल्यान्युपादानहानानपेक्षाफलाप्त्यै ॥ १ ॥

———×———

मतिज्ञानके विशेष प्रभेदोंका निरूपण करनेके लिये श्रीउमास्वामी महाराज भव्यजीवोंको तत्त्वज्ञानार्थ सोलहवा सूत्ररूप प्रसाद बाटते हैं।

बहुबहुविधक्षिप्रानिसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥ १६ ॥

बहुत अधिक वस्तु या बहुत सख्यावाली वस्तु और बहुत प्रकारकी वस्तुयें तथा शीघ्र अथवा सम्पूर्ण नहीं निकले हुये, नहीं कहे गये और निश्चल तथा इनसे इतर अर्थात् थोडे या एक एवं एक प्रकार या अल्पप्रकार तथा चिरकाल, पूरा निकला हुआ, कण्ठोक्त कहा गया, अस्थिर, इन पदार्थोंके अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, आदिक ज्ञान होते हैं। पूर्व सूत्रमें कहे गये ज्ञानोंके ये बहु आदिक बारह पदार्थ विषय हैं।

किमर्थमिदं सूत्रं ब्रवीति। यद्यवग्रहादिविषयविशेषनिर्ज्ञानार्थं तदा न वक्तव्यमुत्तरत्र सर्वज्ञानानां विषयप्ररूपणात् प्रयोजनांतराभावादिति मन्यमानं प्रत्याह।

कोई विद्वान् शब्दकृत लाघवको ही विद्वत्ताका प्राण मानता हुआ आक्षेप करता है कि इस बहु आदि सूत्रको उमास्वामी महाराज किसलिये कह रहे हैं ? बताओ। यदि अवग्रह आदि ज्ञानोंके विशेष विषयोंका निर्णयज्ञान करानेके लिये यह सूत्र कहा जाता है, तब तो यह सूत्र नहीं कहना चाहिये। क्योंकि कुछ आगे चलकर उत्तरवर्ती प्रकरणमें संपूर्ण ज्ञानोंके विषयका सूत्रकार द्वारा स्पष्टकथन किया ही जावेगा। " मतिश्रुतयोर्निबन्धो " यहांसे लेकर चार सूत्रोंमें ज्ञानके विषयोंका

निरूपण है। इस विषयनिरूपणके अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन दीखता नहीं है। फिर इस लम्बे सूत्रद्वारा वचन बढाकर गम्भीरग्रन्थका शरीर क्यों बोझिल किया जा रहा है? इस प्रकार मनमें मान रहे मनमौजी विद्वान्के प्रति श्री विद्यानंद आचार्य समाधान कहते हैं।

केषां पुनरिमेवग्रहादयः कर्मणामिति।
प्राह संप्रतिपत्त्यर्थं बह्वित्यादिप्रभेदतः॥ १॥

जिस प्रकार अन्नरूप कर्मकी पाकक्रिया होती है, शास्त्ररूप कर्मकी अध्ययनक्रिया होती है, उसी प्रकार ये अवग्रह आदिक क्रियाविशेष फिर किन कर्मोंके होते हैं? इसको भेद प्रभेदसे भले प्रकार समझानेके लिये ग्रन्थकार उमास्वामी महाराज बहु, बहुविध, इत्यादि सूत्रको अच्छा कहते हैं अथवा ज्ञानके विषयभूत अर्थको बहु आदि प्रभेदोंसे समझानेके लिये यह सूत्र कहा है।

नावग्रहादीनां विषयविशेषनिर्ज्ञानार्थमिदमुच्यते प्राधान्येन। किं तर्हि। बह्वादिकर्मद्वारेण तेषां प्रभेदनिश्चयार्थं कर्मणि षष्ठीविधानात्।

अवग्रह आदि ज्ञानोंके विशेष विषयोंका निर्णय करानेके लिये यह सूत्र प्रधानतासे नहीं कहा जाता है, तो "किसलिये कहा जाता है?" ऐसी जिज्ञासा होनेपर यह उत्तर है कि बहु, बहुविध आदिक ज्ञेयकर्मोंके द्वारा उन अवग्रह आदिकोंके प्रभेदोंका निश्चय करानेके लिये यह सूत्र कहा है। "कर्तृकर्मणोः कृति षष्ठी" इस सूत्रद्वारा यहां कर्ममें षष्ठी विभक्तिका विधान किया है। अवगृह्णाति, ईहते, अवैति, धारयति, इस प्रकार गणके रूपोंका प्रयोग होनेपर तो कर्ममें द्वितीया हो जाती है। किन्तु कृदन्त प्रत्ययान्त अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, इस प्रकार क्रियाओंका प्रयोग होनेपर तो कर्ममें षष्ठी विभक्ति हो जाती है। अतः अवग्रह आदि ज्ञानोंके व्याप्यभेदोंको विषयमुद्रासे समझानेके लिये यह सूत्र कहा गया है। सर्वत्र लाघव गुण दिखलानेकी टेव अच्छी नहीं है। आततायी पुरुषका लाघव दिखलाना तुच्छता दोषमें परिणत हो जाता है। किम्वदन्ती है कि एक लोभिन सासुने अपने जामाताका सुसज्जित वस्त्र नहीं देकर एक बनोरेसे सत्कार किया और तर्क उठानेपर व्याख्यात्री श्वश्रूने दामादको समझा दिया कि सम्पूर्ण अनेक प्रकारके वस्त्रोंका आदि बीज यह बिनौरा ही है। अधिक गौरव बढानेकी अपेक्षा यह लाघव अच्छा है। इस प्रकरणके कुछ समय पीछे सासका लडका जब अपनी बहिनको लिवानेके लिये अपने जीजाके ग्रामको गया तो उसके काव खारहे जीजाने अपने सालेको भोजनकी थालीमें पोंडेकी एक अंगुल गाठ परोस दी और समझा दिया कि सम्पूर्ण मिठाईयोंका मूल कारण यह गाठ है। श्री गोम्मटसारमें खांड बनानेवाले पोंडाको पर्वबीज माना है। अभिप्राय यह है कि ऐसे जघन्य लाघवोंसे कोई प्रयोजन नहीं सधता है। महती हानि उठानी पडती है। शीतबाधाका दूर करना, शरीरकी

लज्जाका निवारण करना, ठाठ प्रगट करना, ये कार्य एक बनौलेसे नहीं सधते हैं। तथा क्षुधा निवृत्ति होकर तृप्ति होना, रसना इन्द्रिय द्वारा सुमधुर स्वाद प्राप्त होना ये कार्य फीकी छोटी गन्नेकी गाठसे नहीं पूर्ण हो पाते हैं। पर्यायोंसे निभनेवाले कार्योंको शक्तियां नहीं कर पाती हैं। अतः अधिक प्रतिपत्ति करानेवाले परोपकारी ग्रन्थकारोंसे ऐसे निरर्थक लाघवकी अभिलाषा रखना ही बढी हुई लघुता है।

कथं तर्हि बह्वादीनां कर्मणामवग्रहादीनां च क्रियाविशेषाणां परस्परमभिसंबंध इत्याह।

तो फिर यह बताओ कि बहु, बहुविध, आदिक विषयभूत कर्मोंका और अवग्रह आदिक विषयी क्रियाविशेषोंका परस्परमें सब ओरसे कौनसा सम्बन्ध हो रहा है ? इस प्रकार शुश्रूषु प्रतिपाद्योंकी महती जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज वार्तिक श्लोकोंद्वारा समाधान कहते हैं।

बह्वाद्यवग्रहादीनां परस्परमसंशयम्।
प्रत्येकमभिसंबंधः कार्यो न समुदायतः ॥ २ ॥
बहोः संख्याविशेषस्यावग्रहो विपुलस्य वा।
क्षयोपशमतो नुः स्यादीहावायोथ धारणा ॥ ३ ॥
इतरस्याबहोरेकद्वित्वाख्यस्याल्पकस्य वा।
सेतरग्रहणादेवं प्रत्येतव्यमशेषतः ॥ ४ ॥

बहु आदिक कर्मोंका और अवग्रह आदि क्रियाओंका परस्परमें प्रत्येकके साथ संशयरहित होकर पर्याप्तरूपसे सम्बन्ध कर देना चाहिये। समुदायरूपसे सम्बन्ध नहीं करना चाहिये। आत्माके क्षयोपशम होनेसे संख्याविशेष बहुतका अथवा अधिक परिमाणवाले विपुल पदार्थका अवग्रह हो जाता है। तथा बहुत संख्या या विपुलपदार्थके ईहा, अवाय, और धारणाज्ञान क्षयोपशम अनुसार हो जाते हैं। इसी प्रकार इतर सहितके ग्रहणसे इतर अर्थात् अबहु यानी एक, दो, नामक संख्या विशेष अथवा अल्पपदार्थके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा हो जाते हैं। इसी ढंगसे सम्पूर्ण बहुविध आदिक और अबहुविध आदि विषयोंके अवग्रह, ईहा आदिक पूर्णरूपसे समझलेने चाहिये।

बहुविधस्य त्र्यादिप्रकारस्य विपुलप्रकारस्य वा तदितरस्यैकद्विप्रकारस्याल्पप्रकारस्य वा, क्षिप्रस्याचिरकालप्रवृत्तेरितरस्य चिरकालप्रवृत्तेः, अनिःसृतस्यासकलपुद्गलोद्गतिमत इतरस्य सकलपुद्गलोद्गतिमतः, अनुक्तस्याभिप्रायेण विज्ञेयस्येतरस्य सर्वात्मना प्रकाशितस्य, ध्रुवस्याविचलितस्येतरस्य विचलितस्यावग्रह इत्यशेषतोवग्रहः संबंधनीयः, तथेहा तथावायस्तथा धारणेति समुदायतोभिसंबंधोनिष्टप्रतिपत्तिहेतुः प्रतिक्षिप्तो भवति।

उक्त कारिकाओंमें बहु और अबहुके अवग्रह आदिक जैसे कह दिये हैं, उसी प्रकार बहु-विध यानी तीन, चार, आदि बहुत प्रकारोंके अथवा विस्तीर्ण प्रकारोंके तथा उस बहुविधसे इतर यानी एक दो प्रकारके अथवा अल्प प्रकारके विषयोंका अवग्रह होता है। क्षिप्र यानी शीघ्र कालमें हो रही प्रवृत्तिका अथवा उससे इतर यानी अधिक कालकी प्रवृत्तिका अवग्रह होता है। अनिसृत यानी जिसके सम्पूर्ण पुद्गल ऊपरको नहीं निकल रहे हैं, उसका और तदितर यानी जिसके सम्पूर्ण पुद्गल ऊपर प्रकट हो रहे हैं, उस पदार्थका अवग्रह हो जाता है। जो विना कहे ही अभिप्राय करके ठीक जान लिया गया है, उसका अवग्रह होता है। और उससे इतर जो सम्पूर्णरूपसे शब्दोंद्वारा प्रकाशित कर दिया गया है, उस पदार्थका अवग्रह हो जाता है। तथा ध्रुव यानी चलित नहीं हो रहेका और इतर यानी विचलित हो रहे का अवग्रह होता है। इस प्रकार पूर्ण-रूपसे बहु आदिक बारहके साथ अवग्रह ज्ञानका सम्बन्ध कर लेना चाहिये। तिस ही प्रकार ईहा तथा अवाय और तिसी ढंगसे धारणा यह भी सम्बन्ध कर लेना चाहिये। यों अडतालीस भेद हो जाते हैं। समुदायसे अभिसम्बन्ध करना अभीष्ट नहीं है। क्योंकि अनिष्ट की प्रतिपत्तिका कारण है। अतः वह खण्डित कर दिया गया है। अर्थात्—बहुत प्रकारके बहुत नहीं कहे गये निकले हुये पदार्थोंका स्थिरतासे शीघ्र अवग्रह ज्ञान हो जाता है। इस प्रकारका समुदित अर्थ अनिष्टबोधका कारण होनेसे निराकृत कर दिया गया है। अतः बारहोंमेंसे न्यारे न्यारे विषयके अवग्रह आदिक ज्ञान होते हुये माने हैं।

कथं बहुबहुविधयोस्तदितरयोश्च भेद इत्याह।

बहु और बहुविध तथा उनसे इतर एक और एकविध इनमें क्या भेद है? ऐसी आकांक्षा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

व्यक्तिजात्याश्रितत्वेन बहोर्बहुविधस्य च।
भेदः परस्परं तद्वद्बोध्यस्तदितरस्य च ॥ ५ ॥

बहु और एक, दो, अबहु ये धर्म तो व्यक्तिविशेषोंके आश्रित हैं। तथा बहुविधपना और एकविधपना ये जातिके आश्रित विषय हैं। अतः बहुका व्यक्तिके आश्रितपना होनेसे तथा बहुविधको जातिके आश्रित होनेसे उनमें परस्परमें भेद है। उसीके समान उनसे इतर यानी एक और एक विधका व्यक्ति और जातिके आश्रित होनेसे परस्परमें भेद समझना चाहिये।

व्यक्तिविशेषौ बहुत्वतदितरत्वधर्मौ जातिविषयौ तु बहुविधत्वतदितरत्वधर्माविति बहुबहुविधयोस्तदितरयोश्च भेदः सिद्धः।

बहुत्व और उससे भिन्न अल्पत्व धर्म तो पृथक् पृथक् विशेष व्यक्तिरूप हैं। तथा बहुविधपना और उससे भिन्न अल्पविधपना धर्म तो अनेकोंमें प्रवर्तनेवाले जातिविशेष हैं। इस प्रकार बहु और

बहुविध तथा उनसे इतर अल्प और अल्पविध इनमें परस्पर भेद सिद्ध है। भेद, प्रभेदसहित अनेक प्रकार कैई जातिके घोडोंका जो ग्रहण है, वह बहुविधका ग्रहण है। एक प्रकारके अनेक घोडोंका ग्रहण एकविधका अवग्रह है। एक दो घोडेका ज्ञान अबहुका अवग्रह है। कैई घोडे, अनेक बैल, कतिपयमहिष आदिका समूहालम्बनज्ञान भी बहुविधका अवग्रह समझा जायगा।

एवं बह्वेकविधयोरभेद इत्यपास्तं बहूनामप्यनेकानामेकप्रकारत्वं ह्येकविधं न पुनर्बहुत्वमेवेत्युदाहृतं द्रष्टव्यम्।

इस प्रकार बहुत और एकविधका अभेद है, यह शंका भी दूर कर दी गयी समझ लेना चाहिये। क्योंकि भिन्न भिन्न जातिके एक एक पदार्थोंको एकत्रित कर बहुतपना हो सकता है। किन्तु एकविधपना तो एक जातिके अनेक पदार्थोंका ही होगा। अतः बहुत भी एक जातिके अनेकोंका एक प्रकारपना एकविध कहा जाता है। किन्तु वहां फिर बहुतपनेका व्यवहार नहीं करना चाहिये। इस प्रकार उदाहरण दिया जा चुका देख लेना चाहिये।

क्षिप्रस्याचिरकालस्याध्रुवस्य चलितात्मनः।
स्वभावैक्यं न मंतव्यं तथा तदितरस्य च ॥ ६ ॥

शीघ्रकालके क्षिप्रका और चलितस्वरूप हो रहे अध्रुवका स्वभाव एकपना नहीं मानना चाहिये तथा उनसे इतर अक्षिप्र और ध्रुवका भी स्वभाव एक नहीं है, इनमें मोटा अन्तर विद्यमान है।

अचिरकालत्वं ह्याशुप्रतिपत्तिविषयत्वं चलितत्वं पुनरनियतप्रतिपत्तिगोचरत्वमिति स्वभावभेदात् क्षिप्राध्रुवयोर्नैक्यमवसेयं। तथा तदितरयोरक्षिप्रध्रुवयोस्तत एव।

अचिरकालपना तो शीघ्र ही प्रतिपत्तिका विषय हो जानापन है। और चलितपना तो फिर नहीं नियत (स्थिर) हो रहे पदार्थकी प्रतिपत्तिका विषयपना है। इस प्रकार स्वभावके भेद होनेसे क्षिप्र और अध्रुवका एकपना नहीं निर्णीत कर लेना चाहिये। अर्थात्—क्षिप्र ही अध्रुव नहीं है। तथा उनसे विपरीत अक्षिप्र और ध्रुवका भी तिस ही कारण यानी देरसे प्रतीति कराना और स्थिर प्रतिपत्ति कराना, इन स्वभावभेदोंके होनेसे उनका एकपना नहीं जान लेना चाहिये।

निःशेषपुद्गलोद्गत्यभावाद्भवति निःसृतः।
स्तोकपुद्गलनिष्क्रांतेरनुक्तस्त्वाभिसंहितः ॥ ७ ॥
निष्क्रांतो निःसृतः कार्त्स्न्यादुक्तः संदर्शितो मतः।
इति तद्भेदनिर्णीतेरयुक्तैकत्वचोदना ॥ ८ ॥

सम्पूर्ण पुद्गलोंका प्रकटरूप बाहिर उद्गमपना होनेसे निःसृत हो जाता है। और थोडेसे कतिपय पुद्गलोंके निकलनेसे हुआ ज्ञान अनिसृत है। और अभिप्रायोंसे जान लिया गया तो अनुक्त है। जब कि पूर्णरूपसे निकाला गया पदार्थ निसृत है। और पूर्णरूपसे कह दिया गया पदार्थ उक्त माना गया है। इस प्रकार उनके भेदका निर्णय हो जानेसे उनमें एकपनेका कुचोद्य उठाना युक्त नहीं है। अर्थात्—यदि कोई यों कहे कि उक्त और निःसृतमें कोई अन्तर नहीं है। कारण कि सम्पूर्णशद्बोंके मुखद्वारा निकलनेसे श्रवण इन्द्रियजन्य निःसृतज्ञान होगा और उक्तज्ञान भी ऐसा ही है। इसपर आचार्योंका यह कहना अकलंक है कि अन्यके उपदेशपूर्वक जो शद्बजन्य वाच्यका ग्रहण है, वह उक्त है, और स्वतः जो ग्रहण हो गया है, वह निःसृत है। जलनिमग्न हाथीकी ऊपर निकली हुई सूंडको देखकर हाथीका ज्ञान अनिःसृत मतिज्ञान है। और बाहर खडे हुये हाथीका ज्ञान निःसृत है। कहीं कहीं एकविध और बहुत या निःसृत और उक्त तथा क्षिप्र और अध्रुवका सांकर्य भी हो जाय तो हमे अनिष्ट नहीं है। किन्तु इन प्रत्येकके भी न्यारे न्यारे उदाहरण लोकमें प्रसिद्ध हो रहे हैं।

अनिःसृतानुक्तयोर्निःसृतोक्तयोश्च नैकत्वचोदना युक्ता लक्षणभेदात्।

अनिःसृत और अनुक्त तथा निःसृत और उक्तमें एकपनका कुतर्क उठाना युक्त नहीं है। क्योंकि इनके लक्षण न्यारे न्यारे भिन्न हैं।

कुतो बह्वादीनां प्राधान्येन तदितरेषां गुणभावेन प्रतिपादनं न पुनर्विपर्ययेणेत्यत्रोच्यते।

यहां किसीका प्रश्न है कि श्री उमास्वामी महाराजने बहु, बहुविध आदिका प्रधानताकरके क्यों प्रतिपादन किया है? और गौणरूपसे क्यों अल्प, अल्पविध, आदि इतरोंका प्रतिपादन किया है? फिर विपरीतपनेसे ही प्रतिपादन क्यों नहीं किया? अर्थात्—अल्प, अल्पविध, आदिको कण्ठोक्त कहकर बहु बहुविध, आदिको इतर पदसे ग्रहण करना चाहिये, जब कि अल्प, अल्पविध आदिके कथनमें अर्थकृत, उपस्थितिकृत, गुणकृत, और प्रमाणकृत, लाघव विद्यमान है। देखिये, बहु आदिकका प्रथमसे ही न्यारे न्यारे अनेक भावोंका ज्ञान करना गुरुतर कार्य है। किन्तु अल्प पदार्थोंको पहिले समझकर शेषोंमें बहुत पदार्थोंको जानलेना सुलभ है। इसी प्रकार शनैः शनैः अधिककालमें व्युत्पत्ति करनेकी अपेक्षा अतिशीघ्र व्युत्पत्ति करना कठिन है। निर्बल पुलपर होकर धीरे धीरे विलम्बसे रेलगाडी निकालना सुलभसाध्य है। किन्तु रेलगाडीको वेगपूर्वक शीघ्र चलाना अधिक भयंकर है। इसी प्रकार निःसृतोंको समझकर परिशिष्टमें अनिःसृतोंका समझ लेना सुलभ पडता है। यही युक्ति उक्तोंसे इतर अनुक्तोंके समझनेमें सुकर है। ध्रुवका व्यवसाय कर इतर अध्रुवके निर्णय करनेकी अपेक्षा अध्रुवका निर्णय कर परिशिष्ट रह गये ध्रुवोंका समझना अतिसुलभ है। किसी नौकर द्वारा जिनचन्द्रको आम, अमरूद, अनार, नारङ्गी चार फल मगाने हैं। ऐसी दशामें अल्प चार फलोंका नाम लेकर निषेध करने योग्य शेषफल, अन्न, पुष्प, वस्त्र, आदि इतर बहुत पदार्थोंका

ज्ञान करा देना अधिक सुलभ है। किन्तु निषेध करने योग्य असंख्य फल, वस्त्र, आदिकोंका कण्ठोक्त एक एकका निरूपण कर शेष बचे हुये अभीष्ट चार फलोंका ज्ञान कराना अतिकठिन है। फिर आचार्य महाराजने शिष्योंके समझानेके लिये क्लिष्ट उपाय अवलम्ब क्यों लिया है ? बताओ। इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्यद्वारा उत्तर कहा जाता है।

तत्र प्रधानभावेन बह्वादीनां निवेदनं ।
प्रकृष्टावृतिविश्लेषविशेषात् नुः समुद्भवात् ॥ ९ ॥
तद्विशेषणभावेन कथं चात्राल्पयोग्यतां ।
समासृत्य समुद्भूतेरितरेषां विधीयते ॥ १० ॥

तिस सूत्रमें प्रधानरूपसे बहु, बहुविध, आदिका श्री उमास्वामी आचार्यने जो निवेदन किया है, उसका कारण यह है कि ज्ञानावरणके अधिक प्रकर्षताको लिये हुये क्षयोपशमविशेषसे जीवके बहु आदि ज्ञानोंकी समीचीन उत्पत्ति होती है। और उन बहु आदिके विशेषण होकरके इतर अल्प, अल्पविध, आदिके ज्ञान आत्मामें अच्छे उत्पन्न हो जाते हैं, यह समाधान किया गया है। भावार्थ—बहु, बहुविध, शीघ्र, अनिसृत, नहीं कहा गया, अविचलित, इन पदार्थोंकी ज्ञप्ति करनेके लिये बढिया क्षयोपशम होना चाहिये। अन्य शेषोंके लिये मन्द क्षयोपशमसे भी निर्वाह हो सकता है। विशेष बुद्धिमान् पुरुष बहु आदिको समझकर कालाणुओंके निमित्तसे जराग्रस्त हो गई बुद्धिसे अल्प आदि पदार्थोंको भी लगे हाथ समझ लेता है। किन्तु अल्प आदिको जाननेवाली बुद्धि द्वारा शेष-बचे हुये बहुतोंका ज्ञान तो नहीं हो सकेगा। महाव्रतोंका कण्ठोक्त उपदेश देकर ही अणुव्रतोंका परिशेषमें उपदेश देना न्याय्य है। बडी विपत्तिमें आक्रान्त हो चुकनेपर मनुष्य छोटी विपत्तिको सुलभतासे सह लेता है, किन्तु छोटीको सहनेवाला बडी विपत्तिके प्राप्त होनेपर घबडा जाता या मर जाता है।

अथ बह्वादीनां क्रमनिर्देशकारणमाह।

अब बहु, बहुविध, आदिकोंके यथाक्रमसे निर्देश करनेके कारणको आचार्य कहते हैं।

बहुज्ञानसमभ्यर्च्यं विशेषविषयत्वतः ।
स्फुटं बहुविधज्ञानाज्जातिभेदावभासिनः ॥ ११ ॥
तत्क्षिप्रज्ञानसामान्यात्तच्चानिःसृतवेदनात् ।
तदनुक्तगमात्सोपि ध्रुवज्ञानात्कुतश्चन ॥ १२ ॥

जातिका आश्रय कर भेदोंको प्रकाशनेवाले बहुविध पदार्थोंके ज्ञानकी अपेक्षासे विशेषरूप अधिक पदार्थोंको विषय करनेवाला होनेके कारण बहुका ज्ञान अच्छा चारों ओर पूजनीय है। यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। अर्थात्—जातिका अवलम्ब कर पदार्थोंका जानना उतना स्पष्ट नहीं है, जितना कि व्यक्तियोंका आश्रय कर पदार्थोंका जानना विशद या आदरणीय है। अतः बहुविधसे पहिले बहुका कहना प्रशस्त है। तथा सामान्यरूपसे शीघ्र ही पदार्थको जाननेकी अपेक्षा उस बहुविधका ज्ञान करना आदरणीय है। अतः क्षिप्रके पूर्वमें बहुविध कहा है। तथैव वह क्षिप्रका ज्ञान भी अनिःसृत ज्ञानसे श्लाघ्य है। अनिःसृत पदार्थको बतानेकी अपेक्षा छात्रको शीघ्र बतानेपर अधिक लब्धाङ्क प्राप्त हो जाते हैं। और उस अनुक्तकी ज्ञप्तिसे अनिःसृतका ज्ञान अभ्यर्चित है। छल, कपटपूर्ण जगत्में अनुक्त पदार्थको समझना जितना सरल है, उतना इन्द्रियों द्वारा अनिःसृत पदार्थका समझना सुकर नहीं है। वह अनुक्तज्ञान भी किसी कारणवश (अपेक्षा) ध्रुवज्ञानसे पूजनीय है। अचलितको जाननेकी अपेक्षा मायावियोंके अनुक्त अभिप्रेतोंका या विद्वानोंकी मूढ चर्चाका पता पालेना कठिन है। अतः अल्पस्वरपना, सुसंज्ञापन, आदिका लक्ष्य न रखकर अर्चनीयका विचार करते हुये श्री उमास्वामी आचार्यने बहु, बहुविध, आदि सूत्रमें पदोंका क्रम कहा है। दोमें पूर्वप्रयोग करनेके लिये अन्यतरपर विशेषदृष्टि रक्खी जाती है। बहु तो इतनी नहीं। शिष्योंकी जिज्ञासा या प्रतिपत्तिके क्रमकी स्वाभाविक प्रसिद्धि इसी प्रकार है।

तत्तद्विषयबह्वादेः समभ्यर्हितता तथा ।
बोध्यं तद्वाचकानां च क्रमनिर्देशकारणं ॥ १३ ॥

उन उन बहु, बहुविध, आदिको विषय करनेपनकी अपेक्षासे बहु आदिके ज्ञानोंको अधिक पूजनीयपना समझ लेना चाहिये। तथा उन बहु आदिकके वाचक शब्दोंके भी क्रमसे निर्देश करनेका कारण वही अभ्यर्हितपना समझ लेना चाहिये। पूज्यके ज्ञानरूप ध्यानसे पुण्य प्राप्त होता है। वैसा ही पूज्यका नामकथन करनेसे भी पुण्य मिलता है। ज्ञानको समझानेके लिये शब्दके अतिरिक्त अन्य अच्छा उपाय कोई नहीं है। पूज्य पदार्थोंके साथ वाचक सम्बन्ध हो जानेसे शब्द पूज्य हो जाता है। यहांतक कि भूमि, काल, वायु, आसन, आदि भी पूज्य हो जाते हैं। क्षेत्र पूजा, कालपूजा, या विशिष्ट पुरुषोंके उपकरणोंका सत्कार इसी भित्तिपर किये जाते हैं।

बह्वादीनां हि शब्दानामितरेतरयोगे द्वंद्वे बहुशब्दो बहुविधशब्दात्प्राक् प्रयुक्तोभ्यर्हितत्वात् सोपि क्षिप्रशब्दात् सोप्यनिःसृतशब्दात्सोप्यनुक्तशब्दात् सोपि ध्रुवशब्दात्। एवं कथं शब्दानामभ्यर्हितत्वं ? तद्वाच्यानामर्थानामभ्यर्हितत्वात्। तदपि कथं ? तद्ग्राहिणां ज्ञानानामभ्यर्हितत्वोपपत्तेः, सोपि ज्ञानावरणवीर्यांतरायक्षयोपशमविशेषप्रकर्षादुक्ताविशुद्धि-

प्रकर्षस्य परमार्थतोभ्यर्हितस्य भावादिति । तदेव यथोक्तक्रमनिर्देशकरणस्य कारणमवसीयते कारणांतरस्याप्रतीतेः ।

बहु, बहुविध, आदिक शब्दोंका इतरइतरयोग नामका द्वन्द्वसमास होनेपर बहुविध शब्दसे पहिले बहुशब्द प्रयुक्त किया गया है । क्योंकि विशेष विशेष अनेक व्यक्तियोंको कहनेवाला वह बहु शब्द अनेक जातियोंको कहनेवाले बहुविध शब्दसे अधिक पूज्य है और वह बहुविध भी क्षिप्र शब्दसे अधिक अर्चनीय है । तथा वह क्षिप्र शब्द भी अनिःसृतसे और वह अनिःसृत भी अनुक्त शब्दसे तथा वह अनुक्त भी ध्रुवशब्दसे अधिक सपर्या करने योग्य है । यहां यदि कोई यों प्रश्न करें कि मुख, तालु, आदि अथवा चेतनप्रयत्नद्वारा उत्पन्न हुये शब्दोंको इस प्रकार अभ्यर्हितपना कैसे है ? बताओ । उसके प्रति हमारा यह उत्तर है कि उन शब्दोंके वाच्य अर्थोकी परिपूज्यता होनेसे वाचकशब्द भी पूज्य हो जाते हैं । महान पुरुषकी मूर्ति या चित्र भी आदरदृष्टिसे देखा जाता है । फिर कोई पूछे कि उन वाच्य अर्थोको पूज्यपना किस ढंगसे हुआ ? इसका समाधान यों है कि उन महान् अर्थोके ग्रहण करनेवाले ज्ञानोंका अतिपूज्यपना बन रहा है । अर्थात् आत्माका गुण ज्ञान परमपूज्य है । उसमें जो प्रकृष्ट पदार्थ आदरणीय होकर विषय हो रहे हैं, वे भी पूज्य हो जाते हैं । विषयीधर्मका विषयमें आरोपित कर लिया जाता है, जैसे कि जड घटको प्रत्यक्षज्ञानका विषय होनेसे प्रत्यक्ष कह देते हैं । यदि कोई पुनः चोद्य उठावे कि वह ज्ञान भी पूज्य क्यों है ? इसपर हमारा यह उत्तर है कि निकृष्ट हो रहे ज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्मोके विशेषक्षयोपशमके अत्युत्तम प्रकर्ष होनेसे उत्पन्न हुई, उक्त पूज्यज्ञानोंकी विशुद्धिका प्रकर्ष वास्तविकरूपसे अभ्यर्हित होकर विद्यमान हो रहा है । अर्थात् हमारी ही अन्तरंग विशुद्धि हमको परमपूज्य है । उसकी आत्मीय विशुद्धि उसके कारण विशिष्ट क्षयोपशममें मान ली जाती है । यहां कार्यके स्वकीय धर्मका कारणमें आरोप है । और क्षयोपशमकी प्रकर्षतासे ज्ञानमें पूज्यताका संकल्प है । यहां कारणका धर्म कार्यमें आरोपित किया है । तथा ज्ञानमें पूज्यता आ जानेसे उसके द्वारा जानने योग्य ज्ञेय पदार्थोंमें भी पूज्यपनेका अध्यारोप है । यहां विषयीका धर्म विषयमें धर दिया गया है । सूक्ष्म एवंभूतनय तो घट, पट, जिनगुरु, आदिके ज्ञानोंको ही घट, पट, आदि पदार्थ कह रहा है । तथा ज्ञेय पदार्थोंमें ज्ञानद्वारा पूज्यपना आ जानेसे उस ज्ञानके वाचक शब्दोंको भी अभ्यर्हितपना आ जाता है । जैसे कि वक्ताके प्रामाण्यसे शब्दमें प्रमाणपना प्राप्त हो जाता है । या पापकी कथाओंका कहना, सुनना, भी यदि श्रोताको व्यतिरेक मुद्रासे शिक्षाद्वारा निवृत्ति मार्गपर नहीं लगा पाता है, तो पापक्रियाके समान ही दुर्गतिका कारण है । व्याकरणमें " कौपीन " शब्दकी निरुक्ति यों की गई है कि " कूपे पातयितुं योग्यं कौपीनं पापं तत्प्रधानकारणत्वात् लिंगमपि कौपीनं तदाच्छादनवस्त्रत्वाद्वस्त्रमपि कौपीनं " यानी जो कूएमें गिराने (फेंकने) योग्य पदार्थ है, वह कौपीन है, जो कि पाप है । अतः कौपीनका मुख्य

शब्दार्थ पाप हुआ, किन्तु पापका विशिष्ट कारण होनेसे लिङ्ग भी कौपीन माना गया है। और उस लिंगका आच्छादन करनेवाला वस्त्र भी कौपीन कहा जाता है। यहां तीन स्थलोंपर आरोप किया गया है। तब कहीं कौपीनका अर्थ लंगोटी हो पाया है। प्रतिपादकके ज्ञानका कार्य होनेसे और प्रतिपाद्य श्रोताके ज्ञानका कारण होनेसे शब्द भी अपने कारण और कार्योंसे वैसे धर्मों (प्रामाण्य) को प्राप्त कर लेता है। तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात्। यद्यपि निश्चयनयसे सम्पूर्ण वस्तुऐं स्वप्रतिष्ठित हैं। फिर भी व्यवहारनयसे विचारनेपर न जाने किसके निमित्तसे कौनसे भले बुरे कार्य जगत्में हो रहे हैं। न जाने किन प्राचीन पुरुषोंके आशीर्वादोंसे या किस लडका, लडकी, बहू आदिके प्रकृष्ट भाग्य अनुसार क्षेम वर्त रहा है। सुभिक्ष, सुराजा, धार्मिक क्रियायें आदि प्रवर्त रहे हैं। अन्यथा कृतघ्नता, दुष्टविचार, बकभक्ति, ईर्षा, कलह, हिंसाभाव, गुरुद्रोह, व्यभिचारपरिणाम, वंचना आदिक कुकर्म तो अधःपतनकी ओर धक्कापेल ले जाय ही रहे हैं। समुदायकृत पुण्यपाप भी ग्राम, नगर, देशकी समृद्धि या विपत्तिमें सहायक होता है। क्वचित् एक ही भैसा पूरी पोखरको खवीला कर देता है। प्रकृतमें यह कहना है कि न जाने किसके निमित्तसे किसमें किसका व्यपदेश हो रहा है। पूज्य आत्माओंके सम्बन्धसे उनका शरीर पवित्र हो जाता है। और पवित्रशरीरके सम्बन्धसे वे स्थान क्षेत्र बन जाते हैं। अतः ऊपर ऊपरसे चली आई हुई पूज्यताके अनुसार ज्ञानद्वारा वाचक शब्दोंमें भी पूज्यता आ जाती है। बहुविध शब्दसे बहुशब्द यों ही तो पूज्य हुआ। अतः सूत्रमें कहे गये पदोंके क्रमसे निर्देश करनेका कारण वही निश्चित किया जाता है। अन्य कोई कारण प्रतीत नहीं हो रहा है। पूज्यताके देखे गये धन, मोटा शरीर, पण्डिताई, कायक्लेश, उपवास, पूजा करना, पढाना, चिकित्सा करना, प्रभाव, कुलीनता, अधिक आयु, तप आदि इन बहिरंग कारणोंका व्यभिचार दोष देखा जाता है। अतः शब्द या अर्थकी पूज्यतामें निर्दोष ज्ञानका पूज्यपना ही कारण है।

विजानाति न विज्ञानं बहून् बहुविधानपि ।
पदार्थानिति केषांचिन्मतं प्रत्यक्षबाधितम् ॥ १४ ॥

एक ही ज्ञान बहुतसे और बहुत प्रकारके पदार्थोंको कैसे भी नहीं जान पाता है " प्रत्यर्थं ज्ञानाभिनिवेशः " प्रत्येक अर्थको जाननेके लिये एक एक ज्ञान नियत है। इस प्रकार किन्हीं विद्वानोंका मत है। वह प्रत्यक्षसे ही बाधित है। अर्थात्—एक चाक्षुष प्रत्यक्ष ही सामने आये हुये अनेक वृक्षों, मनुष्यों, धान्यों, पशुओं, आदिको जान लेता है। जातिरूपसे प्रमेयोंको जाननेवाले ज्ञान अनेक प्रकारके अर्थोंको जान रहे हैं। अतः प्रत्येक ज्ञानका विषय एक नियत पदार्थ मानना या प्रत्येक विषयका एक नियतज्ञान मानना प्रत्यक्षविरुद्ध है। अनेक ज्ञान धारावाहिकरूपसे एक विषयको जानते रहते हैं। अनेक ज्ञानोंके समुदायभूत ध्यानमें एक विषय देरतक ज्ञात होता रहता

है। और एक ज्ञान भी समूहरूपसे अनेक अर्थोंको विषय करता रहता है। सर्वज्ञका वर्तमानकालमें हुआ एक ज्ञान तो त्रिकालके अनेक प्रमेयोंको युगपत् जान लेता है।

प्रत्यक्षाणि बहून्येव तेष्वज्ञातानि चेत्कथम्।
तद्बोधैकनिर्भासैः शतैश्चेन्नाप्रबाधनात् ॥ १५ ॥

शंकाकार विद्वान् कहता है कि उन अनेक पदार्थोंको जाननेमें एक प्रत्यक्ष नहीं प्रवर्त रहा है। किन्तु बहुत प्रत्यक्षों द्वारा एक एक को जानकर बहु या बहुप्रकार पदार्थोंका ज्ञान हुआ है। अतिशीघ्र लघुतासे झट पीछे पीछे प्रवृत्ति होनेके कारण अथवा युगपत् अनेक प्रत्यक्ष उत्पन्न हो जानेके कारण तुमको वे अनेक प्रत्यक्ष ज्ञात नहीं हो सके हैं। इस प्रकार कहनेपर तो हम पूछेंगे कि उन अज्ञात अनेक प्रत्यक्षोंकी सत्ता कैसे जानी जायगी ? बताओ। उन उन अनेक ज्ञानोंको जाननेके लिये यदि एक एकको प्रकाशनेवाले अनेक ज्ञान उठाये जायंगे, ऐसे सैकडों प्रकाशक ज्ञानोंकरके उनका प्रतिभास होना माना जायगा, यह कहना तो ठीक नहीं। क्योंकि उन ज्ञानोंका भी बाधारहितपनेसे निर्णय नहीं हो पाया है। अतः हमारी समझ अनुसार उन अनेक ज्ञानोंको जाननेवाला ज्ञान तो एक ही आपको मान लेना चाहिये। तद्वत् अनेक विषयोंको एक ज्ञान जान लेता है।

तद्बोधबहुतावित्तिर्बाधिकात्रेति चेन्मतं।
सा यद्येकेन बोधेन तदर्थेष्वनुमन्यताम् ॥ १६ ॥
बहुभिर्वेदनैरन्यज्ञानवेद्यैस्तु सा यदि।
तदवस्था तदा प्रश्नोनवस्था च महीयसी ॥ १७ ॥

यदि प्रश्नकर्ता यों कहे कि उन अनेक ज्ञानोंके बहुतपनेका ज्ञान हो रहा है। अतः वह ..का एक ज्ञान हो जानेका बाधक है। इस प्रकार मन्तव्य होने पर तो हम जैन कहते हैं कि ..नेक ज्ञानोंके बहुतपनेका वह ज्ञान यदि एक ही ज्ञानकरके माना जायगा, तब तो उसी अनेक ..नोंको जाननेवाले एकज्ञान समान अनेक अर्थोंमें भी एक ज्ञानद्वारा ज्ञप्ति होना मानलो। यदि ..य तीसरे प्रकारके अनेक ज्ञानोंसे जानने योग्य दूसरे प्रकारके बहुत ज्ञानोंकरके बहुतोंको जानने-..ले पहिले अनेक ज्ञानोंका वह प्रतिभास माना जायगा, तब तो तीसरे प्रकारके ज्ञानोंको जाननेके ..िये चौथे प्रकारके ज्ञान समुदायकी वित्ति आवश्यक होगी। उसके लिये पाचवे प्रकारके ज्ञान मानने प..गे। अन्य ज्ञानोंसे अज्ञात हुये ज्ञान पूर्वज्ञानोंको जान नहीं सकते हैं, तब तो वैसाका वैसा ही प्र.. तदवस्थ रहेगा और बडी लम्बी महती अनवस्था हो जायगी।

स्वतो बह्वर्थनिर्भासिज्ञानानां बहुता गतिः ।
नान्योन्यमनुसंधानाभावात्प्रत्यात्मवर्त्तिनाम् ॥ १८ ॥

बहुत अर्थोंको प्रकाशनेवाले अनेक ज्ञानोंका बहुतपना यदि स्वतः ही जान लिया जायगा सो तो ठीक नहीं । क्योंकि यों माननेपर तो प्रत्येक अपने अपने स्वरूपमें वर्त रहे उन ज्ञानोंका परस्परमें प्रत्यभिज्ञानरूप अनुसंधान नहीं हो सकेगा । किन्तु एक जीवके अनेक ज्ञानोंका अनुसंधान हो रहा है । जैसे कि स्पर्श इन्द्रियसे जाने गये पदार्थको मैं देख रहा हूं, देखे हुये पदार्थका ही स्वाद ले रहा हूं । स्वादिष्टको सूंघ रहा हूं । सूंघे जाचुके का विचार कर रहा हूं । उनकी व्याप्तिका ज्ञान कर रहा हूं, इत्यादि ढंगसे ज्ञानोंके परस्परमें अनुसंधान होते हैं । अतः जैनोंके समान स्वतः जाननेका पक्ष लेना आपको पथ्य नहीं पडेगा ।

तत्पृष्ठजो विकल्पश्चेदनुसंधानकृन्मतः ।
सोपि नानेकविज्ञानविषयस्तावके मते ॥ १९ ॥
बह्वर्थविषयो न स्याद्विकल्पः कथमन्यथा ।
स्पष्टः परंपरायासपरिहारस्तथा सति ॥ २० ॥

उन बहुतसे ज्ञानोंके पीछे होनेवाला विकल्पज्ञान यदि उन ज्ञानोंके अनुसंधानको करनेवाला माना जायगा सो वह भी तो तुम्हारे मतमें अनेक विज्ञानोंको विषय करनेवाला नहीं माना गया है । एक विकल्पज्ञान भी तो आपके यहां एक ही ज्ञानको जान सकेगा । यदि आप अपना प्रत्येक विषयके लिये प्रत्येक ज्ञानके सिद्धान्तको छोडकर दूसरे प्रकारसे एक विकल्पज्ञानद्वारा बहुत ज्ञानोंका विषय कर लेना इष्ट कर लोगे तब तो विकल्पज्ञान बहुत अर्थोंको विषय करनेवाला कैसे नहीं होगा ? हम स्याद्वादी कहते हैं कि अनेक पदार्थोंको जाननेवाला विकल्प स्पष्ट दीख रहा है । और तिस प्रकार माननेपर परम्परासे हुये कठिन परिश्रमका परिहार भी हो जाता है । अर्थात्—एक ज्ञान स्वको स्पष्टरूपसे जानता हुआ अनेक अर्थोंको साक्षात् जान रहा है । ऊंटकी पूंछमें बंधी हुई ऊंटोंकी पंक्तिके समान या चूनके गूझेमें घुसे हुये चूनके समान अनेक अनेक ज्ञानोंकी परम्परा या अन्योन्याश्रयका व्यर्थ परिश्रम नहीं उठाना पडता है । जैनसिद्धान्त अनुसार परम्पराका निरास करना स्पष्ट है ॥

यथैव बह्वर्थज्ञानानि बहून्येवानुसंधानाविकल्पस्तत्पृष्ठजः स्पष्टो व्यवस्यति तथा स्पष्टो व्यवसायः सकृद्बहून् बहुविधान् वा पदार्थानालंबतां विरोधाभावात् । परंपरायासोप्येवं परिहृतः स्यात्ततो झटिति बह्वाद्यर्थस्यैव प्रतिपत्तेः ।

उन ज्ञानोंके पीछे होनेवाला अनुसंधान करनेवाला विकल्प जैसे ही बहुत अर्थोंको जाननेवाले बहुत ज्ञानोंको (का) स्पष्ट होता हुआ निर्णय कर लेता ही है, उसी प्रकार स्पष्ट हो रहा अवग्रह

आदिरूप व्यवसाय भी एक ही बारमें बहुतसे अथवा बहुत प्रकारके पदार्थोंको विषय कर लेवेगा कोई विरोध नहीं आता है। और इस प्रकार ज्ञानोंको जाननेके लिये ज्ञान और उनको भी जाननेके लिये पुनः ज्ञान इस ढंगसे हुई परम्पराके कठिन श्रमका भी निराकरण कर दिया जाता है। तिस कारण झट ही बहु आदिक अर्थोंकी प्रतिपत्ति हो जाती है। अतः एक ज्ञान भी अनेक और अनेक प्रकारके अर्थोंको जान सकता है। कोई बाधा नहीं आती है।

एवं बहुत्वसंख्यायामेकस्यावेदनं न तु।
संख्येयेषु बहुष्वित्ययुक्तं केचित्प्रपेदिरे ॥ २१ ॥
बहुत्वेन विशिष्टेषु संख्येयेषु प्रवृत्तितः।
बहुज्ञानस्य तद्भेदैकांताभावाच्च युक्तितः ॥ २२ ॥

कोई प्रतिवादी यह मान रहे हैं कि एक ज्ञानके द्वारा बहुत्व नामकी एक संख्यामें आवेदन करा दिया जाता है। किन्तु गिनने योग्य संख्यावाले बहुत अर्थोंमें ज्ञप्ति नहीं कराई जाती है। (विषये सप्तमी) इस प्रकार जो कोई समझ रहे हैं, वह उनका समझना युक्तिरहित है। क्योंकि बहुत्व नामकी संख्यासे विशिष्ट हो रहे अनेक संख्या करने योग्य अर्थोंमें एक बहुज्ञानकी प्रवृत्ति हो रही देखी जाती है। अर्थात्—एक इन्द्रियजन्य एकज्ञान एक समयमें सैकडों, हजारों, अनेक पदार्थोंको जान लेता है। प्रतिवादी किन्हीं वैशेषिकोंने बहुत्व संख्याको भी समवाय सम्बन्धसे अनेकोंमें वृत्ति माना है। भले ही पर्याप्ति सम्बन्धसे बहुत्व नामकी एक संख्या अनेकोंमें रहती है। किन्तु समवाय सम्बन्धसे प्रत्येकमें न्यारी न्यारी होकर ही अनेक बहुत्व संख्यायें अनेकोंमें ठहरती हुई मानी गयी हैं। जैन सिद्धान्त अनुसार तो संख्या और संख्यावान्‌का एकान्तरूपसे भेद नहीं है। गुण और गुणीके सर्वथा भेदका युक्तियोंसे निराकरण कर कथंचित् अभेदको हम पहिले सिद्ध कर चुके हैं। अतः एक ज्ञानद्वारा बहुत्व संख्याको जाननेवाले वादीको बहुत्व संख्यासे कथंचित् अभिन्न हो रहे अनेक बहुत पदार्थोंका ज्ञान हो जाना अभीष्ट करना पडेगा।

न हि बहुत्वमिदमिति ज्ञानं बहुष्वर्थेषु कस्यचिच्चकास्ति बहवोमी भावा इत्येकस्य वेदनस्यानुभवात्। संख्येयेभ्यो भिन्नामेव बहुत्वसंख्यां संचिन्वन् बहवोर्था इति वेत्ति तेषां तत्समवायित्वादित्ययुक्ता प्रतिपत्तिः। कुटाद्यवयविप्रतिपत्तौ साक्षात्तदारंभकपरमाणुप्रतिपत्तिप्रसंगात्। अन्यत्र प्रतिपत्तौ नान्यत्र प्रतिपत्तिरिति चेत्, तर्हि बहुत्वसंवित्तौ बह्वर्थसंवित्तिरपि माभूत्।

बहुत अर्थोंको नहीं जानकर उन बहुतसे अर्थोंमें यह एक बहुत्व संख्या है। इस प्रकारका ज्ञान तो किसी छोटे छोकरेको भी नहीं प्रतिभासता है। किन्तु ये या वे आम, रुपये, घोडे आदि

हैं, इस प्रकारके बहुत पदार्थोंको युगपत् जाननेवाले अनेक अर्थोंका एकज्ञान होता हुआ अनुभवा जा रहा है । यदि तुम यों कहो कि संख्या करने योग्य अर्थोंसे सर्वथा भिन्न हो रही बहुत्वनामक संख्या गुणको इकट्ठा कर जान रहा पुरुष " बहुत अर्थ हैं " ऐसा अनुभव कर लेता है । क्योंकि वे बहुतसे अर्थ उस संख्याके समवायसम्बन्धवाले हो रहे हैं । वस्तुतः एक ज्ञानसे बहुत्व संख्या इकेलीका ज्ञान होता है । किन्तु उस संख्याका सम्बन्ध होनेके कारण सम्बन्धियोंमें आरोप कर लिया जाता है । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तुमको प्रतिपत्ति करना अयुक्त है । क्योंकि समवेत (बहुत्व संख्या) पदार्थके जाननेसे यदि समवायी पदार्थों (बहुत अर्थ) की प्रतिपत्ति होने लगे तब तो घट, पट, आदि अवयवियोंकी ज्ञप्ति हो जानेपर उन घट आदिके अव्यवहितरूपसे समवायी आश्रय हो रहे उनको बनानेवाले परमाणुओंकी ज्ञप्ति हो जानेका प्रसंग हो जायगा । जैसे बहुत संख्याका समवायसम्बन्ध बहुतसे अर्थोंमें हो रहा है, उसी प्रकार अवयवी घटका समवायसम्बन्ध उसको प्रारम्भ करनेवाले अनेक परमाणुओंमें हो रहा है । इसपर यदि तुम यों कहो कि अन्य पदार्थमें प्रतिपत्ति हो जानेसे उससे न्यारे दूसरे पदार्थोंमें तो उसी ज्ञानसे प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है । घटको जाननेवाला ज्ञान भला घटसे सर्वथा भिन्नकारण परमाणुओंको नहीं जान सकता है । तब तो हम जैन कहेंगे कि प्रकृतमें बहुत्व संख्याकी अच्छी ज्ञप्ति हो जानेपर भी उस बहुत्व संख्यासे भिन्न बहुत अर्थोंकी सम्वित्ति भी नहीं होओ । समवायी और समवेतका कथञ्चित् अभेद तुमने माना नहीं है ।

येषां तु बहुत्वसंख्याविशिष्टेष्वर्थेषु ज्ञानं प्रवर्तमानं बहवोर्था इति प्रतीतिः तेषां न दोषोस्ति, बहुत्वसंख्यायाः संख्येयेभ्यः सर्वथा भेदानभ्युपगमात् । गुणगुणिनोः कथंचिदभेदस्य युक्त्या व्यवस्थापनात् । ततो न प्रत्यर्थवशवर्ति विज्ञानं बहुबहुविधे संवेदनव्यवहाराभावप्रसंगात् ।

जिन स्याद्वादियोंके यहां तो बहुत्व नामकी संख्यायें सन्मुख दीख रहे प्रत्येक पदार्थोंमें एक एक होकर रहती हुयीं अनेक मानी गयीं हैं, उपचार या सादृश्यसे भले ही उन बहुत संख्याओंको एक कह दिया जाय, ऐसी बहुत्व संख्याओंसे विशिष्ट हो रहे अनेक अर्थोंमें प्रवर्त रहा एक ज्ञान ही " ये बहुत अर्थ हैं " इस प्रकार प्रतीतिरूप हो जाता है, उन जैनोंके यहां तो कोई दोष नहीं आता है । क्योंकि संख्या करने योग्य अनेक पदार्थोंसे बहुत्वसंख्याका सर्वथा भेद नहीं माना गया है । उपचारसे एक मान ली गयी बहुत्व संख्या भी मुख्य एक एक बहुत्व संख्याके समान अपने आश्रयसे सर्वथा भिन्न नहीं है । गुण और गुणीके कथंचिद् अभेदको हम युक्तियोंसे व्यवस्थापित कर चुके हैं । तिस कारण प्रत्येक अर्थोंके अधीन होकर वर्त रहा विज्ञान नहीं है । अन्यथा यानी एक ज्ञानकी एक ही अर्थको विषय करनेकी अधीनतासे वृत्ति मानी जायगी तो बहुत और बहुत

प्रकारके अर्थोंमें एक सम्वेदन होनेके व्यवहारके अभावका प्रसग हो जायगा, जो कि इष्ट नहीं है। बालक या पशुपक्षी भी एकज्ञानसे अनेक अर्थोंको युगपद् जान रहे प्रतीत होते हैं।

कथं च मेचकज्ञानं प्रत्यर्थवशवर्तिनि।
ज्ञाने सर्वत्र युज्येत परेषां नगरादिषु॥ २३॥

यदि ईश्वरको छोडकर अन्य जीवोंके सभी ज्ञानोंको वैशेषिक प्रत्येक अर्थके अधीन होकर वर्तनेवाला मानेंगे ऐसा होनेपर तो भला मेचकज्ञान कैसे युक्त बन सकेगा ? बताओ। अनेक नील, पीत, आदि आकारोंको जाननेवाला चित्रज्ञान तो एक होकर अनेकोंका प्रतिभास कर रहा है। दूसरी बात यह है कि नगर, ग्राम, वन, सेना, आदिमें दूसरे विद्वान् वैशेषिकोंके यहां एक ज्ञान नहीं हो सकेगा। क्योंकि अनेक बाजार या हवेलियोंका सामुदायिक एक ज्ञान होनेपर ही एक नगरका ज्ञान हो सकता है। अनेक वृक्षोंका एक हो जाना माननेपर ही एक वनका ज्ञान सम्भवता है। अनेक घोडे, पियादे, तोपखाना, अश्ववार सैनिक आदि बहुत पदार्थोंका एक ज्ञानद्वारा ग्रहण होना माननेपर ही एक सेनाका ज्ञान सम्भवता है, अन्यथा नहीं। एक बात यह भी है कि जब ज्ञानके स्वभावकी परीक्षा हो रही है तो ईश्वरका ज्ञान क्यों छोडा जाता है ? ऐसी दशामें सर्वज्ञता नहीं बन सकती है।

न हि नगरं नाम किंचिदेकमस्ति ग्रामादि वा यतस्तद्वेदनं प्रत्यर्थवशवर्ति स्यात्। प्रासादादीनामल्पसंयुक्तसंयोगलक्षणा प्रत्यासत्तिर्नगरादीति चेत् न, प्रासादादीनां स्वयं संयोगत्वेन संयोगांतरानाश्रयत्वात्।

नगर नामका कोई एक पदार्थ तो है नहीं। अथवा ग्राम, सेना, सभा, मेला, धान्यराशि आदिक कोई एक ही वस्तु नहीं है। जिससे कि उनमें नगर, सेना आदिका एक ज्ञान होता हुआ प्रत्येक अर्थके वशवर्ती हो सके। अतः अनेकोंको भी जाननेवाला एक ज्ञान मानना पडेगा। इसपर यदि वैशेषिक यों कहें कि नगर तो एक ही पदार्थ है। वन, सेना, ग्राम, आदि भी एक ही एक पदार्थ हैं। अनेक प्रासादों (महलों) आपणों (बाजारों) और कोठियों आदिका अति अल्प संयुक्त संयोगस्वरूपसे संबंध हो जाना ही एक नगर है। अर्थात् एक हवेलीका दूसरी हवेलीसे अति-निकटसंयोग होना और उस संयुक्त हवेलीका तीसरी हवेली या गृहके साथ अल्पनिकट संयोग होना। इसी प्रकार बाजार मुहल्ले, कूंचे, मंडी आदि अनेकोंका अति निकट एक संयोग हो जाना ही एक नगर पदार्थ है। इसी ढंगसे घोडे, सैनिक, आदि अनेक पदार्थोंका परस्परमें संयुक्त या अतिनिकट होकर परम्परासे अन्तमें एक महासंयोगरूप पदार्थ बन जाता है, वह सेना एक वस्तु है। ग्राम आदिमें भी यही समझ लेना। अनेक घरोंका एक दूसरेसे संयुक्त होते होते

परम्परासे संयुक्तोंका एक अतिनिकट एक संयोग पदार्थ ग्राम है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह तो वैशेषिक नहीं कहें। क्योंकि महल या गृहका विचार चलानेपर तुमने उन प्रासादों, घरों या भींतोंको भी संयोगपनेसे स्वीकार किया है। ईंट, चूना, लकडी, लोहा या सोट, बांस, मट्टी, छप्पर आदिके संयोगको ही प्रासाद या घर माना है। घट, पटके समान एक द्रव्य घर नहीं है। वैशेषिकोंने घरको संयोगनामका गुण पदार्थ माना है। " गुणादिर्निर्गुणक्रियः " गुणमें पुनः गुण रहता नहीं है। अतः ईंट आदिके संयोगरूप घरमें दूसरे कोठियों आदिका संयोग नहीं ठहर सकेगा। भावार्थ—संयुक्त हो रहे द्रव्यके साथ तो दूसरे द्रव्यका संयोग हो सकता है। किन्तु संयोगरूप एक कोठीका दूसरी संयोगरूप कोठीके साथ पुनः संयोग नहीं हो सकता है। " द्रव्यद्रव्ययोरेव संयोगः " सजातीय पदार्थोंसे मिलकर बने हुये द्रव्यको तो वैशेषिकोंने द्रव्य मान लिया है। जैसे कि अनेक तन्तुओंसे एक पटद्रव्य बन जाता है। अनेक लोहेके अवयवोंसे एक टीन चद्दर या गाटर बन जाता है। अनेक लकडियोंके अवयवसे एक सोटद्रव्य बन जाता है। किन्तु लकडी, चूना, ईंट, लोहा, पानी आदि विजातीय द्रव्योंके मिल जानेपर एक नवीन द्रव्य नहीं बनता है। अन्यथा मकानमें कील ठोक देनेपर या थालीमें परोसी हुई खिचडीका थालीके साथ मिलकर एक नया द्रव्य बन बैठेगा। देवदत्तके टोपी, कपडा, गहना, पहिननेपर भी एक विलक्षण द्रव्य उत्पन्न हो जावेगा। इस भयसे वैशेषिकोंने अनेक विजातीय पदार्थोंके संयोगरूप हो रहे नगर, ग्राम, खाट, घर, घडी, पसरट्टा आदिको द्रव्य हुआ नहीं मानकर " संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्व " नामक संयोग गुण माना है। अतः संयोगरूप प्रासादोंका पुनः संयोगरूप नगर नहीं बन सकता है। सयोगगुणमें पुनः दूसरा संयोग गुण नहीं रहता। गुणे गुणानङ्गीकारात्। निर्गुणा गुणाः।

काष्ठेष्टकादीनां तल्लक्षणा प्रत्यासत्तिर्नगरादि भवत्विति चेन्न, तस्याप्यनेकगत्वात्। न हि यथैकस्य काष्ठादेरेकेन केनचिदिष्टकादिना संयोगः स एवान्येनापि सर्वत्र संयोगस्यैकत्वव्यापित्वादिप्रसंगात् समवायवत्।

काठ, ईंट, टीन, आदिकी तत्स्वरूप प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) ही नगर आदि हो जाओ। यह तो नहीं कहना। क्योंकि अनेक काठ, ईंटोंका वह संयोग भी तो अनेकोंमें स्थित हो रहा है। अतः वे संयोग अनेक हैं एक नहीं। जिस प्रकार एक काठ, ईंट, कील, वरगा आदिका किसी दूसरे एक ईंट, चूना आदिके साथ संयोग है। वही संयोग न्यारे तीसरे ईंट, वरगा आदि भी के साथ नहीं है। यों सब संयोगोंके माननेपर तो संयोग गुणको समवायके समान एकपन, व्यापीपन, नित्यपन आदिका प्रसंग हो जायगा। यानी वैशेषिकोंने समवाय को तो एक, नित्य, व्यापक, माना है। किन्तु संयोगको अनेक अनित्य, अव्यापक इष्ट किया है।

विसुद्वय संयोगकी बात न्यारी है। ऐसी दशामें अनेक ईंट या अनेक काठोंके अन्य अनेक ईंट काठोंके साथ हो रहे संयोग न्यारे न्यारे हुये, एक संयोग नहीं हो सका, जो कि नगर कहा जा सके।

चित्रैकरूपवच्चित्रैकसंयोगो नगराद्येकमिति चेन्न, साध्यसमत्वादुदाहरणस्य। न ह्येकं चित्रं रूपं प्रसिद्धमुभयोरस्ति।

नील अवयव, पीत अवयव, आदिसे बनाये गये अवयवीमें वर्तरहे कर्बुर या चित्रविचित्र एकरूप नामक गुणके समान चित्रसंयोग भी एक गुण मान लिया जायगा जो कि एक चित्र सयोग ही नगर, ग्राम, आदि एक पदार्थ बन जायगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि चित्रवर्ण नामका उदाहरण ही साध्यके समान असिद्ध है। असिद्ध उदाहरणसे साध्य नहीं सधता है। लौकिक और परीक्षकोंके यहां या हमारे तुम्हारे दोनोंके यहां एक चित्ररूप कोई प्रसिद्ध नहीं है। तुम भले ही न्यारे कर्बुररूपको मानो, हम तो अनेक नील, पीत, आदिको मिलाकर नया बन गया चित्ररूप नहीं मानते हैं। एक चित्रमें भी न्यारे न्यारे स्थानोंपर न्यारे न्यारे नील, पीत, आदि वर्ण विचित्र हो रहे माने हैं। अत: पाच वर्णोंसे अतिरिक्त कोई छठा चित्रवर्ण नहीं है। अनेक रंगोंके मिलकर तो फिर पचासों रंग बन सकते हैं। उनकी क्या कथा है! वे तो पाच रूपोंके ही भेद, प्रभेद, हो जायंगे।

यथा नीलं तथा चित्रं रूपमेकं पटादिषु।
चित्रज्ञानं प्रवर्तेत तत्रेत्यपि विरुध्यते ॥ २४ ॥
चित्रसंव्यवहारस्याभावादेकत्र जातुचित्।
नानार्थेष्विंद्रनीलादिरूपेषु व्यवहारिणाम् ॥ २५ ॥
एकस्यानेकरूपस्य चित्रत्वेन व्यवस्थितेः।
मण्यादेरिव नान्यस्य सर्वथातिप्रसंगतः ॥ २६ ॥

वैशेषिक कहते हैं कि शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश, कर्बुर, (चित्र) आदि अनेक प्रकारके रूप होते हैं। तिनमें जिस प्रकार नीला एक रूप है, उसी प्रकार छींट कपडा, रंग विरंगे पुष्प, प्रतिबिम्ब पत्र (तसवीरें) आदिकोंमें एक चित्ररूप भी देखा जाता है। उनमें चित्ररूपको ग्रहण करनेवाले ज्ञानकी प्रवृत्ति हो जावेगी। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार भी वैशेषिकोंका कहना विरुद्ध पड जाता है। क्योंकि नील, पीत आदि रूपोंको मिलाकर एक चित्र रंग नहीं बन सकता है। अन्यथा चित्र रस या चित्रगंध, बन जानेका भी प्रसंग हो जायगा। नीले, पीले, पार्थिव अवयवोंसे जैसे चित्ररूपवाला अवयवी आरब्ध हो जाता माना है। या कोमल

स्पर्शवाले अवयव और कठिन स्पर्शवाले अवयव अथवा उष्ण स्पर्शवाले और शीत स्पर्शवाले अवयवोंसे बनाये गये अवयवीमें जैसे अनुष्णाशीत स्पर्श माना है, उसी प्रकार खट्टा, मीठा आदि रसों या सुगंध दुर्गन्धके मिलानेसे चित्ररस और चित्रगंधकी उत्पत्ति भी हो जानी चाहिये। नाना जातीय रसवाले अवयवोंसे बनाये गये अवयवीको रसरहित मानना औलूक्यदर्शनवालोंको ही शोभता है। अन्य परीक्षक विद्वानोंको ऐसी निस्तत्त्व बात नहीं रुचती है। सर्वथा एक स्वभाववाले पदार्थमें चित्रपनेका अच्छा व्यवहार कभी नहीं होता है। व्यवहार करनेवाले लौकिक पुरुषोंका नाना रूप वाले इन्द्रनीलमणि, माणिक्य, पन्ना, लहसनीया, आदि अनेक पदार्थोंमें या इन मणियोंकी बनी हुई मालामें चित्रपनका व्यवहार हो जाता है। एक रंग बिरंगे चित्रपत्रमे कढे हुये या छपे हुये भूषण, वस्त्र, केश, नख आदिके अनेक रंग दिखलाये जानेपर चित्रपना व्यवहृत हो जाता है। जैन सिद्धात अनुसार अनेकरूप स्वभाववाले एक पदार्थकी चित्रपनकरके व्यवस्था हो रही है। जैसे कि चित्रमणि, पंजिका पुष्प (पंजी) आदि में चित्रता है। हिलव्वी काचमेंसे सूर्यकिरण या दीपक सम्बन्ध हो जानेपर अनेक आभाएं जैसे दीखतीं हैं, उसी प्रकार चित्रमणिकी अनेक वर्ण रेखायें दीखती रहती हैं। अन्य पदार्थोंको चित्रपना नहीं माना गया है। जलमें घोल दिये गये नीले, पीले, लाल, हरे अनेक रंगोंके समान कोई मिला हुआ चित्र वर्ण नही है। वह तो संयुक्त नया रंग बन जाता है। इस प्रकार रंगके पचासों भेद हो जाते हैं। किन्तु दो, तीन, चार, पांच या मिश्रितोंको जोडकर छह सात आठ आदि रंगोंका मिलाकर बनाया गया कोई स्वतंत्र रंग नहीं माना गया है। चित्रवर्णको यदि सर्वथा स्वतत्र रंग माना जायगा तो अनेक प्रकारके रंगोंके मिश्रणसे नाना चित्र मानने पड जायंगे, यह अतिव्याप्ति या अतिप्रसंग दोष हुआ।

यथानेकवर्णमणेर्मयूरादेर्वानेकवर्णात्मकस्यैकस्य चित्रव्यपदेशस्तथा सर्वत्र रूपादावपि स व्यवतिष्ठते नान्यथा। न ह्येकत्र चित्रव्यवहारो युक्तः संतानांतरार्थनीलादिवत् नाप्यनेकत्रैव तद्वदेवेति निरूपितप्रायम्।

जिस प्रकार कि अनेक वर्णवाले मणि या मयूर, नीलकण्ठ, चीता, चितकबरा घोडा, आदिके अथवा अनेक वर्णस्वरूप हो रहे कपडे पत्र, आदि एक पदार्थके चित्रपनका व्यवहार लोकप्रसिद्ध है, तिसी प्रकार सभी रूप, स्पर्श, रस आदिमें भी वह उसी ढंगसे व्यवस्थित होगा, दूसरे प्रकारोंसे नहीं निर्णीत किया जा सकेगा, सर्वथा एक स्वभाव हो रहे पदार्थमें चित्रपनेका व्यवहार युक्त नहीं है। जैसे कि अन्य देवदत्त, जिनदत्त आदिकी नाना सन्तानोंके विषय हो रहे अर्थोंके नील, पीत आदिका मिलाकर चित्रपना नहीं बन पाता है। तथा सर्वथा अनेक पदार्थोंमें भी वह चित्रपना नहीं बन सकता है। जैसे कि अनेक सन्तानोंके ज्ञान द्वारा जान लिये गये न्यारे न्यारे अर्थोंके उन भिन्न भिन्न नील पीत आदिका मिलकर चित्र नहीं बन सकता है। अर्थात्—एकका

या सर्वथा अनेकका चित्र नहीं बन सकता है, किन्तु अनेक स्वभाववाले एकका चित्ररूप माना जाता है। इस बातको हम प्राय करके पहिले प्रकरणोंमें कह चुके हैं।

नन्वेवं द्रव्यमेवैकमनेकस्वभावं चित्रं स्यान्न पुनरेकं रूपं। तथा च तत्र चित्रव्यवहारो न स्यात्। अत्रोच्यते—

जैनोंके ऊपर कोई शंका उठाता है कि इस प्रकार अनेक स्वभाववाला एक द्रव्य ही तो चित्र हो सकेगा, किन्तु फिर कोई एक रूपगुण तो चित्र नहीं हो सकेगा। और तैसा होनेपर उस चित्रवर्णमें चित्रपनेका व्यवहार नहीं बना, इस प्रकार सकटाक्ष शंका होनेपर यहां श्रीविद्यानन्द आचार्यद्वारा समाधान कहा जाता है।

चित्रं रूपमिति ज्ञानमेव न प्रतिहन्यते ।
रूपेप्यनेकरूपत्वप्रतीतेस्तद्विशेषतः ॥ २७ ॥

यह चित्ररूप है इस प्रकारके ज्ञान होनेका कोई प्रतिघात नहीं किया जाता है। द्रव्यके समान रूपगुणमें भी अनेक स्वभाववालापना प्रतीत हो रहा है। स्याद्वादसिद्धान्त अनुसार द्रव्य, गुण, पर्यायोंमें भी अनेक स्वभाव माने गये हैं। अपने अपने उन विशेषोंकी अपेक्षासे रूप, रस, आदि गुण या पर्यायें भी अनेक स्वभाववाली होकर चित्र कहीं जा सकती हैं। कोई विगाड नहीं है। एक ही हरे रंगमें तारतम्य मुद्रासे नाना हरे पदार्थोंके रंगोंकी अपेक्षा अनेक स्वभाव हैं। वे न्यारे न्यारे कार्योंको भी कर रहे हैं। कथंचित् अभेद मान लेनेपर संपूर्ण कार्य सध जाते हैं।

ननु रूपं गुणस्तस्य कथमनेकस्वभावत्वं विरोधात्। नैतत्साधु यतः।

यहां किसीकी शका है कि रूप तो गुण है। उस गुणको अनेक स्वभावसहितपना भला कैसे माना जा सकता है ? क्योंकि विरोध दोष उपस्थित होगा। अर्थात् अनेक गुण और पर्यायोंको धारनेसे द्रव्य तो अनेक स्वभाववाला हो सकता है, किंतु एक गुणमें या एक एक पर्यायमें पुनः अनेक स्वभाव नहीं ठहर पाते हैं। अनवस्थाका भी भय है। इस शंकाका आचार्य समाधान करते हैं कि यह कहना सुन्दर नहीं है जिस कारणसे कि सिद्धान्त यों व्यवस्थित हो रहा है।

गुणोनेकस्वभावः स्याद्द्रव्यवन्न गुणाश्रयः ।
इति रूपगुणेनेकस्वभावे चित्रशेमुषी ॥ २८ ॥

अनन्त गुणोंका समुदाय ही द्रव्य है। अतः अभिन्न हो जानेसे द्रव्यके समान गुण भी अनेक स्वभावोंसे सहित हो सकेगा। किंतु " द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः " इस सूत्रके अनुसार वह गुण अन्य गुणोंका आश्रय नहीं है। भावार्थ—जिस प्रकार पुद्गल द्रव्यमें रूप, रस, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि गुण जड रहे हैं, आत्मामें चेतना, सम्यक्त्व, द्रव्यत्व आदि गुण खचित

हो रहे हैं, उस प्रकार रूप, रस, चेतना, अस्तित्व आदि गुणोंमें पुनः अन्य कोई गुण नहीं रहते हैं, किंतु तरतमपना, घटियाबढियापन, अविभाग प्रतिच्छेदोंसे सहित पर्याय-धारण करनापना, आदि अनेक स्वभाव उन गुणोंमें पाये जाते हैं। आत्माके चेतन्यगुणमें जानना, देखना, प्रमाणपना, किसी ज्ञानकी अपेक्षा मन्दपना, अन्य ज्ञानकी अपेक्षा तीव्रपना मोक्षहेतुपना, रागहेतुपना, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, सामान्य, विशेष, नित्यत्व, अनित्यत्व वक्तव्यत्व, अवाच्यत्व, ज्ञप्तिकरणत्व, स्वप्रमितिकर्मत्व, पूर्व उपादानपर्यायकी अपेक्षा उपादेयत्व, उत्तर-पर्यायकी अपेक्षा उपादान कारणपन, हेयहान, उपादेयग्रहणरूप फलकी अपेक्षा सफलपना, अनेक शक्तियोंसे प्रचितपना, अभिव्यंजकपना, कालत्रय सम्बन्धीपना, अन्वयीपन, व्यतिरेकीपन, गुणीके देशमें रहनापन, अन्य सहोदर गुणोंके ऊपर अपनी प्रतिच्छाया धरदेनापन, पाण्डित्य, स्पष्टत्व, अस्पष्टत्व, क्षायिकत्व, आदि अनेक स्वभाव (धर्म) निवास कर रहे हैं। इसी प्रकार पुद्गलके रूप गुणमें सुन्दरता, अधिक कालापन, उद्योतकपन, ध्यामलितपन, चाकचक्य, प्रतिबिम्ब डालनापन, नेत्रज्योतिका दायकपन, नेत्रज्योतिका हानिकारकपन, प्रकाशकपन, नील पीत आदि पर्यायोंका धारकपन, न्यून अधिक अविभागप्रतिच्छेदोंसे सहितपन, आदि अनेक स्वभाव विद्यमान हैं। इस कारण अनेक स्वभाववाले रूपगुणमें चित्र विचित्र ऐसी प्रमाबुद्धि हो जाना समुचित ही है।

न हि गुणस्य निर्गुणत्ववन्निर्विशेषत्वं रूपे नीलनीलतरत्वादिविशेषप्रतीतेः। प्रति-योग्यपेक्षस्तत्र विशेषो न तात्त्विक इति चेन्न, पृथक्त्वादेरतात्त्विकत्वप्रसंगात्।

गुणका अन्य गुणोंसे रहितपना जैसे हमको अभीष्ट है, वैसा विशेष स्वभावोंसे रहितपना इष्ट नहीं है। क्योंकि रूपगुणमें यह नीला है, यह उससे भी अधिक नीला वस्त्र है। यह लील रंग उस वस्त्रसे भी अति अधिक नीला है। इत्यादि प्रकारके विशेषोंकी प्रतीति हो रही है। यदि यहां कोई बौद्ध या वैशेषिक यों कहें कि तिस रूप गुणमें अन्य षष्ठी विभक्तिवाले प्रतियोगियोंकी अपेक्षासे अनेक विशेष दीख रहे हैं। वे अनेक विशेष वास्तविक नहीं हैं। अर्थात्—जो वस्तुकी निज गांठके स्वभाव होते हैं, वे अग्निकी उष्णताके समान अन्य पदार्थोंकी अपेक्षा नहीं किया करते हैं। स्वका यानी परानपेक्ष निजका जो भाव होय वह स्वभाव कहा जाता है। अन्योंकी अपेक्षासे यदि स्वके भाव गढे जायंगे तब तो सेठका रोकडिया भी सेठ बन बैठेगा, अल्पज्ञ जीव सर्वज्ञ हो जायंगे, कुरूप शरीर अभिरूप (सुन्दर) माने जायेंगे। अतः अन्य अपेक्षणीय प्रतियोगियोंकी ओरसे आये हुये व्यपदेशोंको वस्तुका घरू स्वभाव नहीं कहना चाहिये, इस प्रकार वैशेषिकोंका कहना ठीक नहीं। क्योंकि यों तो पृथक्त्व, विभाग, द्वित्व, त्रित्व, संख्या आदिको भी अवस्तुभूतपनेका प्रसंग हो जायगा। कारण कि दूसरे पदार्थकी अपेक्षासे ही किसी वस्तुमें पृथक्पना नियत किया जाता है। दोपना, तीनपना, आदि संख्यायें अन्य पदार्थोंकी अपेक्षासे गिनी जाती हैं। अतः अन्य पदार्थोंके

निमित्तसे उत्पन्न हुये नैमित्तिक धर्म भी वस्तुकी गाठके स्वभाव स्वीकार करो। पुद्गलके निमित्तसे होनेवाले राग, द्वेष, मिथ्यात्व आदि परिणाम आत्माके विभाव माने जाते हैं ॥

पृथक्त्वादेरनेकद्रव्याश्रयस्यैवोत्पत्तेर्न प्रतियोग्यपेक्षत्वमिति चेन्न, तथापि तस्यैकपृथक्त्वादिप्रतियोग्यपेक्षया व्यवस्थानात् सूक्ष्मत्वाद्यपेक्षैकद्रव्याश्रयमहत्त्वादिवत् ।

यदि वैशेषिक यों कहें कि पृथक्त्व, विभाग, संयोग आदिक तो अनेक द्रव्योंके आश्रित होते हुये ही उत्पन्न होते हैं। अतः वे प्रतियोगियोंकी अपेक्षा नहीं रखते हैं किन्तु आप जैनोंके यहा तो पदार्थमें इधर उधरसे बाइनेके समान पीछेसे अनेक स्वभाव आते रहते माने हैं। मांगेके गहनोंको पहननेसे कोई मनस्वी नहीं हो सकता है। आचार्य कहते हैं कि यह वैशेपिकोंका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि तो भी उस पृथक्त्व आदिकी एक दूसरे द्रव्यके पृथक्पन आदिक प्रतियोगियोंकी अपेक्षा करके व्यवस्था बन रही है। जैसे कि सूक्ष्मत्व, ह्रस्वत्व, आदिकी अपेक्षा रखते हुये और एक द्रव्यमें आश्रित हो रहे महत्त्व, लम्बापन, बडापन आदिक धर्म माने जाते हैं। नारियलकी अपेक्षा आम छोटा है। आमकी अपेक्षा आमला छोटा है। इस प्रकार अन्य पदार्थोकी अपेक्षासे अणुत्व, महत्त्व, दीर्घत्व, ह्रस्वत्व, परिमाण वैशेपिकोंने स्वयं स्वीकार किये हैं।

तस्यास्खलत्प्रत्ययविषयत्वेन पारमार्थिकत्वेन नीलतरत्वादेरपि रूपविशेषस्य पारमार्थिकत्वं युक्तमन्यथा नैरात्म्यप्रसंगात् नीलतरत्वादिवत्सर्वविशेषाणां प्रतिक्षेपे द्रव्यस्यासंभवात्। ततो द्रव्यवद्गुणादेरनेकस्वभावत्वं प्रत्ययाविरुद्धमवबोद्धव्यम्।

इसपर वैशेषिक यदि यों कहें कि वे पृथक्त्व, महत्व आदिक तो बाधारहित ज्ञानमें ध्रुवरूपसे विषय हो रहे हैं, अतः पारमार्थिक हैं। तब तो हम जैन कहेंगे कि इसी ढंगसे रूपके नील, नीलतर, नीलतम आदिक विशेष स्वभावोंको भी वस्तुभूतपना युक्त मान लेना चाहिये। अन्यथा यानी गाठके नैमित्तिक भावोंको यदि स्वका भाव नहीं माना जायगा तो वस्तुओंको स्वभावरहितपनेका प्रसंग हो जायगा, जैसे कि निरात्मकपना बौद्ध माना करते हैं। बात यह है कि जगत्के प्रत्येक पदार्थमें अनेक स्वभाव प्रतीत हो रहे हैं। चोर उल्लू ठगोंको प्रकाश अच्छा नहीं लगता है, व्यवहारियोंको प्रकाश समीचीन भासता है। गृहस्थको न्यायधन उपार्जनीय है। दिगम्बर मुनियोंको धन अर्जनीय नहीं है। चीकनी, स्वच्छ, सुथरी, स्थलीके होनेपर भी पिडुकिया कांटों या तृणोंको बिछाकर अण्डे देती है, किंतु मनुष्यको ऐसे कण्टकाकीर्णस्थलमें बैठना नहीं रुचता है। संक्षेपमें यही कहना है कि संपूर्ण पदार्थोंमें अनेक स्वभाव विद्यमान हैं। देखिये, द्रव्यमें गुण रहते हैं। गुणोंमें पर्यायें ठहरती हैं, पर्यायोंमें स्वभाव और अविभागप्रतिच्छेद, वर्तते हैं गुण और पर्याय भी सद्भावी स्वभाव हैं। वृत्तिमान् धर्मोको स्वभाव कहते हैं। दण्डद्रव्य दण्डी पुरुषका स्वभाव हो सकता है। रूपगुण पुद्गलका स्वभाव है। अग्निस्वरूप पुद्गलका स्वभाव उष्णतापर्याय है। शीत

ऋतु, वसन्तऋतु, ग्रीष्मऋतुमें अग्निकी उष्णता तरतमरूपसे बढती जाती है। वह अविभाग प्रतिच्छेदोंकी न्यूनता अधिकता भी अग्निद्रव्यका स्वभाव है। अग्नि स्वयं स्कन्ध या सजीव पदार्थ है। अतः परद्रव्योंके सम्बन्ध होनेपर बन गया विकृत अग्निपर्याय भी किसी द्रव्यका स्वभाव माना जा सकता है। स्वभाव व्यापक है और गुण पर्याय, आरोपित धर्म, अविभागप्रतिच्छेद, आदि व्याप्य हैं। हां, किसी अन्तके स्वभावमें अन्य स्वभाव न रहे, किंतु आश्रितत्व, स्वभावत्व आदि स्वभावोंको तो उससे कोई छीन नहीं सकता है। कोई भी पदार्थ निःस्वभाव नहीं है। आप वैशेषिक नील, नीलतर, पका, अधिक पका, मीठा, अधिक मीठा, विद्वत्ता, प्रकाण्ड विद्वत्ता, आदिके समान संपूर्ण विशेषोंका यदि निराकरण करोगे तो द्रव्यकी भी सिद्धि असम्भव हो जायगी। कारण कि अनेक स्वभावोंकी समष्टि (समुदाय) ही तो द्रव्य है। स्वभावोंके विना द्रव्य कुछ भी शेष नहीं बचता है। जैसे कि जड, शाखा, पत्र, पुष्प, फलोंको निकालदेनेपर वृक्ष कुछ नहीं अवशिष्ट रहता है। मीठापन, पीलापन, शीतपन, सुगन्धि, भारीपन, नरमपन, सचिक्कणता आदि स्वभावोंसे रहित कर देनेपर मोदक (लड्डू) कोई पदार्थ नहीं बचता। आठ काठों और जेवरीको पृथक् कर देनेसे खाट कुछ नहीं रहती है। इसी प्रकार स्वभावोंके विना द्रव्यका आत्मलाभ असम्भव है। तिस कारण सिद्ध हुआ हुआ कि द्रव्यके समान गुण, पर्याय, कर्म यहातक कि कतिपय स्वभावोंको भी अनेक स्वभावोंसे सहितपना चारों ओरसे समझ लेना चाहिये। इस सिद्धांतमें किसी भी प्रातीतिक ज्ञानसे विरोध नहीं आता है।

नन्वनेकस्वभावत्वात्सर्वस्यार्थस्य तत्त्वतः।
न चित्रव्यवहारः स्याज्जैनानां क्वचिदित्यसत् ॥ २९ ॥
सिद्धे जात्यंतरे चित्रे ततोपोद्धृत्य भाषते।
जनो ह्येकमिदं नाना वेत्यर्थित्वविशेषतः ॥ ३० ॥

यहां शंका है कि सम्पूर्ण अर्थोको यथार्थरूपसे जब अनेक स्वभावसहितपना सिद्ध हो गया तब तो जैनोंके यहां किसी ही विशेष पदार्थमें चित्र विचित्रपनेका व्यवहार नहीं बन सकेगा, अर्थात्—सभी घट, काष्ठ, पीतल, चांदी, रक्त आदि पदार्थ चित्र माने जावेंगे। व्यवहारमें जो विशेषरूपसे रंगा हुआ वस्त्र या अनेक रंगोंका चित्रपट अथवा रंग विरंगा पत्र ही जो चित्र कहा जा रहा है, वही विशेषपदार्थ चित्र न हो सकेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार शंकाकारका कहना प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि विभिन्न दूसरी जातिवाले चित्र पदार्थके सिद्ध हो चुकनेपर उससे विशेष चित्रित पदार्थकी पृथक्भाव कल्पना कर व्यवहारी मनुष्य विशेष विशेष प्रयोजनोंका साधक होनेसे उन अर्थोंमेंसे किसीको यह एक है, और किन्हींको ये अनेक हैं, इस प्रकार कह देता है।

भावार्थ—जगत्के सम्पूर्ण पदार्थ यद्यपि अनेक स्वभाववाले हैं। दही और गुडका मिलकर जैसे तीसरी जातिका स्वाद बन जाता है, हल्दी और चूनाको मिलाकर जैसे तीसरा रंग बन जाता है, इसी प्रकार एक वस्तुमें अनेक स्वभावोंका तादात्म्यसम्बन्ध हो जानेपर तीसरी ही जातिकी वस्तु सिद्ध हो जाती है। अतः इस ढंगसे सम्पूर्ण वस्तु चित्र हैं। फिर भी विशेष प्रयोजनको साधनेवाली होनेसे किसी चित्ररंगवाली या अत्यासन्न अनेक स्वभाववाली वस्तुमें चित्रपनेका व्यवहार किया जाता है। खाते, पीते, खेलते सभी छोकरे प्रायः उपद्रवी होते हैं, तो भी किसी विशेष चंचल लडकेको ही नटखटी कह दिया जाता है। या बुद्धिमान सब जीवोंमेंसे किसी एक विशेष ज्ञानीको बुद्धिमान् मान लिया जाता है। प्रत्येक पदार्थसे अनेक प्रयोजन सध सकते हैं। किन्तु अर्थक्रियाके अभिलाषी जीवको उस वस्तुसे जो विशेष प्रयोजन प्राप्त करना है। तदनुसार एकपना, अनेकपना, चित्रपना, विचित्रपना, व्यवहृतकर लिया जाता है। वस्तुकी पारिणामिक भित्तिपर ही प्रयोजनसाधक व्यवहारोंका अवलम्ब है।

सिद्धेप्येकानेकस्वभावे जात्यंतरे सर्ववस्तुनि स्याद्वादिनां चित्रव्यवहाराहें ततोपोद्धारकल्पनया क्वचिदेकत्रार्थित्वादेकमिदमिति क्वचिदनेकार्थित्वादनेकमिदमिति व्यवहारो जनैः प्रतन्यत इति सर्वत्र सर्वदा चित्रव्यवहारप्रसंगतः क्वचित्पुनरेकानेकस्वभावभावार्थित्वाच्चित्रव्यवहारोपीति नैकमेव किंचिच्चित्रं नाम यत्र नियतं वेदनं स्यात्प्रत्यर्थवशवर्तीति।

एक स्वभाव और अनेक स्वभावोंको धार रही संपूर्ण वस्तुओंके तीसरी जातिवाले अनेकांत आत्मकपनकी सिद्धि हो चुकनेपर यद्यपि संपूर्ण ही वस्तुयें स्याद्वादियोंके यहां चित्रपनेके व्यवहार करने योग्य हैं। फिर भी एक स्वभाववाले और अनेक स्वभाववाले इन दो जातियोंसे निराले तीन जात्यन्तर वस्तुओंसे किसी विशिष्ट वस्तुकी पृथक्भाव–कल्पना करके किसी ही विशेष एक वस्तुमे अभिलाषीपना होनेके कारण यह एक है, इस प्रकार एकपनेका व्यवहार फैल रहा है। और अनेकपनकी अभिलाषा होनेके कारण किन्हीं वस्तुओंमें ये अनेक हैं। इस प्रकारका व्यवहार मनुष्यों करके अधिकतासे विस्तार दिया जाता है। तथा पुनः कहीं अनेक आकारवाली वस्तुमें युगपत् एक स्वभाव और अनेक स्वभावोंके सद्भावकी अभिलाषुकता हो जानेसे चित्रपनेका व्यवहार भी प्रसिद्ध हो रहा है। इस प्रकार सपूर्ण वस्तुओंमें सर्वदा चित्रव्यवहारकी आपत्तिका प्रसंग हो जानेके भयसे हमने यह निर्णीत कर दिया है कि विवक्षावश चित्रपनेकी प्रचुरतासे किसी ही विशेष वस्तुमें चित्रपनेका व्यवहार होता है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि एक ही कोई पदार्थ चित्र कथमपि नहीं है। जिसमें कि नियतरूपसे हो रहा एक ज्ञान प्रत्येक अर्थके अधीन होकर वर्तनेवाला हो सके। यानी चित्र पदार्थ किसी अपेक्षासे अनेक हैं। उनमें एक ज्ञान हो रहा है। यहांतक तेईसवीं वार्तिकका उपसंहार कर दिया है। बहुतोंको जाननेवाला एक ज्ञान हो सकता है।

योगिज्ञानवदिष्टं तद्बह्वाद्यर्थावभासनम् ।
ज्ञानमेकं सहस्रांशुप्रकाशज्ञानमेव चेत् ॥ ३१ ॥
तदेवावग्रहाद्याख्यं प्राप्नुवत् किमु वार्यते ।
न च स्मृतिसहायेन कारणेनोपजन्यते ॥ ३२ ॥
बह्वाद्यवग्रहादीदं वेदनं शाब्दबोधवत् ।
येनावभासनाद्भिन्नं ग्रहणं तत्र नेष्यते ॥ ३३ ॥

यदि वैशेषिक यों कहें कि सर्वज्ञ योगीके ज्ञान समान वह ज्ञान बहु, बहुविध आदि अर्थोंका प्रकाशनेवाला हमने इष्ट किया है । सहस्रकिरणवाले सूर्यके प्रकाश समान एक ज्ञान ही अनेकोंका प्रतिभास कर देता है । इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि तब तो वही अनेकग्राही एक ज्ञान अवग्रह नामको प्राप्त हो रहा संता क्यों रोका जा रहा है ? वैशेषिक यदि यों कहें कि जैसे शब्दजन्यज्ञान शाब्दबोध करनेपर पूर्व पूर्व समयोंके उच्चारित होकर नष्ट होते जा रहे पहिले पहिलेके वर्णोंकी स्मृतिको सहाय पाकर अन्तिम वर्णका हुआ श्रवण ही शाब्दज्ञान करा देता है, उसी प्रकार एक एक ज्ञान द्वारा पहिले देखे गये एक एक अनेक अर्थोंकी स्मृतिया आत्मामें उत्पन्न हो जाती हैं, उन स्मृतियोंकी सहायता पाकर इन्द्रियजन्य अन्तिमज्ञान बहु आदि अनेकोंको जान लेता है । आचार्य कहते हैं कि सो यह वैशेषिकोंका विचार ठीक नहीं है । क्योंकि यह बहु आदिक अर्थोंका अवग्रह आदिकज्ञान शाब्दबोधके समान स्मृतिसहकृत कारणसे नहीं उत्पन्न होता है । जिससे कि अवभास-रूपसे भिन्न ग्रहण वहां इष्ट नहीं ग्रहण किया जाय । भावार्थ—स्मृतिकी अपेक्षासे रहित होकर एक ज्ञान बहु आदिक अर्थोंको जान लेता है ।

यो ह्यनेकत्रार्थेक्षावभासनमीश्वरज्ञानवदादित्यप्रकाशनवद्वाचक्षीत न तु तद्ग्रहणं स्मृतिसहायेनेंद्रियेण जनितं तस्य प्रत्यर्थवशवर्तित्वात् । स इदं प्रष्टव्यः किमिदं बह्वाद्यर्थे अवग्रहादिवेदनं स्मृतिनिरपेक्षिणाक्षेण जन्यते स्मृतिसहायेन वा ? प्रथमपक्षे सिद्धं स्याद्वादिमतं बह्वाद्यर्थावभासनस्यैवावग्रहादिज्ञानत्वेन व्यवस्थापनात् ।

जो नैयायिक या वैशेषिक नियमसे यों बखान करेगा कि युगपत् अनेक पदार्थोंको जाननेवाले ईश्वरज्ञानके समान या सूर्यप्रकाशके समान इन्द्रियजन्य एक ज्ञान भी अनेक अर्थोंमें वर्त जायगा किन्तु उन अनेक पदार्थोंका ग्रहण युगपत् नहीं होगा, क्रमसे होगा । क्योंकि स्मृतिकी सहायताको प्राप्त कर रहीं इन्द्रियोंसे वह ज्ञान उत्पन्न हुआ है । प्रत्येक अर्थके अधीन होकर वर्तनेवाला होनेसे वह ज्ञान एक ही समयमें अनेकोंको नहीं जान सकता है । आचार्य बोलते हैं कि इस प्रकार कह

रहा वह नैयायिक यों पूंछने योग्य है कि भाई बहु, बहुविध आदिक अर्थोंमें वर्त रहा अवग्रह, ईहा आदि स्वरूप यह ज्ञान क्या स्मृतिकी नहीं अपेक्षा रखनेवाली इन्द्रियकरके जाना गया है ? अथवा क्या स्मृतिकी सहायताको धारनेवाली इन्द्रियकरके उत्पन्न किया गया है ? पहिला पक्ष लेनेपर तो स्याद्वादियोंका मत प्रसिद्ध हो जाता है। स्याद्वादसिद्धान्तमें बहु आदिक अर्थोंके ज्ञानको ही अवग्रह, ईहा आदि ज्ञानपनेकरके व्यवस्थित किया है। अर्थात्—स्मृतिकी अपेक्षा नहीं कर इन्द्रियोंसे बहुत, अल्पविध, आदि अनेक अर्थोंका एक ज्ञान हो जाता है। यह बात बालक, पशु, पक्षियोंतकमें प्रसिद्ध है।

द्वितीयकल्पनायां तु प्रतीतिविरोधतः स्वयमननुभूतपूर्वेपि बह्वाद्यर्थेवग्रहादिप्रतीतेः स्मृतिसहायेंद्रियजन्यत्वासंभवात् तत्र स्मृतेरनुदयात् तस्याः स्वयमनुभूतार्थ एव प्रवर्तनादन्यथातिप्रसंगात्। ततो नेदं बह्वाद्यवग्रहादिज्ञानमवभासनाद्भिन्नं शद्बज्ञानवत्स्मृतिसापेक्षं ग्रहणमिति मंतव्यं। यतो युगपदनेकांतार्थे न स्यात्।

दूसरे पक्षकी कल्पना करनेपर तो प्रतीतियोंसे विरोध हो जानेके कारण वह पक्ष ग्राह्य नहीं है। जो अर्थ आजतक पहिले कभी स्वयं अनुभवमें नहीं आये हैं, उन बहु आदिक अर्थोंमें भी उत्पन्न हो रहे अवग्रह आदिक ज्ञानोंकी प्रतीति हो रही है। अपूर्व अर्थोंमें स्मृतिकी सहायता प्राप्त इन्द्रियोंसे जन्यपना तो असम्भव है। क्योंकि उस अदृष्टपूर्व अर्थमें स्मृतिज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती है। कारण कि स्वयं पहिले प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, आदि ज्ञानोंसे अनुभव किये जा चुके अर्थोंमें ही तत् इत्याकारा " वह था " इस विकल्पवाली उस स्मृतिकी प्रवृत्ति मानी गयी है। अन्यथा यानी नहीं अनुभूत किये अर्थमें भी यदि स्मृतिकी प्रवृत्ति मानी जायगी तो अतिप्रसंग हो जायगा। अर्थात्—अनन्त अज्ञात पदार्थोंकी धारणाज्ञान नामक संस्कारके विना भी स्मृति हो जानी चाहिये, जो कि नहीं होती है। तिस कारण सिद्ध हुआ कि यह बहु आदिक अनेक अर्थोंके अवग्रह आदिक ज्ञान प्रत्येक प्रत्येक अर्थमें ज्ञान रूपसे भिन्न नहीं हैं। जिससे कि अनेक अर्थोंमें या अनेक धर्मस्वरूप एक अर्थमें ज्ञप्ति न करा सकें और शद्बजन्य श्रुतज्ञान जैसे संकेत स्मरणकी अपेक्षा सहित हो रहा अर्थोंका ग्रहण है। इसके समान अवग्रह आदि ज्ञान नहीं हैं। अवग्रह आदि तो स्मरणकी अपेक्षा विना ही हो जाते हैं। यह मान लेना चाहिये। ऐसी दशामें अनेक धर्म आत्मक अर्थमें या अनेक अर्थोंमें युगपत् अवग्रह आदिक प्रत्येक ज्ञानकी प्रवृत्ति हो जाती है।

भवतु नामधारणापर्यंतमवभासनं तत्र न पुनः स्मरणादिकं विरोधादिति मन्यमानं प्रत्याह।

उन बहु, बहुविध, आदि अर्थोंमें धारणापर्यन्त यानी अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणातक ज्ञान भले ही हो जाओ, किन्तु फिर स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, आदिक ज्ञान तो उन बहु आदिक

विषयोंमें परस्पर विरोध ठन जायगा। इस प्रकार अपने घरमें मानकर बैठनेवाले प्रतिवादीके प्रति आचार्य महाराज समाधानरूप भाषण करते हैं।

बहौ बहुविधे चार्थे सेतरेऽवग्रहादिकम्।
स्मरणं प्रत्यभिज्ञानं चिंता चाभिनिबोधनम्॥ ३४॥
धारणाविषये तत्र न विरुद्धं प्रतीतितः।
प्रवृत्तेरन्यथा जातु तन्मूलाया विरोधतः॥ ३५॥

बहुत और बहुत प्रकारके तथा उनसे इतर अल्प, अल्पविध आदि अर्थोंमें अवग्रह आदि धारणातक ज्ञान प्रवर्तते हैं। उसी प्रकार बहु आदि बारह प्रकारके अर्थोंमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, व्याप्तिज्ञान, अनुमान, ज्ञान भी वर्तते हैं। धारणाज्ञान द्वारा विषय किये जा चुके उन बहु आदिक अर्थोंमें प्रवर्त रहे स्मरण आदि ज्ञानोंकी प्रतीति हो रही है। कोई विरोध नहीं है। अन्यथा यानी धारणा किये गये बहु आदिक अर्थोंमें यदि स्मृति आदिककी प्रवृत्ति नहीं मानी जायगी तो उन स्मरण आदिको मूलकारण मानकर उत्पन्न हुयी लोकप्रवृत्तिका विरोध हो जावेगा। अर्थात्—स्मृति आदिकके अनुसार बहु आदिक अर्थोंमें कभी भी प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी, किन्तु होती है।

न हि धारणाविषये बह्वाद्यर्थे स्मृतिर्विरुध्यते तन्मूलायास्तत्र प्रवृत्तेर्जातुचिदभावप्रसंगात्। नापि तत्र स्मृतिविषये प्रत्यभिज्ञायास्तत एव। नापि प्रत्यभिज्ञाविषये चिंतायाश्चिंताविषये चाभिनिबोधस्य तत एव प्रतीयते च तत्र तन्मूला प्रवृत्तिरभ्रांता च प्रतीतिरिति निश्चितं प्राक्।

संस्काररूप धारणाज्ञानके विषय हो रहे बहु, बहुविध आदि अर्थोंमें स्मरण हो जाना विरुद्ध नहीं है। यदि धारणाद्वारा जान लिये गये विषयमें स्मृति होना विरुद्ध माना जायगा तो उन विषयोंमें धारणाको मूल कारण मानकर उत्पन्न हुयी प्रवृत्तिके कभी भी नहीं होनेका प्रसंग हो जावेगा। किन्तु धारणामूलक स्मृतिके द्वारा ऋण लेना देना, स्थानान्तरमें जाकर अपने घर लौटना, अन्धेरेमें अपने जीनेपर चढना उतरना, आदि अनेक प्रवृत्तियां हो रहीं देखी जाती हैं और उस स्मरणज्ञानद्वारा जान लिये गये विषयमें प्रत्यभिज्ञानकी प्रवृत्ति होना भी तिस ही कारणसे विरुद्ध नहीं पडता है। अर्थात्—स्मृतिको कारण मानकर उत्पन्न हुये प्रत्यभिज्ञान द्वारा अनेक प्रवृत्तियां हो रहीं दीख रहीं यह मार्ग उस मार्गसे दूर है, यह दूकानदार उस दूकानदारसे अच्छा है, पर्वतमें यह वैसा ही धूआ है, जैसा कि रसोई खानेमें अग्निसे व्याप्त हो रहा देखा था। यह वैसा ही शब्द है, जिसके साथ पहिले संकेत ग्रहण किया था, यह वही गृह है, जिसमें कि हमने कल भी निवास किया था, यह वही स्त्री या पति है इत्यादि। तथा प्रत्यभिज्ञानद्वारा जान लिये गये विषयमें चिन्ताज्ञानकी और

न्ताद्वारा विषय किये गये अर्थमें अनुमानज्ञानकी प्रवृत्ति भी तिस ही कारणसे विरुद्ध नहीं है। न ज्ञेय विषयोंमें व्याप्तिज्ञानरूप चिन्ताकी प्रतीति हो रही है। जहां धूआ होता है वहां अग्नि होती है, ो कृतक है, वह अनित्य है, इत्यादि व्याप्तिज्ञान प्रत्यभिज्ञेय विषयमें प्रतीत हो रहे हैं। और तिज्ञानसे जाने जा चुके विषयमें यह पर्वत अग्निमान् है, यह घट अनित्य है, इत्यादिक अनुमान न हो रहे देखे जाते हैं। और इन पूर्वके ज्ञानोंको मूल कारण मानकर उत्पन्न हुई प्रवृत्तियां निर्णीत ो रही हैं। प्रत्यभिज्ञान, तर्कज्ञान, स्वार्थानुमान ज्ञानोंद्वारा सोपानपर चरण रखना, भले बुरे मनुष्यका परिचय करना, पर्वतमेंसे अग्नि लाना, आदि प्रवृत्तियां अभ्रान्त होकर प्रतीत की जा रही हैं। इस को हम पहिले प्रकरणोंमें निश्चित कर चुके हैं। यहांतक बहु, बहुविध, दोनोंका विचार कर दिया है।

क्षणस्थायितयार्थस्य निःशेषस्य प्रसिद्धितः।
क्षिप्रावग्रह एवेति केचित्तदपरीक्षितम् ॥ ३६ ॥
स्थास्नूत्पित्सुविनाशित्वसमाक्रान्तस्य वस्तुनः।
समर्थयिष्यमाणस्य बहुतोबहुतोग्रतः ॥ ३७ ॥

अत्र यहां बौद्धोंका पूर्वपक्ष है कि सम्पूर्ण घट, पट, आकाश, आत्मा, आदिक अर्थोकी एक क्षणतक ही स्थायीपनेकरके प्रसिद्धि हो रही है। इस कारण शीघ्र अवग्रह ही होना तो ठीक है। किन्तु अक्षिप्र अवग्रह किसीका नहीं हो सकता है। कारण कि एक क्षणसे अधिक कालतक कोई भी पदार्थ नहीं स्थिर रहता है। इस प्रकार कोई क्षणिक वादी विद्वान् कह रहे हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि उनका वह कहना परीक्षा किया गया नहीं है। क्योंकि स्थिति स्वभावसहितपन, और उत्पत्तिकी ठेवसे युक्तपन, तथा विनाशशीलका धारीपन, इन तीन धर्मोसे चारों ओर घेर ली गयी वस्तुका बहुत बहुत युक्तियोंसे अग्रिम ग्रन्थमें समर्थन करनेवाले हैं। अर्थात्—वस्तु कालान्तर तक ठहरती हुयी ध्रुवरूप है। सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे एक एक पर्याय भले ही क्षणतक ठहरे किन्तु व्यवहार नय या सकलादेशी प्रमाणद्वारा वस्तु अधिक कालतक ठहरती हुयी जानी जा रही है। अतः ध्रुवरूपसे वस्तुके अवग्रह, ईहा आदि ज्ञान हो सकते हैं।

कौटस्थ्यात्सर्वभावाना परस्याभ्युपगच्छतः।
अक्षिप्रावग्रहैकांतोप्येतेनैव निराकृतः ॥ ३८ ॥

इस उक्त कथनद्वारा सम्पूर्ण पदार्थोको कूटस्थ नित्य माननेवाले विद्वान्का भी निराकरण कर दिया गया समझलेना चाहिये। कारण कि सम्पूर्ण पदार्थ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, इन तीन भावोंसे युगपत् समारूढ हो रहे हैं। अतः सम्पूर्ण पदार्थोको कूटस्थ नित्यपना होनेके कारण अक्षिप्र अवग्रहको ही चारों ओर स्वीकार कर रहे, दूसरे कापिल विद्वान्का अक्षिप्र अवग्रह एकान्त

आदिक ज्ञान होना असिद्ध ही है। क्योंकि विरोध है। यानी जो प्राप्यकारी हैं, वे अनिसृत अनुक्तको नहीं जान सकते हैं। और जो पदार्थ (इन्द्रिया) अनिसृत अनुक्त अर्थोंको जान रहे हैं, वे सम्बन्धी विषयोंको प्राप्त कर प्राप्यकारी नहीं बन सकते हैं। हाथीका पूरा शरीर जब जलसे निकला ही नहीं है, तो उसका स्पर्शन आदि इन्द्रियोंसे ज्ञान भला कैसे हो सकता है ? जो वक्ताके मुखसे कहा गया पदार्थ नहीं है, उसका चार इन्द्रियोंसे कथमपि ज्ञान नहीं हो पावेगा। यदि फिर भी जैन उन अनिसृत अनुक्त अर्थोंके अवग्रह आदिक ज्ञान हो जानेकी उपपत्ति करेंगे तो वे चार इन्द्रिया चक्षुके समान प्राप्यकारी नहीं हो सकेंगी। यानी चक्षुके समान चार इन्द्रिया भी अप्राप्यकारी बन जावेंगी। चक्षुका भी अप्राप्यकारित्व यही है कि चक्षुको दूरवर्ती अप्राप्त अर्थके परिच्छेद करनेका हेतुपना है। और वह अप्राप्यकारीपना अनिसृत अनुक्त अर्थोंके अवग्रह आदि ज्ञानोंकी कारण हो रही स्पर्शन आदिक इन्द्रियोंके भी बन रहा है। ऐसी दशामें चार इन्द्रियोंको भी अप्राप्यकारीपना प्राप्त होता है, जो कि हम वैशेषिकोंको और तुम जैनोंको भी इष्ट नहीं है। इस प्रकार कोई वृद्ध वैशेषिक कह रहे हैं। अब आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं कि—

तन्नानिसृतभावस्यानुक्तस्यापि च कैश्चन।
सूक्ष्मैरंशैः परिप्राप्तस्याक्षैस्तैरवबोधनात् ॥ ४० ॥

वह किन्हीं विद्वानोंका कहना उचित नहीं है। क्योंकि अनिसृत पदार्थ और अनुक्तपदार्थोंकी भी उनके सूक्ष्म अंशोंकरके कई ओरसे प्राप्तिरूप सम्बन्ध हो जाता है। तभी प्राप्त हो रहे विषयका उन स्पर्शन, रसन, घ्राण, श्रोत्र, इन्द्रियोंकरके अवग्रह आदिरूप ज्ञान होता है। भावार्थ— चार हाथ दूर रखी हुयी अग्निको हम स्पर्शन इन्द्रियसे छूकर जान लेते हैं। यहा अग्निके चारों ओर फैले हुये स्कन्ध पुद्गल उस अग्निके निमित्तसे उष्ण हो गये हैं। अग्निसे जली हुयी लकडी जैसे अग्नि कही जाती है, वैसे ही अभेददृष्टिसे वे उष्णस्कन्ध अग्निस्वरूप माने जाते हैं। अतः सूक्ष्म अंशोंकर विस्तरी हुयी उस चार हाथ दूरकी अग्निको ही छूकर हमने यहासे स्पर्शन किया है। इसी प्रकार दूर कूटी जा रही खटाई या कुटकीका सूक्ष्म अंशोंसे रसना द्वारा संसर्ग होकर ही रासनप्रत्यक्ष हुआ है। तथा इत्रकी शीशीके दूर रहते हुये भी इत्रके पारिणामिक छोटे छोटे अंशोंको नासिका द्वारा प्राप्त कर ही अनिसृतपदार्थकी गन्धको सूंघा जाता है। दूरवर्ती पौद्गलिक शब्दके परिणति द्वारा फैलकर छोटे छोटे अवयवोंकरके कानतक आ जानेपर ही श्रावण प्रत्यक्ष होता है। अतः चार इन्द्रियोंके प्राप्यकारीपनकी रक्षा होते हुए अनिसृत और अनुक्त अर्थोंके अवग्रह आदिक ज्ञान सिद्ध हो जाते हैं। कोई दोष नहीं है। प्रायः सम्पूर्ण पदार्थोंकी पारिणामिक लहरें चारो ओर फैलकर अन्य निकटवर्ती पदार्थोंपर अपने प्रभावोंको डाल देती हैं, जैसे कि चमकदार पदार्थके निमित्तसे उसके निकटवर्ती अनेक पदार्थ चमक जाते हैं। दुर्गन्ध वायुसे चारों ओरके पदार्थ दुर्गन्धित हो

जाते हैं। खिलाडी छोकरोंका सन्निधान होनेपर विद्वान्में कुछ गम्भीरताकी त्रुटि होकर लडकपन आ जाता है। साथमें विद्वान्के संसर्गसे छोकरोंमें भी कुछ गम्भीरता आ जाती है।

निसृतोक्तमथैवं स्यात्तस्येत्यपि न शंक्यते।
सर्वाप्राप्तिमपेक्ष्यैवानिसृतानुक्ततास्थितेः ॥ ४१ ॥

अब वैशेषिक पुनः कटाक्ष करते हैं कि इस प्रकार कहनेपर तो उस वस्तुका ज्ञान निसृत और उक्त ही हुआ। अर्थात्—इन्द्रियोंद्वारा जब सूक्ष्म अंश सम्बन्धित कर लिये गये हैं, तब तो वह ज्ञान निसृत और उक्त अर्थका ही कहा गया। इसपर आचार्य कहते हैं कि यों भी शंका नहीं करनी चाहिये। कारण कि सम्पूर्ण अंशोंकी अप्राप्तिका विचार कर ही अनिसृतपन और अनुक्तपनकी व्यवस्था की गयी है। भावार्थ—भले ही वस्तुके थोडे अंश निकल गये होंय या अभिप्रायसे कुछ शब्दोंके अंश कह दिये गये होंय फिर भी सम्पूर्ण अंशोंके नहीं निकलने और कहनेकी अपेक्षासे वह अनिसृत और अनुक्तका ज्ञान व्यवहृत हो जायगा। मुनियोंके सदृश अल्प क्रियाओंके पालते हुये भी कोई गृहस्थ मुनि नहीं कहा जा सकता है।

न हि वयं कार्त्स्न्येनाप्राप्तिमर्थस्यानिसृतत्वमनुक्तत्वं वा ब्रूमहे यतस्तदवग्रहादिहेतोरिंद्रियस्याप्राप्यकारित्वमायुज्यते। किं तर्हि। सूक्ष्मैरवयवैस्तद्विषयज्ञानावरणक्षयोपशमरहितजनावेद्यैः कैश्चित् प्राप्तानवभासस्य चानिसृतस्यानुक्तस्य च परिच्छेदे प्रवर्तमानमिंद्रियं नाप्राप्यकारि स्याच्चक्षुष्येवमप्राप्यकारित्वस्याप्रतीतेः।

हम स्याद्वादी विद्वान् सम्पूर्णरूपसे प्राप्ति नहीं होनेको अर्थका अनिसृतपना अथवा अनुक्तपना नहीं कह रहे हैं। जिससे कि सूक्ष्म अंशोंसे सम्बद्ध हो रहे भी किन्तु पूर्ण अवयवोंसे नहीं प्राप्त हो रहे उन अर्थोंके अवग्रह आदि ज्ञानोंकी कारण हो रही स्पर्शन आदिक इन्द्रियोंको अप्राप्यकारीपनका आयोजन किया जाय। तो हम क्या कहते हैं ? सो सुनो। उन सूक्ष्म अवयवोंको विषय करनेवाले ज्ञानावरण क्षयोपशमसे रहित हो रहे जीवोंकरके नहीं जानने योग्य ऐसे कितने ही छोटे छोटे अवयवोंद्वारा प्राप्त हो रहे भी और अबतक नहीं प्रतिभास किये गये अनिसृत और अनुक्त अर्थके परिच्छेद करनेमें प्रवर्त रहीं इन्द्रिया अप्राप्यकारी नहीं हो सकेंगी। क्योंकि चक्षुमें इस प्रकारका अप्राप्यकारीपना नहीं प्रतीत हो रहा है। अर्थात्—सूक्ष्म और स्थूल अंश या मूलपदार्थके साथ सभी प्रकार सम्बन्ध न होनेपर चक्षु असम्बद्ध अर्थको जानती है। अतः चक्षुमें अप्राप्यकारीपन है। सूक्ष्म अंशोंसे प्राप्ति होकर पदार्थ ज्ञान कराते हुये कल्पित कर लिया गया अप्राप्यकारीपना चक्षुमें नहीं है। किन्तु प्रकरणमें सूक्ष्म अवयवोंसे प्राप्ति होकर स्पर्शन आदि इन्द्रियोंसे अनिसृत अर्थका अवग्रह किया गया है। अतः चार इन्द्रिया अप्राप्यकारी नहीं हो सकती हैं। वे सूक्ष्म अवयव

सभी सामान्य जीवोंकरके नहीं जाने जाते हैं। अतः अनिसृत या अनुक्त अर्थका वह अवग्रह किसी विशिष्ट ज्ञानीके माना गया है।

कथं तर्हि चक्षुरनिंद्रियाभ्यामनिसृतानुक्तावग्रहादिस्तयोरपि प्राप्यकारित्वप्रसंगादिति चेन्न, योग्यदेशावस्थितेरेव प्राप्तेरभिधानात्। तथा च रसगंधस्पर्शानां स्वग्राहिभिरिंद्रियैः स्पृष्टिबंधस्वयोग्यदेशावस्थितिः शब्दस्य श्रोत्रेण स्पृष्टिमात्रं रूपस्य चक्षुषाभिमुखतयानतिदूरास्पृष्टतयावस्थितिः।

पुनः वैशेषिक कटाक्ष करते हैं कि तो तुम जैन विद्वान् बताओ कि चक्षु और मनकरके भला अनिसृत और अनुक्त अर्थके अवग्रह आदिक ज्ञान कैसे हो सकेंगे ? क्योंकि यों तो उन चक्षु और मनको भी प्राप्यकारीपनका प्रसंग हो जावेगा। अर्थात्—सूक्ष्म अवयवोंके साथ प्राप्ति की विवक्षा करनेपर तो चक्षु और मनद्वारा अवग्रहीत अर्थकी भी कुछ कुछ प्राप्ति हो जाती है, जो कि जैनोंको अभीष्ट नहीं है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो कटाक्ष नहीं करना। क्योंकि योग्यदेशमें अवस्थित हो जानेको ही यहां प्राप्तिपदसे कहा गया है। अवग्रहका लक्षण " इन्द्रियार्थसमवधानसमनन्तरसमुत्थसत्तालोचनान्तरभावी सत्तावान्तरजातिविशिष्टवस्तुग्राहीज्ञानविशेषोऽवग्रहः " ऐसा न्यायदीपिकामें कहा है। " विषयविषयिसन्निपातसमनन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः " यह राजवार्तिकमें लिखा है। यहां इन्द्रिय और अर्थोंका योग्य देशमें स्थित रहना प्राप्ति माना गया है। पदार्थके दूर रहते हुये भी चक्षु और मनका योग्यदेशपना बन जाता है। किन्तु शेष चार इन्द्रियोंका अर्थसे सम्बन्ध हो जानेपर ही योग्यदेश अवस्थान बन सकता है। और तैसा होनेपर रस गंध और स्पर्शोकी अपने अपनेको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोंकरके स्पर्श कर और बन्ध होकर सम्बन्ध हो जानेपर अपने योग्य देश अवस्थिति बनजाती है। हां, शद्बकी योग्य देश अवस्थिति तो श्रोत्र इन्द्रियके साथ केवल स्पर्श हो जानेपर ही मिल जाती है। तथा चक्षुके साथ रूपकी योग्य देश अवस्थिति तो अभिमुखपने करके और अधिक दूर या अतिनिकट नहीं होकर स्पर्श नहीं करती हुयी अवस्थिति होना है। अर्थात्—रस, गन्ध और स्पर्शको तो सम्बंध कर और घुल जाना रूप बन्ध हो जानेपर, स्पर्शन, रसना, नासिका, इन्द्रियोंकरके जानलिया जाता है। किन्तु शद्बका केवल कानसे छूजानेपर ही अवग्रह करलिया जाता है। हां, चक्षुके साथ विषयके छूजाने और बंधजानेकी आवश्यकता सर्वथा नहीं है। फिर भी इतनी सामग्री अवश्य चाहिये कि दृष्टव्य पदार्थ चक्षुके सन्मुख होय पीछे की ओरके विमुख पदार्थको चक्षु नहीं देख पायेगी। अधिक दूरके वृक्ष, सुमेरु या अतिनिकटवर्ती अंजन, पलक, तिलको भी चक्षु नहीं देख सकती है। अतः योग्य देशमें अवस्थित हो रहे पदार्थको देखनेवाली आंख अप्राप्यकारी मानी जाती है। स्पर्शन आदि चार इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं।

सा च यथा सकलस्य वस्त्रादेस्तथा तदवयवानां च केषांचिदिति तत्परिच्छेदिना चक्षुषाऽप्राप्यकारित्वमुपढौकते ।

और वह योग्य देशकी अवस्थिति जैसे सम्पूर्ण निकले हुये वस्त्र, हाथी आदि अर्थोके निःसृत ज्ञानमें सम्भवती है, उसी प्रकार उन वस्त्र, हाथी आदिके टुकडे सूत, सूंड, आदिक कितने ही अवयवोंके निकलनेपर अनिःसृत ज्ञानमें भी पायी जाती है । इस प्रकार कुछ अवयवोंको देखकर उन अवयवियोंका परिच्छेद करनेवाली चक्षुकरके अप्राप्यकारीपना प्रसिद्ध हो जाता है । यह चक्षुद्वारा अनिसृतका अवग्रह है और पदार्थोको बखान बखान कर दिखानेके अवसरपर कुछ अर्थोका कथन नहीं होनेपर भी अभिप्रायद्वारा चक्षुसे अनुक्तका अवग्रह हो जाता है । प्रतिभाशाली विद्वान् अनिःसृत और अनुक्त सुख, दुःख इच्छाओंका मन इन्द्रियसे अवग्रह कर लेते हैं । बाजा बजनेसे राग पहचान लिया जाता है ।

स्वस्मिन्नस्पृष्टानामबद्धानां च तदवयवानां कियतां चित्तेन परिच्छेदनात् तावता चानिसृतानुक्तावग्रहादिसिद्धेः किमधिकेनाभिहितेन ।

स्पष्ट बात यह है कि अपनेमें नहीं छूरहे और बन्धको नहीं प्राप्त हो रहे उस विषयी अवयवी तथा उसके कितने ही एक अवयवोंका उस चक्षुकरके परिच्छेद हो जाता है । बस, तितने से ही अनिसृत, अनुक्त अर्थोंके चक्षु और मनकरके अवग्रह आदिक प्रसिद्ध हो जाते हैं । अधिक बढाकर कहनेसे क्या लाभ है ? अर्थात्—इस विषयमें अधिक कहना व्यर्थ है । " पुट्ठं सुणोदि सद्दं अपुट्ठं पुणवि पस्सदे रूवं । गंधं रसं च पासं पुट्ठं बद्धं विजाणादि " यह सिद्धान्त सोलहो आना पक्का है । यहांतक अनिःसृत और अनुक्तका विचार हो चुका है ।

ध्रुवस्य सेतरस्यात्रावग्रहादिर्न बाध्यते ।
नित्यानित्यात्मके भावे सिद्धिः स्याद्वादिनोंजसा ॥ ४२ ॥

पदार्थोको एकान्तरूपसे अध्रुव अथवा ध्रुव ही कहनेवाले वादियोंके प्रति आचार्य महाराज कहते हैं कि इस प्रकरणमें ध्रुव पदार्थके और इतर सहितके यानी अध्रुव पदार्थके हो रहे अवग्रह आदिक ज्ञान बाधित नहीं हो पाते हैं । क्योंकि स्याद्वादियोंके यहां निर्दोषरूपसे नित्य, अनित्य, आत्मक पदार्थोमें ज्ञप्ति हो रही है । अर्थात् कथंचित् नित्यकी अपेक्षा होनेपर अर्थको उतनांका उतना ही जानता हूं, कमती बढती नहीं जानता हूं, इस प्रकार पहिलेके ग्रहणसमान ध्रुवरूपसे यथावस्थित अर्थको जान लेता है । इसमें धारावाहिकज्ञान होनेकी शंका नहीं करना । क्योंकि अंश, उपांशोंसे अर्थोको निश्चल जान रहा जीव अपूर्व अर्थको ही जान रहा है । तथा संक्लेश और विशुद्धि परिणामोंसे सहकृत हो रहा जीव कथंचित् अनित्यपनकी विवक्षा करनेपर पुनः पुनः न्यून, अधिक, इस प्रकार अध्रुव वस्तुका परिज्ञान करता है । यह बालवृद्ध नारीजनोंतकमें प्रसिद्ध हो

रहा है। ध्यानी पुरुषको मन इन्द्रियद्वारा ध्रुव, अध्रुवका ज्ञान विशदरूपसे अनुभूत है। बालकोंको अनेक पदार्थोंके रासनप्रत्यक्षमें ध्रुव, अध्रुवके ज्ञानका प्रकृष्ट, अप्रकृष्टरूपसे अनुभव है।

यदि कश्चिद्ध्रुव एवार्थः कश्चिदध्रुवः स्यात्तदा स्याद्वादिनस्तत्रावग्रहावबोधमाचक्षाणस्य स्वसिद्धांतबाधः स्यान्न पुनरेकमर्थं कथंचिद्ध्रुवमध्रुवं चावधारयतस्तस्य सिद्धांते सुप्रसिद्धत्वात् स तथा विरोधी बाधक इति चेत् न, तस्यापि सुप्रतीते विषयेऽनवकाशात्। प्रतीतं च सर्वस्य वस्तुनो नित्यानित्यात्मकत्वात्। प्रत्यक्षतोनुमानाच्च तस्यावबोधादन्यथा ज्ञातुचिदप्रतीतेः।

हां, यदि कोई पदार्थ तो ध्रुव ही होता और कोई पदार्थ अध्रुव ही होता तब तो उस ध्रुव एकान्त या अध्रुवएकान्त पदार्थमें अवग्रह ज्ञानको बखान रहे स्याद्वादीके यहां अपने अनेकान्त सिद्धान्तसे बाधा उपस्थित होती। किन्तु जब फिर एक ही पदार्थको किसी अपेक्षासे ध्रुवस्वरूप और अन्य सम्भावनीय अपेक्षासे अध्रुवस्वरूप अवधारण करा रहे उस अनेकान्तवादीके सिद्धान्तमें नित्य, अनित्यस्वरूप अर्थकी अच्छी प्रमाणोंसे सिद्धि हो रही है, ऐसी दशामें कोई आपत्ति नहीं उपस्थित हो सकती है। यहां क्षणिकवादी या नित्यवादी यदि यों कहें कि तिस प्रकार वस्तुके ध्रुव, अध्रुवस्वरूप माननेपर तो वह प्रसिद्ध हो रहा विरोध दोष बाधक खडा हुआ है। सुमेरु पर्वत स्थिर है तो वह चंचल नहीं हो सकता है। मेघ, बिजली या हाथीका कान चंचल हैं तो वे स्थिर नहीं कहे जा सकते हैं। सहानवस्थान नामक विरोध दोष आता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार एकान्तियोंका कहना तो ठीक नहीं है। क्योंकि अच्छे प्रमाणोंसे प्रतीत हो रहे विषयमें विरोधदोषका अवकाश नहीं है। सुमेरु पर्वत भी सूक्ष्म पर्यायदृष्टिसे विचारनेपर अस्थिर प्रतीत हो जाता है। वृक्षोंके कपनेसे या प्रतिक्षण असख्यात स्कन्धोंके आने जानेसे तथा शिला, मिट्टी आदिमें मन्द मन्दक्रिया हो जानेसे सुमेरुमें भी सूक्ष्म सकंपपना प्रसिद्ध है। जैसे लकडी नम जाती है, वैसे ही शिला भी नम्र हो जाती है। आठ हाथ चौडे घर की छत पर पाटनेके लिये ठीक ठीक दोनों ओर की ऊंचाईपर पटिया धर दी जाय फिर एक ओरकी भींत पर पटियाका शिरा दबा कर दूसरी ओरकी भींत परसे पटियाके नीचेकी एक ईंटका परत निकाल लिया जाय तो ऐसी दशामें पटियाका पायिता एक सूत झुक जायगा। बात यह है कि लोहा, चांदी, सोना, रांगा, घृत, तैल, दूध, जल, इन पदार्थोंमें द्रवपना (पतला होकर बहना) अधिक है। और पत्थरमें अत्यल्प द्रवत्व है। पत्थरकी शिला यदि कुछ दूर तक तिरक जाय तो तिरकनकी कमती बढती कुछ दूरतक चली गयी। चौडाई ही इस सिद्धान्तकी साक्षी है कि अधिक चौडे खाली स्थानके निकटवर्ती पाषाण स्कन्ध सकम्प होकर इस ओर उस ओर हो गये हैं। तथा कुछ आगेके शिलाप्रदेश थोडा द्रवत्व होनेसे न्यून फट पाये हैं। जब कि उससे कुछ आगेके शिलाप्रदेश सर्वथा कम्प नहीं होनेसे जुडे हुये हैं। मन्दिरके ऊपर लगी हुयी ध्वजाके समान

मोटा कंपना नहीं होनेके कारण अथवा पिघले हुये घी या तेलके समान व्यक्त बहना नहीं होनेके कारण सुमेरुपर्वतको अकम्प या दृढ कह दिया जाता है। हाथीका कान या बिजली भी अपने अवयवोंमें स्थिर होकर वर्त रही हैं। अथवा कुछ कालतक तो वे चंचल माने गये पदार्थ भी स्थिर रहते हैं। पदार्थको आत्मलाभके लिये कुछ समय तो चाहिये। शरीरकी हड्डीमें स्थिर कर्मके उदय और रक्तमें अस्थिर नामकर्मका विपाक माना गया है। किन्तु हड्डीमें भी अस्थिर कर्मका और रक्तमें भी स्थिरकर्मका विपाक प्रभाव डालरहा समझ लेना चाहिये। सूक्ष्मरूपसे हड्डी भी चंचल होती रहती है। लोहू भी कुछ देरतक एकस्थानपर ठहर जाता है। कभी कभी चोट लगनेपर या वातव्याधि हो जानेपर हड्डी चंचल हो जाती है। विशेष रोगमें रक्त भी कैई स्थानोंपर जम जाता है। पहिले कहा चुका है कि बहुत वेगसे दौडनेवाली डाकगाडी भी लोह पटरीके प्रदेशोंपर ठहरती हुयी जा रही है। अन्यथा उस डाक गाडीसे भी अधिक शीघ्र दौडनेवाले वायुयानकी अपेक्षा गमनका अन्तर नहीं निकाला जा सकेगा। चलते हुये कच्छपकी गतिमें मध्यमें स्थिरता होनेपर ही हिरणकी गतिसे अन्तर पड सकता है। घडीकी छोटी सुई और बडी सूई सदा चलती रहती हैं। फिर भी बडी सूईकी द्रुतगतिसे छोटी सूईका मध्यमें ठहर ठहरकर चलना प्रतीत हो जाता है। शीघ्र गति और मन्द गतिमें अन्तर पड जानेकी इसके अतिरिक्त और क्या परिभाषा हो सकती है ? चलती हुई रेलगाडीमें बैठा हुआ मनुष्य चल भी रहा है। अन्यथा गिर जानेपर उसके दौडते हुये मनुष्यकी चोट समान चोट कैसे आ जाती है ? सिद्धान्त यह है कि प्रायः सभी पदार्थ स्थिर, अस्थिररूप प्रतीत हो रहे हैं जब कि सम्पूर्ण वस्तुओंको नित्य, अनित्य आत्मकपना प्रतीत हो रहा है, तो विरोधदोषकी सम्भावना नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण और अनुमानसे उन ध्रुव, अध्रुवस्वरूप वस्तुओंका चारों ओरसे ज्ञान हो रहा है। अन्यथा यानी एकान्त रूपसे ध्रुव या केवल अध्रुव हो रही वस्तुकी कभी भी प्रतीति नहीं होती है। इस कारण ध्रुव अध्रुव पदार्थके अवग्रह आदिक ज्ञान हो जानेमें कोई बाधा उपस्थित नहीं हो पाती है।

परमार्थतो नोभयरूपतार्थस्य तत्रान्यतरस्वभावस्य कल्पनारोपितत्वादित्यपि न कल्पनीयं नित्यानित्यस्वभावयोरन्यतरकल्पितत्वे तदविनाभाविनोपरस्यापि कल्पितत्वप्रसंगात्। न चोभयोस्तयोः कल्पितत्वे किंचिदकल्पितं वस्तुनो रूपमुपपत्तिमनुसरति यतस्तत्र व्यवतिष्ठते वायमिति तदुभयमंजसाभ्युपगंतव्यम्।

कोई एकान्तवादी बहक कर यदि यों कहें कि वास्तविकरूपसे पदार्थका ध्रुव, अध्रुव दोनों स्वरूपपना ठीक नहीं है। उन दोनोंमेंसे एक ध्रुव ही या अध्रुव ही स्वरूपसे वस्तुका तदात्मकपना समुचित है। दोनोंमेंसे शेष बचा हुआ धर्म कल्पनासे आरोप दिया गया है। वस्तुभूत नहीं है। आचार्य कहते हैं कि एकान्तवादियोंको इस प्रकार भी कल्पना नहीं करना चाहिये। क्योंकि नित्य

अनित्यपनारूप दो स्वभावोंमेंसे किसी एक को भी यदि कल्पित माना जायगा तो उसके साथ अविनाभाव रखनेवाले दूसरे नित्यपन या अनित्यपन स्वभावको भी कल्पितपनेका प्रसंग हो जायगा। एक शरीरके धड या शिर को मृत अथवा जीवित मानलेनेपर शेष बचे हुये भागको भी मृत या जीवित मानना अनिवार्य पड जाता है। यदि नैरात्म्यवादी बौद्ध उन दोनों स्वभावोंका कल्पितपना इष्ट करलेंगे तब तो वस्तुका कोई भी रूप अकल्पित होता हुआ सिद्धिका अनुसरण नहीं कर सकता है, जिससे कि किसी भी उस वस्तुमें यह निःस्वभाववादी बौद्ध अपनी व्यवस्था कर सके। अर्थात्—किसी भी पदार्थको यदि मुख्य अकल्पित या अपने स्वभावोंमें व्यवस्थित नहीं माना जायगा तो सम्पूर्ण भी जगत् कल्पित हो जायगा। ऐसी दशामें बौद्ध अपनी स्वयंकी सिद्धि भी नहीं कर सकेंगे। तिस कारण उन दोनों ध्रुव, अध्रुव स्वरूपोंको बडी सुलभतासे प्रत्येक वस्तुमें निर्दोष स्वीकार करलेना चाहिये। इस प्रकार बहु -आदिक बारह भेदोंके अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणाज्ञान हो जाते हैं। ऐसा शीघ्र निर्णीत करलो।

इस सूत्रका सारांश।

इस सूत्रमें आचार्य महाराजने प्रथम ही अवग्रह आदि क्रियाओंके कर्मोंका निरूपण करनेके लिये सूत्रका अवतार करना सार्थक बताया है। पुनः अवग्रह आदिक प्रत्येक ज्ञानका विषयभूत बहु आदिकसे सम्बन्ध करना कहकर बहु और बहुविध या क्षिप्र और अध्रुवका भेद दिखाया है। निसृत और उक्त भी न्यारे हैं। प्रकृष्ट क्षयोपशमकी अपेक्षा रखनेके कारण बहु आदि छह का कण्ठोक्त निरूपण कर अन्य मन्द क्षयोपशमसे ही हो जानेवाले अल्प आदिका इतर पदसे ग्रहण किया है। आगे बहुशब्दकी पूज्यताको अच्छे ढंगसे साधा है। एक ज्ञानद्वारा बहुतसे अर्थ जाने जा सकते हैं। क्षयोपशम या क्षयके अधीन होकर ज्ञान प्रवर्तता है। ज्ञानका अर्थके साथ कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। बहुतोंमें रहनेवाला बहुत धर्म भी व्यक्ति अपेक्षा अनेक हैं। यहां अच्छा विचार चला है। प्रत्येक अर्थमें एक एक ज्ञानका उपप्लव करना ठीक नहीं है। चित्रज्ञान, नगरज्ञान, प्रसादज्ञान ये सब अनेकोंमें एक ज्ञान हो रहे हैं। कथंचित् एक, अनेकस्वरूप पदार्थको चित्र कहा जा सकता है। गुणमें अनेक स्वभाव ठहरते हैं। हां, गुणमें पुनः दूसरे गुण नहीं निवास करते हैं। प्रतिनियत अनेक स्वभाव तो सर्वत्र व्याप रहे हैं। प्रतीत सिद्ध पदार्थमें कोई विरोध दोष नहीं आता है। मानव शरीरमें रक्त, अस्थि, मल, मूत्र आदि अशुद्ध पदार्थ भरे हुये हैं। फिर भी आत्माके सदाचारकी अपेक्षा पवित्रभाव व्यवस्थित हैं। सम्पूर्ण पदार्थोंके अनेक स्वभाववाले सिद्ध हो जानेपर भी जैनोंके यहां किसी विशेषपदार्थमें चित्रपनेका व्यवहार भले प्रकार साध दिया है। सर्वज्ञज्ञान या सूर्यप्रकाशके समान ज्ञान भी अनेक अर्थोंको विषय कर सकता है। बहु आदिकोंमें अवग्रह आदिके समान स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, आदि ज्ञान भी हो जाते हैं। क्योंकि तदनुसार प्रवृत्तियां होती देखी जाती हैं।

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यस्वरूप पदार्थोंमें क्षिप्र, अक्षिप्र, अवग्रह, सब हो जाते हैं। प्राप्यकारी चार इन्द्रियों द्वारा अनिसृत, अनुक्तका अवग्रह युक्तियोंसे साध दिया है। अनेक पदार्थोंके सूक्ष्मरूपसे नैमित्तिक परिणमन कुछ दूरतक फैल जाते हैं। चक्षु और मन अप्राप्य अर्थको विषय करते हैं। कर्ण इन्द्रिय छूये हुये शद्बको सुनती है, तथा स्पर्शन, रसना, घ्राण, इन्द्रिया चुपटकर बंध गये हुये अर्थोंको जानती हैं। नित्य अनित्य स्वरूप पदार्थोंमें ध्रुव, अध्रुवसे अवग्रह आदिक ज्ञान हो जाते हैं। सर्वत्र " अनेकान्तो विजयतेतराम् " का दुन्दुभिनिनाद बज रहा है। वस्तु अपने नियत अनेक स्वभावोंमें तदात्मक होकर किलोलें कर रही है। भद्रमास्तां।

बह्वादिसेतरविशेषविवर्तमानधर्म्यात्मधर्मविषयेषु सवित्समाप्तं।
स्तादृद्वादशस्वखिलमद्रमिवात्रमास्तु कौटस्थ्य नाश्वरनिषेधिमतिप्रमाणं ॥ १ ॥

——×——

बहु, बहुविध आदिक धर्मोंके आधारभूत धर्मीको समझानेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रका प्रतिपादन करते हैं।

अर्थस्य ॥ १७ ॥

वे अवग्रह आदिक ज्ञानोंके विषय हो रहे बहु आदिक धर्म अर्थके हैं। अथवा बहु आदिक विशेषणोंसे सहित हो रहे अर्थ (वस्तु) के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ज्ञान हो जाते हैं। स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, आदिक ज्ञान भी अर्थके ही होते हैं।

किमर्थमिदं सूत्र्यते सामर्थ्यासिद्धत्वादिति चेदत्रोच्यते।

यह सूत्र किस प्रयोजनके लिये बनाया जा रहा है। क्योंकि बहु आदिक धर्मोंके कथन कर देनेकी सामर्थ्यसे ही धर्मवाला अर्थ तो स्वतः प्रतीत सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार किसी शंकाकारका चोद्य उठाने पर तो इसके उत्तरमें यहां श्रीविद्यानंद आचार्य द्वारा यों कहा जाता है।

ननु बह्वादयो धर्माः सेतराः कस्य धर्मिणः।
तेऽवग्रहादयो येषामित्यर्थस्येति सूत्रितम् ॥ १ ॥

शंका हो सकती है कि अल्प, अल्पविध, आदि इतरोंसे सहित हो रहे बहु, बहुविध आदिक धर्म किस धर्मीके हैं ? जिन बहु आदिकोंके कि वे अवग्रह आदिक चार ज्ञान हो सकें। इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर " अर्थस्य " ऐसा यह सूत्र आचार्यप्रवर श्री उमास्वामी महाराजद्वारा कहा गया है। भावार्थ—जो कोई धर्मीको न मानकर अकेले धर्मोंको ही ज्ञानके विषय हुये

स्वीकार करते हैं, जैसे कि रूप रस तो हैं, किंतु पुद्गलद्रव्य कोई धर्मी नहीं है, ज्ञान, सुख तो हैं आत्मा नहीं है, उन वादियोंके निराकरणार्थ " अर्थस्य " यह सूत्र कहा गया है।

न कश्चिद्धर्मो विद्यते बह्वादिभ्योन्योऽनन्यो वानेकदोषानुषंगात्तदभावे न तेपि धर्माणां धर्मिपरतंत्रलक्षणत्वात्स्वतंत्राणामसंभवात्। ततः केषामवग्रहादयः क्रियाविशेषा इत्याक्षिपंतं प्रतीदमुच्यते। अर्थस्याबाधितप्रतीतिसिद्धस्य धर्मिणो बह्वादीनां सेतराणां तत्परतंत्रतया प्रतीयमानानां धर्माणामवग्रहादयः परिच्छित्तिविशेषास्तदेकं मतिज्ञानमिति सूत्रत्रयेणैकं वाक्यं चतुर्थसूत्रापेक्षेण वा प्रतिपत्तव्यं।

बौद्ध कटाक्ष करता है, बहु, बहुविध आदि धर्मोंसे सर्वथा भिन्न अथवा अभिन्न कोई धर्मी पदार्थ विद्यमान नहीं है। क्योंकि अनेक दोषोंके आनेका प्रसंग होगा। धर्मीसे धर्मका सर्वथा भेद माननेपर " इस धर्मीके ये धर्म हैं " ऐसा नियत व्यपदेश नहीं हो सकेगा। जलका धर्म उष्णता और अग्निका धर्म शीतपना बन बैठेगा। कौन रोक सकेगा तथा धर्मीका धर्मोसे अभेद माननेपर धर्मोंके समान धर्मी भी अनेक हो जायंगे। अथवा एक धर्मीके समान अनेक धर्म भी एक बन बैठेंगे। ऐसी दशामें भी धर्मी स्वतत्र सिद्ध नहीं हो सकता है। तथा उस धर्मीका अभाव हो जानेपर उसके आश्रित रहनेवाले वे धर्म भी नहीं सिद्ध होते हैं। क्योंकि धर्मीके पराधीन होकर रहना धर्मोका लक्षण है। सभी धर्म धर्मीके पराधीन ठहरते हैं। स्वतंत्र रहनेवाले धर्मोका असम्भव है, तिस कारण अब आप जैन बतलाइये कि वे अवग्रह, ईहा, आदिक ज्ञप्तिक्रियाके विशेष हो रहे भला किन विषयोंके हो सकेंगे ? इस प्रकार आक्षेप करते हुये पराधीन बौद्ध विद्वान्के प्रति यह सूत्र श्रीउमास्वामी आचार्य करके कहा जाता है। इधर उधरके पदोंका उपस्कार कर इस सूत्रका अर्थ यों है कि बाधारहित प्रतीतियोंसे सिद्ध हो रहे धर्मीस्वरूप अर्थके बहु आदिक धर्म हैं जो कि अल्प आदि इतरोंसे सहित हो रहे वे बहु आदिक धर्म उस धर्मीके परतंत्रपनेकरके प्रतीत किये जा रहे हैं। उन बहु आदिक बारह धर्मोकी अवग्रह आदि विशेष परिच्छित्तियां हो जाती हैं। तिस कारण वह सब एक मतिज्ञान है। इस प्रकार तीन सूत्रोंके एकावयवीरूपसे एक वाक्य बनाकर एक मतिज्ञानका विधान किया गया समझना चाहिये। अर्थात्—अवग्रहेहावायधारणाः १ बहुबहुविधक्षिप्रानिसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणां २ अर्थस्य ३ इन तीनों सूत्रोंका एकीभाव कर धर्मी अर्थके बहु आदिक धर्मोका अवग्रहज्ञान होता है। ईहा आदिकज्ञान भी होते हैं। अथवा चौथा सूत्र " तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्त " मिलाकर यों शाब्दबोध करना कि अर्थके बहु आदिक धर्मोका इन्द्रिय अनिन्द्रियोंकरके अवग्रहज्ञान होता है। ईहा आदि ज्ञान भी होते हैं अथवा चौथे सूत्र " मतिः स्मृति. संज्ञाचिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् " की अपेक्षा रखते हुए उक्त तीन सूत्रोंद्वारा एक वाक्य बनाने पर यों अर्थ कर लेना कि अर्थके धर्म बहु आदिकोंके अवग्रह आदिक ज्ञान होते हुए स्मृति, प्रत्य-

- भिज्ञान आदि ज्ञान भी हो जाते हैं तथा तीन सूत्रोंके साथ भविष्यके " व्यंजनस्यावग्रहः " इस चौथे सूत्रका योग कर देनेपर यह अर्थ समझ लेना चाहिये कि धर्मी व्यक्त अर्थ और अव्यक्त अर्थके बहु आदिक धर्मोंका अवग्रह हो जाता है। व्यक्त अर्थके धर्मोंके ईहा आदिक या स्मरण आदिक मतिज्ञान भी हो जाते हैं।

कः पुनरर्थो नामेत्याह।

यह सूत्रमें कहा गया अर्थ फिर भला क्या पदार्थ है ? इस प्रकार शिष्यकी प्रतिपित्सा होनेपर श्रीविद्यानन्दी आचार्य उत्तर कहते हैं सो सुनो।

यो व्यक्तो द्रव्यपर्यायात्मार्थः सोत्राभिसंहितः।
अव्यक्तस्योत्तरे सूत्रे व्यंजनस्योपवर्णनात् ॥ २ ॥

द्रव्य और उसके अंशरूप पर्यायोंसे तदात्मक हो रहा जो धर्मी वस्तुभूत व्यक्त पदार्थ है वह इस प्रकरणमें अर्थ शब्दकरके अभिप्रायका विषय हो रहा है। अग्रिम भविष्यसूत्रमें अव्यक्त व्यंजनका निकट ही वर्णन किया जायगा। इस कारण यहां व्यक्तवस्तुको अर्थ कहना अभिप्रेत है।

केवलो नार्थपर्यायः सूरेरिष्टो विरोधतः।
तस्य बह्वादिपर्यायविशिष्टत्वेन संविदः ॥ ३ ॥
तत एव न निःशेषपर्यायेभ्यः पराङ्मुखम्।
द्रव्यमर्थो न चान्योन्यानपेक्ष्य तद्द्वयं भवेत् ॥ ४ ॥

धर्मी अर्थसे रहित केवल अर्थकी पर्यायें स्वरूप ही अर्थ श्री उमास्वामी आचार्यको इष्ट नहीं है, क्योंकि विरोध दोष है। धर्मीके विना केवल पर्यायस्वरूप धर्मोंका ठहरना विरुद्ध है। द्रव्यरूप अंश और पर्यायरूप अंश दोनों भी अंशी वस्तुमें प्रतीत हो रहे हैं। बहु, बहुविध, आदि पर्यायोंसे सहितपनेकरके उस अर्थके सम्वेदन पामर जनोंतकमें प्रसिद्ध हो रहे हैं। तिस ही कारण तो सम्पूर्ण पर्यायोंसे पराङ्मुख हो रहा द्रव्य भी अर्थ नहीं मानना चाहिये। माला एकसौ आठ दानोंसे सहित है और सभी दानोंमें डोराका अन्वय पुवा हुआ है। तथा परस्परमें एक दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखते हुए केवल द्रव्य या अकेले पर्याय ये दोनों भी स्वतंत्ररूपसे अर्थ नहीं हैं। जैसे कि केवल धड या अकेला निरपेक्ष शिर जीवित मानव शरीर नहीं है। परमार्थरूपसे स्वकीय द्रव्य और पर्यायोंके साथ तदात्मक हो रही वस्तु ही अर्थ है।

एवमर्थस्य धर्माणां बह्वादीतरभेदिनाम् ।
अवग्रहादयः सिद्धं तन्मतिज्ञानमीरितम् ॥ ५ ॥

इस प्रकार व्यवस्थित हो रहे अर्थके धर्म बहु आदिक और अल्प आदिक बारह भेदवाले हैं । उन धर्मोके अवग्रह आदिक और स्मृति आदिक ज्ञान होते हैं । तिस कारण युक्तियोंसे सिद्ध हो चुका मतिज्ञान समझा दिया गया है, या कहा जा चुका है ।

न हि धर्मी धर्मेभ्योऽन्य एव यतः संबंधासिद्धिरनुपकारात् तदुपकारे वा कार्यकारणभावापत्तेस्तयोर्धर्मधर्मिभावाभावोऽग्निधूमवत् । धर्मिणि धर्माणां वृत्तौ च सर्वात्मना प्रत्येकं धर्मिबहुत्वापत्तिः एकदेशेन सावयवत्वं पुनस्तेभ्योवयवेभ्यो भेदे स एव पर्यनुयोगोनवस्था च, प्रकारांतरेण वृत्तावदृष्टपरिकल्पनमित्यादिदोषोपनिपातः स्यात् ।

स्याद्वादियोंके यहां अपने निजधर्मोंसे सर्वथा भिन्न ही धर्मी नहीं माना गया है, जिससे कि स्वस्वामिव्यवहारके कारण षष्ठीसम्बन्धकी असिद्धि हो जाय । अर्थात्—धर्म धर्मीके सर्वथा भेद होनेपर इस आम्र फलके ये मीठापन, पीलापन आदि धर्म हैं, और इन मीठापन, पीलापन धर्मोका यह आम्रफल धर्मी है । इस प्रकार नियतसम्बन्धका व्यवहार असिद्ध हो जायगा । भेदवादी नैयायिकोंके यहां धर्म और धर्मीका परस्परमें उपकार नहीं होनेसे उन धर्मधर्मियोंके सम्बन्धकी सिद्धि नहीं हो पाती है । जैसे कि भेद होते हुये भी गुरु और शिष्य या पिता और पुत्रमें परस्पर उपकार हो जानेसे गुरुशिष्य भाव या जन्यजनक भाव सम्बन्ध सध जाता है । यदि नैयायिक उन धर्मधर्मियोंका परस्परमें उपकार मानेंगे तब तो उन धर्मधर्मियोंके कार्यकारणभाव हो जानेका प्रसंग होगा, जैसे कि अग्नि और धूमका कार्यकारणभावसम्बन्ध है । अतः उनमें धर्मधर्मीभाव सम्बन्ध नहीं बन सकेगा अर्थात् समानकालीन पदार्थोंमें होनेवाला धर्मधर्मीभावसम्बन्ध है । किन्तु क्रमसे होनेवाले पदार्थोंमें सम्भव रहा कार्यकारणभाव सम्बन्ध तो उनमें नहीं मानना चाहिये । तथा भेदपक्षमें यह भी दोष है कि धर्मीमें धर्मोकी वृत्ति माननेपर यदि सम्पूर्णरूपसे वृत्ति मानी जायगी तब तो धर्मीके शरीरमें पूरे अंशसे एक एक धर्मके वर्तनेपर धर्मियोंके बहुतपनेका प्रसंग होगा। यानी प्रत्येक धर्म पूरे धर्मीमें समा जायगा तो प्रत्येक धर्मोके ठहरनेके लिये अनेक धर्मी चाहिये । तभी तो पूर्णरूपसे अपनेमें धर्मोको झेल सकेंगे । हां, यदि धर्मीके एक एक देशकरके उन धर्मोकी वृत्ति मानी जाय तो धर्मीके बहुत हो जानेका प्रसंग तो टल जाता है । किन्तु धर्मीको पहिलेसे ही अवयवसहितपनेका प्रसंग होगा, तभी तो उस धर्मीके प्रथमसे नियत हो रहे एक एक देशमें अनेक धर्म रह सकेंगे । फिर उन एक एक देशरूप अवयवोंसे धर्मीका भेद ही माना जावेगा। ऐसी दशा होनेपर पुन. उन अपने नियत अवयवोंमें भी एक देशसे ही अवयवी वर्तेगा और फिर वही अवयवोंमें पूर्णरूपसे या एकदेशसे वर्तनेका प्रश्न उठाया जायगा । इस प्रकार भेदवादीके यहां

धर्मीमें धर्मों या अवयवोंकी वृत्ति मानते मानते अनवस्था हो जायगी। पूर्णरूपसे या एकदेशसे वृत्ति होना नहीं मानकर अन्य प्रकारोंसे वृत्ति माननेपर तो नहीं देखे हुये पदार्थोंकी कल्पना करना ठहरा। धर्मीमें पूर्णरूपसे भी धर्म नहीं रहते हैं। और एकरूपसे भी नहीं रहते हैं, किन्तु रहते ही हैं। यह आग्रह तो ऐसा ही है, जैसे कि कोई यों कहे कि यह पदार्थ जड नहीं है, चेतन भी नहीं है, किन्तु है ही, इत्यादिक अनेक दोषोंका गिरना भेदवादियोंके ऊपर होता है। इस कारण धर्म और धर्मीका सर्वथा भेद नहीं मानकर कथंचिद् भेद मानना चाहिये। धर्मीकी धर्मोंमें वृत्ति माननेपर भी ऐसे ही दोष आते हैं।

नाप्यनन्य एव यतो धर्म्येव वा धर्मा एव। तदन्यतरापाये चोभयासत्त्वं ततोपि सर्वो व्यवहार इत्युपालंभः संभवेत्।

तथा धर्मोंसे धर्मी सर्वथा अभिन्न भी होय यह भी हम जैनोंके यहां नहीं है, जिससे कि अकेला धर्मी ही रहे अथवा अकेले धर्म ही व्यवस्थित रहें। उन दोनों धर्म या धर्मियोंमेंसे एकके भी विश्लेश हो जानेपर दोनोंका भी अभाव हो जावेगा जो अविनाभूत तदात्मक अर्थ हो रहे हैं। उनमेंसे एकका अपाय करनेपर शेष बचे हुये का भी अपाय अवश्यंभावी है। अग्नि और तदीय उष्णतामेंसे एकका भी पृथक्भाव कर देनेपर बचे हुये दूसरेका भी निषेध हो जाता है। तिस कारण सर्वथा अभेद हो जानेसे भी सभीमें धर्मपने या धर्मीपनेका व्यवहार हो जायगा, यह उलाहना देना सम्भव हो जाय। अतः हम स्याद्वादियोंने धर्मधर्मीका सर्वथा अभेद नहीं मानकर कथंचित् अभेद माना है।

नापि तेनैव रूपेणान्यत्वमनन्यत्वं च धर्मधर्मिणोर्यतो विरोधोभयदोषसंकरव्यतिकराप्रतिपत्तयः स्युः।

और हम जैनोंके यहां धर्मधर्मियोंका तिस ही रूपकरके भेद और तिस ही स्वरूपकरके अभेद भी नहीं माना गया है, जिससे कि विरोध दोष, उभयदोष, संकर, व्यतिकरदोष, अप्रतिपत्तिदोष हो जावें। भावार्थ—अनेकान्तवादियोंके ऊपर विना विचारे एकान्तवादियोंने विरोध आदि दोष उठाये हैं। एकान्तवादियोंका कहना है कि जिस ही स्वरूपसे भेद माना जायगा, उस ही स्वरूपसे अभेद माननेपर विरोध आता है। एक म्यानमें दो तलवारोंका रहना विरुद्ध है। १ जब एक ही वस्तुमें भेद, अभेद दोनों धर दिये गये हैं, तो उन दोनोंके अपेक्षणीय धर्मोंका सम्मिश्रण हो जानेसे उभयदोष हो जाता है। खिचडीमें दालका स्वाद चावलोंमें और चावलोंका स्वाद दालमें आ जाता है। भिन्न जातिवाले घोडी और गधेके सम्बन्ध होनेपर उत्पन्न हुये खिच्चरमें उभय दोष है। २ भेद अभेदके न्यारे न्यारे अवच्छेदकोंकी युगपत् प्राप्ति हो जानेसे संकर दोष आता है। ३ परस्पर विषयोंमें गमन हो जानारूप व्यतिकर दोष भी जैनोंके अनेकान्तमें आता है। ४ भेद, अभेद, अंशोंमें पुनः एक एकमें भेद अभेदकी कल्पना करते चले जाओगे, अतः जैनोंके

ऊपर कहीं दूर जाकर भी ठहरना नहीं होनेके कारण अनवस्था दोष लागू होगा ५ जब कि वस्तुमें भाईचारेके नातेसे भेद अभेदके नियामक दोनों धर्म रहते हैं, तो किस धर्मसे भेद माना जाय ? और किससे अभेद माना जाय ? इस प्रकार संशय दोष बना रहेगा ६ ऐसी अव्यवस्थित दशामें वस्तुकी निर्णीतप्रतिपत्ति नहीं हो सकेगी। यह अप्रतिपत्ति दोष हुआ ७ तब तो अनिर्णीत वस्तुका या सुन्द, उपसुन्द न्यायअनुसार दो विरुद्ध धर्मोंके झगडेमें मार डाली जा चुकी वस्तुका अभाव ही कहना पडता है। ८ इन आठ दोषोंकी कथमपि खिचडी या खिचरके समान भेदाभेद उभय आत्मकरूपसे प्रतीत की जा रही वस्तुमें सम्भावना नहीं है। प्रमाणसे जान लिये गये पदार्थमें कोई दोष नहीं आते हैं। यदि वे किसी प्रकार आधमकें तो गुण होकर माने जाते हैं। मुखके ऊपर नाक समस्थलमें नहीं है। किन्तु अंगुलभर उठी हुयी है। अतः यह नाक ऊंची रहना गुणस्वरूप हो गया। जब कि एक दूसरेके सहारेपर झुका करके दो लकडी खडी कर दी गयीं प्रत्यक्ष दीख रहीं हैं। या आकाशमें पतंगके सहारे डोर और डोरके सहारे पतंग उड रही दीखती है, तो ऐसी दशामें बिचारे अन्योन्याश्रय दोषको अवकाश ही नहीं मिल पाता है। वह गुण होकर वस्तुकी शरणमें आ गिरता है। अतः धर्मधर्मियोंमें उस ही स्वरूपसे अन्यपना और उस ही स्वरूपसे अनन्यपना नहीं माना गया है।

किं तर्हि। कथंचिदन्यत्वमनन्यत्वं च यथाप्रतीतिजात्यंतरमविरुद्धं चित्रविज्ञानवत्सामान्यविशेषवद्वा सत्त्वाद्यात्मकैकप्रधानवद्वा चित्रपटवद्वेत्युक्तप्रायं।

यदि एकान्तवादि यों कहें कि आप जैन विद्वान् धर्म और धर्मीका भेद नहीं मानते हैं, अभेद भी नहीं मानते हैं। तथा उस एक ही रूपसे भेद, अभेद दोनोंको नहीं मानते हैं, तो धर्मधर्मीका कैसा क्या मानते हैं ? स्पष्ट क्यों नहीं कहते हो। केवल नहीं नहीं कह देनेसे तो कार्य नहीं चलता है। इस प्रकार तीव्र जिज्ञासा होनेपर अब आचार्य उत्तर कहते हैं कि प्रतीतिका अतिक्रमण नहीं कर धर्म और धर्मीका कथंचित् भेद और अभेद माना गया है। भेद अभेदकी जातियोंसे यह कथंचित् भेदअभेद तीसरी जातिका होकर अविरुद्ध है। जैसे कि बौद्धोंने अनेक आकारोंसे मिला हुआ एक चित्रविज्ञान माना है। चित्रज्ञानमें एक आकार भी नहीं है और नील पीत आदि अनेक आकार भी स्वतंत्र उसमें नहीं हैं। किन्तु एकाकार अनेकाकार दोनोंसे तीसरी जातिका ही न्यारा आकार चित्रज्ञानमें है। अथवा वैशेषिकोंने सामान्यस्वरूप व्यापक जातियोंकी विशेषरूप व्याप्यजातियां मानी हैं। सत्ता, द्रव्यत्व आदि अधिक देशवर्ती व्यापक जातियोंकी अल्पदेश वृत्ति पृथ्वीत्व, घटत्व आदि व्याप्य जातियां इष्ट की हैं। पृथ्वीत्वमें घटत्व, पटत्वकी अपेक्षा सामान्यपना भी है और सत्ता, द्रव्यत्वकी अपेक्षा विशेषपना भी है। यह सामान्य विशेषपना तो सत्ताके केवल सामान्यसे और घटादि व्यक्तियोंमें रहनेवाले घटत्व, पटत्वके विशेषसे

न्यारी तीसरी जातिका है तथा कापिलोंने सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण इन तीनकी तदात्मक अवस्था रूप एक प्रकृतिको माना है। त्रिगुण आत्मक वह प्रधान उन न्यारे न्यारे तीनके त्रित्व या आकाशके एकत्वसे न्यारी जातिको लिये हुये है अथवा नैयायिकोंके यहां माना गया चित्रपट तत्त्व तो अनेक न्यारे न्यारे रूपोंसे या शुद्ध एक रूपसे युक्त पदार्थोंकी अपेक्षा न्यारी तीसरी जातिवाला पदार्थ है। इस प्रकार कैई एकान्तवादियोंके माने हुये गृहीत दृष्टान्तोंसे वस्तुका भेद अभेद आत्मक जात्यन्तरपना साधलेना चाहिये। इस बातको हम पहिले कैई स्थलोंपर प्रायः कह चुके हैं।

तत एव न सिद्धानामसिद्धानां वा बह्वादीनां धर्मिणि तत्पारतंत्र्यानुपपत्तिः कथंचित्तादात्म्यस्य ततः पारतंत्र्यस्य व्यवस्थितेः।

तिस ही कारणसे यानी कथंचित् भेद अभेद आत्मक वस्तुके निर्णीत हो जानेसे ही निष्पन्न हो चुके अथवा नहीं निष्पन्न हो चुके बहु, बहुविध, आदि धर्मोंकी एक धर्मीमें उसके परतंत्र रहनेकी असिद्धि हो जायगी यह नहीं समझना चाहिये, अर्थात्—धर्म धर्मियोंमें परस्पर पराधीनता है। तिसके साथ कथंचित् तादात्म्य हो जानेको ही परतंत्रतापनेकी व्यवस्था हो रही है। भावार्थ—बौद्धोंने कहा था कि " पारतंत्र्यम् हि सम्बन्धः सिद्धे का परतंत्रता। तस्मात् सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः " इसका अर्थ यह है कि सम्बन्धवादियोंने परतंत्रताको ही सम्बन्ध माना है। कारणोंसे सिद्ध किये जा चुके पदार्थोंमें भला फिर पराधीनता क्या रहेगी ? यानी पूर्ण रूपसे बन चुका पदार्थ फिर किसीके अधीन नहीं होता है। कृतकृत्यको दूसरेकी अपेक्षा नहीं है। तथा जो पदार्थ अभी सिद्ध नहीं हुआ है, अश्वविषाणके समान उसको भी दूसरेकी पराधीनता नहीं झेलनी पडती है। ऐसी दशामें कोई भी सम्बन्ध वास्तविकरूपसे सिद्ध नहीं हो पाता है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर हम जैन सुझाते हैं कि कथंचित् सिद्ध, असिद्धस्वरूप हो रहे धर्म धर्मियोंकी कथंचित्तादात्म्यरूप परतंत्रता बन रही है।

न च तद्द्रव्यार्थतः सतां पर्यायार्थतोऽसतां धर्माणां धर्मी विरुध्यतेऽन्यथैव विरोधात्।

उस वस्तुमें द्रव्यार्थिकरूपसे विद्यमान हो रहे और पर्यायार्थिक नयसे विचारने पर नहीं विद्यमान हो रहे धर्मोंका आधारभूत हो रहा धर्मी विरुद्ध नहीं पडता है, हां, दूसरे प्रकारोंसे ही माननेपर विरोध है। यानी जिसी अपेक्षासे विद्यमान और उसी अपेक्षासे अविद्यमान माना जायगा या जिसी अपेक्षासे अविद्यमान और उसी अपेक्षासे विद्यमान धर्मोंको माना जायगा, तभी विरोध प्राप्त होता है। भिन्न भिन्न अपेक्षाओं द्वारा साधे गये अनेकान्तोंमें तो यथार्थ रूपसे वस्तु संस्कृत हो जाती है। पुत्रको माता पिता उत्पन्न करते हैं, गुरुजी उसको पढाते हैं। यहां हाथ, पग, आदि अवयवोंसे बन चुके और विद्वान् रूपसे नहीं बन चुके लडकेको गुरुकी पराधीनता प्राप्त कर गुरुशिष्यभावसम्बन्धरूप धर्मका धर्मीपना प्राप्त है। ऐसी पावन पराधीनता तो भाग्यसे प्राप्त होती है।

ततो द्रव्यपर्यायात्मार्थो धर्मी व्यक्तः प्रतीयतामव्यक्तस्य व्यंजनपर्यायस्योत्तरसूत्रे विधानात् । द्रव्यनिरपेक्षस्त्वर्थपर्यायः केवलो नार्थोत्र तस्याप्रमाणकत्वात् । नापि द्रव्यमात्रं परस्परं निरपेक्षं तदुभयं वा तत एव । न चैवंभूतस्यार्थस्य विवर्तानां बह्वादीतरभेदभृतामवग्रहादयो विरुध्यंते येन एवैकं मतिज्ञानं यथोक्तं न सिध्येत् ।

तिस कारण सिद्ध हुआ कि द्रव्य और पर्यायोंके साथ तदात्मक हो रहा अर्थ ही यहां व्यक्त यानी अधिक प्रकट धर्मी समझ लेना चाहिये । व्यंजन पर्यायस्वरूप अव्यक्तधर्मीका उत्तरवर्ती " व्यंजनास्यावग्रहः " इस सूत्रमें विधान किया जायगा । अधिष्ठाता द्रव्यकी सर्वथा नहीं अपेक्षा रखता हुआ केवल अर्थपर्याय ही तो यहां अर्थ नहीं निर्णीत किया गया है । क्योंकि उस अकेली अर्थपर्यायको ही वस्तुपनेकी ज्ञप्ति करना अप्रामाणिक है । तथा अविष्ठित अर्थपर्यायोंसे रीता केवल द्रव्य ही यहां अर्थ नहीं लिया गया है । क्योंकि केवल द्रव्यको पर्यायोंसे रहित जानना अप्रामाणिक है । अथवा परस्परमें एक दूसरेकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले केवल द्रव्य या कोरे पर्याय ये दोनों भी यह अर्थ नहीं है । कारण वही है । यानी आत्माकी नहीं अपेक्षा रखनेवाला ज्ञान और ज्ञानकी अपेक्षा नहीं रखनेवाला आत्मा जैसे प्रमाणका विषय नहीं है, उसी प्रकार द्रव्यकी नहीं अपेक्षा रखनेवाला निराधार पर्याय और पर्यायोंकी नहीं अपेक्षा रखनेवाला आधेय रहित द्रव्य ये दोनों भी कोई पदार्थ नहीं हैं । इनमें प्रमाण ज्ञानोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । भले ही द्रव्यार्थिक नय या पर्यायार्थिक नय प्रवर्त जावें, फिर भी सुनयोंको अन्य अशोंका निराकरण नहीं करना आवश्यक है । " निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षं वस्तुतेऽर्थकृत् " । अतः परस्परापेक्ष द्रव्य और पर्यायोंके साथ तदात्मक हो रही वस्तु ही अर्थ है । इस प्रकार वस्तुभूत हो रहे अर्थके बहु, बहुविध और उनसे इतर अल्प अल्पविध आदि भेदोंको धारनेवाले पर्यायोंको विषय कर रहे अवग्रह आदिक ज्ञान विरुद्ध नहीं पडते हैं । जिससे कि सर्वज्ञ आम्नाय या युक्ति अनुभवोंके अनुसार यथार्थ कहा गया एक मतिज्ञान सिद्ध नहीं हो सके अर्थात्—द्रव्य, पर्याय आत्मक अर्थके बहु आदिक बारह भेदवाले पर्यायोंको विषय कर रहे अवग्रह आदि और स्मृति आदिक मतिज्ञान हो जाते हैं । वे सब मतिज्ञानपने करके एक हैं ।

इस सूत्रका सारांश ।

इस सूत्रमें प्रथम ही अवग्रह आदि ज्ञानोंके विषयभूत बहु आदिक धर्मोंके धारनेवाला धर्मी अर्थ विचारा गया है । जैनसिद्धान्त अनुसार पदार्थमें अनेक प्रयोजनोंको साधनेवाले अनेक धर्म माने गये हैं । धर्मी अर्थके पराधीन होकर वे धर्म प्रतीत हो रहे हैं । मतिज्ञानके तीनसौ छत्तीस भेदोंमें अर्थके बहु आदिक धर्मोंकी अपेक्षा दो सौ अठासी और अव्यक्त व्यंजनके धर्मोंकी अपेक्षा

अडतालीस भेद किये हैं। किन्तु अर्थकी बहु आदिक बारह पर्यायोंमें स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमानस्वरूप मतिज्ञान भी प्रवर्त जाते हैं, जैसा कि बहु, बहुविध, आदि सूत्रकी बत्तीसवीं वार्तिकमें श्रीविद्यानन्द आचार्यने बतला दिया है। निकट कहे गये इन तीन, चार, सूत्रोंका एक वाक्य बनाकर एक मतिज्ञान समझ लेना चाहिये। द्रव्य और पर्याय ये वस्तुके अंश हैं। श्रुतज्ञानके एकदेशरूप द्रव्यार्थिक नयसे वस्तुका द्रव्य अंश जान लिया जाता है। और पर्यायार्थिक नयसे परिगणित पर्यायोंको जान लिया जाता है। फिर भी मतिज्ञान और नयोंसे अवशिष्ट बहुतसा बच रहा ऐसा प्रमाणआत्मक श्रुतज्ञान तथा अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानसे जानने योग्य अनन्तप्रमेय वस्तुमें पडा रहता है। उन सबका पिण्डस्वरूप वस्तु है। यहा मतिज्ञानके प्रकरणमें मतिज्ञान द्वारा जानने योग्य द्रव्य और पर्यायोंका तदात्मक पिण्ड अर्थ पकडा गया है। केवल द्रव्य ही या पर्यायें ही पूरा अर्थ नहीं हैं। जैसे कि एक पाया या पाटी पूरी खाट नहीं है। वस्तुके धर्म परस्परमें और वस्तुके साथ अपेक्षा रखते हैं। अत. बहु आदिक धर्म या धर्मवाले धर्मीकी प्रधानतासे अवग्रह आदिक हो जाते हैं। साझेकी वस्तुमें भले ही नाम किसीका होय किन्तु जानना रूप कार्य सर्व अर्थका होता है। एकान्तवादियों द्वारा उठाये गये दोष स्याद्वादियोंपर लागू नहीं होते हैं। क्योंकि हम कथंचित् तादात्म्यरूप वृत्ति मानते हैं। धर्मीकी धर्मोंमें वृत्ति मानना भी हम इष्ट कर लेते हैं। कपडेमें सूत हैं, वृक्षमें फल हैं। वह्निमें निष्ठत्व सम्बन्धसे पर्वत रह जाता है। कथंचित् अभेद हो जाने पर कोई भी धर्म या धर्मी किसीपर भी निवास करो, कोई क्षति नहीं है। राजा प्रजाके आश्रित है और प्रजा राजाके आश्रित है। दण्ड और पुरुषके समान क्वचित् भिन्न पदार्थोंमें भी धर्मधर्मीभाव बन जाता है। किन्तु मतिज्ञान अभेददृष्टिकी प्रधानतासे धर्मधर्मियोंको विषय करता है। एकान्तवादियोंके यहा वृत्तिके दोष आते हैं। हा, अनेकातवादमें विरोध आदिक कोई दोष नहीं आते हैं। क्योंकि तीसरी ही जातिके कथंचित् भेद, अभेदको मानकर चित्र ज्ञान आदिके समान धर्मधर्मी भाव माना गया है। केवल द्रव्य ही या केवल पर्याय ही अथवा परस्परानपेक्ष दोनों ही कोई अर्थ नहीं है। जैसा कि अद्वैतवादी या बौद्ध अथवा वैशेषिक मान रहे हैं। जैनसिद्धांतमें वस्तुकी बहुत अच्छी परिभाषा की गयी है। अतः ऐसे वस्तुभूत अर्थके बहु आदिक धर्मोंमें अवग्रह आदिक ज्ञान प्रवर्त जाते हैं।

वस्त्वर्थो भिदभिज्जात्यन्तरालीढवपुर्मतः ।
द्रव्यपर्यायतादात्म्यं स्वसात्कुर्वंश्च गोचरः ॥ १ ॥

—x—

प्रसंग प्राप्तोंमें विशेष नियम करनेके लिये श्रीउमास्वामी महाराज शिष्योंकी व्युत्पत्तिके वर्धनार्थ अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

व्यंजनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥

अव्यक्त पदार्थका अवग्रह ही होता है, ईहा, अवाय, धारण, स्मरण प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान नामके मतिज्ञान ये अव्यक्त अर्थमें नहीं प्रवर्तते हैं ।

नारब्धव्यमिदं पूर्वसूत्रेणैव सिद्धत्वात् इत्यारेकायामाह ।

कोई शंका करता है कि श्री उमास्वामी महाराजको यह सूत्र तो नहीं बनाना चाहिये । क्योंकि पहिलेके " अर्थस्य " सूत्रकरके ही इस " व्यंजनस्यावग्रहः " सूत्रका प्रमेय सिद्ध हो चुका है । इस प्रकार शिष्यकी शंका होनेपर श्रीविद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा उत्तर कहते हैं ।

नियमार्थमिदं सूत्रं व्यंजनेत्यादि दर्शितम् ।
सिद्धे हि विधिरारम्भो नियमाय मनीषिभिः ॥ १ ॥

यह " व्यंजनास्यावग्रहः " इस प्रकार कहा गया सूत्र तो नियम करनेके लिये दिखलाया गया है । कारण कि सिद्ध हो जानेपर पुनः आरम्भ की गयी विधि तो नियम करनेके लिये विचारशाली विद्वानोंकरके मानी गयी है । " सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय " । व्यंजन अर्थका अवग्रह हो जाना यद्यपि पूर्वसूत्रसे ही सिद्ध था किन्तु यहां यह दिखलाना है कि अव्यक्त वस्तुका अवग्रह ही होता है । जैसे कि आज अष्टमीके दिन जिनदत्तने जल पीया है । यहां जलको तो जिनदत्त प्रतिदिन पीता है । किन्तु अष्टमीके दिन जल ही पीया है । अन्य दुग्ध, मेवा, अन्न नहीं खाया है । यह नियम कर दिया जाता है । कण्ठोक्त किये विना वह नियम नहीं हो सकता था ।

किं पुनर्व्यंजनमित्याह ।

श्रीमान् पूज्य गुरुजी महाराज तो फिर आप यह बता दो कि व्यंजनका क्या अर्थ है ? इस प्रकार विनीत शिष्यकी जिज्ञासा प्रकट होनेपर श्रीविद्यानन्द आचार्य सप्रमोद होकर उत्तर कहते हैं ।

अव्यक्तमत्र शद्बादिजातं व्यंजनमिष्यते ।
तस्यावग्रह एवेति नियमोऽभक्षवद्गतः ॥ २ ॥

इस अवसरपर अस्फुट हो रहा शद्ब, स्पर्श, रस, गंध, इनका अथवा स्पर्शवान् पुद्गल, रसवान् पुद्गल, आदिका समुदाय ही व्यंजन इष्ट किया गया है । उस व्यंजनका अवग्रह ही होता है । इस प्रकारका नियम जलभक्षणके समान जान लिया गया है । अर्थात् जैसे कोई अनुपवास करनेवाला जल खाता है, इसका अभिप्राय यह है कि वह अन्न, दुग्ध, मिष्टान्न, नहीं खाकर उस

दिन केवल जल ही पीता है। अथवा जलके साथ पान शद्ब तो अच्छा लगता है। किन्तु भक्षण शद्ब कुछ खटकता है। अतः आचार्य महाराजका अप् भक्षशद्बसे यह अभिप्राय भी ध्वनित होता है कि थोडा खाकर उसके सहारे पानी पीलेना जलभक्षण है। किसी मनुष्यने प्रातःकाल केवल कलेऊ ही किया, पीछे दिनभर कुछ नहीं खाया। उसके लिये जलभक्षणका ही नियम व्यवहारमें कहा जाता है। बंगालमें कलेऊ करनेको जल खाना कहते हैं (जलखावा जलखाई आछी) उत्तर प्रान्तमें भी सकलपारे, निकुती, गूझा, पेडा, आदिको थोडा खाकर जल पी लेने या दूध, ठंडाई आदि पीनेको जलपान कहते है।

ईहादयः पुनस्तस्य न स्युः स्पष्टार्थगोचराः।
नियमेनेति सामर्थ्यादुक्तमत्र प्रतीयते ॥ ३ ॥

उस अव्यक्त पदार्थके फिर ईहा आदिक अनुमानपर्यन्त मतिज्ञान नहीं हो पाते हैं। क्योंकि वे ईहा आदिक ज्ञान व्यक्तरूपसे स्पष्ट हो रहे अर्थको विषय करनेवाले हैं। इस प्रकार नियम करके सूत्रकी सामर्थ्यसे कह दिया गया अर्थ यहां प्रतीत हो जाता है। अर्थात्—अव्यक्तके ईहा आदि ज्ञान नहीं होते हैं। स्मरण आदि ज्ञान भी नहीं होते हैं। यह सूत्रमें कण्ठोक्त नहीं कहा गया है। फिर भी नियम करनेकी सामर्थ्यसे अर्थापत्त्या लब्ध हो जाता है। छोटेसे सूत्रमें कितना प्रमेय भरा जा सकता है ? कोटिशः धन्यवाद है। उन महर्षियोंको जिन्होंने कि गागरमें सागर न्याय अनुसार एक सूत्ररूप थम्मेपर असंख्यखनोंवाले प्रासादरूप अपरिमित प्रमेयको लाद दिया है।

नन्वर्थावग्रहो यद्वदक्षतः स्पष्टगोचरः।
तद्वत् किं नाभिमन्येत व्यंजनावग्रहोप्यसौ ॥ ४ ॥
क्षयोपशमभेदस्य तादृशोऽसंभवादिह।
अस्पष्टात्मकसामान्यविषयत्वव्यवस्थितम् ॥ ५ ॥

यहां शंका है कि जिस प्रकार इन्द्रियोंसे स्पष्ट अर्थको विषय करनेवाला अर्थावग्रह होता है, उसके समान वह व्यंजनावग्रह भी स्पष्ट विषय करनेवाला भला क्यों नहीं माना जाता है ? बताओ। इन्द्रियोंसे जन्य तो यह भी है। अब आचार्य उत्तर कहते हैं कि यहां अव्यक्त अर्थका व्यंजनावग्रह करते समय तिस प्रकारके स्पष्ट जाननेवाले विशेष क्षयोपशमका असम्भव है। इस कारण व्यंजनावग्रहका अस्पष्टस्वरूप सामान्य पदार्थको ही विषय करनापन व्यवस्थित किया गया है। अर्थावग्रह या व्यंजनावग्रह करते समय भले ही सामान्य विशेष आत्मक अर्थ वहका वही एकसा है। फिर भी क्षयोपशमके अधीन ज्ञानोंकी प्रवृत्ति होनेके कारण व्यंजनावग्रह द्वारा अव्यक्त शद्बादिके समुदायका

ही ज्ञान हो सकता है। चाहे यों कहलो कि अव्यक्त शब्दादिकको जाननेवाला ज्ञान अस्पष्टरूप व्यंजनावग्रह ही होगा, ईहा आदिक नहीं।

अध्यक्षत्वं न हि व्याप्तं स्पष्टत्वेन विशेषतः।
दविष्ठपादपाध्यक्षज्ञानस्यास्पष्टतेक्षणात् ॥ ६ ॥
विशेषविषयत्वं च दिवा तामसपक्षिणां।
तिग्मरोचिर्मयूखेषु भृंगपादावभासनात् ॥ ७ ॥

अध्यक्षपनकी स्पष्टपनेके साथ विशेषरूपसे व्याप्ति बन रही नहीं है। क्योंकि अधिक दूरवर्ती वृक्षके प्रत्यक्षज्ञानका अस्पष्टपना देखा जा रहा है। तथा विशेषोंका विषय करनापन भी प्रत्यक्षपनेके साथ व्याप्त नहीं है। अंधकारमें देखनेवाले उल्लू, चिमगादर, आदि पक्षियोंको दिनके अवसरपर सूर्यकी किरणोंमें भ्रमरके पावोंका प्रतिभास होता रहता है। अर्थात्—प्रत्यक्षज्ञान होकर भी कोई कोई अस्पष्टरूपसे सामान्यको विषय कर लेते हैं। स्पष्टरूपसे सभी विशेष अंशोंका जान लेना प्रत्यक्षज्ञानके लिये आवश्यक नहीं है। " विशदं प्रत्यक्षम् " यह लक्षण सम्पूर्ण सूक्ष्म विशेष अंशोंके स्पष्ट ग्रहणकी अपेक्षा करनेपर कतिपय प्रत्यक्षोंमें नहीं घटित होता है। दूरवर्ती वृक्षका ज्ञान अविशद है। और तामस पक्षियोंका दिनमें देखना विशेषांशोंको जाननेवाला नहीं है। अतः इन्द्रियोंसे जन्य होता हुआ भी व्यंजनावग्रह अस्पष्ट है। यह "विशदं प्रत्यक्षं" के अनुसार साव्यवहारिक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। इन्द्रियजन्य ज्ञानोंको उपचारसे प्रत्यक्ष माना तो गया है। किन्तु व्यञ्जनावग्रहको परोक्ष कहा गया है।

ननु च दूरतमदेशवर्तिनि पादपादौ ज्ञानमस्पष्टमस्मदादेरस्ति विशेषाविषयं चादित्यकिरणेषु ध्यामलाकारमधुकरचरणवदवभासनमुलूकादीनां प्रसिद्धं। न तु तदक्षजं श्रुतमस्पष्टत्वाच्छ्रुतमस्पष्टतर्कणमिति वचनात्। ततो न तेन व्यभिचारोऽक्षजत्वस्य हेतोः स्पष्टत्वे साध्ये व्यंजनावग्रहे धर्मिणीति कश्चित्।

यहां किसी विद्वान्का अनुनय है कि बहुत अधिक दूर देशमें वर्त रहे वृक्ष, पशु आदि पदार्थोंमें हम सदृश आदिक अल्पज्ञानियोंको अस्पष्टज्ञान हो रहा है। और वह पदार्थोंके सूक्ष्म विशेष अंशोंको विषय करनेवाला भी नहीं है। तथा अंधेरेमें देखनेवाले उल्लू, चिमगादर आदि तामस पक्षियोंको दिनके अवसरपर सूर्यकी किरणोंमें उत्पन्न हुआ थोडा, काला काला, भ्रमरके चरण समान, दीख जाना तो विशेष अंशको नहीं विषय करनेवाला प्रसिद्ध है। किन्तु हम कहते हैं कि वह ज्ञानइन्द्रियोंसे जन्य ही नहीं है। प्रत्युत अविशद होनेके कारण श्रुतज्ञान है। अविशद विकल्परूप तर्कणायें करनेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार आर्ष ग्रन्थोंमें कहा गया है। तिस कारणसे

व्यंजनावग्रह पक्षमें स्पष्टत्वको साध्य करनेपर इन्द्रियजन्यत्वपन हेतुका उस दूरवर्ती वृक्षकेज्ञान या दिनमें उल्लूक आदिके ज्ञानकरके व्यभिचारदोष नहीं हो सकता है। भावार्थ—छटी कारिकामें दूरवर्ती वृक्षके ज्ञानकी अस्पष्टता देखनेके कारण व्यभिचार हो जानेसे अध्यक्षपनेको स्पष्टपनेके साथ व्याप्ति रखनेवाला नहीं माना गया था और सातवीं कारिकाद्वारा तामसपक्षियोंका दिनमें सूर्य किरणोंमें भ्रमरचरण, सदृशज्ञान हो जानेसे प्रत्यक्षपनेको विशेष अंशकी विषयतासे भी व्याप्त नहीं माना गया था। किन्तु जब ये ज्ञान हमने इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुये नहीं इष्ट किये हैं, तो उनमें प्रत्यक्षपना ही नहीं रहा। ऐसी दशामें हेतुके नहीं ठहरनेपर उक्त व्यभिचारदोष हमारे ऊपर नहीं लगते हैं। हां, प्रकरणप्राप्त व्यंजनावग्रह तो इन्द्रियोंसे जन्य है। अतः अर्थावग्रहके समान स्पष्टरूपसे विशेष अंशोंको विषय करनेवाला मान लेना चाहिये। यह चौथी वार्तिकद्वारा उठाई गयी हमारी शंका खडी रहती है। इस प्रकार कोई वैशेषिकका एकदेशी अर्धशिष्य कह रहा है। अब आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं।

तन्न युक्त्यागमाविरुद्धं दविष्ठपादपादिज्ञानमक्षजमक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् सन्निकृष्टपादपादिविज्ञानवत्। श्रुतज्ञानं वा न भवति साक्षात्परंपरया वा मतिपूर्वकत्वाभावात् तद्वदेवेति युक्तिविरुद्धमागमविरुद्धं च तस्य श्रुतज्ञानत्वं यतो धीमद्भिरनुभूयते।

वह किसीका कहना युक्ति और आगमसे अविरुद्ध नहीं है। दूरवर्ती वृक्षके देखनेको और दिनमें उल्लू आदिकके देखनेको प्रत्यक्ष नहीं मानना यह मत, अनुमान और आगमसे विरुद्ध पडता है। देखिये। अधिक दूर वर्त रहे वृक्ष, मढैया, घोडा, आदिका ज्ञान (पक्ष) इन्द्रियोंसे जन्य है (साध्य)। इन्द्रियोंके साथ अन्वय, व्यतिरेकका अनुविधान करनेवाला होनेसे (हेतु) यानी इन्द्रियोंके होनेपर वह ज्ञान होता है (अन्वय) इन्द्रियोंके नहीं होनेपर दूरसे वृक्षका ज्ञान या दिनमें उल्लूको ज्ञान नहीं हो पाते हैं (व्यतिरेक) जैसे कि निकटदेशके वृक्ष, घोडा, मनुष्य, आदिका विशेषज्ञान इन्द्रियोंके साथ अन्वय, व्यतिरेकको अनुविधान करनेवाला होनेसे इन्द्रियजन्य है (अन्वयदृष्टान्त) तब तो ये ज्ञान प्रत्यक्षस्वरूप आपको भी मान लेने चाहिये। वस्तुतः विचारा जाय तो हम जैनोंके यहां उक्त ज्ञान भले ही प्रत्यक्ष नहीं होवें। क्योंकि " आद्ये परोक्षम् " इस सूत्रद्वारा इन्द्रिय, अनिन्द्रियजन्य मतिज्ञानको परोक्ष माना है। किन्तु वैशेषिकोंके यहां इन्द्रियजन्यज्ञान तो बडी सुलभतासे प्रत्यक्ष हो जाता है। ये उक्त ज्ञान श्रुतज्ञान तो कैसे भी नहीं हो पाते हैं (प्रतिज्ञा) अव्यवहित अथवा व्यवहितरूप करके भी मतिपूर्वकपना नहीं होनेसे (हेतु) उस हीके समान—यानी अतिनिकटवर्ती वृक्षके ज्ञान समान (दृष्टान्त) अर्थात् कोई आदिके श्रुतज्ञान तो साक्षात् मतिज्ञानको पूर्व मानकर उत्पन्न होते हैं। और कोई श्रुतज्ञानजन्य दूसरे श्रुतज्ञान तो परम्पराद्वारा मतिपूर्वक हो रहे हैं। किन्तु इन दूरवर्ती वृक्ष आदिके ज्ञानोंके पूर्वमें तो मतिज्ञान कथमपि

नहीं हैं। अतः उक्तज्ञान श्रुतज्ञान नहीं हो सकते हैं। कोई भी प्रत्यक्षज्ञान भले ही वह अवधिज्ञान या केवलज्ञान भी क्यों नहीं होय, विचाररूप तर्कणाएं नहीं कर सकता है। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष या सर्वज्ञ प्रत्यक्ष ये भडाक सीदें झट पदार्थोंको जान लेते हैं "यों होता तो त्यों होता", यह इतने मूल्यका होना चाहिये, " उस रोगीको यदि हम औषधि देते तो अवश्य लाभ होता ", इत्यादिक विचार प्रत्यक्ष ज्ञानोंमें नहीं होते हैं। दूरवर्त्ती वृक्ष आदिके प्रत्यक्ष ज्ञानोंमे कोई विचार नहीं हो रहा है। अतः यह श्रुतज्ञान नहीं है। शंकाकार द्वारा इनको श्रुतज्ञान कहना युक्तियों (अनुमान) से विरुद्ध हुआ तथा उन दूरवर्त्ती वृक्ष आदिके ज्ञानोंको श्रुतज्ञानपना आगमप्रमाणसे भी विरुद्ध पडता है। जिस कारणसे कि प्रतिभाशाली विद्वानोंकरके वैसा आगमप्रमाण उक्त ज्ञानोंमें श्रुतज्ञानसे भिन्नताको निरूपणेवाला अनुभव किया जा रहा है।

न चास्पष्टतर्कणं श्रुतस्य लक्षणं स्मृत्यादेरपि श्रुतत्वप्रसंगात्। मतिगृहीतेर्थेनिंद्रियबलादस्पष्टं स्वसंवेदप्रत्यक्षादन्यत्वात्तर्कणं नानास्वरूपप्ररूपणं श्रुतमिति तस्य व्याख्याने ' श्रुतं मतिपूर्वं " इत्येतदेव लक्षणं तथोक्तं स्यात् तच्च न प्रकृतज्ञानेस्ति। न हि साक्षाच्चक्षुर्मतिपूर्वक तत्स्पष्टप्रतिभासानंतरं तदस्पष्टावभासनप्रसंगात्। नापि परंपरया लिंगादिश्रुतज्ञानपूर्वकत्वेन तस्याननुभवात्। न चात्र यादृशमक्षानपेक्षं पादपादि साक्षात्करणपूर्वकं प्ररूपणमस्पष्टं तादृशमनुभूयते येन श्रुतज्ञानं तदनुमन्येमहि। श्रुतस्मृत्याद्यपेक्षया स्पष्टत्वात्। संस्थानादिसामान्यस्य प्रतिभासनात्। सन्निकृष्टपादपादिप्रतिभासनापेक्षया तु दविष्ठपादपादिप्रतिभासनमस्पष्टमक्षजमपीति युक्तोऽनेन व्यभिचारः प्रकृतहेतोः।

दूसरी बात यह है कि अविशदरूपसे विकल्पनाऐं करना श्रुतज्ञानका लक्षण नहीं है। अन्यथा स्मृति, तर्कज्ञान, आदिको भी श्रुतज्ञानपनेका प्रसंग हो जायगा। ये ज्ञान भी अपने विषयोंकी अविशद विकल्पनाऐं करते हैं। यदि आप शंकाकार " अस्पष्टतर्कणं श्रुतं " इस लक्षणवाक्यका इस प्रकार व्याख्यान करेंगे कि मतिज्ञानद्वारा गृहीत किये गये अर्थमें मन इन्द्रियकी सामर्थ्यसे जो अविशदप्रकाशी यानी स्वसम्वेदनप्रत्यक्षसे भिन्नपना होनेके कारण तर्कण हुआ है, यानी नाना स्वरूपोंका अच्छा निरूपण हो रहा है, वह श्रुतज्ञान है। इस पर आचार्य कहते हैं कि ऐसा उसका परिभाषण करनेपर तो हमारे सूत्रकारद्वारा कहा जानेवाला " श्रुतं मतिपूर्वं " इस प्रकार यह लक्षण ही तैसा व्याख्यान करनेसे कहा गया समझा जायगा किन्तु तैसा वह श्रुतज्ञानपना तो प्रकरणप्राप्त दूरवर्त्तीज्ञान या उलूकज्ञानोंमें नहीं है। देखिये, वह दूर वृक्ष आदिकका ज्ञान साक्षात् रूपसे चक्षुइन्द्रियजन्य मतिज्ञानको कारण मानकर उत्पन्न नहीं हुआ है। यदि ऐसा होता तो उस स्पष्ट प्रतिभासके अव्यवहित काल पीछे उस दूरवर्त्ती वृक्ष आदिका अविशद प्रतिभास होनेका प्रसंग होगा। भावार्थ—इंद्रियजन्य मतिज्ञानोंके पीछे जो श्रुतज्ञान होते हैं, वे स्पष्ट प्रतिभासोंके पीछे

होते हुये अस्पष्ट प्रतिभासरूप हो रहे माने गये हैं। किन्तु प्रकरणमें दूरवृक्षका ज्ञान तो स्पष्ट प्रतिभासके अनन्तर हो रहा अस्पष्टप्रतिभासरूप नहीं है । और यह ज्ञान परम्परासे भी मतिज्ञान-पूर्वक नहीं है। जैसे कि परार्थानुमानमें कर्ण इन्द्रियद्वारा आप्तके शद्बको सुनकर हेतुका ज्ञानस्वरूप पहिला श्रुतज्ञान उठाया जाता है। पीछे उस श्रुतज्ञानसे साध्यज्ञानरूप दूसरा श्रुतज्ञान हो जाता है। इस दूसरे श्रुतज्ञानमें परम्परासे मतिज्ञान पूर्ववर्त्ती रह चुका है। किन्तु यहां दूरवृक्ष आदिके ज्ञानमें परम्परासे मतिज्ञान कारण नहीं है। अतः लिङ्ग, वाच्य, आदिके श्रुतज्ञानके पूर्वकपनेकरके उस दूरवृक्ष आदि ज्ञानका अनुभव नहीं होता है। पहिले वृक्ष आदिका साक्षात्कार कर पीछे यों निरूपण किया जाता है कि " यह वृक्ष आम्रका होना चाहिये " " यह चालीस वर्षका पुराना वृक्ष है " इस वृक्षपर रातको पक्षी निवास करते होंगे " यह वृक्ष छोटी आंधीसे नहीं टूट सकता है " इत्यादि प्रकारके अविशद विचार जैसे इन्द्रियोंकी नहीं अपेक्षा कर यहां हो रहे हैं। तिस प्रकारके विचार एकदम दूरसे वृक्षको देखनेपर नहीं अनुभूत हो रहे हैं, जिससे कि हम उसको श्रुतज्ञान मान लेवें। हां, श्रुतज्ञान या स्मरणज्ञान आदि परोक्षज्ञानोंकी अपेक्षासे तो वह दूरवर्ती वृक्षका ज्ञान स्पष्ट है। क्योंकि सामान्यरूपसे सन्निवेश (रचना) ऊंचाई, स्थूलरंग, एकत्व संख्या, पृथक्पना, परत्व आदिका तो विशद प्रतिभास हो रहा है। श्रुतज्ञानमें तो संकेतस्मरण आदि मध्यवर्ती अपेक्षणीय प्रतीतियोंका व्यवधान पड जानेसे विशद प्रतिभास नहीं हो पाता है। हां, अधिक निकटवर्ती वृक्ष, हाथी, आदिके प्रतिभासकी अपेक्षासे तो अतिशय दूरवर्त्ती वृक्ष, कुटी आदिके प्रतिभासको अस्पष्टपना है। वह ज्ञान इन्द्रियोंसे जन्य भी है। इस कारण प्रकरणप्राप्त इन्द्रियजन्यपन हेतुका इस दूरवर्ती वृक्षके अस्पष्ट ज्ञानसे छठी कारिकाद्वारा व्यभिचार दोष उठाना हमारा युक्त ही है।

अपरः प्राह । स्पष्टमेव सर्वविज्ञानं स्वविषयेन्यस्य तद्व्यवस्थापकत्वायोगादक्षप्रतिभासनवत् । ततो नास्पष्टो व्यंजनावग्रह इति नैव मन्येत स्पष्टास्पष्टावभासयोरबाधितवपुषोः स्वयं सर्वस्यानुभवात् ।

कोई दूसरा विद्वान् यों कह रहा है कि सम्पूर्ण विज्ञान (पक्ष) स्पष्ट ही होते हैं (साध्य) क्योंकि अपने अपने विषयको जाननेमें अन्य किसीको भी उन ज्ञानोंकी व्यवस्था करा देनेपनका योग नहीं है (हेतु) जैसे कि इन्द्रियजन्य ज्ञानोंको स्वयं अपने विषयका व्यवस्थापकपना होनेसे स्पष्टपना नियत है (दृष्टान्त)। तिस कारण व्यंजनावग्रह मतिज्ञान भी अविशद नहीं है, स्पष्ट ही है। इस प्रकार माननेपर तो आचार्य कहते हैं कि यह नहीं नहीं मानना चाहिये। क्योंकि बाधाको नहीं प्राप्त हो रहे हैं डील जिनके, ऐसे स्पष्ट और अस्पष्ट प्रतिभासोंका सम्पूर्ण प्राणियोंको स्वयं अनुभव हो रहा है। अर्थात्—व्यंजनावग्रह, स्मरण, अनुमान, आगम, आदि ज्ञानोंको अन्य प्रतीतियोंका व्यवधान पडजानेके कारण अविशदपना अपने अस्पष्ट आवरणक्षयोपशमके अधीन होता हुआ अनुभूत हो रहा

है। और स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष, इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष, सर्वज्ञप्रत्यक्ष, इन ज्ञानोंका स्पष्टपना स्पष्ट क्षयोपशम या क्षयके वश हुआ स्वयं अनुभूत हो रहा है। छाया और आतपके समान लोक प्रसिद्ध हो रहे ज्ञानके अस्पष्टपनेका अपलाप नहीं करना चाहिये। आगम या अनुमानसे अग्निको जानकर पुनः प्रत्यक्ष कर लेनेपर विशदपना स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। अतीन्द्रिय ज्ञानोंमें इससे भी अधिक विशदपना उपनीत कर लेना चाहिये।

ननु चास्पष्टत्वं यदि ज्ञानधर्मस्तदा कथमर्थस्यास्पष्टत्वमन्यस्यास्पष्टत्वादन्यस्यास्पष्टत्वेतिप्रसंगादिति चेत् तर्हि स्पष्टत्वमपि यदि ज्ञानस्य धर्मस्तदा कथमर्थस्य स्पष्टतातिप्रसंगस्य समानत्वात्। विषये विषयिधर्मस्योपचाराददोष इति चेत् तत एवान्यत्रापि न दोषः।

इसपर अपर (कोई दूसरा) विद्वान् प्रश्न करता है कि व्यंजनावग्रह, स्मरण, आदि ज्ञानोंके अवसरपर माना गया अस्पष्टपना यदि ज्ञानका धर्म माना जायगा, तब तो अर्थका अस्पष्टपना कैसे कहा जा सकता है? चेतनज्ञानका अस्पष्टपना जड अर्थमें तो नहीं धरा जा सकता है। यदि अन्य वस्तुके अस्पष्टपनसे दूसरे पदार्थका अस्पष्टपना माना जावेगा तो अतिक्रमणरूप अति प्रसंग हो जावेगा अर्थात्—दूरवृक्षके पत्तोंका ज्ञात क्रिया अविशदपना निकटवर्त्ती बडे घडेमें भी व्यवहृत हो जाना चाहिये या सूचीके अग्रभागका अविशदपना हाथीके शरीरमें आरोपित हो जायगा, जो कि इष्ट नहीं है। इस प्रकार कटाक्ष करनेपर तो हम जैन भी अपर विद्वानके प्रति कह सकते हैं कि तब तो आपका माना हुआ स्पष्टपना भी यदि ज्ञानका धर्म है, तब भला अर्थका स्पष्टपना कैसे कहा जा सकेगा? हमारे समान तुम्हारे ऊपर भी अतिप्रसंग दोष वैसाका वैसा ही लगता है। अर्थात्—ज्ञानके स्पष्टपनेसे यदि अर्थका स्पष्टपना होने लगे तो यहां कुटकीके कटुपनेसे देशान्तरवर्त्ती खाडमें भी कटुता आ जायगी। या एक विशद हाथीका बडापन एक परमाणुमें भी मान लिया जाय। किन्तु ऐसा होता नहीं। यदि आप अपने अतिप्रसंगका निवारण यों करें कि चाहे जिस तटस्थ वस्तुके धर्मोंका चाहे किसी भी उदासीन पदार्थमें आरोप नहीं किया जा सकता है, हां, ज्ञान और ज्ञेयका घनिष्टरूपसे विषयविषयीभाव सम्बन्ध हो जानेके कारण विषय-ज्ञेयमें विषयी-ज्ञानके स्पष्टपनका उपचार कर लिया जाता है। अतः कोई दोष नहीं है। इस प्रकार समाधान करने पर तो हम स्याद्वादी भी उत्तर कह देंगे कि अस्पष्टपनेके दूसरे स्थलपर भी तिस ही कारण यानी विषयीके धर्मका विषयमें आरोप कर देनेसे कोई दोष नहीं आता है। जैसे कि घट प्रत्यक्ष है। अग्नि परोक्ष है। ये ज्ञानोंके धर्म विषयोंमें व्यवहृत हो रहे हैं। दर्पणके धर्म प्रतिबिम्बमें कल्पित कर लिये जाते हैं। प्रतिभास करा देनेकी अपेक्षा ज्ञानको दर्पणकी केवल उपमा देदी जाती है। वस्तुतः देखा जाय तो ज्ञान विषयके प्रतिबिम्बको धारण नहीं करता है। चमकीले मूर्त पदार्थमें ही मूर्तके प्रतिबिम्ब पड सकते हैं। चेतन अमूर्तज्ञानमें पुद्गल, आत्मा, धर्म, अधर्मके आकार नहीं पड सकते हैं, ज्ञान साकार होता है।

और दर्शन निराकार होता है। यहां आकारका अर्थ पदार्थोंका स्वपरसम्वेदन करानेकी अपेक्षा विकल्पनायें करना है। यदि प्रतिबिम्ब लेना अर्थ किया जायगा तो स्मरणज्ञानमें भूतपदार्थोंकी या सर्वज्ञज्ञानमें भूत, भविष्य, पदार्थोंकी अथवा व्याप्तिज्ञानमें त्रिलोकत्रिकालवर्ती वह्नि, धूम, आदि पदार्थोंकी ज्ञप्ति नहीं हो सकेगी। जो जीव मर चुका है, या गर्भमें आनेवाला है, वह वर्तमानमें किन्हींको ऋण नहीं बांटता फिरता है। अतः साकारका अर्थ सविकल्पक ही ग्रहण करना। प्रकरणमें चमचमाते हुये ज्ञानके धर्म ज्ञेयमें ले आये जाते हैं। प्रकाशमान दीपककी तीव्र, मन्द, ज्योतियोंका प्रभाव प्रकाश्य अर्थपर पडता है।

यथैव हि दूरादस्पष्टस्वभावत्वमर्थस्य सन्निकृष्टस्पष्टताप्रतिभासेन बाध्यते तथा सन्निहितार्थस्य स्पष्टत्वमपि दूरादस्पष्टताप्रतिभासेन निराक्रियत इति नार्थः स्वयं कस्यचित्स्पष्टोऽस्पष्टो वा स्वविषयज्ञानस्पष्टत्वास्पष्टत्वाभ्यामेव तस्य तथा व्यवस्थापनात्।

यदि अपर विद्वान् यों कहें कि अस्पष्टपना तो बाधित हो जाता है। तो हम भी कह देंगे कि स्पष्टपना भी क्वचित् बाध डाला जाता है। देखिये, जिस ही प्रकार दूरसे जाने गये अर्थका अस्पष्ट स्वभावपना वहां वहां जाते जाते ज्ञाताको अर्थके अतिनिकटवर्ती हो जानेपर स्पष्टपनके प्रतिभास करके बाधित हो जाता है, तिस ही प्रकार सन्निकटवर्ती अर्थका ज्ञानद्वारा आया हुआ स्पष्टपना भी हटकर दूरसे देखनेपर अर्थके अस्पष्टपन प्रतिभास करके निराकृत हो जाता है। इस ढंगसे सिद्ध हो जाता है कि किसी भी जीवके द्वारा जाना गया अर्थ स्वयं अपनी गांठसे स्पष्ट अथवा अस्पष्ट नहीं है। किंतु अपनेको विषय करनेवाले ज्ञानके स्पष्टपन और अस्पष्टपनकरके ही तिस प्रकार उस अर्थकी स्पष्टता और अस्पष्टता व्यवस्थित हो रही है। जैसे जगत्का कोई भी पदार्थ अपनी गांठसे इष्ट, अनिष्ट बन गया नहीं है। धन, पुत्र, दूध, मेवा, मिष्टान्न, गीत, नृत्य, कलत्र, भूषण, पुष्पमाला, आदि मनोज्ञ पदार्थ भी रोगदशा वृद्धअवस्था या वैराग्य हो जानेपर अनिष्ट हो जाते हैं। कूडा, कीचड, मल, मूत्र, आदि अनिष्ट भी अर्थ समयपर किसानोंको सम्पत्तिके समाने अभीष्ट हो जाते हैं। तत्कालीन प्रयोजनोंके साधक, असाधक हो जानेसे इष्ट, अनिष्टपना पदार्थोंमें कल्पित कर लिया गया है। कोई भी दृष्टान्त पूर्णरूपसे दार्ष्टान्तमें लागू नहीं होता है। अन्यथा वह दृष्टान्त स्वयं दार्ष्टांत बन बैठेगा? इष्ट अनिष्टपना तो किसी भी वस्तुमें यथार्थरूपसे नहीं है, किन्तु स्पष्ट, अस्पष्टपना तो अपने कारण क्षयोपशमके वश हुआ ज्ञानमें [illegible] वस्तुतः विद्यमान है।

नन्वेवं ज्ञानस्य कुतः स्पष्टता? स्वज्ञानत्वादिति चेन्न, अनवस्थानुषंगात् [illegible] एवेति चेत् सर्वज्ञानानां स्पष्टत्वापत्तिरित्यत्र कश्चिदाचष्टे। अक्षात्स्पष्टता ज्ञानस्येति [illegible] दविष्ठपादपादिज्ञानस्य दिवा तामसखगकुलविज्ञानस्य च स्पष्टत्वप्रसंगात्।

कोई तटस्थ विद्वान् शंका करता है कि इस प्रकार ज्ञानको भी अपने निज स्वरूपसे स्पष्टपना कैसे प्राप्त होगा ? बताओ। यदि उस ज्ञानके स्वस्वरूपको जाननेवाले अन्य ज्ञानसे प्रकृत ज्ञानमें स्पष्टता लाओगे, यह तो ठीक नहीं पडेगा। क्योंकि अनवस्था दोषका प्रसंग हो जायगा। अर्थात् दूसरे ज्ञानका स्पष्टपना उसको जाननेवाले तीसरे ज्ञानसे ऋण लिया जावेगा। और तीसरे ज्ञानका स्पष्टपना उसको जाननेवाले चौथे ज्ञानसे उधार लिया जायगा। जैसे कि अर्थका स्पष्टपना ज्ञानसे मांगा गया था। भीखमेंसे भीख और उस भीखमेंसे भीख लेना तो मनस्वी ज्ञानीको उचित नहीं है। यदि ज्ञानको स्पष्टपना स्वतः ही प्राप्त हो जाता है, यों कहोगे तब तो सभी व्यंजनावग्रह, स्मरण, अनध्यवसाय, आदि ज्ञानोंको स्पष्टतया प्राप्त होजाना आ पडेगा, जो कि इष्ट नहीं है। इस प्रकार जमाकर तटस्थकी शंका हो जानेपर यहां कोई वावदूक नैयायिक उत्तर देनेके लिए बीच में ही अनधिकार बोल उठता है कि ज्ञानकी स्पष्टता तो इन्द्रियोंसे आ जाती है। अर्थात् जो ज्ञान इन्द्रियोंसे जन्य हैं, वे स्पष्ट हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि यह उन नैयायिकोंका कहना युक्तिरहित है। क्योंकि यदि इन्द्रियोंसे ही ज्ञानमें स्पष्टपना आने लगे तो अधिक दूरवर्ती वृक्ष डेरा आदिके ज्ञानको तथा दिनमें उलूक आदि तामसपक्षियोंके समुदायको होनेवाले ज्ञानको भी स्पष्टपनेका प्रसंग होगा। अंधकारमें अच्छा देखनेवाले तामस पक्षियोंका दिनके अवसरपर हुआ पदार्थोंका अविशद ज्ञान इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ तो है ही। अतः नैयायिक या वैशेषिकोंके ऊपर यह व्यभिचार दोष लगा।

तदुत्पादकमक्षमेव न भवति दूरतमदिवसकरप्रतापाभ्यामुपहतत्वात् मरीचिकासु तोयाकारज्ञानोत्पादकाक्षवदिति चेत् तर्हि ताभ्यामक्षस्य स्वरूपमुपहन्यते शक्तिर्वा। न तावदाद्यः पक्षः तत्स्वरूपस्याविकलस्यानुभवात्। द्वितीयपक्षे तु योग्यतासिद्धिस्तद्व्यतिरेकेणाक्षशक्तेरव्यवस्थितेः क्षयोपशमविशेषलक्षणायाः योग्यताया एव भावेंद्रियाख्यायाः स्वीकरणार्हत्वात्।

इसपर यदि नैयायिक यों कहें कि उन दूरवर्ती वृक्षके ज्ञान या दिनमें तामस पक्षियोंके ज्ञानोंको उत्पन्न करानेवाली तो इन्द्रिया हीं नहीं रहीं हैं। कारण कि अधिक दूर देशसे और सूर्यके प्रतापसे वे इन्द्रिया नष्ट हो चुकी हैं। जब कारण ही मर गया तो कार्य भी नहीं हो पाता है। जसे कि चमकते हुये वालू रेत या फूले हुये कांस आदि मृगतृष्णाओंमें जलका विकल्प करनेवाले ज्ञानकी उत्पादक इन्द्रिया चकाचोंध, अतिव्याकुलता, आदिसे बिगड जाती हैं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नैयायिकों द्वारा असदुत्तर देनेपर तो हम पूछते हैं कि उन अतिशय दूरदेश अथवा सूर्यप्रताप या चाकचक्यकरके क्या इन्द्रियोंका स्वरूप ही पूरा नष्ट कर दिया गया है ? अथवा क्या इन्द्रियोंकी अभ्यन्तर शक्ति नष्ट कर दी गयी है ? बताओ। तिनमें पहिला पक्ष ग्रहण करना तो ठीक नहीं है। क्योंकि उन इन्द्रियोंके अविकल पूर्णस्वरूपका ठीक ठीक अनुभव हो रहा है।

अर्थात्—इन्द्रियोंका शरीर ठीक वैसाका वैसा ही बना हुआ है। कोई त्रुटि नहीं हो पाती है। चिकित्सा किये विना ही तभी उन्हीं इन्द्रियों करके अन्य भी तो कई समीचीनज्ञान हो रहे हैं। दूसरा पक्ष लेनेपर तो यानी प्रकृष्ट दूर देश या सूर्यकिरण–प्रताप, से चक्षुकी शक्ति नष्ट हुयी मानोगे तब तो योग्यताकी सिद्धि हो जाती है। उस योग्यताके अतिरिक्तपनेकरके इन्द्रिय शक्तिको व्यवस्था नहीं हो सकती है। क्योंकि भावेंद्रिय नामसे प्रसिद्ध हो रही ज्ञानावरण कर्मके विशेष क्षयोपशमस्वरूप योग्यता ही को इन्द्रियशक्तिपना स्वीकार करने योग्य है। "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्" ज्ञानावरणकर्मके सर्वघातिस्पर्धकोंका उदयाभावस्वरूप क्षय यानी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्री नहीं मिल सकनेके कारण विपाक दिये विना ही खिर जाना और भविष्यकालमें उदय आनेवाले ज्ञानावरणके सर्वघातिस्पर्धकोंका उदीरणा, उदय आवलीमें नहीं पडते हुये वहाका वहा ही सदवस्थारूप उपशम दशामें पडा रहनास्वरूप उपशम तथा ज्ञानको एक देशसे घातनेवाले देशघातिस्पर्धकोंका उदय होना, ऐसी क्षयोपशमरूप दशा होनेपर आत्माकी विशुद्धि जो हो जाती है, वह भावेन्द्रियनामकी योग्यता है। वही इन्द्रियोंकी शक्ति मानने योग्य है। दूरदेश या उलूक आदिको घामका प्रकरण उपस्थित होनेपर अथवा अतिनिकटवर्ती अंजन, पलक आदिको देखनेका पुरुषार्थ करनेपर स्पष्टज्ञानावरणके क्षयोपशमरूप योग्यताके नहीं मिलनेसे स्पष्टज्ञान नहीं हो पाया है। अतः ज्ञानका स्पष्टपना और अस्पष्टपना स्वकीय योग्यताके अनुरूप हुआ इष्ट करना चाहिये।

ज्ञानस्य स्पष्टताऽऽलोकनिमित्तेत्यपि दूषितम्।
एतेन स्थापितात्वीहा क्षायिकं च वशंकरी ॥ ८ ॥

वैशेषिक कहते हैं कि ज्ञानका स्पष्टपना आलोकके निमित्तसे हो रहा है। अर्थात्—तेजोद्रव्यकी प्रभारूप आलोकका जिन द्रव्य, गुण, जाति, आदि पदार्थोंके साथ संयोग या संयुक्त समवाय अथवा संयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध हो जायगा, उन पदार्थोंके ज्ञानमें उस आलोकके निमित्तसे स्पष्टता आजावेगी। अन्य अनुमान आदि ज्ञानोंमें स्पष्टपना नहीं है। आलोकको उन ज्ञानोंका निमित्तपना नहीं बन सकनेके कारण उनमें अस्पष्टपना व्यवस्थित है। इस प्रकार वैशेषिकोंका कहना भी इस उक्त कथनकरके ही दूषित कर दिया गया समझ लेना। दूरसे वृक्षको देखनेपर या दिनमें उल्लूके लिये उद्भूत आलोक प्राप्त है, तो फिर क्यों नहीं स्पष्टज्ञान होता है? बताओ। अतः व्यभिचारदोष हुआ। वस्तुतः विचारा जाय तो आलोक ज्ञानका कारण नहीं है। भूत, भविष्य, पदार्थोंके साथ आलोकका सन्निधान नहीं होते हुये भी आत्मा, जाति, पृथक्त्व, परिणाम, रस, गंध, कर्म, आदिका क्वचित् स्पष्टज्ञान हो जाता है। उद्भूतरूप या आलोकसंयोगको द्रव्यके चाक्षुषप्रत्यक्षमें समवायसम्बन्धसे और द्रव्यसमवेत रूपादिके प्रत्यक्षमें स्वाश्रयसमवाय सम्बन्धसे अथवा रूपत्व आदिका प्रत्यक्ष करनेमें स्वाश्रयसमवेत समवायसम्बन्धसे खेंचखाचकर परम्परासम्बन्ध द्वारा वहा लाना अन्याय

है। स्वसंवेदनप्रत्यक्षकरके भी अव्याप्ति दोष आता है। अलम्। जैसे अर्थके स्पष्ट अवग्रहको स्थापन किया है, उसी प्रकार ईहाज्ञान भी स्थापित कर लेना। अवाय, धारणा, भी यों ही प्रतिष्ठित हो जाते हैं। कुछ मतिज्ञान और अवधि, मनःपर्यय ज्ञानोंमें अपने क्षयोपशमके अनुसार जैसे स्पष्टपना नियमित है, वैसे ही क्षायिक केवलज्ञानमें कर्मोंके क्षयरूप योग्यताके अधीन होकर स्पष्टपना व्यवस्थित है। स्पष्टज्ञानको करानेवाली योग्यता ही ज्ञानके स्पष्टपनको वश कर रही है।

सैवास्पष्टत्वहेतुः स्याद्व्यंजनावग्रहस्य नः।
गंधादिद्रव्यपर्यायग्राहिणोप्यक्षजन्मनः ॥ १ ॥

अस्पष्ट ज्ञानको वश करनेवाली वह योग्यता ही ज्ञानके अस्पष्टपनका कारण है। जैसे कि दर्पणकी विशद स्वच्छता और अविशद स्वच्छताके निमित्त तैसे तैसे पारेका पोतना आदि हैं। गंध रस, स्पर्श, इनसे युक्त पुद्गल द्रव्य अथवा इन गुण या द्रव्योंकी सुगंध, काला, उष्णता, आदि पर्यायों अथवा शब्दस्वरूप पर्यायोंको ग्रहण करनेवाले तथा चार इन्द्रियोंसे उत्पन्न भी हो रहे व्यंजनावग्रहको हम स्याद्वादियोंके यहां अस्पष्ट क्षयोपशम अनुसार अस्पष्टपना नियत हो रहा माना गया है।

यथा स्पष्टज्ञानावरणवीर्यांतरायक्षयोपशमविशेषादस्पष्टता व्यवतिष्ठत इति नान्यो हेतुरव्यभिचारी तत्र संभाव्यते ततोर्थस्यावग्रहादिः स्पष्टो व्यंजनस्यास्पष्टोऽवग्रह एवेति सूक्तम् ॥

जिस प्रकार ज्ञानावरणके स्पष्ट क्षयोपशमसे कतिपय ज्ञानोंका स्पष्टपना व्यवस्थित है। उसी प्रकार ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके अस्पष्ट क्षयोपशमविशेषसे किन्हीं ज्ञानोंका अस्पष्टपना व्यवस्थित हो रहा है। इस प्रकार ज्ञानके स्पष्टपन और अस्पष्टपनकी व्यवस्था हो चुकी है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई हेतु उनकी व्यवस्था करनेमें व्यभिचारदोषरहित नहीं सम्भावित हो रहा है। तिस कारण सूत्रकार और हमने यों बहुत अच्छा कहा था कि अर्थ–वस्तुके बहु आदिक धर्मोंके हुये अवग्रह ईहा आदिक कतिपय मतिज्ञान स्पष्ट हैं। और अव्यक्त अर्थका केवल एक अवग्रह ही अस्पष्ट होता है।

इस सूत्रका सारांश।

इस सूत्रके भाष्यमें प्रथम ही विशेष नियम करनेके लिए सूत्रका आरम्भ करना बताकर जल भक्षणका दृष्टान्त देकर अव्यक्त शब्द आदि समुदायका व्यञ्जनावग्रह होना ही नियत किया है। सामान्यधर्मकी प्रधानतासे अव्यक्त अर्थको अविशद जानना अपने वैसे क्षयोपशमके अधीन है। लौकिकजनोंके सभी प्रत्यक्ष स्पष्ट ही होय या पूरे विशेष अंशोंको जाननेवाले ही होय ऐसा कोई नियम नहीं है, इसका विशेष विचार किया है। अस्पष्ट तर्कणा करना, श्रुतज्ञानका व्यापकलक्षण

नहीं है। दूरवर्ती वृक्षके इन्द्रियजन्य ज्ञानको भी कथंचित् अस्पष्टपना व्यवस्थित किया है। स्वांशको स्वसम्वेदन प्रत्यक्षद्वारा जाननेमे सभी ज्ञान स्पष्ट हैं। एतावता व्यंजनावग्रह अपने विषयको भी जाननेमें स्पष्ट नहीं हो सकता है। स्पष्टपना, अस्पष्टपना, अर्थका धर्म नहीं है। किन्तु स्वकीय तादृश क्षयोपशमके अनुसार ज्ञानकी गाठके वे धर्म हैं। नैयायिक या वैशेषिकोंके कथन अनुसार इन्द्रिय और आलोकसे ज्ञानका स्पष्टपन और अस्पष्टपन व्यवस्थित नहीं है। प्रकाशक पदार्थकी योग्यता अनुसार प्रकाश्य अर्थमें स्पष्टपना अस्पष्टपना व्यवहृत हो जाता है। घनांगुलके असंख्यातवें भाग और संख्यातवें भाग परिमाण लम्बी, चौडी, पौद्गलिक या आत्मप्रदेशस्वरूप द्रव्येन्द्रियोंसे अतिरिक्त लब्धि, उपयोगपर्यायस्वरूप भावइन्द्रिया भी हैं। प्रत्येक कार्यमें अंतरंग कारणोंकी आवश्यकता पडती है। मोटापन, सौन्दर्य, लावण्य, धनवत्ता, जैसे विद्वत्तामें प्रयोजक नहीं हैं, उसी प्रकार इन्द्रिय, आलोक, उद्भूतरूप, महत्त्व, अर्थ, ये ज्ञानमें विशदपनेके प्रतिष्ठापक नहीं हैं। अस्पष्ट और स्पष्ट क्षयोपशम या स्पष्ट क्षयके अनुसार ज्ञानका स्पष्टत्व, अस्पष्टत्व नियत हो रहा है। अन्य कोई उनका निर्दोष कारण नहीं है।

शब्दादिजातधर्माणामव्यक्तस्य च धर्मिणः।
सामान्यार्थप्रकाशी स्याद् व्यंजनावग्रहोऽस्फुटं ॥ १ ॥

———×———

उक्त सूत्र अनुसार सम्पूर्ण इन्द्रियोंके द्वारा सामान्यरूपकरके व्यंजनावग्रह हो जानेका प्रसंग प्राप्त होनेपर जिन इन्द्रियोंसे व्यंजनावग्रह होनेका सर्वथा असम्भव है, उन दो इन्द्रियोंद्वारा व्यंजनावग्रहका निषेध करनेके लिये श्रीउमास्वामी महाराज नवीन सूत्र रचते हैं।

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्यां ॥ १९ ॥

चक्षु इन्द्रिय और अनिन्द्रिय यानी मनकरके व्यंजनावग्रह नहीं होता है। शेष चार इन्द्रियोंसे ही होता है। ज्ञानमें जितने झगडे टंटे, उपाधियोंका आधिक्य होगा उतना ही ज्ञान मन्द होता जायगा। चक्षु और मन ज्ञान करानेमें अर्थके साथ प्राप्ति होनेका पुंछल्ला नहीं लगाते हैं। अतः वे छोटेसे छोटे ज्ञानको भी अस्पष्ट अवग्रहरूप नहीं बना पाते हैं। हाथीका छोटासा भी ग्रास मनुष्यके बहुत बडे ग्राससे कहीं अधिक होता है। अतः चक्षु और मनके द्वारा हुआ ज्ञान व्यक्त अर्थका ही होगा, अव्यक्तका नहीं।

किमवग्रहेहादीनां सर्वेषां प्रतिषेधार्थमिदमाहोस्विद् व्यंजनावग्रहस्यैवेति शंकायामिदमाचष्टे ।

कोई शंका करता है कि अव्यक्त अर्थके अवग्रह, ईहा, आदिक सभी ज्ञानोंके निषेध करनेके लिए क्या उमास्वामी महाराजने यह सूत्र कहा है ? अथवा क्या अव्यक्त अर्थके व्यंजनावग्रहके ही निषेधार्थ यह सूत्र कहा है ? अर्थात् अव्यक्त अर्थके व्यंजनावग्रह समान क्या ईहा आदिक ज्ञान भी चक्षु, मन, इन्द्रियोंसे नहीं हो सकेंगे ?, ठीक ठीक बताओ। इस प्रकार उचित शंका होने पर श्रीविद्यानन्द आचार्य उसके उत्तरमें यह व्यक्त व्याख्यान कहते हैं कि—

नेत्याद्याह निषेधार्थमनिष्टस्य प्रसंगिनः ।
चक्षुर्मनोनिमित्तस्य व्यंजनावग्रहस्य तत् ॥ १ ॥
व्यंजनावग्रहो नैव चक्षुषानिंद्रियेण च ।
अप्राप्यकारिणा तेन स्पष्टावग्रहहेतुना ॥ २ ॥

पूर्वमें कहे गये " व्यंजनस्यावग्रहः " इस सूत्र अनुसार चक्षु और मनके निमित्तसे भी व्यंजनावग्रह हो जानेका प्रसंग आता है, जो कि इष्ट नहीं है। अतः प्रसंगप्राप्त उस अनिष्टका निषेध करनेके लिये " न चक्षुरनिन्द्रियाभ्यां " इस प्रकार सूत्रको श्रीउमास्वामी महाराज कहते हैं। ज्ञेयविषयोंको प्राप्त नहीं कर ज्ञान करानेवाले चक्षु और मनकरके व्यंजनावग्रह नहीं होता है। यह सूत्रका अर्थ है। स्पष्ट अवग्रहके कारण हो रहे उन चक्षु और मन करके अव्यक्त अर्थका अवग्रह नहीं हो पाता है। अतः परिशेष न्यायसे निकल पडता है कि अव्यक्त अर्थके ईहा आदिकज्ञान चक्षु और मन तथा अन्य स्पर्शन आदि इन्द्रियोंसे नहीं हो पाते हैं। जब कि पूर्व सूत्रमें अव्यक्त अर्थका व्यजन अवग्रह होना ही बताया गया है तो उस हीसे अव्यक्त विषयमें छहों इन्द्रियोंकरके ईहा, अवाय, आदि मतिज्ञानोंका निषेध हो जाता है। व्यक्त ही अर्थमें धारणापर्यंत ज्ञान होकर स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, अनुमान, आदिज्ञान उत्पन्न होते हैं। भले ही वे स्मरण आदिक अस्पष्ट होवे। अत· यह सूत्र चक्षु और मन द्वारा अव्यक्त अर्थोके अवग्रह, ईहा, आदि सभी ज्ञानोंके निषेधार्थ है। जब अवग्रह ही नहीं हो पाता हो चक्षु, मनसे अव्यक्तके ईहा आदि कैसे हो सकेंगे ?

प्राप्यकारींद्रियैश्चार्थे प्राप्तिभेदाद्धि कुत्रचित् ।
तद्योग्यतां विशेषां वाऽस्पष्टावग्रहकारणं ॥ ३ ॥

विषयको प्राप्त होकर ज्ञान करानेवाली इन्द्रियोंकरके अर्थमें प्राप्ति हो जानेके भेदसे कहीं कहीं अस्पष्ट अवग्रहके कारण उस योग्यताविशेषको प्राप्तकर व्यंजनावग्रह हो जाता है। अर्थात् स्पृष्ट अर्थका स्पर्शना या स्पर्शकर बंधजानास्वरूप प्राप्ति होकर श्रोत्र, त्वक्, रसना, घ्राण इन्द्रियों करके अस्पष्टअवग्रहकी योग्यता प्राप्त होनेपर व्यंजनावग्रह मतिज्ञान हो जाता है।

यथा नवशरावादौ द्वित्र्याद्यास्तोयबिंदवः ।
अव्यक्तामार्द्रतां क्षिप्ताः कुर्व्वंति प्राप्यकारिणः ॥ ४ ॥
पौनःपुन्येन विक्षिप्ता व्यक्तां तामेव कुर्वते ।
तत्प्राप्तिभेदतस्तद्वदिंद्रियाण्यप्यवग्रहम् ॥ ५ ॥

जिस प्रकार कि मिट्टीके नये शकोरा, मोलुआ आदि बर्तनोंमें छोटी छोटी पानीकी दो, तीन, चार आदिक बिन्दुयें प्राप्यकारी होकर गेर दी गयीं अव्यक्त गीलेपनको करती हैं, हां, पुनः पुनः स्वरूपकरके कई वार डालीं गयीं वे ही जलबिन्दुये उस व्यक्त आर्द्रताको कर देती हैं। क्योंकि व्यक्त, अव्यक्त गीला करनेमें उन जलबिन्दुओंकी पात्रके साथ प्राप्ति विशिष्ट प्रकारकी है। उसीके समान चार इन्द्रिया और दो इन्द्रिया भी अवग्रहको अव्यक्त और व्यक्त कर देती हैं।

अप्राप्तिकारिणी चक्षुर्मनसी कुरुतः पुनः ।
व्यक्तामर्थपरिच्छित्तिमप्राप्तेरविशेषतः ॥ ६ ॥
यथायस्कांतपाषाणः शल्याकृष्टिं स्वशक्तितः ।
करोत्यप्राप्यकारीति व्यक्तिमेव शरीरतः ॥ ७ ॥

किन्तु फिर चक्षु और मन ये दो इन्द्रियां तो अप्राप्यकारी होती हुई व्यक्त अर्थज्ञप्तिको करती हैं। क्योंकि दोनों इन्द्रियोंमें अप्राप्ति होनेका कोई अन्तर नहीं है, जैसे कि दूरसे लोहेको खीचनेवाला चुम्बक पत्थर अपनी शक्तिसे ही सूई, बाण आदिका आकर्षण कर लेता है। इस कारण वह चुम्बक पाषाण आकर्ष्यविषयके साथ प्राप्ति नहीं करता हुआ अपने शरीरसे ही खेंचना रूप कार्यको व्यक्त ही कर देता है। चुम्बक पाषाण दो प्रकारके होते हैं। पहिले तो दूरसे ही लोहेको खींचकर चुपटा लेते हैं। दूसरे वे हैं, जो दूरसे तो खींच नहीं सकते हैं, किन्तु लोहेका स्पर्श हो जानेपर उसको खींचे रहते हैं। ऐसी ही दशा अप्राप्यकारी और प्राप्यकारी इन्द्रियोंकी समझ लेना।

न हि यथा स्वार्थयोः स्पृष्टिलक्षणाप्राप्तिरन्योपचयस्पृष्टितारतम्याद्भिद्यते तथा तयोरप्राप्तिर्देशव्यवधानलक्षणापि कार्त्स्न्येनास्पृष्टेरविशेषात् ।

कारण कि स्व यानी इन्द्रियां और अर्थका स्पर्श हो जानास्वरूप प्राप्ति जिस प्रकार कि दूसरेके साथ न्यून अधिक, गाढ, एकदेश, सर्वदेश, भीतर, बाहर, बढा हुआ, घटा हुआ, आदि छूनेके तारतम्यसे न्यारी न्यारी हो जाती है, उस प्रकार उन इन्द्रिय और विषयोंकी देशिक व्यवधान स्वरूप अप्राप्ति भी भिन्न भिन्न नहीं होती है। क्योंकि अपने पूर्ण स्वरूपकरके दूरदेशवर्त्ती विषयके

साथ अस्पर्श होनेका कोई अन्तर नहीं है। शिरके चार अंगुल ऊपर छतमें लटक रहे पदार्थका जैसे कोई बोझ शिरपर नहीं है, वैसे ही चार हाथ, दस हाथ, ऊपर लटक रहे भारी पदार्थका भी शिरपर कोई लदना नहीं है। एक दिन पूर्वमें या हजार वर्ष पूर्वमें नष्ट होगये पदार्थका असद्भाव वर्तमानमें एकसा है। कोई अन्तर नहीं है। अन्धी बहिनका भाईके साथ थोडा या अधिक हुआ विश्लेष एकसा है। अर्थात् प्राप्यकारी चार इन्द्रियोंकी विषयके साथ भावरूप प्राप्तिका तो भेद हो सकता है। किन्तु अप्राप्यकारी दो इन्द्रियोंकी विषयोंके साथ अभावस्वरूप होती हुई अप्राप्ति तो न्यारी न्यारी नहीं है।

तद्व्यवधायकदेशास्पदादप्राप्तिरपि भिद्यते एवेति चेत् किमयं पर्युदासप्रतिषेधः प्रसज्यप्रतिषेधो वा? प्रथमपक्षेऽक्षार्थाप्राप्तिरन्या न वार्थः पुनरेवं "नञिव युक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः" इति वचनात् सा च नावग्रहादेः कारणमिति तद्भेदेपि कुतस्तद्भेदः। द्वितीयपक्षे तु प्राप्तेरभावोऽप्राप्तिः सा च न भिद्यतेऽभावस्य स्वयं सर्वत्राभेदात्।

यदि कोई यों कहे कि उन दोनोंके मध्यमें अन्तराल करानेवाले देशोंका आधान होजानेसे अप्राप्ति भी तो भिन्न भिन्न हो जाती है। शत्रुका पाचसौ कोस, दस कोस, एक कोस, पचास गज दूर रहना न्यारे न्यारे प्रकारके संकटका उत्पादक है। सौ वर्ष, एक वर्ष, एक दिन, एक घडी, पूर्वकालोंमें मरे हुये इष्टप्राणीका वियोग भिन्न भिन्न जातिके शोकोंका उत्पादक है। परदेशसे धन, यश, कमाकर आरहे पुरुषको मार्गमें माता, पुत्र, पत्नीवाली जन्मभूमिके साथ रह गया थोडा थोडा देशव्यवधान अन्य अन्य प्रकारोंकी चित्तमें, गुदगुदियें उत्पन्न कराता है। इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन पूछेंगे कि अप्राप्ति शद्बमें पडा हुआ यह नञ् क्या उत्तरपदके पूर्वमें मिल रहा और तद्भिन्न तत्सदृशको ग्रहण करनेवाला पर्युदास निषेध है? अथवा क्या क्रियाके साथ अन्वित होकर सर्वथा निषेध करनेवाला प्रसज्यअभाव है? बताओ। प्रथमपक्ष ग्रहण करनेपर अर्थकी अप्राप्ति तो न्यारी हो जायगी। किन्तु फिर अर्थ तो इस प्रकार न्यारा न्यारा नहीं हो सकेगा। क्योंकि परिभाषाका ऐसा वचन प्रसिद्ध हो रहा है कि पर्युदासपक्षमें नञ्का अर्थ इवकार युक्त है। तिस प्रकार नियमसे अन्य सदृश अधिकरणमें अर्थकी ज्ञप्ति हो जाती है। " भूतले घटाभावः " यहां घटाभावका अर्थ रीता भूतल है। किन्तु वह अप्राप्ति तो चक्षु, मन द्वारा हुये अवग्रह, ईहा, आदि ज्ञानोंका कारण नहीं है। अतः उस एक हाथ, सौ धनुष, पाचसौ योजन आदि देश भेदसे अप्राप्तिका भेद होनेपर भी उन अवग्रह आदि ज्ञानोंमें भला भेद कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं। इस कारण सिद्ध होता है कि प्राप्तिका भेद हो जानेसे स्पार्शन या श्रोत्रजन्य व्यंजनावग्रहोंमें तो कुछ अन्तर है। किन्तु चक्षु, मनसे हुये अर्थावग्रहोंमें एकसी अप्राप्ति होनेके कारण अन्तर नहीं है। द्वितीय प्रसज्यपक्षका आश्रय करनेपर तो प्राप्तिका अभाव अप्राप्ति पडेगा। किन्तु वह अप्राप्ति तो स्वयं भिन्न नहीं हो रही है। अभाव पदार्थ तो स्वयं सर्वत्र भेद नहीं रखता हुआ एकसा वर्त रहा

है। जैसा ही चाण्डालके शिरपर सींगोंका अभाव है, ऐसा ही राजा, सम्राट्, जैन, ब्राह्मण, मुनि महाराजके उत्तम अंगपर भी विषाणोंका अभाव है। अभावमें कोई अन्तर नहीं है। इस स्पष्ट कथन करनेमें लज्जा और अपमानकी कोई बात नहीं है। रत्नमें और डेलमें ज्ञानका अभाव एकसा है। अतः अप्राप्यकारी इन्द्रियोंसे अवग्रह एकसा बनेगा। यों अगुरुलघुगुणद्वारा सूक्ष्मभेद सर्वत्र फैल रहा है। उस केवलान्वयी भेदको कौन टाल सकता है ? कोई भी नहीं।

कथमवग्रहाद्युत्पत्तौ सा कारणमिति चेत् तस्यां तत्प्रादुर्भावानुभवात् निमित्तमात्रत्वोपपत्तेः प्राप्तिवत् प्रधानं तु कारणं स्वावरणक्षयोपशम एवेति न किंचन विरुद्धमुत्पश्यामः।

आप जैन उस प्रसज्यरूप अप्राप्तिको अवग्रह आदि ज्ञानोंकी उत्पत्तिमें कारण कैसे कह देते हो ? इस प्रकार प्रश्न करनेपर तो हम यही उत्तर देंगे कि उस अप्राप्तिके होनेपर उन अवग्रह आदिकोंकी उत्पत्ति होनेका अनुभव हो रहा है। अतः सामान्यरूपसे केवल निमित्तपना अप्राप्तिको बन जाता है। जैसे कि प्राप्यकारी चार इन्द्रियोंद्वारा अवग्रह आदि उत्पन्न होनेमें प्राप्तिको सामान्य निमित्तपना बन जाता है। हां, अवग्रह आदि ज्ञानोंकी उत्पत्तिमें प्रधानकारण तो अपने अपने आवरण कर्मोंका क्षयोपशम ही है। इस प्रकार सिद्धान्त करनेमें हम किसी विरुद्धदोषको नहीं देख रहे हैं। पुण्य और पाप या अयस्कान्त जैसे पदार्थको नहीं प्राप्त कर ही खींच लेते हैं। तद्वत् चक्षु और मन इन्द्रिया अप्राप्त अर्थको विषय कर लेती हैं। कोई विरोध नहीं है।

अत्र परस्य चक्षुषि प्राप्यकारित्वसाधनमनूद्य दूषयन्नाह।

इस प्रकरणमें दूसरे विद्वान् वैशेषिकोंके चक्षुमें प्राप्यकारीपनके साधनको अनुवाद कर दूषित कराते हुये आचार्य महाराज स्पष्ट विवेचन कर कहते हैं।

चक्षुः प्राप्तपरिच्छेदकारणं बहिरिन्द्रियात्।
स्पर्शनादिवदित्येके तन्न पक्षस्य बाधनात् ॥ ८ ॥

चक्षु (पक्ष) अपने साथ संबद्ध हो चुके अर्थकी परिच्छित्तिका कारण है (साध्य) बाह्य इन्द्रिय होनेसे (हेतु) स्पर्शन, रसना, आदि इन्द्रियोंके समान (अन्वयदृष्टान्त) इस प्रकार कोई एक वैशेषिक या नैयायिक मान रहे हैं। उनका वह मन्तव्य ठीक नहीं है। क्योंकि प्रतिज्ञा वाक्यकी प्रमाणोंद्वारा बाधा उपस्थित हो जानेसे, बहिरिन्द्रियत्वहेतु कालात्ययापदिष्ट है। सभी आखोंवाले जीव दूरवर्त्ती पदार्थोंको ही देखते हैं। प्रत्युत आखसे चुपटा दिया गया पदार्थ तो दीखता भी नहीं है।

बाह्यं चक्षुर्यदा तावत् कृष्णतारादि दृश्यताम्।
प्राप्तं प्रत्यक्षतो बाधात् तस्यार्थाप्राप्तिवेदिनः ॥ ९ ॥

शक्तिरूपमदृश्यं चेदनुमानेन बाधनम् ।
आगमेन सुनिर्णीतासंभवद्बाधकेन च ॥ १० ॥

यहां चक्षु पक्ष किया गया है, जब बाह्यचक्षु कृष्ण तारामण्डल, गोलक आदि स्वरूप देखा जायगा, तब तो अर्थकी अप्राप्ति कर जाननेवाले गोलकरूप चक्षुका प्राप्त होना प्रत्यक्ष-प्रमाणसे ही बाधाजाता है । अथवा बालवृद्धोंद्वारा दीखनेपनको प्राप्त हो रहे कृष्ण तारा आदिक बहिरंग चक्षु जब चक्षुपदसे लिये जायंगे तब तो अर्थकी अप्राप्ति कर जाननेवाली उस चक्षुकी प्रत्यक्षसे ही बाधा उपस्थित होती है । यानी पक्ष प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित है । हां, यदि नहीं दीखनेमें आ रहा ऐसा कोई शक्तिरूप चक्षु पकडा जायगा, तब तो अनुमान प्रमाणसे बाधा उपस्थित हो जायगी । और भले प्रकार निर्णीत किया गया है बाधक प्रमाणोंका असंभव होनापन जिसका, ऐसे आगमप्रमाणकरके भी प्राप्यकारी साधनेवाला अनुमान बाध दिया जाता है, जिसको कि अभी स्पष्ट कहेंगे ।

व्यक्तिरूपस्य चक्षुषः प्राप्यकारित्वे साध्ये प्रत्यक्षेण बाध्यते पक्षोनुष्णोग्निरित्या-दिवत् । प्रत्यक्षतः साध्यविपर्ययसिद्धेः । शक्तिरूपस्य तस्य तथात्वसाधनेनुमानेन बाध्यते तत एव सुनिर्णीतासंभवद्बाधकेनागमेन च ।

लौकिक जनोंमें प्रसिद्ध हो रहे गोलकस्वरूप व्यक्तिरूप चक्षुका प्राप्यकारीपना साध्य करनपर तो प्रतिज्ञास्वरूप पक्ष प्रत्यक्षप्रमाण करके ही बाधित हो जाता है । जैसे कि अग्नि ठण्डी है, यह पक्ष स्पार्शनप्रत्यक्षकरके बाधित है । साध्य किये गये ठण्डेपनेसे विपरीत उष्णपना अग्निमें प्रत्यक्षप्रमाणकरके सिद्ध हो रहा है । उसी प्रकार प्रसिद्ध दृश्यमान गोलकरूप चक्षुका प्राप्यकारीपन साध्यसे विपर्यय अप्राप्यकारीपना चाक्षुषप्रत्यक्ष या स्पार्शनप्रत्यक्षसे सिद्ध हो रहा है । आंखवाले जीवोंकी चक्षुयें मस्तकके अधोभागमें सन्मुख स्थित हैं । और घट, वृक्ष, पर्वत, चन्द्रमा आदि द्रष्टव्य पदार्थ कुछ दूर देशमें स्थित हो रहे हैं । चक्षुका घट आदिके निकट जाना और घट आदिका चक्षुके अतिनिकट आकर छू लेना प्रत्यक्षगोचर नहीं है । यदि आप नैयायिक उस शक्तिरूप चक्षुका तिस प्रकार प्राप्यकारीपना साधन करोगे, यानी गोलक चक्षुके कृष्ण ताराके अग्रभागमें वर्त्तरही चक्षुकी शक्ति विषयको प्राप्तकर ज्ञान कराती है मानोगे, तब तो आपका पक्ष अनुमानप्रमाणसे बाधित हो जायगा । उस ही कारण यानी साध्यसे विपरीत अप्राप्यकारीपनकी सिद्धि हो जानेसे तुम वैशेषिकोंका अनुमान ठीक नहीं है ! तथा जिसके बाधक प्रमाणोंका असम्भव होना अच्छा निर्णीत हो रहा है, उस आगमकरके भी तुम्हारा पक्ष बाधित है " अपुट्ठ पुण पस्सदे रूवं " छूकर विना ही चक्षुद्वारा रूप या रूपवान् पदार्थ देख लिया जाता है, इत्यादि आगमप्रसिद्ध है ।

किं तदनुमानं पक्षस्य बाधकमित्याह ।

हमारे पक्षका बाधक वह अनुमान कौनसा है ? भला बताओ तो सही, इस प्रकार वैशेषिकोंकी जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज उस अनुमानको स्पष्ट कहते हैं ।

तत्राप्राप्तिपरिच्छेदि चक्षुः स्पृष्टानवग्रहात् ।
अन्यथा तदसंभूतेर्घ्राणादेरिव सर्वथा ॥ ११ ॥

चक्षु (पक्ष) जिस पदार्थके साथ चक्षुकी प्राप्ति नहीं है, उस अप्राप्त अर्थकी ज्ञप्ति करानेवाली है (साध्य) । सर्वथा छूये जा रहे अंजन, पलक, कामलदोष, आदिका अवग्रहज्ञान करानेवाली नहीं होनेसे (हेतु) अन्यथा यानी अप्राप्य अर्थके परिच्छेदीको माने विना चक्षुको वह स्पृष्ट पदार्थका अवग्रह नहीं होना सर्वथा असम्भव है, जैसे कि नासिका, रसना आदि इन्द्रियोंको अप्राप्त अर्थ परिच्छेदी नहीं होनेपर ही स्पृष्टका अनवग्रह नहीं है, अर्थात्—जो इन्द्रियां प्राप्त अर्थकी ज्ञप्ति कराती हैं, वे छूये हुये अर्थका अवग्रह अवश्य कराती हैं, (व्यतिरेक दृष्टांत) ।

केवलव्यतिरेकानुमानमन्यथानुपपत्त्येकलक्षणयोगादुपपन्नं पक्षस्य बाधकमिति भावः ।

साध्याभावके व्यापकीभूत अभावका प्रतियोगीपना व्यतिरेकव्याप्ति है । उस केवल व्यतिरेकव्याप्तिको धारनेवाले हेतुसे उत्पन्न हुआ यह आप वैशेषिकोंके मन्तव्य अनुसार माना गया केवलव्यतिरेकी ऐसा और हमारे माने गये अन्यथानुपपत्ति नामक एक लक्षणवाले हेतुके योगसे सिद्ध हो रहा अनुमान उस चक्षुके प्राप्यकारीपनको साधनेवाले पक्षका बाधक हो जाता है, यह हमारा तात्पर्य है ।

अत्र हेतोरसिद्धतामाशंक्य परिहरन्नाह ।

इस केवलव्यतिरेकी अनुमानमें दिये गये हेतुके असिद्धपनकी आशंका कर पुनः उसका परिहार करते हुये आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं । अर्थात्—चक्षुःस्वरूप पक्षमें स्पृष्ट पदार्थका अवग्रह नहीं करनारूप हेतु नहीं रहता है, यह नहीं समझना । कथमपि हमारा हेतु असिद्ध हेत्वाभास नहीं है । देखिये—

चक्षुषा शक्तिरूपेण तारकागतमंजनं ।
न स्पृष्टमिति तद्धेतोरसिद्धत्वमिहोच्यते ॥ १२ ॥
शक्तिः शक्तिमतोन्यत्र तिष्ठतार्थेन युज्यते ।
तत्रस्थेन तु नैवेति कोन्यो ब्रूयाज्जडात्मनः ॥ १३ ॥

यदि वैशेषिक मनमें यह आशंका रक्खें कि शक्तिस्वरूप चक्षुकरके आखके ताराओंमें लगा हुआ अंजन (सुरमा) नहीं छुआ गया है । अतः उस स्पृष्ट अनवग्रह हेतुका असिद्धपना यहां कहा जाता है । इस प्रकार वैशेषिकोंकी मनीषा ज्ञात होनेपर तो आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं कि शक्तिमान् पदार्थकी शक्ति अन्य देशमें स्थित हो रहे अर्थके साथ तो युक्त हो जाय, किन्तु उसी शक्तिमान्के देशमें स्थित हो रहे पदार्थके साथ युक्त नहीं होवे, इस बातको जड आत्माको माननेवाले नैयायिक या वैशेषिकके अतिरिक्त दूसरा कौन चोखा विद्वान् कह सकेगा ? यानी कोई नहीं । भावार्थ—वैशेषिकोंने आत्माको ज्ञानगुणसे सर्वथा भिन्न माना है । ऐसी दशामें आत्मा अपने गाठके निजस्वरूपसे तो जड ही हुआ । जो मनुष्य दूसरोंके भूषण, वस्त्र, मागकर सम्पन्न बना हुआ है, वह वस्तुतः दरिद्र ही है । जब कि नैयायिक या वैशेषिकोंकी आत्मा जड है, तभी वे ऐसी युक्तिशून्य बातें हाकते हैं कि शक्तिमान् चक्षु तो उत्तमागमें है और उसकी शक्तिया दूरवर्ती पर्वत आदि पदार्थोंके साथ जुड जाती हैं । भला विचारो तो सही कि शक्तिया भी कहीं अपने शक्तिमान् अर्थको छोडकर दूरदेशमें ठहर सकती हैं ? अर्थात् नहीं । शक्तिया शक्तमें ही रहती हैं । भले ही वे वहीं बैठी हुई दूर देशमें कार्योंको कर देवें, यह दूसरी बात है । किन्तु अपने शक्तिमान् आश्रयको छोडकर अन्यत्र नहीं जा सकती हैं । शरीर परिमाण बराबर आत्मामें ठहर रहे पुण्य, पाप, हजारो योजन, असंख्ययोजन दूरवर्ती पदार्थोंमें क्रिया, आकर्षण, आदि करा सकते हैं । दूसरी बात जडपनेकी यह है कि चक्षुसे दूर देशमें पडे हुये पदार्थके साथ तो चक्षुकी शक्ति चिपट जाय, किन्तु चक्षुसे अतिनिकट स्पृष्ट हो रहे अजन, कामल, काजलसे न चिपटे, ऐसी बातोंको चेतनह तो नहीं कह सकते हैं ।

व्यक्तिरूपाच्चक्षुषः शक्तिमतोन्यत्र दूरादिदेशे तिष्ठतार्थेन घटादिना शक्तीन्द्रियं युज्यते न पुनर्व्यक्तिनयनस्थेनांजनादिनेति कोन्यो जडात्मवादिनो ब्रूयात् ।

शक्तिको धारनेवाले व्यक्तिरूप चक्षुसे अन्य स्थलपर दूर, अति दूर आदि देशोंमें स्थिर हो रहे, घट, वृक्ष, पर्वत, चन्द्रमा आदि पदार्थोंके साथ तो शक्तिरूप चक्षुइन्द्रिय संयुक्त हो जाय, किंतु फिर व्यक्ति चक्षुमें स्थित हो रहे अंजन, पलक आदिके साथ संयुक्त नहीं होवे, इस ढपोल शंखी सिद्धान्तको जडआत्मवादी पण्डितके सिवाय और कौन दूसरा विज्ञ कह सकेगा ? अर्थात् चैतन्यस्वरूप आत्माको कहनेवाला विद्वान् ऐसी थोथी बातोंको नहीं कहता फिरता है । अतः हमारा स्पृष्ट अर्थका अप्रकाशकपन हेतु असिद्ध हेत्वाभास नहीं है, सद्धेतु है ।

दूरादिदेशस्थेनार्थेन व्यक्तिचक्षुषः संबंधपूर्वकं चक्षुः संबध्यते तद्वेदनस्यान्यथानुपपत्तेरिति चेत् स्यादेतदेवं यद्यसंबंधेन तत्र वेदनमुपजनयितुं नेत्रेण न शक्येत मनोवत् । न हि प्राप्तिरेव तस्य विषयज्ञानजननिमित्तमंजनादेः प्राप्तस्यावेदनात् । योग्यतायास्तत्राभावात्-

दप्रवेदनमिति चेत् सैवास्तु किं प्राप्तिनिर्बंधेन। योग्यतायां हि सत्यां किंचिदर्थं प्राप्तमर्थं परिच्छिनत्ति किंचिदप्राप्तमिति यथाप्रतीतमभ्युपगंतव्यं।

दूर, अतिदूर, काचव्यवहित, आदि देशोंमें स्थित हो रहे अर्थके साथ व्यक्तिरूप तैजस चक्षुका पहिले सम्बन्ध होकर शक्तिरूप चक्षु उन दूरदेशी पदार्थोंके साथ चुपट जाती है। क्योंकि उन दूरदेशी पदार्थोंका ज्ञान अन्यथा यानी चक्षुका सम्बन्ध हुये विना सिद्ध नहीं हो सकता है, इस प्रकार वैशेषिकोंके कहनेपर तो हम कहेंगे कि इस प्रकारका यह आपका कहना तब हो सकता था कि यदि सम्बन्ध नहीं करके उन दूरदेशवर्ती पदार्थोंमें ज्ञानको उत्पन्न करानेके लिये मनके समान (व्यतिरेक) चक्षुद्वारा सामर्थ्य नहीं होती। किन्तु विषयके साथ सम्बन्ध नहीं करके मनके समान चक्षुद्वारा भी ज्ञान उत्पन्न कराया जा सकता है। उस चक्षुकी विषयके साथ प्राप्ति हो जाना ही कोई विषयज्ञानको उत्पन्न करनेका निमित्त नहीं है। देखिये, आखके साथ सर्वथा चिपट रहे अजन, रगरा आदिका कुछ भी अच्छा वेदन नहीं हो पाता है। यदि आप वैशेषिक यों कहे कि उस अंजन आदिमें चाक्षुषप्रत्यक्ष हो जानेकी योग्यता नहीं है। अतः उनका बढिया वेदन नहीं हो पाता है। इसपर तो हम कहते हैं कि वह योग्यता ही चाक्षुषप्रत्यक्षका निमित्त हो जाओ। व्यर्थ ही चक्षुके साथ विषयकी प्राप्तिका आग्रह करनेसे क्या लाभ है ! अपने अपने लिये उपयोगी हो रहे स्वावरणक्षयोपशमरूप योग्यताके होनेपर ही कोई स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र, इन्द्रिया तो प्राप्त अर्थकी परिच्छित्ति करती हैं। और योग्यता होते सन्ते कोई मन और चक्षु इन्द्रिया अप्राप्त अर्थको जान लेती हैं। इस प्रकार प्रमाणसिद्ध प्रतीत हो रहे पदार्थका अतिक्रमण नहीं करके स्वीकार-कर लेना चाहिये। ऐसा करनेपर ही विद्वत्ताकी रक्षा रह सकती है। औलूक्यदर्शनके अनेक मन्तव्य अप्रातीतिक हैं।

न हि प्राप्त्यभावेऽर्थपरिच्छेदनयोग्यताक्षस्य न संभवति मनोवद्विरोधाभावात्। येन प्रतीत्यतिक्रमः क्रियते ततो न स्वरूपासिद्धो हेतुः।

चक्षु, स्पर्शन, आदि इन्द्रियोंकी विषयके साथ प्राप्ति नहीं माननेपर अर्थज्ञप्ति करानेकी योग्यता ही इन्द्रियोंके नहीं सम्भवती है, यह नहीं समझना। मन इन्द्रियको समान चक्षु इन्द्रियकी भी विषयके साथ प्राप्ति नहीं होनेपर अर्थग्रहण योग्यता हो जानेका कोई विरोध नहीं है, जिससे कि प्रतीतियोंका अतिक्रमण किया जाय। प्रत्युत प्राप्तिका पुंछल्ला नहीं लगानेसे ही मन और चक्षुयें अर्थको व्यक्त जानते हैं। बालक, वृद्ध, पशु, पक्षियोंतकको चक्षुके अप्राप्यकारीपनकी प्रतीति हो रही है। पुस्तकको आखोंसे सर्वथा चुपटा देनेपर एक अक्षर भी नहीं देखा या वाचा जा सकता है। तिस कारण चक्षुमें अप्राप्यकारीपन सिद्ध करनेके लिये दिया गया स्पृष्ट-अनवग्रह हेतु स्वरूपा-सिद्ध हेत्वाभास नहीं है। किन्तु पक्षमें ठहर जाता है।

पक्षाव्यापकोपि न भवतीत्याह ।

यह स्पृष्टानवग्रह हेतु अपने पक्षमें अव्यापक भी नहीं है । अर्थात्—पक्षके पूरे भागोंमें व्याप जाता है । जो हेतु पूरे पक्षमें नहीं व्यापता है, उसको भागासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं । जैसे शब्द और घट (पक्ष) अनित्य हैं (साध्य) श्रवण इन्द्रियकरके प्राह्य होनेसे (हेतु) । यह श्रावणत्व हेतु पक्षके एकदेश शब्दमें तो रह जाता है । किन्तु पक्षके अन्य एकदेश घटमें नहीं रह पाता है । यद्यपि हेतुका पक्षमें रहना आवश्यक गुण नहीं है । फिर भी जिस हेतुका पक्षमें वर्तना कहा जा रहा है, उसका पक्षके एक देशमें ठहरना दोष है । " पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन हेत्वाभाववान् पक्षो यस्य स हेतुः भागासिद्धः " । प्रकरणप्राप्त यह स्पृष्टाप्रकाशकत्व हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास नहीं है । इसी बातको आचार्य महाराज कारिकाद्वारा कहते हैं ।

पक्षाव्यापकता हेतोर्मनस्यप्राप्यकारिणि ।
विरहादिति मंतव्यं नास्यापक्षत्वयोग्यतः ॥ १४ ॥

वैशेषिक मान बैठे है कि जैनोंके यहां चक्षुके समान मन इन्द्रिय भी तो अप्राप्यकारी है । अतः अतिनिकट वर्तरहे पदार्थका अवग्रह नहीं करना यह हेतु मनमें नहीं रहता है । अति समीप हृदयमें पीडा सुख होनेपर मन उनको प्रत्यक्ष जान लेता है, विचार भी कर लेता है । अतः मन इन्द्रियमें हेतुका विरह होनेसे स्पृष्ट अर्थ अप्रकाशकपना हेतु भागासिद्ध है । पूरे पक्षमें नहीं व्यापरहा है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं मानना चाहिये । क्योंकि इस मनको यहां अनुमानमें पक्षपनेकी योग्यता नहीं मानी गयी है । अर्थात् अकेला चक्षुही पक्ष है । उसमें स्पृष्टानवग्रह हेतु व्यापजाता है । मनको अप्राप्यकारीपना अन्य हेतुसे साधलिया जावेगा । शरीरके हृदयदेशसे अतिरिक्त प्रदेशोंमें सुख, दुःख, आदिका अवग्रह करानेवाला होनेसे अथवा भूत, भविष्य या दूरवर्ती, पदार्थोंका विचार करनेवाला होनेसे मन अप्राप्यकारी है ।

चक्षुरेव ह्यत्र पक्षीकृतं न पुनर्मनस्तस्याप्राप्यकारित्वेन प्रसिद्धत्वात् स्वयमप्रसिद्धस्य साध्यत्वेन व्यवस्थापनात् ।

इस प्रकरणगत अनुमानमें अकेला चक्षु ही पहिले पक्ष नहीं होता हुआ अब पक्ष बनाया गया है, किन्तु फिर मनको पक्ष नहीं किया गया है । क्योंकि उस मनकी सबके यहां अप्राप्यकारीपनकरके प्रसिद्धि हो रही है । नैयायिक वैशेषिकोंने भी मनको प्रथमसे ही अप्राप्यकारी स्वीकृत कर रखा है । प्रसिद्धको साध्यकोटिपर नहीं लाते हैं । स्वयं अप्रसिद्ध हो रहेको साध्यपनसे व्यवस्थापित किया गया है । " अप्रसिद्धं साध्यम् " ऐसा ऋषिवचन है ।

न चेदमप्रसिद्धमित्याह ।

विषयके साथ नहीं चुपटकर ज्ञान करादेनापन यह अप्राप्यकारित्व भला मनमें अप्रसिद्ध नहीं है । अर्थात् प्रसिद्ध ही है । इस बातको आचार्य महाराज कहते हैं ।

मनसोऽप्राप्यकारित्वं नाप्रसिद्धं प्रवादिनाम् ।
क्वान्यथातीतदूरादिपदार्थग्रहणं ततः ॥ १५ ॥

बडे अच्छे ढंगके साथ वाद करनेवाले नैयायिक, मीमांसक आदि मतावलम्बियोंके यहां मन इन्द्रियका अप्राप्यकारीपना अप्रसिद्ध नहीं है । अन्यथा यानी अप्राप्यकारीपन माने विना भला कहा उस मनसे अतीत कालके या दूर देशवर्त्ती अथवा भविष्यकालके पदार्थोंका ग्रहण हो सकेगा ? अर्थात्—मनको प्राप्यकारी माननेपर भूत, भविष्य, दूर अतिदूरवर्त्ती पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकेगा, किन्तु होता है । अतः मन अप्राप्यकारी सिद्ध है ।

न ह्यतीतादयो दूरस्थार्था मनसा प्राप्यकारिणा विषयीकर्तुं शक्या इति सर्वैः प्रवादिभिरप्राप्यकारि तदंगीकर्तव्यमन्यथातीतदूरादिवस्तुपरिच्छित्तेरनुपपत्तेः । ततो न पक्षाव्यापको हेतुः स्पृष्टानवग्रहादिति पक्षीकृते चक्षुषि भावात् ।

अतीत, चिरभूत, भविष्य, चिरभविष्य आदि कालोंमें वर्तनेवाले अथवा दूर देशमें स्थित हो रहे अर्थ तो मनको प्राप्यकारी माननेपर उस प्राप्यकारी मनके द्वारा विषय नहीं किये जा सकते हैं । क्योंकि जब वे पदार्थ वर्तमान काल, देशमें विद्यमान ही नहीं हैं, तो उनके साथ मनका सम्बन्ध कथमपि नहीं हो सकता है । इस कारण सभी प्रवादी विद्वानोंकरके वह मन इन्द्रिय अप्राप्यकारी अंगीकार करनी चाहिये अन्यथा यानी अप्राप्यकारी माने विना दूसरे प्रकारोंसे प्राप्यकारी माननेपर अतीतकाल, दूरदेश, आदिमें वर्त रहे पदार्थोंकी परिच्छित्ति होना नहीं बन सकता है । तिस कारण " स्पृष्टानवग्रहात् " यह हेतु पक्षाव्यापक नहीं है । क्योंकि वैशेषिकोंके यहां अप्राप्यकारित्व साधनेके लिये पक्ष नहीं बनायी गयी किन्तु जैनोंके यहां पक्ष कर ली गयी चक्षुमें पूर्णरूपसे विद्यमान रहता है ।

नाप्यनैकांतिको विरुद्धो वा प्राप्यकारिणि विपक्षे स्पर्शनादावसंभवादित्यतो हेतोर्भवत्येव साध्यसिद्धिः ।

यह स्पृष्टानवग्रह हेतु अनैकान्तिक (व्यभिचारी) अथवा विरुद्धहेत्वाभास भी नहीं है । क्योंकि अप्राप्यकारीपन साध्यके अभावको निश्चय करके रखनेवाले स्पर्शन, रसना इन्द्रिय आदि विपक्षके एक देश या पूरे चार इन्द्रियांस्वरूप विपक्षमें हेतु नहीं सम्भवता है । इस प्रकार इस स्पृष्टानवग्रह निर्दोष हेतुसे अप्राप्तअर्थके परिच्छेदीपन साध्यकी सिद्धि हो ही जाती है ।

इतश्च भवतीत्याह ।

दूसरे इस हेतुसे भी अप्राप्यकारीपन साध्यकी चक्षुमें सिद्धि हो जाती है । इस बातको आचार्य महाराज कहते हैं ।

काचाद्यंतरितार्थानां ग्रहाच्चाप्राप्तकारिता ।
चक्षुषः प्राप्यकारित्वे मनसः स्पर्शनादिवत् ॥ १६ ॥

चक्षुको (पक्ष) अप्राप्यकारीपना है (साध्य), काच, अभ्रक, स्फटिक, स्वच्छजल आदिसे व्यवहित हो रहे पदार्थोंका ग्रहण करनेवाली होनेसे (हेतु), जैसे कि मनको अप्राप्यकारीपना है (अन्वयदृष्टान्त) । स्पर्शन, रसना आदि इन्द्रियोंके समान चक्षुको भी प्राप्यकारी माननेपर तो काच आदिसे व्यवहित हो रहे पदार्थका ग्रहण नहीं हो सकेगा । स्पर्शन, रसना इन्द्रियोंसे शीशीमें धरे हुये पदार्थका तो स्पर्श या रस नहीं जाना जाता है । किन्तु चक्षुसे उस शीशीमें रखे हुए पदार्थका वर्ण जान लिया जाता है,(व्यतिरेकदृष्टान्त) ।

ननु च यद्यंतरितार्थग्रहणं स्वभावकालांतरितार्थग्रहणमिष्यते तदा न सिद्धं साधनं चक्षुषि तदभावात् । देशांतरितार्थग्रहणं चेत्तदेव साध्यं साधनं चेत्यायातं । देशांतरितार्थग्राहित्वमेव ह्यप्राप्यकारित्वमिति कश्चित्, तदसत् । चक्षुषोऽप्राप्तमर्थं परिच्छेत्तुं शक्तेः साध्यत्वात्तत्राप्रसिद्धत्वादप्राप्तकारणशक्तित्वस्याप्राप्यकारित्वस्येष्टत्वात् । साधनस्य पुनरंतरितार्थग्रहणस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धस्याभिधानात् ।

यहां कोई दूसरी शंका उठाता है कि जैनोंने अन्तरित अर्थका ग्रहण करना हेतु दिया तो वह अन्तरितग्रहण क्या स्वभावव्यवहित कालव्यवहित पदार्थोंका ग्रहण करना यदि जैनों द्वारा इष्ट किया गया है, तब तो तुम जैनोंका हेतु सिद्ध नहीं है । असिद्ध हेत्वाभास है । क्योंकि चक्षु रूप पक्षमें वह स्वभावव्यवहित, कालव्यवहित, अर्थका ग्रहण करना हेतु नहीं वर्तता है । यदि अन्तरितार्थ ग्रहणका अर्थ देशव्यवहित अर्थका ग्रहण करना माना जायगा, तब तो वही साध्य और वही साधन हुआ, यह आया । अर्थात्—देशांतरित अर्थका ग्राहकपना (हेतु) ही तो नियमसे अप्राप्यकारीपना (साध्य) है । दूरवर्ती पदार्थोंको नहीं सम्बद्ध कर जानलेना साध्य ही तो देशान्तरित अर्थका ग्राहकपना है । साध्यको तो हेतु नहीं बनाना चाहिये । अन्यथा असिद्ध साध्यके समान हेतु भी साध्यसम हो जाता है । हेतु तो वादी प्रतिवादी दोनोंके लिये, प्रथमसे ही मान्य होना चाहिये । इस प्रकार कोई वैशेषिकका एकदेशी कह रहा है । सो वह कहना सत्यार्थ नहीं है । क्योंकि नहीं संबद्ध हो रहे अर्थको जाननेके लिये चक्षुकी शक्ति है । इसको अनुमान द्वारा साधा गया है । उस चक्षुमें अप्राप्त अर्थको परिच्छेदन करनेकी शक्ति वैशेषिक आदिके यहां

अप्रसिद्ध है। इस कारण यहां साध्यका अर्थ यही है, अप्राप्त अर्थका ज्ञान करा देनेकी कारण-शक्तिसे सहितपनेको ही अप्राप्यकारीपनकी इष्टि की गयी है। अतः शक्य, अप्रसिद्ध, और इष्ट ऐसा साध्य अप्राप्यकारीपन है। तथा फिर स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष द्वारा प्रसिद्ध हो रहे अन्तरितार्थ ग्रहणको हेतुस्वरूपका कथन किया है। देशान्तरवर्त्ती पदार्थका चक्षुद्वारा ग्रहण सबको स्वसंवेदनसे सिद्ध हो रहा है। अतः यह दोनों प्रतिवादियोंके यहां प्रसिद्ध हो रहा हेतु है।

ननु च काचाद्यंतरितार्थस्य प्राप्तस्यैव चक्षुषा परिच्छेदादसिद्धो हेतुरित्याशंकां परिहन्नाह।

वैशेषिककी ओरसे पुनः शंका उठायी जाती है कि काच, अभ्रक, आदिकसे देशव्यवहित हो रहे पदार्थोंके साथ चक्षुका सम्बन्ध हो चुकनेपर ही उनका चक्षु द्वारा परिच्छेद होता है। अतः चक्षुको अप्राप्यकारित्व सिद्ध करनेमें दिया गया काचाद्यंतरित अर्थग्रहण हेतु पक्षमें नहीं वर्तनेके कारण असिद्ध हेत्वाभास है। इस प्रकारकी आशंकाका परिहार करते हुये श्रीविद्यानन्द आचार्य स्पष्ट समाधान कहते हैं।

विभज्य स्फटिकादींश्चेत्कथंचिच्चक्षुरंशवः।
प्राप्नुवंस्तूलराश्यादीन्नश्वरान्नेति चाद्भुतम् ॥ १७ ॥

स्फटिक, शीशी, अभरक आदिक अतिकठोर पदार्थोंको कथंचित् तोड फोडकर चक्षुकी किरणें भीतर अर्थके साथ प्राप्त हो चुकी है, किन्तु नाशशील अतिकोमल रुईकी राशि, समल-जल, मांडको भेदकर भीतर घुसकर उनसे व्यवहित हो रहे मनुष्य, रुपया, भाण्डतल आदिका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं कराता है। यह बडे आश्चर्यकी बात है। अर्थात् जो स्फटिक लोहेकी छेनी करके भी बडे परिश्रमसे कटता है, उसको यदि वैशेषिकोंके यहां चक्षुकी तैजस किरणें तोड फोड-कर भीतर घुस जाती मानी हैं, तो कोमल रुई, मोम, कीचडमें तो बडी सुलभतासे वे घुसकर उनके नीचे रखे हुये पदार्थका प्रत्यक्ष कर लेंगी। भला द्रव, नरम, पदार्थको भेदनेमें वे क्यों कृपा करने लगीं ?

निष्ठुरस्थिरस्वभावान् स्फटिकादीन् विभज्य नयनरश्मयः प्रकाशयंति न पुनर्मृदु-नाशिस्वभावांस्तूलराश्यादीनिति किमत्यद्भुतमाश्रित्य हेतोरसिद्धतामुद्भावयंतः कथं स्वस्थाः ?

अतीव कठिन होकर बहुत दिनतक ठहरने स्वरूप स्थिर स्वभाववाले स्फटिक, हीरा, आदि पदार्थोंको चीरकर उनसे व्यवहित हो रहे पदार्थोंके साथ भीतर संयुक्त होकर चक्षु किरणें उनका प्रकाश करा देती हैं अथवा स्फटिक आदिमें घुसकर स्फटिक आदिके मध्यभाग या तलभागको प्रकाश देती हैं, किन्तु फिर अधिक मृदु और अल्पकालमें नाश होनेवाले स्वभावको धार रहे रूई पिण्ड, शिरीषपुष्प-समुदाय, दुग्ध, आदिक पदार्थोंको नहीं भेदकर इनसे व्यवहित हो रहे

पदार्थोंको अथवा रूई आदिके मोटे मध्यभाग या तलभागको नहीं प्रकाशती हैं। यह सिद्धान्त तो कुछ एक बडे भारी आश्चर्यका आश्रयकर सुना जा रहा है। भला इस ढंगसे हमारे काचाद्यंतरित अर्थग्रहण हेतुकी असिद्धताका उद्भावन करा रहे वैशेषिक फैसे अपने चेतन आत्मस्वभावमें स्थित हो रहे कहे जा सकते हैं? स्वस्थ [होशवाला] मनुष्य तो ऐसी युक्तिरहित कपोलकल्पित सिद्धान्तोंको गढ नहीं सकता है। अस्वस्थ [अतिरुग्ण या उन्मत्त] की बात न्यारी है।

सामर्थ्यं पारदीयस्य यथाऽऽयस्यानुभेदने ।
नालांबूभाजनोद्भेदे मनागपि समीक्ष्यते ॥ १८ ॥
काचादिभेदने शक्तिस्तथा नयनरोचिषां ॥
संभाव्या तूलराश्यादिभिदायां नेति केचन ॥ १९ ॥
तदप्रातीतिकं सोयं काचादिरिति निश्चयात् ।
विनाशव्यवहारस्य तत्राभावाच्च कस्यचित् ॥ २० ॥

उदाहरण देते हुये वैशेषिक यदि यों कहें कि जिस प्रकार लोहेके बने हुये पदार्थको भेदनेमें पारेसे बने हुये पदार्थकी सामर्थ्य विस्तार ली जाती है, किन्तु तूम्बीपात्रको भेदनेमें पारेकी बनी हुयी रसायनकी सामर्थ्य किंचित् भी नहीं ठीक देखी जाती है। सूर्यकी किरणें काच, अभ्रकके भीतर घुस जाती हैं। गजी, मलमलको पार नहीं कर सकती हैं। गजी मलमलमें पानी छन जाता है। काचमें नहीं छनता है। कठिन लोहे, पीतलके वर्तनको पारकर चुम्बक लोहेकी शक्ति सूईको पकड लेती है। किन्तु कोमल काठको पार नहीं कर पाती है। वज्र या वज्रवृषभनाराच संहननवाले पुरुषका शरीर उस कठिन पर्वत या शिलाको फोड देता है। कोमल रुईको नहीं। बिजलीका करैण्ट ताम्बा लोहेमें प्रविष्ट हो जाता है। नरम रबडमें नहीं। तिसी प्रकार नयनकिरणोंकी शक्ति काच, अभ्रक, आदिके भेद करनेमें पर्याप्त है। किन्तु कपासपिण्ड, कीच, काठ, ठंडाई, बूरा आदिको भेदनेमें चक्षुकिरणोंकी सामर्थ्य नहीं सम्भवती है, इस प्रकार कोई कह रहे हैं। अब आचार्य समाधान करते हैं कि वह उनका कहना प्रतीतियों द्वारा सिद्ध नहीं है। क्योंकि ये वे ही काच, स्फटिक आदिक हैं, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान द्वारा निश्चय हो रहा है। उनमें किसी भी जीवको विनष्टपनेका व्यवहार करना नहीं देखा गया है। भावार्थ—चक्षुकी रश्मियां यदि काच आदिकोंको भेद देती तो वे अवश्य टूट फूटकर नष्ट हो जाते। किन्तु शीशी आदिको देखनेवाले जीव " यह वही शीशी है, जिसको मैं एक घडी पहिलेसे बराबर देख रहा हूं " ऐसा एकत्व प्रत्यभिज्ञान जगत्प्रसिद्ध कर रहे हैं। स्वपक्ष और परपक्षको साधनेवाले दृष्टान्त तो यों अनेक मिल जाते हैं।

उन दृष्टान्तोंमें हम बाधा नहीं उठाते हैं, किन्तु जहां दृष्टान्तोंका साध्य विचारा प्रत्यक्षप्रमाणसे ही बाधित हो रहा है, वहां वज्र, पारा, चुम्बक आदि दृष्टान्त क्या सहारा लगा सकते हैं ? जब कि वे के वे ही बहुत देरतक ठहरनेवाले स्फटिक आदि देखे जा रहे हैं, तो उनको फोडकर चक्षुकिरणोंका भीतर घुस जाना कैसे भी नहीं सम्भवता है ।

समानसन्निवेशस्य तस्योत्पत्तेरनाशिता ।
जनो मन्येत निर्लूनकेशादेर्वेति चेन्मतम् ॥ २१ ॥
न क्वचित्प्रत्यभिज्ञानमेकत्वस्य प्रसाधकं ।
सिध्येदिति क्षणध्वंसि जगदापातमंजसा ॥ २२ ॥
आत्माद्येकत्वसिद्धिश्चेत्प्रत्यभिज्ञानतो दृढात् ।
दार्ढ्यात्तत्र कुतो बाधाभावाच्चेत्प्रकृते समं ॥ २३ ॥

यदि वैशेषिक यों कहें कि उस काच, स्फटिक आदिका नाश होकर समान रचनावाले उनकी पुनः शीघ्र उत्पत्ति हो जाती है । इस कारण स्थूलदृष्टिवाला मनुष्य नहीं नाश हुयेपनको मान लेता है । जैसे कि काट दिये गये और फिर नये उपज आये केश, नख, आदिकोंका ये वे ही हैं, ऐसा प्रत्यभिज्ञान कर लेता है । तथा तेलधाराके क्रमसे नवीन नवीन उपज रही दीप कलिकामें भी यह वही कलिका है, ऐसी भ्रान्तिवश प्रत्यभिज्ञा कर लेता है । अर्थात्—स्फटिक काच शीशी बार बार टूट फूटकर झटिति नवीन बन जाती है । आचार्य कहते हैं कि यदि इस प्रकार वैशेषिकोंका मत होय तब तो कहीं भी पदार्थमें हो रहा यह वही है, ऐसा प्रत्यभिज्ञान उसके एकत्वका अच्छा साधक नहीं सिद्ध हो सकेगा । और ऐसी दशामें सम्पूर्ण जगत् शीघ्र शीघ्र क्षणमें ध्वंस हो जानेकी टेववाला है, यह बौद्ध सिद्धान्त आगया, जो कि वैशेषिकोंको इष्ट नहीं है । आत्मा, आकाश, परमाणु, काल, परम महापरिमाण, जाति आदि पदार्थोंको वैशेषिकोंने नित्य माना है । घट, पट, लोहा आदिको कालांतरस्थायी माना है । यदि टूटे, फूटे, नये बने, विना ही चाहे जिस विद्यमान हो रहे पदार्थका यों ही विनाश मान लिया जायगा, तो आत्मा भी क्षणिक हो जायगा । " यह वही आत्मा है " इस एकत्व प्रत्यभिज्ञानको आभास मानकर स्फटिकके समान सदृश सन्निवेशवाले दूसरे आत्माकी झटिति उत्पत्ति मानकर आत्मामें क्षणिकत्व धर दिया जायगा । और यों तो वैशेषिकसिद्धान्तमें भारी आपत्ति उपस्थित हो जायगी । यदि वैशेषिक यों कहें कि एकत्वको साधनेवाले दृढ प्रत्यभिज्ञानसे आत्मा, आकाश, आदिके एकत्वकी सिद्धि कर लेंगे, तब तो हम पूछेंगे कि उस एकत्वसाधक प्रत्यभिज्ञानमें दृढता किससे आवेगी ? बताओ । यदि बाधारहित

होनेसे प्रत्यभिज्ञानका दृढपना माना जायगा, तब तो आत्माके एकपनको साधनेवाले प्रत्यभिज्ञानके समान प्रकरणप्राप्त स्फटिकके एकपनको साधनेवाले प्रत्यभिज्ञानमें भी वैसी ही दृढता विद्यमान है। अर्थात्—स्फटिक टूटा फूटा नहीं है। वहका वही है यह निर्बाध-प्रतीति है।

न हि स्फटिकादौ प्रत्यभिज्ञानस्यैकत्वपरामर्शिनः किंचिद्बाधकमस्ति पुरुषादिवत्।

स्फटिक, काच आदि विषयोंमें हो रहे और एकत्वको विचारनेवाले प्रत्यभिज्ञान प्रमाणका बाधक कोई नहीं है। जैसे कि आत्मा, आकाश, आदिके एकत्व प्रत्यभिज्ञानका कोई बाधक नहीं है। यह युवा देवदत्त वही है, जो कि बालकपनमें था। इसी प्रकार यह वही स्फटिक है, ऐसा निर्बाध पक्का प्रत्यवमर्श हो रहा है।

तद्भेदनाभ्युपगमे तु बाधकमस्तीत्याह।

प्रत्युत वैशेषिकोंके अनुसार उन स्फटिक, अभ्रक, आदिका छेदन, भेदन स्वीकार करनेमें बाधक प्रमाण मिल जाता है। इसी बातको आचार्य महाराज स्पष्ट कर कहते हैं।

> **काचाद्यंतरितानर्थान् पश्यतश्च निरंतरं।**
> **तत्र भेदस्य निष्ठानान्नाभिन्नस्य करग्रहः॥ २४॥**

काच, स्फटिक आदिकसे व्यवहित हो रहे अर्थोको निरंतर देरतक देखनेवाले पुरुषको उसी अभिन्न काच आदिका हाथसे ग्रहण नहीं हो सकेगा। क्योंकि नयन रश्मियोंकरके वैशेषिक मत अनुसार उन काच आदिमें फूट जाना प्रतिष्ठित हो चुका है। जो पदार्थ टूट, फूट चुका है, उसी साजे पदार्थका फिर हाथ द्वारा पकडना नहीं हो सकता है।

सततं पश्यंतो हि काचशिलादीन्नयनरश्मयो निरंतरं भिंदंतीति प्रतिष्ठायां कथमभिन्नस्वभावानां तथा तस्य हस्तेन ग्रहणं तच्चेदस्ति तद्भेदाभ्युपगमं बाधिष्यत इति किं नश्चिंतया।

दो, चार घण्टेतक सतत ही काच शिला, स्फटिकमाला, अभ्रक, आदिको देखती हुई चक्षुरश्मियां अथवा पश्यतः ऐसा पाठ माननेपर तो देखनेवाले पुरुषकी चक्षुरश्मियां निरंतर उनको तोडती, फोडती रहती हैं। इस प्रकार वैशेषिक मन्तव्य अनुसार प्रतिष्ठा हो चुकनेपर यह बताओ कि उन्हीं अभिन्न स्वभाववाले काचशिला, चिमनी, शीशी आदि पदार्थोंका तिसी प्रकार उस देखनेवालेके हाथसे ग्रहण कैसे हो जाता है? मुद्गर, मोंगरासे घडेको चकनाचूर कर देनेपर उसी साजे परिपूर्ण घडेका फिर हाथसे पकडना नहीं होता है। इसी प्रकार घण्टों देरतक दनादन पड रहीं चक्षुकिरणों द्वारा स्फटिकका छेदन, भेदन हो जानेपर पुनः उन्हीं स्फटिक, काच, आदिका ग्रहण नहीं हो सकेगा, किंतु उन्हीं स्फटिक आदिकोंका वह ग्रहण तो हो रहा देखा जाता है। ऐसा मानने पर वह ग्रहण ही उन स्फटिक आदिके छेदन, भेदनके स्वीकार करनेको बाध डालेगा।

इस दशामें हमको चिंता करनेसे क्या पडा है ? यानी अधिक तर्क, युक्ति, दृष्टान्तोंके विना ही छोटीसी युक्तिसे हमारा सिद्धांत पुष्ट हो जाता है । छोटी बातके लिए तूल बढाना व्यर्थ है ।

विनाशानंतरोत्पत्तौ पुनर्नाशे पुनर्भवेत् ।
कुतो निरंतरं तेन छादितार्थस्य दर्शनम् ॥ २५ ॥

यदि वैशेषिक यों कहें कि विनाशके अनन्तर ही शीघ्र पुनः नवीन स्फटिक उत्पन्न हो जाता है, और फिर शीघ्र चक्षुकिरणोंसे नष्ट कर दिया जाता है, तथा फिर उत्पन्न हो जाता है । ऐसे ही नष्ट होकर फिर उत्पन्न हो जावेगा । दीपकलिकाके समान स्फटिकका उत्पाद और विनाशधारा रूपसे देरतक होता रहता है । अतः वैसा ही नवीन स्फटिक हाथ द्वारा पकड लिया जाता है । इस प्रकार वैशेषिकोंके कहनेपर तो हम पूछेंगे कि उस स्फटिकसे आच्छादित हो रहे अर्थका निरंतर दर्शन कैसे हो सकेगा ? अर्थात् चक्षुरश्मिया जब स्फटिकको तोडती फोडती रहेंगी और वह क्षणक्षणमें नया बनता रहेगा, ऐसी दशामें चक्षुरश्मिया भीतर जाकर अर्थके साथ सम्बन्ध नहीं कर सकेंगी । घूमते हुए पहिया चरखा, पंखा आदिके समान झटझट व्यवधान पडता जावेगा । जो कि भीतर रखे हुये पदार्थका दर्शन नहीं करने देगा । अतः स्फटिकसे ढके हुये अर्थका दर्शन नहीं होना चाहिये । किन्तु होता है । तथा उस स्फटिकके ऊपर रक्खे हुये पदार्थका पतन हो जाना चाहिये । क्योंकि स्फटिक कई बार नष्ट भ्रष्ट हो चुका है ।

स्पर्शनेन च निर्भेदशरीरस्य महोंगिनाम् ।
सांतरेणानुभूयेते तस्य स्पर्शनदर्शने ॥ २६ ॥

शरीरधारियोंका स्पर्शन इन्द्रिय करके दूसरे शरीरकी उष्णता भेदन हुये विना ही अनुभूत हो जाती है । किन्तु नष्ट हो रहे उस शरीरके दर्शन और स्पर्शन तो अन्तरसहितपने करके अनुभूत किये जाते हैं । भावार्थ—जहा सतत उत्पाद या विनाश, हो रहा है, उस पदार्थका दर्शन और स्पर्शन तो मध्यमें अभावका अन्तराल डालकर होता है । जैसे कि बादलोंमें बिजली दीखना अथवा चलते हुये पहियेके अरोंका छूना अन्तरालकी पोलसे सहित है, किन्तु यहा प्रकृतमें स्फटिकका दर्शन और स्पर्शन दोनों अन्तरालरहित हो रहे हैं । ऐसी दशामें स्फटिक आदिका शीघ्रतासे नाश या उत्पाद मानना वैशेषिकके न्यायविचाररहितपनको बतला रहा है । प्रत्यक्ष प्रसिद्ध अर्थका अपलाप करना समुचित नहीं है ।

स्फटिकादेराशूत्पादविनाशाभ्यामभेदग्रहणं निरंतरं पश्यतः संततं न तद्भेदाभ्युपगमस्य बाधकमित्ययुक्तमाशुभेन दर्शनादर्शनयोस्तत्र प्रसंगात् स्पर्शनास्पर्शनयोश्च । न च तत्र तदा कस्यचिदुपयुक्तस्यादर्शनास्पर्शनाभ्यां व्यवहिते दर्शनस्पर्शने समनुभूयेते ।

वैशेषिक कहते हैं कि स्फटिक, काच आदिकका अतिशीघ्र उत्पाद और विनाश हो जानेसे सादृश्य अनुसार भ्रान्तिके वश निरन्तर एकपनेरूप अभेदको ग्रहण करना तो सदा देखनेवाले पुरुषके उन स्फटिक आदिके छेदनभेदन स्वीकार करनेका बाधक नहीं है। अर्थात्—घण्टोंतक निरन्तर देखनेवाले पुरुषके स्फटिक आदिका शीघ्र उत्पाद और विनाश हो जानेके कारण " यह वही स्फटिक है " ऐसा सादृश्यके वश अभेद ज्ञान हो गया है। वस्तुतः देखा जाय तो वह स्फटिक सदा चक्षुकी किरणोंसे छिद भिद रहा है। अतः उस सादृश्यमूलक एकत्व ग्रहणसे वैशेषिकोंद्वारा स्फटिकका भिद जाना स्वीकार करना नहीं बाधा जा सकता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार वैशेषिकों अथवा नैयायिकोंका कहना अयुक्त है। क्योंकि इस ढंगसे तो वहां शीघ्र ही दर्शन और अदर्शन हो जानेका प्रसंग हो जायगा। तथा स्पर्शन और अस्पर्शन हो जानेका भी प्रसंग होगा। भावार्थ—अर्थात्—आंखोंसे एक हाथ दूरपर रखे हुये स्फटिकको हम आंखोंसे देख रहे हैं, हाथसे छू रहे हैं। यदि स्फटिकका उस समय वहां शीघ्र उत्पाद एवं विनाश माना जायगा, तो स्फटिकके नष्ट होनेपर उसका अदर्शन और अस्पर्शन होना चाहिये। यानी देखना, छूना, बीच बीचमें रुक जाना चाहिये। और उत्पन्न हो जानेपर पुन. देखने, छूनेका प्रारम्भ होना चाहिये। तथा नष्ट हो जानेपर देखना छूना शीघ्र रुक जाना चाहिये। जैसे कि कितने ही बार आंखको शीघ्र मीचने और शीघ्र खोलनेपर सन्मुखस्थित पदार्थका दर्शन और अदर्शन होते रहते हैं। अथवा कई बार शीघ्र शीघ्र हाथको घट या तबलासे मिलानेपर और अलग करनेपर देरतक क्रमसे स्पर्शन, अस्पर्शन होते रहते हैं। प्रकृतमें भी हाथसे छूये जा रहे और आखोंसे देखे जा रहे स्फटिकका शीघ्र शीघ्र दर्शन, अदर्शन और झट स्पर्शन अस्पर्शन, होता रहना चाहिये। किन्तु वहां स्फटिकका चाक्षुषप्रत्यक्ष और स्पार्शनप्रत्यक्ष करनेमें उपयोग लगा रहे किसी भी जीवके हो रहे दर्शन और स्पर्शन तो अदर्शन और अस्पर्शनसे व्यवहित हो रहे समीचीन नहीं अनुभूत किये जा रहे हैं। किन्तु स्फटिकको देखने छूनेवाला मनुष्य बडी देरतक उसी स्फटिकको देखता, छूता रहता है। ऐसा नहीं है कि जैसे बिजलीके लेम्पका बटन दबाने और खोलने, फिर झट दबाना तथा उठाना ऐसी देरतक क्रिया करनेसे विद्युत् प्रदीपके दर्शन अदर्शन दोनों क्रमसे झट झट होते रहते हैं अथवा पानीके नलकी टोंटी खोलने और बन्द करनेका देरतक व्यापार करनेपर झटझट पानीके छूने, नहीं छूनेका स्पार्शन प्रत्यक्ष क्रमसे होता रहता है। किन्तु ऐसा स्फटिकमें नहीं होता है। अतः स्फटिक या शीशीका शीघ्र उत्पाद, विनाश, मानना अनुचित है।

तद्विनाशस्य पूर्वोत्तरोत्पादाभ्यामाशुभाविभ्यां तिरोहितत्वान्न तत्रादर्शनमस्पर्शनं वा स्यादिति चेत्। नन्वेवं तदुत्पादस्य पूर्वोत्तरविनाशाभ्यामाशु भाविभ्यामेव तिरोधानाद्दर्शनस्पर्शने माभूतां।

यदि वैशेषिक यों कहें कि पहिले समयके उत्पाद और उत्तरवर्ती तीसरे समयके उत्पादमें आगे पीछेके उत्पाद अतिशीघ्र हो रहे हैं। अतः इन दो उत्पादोंकरके उस स्फटिकके मध्यवर्ती विनाशका तिरोभाव होगया है। इस कारण वहां उपयोग लगा रहे जीवको अदर्शन अथवा अस्पर्शन नहीं होंगे। आगे पीछे होनेवाले उत्पाद मध्यके विनाशको छिपा देते हैं। इस प्रकार वैशेषिकोंके कहनेपर तो हम आमंत्रण करते हैं कि इस प्रकार तो द्वितीय समयका पहिला विनाश और चतुर्थ समयका विनाश इन शीघ्र होनेवाले दो विनाशोंकरके ही उस स्फटिकके तृतीय समयवर्ती मध्यके उत्पादका विरोध हो जानेके कारण उस स्फटिकके दर्शन और स्पर्शन नहीं होने चाहिये। अर्थात् जैसे इधर उधरके उत्पादोंके बीचमें विनाश पडा हुआ है, उसी प्रकार इधर उधरके दो विनाशोंके बीचमें एक उत्पाद भी पडा हुआ है। गोल बारहद्वारी गृहमें दो थम्भोंके बीचमें जैसे द्वाररूप पोल है, तथैव दो द्वाररूप पोलोंके बीचमें एक थम्भा भी है। ऐसी दशामें दर्शन, अदर्शन और स्पर्शन, अस्पर्शन तुल्यबलवाले पडते हैं। रत्तीभर तो क्या बालाग्र बराबर भी अन्तर नहीं है।

तदुत्पादयोः स्वमध्यगतविनाशतिरोधाने सामर्थ्ये भावस्वभावत्वेन बलीयस्त्वात् तद्विनाशयोः स्वमध्यगतोत्पादतिरोधानेऽभावस्वभावत्वेन दुर्बलत्वादिति चेन्न, भावाभावस्वभावयोः समानबलत्वात्। तयोरन्यतरबलीयस्त्वे युगपद्भावाभावात्मकवस्तुप्रतीतिविरोधात्।

इसपर वैशेषिक यदि यों कहें कि स्फटिकके इधर उधरके दो उत्पादोंकी अपने मध्यमें पडे हुये विनाशको तिरोभाव करनेमें शक्ति है। उत्पत्ति भावस्वरूप पदार्थ है। और विनाश अभाव–स्वरूप पदार्थ है। अभावको भाव छिपा देता है। चौकीपर घोडे, हाथी, पर्वत, समुद्र, आदि पदार्थोंके असंख्य अभाव रखे हुये हैं। उन सबको चौकीपर धरे हुये पत्र, रुपया, अथवा सुन्दर भूषण, फल, पुष्प आदिक भावपदार्थ तिरोभूत कर देते हैं। पत्र, भूषण, आदिके हो रहे चाक्षुषप्रत्यक्ष इतर पदार्थोंके अदर्शनोंको छिपा देते हैं। थालीमें परोसे हुये सुन्दर भावभक्ष्य पदार्थोंका स्पार्शनप्रत्यक्ष या रासनप्रत्यक्ष ये थालीमें अभावको प्राप्त हो रहे अनन्त पदार्थोंके वर्तरहे अस्पर्शन, अरसनको तिरोभूत कर देते हैं। कारण कि अभावकी अपेक्षा भावपक्ष भावका स्वभाव होनेसे विशेष बलवान् होता है। प्रकृतमें उत्पाद बलवान् है। और उस स्फटिकके विवर्तोंमें पहिले पीछे पडे हुये दो विनाशोंको अपने मध्यमें प्राप्त हो रहे उत्पादके तिरोधान करनेमें अभावस्वभावपना हो जानेके कारण दुर्बलपना है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना। क्योंकि वस्तुके अनुजीवी, प्रतिजीवी गुणस्वरूप हो रहे भाव, अभाव दोनोंको समानबलसहितपना है। दोनोंकी सामर्थ्य बराबर एकसी है। उन भाव अभाव दोनोंमेंसे किसी एकको यदि अधिक बलवान् माना जायगा तो युगपत्भाव अभावस्वरूप वस्तुकी हो रही प्रतीतिका विरोध हो जायगा, यानी एक बलवान्से दूसरे निर्बलभाव

या अभावकी हत्या कर देनेपर वस्तुमें एक ही समयमें भाव और अभाव दोनों नहीं पाये जा सकेंगे। किन्तु वस्तु सदा ही भाव, अभाव, दोनोंके साथ तदात्मक हो रही प्रतीत की जा रही है। शनैः शनैः भोजन करनेपर मध्यमें अस्पर्शन और अरसनके व्यवधान पड रहे जाने जा रहे हैं। छींट या फटे वस्त्रको देखकर अदर्शनका व्यवधान पड रहा अनुभूत हो रहा है। गोल पंक्तियोंमें लिखे हुये अक्षरोंके ऊपर छेदोंकी गोल पक्तिवाली चालनीके रख देनेपर वे अक्षर नहीं बांचे जाते हैं। किन्तु उन अक्षरोंके ऊपर चालनीको शीघ्र शीघ्र घुमादेने या डुला देनेसे वे अक्षर व्यक्त, अव्यक्त, बाच लिये जाते हैं। अक्षरोंके बाचनेमें व्यक्तपना यों आया कि चालनीके ठोस भागसे उन अक्षरोंके जो अंग, अंगावयव छिप गये थे वे चालनीके डुलानेपर बीच बीचमें दीख जाते हैं। और बाचनेमें अव्यक्तपना यों रहा कि चालनीके सर्वथा उठा लेनेपर जितना व्यक्त दृष्टिगोचर होता था उतना घुमाई हुयी चालनीसे व्यवहित हो रहे अक्षरोंका स्पष्ट दर्शन नहीं हो पाता है। यहां शुक्लपत्रके ऊपर लिखे हुये काले अक्षरोंकी घुमानेपर शीघ्र शीघ्र आभा पडनेसे पत्रकी शुक्लतामें कुछ कालापन दीखता है। इसी प्रकार काले अक्षरोंके ऊपर पत्रकी शुक्लताकी प्रभा पड चुकी है। चक्रमें अनेक लकीरोंको कई रंगोंसे लम्बा रंग कर पुनः उसको शीघ्र घुमानेपर आभाओंका सांकर्य देखिये। यह चलनीके घुमानेपर पत्रके व्यक्त, अव्यक्त अक्षरोंका दीखना, भाव अभाव दोनोंका कार्य है। थालीके धर देनेपर अक्षर सर्वथा नहीं बंचते हैं। और चलनी केवल घेरा धर देनेसे अक्षर स्पष्ट निरावरण देख लिये जाते हैं। बात यह है कि भाव और अभाव दोनों समान बलसे कार्य कर रहे हैं। अथवा किसी लम्बे पत्रमें सुईके समान अन्तराल देते हुये सुईके बराबर लकीरें काट लेनेपर उस लम्बी छिद्रपंक्ति वाली चलनीके समान पत्रको पुस्तकपर बिछा देनेसे अक्षर नहीं पढे जाते हैं। किन्तु उस छिदी लकीरवाले पत्रको पुस्तक पंक्तियोंपर शीघ्रतासे यदि डुलाया जाय तो अक्षर पढ लिये जाते हैं। यहां भी भाव अभाव दोनों समान शक्तिसे दर्शन, अदर्शन, पश्चात् दर्शन अदर्शन, पुनः दर्शन अदर्शन इन कार्योंको कर रहे हैं। उनका व्यवधान भी प्रतीत हो रहा है। इसी प्रकार स्पार्शन प्रत्यक्षमें भी लगा लेना। दो हथेलियोंके बीचमें धरकर कडी गोलीको घुमानेपर स्पर्शन और अस्पर्शन जाने जा रहे हैं। भले ही छूनेमें ही उपयुक्त हो रहे पुरुषका लक्ष्य स्पर्शनमें जाय, किन्तु साथ साथ मध्यमें हुआ अस्पर्शन भी छूट नहीं सकता है। चौकीपर धरे हुये भूषणको देखते समय भी सिंह, सर्प आदिका अभाव हमको निर्णय करा रहा है। अन्यथा सिंह, सर्प, विष, आदिके सद्भावकी प्रतीति हो जानेपर भूषण, भोजन, आदिको छोडकर द्रष्टा, रसयिता, स्प्रष्टा पुरुष न जाने कहां भगता फिरेगा। अतः भाव और अभाव दोनों समान बलवाले होते हुये वस्तुमें अपना ज्ञान और अर्थक्रियाओंको करा रहे हैं।

न हि वस्तुनो भाव एव कदाचित्प्रतीयते स्वरूपादिचतुष्टयेनेव पररूपादिचतुष्टयेनापि भावप्रतीतिप्रसक्तेः।

वस्तुका भावस्वभाव ही दीखे ऐसा कभी प्रतीत नहीं होता है। अन्यथा स्वरूप आदि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंके चतुष्टयकरके जैसे वस्तुका अस्तित्व (सद्भाव) माना जाता है, वैसा ही पररूप आदि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके चतुष्टयकरके भी वस्तुके सद्भावकी प्रतीति होनेका प्रसंग आवेगा। अर्थात्—" सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादि चतुष्टयात् " वस्तु अपने स्वरूप नित्य गुण, पर्याय, अविभागप्रतिच्छेद, नैमित्तिकस्वभाव, पर्यायशक्तियां, अशुद्ध द्रव्यके कालान्तरस्थायीगुण आदि स्वकीय शरीरके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सत्स्वरूप है। यहां पंचाध्यायीके अनुसार अपनी गाठके देश, देशांश, गुण, गुणांशोंको वस्तुका द्रव्य, क्षेत्र, भाव, काल, पकडना चाहिये। अर्थात् अखंडित अनेक देश आत्मा, आकाश, धर्म आदि या अखण्डित एकदेश पुद्गल परमाणु आदि वस्तुओंका यथायोग्य लम्बा चौडा पिण्डदेश है। विष्कम्भ क्रमसे उस देशके प्रदेश अनुसार खण्डकल्पना करना देशांश है। द्रव्यके पूरे देशको व्याप रहीं एक एक नित्यशक्ति गुण हैं। तथा गुणके त्रिकालमें होनेवाले परिणाम गुणांश हैं। इस अपने चतुष्टयसे वस्तु सत् है। किन्तु परवस्तुके चतुष्टयकरके प्रकृत वस्तु अभावस्वरूप प्रतीत हो रही है। अभेद पदसे अनुजीवी गुण, स्वभाव, अपेक्षिक धर्म और सप्तभङ्गिओंके विषयकल्पित धर्म सब पकडने चाहिये।

न चानाद्यनंतसर्वात्मकं च वस्तु प्रतिभाति यतस्तथाभ्युपगमः श्रेयान्।

वस्तु यदि सर्वथा भावरूप ही होती तो उसमें प्रागभाव, ध्वंसाभाव, इतरेतराभाव, अत्यन्ताभाव कथमपि नहीं पाये जाते और ऐसा होनेपर वस्तु अनादि, अनन्त, सर्वात्मक, बन बैठती। अर्थात् प्रागभावको माने विना सम्पूर्ण घट, पट, आदि पदार्थ अनादि कालसे चले आ रहे हो जाते। क्योंकि प्रागभाव ही तो कार्य उत्पत्तिके प्रथम समयतक उन घट आदिके सद्भावको रोके हुये था। जब प्रागभाव ही नहीं माना जा रहा है तो द्रव्योंकी सम्पूर्ण कार्यपर्यायें अनादिकालकी बन बैठेंगी और ध्वंसके नहीं माननेपर सम्पूर्ण पर्यायें अनंतकालतक ठहरनेवाली हो जायंगी। क्योंकि अब वस्तुका सर्वथा सद्भाव मानलेनेसे पदार्थोंकी मृत्यु तो नहीं मानी जायगी। ऐसी दशामें घट, पट, आम, अमरूद आदि पदार्थ अनन्तकालतक ठहरे रहेंगे। इनका नाश होना तो माना ही नहीं गया है तथा एक द्रव्यकी विवक्षित पर्यायोंका अन्य पर्यायोंमें यदि अन्योन्याभाव नहीं माना जायगा तो चाहे जो पर्याय चाहे जिस पर्यायस्वरूप हो जायगी। बालक अवस्था ही वृद्ध अवस्था स्वरूप हो जायगी। रत्न भी ढेल हो जायगा, अग्नि उसी समय जल हो जानी चाहिये, जब कि परस्पर परिहारको करनेवाला अन्योन्याभाव नहीं माना जाता है तो अन्योन्यमें भेद कैसे भी नहीं मिल सकेगा। इसी प्रकार एक द्रव्य या उसकी पर्यायोंका दूसरी द्रव्य अथवा उसकी पर्यायोंमें त्रिकाल रहनेवाला अत्यन्ताभाव नहीं माना जावेगा, तो सर्व आत्मक दोष होगा। यानी आत्मा पुद्गल बन बैठेगा, आकाश द्रव्य कालद्रव्य हो जायगा। ज्ञानगुण गंधस्वरूप हो जायगा, आकाशमें ज्ञानका और रूपका समवाय सम्बन्ध हो जाओ। पुद्गल द्रव्यमें चैतन्य और सुख हो

जाओ। भला अत्यन्ताभावके विना उक्त प्रकारके सांकर्यको कौन रोक सकता है ? जब कि जैन सिद्धान्त अनुसार द्रव्य, गुणपर्यायें, स्वरूप वस्तुयें अपने अपने स्वरूपमें स्थित हैं और अनादि अनन्त सर्व आत्मक होती हुयीं वस्तुयें नहीं प्रतिभास रही हैं। जिससे कि तिस प्रकार वस्तुका सद्भाव ही स्वीकार करना श्रेष्ठ समझा जावे। वस्तुतः भाव, अभाव, दोनों स्वभावोंके तादात्म्यकरके पदार्थ गुथे हुये हैं। " कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निह्नवे। प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनंततां व्रजेत् " " सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे। अन्यत्र समवायेन व्यपदिश्येत सर्वथा " इस प्रकार आप्तमीमांसामें श्री पूज्य गुरु समन्तभद्र स्वामीने प्रतिपादन किया है।

नाप्यभाव एव वस्तुनोनुभूयते पररूपादिचतुष्टयेनेव स्वरूपादिचतुष्टयेनाप्यभावप्रतिपत्तिप्रसंगात्। न च सर्वथाप्यसत्प्रतिभाति यतस्तदभ्युपगमोपि कस्यचित्प्रतितिष्ठेत्। प्ररूपितप्रायं च भावाभावस्वभाववस्तुप्रतिभासनमिति कृतं प्रपंचेन।

भाव एकान्तका निरास कर अब अभाव एकान्तका निराकरण करते हैं कि सर्वथा अभाव ही वस्तुका अनुभूत नहीं हो रहा है। अन्यथा पररूप आदिके चतुष्टयकरके जैसे अभाव जाना जा रहा है, उसीके समान स्वरूप आदिके चतुष्टयकरके भी वस्तुके अभावकी प्रतिपत्ति होनेका प्रसंग होगा, जो कि इष्ट नहीं है। सभी प्रकारोंसे असत् हो रही वस्तु तो नहीं प्रतिभासती है, जिससे कि उस अभाव एकांतका स्वीकार करना भी किसी शून्यवादी या तत्त्वोपप्लववादीका प्रतिष्ठित हो सके। सभी प्रामाणिक विद्वानोंके यहां भाव, अभावस्वरूप वस्तुका प्रतिभास हो रहा है। इस बातको हम बहुत बार प्रायः कह चुके हैं। इस कारण यहां अधिक विस्तार करके कथन करनेसे क्या लाभ है ?। सत् असत् आत्मक वस्तुको सिद्ध करनेमें हम कृतकृत्य हो चुके हैं। अब कुछ साध्य शेष नहीं है।

सर्वथोत्पादे विनाशे च पुनः पुनः स्फटिकादौ दर्शनस्पर्शनयोः सांतरयोः प्रसंजनस्य दुर्निवारत्वात्।

प्रकरण अनुसार वैशेषिकोंके प्रति हम कहते हैं कि यदि स्फटिक, कांच आदिका पुन. पुनः सर्वथा उत्पाद और शीघ्र शीघ्र विनाश माना जायगा तो स्फटिक आदिकमें हो रहे चाक्षुषप्रत्यक्ष और स्पार्शन प्रत्यक्षोंको अन्तरालसहित हो जानेका प्रसंग आ जाना दुर्निवार है। अर्थात्— स्फटिकके उत्पाद होनेपर उसका दर्शन और स्पर्शन तथा स्फटिकके शीघ्र नाश होनेपर उसका अदर्शन और अस्पर्शन होता रहेगा। ऐसी दशामें निरन्तर घनी देरतक देखा, छूआ, जा रहा वही स्फटिक बीचमें अन्तराल पडते हुये देखा छूआ जा सकेगा। इस देखने, छूनेमें न देखने न छूनेके अन्तराल पडते रहनेका निवारण वैशेषिक नहीं कर सकते हैं।

तदयोनुमीयेतेति चेन्न, तेषां काचादेर्न भ्रांतत्वप्रसंगोपरक्तस्य विज्ञानस्यानुद्भूतिर्न (?)।

यदि वैशेषिक यों कहें कि उसी स्फटिककी उत्तर उत्तर सदृश पर्यायोंमें यह वही स्फटिक है, ऐसा वह स्फटिक अर्थ अनुमानसे ज्ञात हो जाता है। ठीक ठीक देखा जाय तो वह स्फटिकके सदृश है। भ्रान्ति हो जानेसे वही मान लिया जाता है। जैसे कि यह वही कलकी औषधि है। आचार्य कहते हैं कि सो यह तो नहीं कहना। क्योंकि उन दृष्टा, स्पृष्टा, जीवोंके हो रहे काच आदिकके ज्ञानको भ्रान्तपना नहीं है। ज्ञेय अर्थका ज्ञानमें आकार पडकर उपराग युक्त हो रहे विज्ञानका उद्भव हम स्याद्वादियोंके यहां नहीं माना गया है। भावार्थ—स्फटिक, काच, आत्मा, ज्ञान, आदि सभी पदार्थोंको क्षणिक माननेवाले बौद्ध तो ज्ञानमें अर्थका आकार क्षण क्षणमें न्यारा पडता हुआ मानते हैं। किन्तु हम स्याद्वादी ज्ञानको प्रतिबिम्बवाला साकार नहीं मानते हैं। और स्फटिक आदि अर्थोंको क्षणमें नष्ट हो जानेवाले भी नहीं मानते हैं। इस पंक्तिका ऐदम्पर्य मेरी बुद्धिमें पूरा प्रतिभासित नहीं हुआ है। विशेष व्युत्पन्न पुरुष सत्य अर्थको विस्तारके साथ यथार्थ समझ लेवे। इस अज्ञान और कषायोंसे आकुल हो रहे आधुनिक ऐहिक संसारमें सभी जीव तो अगाधशास्त्रसमुद्रके अमेय प्रमेयरत्नोंके विज्ञ नहीं हैं। " न हि सर्वः सर्ववित् "।

प्राप्तस्यांतरितार्थेन विभिन्नस्यापरीक्षणात् ।
नार्थस्य दर्शनं सिध्येदनुमा च तथैव वा ॥ २७ ॥

स्फटिक, काच, आदिसे व्यवहित हो रहे अर्थके साथ चारों ओरसे प्राप्त हो रही चक्षुके द्वारा टूटे, फूटे, स्फटिकका दीखना नहीं होता है। अतः चक्षुद्वारा प्राप्त अर्थका देखना प्रत्यक्ष प्रमाणद्वारा सिद्ध नहीं हो सकेगा, और तिस ही प्रकारके पूर्वोक्त अनुमानद्वारा चक्षुका अप्राप्यकारित्व सिद्ध हो चुका है। अन्यथा बौद्धोंके समान वैशेषिकोंको क्षणिकवादकी शरण लेनी पडेगी।

नन्वत्यंतपरोक्षत्वे सत्यर्थस्यानुमागतेः ।
विज्ञानस्योपरक्तत्वे तेन विज्ञायते कथम् ॥ २८ ॥

वैशेषिक यदि यों कहें कि साकार-ज्ञानवादी बौद्धोंका क्षणिक तत्त्व माननेका सिद्धान्त तो ठीक नहीं है। क्योंकि परिशेषमें जाकर ज्ञानकी साकारतासे ही निर्वाह करते हुये शून्यवादमें विश्रान्ति लेनी पडेगी। अतः हम वैशेषिकोंके हृदयमें शंका है कि क्षणिक विज्ञान या परमाणु स्वलक्षणस्वरूप पदार्थोंके अत्यन्त परोक्ष माननेपर बौद्धोंके यहां अर्थकी अनुमानद्वारा भी ज्ञप्ति कैसे होगी ? विज्ञानको अर्थ आकारसे प्रतिबिम्बित माननेपर उस ज्ञान करके अत्यन्त परोक्ष या भूत, भविष्यत्, अर्थ भला कैसे जाना जा सकता है ? इसका बौद्ध उत्तर दें।

तथा शश्वददृश्येन वेधसा निर्मितं जगत् ।
कथं निश्चीयते कार्यविशेषाच्चेत्परैरपि ॥ २९ ॥

बौद्धकी ओर होकर आचार्य महाराज वैशेषिकोंके प्रति आक्षेप करते हुये कहते हैं कि तुम वैशेषिकोंके यहां भी सर्वदा अदृश्य हो रहे ईश्वर करके निर्माण किया गया यह जगत् तिस प्रकार कैसे निर्णीत किया जाता है ? बताओ । यदि पृथ्वी, सूर्य, इन्द्रियां, शरीर, पर्वत, समुद्र आदिक विशेष कार्योंसे सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान्, ईश्वर, स्रष्टा का अनुमान करोगे तो दूसरे बौद्धोंकरके भी उसी प्रकार अत्यन्त परोक्ष अर्थका अनुमान किया जा सकता है । न्यायमार्ग सबके लिये एकसा होना चाहिये ।

यथैवात्रास्मदादिविनिर्मितेतरच्छरीरादिविशिष्टं कार्यमुपलभ्य तस्येश्वरेणात्यंतपरोक्षेण निर्मितत्वमनुमीयते भवता तथा परैरपि विज्ञानं नीलाद्यर्थाकारविशिष्टं कार्यमभिसंवेद्य नीलाद्यर्थोनुमीयत इति समं पश्यामः । यथा च काचाद्यंतरितार्थे प्रत्यक्षता व्यवहारो विभ्रमवशादेवं बहिरर्थेपीति कुतो मतांतरं निराक्रियते ? ।

जिस ही प्रकार इस ईश्वरसिद्धिके अवसरपर हम आदि साधारण जीवोंद्वारा बढ़िया भी बनाये गये घट, पट, रोटी, बर्तन आदिसे त्रिभिन्न जातिके शरीर, सूर्य, वृक्ष, पृथ्वी, आदि विलक्षण कार्योंको देखकर उनका अत्यन्त परोक्ष ईश्वरकरके निर्मितपना अनुमान द्वारा जान लिया गया आप वैशेषिकोंने माना है, उसी प्रकार अन्य बौद्धोंकरके भी नील, पीत आदिक अर्थोंके आकारसे विशिष्ट हो रहे विज्ञानस्वरूप कार्यको चारो ओर होता हुआ देखकर नील आदिक अर्थोंका अनुमान कर लिया जाता है । इस ढंगको हम जैन तुम बौद्ध और वैशेषिकोंके यहां समानरूपसे हो रहा देख रहे हैं । और जिस प्रकार काच, अभ्रक, आदिसे व्यवहित हो रहे अर्थमें उसी अर्थके प्रत्यक्ष हो जानेपनका व्यवहार वैशेषिकोंके यहां भ्रान्तिके वशसे हो रहा है, इसी प्रकार विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धोंके यहां बहिरंग अर्थमें भी भ्रमवश ज्ञान हो रहा मान लिया जावेगा । इस प्रकार तुम वैशेषिक उन बौद्धोंके दूसरे मतका निराकरण कैसे कर सकोगे ? अर्थात् कथमपि नहीं ।

प्रत्यक्षेणाप्रबाधेन बहिरर्थस्य दर्शनम् ।
ज्ञानस्यांतः प्रसिद्धं चेन्नान्यथा परिकल्प्यते ॥ ३० ॥
काचाद्यंतरितार्थेपि समानमिदमुत्तरं ।
काचादेर्भिन्नदेशस्य तस्याबाधं विनिश्चयात् ॥ ३१ ॥

औषधि आदि पदार्थोंका प्रकाश करा रही मानी गयी हैं। इस प्रस्तावका आचार्य महाराज स्पष्ट निरूपण करते हैं।

न चेक्ष्यंतेऽस्मदादीनां स्फुरंतश्चक्षुरंशवः।
सांधकारनिशीथिन्यामन्यानभिभवादपि ॥ ३४ ॥

अर्वाग्दर्शी हम सदृश आदि जीवोंके चमकती हुयीं, स्फुरायमाण हो रहीं, नेत्रकिरणें तो नहीं दीखती हैं। यहां यदि कोई यों कहदे, जैसे कि आतपमें सूर्यकिरणोंद्वारा अभिभव (छिप जाना) हो जानेसे प्रदीप किरणें नहीं दीखती हैं। उसीके समान चमकते हुये दूसरे पदार्थोंके प्रकाशित हो जानेके पीछे तिरोभूत हो जानेके कारण चक्षुकिरणें नहीं दीखपाती हैं। इसपर तो हमारा यह कहना है कि अन्धकारसहित काली रातमें तो अन्य प्रकाशकों द्वारा भी छिपाया जाना नहीं होनेसे पुन. अमावस्याकी मेघ छारही काली रातमें मनुष्य, स्त्री, कबूतर आदिके नेत्रोंकी किरणें नहीं दीखती हैं। देखो, प्रदीपकिरणें घाममें यद्यपि नहीं दीखती हैं। परन्तु मनुष्य, चिरैया, आदिकी नेत्रकिरणें तो अंधेरी रातको भी नहीं दीखती हैं। अतः किसी अभिभावक द्वारा अभिभव हो जाना मानना तो ठीक नहीं। हम तो कहते हैं कि अस्मदादिकके नेत्रोंमें किरणें हैं ही नहीं, अतः रातको और दिनको किसी भी समय नहीं दीखती हैं। जैसे कि नहीं होनेके कारण मिट्टीके घडेकी किरणें नहीं दीखती हैं। भले ही बिल्ली, कुत्ता, सिंह, कृष्णसर्प, बैल आदिके नेत्रोंकी चमकती हुयी कान्ति रात्रिमें दीखती है। फिर भी सम्पूर्ण चक्षुओंमें इतनेसे ही प्राप्यकारीपना सिद्ध नहीं हो जाता है। कुत्ता आदिके आखोंकी भी किरणें दूरस्थित दृश्य पदार्थोंतक जाती हुयीं नहीं दीखती हैं। तथा मनुष्योंकी नेत्रकिरणें तो दीखती ही नहीं हैं। अतः व्यतिरेकव्यभिचार हो जानेसे चक्षुका किरणोंद्वारा विषयोंके साथ प्राप्त होकर ज्ञान कराना सिद्ध नहीं हो पाता है। असंख्यस्थलोंमेंसे एक स्थानपर भी यदि व्यभिचार दोष आगया तो इतनेसे ही हेतु हेतुमद्भाव बिगड जाता है। व्यभिचारी पुरुष, कुलटा स्त्री, चोर, असत्यभाषीजन, दिन रात थोडे ही कुकर्म रत रहते हैं। किन्तु कदाचित् ही निकृष्ट कर्ममें तीव्र आसक्त हो जानेसे वे दूषित होकर उसके चौवीस घन्टोंतक लग गये संस्कारके वश होते हुये सतत पापभागी बने रहते हैं।

यद्यनुद्भूतरूपास्ते शक्यंते नेक्षितुं जनैः।
तदा प्रमांतरं वाच्यं तत्सद्भावावबोधकम् ॥ ३५ ॥

वैशेषिक यदि यों कहें कि अस्मदादिक जीवोंकी वे नेत्रकिरणें अनुद्भूतरूप वाली हैं। अतः अप्रकटरूप विशिष्ट होनेके कारण मनुष्योंकरके वे नहीं देखी जा सकती है। इसपर आचार्य कहते

हैं कि तब तो उन नेत्र किरणोंके सद्भावको समझानेवाला न्यारा प्रमाण आप वैशेषिकोंको कहना चाहिये। क्योंकि हम लोगोंके नेत्र तो अब चक्षुकिरणोंको देखनेके लिये समर्थ नहीं है। अर्थात् वैशेषिकोंका मत है कि " **उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरो द्रव्याणि तद्वन्ति पृथक्त्वसंख्ये। विभाग संयोगपरापरत्वस्नेहद्रवत्वं परिणामयुक्तम् ॥ १ ॥ क्रियां जातिं योग्यवृत्तिं समवायं च तादृशम्** ॥ उद्भूतरूपवाले पदार्थ ही नेत्रों द्वारा देखे जाते हैं। " **गृह्णाति चक्षुः सम्बन्धादालोकोद्भूतरूपयोः** "। अपनी ही चक्षुसे अपनी ही नेत्रकिरणोंको देखनेपर अनवस्था दोष आता है। क्योंकि घटके समान किरणोंके जाननेके लिये पुनः उन किरणोंके साथ अन्य किरणोंका संयोग आवश्यक होता जायगा, दूसरे व्यक्ति द्वारा नेत्र किरणोंको दिखानेपर अन्योन्याश्रय हो जाता है। अतः मनुष्य, चिरैया, आदिकी नेत्रकिरणोंको सिद्ध करानेके लिये प्रत्यक्ष प्रमाण तो थक गया। अब आप वैशेषिक अन्य प्रमाणोंकी शरण लीजिये।

रश्मिवल्लोचनं सर्वं तैजसत्वात् प्रदीपवत्।
इति सिद्धं न नेत्रस्य ज्योतिष्कत्वं प्रसाधयेत् ॥ ३६ ॥
तैजसं नयनं सत्सु सन्निकृष्टरसादिषु।
रूपस्य व्यंजकत्वाचेत्प्रदीपादिवदीर्यते ॥ ३७ ॥

वैशेषिक अनुमानप्रमाणद्वारा नेत्रोंकी किरणोंको सिद्ध करते हैं कि सम्पूर्ण चक्षुयें (पक्ष) किरणोंसे सहित हैं (साध्य) तेजो–द्रव्यकरके निर्मित होनेसे (हेतु) प्रदीप कलिकाके समान (अन्वयदृष्टान्त) इस प्रकार पक्षमें ठहर कर सिद्ध हुआ। तैजसत्व हेतु नेत्रोंके दीप्त किरणसहितपनेको अच्छा साध देवेगा। इस अनुमानमें दिया गया तैजसत्व हेतु असिद्ध नहीं है। सो सुनिये। नेत्र (पक्ष) भास्वरस्वरूपवाले तेजोद्रव्यसे बने हुये तैजस हैं (साध्य) अन्य पदार्थोंके रूप, रस, गंध, आदिके सन्निकृष्ट होते संते भी रूपका ही व्यंजक हो जानेसे (हेतु) प्रदीप, सूर्य, आदिके समान, (अन्वयदृष्टान्त) यदि इस प्रकार वैशेषिक निरूपण कर रहे हैं, तब तो यह दोष आता है कि—

हेतोर्दिने निशानाथमयूखैर्व्यभिचारिता।
तैजसं निहितं चंद्रकांतरत्नक्षितौ भवाः ॥ ३८ ॥
तेजोनुसूत्रिता ज्ञेया गा मूलोष्णवती प्रभा।
नान्या मरकतादीनां पार्थिवत्वप्रसिद्धितः ॥ ३९ ॥

चक्षुमें तैजसत्वको साधनेके लिये दिये गये रूपका ही प्रकाशकपना हेतुका दिनमें निशानाथ यानी चन्द्रमाकी किरणोंकरके व्यभिचारीपना है। अर्थात् प्रभाको दृष्टान्त मान लेनेपर हेतुमें परकीय विशेषण नहीं हैं। अतः दिनमें मन्दप्रभ चमकती हुई चन्द्रमाकी किरणें स्वके रूपकी अभिव्यंजक हैं। किन्तु वैशेषिकोंने उनको तैजस नहीं माना है। तथा चन्द्रकान्तमणि, पन्नारत्न आदिसे भी व्यभिचार होता है। चन्द्रकान्त, माणिक्य, पन्ना, वैडूर्य मणियोंको तुम वैशेषिकोंने तैजस नहीं माना है। यदि चन्द्रकान्त रत्नकी भूमि आदिमें तैजसद्रव्यको धरा हुआ मानकर उनमें पायी जानेवाली किरणोंमें तेजोद्रव्यका अन्वित होकर सूत बंधा हुआ मान लिया जायगा सो तो ठीक नहीं पडेगा। क्योंकि तेजोद्रव्यपदार्थोंकी प्रभा तो मूलमें उष्णतासे सहित होती है।

"मूलोण्हपहा अग्गी आदाओ होइ उण्हसहिय पहा। आइच्छे तेरिच्छे उण्हूण पहाउ उज्जोओ"

मूलमें उष्ण और प्रभामें भी उष्ण जो पदार्थ है, वह अग्निस्वरूप तैजस पदार्थ है। किन्तु मूलमें अनुष्ण (शीतल) और प्रभामें उष्ण पदार्थ सूर्य तो आतपयुक्त कहा जाता है। मूल और प्रभा दोनोंमें उष्णतारहित पदार्थ चन्द्रमा, पन्ना, खद्योत, उद्योतवान् बोले जाते हैं। जैनसिद्धान्त अनुसार सूर्यविमानका शरीर सर्वथा उष्ण नहीं है। किन्तु उसकी प्रभा अति उष्ण है। अतः सूर्य किरणोंसे भी व्यभिचार हो सकता है। जलकी जमाई हुयी वर्फ अति शीतल है। किन्तु उसका प्रभाव (असर) उष्ण है। छोटी पीपल, अभ्रकभस्म, चन्द्रोदय रसायन मूलमें शीतल हैं। किन्तु शरीरमें अति उष्णताके उत्पादक हैं। पदार्थोंकी शक्तियां अचिन्त्य हैं। तपस्वी, साधु स्वयं रोगी, निर्धन और कोई कोई अभव्य होकर भी अन्य जीवोंको नीरोग, धनवान्, या मोक्षमार्गी बना देते हैं। चूना स्वयं लाल रंगका नहीं है। किन्तु हल्दीको लाल कर देता है। जड द्रव्यश्रुत अनन्त जीवोंको भेदविज्ञानी, श्रुतकेवली बना देता है। जल और घृत दोनों भी अमृतके समान गुणकारी हैं। किन्तु मिलाकर दोनोंको रगडनेपर कुछ देर पीछे विषशक्तिवाले हो जाते हैं। तथैव मूलमें अनुष्ण हो रहा सूर्य भी उष्णप्रभाका उत्पादक है। लालटेनके हरे काचकी कान्ति (रोशनी) ठण्डी होती है। और लाल काचकी प्रभा उष्ण हो जाती है। अतः मूलकारणमें उष्णतावाली प्रभासे सहित हो रहीं किरणें हीं तैजस कही जा सकती हैं। अन्य पन्ना, मणि, वैडूर्यरत्न, नीलमणि आदिकोंको तो पृथ्वीका विकारपना प्रसिद्ध है। यानी जो मूलमें अनुष्ण है, और जिसकी प्रभा भी अनुष्ण है, वह तैजस नहीं है।

चक्षुस्तैजसत्वे साध्ये रूपस्यैव व्यंजकत्वादित्यस्य हेतोश्चंद्राद्युद्योतेन मूलोष्णत्वरहितेन पार्थिवत्वेन व्यभिचारादगमकत्वात्तत्तैजसत्वस्यासिद्धेर्न ततो रश्मिवच्चक्षुषः सिध्येत्।

चक्षुका तैजसपना साध्य करनेपर रूप आदिकोंके सन्निहित होनेपर रूपका ही व्यंजकपना होनेसे यों इस हेतुका चन्द्रमा, मरकत मणि आदिके उद्योतकरके व्यभिचार होगा, जो कि मूलमें और प्रभामें उष्णतासे रहित होता हुआ पृथ्वीका विकार माना गया है। चक्षुस्सन्निकर्षमें व्यभिचार

वारण करनेके लिये द्रव्यत्व और ज्ञानके कारणको ही ज्ञानका विषय माननेवाले वादीके यहां चाक्षुषप्रत्यक्षके विषय हो रहे रूप, रूपवान् अर्थ, रूपत्व, रूपाभाव इन करके हुये व्यभिचारके निवारणार्थ करणत्व विशेषण लगानेपर भी चन्द्र उद्योत आदि करके व्यभिचार दोष लगा रहना तदवस्थ रहता है। अतः हेतुका गमकपना नहीं होनेके कारण चक्षुमें तैजसपनेकी सिद्धि नहीं हो सकी। इस कारण उस तैजसत्व हेतुसे चक्षुकी किरणवत्ता नहीं सिद्ध हो पायगी।

रूपाभिव्यंजने चाक्ष्णां नालोकापेक्षणं भवेत्।
तैजसत्वात्प्रदीपादेरिव सर्वस्य देहिनः॥ ४०॥

दूसरी बात यह है कि यदि सम्पूर्ण नेत्रवाले शरीरी आत्माओंकी चक्षुओंको किरणसहित तैजस माना जावेगा, तब तो चमकीले तेजका विवर्त होनेके कारण चक्षुओंको रूपकी अभिव्यक्ति (ज्ञप्ति) करानेमें अन्य सूर्य, प्रदीप, बिजली आदिके आलोक या प्रकाशकी अपेक्षा नहीं होना चाहिये। जैसे कि प्रदीप, सूर्य, आदिको रूपके प्रकाशनेमें अन्य सूर्य, दीप, आदिके आलोकांतरकी अपेक्षा नहीं होती है। किन्तु मनुष्य, कबूतर आदिको अंधेरेमें चाक्षुषप्रत्यक्ष करनेके लिये आलोक, प्रकाशकी अपेक्षा होती देखी जाती है। अतः चक्षुका तैजसपना असिद्ध है।

यथैकस्य प्रदीपस्य सुस्पष्टार्थप्रकाशने।
मंदत्वादसमर्थस्य द्वितीयादेरपेक्षणम्॥ ४१॥
तथाक्ष्णोर्न विरुध्येत सूर्यालोकाद्यपेक्षणं।
स्वकार्ये हि स्वजातीयं सहकारि प्रतीक्ष्यते॥ ४२॥

वैशेषिक यदि यों कहें कि अर्थके बढिया स्पष्ट प्रकाश करनेमें मन्द होनेके कारण असमर्थ हो रहे एक दीपकको जैसे दूसरे, तीसरे, आदि दीपकोंकी अपेक्षा हो जाती है, तिसी प्रकार मन्द प्रकाशी होनेसे मनुष्योंके नेत्रोंको भी सूर्य, चन्द्र, प्रदीप, आदिके आलोक, उद्योत, प्रभा आदिकी अपेक्षा करना विरुद्ध नहीं पडेगा। क्योंकि अपने द्वारा करने योग्य कार्यमें अपनी समान जातिवाला सहकारी कारण प्रतीक्षित हो ही जाता है। अतः तैजस नेत्रोंको तैजस सूर्य, दीप आदिकी आकांक्षा होना स्वाभाविक है, हां, रात्रिचरोंके नेत्रोंको दीपककी आवश्यकता नहीं है।

तदसल्लोचनस्यार्थप्रकाशित्वाविनिश्चयात्।
कथंचिदपि दीपादिनिरपेक्षस्य प्रदीपवत्॥ ४३॥

आचार्य कहते हैं कि यह वैशेषिकोंका कहना प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि प्रदीपके समान अन्य दीपक, सूर्य, आदिकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले मनुष्योंके नेत्रोंको किसी भी प्रकारसे अर्थ-प्रकाशकपनेका विशेष निश्चय नहीं है। यानी मनुष्योंको चाक्षुष प्रत्यक्ष करनेमें अन्य आलोककी अपेक्षा आवश्यक है। मन्दसे भी अतिमन्द हो रहे प्रदीपको स्वप्रकाशनमें अन्य दीपोंकी आवश्यकता नहीं है। भले ही किसी सूक्ष्म या लम्बे, चौडे, पदार्थोंके प्रकाशनेमें अन्य दीपकोंकी आवश्यकता होय, जब कि मन्ददीपके समान भी नेत्रोंमें तैजसकान्ति या किरणें नहीं दीखती हैं, तो नेत्रोंको तैजस कैसे भी नहीं कहा जा सकता है। यों सूक्ष्मतासे विचारनेपर तो मन्दप्रकाश इन सांप, चूहेके बिलोंमें भी है। आतपयुक्त आंगन, गृह, तलघर, खत्ती, गुप्तगृह, मूषकबिल, सर्पबिलमें प्रकाश न्यूनतर न्यूनतम है। चूना, मिट्टी आदि पदार्थोंमें भी थोडी प्रभा होती है। तथा प्रकाशकोंकी प्रभा भी बहुत भीतर घुस जाती है।

अंधकारावभासोस्ति विनालोकेन चेन्न वै।
प्रसिद्धस्तेंधकारोस्ति ज्ञानाभावात्परोर्थकृत् ॥ ४४ ॥

यदि वैशेषिक यों कहें कि रात्रिमें आलोकके विना भी अन्धकारका प्रतिभास हो जाता है। फिर आप जैन नेत्रोंको चाक्षुषप्रत्यक्ष करनेमें आलोककी आवश्यकताका इतना आग्रह क्यों कर रहे हैं? ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो वैशेषिकोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि तुम वैशेषिकोंके यहां ज्ञानाभावसे अतिरिक्त कोई न्यारा अर्थक्रियाको करनेवाला अन्धकार पदार्थ निश्चयसे प्रसिद्ध नहीं माना गया है। फिर आलोक अन्धकारके विना ही दीख जानेका हमारे ऊपर व्यर्थ आपादन क्यों किया जाता है?।

परेष्ट्यास्तीति चेत्तस्याः सिद्धं चक्षुरतैजसं।
प्रमाणत्वेन्यथा नांधकारः सिध्येत्ततस्तव ॥ ४५ ॥

यदि वैशेषिक यों कहें कि जैनोंने अंधकारको पुद्गलद्रव्यका पर्याय इष्ट किया है। यों दूसरे जैनोंकी इष्टिसे अन्धकार पदार्थका अस्तित्व मान लिया जाता है। अतः जैनसिद्धान्त अनुसार जैनोंके ऊपर अन्धकारके आलोक विना ही प्रत्यक्ष हो जानेका कटाक्ष किया जा सकता है। प्रतिवादीको जैसा भी अवसर मिलेगा तदनुसार वादीको चित्त या पट्ट, गिरानेकी घातमें लगा रहेगा। इस प्रकार कौटिल्यसहित वैशेषिकोंकी नीति हो जानेपर तो हम स्याद्वादी भी सतर्क होकर कहते हैं कि यदि दूसरे जैनोंकी इष्टिसे ही कार्य साधा जाता है, तो स्याद्वादियोंकी उस इष्टिको प्रमाणपना माननेपर चक्षु अतैजस भी सिद्ध हो जाती है। जैनोंने चक्षुको अतैजस माना है। अन्यथा यानी जैन आचार्योंके इष्ट, सिद्धान्तको प्रमाणपना नहीं माननेपर तो तिस कारण तुम्हारे

यहां अन्धकार पदार्थ सिद्ध नहीं हो पायगा। अर्थात्—जैनोंको अभीष्ट हो रहे सिद्धान्त अनुसार यदि अन्धकारको पौद्गलिक तत्त्व माना जायगा तो उन्हींके अभीष्ट अनुसार चक्षुका अतैजसपना भी सिद्ध हो जायगा। एक बात मानी जाय दूसरी न्याय्य बात नहीं मानी जाय ऐसा अर्द्धजरतीय न्याय प्रशस्त नहीं है।

अतैजसांजनापेक्षि चक्षू रूपं व्यनक्ति यं।
नातः समानजातीयसहकारि नियम्यते ॥ ४६ ॥

वैशेषिकोंने यह कहा था कि तैजस अपनी समान जातिवाले अन्य तैजस पदार्थको सहकारी चाहती है। सो उनका यह कहना भी ठीक नहीं, जब कि रोगी, वृद्ध या मोतियाबिन्दवाले मनुष्योंकी चक्षुयें तेजोद्रव्यसे नहीं बनाये गये अतैजस अंजन या काजलकी अपेक्षा रखती हुयीं जिस रूपकी प्रकट ज्ञप्ति कराती हैं, उसमें चक्षुका सहकारी कारण कोई समानजातिका तैजस पदार्थ अपेक्षणीय नहीं है। तथा शिर या पादतलमें तैल, घृत, आदिक मलनेसे नेत्रोंको सहकारिता प्राप्त हो जाती है। काच या पत्थरके उपनेत्र (चश्मा) भी नेत्रोंके सहायक हैं। घी, बूरा, कालीमिर्च, बादामका भक्षण भी नेत्रद्वारा दर्शन करानेमें उपयोगी है। अतः समानजातीय तैजस पदार्थ ही नेत्रोंका सहकारी है, यह नियम नहीं किया जा सकता है। चश्मा आदिक तो वैशेषिकोंके यहां पार्थिव पदार्थ माने गये हैं।

तैजसमेवांजनादि रूपप्रकाशने नेत्रस्य सहकारि न पुनः पार्थिवमेव तत्रानुद्भूतस्य तेजोद्रव्यस्य भावादित्ययुक्तं प्रमाणाभावात्। तैजसमंजनादि रूपावभासने नयनसहकारित्वाद्दीपादिवदित्यप्यसम्यक्, चन्द्रोद्योतादिनानैकांतात्। तस्यापि पक्षीकरणान्न व्यभिचार इति चेन्न, हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वप्रसंगात्। पक्षस्य प्रत्यक्षानुमानागमबाधितत्वात् तस्य प्रत्यक्षेणातैजसत्वेनानुभवात्। न तैजसश्चंद्रोद्योतो नयनानंदहेतुत्वात्सलिलादिवदित्यनुमानात्। मूलोष्णवती प्रभा तेज इत्यागमाच्चाब्धिजलकल्लोलैश्चंद्रकांतप्रतिहताः सूर्यांशवः प्रद्योतंते शिशिराश्च भवंति तत एव नयनानंदहेतव इत्यागमस्तु न प्रमाणं, युक्त्यननुगृहीतत्वात् तथाविधागमांतरवत्। तदननुगृहीतस्यापि प्रमाणत्वेतिप्रसंगात्। पुरुषाद्वैतप्रतिपादकागमस्य प्रमाणत्वप्रसंगात् सकलयौगमतविरोधात्। किं च।

वैशेषिक कहते हैं कि तेजोद्रव्यसे बने हुये ही अंजन आदिक पदार्थस्वरूपको प्रकाशनेमें नेत्रके सहकारी कारण हैं। किन्तु फिर वे अंजन आदिक विवर्त केवल पार्थिव ही नहीं हैं। क्योंकि उन अंजन आदिकोंमें प्रकट नहीं हो रहे अप्रकट तेजोद्रव्यका भीतर सद्भाव है। अतः तैजस

नेत्रके तैजस पदार्थ ही सहायक हुये अन्धकार कहते हैं कि यह वैशेषिकोंका कहना युक्तिरहित है। क्योंकि अंजन, काजल, तैल, आदिमें छिपे हुये तेजोद्रव्यके सद्भावका साधक कोई प्रमाण नहीं है। यदि वैशेषिक यह अनुमान प्रमाण देवें कि अंजन, सुरमा, चश्मा आदिक [पक्ष] तैजस पदार्थ हैं (साध्य) रूपको प्रकाशनेमें नेत्रोंके सहकारी कारण होनेसे (हेतु) जैसे कि दीपक, बिजली आदिक हैं, (अन्वयदृष्टान्त)। आचार्य कहते हैं कि यह वैशेषिकोंका अनुमान तो समीचीन नहीं है। क्योंकि चन्द्रउद्योत, माणिक्य प्रकाश, आदिक करके व्यभिचार हो जाता है। वे तैजस नहीं होते हुए भी नेत्रोंके सहकारी हैं। यदि वैशेषिक उनको पक्ष नहीं होते हुये भी अञ्जन आदिके साथ पक्षकोटिमें कर लेंगे, अर्थात्—चन्द्र उद्योत, आदिको भी तैजसपना साधनेको उद्युक्त हो जायंगे, अत. व्यभिचार नहीं होगा, मान लेंगे, सो यह तो नहीं समझना। क्योंकि ऐसी दशामें नयनसहकारित्व हेतुको बाधित हेत्वाभास हो जानेका प्रसंग हो जायगा। अंजन, चन्द्रोद्योत, सुरमा आदिमें तैजसपना साधनेपर प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम प्रमाणोंसे पक्षबाधित हो जाता है। देखिये, उन अंजन, उद्योत, आदिकोंका प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा अतैजसपनास्वरूप करके अनुभव हो रहा है। अतः काले अंजन, पीछे उद्योत, अभासुर चश्मा, आदिका तैजसपना प्रत्यक्षबाधित है। वैशेषिकोंने भी इनको पार्थिव माना है। तुम्हारे अनुमानमें इस अनुमानप्रमाणसे भी बाधा यों आती है कि चन्द्रोद्योत (पक्ष) तैजस नहीं है (साध्य), नेत्रोंको आनन्दका कारण होनेसे (हेतु) जल, कर्पूर, ममीरा, आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस प्रकार अनुमानसे बाधा होनेके कारण तुम्हारा नयनसहकारित्व हेतु सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास भी है। प्रायः अतैजस, शीतल, पदार्थ ही नयनोंके आनन्ददाता हैं। तथा आगमप्रमाणसे भी तुम्हारा हेतु बाधित है। मूलमें जो उष्ण है और जिसकी प्रभा भी उष्ण है, वह तैजस पदार्थ है। जैनसिद्धान्तमें सूर्यकी प्रभाको उष्ण होनेपर भी मूलमें सूर्यको उष्ण नहीं होनेके कारण तैजस नहीं माना गया है। मोटे तारमें बह रही किन्तु नहीं चमक रही प्रभारहित विद्युत्शक्तिके अति उष्ण होनेपर भी उसकी उष्णकान्ति नहीं होनेके कारण उसको तैजस नहीं माना गया है। भावार्थ—जबतक बिजली तारमें या बिजलीघरमें बह रही है या संचित हो रही है, उस समय उष्णप्रभा नहीं होनेके कारण उसमें तैजसकायके जीवोंकी सम्भावना नहीं है। हां, कांचके लट्टूमें भीतर चमक जानेसे अथवा बिजलीकी सिगडीमें दहक जानेपर तेजस् कायके जीव उत्पन्न हो जाते हैं। ' मूलोण्हपहा अग्गी " यहां अग्निका अर्थ तेजोद्रव्य है। अतः मूलमें उष्ण और उष्णप्रभावाले पदार्थको तेजोद्रव्यका परिज्ञायक श्रेष्ठ आगम वाक्य हो जानेपर आगमसे भी चन्द्रोद्योतका तैजसपना बाधित हो जाता है। यदि वैशेषिक यह आगम दिखलावें कि समुद्रके जलकी लहरोंकरके चन्द्रकान्तमणिके साथ प्रतिघातको प्राप्त हो रहीं सूर्यकिरणें ही चन्द्रविमान द्वारा प्रकृष्ट उद्योत कर रहीं हैं। अथवा सूर्यकिरणें ही समुद्रजलसे

टक्कर खाकर ऊपर चन्द्रमाके भीतरसे प्रकाशती हैं । या चन्द्रमाकी कांतिसे टकराकर उछलती हुईं सूर्यकिरणें चमकती हैं । और समुद्रजलका स्पर्श हो जानेसे वे शीतल भी हो गयी हैं । तिस ही कारण नेत्रोंको आनन्द देनेका हेतु हो गयीं हैं । अर्थात्—वर्तमानके इंग्रेजी साइन्सका मत यह है कि सूर्यकिरणोंसे ही चन्द्रमा उद्योतित होता है । वैष्णव सम्प्रदायके पुराणोंमें यों लिखा है कि समुद्रका मथन करनेपर चौदह रत्नोंकी प्राप्ति हुयी । उनमें एक चन्द्रमा है । ऊपरले सूर्यकी किरणोंका समुद्रस्थित लम्बी, चौडी, चन्द्रकान्तमणिके साथ अनेक दिनोंतक प्रतिघात होते रहनेके कारण वे उद्योतवाली और शीतल होगई हैं । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकारके आगम तो प्रमाण नहीं हैं । क्योंकि युक्तियोंके अनुग्रहसे रहित हैं, जैसे कि तिस प्रकारके अन्य आगम विचारे प्रमाण नहीं माने गये हैं । अर्थात् वर्तमानके कतिपय वैज्ञानिकोंने कुछ तारे ऐसे माने हैं, फैलते फैलते भी जिनका प्रकाश असंख्य वर्षोंसे यहां पृथ्वीपर अबतक नहीं आ पाया है । ऐसा उनकी पुस्तकोंमें लिखा है । पृथ्वी आदिक तत्त्वोंको मिलाकर ही जीवात्मा बन जाता है । विचारनेवाले मनका स्थान शिर है, इत्यादिक आगम या पुस्तकें अयुक्त होनेके कारण जैसे प्रमाण नहीं हैं, उसी प्रकार चन्द्रकी गांठके उद्योतको सूर्यकिरणोंका उद्योत कहना और समुद्रजलके स्पर्शसे उनका ठंडा पड जाना कहना अयुक्त है । चन्द्रके लाञ्छनमें जैसे यह आगमप्रमाण नहीं है कि—

" अंकं केपि शशंकिरे जलनिधेः पंकं परे मेनिरे । सारंगं कतिचिच्च संजगदिरे भूच्छाय-मैच्छनपरे । इन्दौ यद्दलितेन्दुनीलशकलश्यामं दरीदृश्यते । तन्नूनं निशि पीतमन्धतमसं कुक्षिस्थमाचक्ष्महे " । चन्द्रमामें खण्डित नीलमणिका टुकडा सरीखा काला पदार्थ जो अतिशययुक्त दीख रहा है, उस चिह्नको कोई तो कलंककी आशंका करते हैं, अन्य विद्वान् समुद्रमेंसे चली आयी कीचड मान रहे हैं, कोई उसको हिरण कह रहे हैं, अन्य विद्वान् उसको पृथ्वीकी छाया इच्छते हैं, किन्तु कवि स्वयं यह सिद्धान्त करते हैं कि रातमें पान कर लिया गया गाढ अन्धकार चन्द्रकी कोखमें वही दीख रहा है । वस्तुतः चन्द्रविमान स्वयं छप्पनबटे एकसठ योजनका उद्योत-शाली, तथा मूल और प्रभामें शीतल, तथा अनादिकालीन, एवं काले, पीले, रत्नोंसे निर्मित, रत्नमय, पदार्थ है । उन युक्तियोंसे नहीं अनुगृहीत हो रहे, चाहे जिस किसी आगमको भी यदि प्रमाण मान लिया जायगा तो अतिप्रसंग हो जायगा । जगत्में हिंसा, झूंठ, आखेट, वेश्यासेवन, द्यूतक्रीडा, आदिके प्रतिपादक भी शास्त्र कषायवान् जीवोंने गढ लिये हैं । भेदवादी, नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक आदि विद्वानोंके यहां भी ब्रह्माद्वैतके प्रतिपादक आगमको प्रमाणपनेका प्रसंग हो जायगा और ऐसा होनेपर उसके साथ सम्पूर्ण नैयायिक, वैशेषिक और योग्यविद्वानोंके मतका विरोध हो जायगा । किन्तु द्वैतवादी नैयायिकोंने अद्वैतप्रतिपादक आगमको अयुक्त होनेके कारण प्रमाण नहीं माना है । दूसरी बात यह भी है, सो वार्तिकद्वारा सुनिये ।

किमुष्णस्पर्शविज्ञानं तैजसेक्षिण न जायते ।
तस्यानुद्भूततायां तु रूपानुद्भूतता कुतः ॥ ४७ ॥

नैयायिक अथवा वैशेषिकोंके प्रति आचार्य महाराज प्रश्न उठाते हैं कि चक्षुको तेजोद्रव्यसे निर्मित हुआ माननेपर आंखमें क्यों नहीं उष्णस्पर्शका विज्ञान उत्पन्न हो जाता है ? अग्नि, दीपकलिका आदिक सभी तैजस पदार्थोंमें उष्णस्पर्शका स्पार्शनप्रत्यक्ष उपज रहा है। यदि आप उस तैजस नेत्रके उष्ण स्पर्शका अनुद्भूतपना स्वीकार करेंगे तब तो तेजके भास्वररूपका अनुद्भूतपना भला कैसे हो सकता है ? ऐदम्पर्य यह है कि जिस तैजस पदार्थका उष्णस्पर्श अनुद्भूत (अप्रकट) है, उसका रूप अवश्य उद्भूत है। और जिसका रूप अनुद्भूत है, उसका स्पर्श अवश्य उद्भूत (प्रकट) है। फिर नेत्रमें कमसे कम उष्णस्पर्श या भास्वर (अधिक चमकीला) शुक्ल दोनोंमेंसे एक तो अभिव्यक्त होना ही चाहिये। नेत्रको तैजस माना जाय और दोनों भास्वर शुक्ल और उष्ण स्पर्श अप्रकट माने जांय, यह कथन आप नैयायिकोंके अपने सिद्धान्तसे ही विरुद्ध पडता है। किसी भी तैजसपदार्थमें नैयायिकोंने रूप, स्पर्श, दोनोंको तिरोभूत नहीं माना है, रूप, स्पर्श दोनोंमेंसे एक अप्रकट भले ही हो जाय। फिर नेत्रमें अपने नियमका अतिक्रमण वे कैसे कर सकेंगे ? अर्थात् नहीं। नेत्रमें तेजोद्रव्यके उपजीवक भास्वररूप और उष्णस्पर्श दोनों नहीं प्रतीत होते हैं। अतः चक्षु तैजस नहीं है। पौद्गलिक तो है ही।

तेजोद्रव्यं ह्यनुद्भूतस्पर्शमुद्भूतरूपभृत् ।
दृष्टं यथा प्रदीपस्य प्रभाभारः समंततः ॥ ४८ ॥
तथानुद्भूतरूपं तदुद्भूतस्पर्शमीक्षितम् ।
यथोष्णोदकसंयुक्तं परमुद्भूततद्द्वयम् ॥ ४९ ॥
नानुद्भूतद्वयं तेजो दृष्टं चक्षुर्यतस्तथा ।
अदृष्टवशतस्तच्चेत्सर्वमक्षं तथा न किम् ॥ ५० ॥
सुवर्णघटवत्तस्यादित्यसिद्धं निदर्शनं ।
प्रमाणबलतस्तस्य तैजसत्वाप्रसिद्धितः ॥ ५१ ॥

जो तेजोद्रव्य अनुद्भूत स्पर्शवाला है, वह नियमसे उद्भूतरूपको धारण किये हुए देखा गया है। जैसे कि प्रदीपका चारों ओरसे फैल रहा दीप्तियोंका समुदाय भले ही व्यक्त उष्णस्पर्शवाला

नहीं है। किन्तु तेजोद्रव्यके उपजीवी चमकीले उद्भूतरूपको अवश्य धारण किये हुये तथा जिस तेजोद्रव्यमें भास्वररूप उद्भूत नहीं भी है, उसमें तेजोद्रव्यके उपयोगी उद्भूत उष्णस्पर्श अवश्य प्रतीत हो रहा है। जैसे कि उष्णजलमें संयुक्त हो रहा तेजोद्रव्य उद्भूत रूपवान् यद्यपि नहीं है, किन्तु उष्णस्पर्शवान् अवश्य है। नैयायिकजनोंने जलको सर्वदा शीतल माना है। उनके मत अनुसार उष्णजलमें तेजोद्रव्यके उष्णस्कन्ध बहुतसे घुस आते हैं। अतः जल उष्ण प्रतीत होने लग जाता है। जैसे कि बूरेमें काली मिरचका चूरा डाल देनेसे बूरेका स्वाद मिष्टमिश्रित चिरपिरा (कटु) अनुभूत हो जाता है। अथवा पानीमें मषीका बुरादा मिला देनेसे कालापानी या नीला पानी हो जाता है। वस्तुतः पानी ठंडा स्वच्छ, शुक्ल, है। किन्तु इस विषयमें जैनसिद्धान्त ऐसा नहीं है। स्याद्वादी तो यों मानते हैं कि पुद्गलद्रव्यकी विशेषपर्याय जल है। सम्भव है उसमें जलकायके जीवोंके शरीर भी होवे। अनेक स्कन्धोंसे बना हुआ होनेके अशुद्धद्रव्यजलका स्पर्शगुण जो अबतक शीतस्पर्श पर्यायस्वरूप परिणत हो रहा था, वही स्पर्शगुण विचारा अग्नि, तीव्र आतप, बिजली, आदिका निमित्त मिल जानेपर उष्णस्पर्श परिणति ले लेता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये न्यारी जातिके चार तत्त्व नहीं हैं। क्योंकि वायु जल बन जाती है। वृक्षोंमें जल प्राप्त होकर वनस्पति बन जाता है। धोंकी जानेपर वायु ही तीव्र अग्नि हो जाती है। अग्निमय कोयला बुझ जानेपर राख हो जाता है। वस्तुतः पुद्गलद्रव्य (तत्त्व) एक है। कोई भी पौद्गलिक पदार्थ निमित्त मिलनेपर किसी भी स्पर्शको धारण कर सकता है। राजगृहीके कुंडोंका जल तो खानोंमेंसे ही प्रथम प्रथम अति उष्णस्पर्शवाला झरता है। शीत ऋतुमें कूपजल भी कदुष्ण निकलता है। अतः जलका शीत ही स्वभाव नियत रखना अयुक्त है। जलमें बूरा या स्याही चूरा अथवा सतुआ मिलादेनेपर केवल संयोग ही नहीं होता, किन्तु बंध होकर तीसरी अवस्था हो जाती है। " तद्द्वयोः स्वगुणच्युतिः ", बंधदशामें दोनों पदार्थ अपने अपने स्वभावोंसे च्युत होकर तीसरी ही जातिकी पर्यायको धारण कर लेते हैं। हां, विजातीयद्रव्योंका संयोग होकर बंध हो जानेपर " सगसगभावं ण मुंचंति " अनुसार द्रव्यरूपसे अपने स्वभावोंको कदापि नहीं छोडते हैं। तभी तो विभक्त हो जानेपर न्यारे न्यारे द्रव्य बने रहते हैं। द्व्यणुकका भेद हो जानेपर दो परमाणु द्रव्य उपज जाते हैं। प्रकरणमें यह कहना है कि उष्णजलका उष्ण स्पर्श वस्तुतः जलका ही तदात्मक परिणाम है। जलमें सूची अग्रभागोंके समान घुसे हुये माने गये तेजोद्रव्यका वह औपाधिक परिणाम नहीं है। भला विचारो तो सही कि उष्ण स्पर्श यदि जलकी निज गाठका नहीं है तो उष्णजलका न्यारा स्वाद भी तेजोद्रव्यका ही माना जायगा। किंतु नैयायिकोंने तेजोद्रव्यको स्वादरहित स्वीकार किया है "गुरुणी द्वे रसवती" (पृथ्वीजले) शीतजलके स्वाद और उष्ण जलके स्वादमें अन्तर तो अवश्य है। ठंडा दूध और भोजनके स्वादसे उष्ण दुग्ध या भोजनका रस विलक्षण है। अतः तेजोद्रव्यके निमित्तसे जल, दूध और भोज्य पदार्थोंमें ही रसान्तर की उत्पत्ति माननी चाहिये। नीरस आकाश तो किसी व्यञ्जनमें रसान्तर नहीं

करदेता है। बूरेमें पिसीं हुई कालीमिरचें मिला देनेपर कुछ देरतक यों ही बंधके लिये धरे रहनेसे दोनोंके रसगुणमें विशिष्टपरिणाम हो जाते हैं। हां, बूरेमें चांदी, सोने, लोहेका चूरा मिला देनेपर संयोग हो जाने मात्रसे दोनोंका रसान्तर नहीं हो पाता है। सम्भव है, अधिक कालमें बंध हो जानेपर रसायनप्रक्रियाद्वारा गुणोंकी विभिन्न परिणतियां हो जाय। कासा या पीतल तो दही या खटाईका शीघ्र विपरिणाम करदेते हैं। निमित्त-नैमित्तिक भावको इन्द्र, चक्रवर्ती भी टाल नहीं सकता है। अस्तु, यहां नैयायिक जो कह रहे हैं, उनकी बात सुनलो। उष्ण जलमें तेजोद्रव्य उद्भूत स्पर्शवाला है। उद्भूतरूप और अनुद्भूतस्पर्शवाले आलोक, प्रभा दीप्ति आदि हैं। तथा उद्भूत स्पर्श और अनुद्भूतरूपवाले उष्णजलसंयुक्त तैजस आग आदि हैं। उक्त इन दोनों जातिके तैजसद्रव्योंसे भिन्न जितने भी अग्नि, ज्वाला, तप्तलोह गोला, चमकीली बिजली, अंगार, आदि पदार्थ हैं, वे सब तैजस पदार्थ उन उद्भूत भास्वररूप और उद्भूत उष्णस्पर्श दोनोंसे सहित है। हां, तेजोद्रव्यके उपयोगी उद्भूतरूप और उद्भूत स्पर्श दोनों जिसमें अप्रकट होंय, ऐसा तेजोद्रव्य तो कोई नहीं देखा गया है, जिससे कि चक्षु भी तिस प्रकार होता हुआ अनुद्भूत रूपवान् और अनुद्भूत स्पर्शवान् मान लिया जाय। अभिप्राय यह है कि आप वैशेषिक यदि चक्षुको तैजसद्रव्य मानते हैं तो उद्भूतरूप और उद्भूत उष्णस्पर्श दोनोंमेंसे एकको तो अवश्य नेत्रमें प्रकट मानियेगा। दोनोंके अप्रकट माननेपर तो वह नेत्र तैजस कथमपि नहीं सम्भव सकते हैं। यदि पुण्य या पाप के वशसे उस नेत्रमें दोनोंके उद्भूत नहीं होनेपर भी तैजसपना मान लिया जायगा, अथवा तैजसनेत्रके भी किन्हीं जीवोंके पुण्य, पाप, अनुसार दोनों रूप स्पर्शोंका उद्भूतपना नहीं दृष्टिगत हो रहा स्वीकार किया जायगा, तब तो सम्पूर्ण इन्द्रियोंको तिस प्रकारका अनुद्भूतरूप स्पर्शवाला क्यों नहीं मान लिया जाय? जैसे कि नैयायिकोंने स्वर्णके बने हुये घटमें उष्णस्पर्श और भास्वररूप दोनोंका अप्रकटपना माना है, वैसे तो सोनेका घडा पीला और अनुष्ण, शीतस्पर्शवाला दीख रहा है। इसीके समान स्पर्शनरसना आदि इन्द्रियां भी तैजस बन बैठेंगी। बावदूक कह सकते हैं कि इन्द्रियधारी जीव आखों या अन्य इन्द्रियोंसे भुरस नहीं जाय, अथवा उनकी आखें दूसरेकी तैजस आखोंसे चकाचौंधमें नहीं पड जाय, इसके उपयोगी पुण्यके उदयसे उन इन्द्रियोंके स्पर्श, रूपोंका प्रकट अनुभव नहीं हो पाता है। कभी कभी पुण्य और पापका उदय होनेपर चमकीले और अति उष्ण पदार्थ भी विपरीत भास जाते हैं और कदाचित् अनुष्ण या धूसरित पदार्थ भी पुण्य, पाप अनुसार उष्ण, चमकदार, भास जाते हैं। भाग्यवान्के दोषगुणरूपसे और भाग्यहीनके गुण भी दोषरूपकरके कहे जाते हैं। इस ढंगसे प्रत्यक्षविरुद्ध बातोंमें नैयायिकोंका युक्ति लडाना प्रशंसनीय नहीं है। " अग्नेरपत्यं प्रथमं हिरण्यं " ऐसे वाक्योंपर अन्धविश्वास करके फिर अपने तात्त्विकसिद्धान्तको वहां घसीटना परीक्षकोंको शोभा नहीं देता है। सुवर्ण पीला है, भारी है। अत. पीतल, चांदी, पीली मिट्टी, आदिके समान पार्थिव है। सुवर्णसे तो और भी अधिक चमकीले

पदार्थ शुक्रविमान, चन्द्रमा, दर्पण, रागकी कलईवाले मांड, हीरा, पन्ना आदि विद्यमान हैं। उनको तो वैशेषिकोंने तैजस नहीं माना है। चंद्रमा आदिमें भी तेजोद्रव्यके कणोंका सद्भाव कल्पित करना यह उसी प्रकार भ्रान्तिरूप है, जैसे कि बर्फ, करका आदि जलीय पदार्थोंमें काठिनपनेकी प्रतीतिको वैशेषिकोंने भ्रान्त मानलिया है। वस्तुतः हिम, ओला, आदिके काठिन्यका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। बात यह है कि प्रमाणोंकी सामर्थ्यसे उस सुवर्ण घटको तैजसपना प्रसिद्ध नहीं हो पाता है। अतः नहीं सिद्ध हुये दृष्टान्त सुवर्णघटके बलसे चक्षुमें तैजसरूप और उष्णस्पर्श दोनोंका अनुद्भूत होकर रह जाना सिद्ध नहीं हो सकता है। इस कारण वैशेषिकोंके पूर्वोक्त अनुमानसे चक्षुका तैजसपना सिद्ध नहीं हो सका, उक्त दृष्टान्त स्वयं ही सिद्ध नहीं है।

नोष्णवीर्यत्वतस्तस्य तैजसत्वं प्रसिध्यति।
व्यभिचारान्मरीचादिद्रव्येण तैजसेन वः॥ ५२॥

वैशेषिक कहते हैं कि चक्षु (पक्ष) तैजस है (साध्य) उष्णवीर्य सहितपना होनेसे (हेतु) जैसे कि ज्वाला है अर्थात्—नेत्रमें अति उष्णशक्ति है। तृण, कंकरी, मच्छर, धूल आदिके पड जानेपर आंख उसको शीघ्र नष्ट कर देती है। काले सर्प या दृष्टिविषसर्पकी आंखोंमें अत्यधिक उष्णता शक्ति है। आंखमें बूंद दो बूंद जल डाल देनेसे वह अतिउष्ण हो जाता है। नेत्रसे आंसू उष्ण (गरम) निकलते हैं। नेत्रकी तैजस शक्तिसे दृष्टिपात होकर बालक, दर्पण, सुंदर अवयव, भक्ष्य, पेय, पदार्थ दृष्टिदोषसे ग्रसित हो जाते हैं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार उष्णवीर्य युक्तपनेसे चक्षुका तैजसपना भी वैशेषिकोंके यहां नहीं प्रसिद्ध हो पाता है। क्योंकि मिरच, पीपल, चंद्रोदय रसायन, पाला, संखिया, सर्पविष, आत्मशक्तियां, आदिसे व्यभिचार हो जायगा। जो कि तुम वैशेषिकोंके यहां तैजसपदार्थ नहीं माने गये हैं। अर्थात् मिरच, संखिया, आदिक भी बडी बडी उष्णशक्तियोंके कार्य करते हैं। पाला गिरनेसे वन, अरहर आदिके वृक्ष ठिठुरकर दग्ध हो जाते हैं, किन्तु वे तैजस नहीं हैं।

ततो नाऽसिद्धता हेतोः सिद्धसाध्यस्य बुध्यते।
चाक्षुषत्वादितो ध्वानेऽनित्यत्वस्य यथैव हि॥ ५३॥

स्वरूपासिद्ध हेत्वाभाससे साध्यकी सिद्धि नहीं हुयी समझी जाती है। प्रकरणमें तिस कारण रूप आदिकोंके सन्निहित होनेपर रूपकी ही अभिव्यक्ति करनेवालापन हेतुसे चक्षुमें तैजसपना सिद्ध नहीं हुआ और तैजसपना हेतुकी असिद्धि हो जानेसे किरणसहितपन साध्यकी सिद्धि नहीं समझी जायगी। असिद्ध हेतुओंसे साध्यकी सिद्धि नहीं हुआ करती है। जिस ही प्रकार कि शब्दमें

चाक्षुषत्व, रासनत्व आदि असिद्ध हेतुओंसे अनित्यपनकी सिद्धि नहीं हो पाती है। जब कि चक्षुमें रश्मियां सिद्ध नहीं हुयीं तो काच आदिकसे अंतरित अर्थका प्रकाशपना रश्मियोंद्वारा उसको प्राप्तकर नहीं बना। ऐसी दशामें चक्षुका प्राप्यकारीपना खण्डित हो जाता है।

तदेवं तैजसत्वादित्यस्य हेतोरसिद्धत्वान्न चक्षुषि रश्मिवत्त्वसिद्धिनिबंधनत्वं यतस्तस्य रश्मयोर्थप्रकाशनशक्तयः स्युः सतामपि तेषां बृहत्तरगिरिपरिच्छेदनमयुक्तं मनसोधिष्ठाने सर्वथेत्याह।

तिस कारण इस प्रकार तैजसत्वात् ऐसे इस हेतुकी असिद्धता हो जानेसे चक्षुमें उस तैजसत्वको ज्ञापककारण मानकर किरणसहितपनेकी सिद्धि नहीं हो सकी। अथवा इस तैजसत्व हेतुको चक्षुमें किरणसहितपनकी सिद्धिका कारणपना नहीं है, जिससे कि उस चक्षुकी रश्मियां अर्थको प्रकाशनेकी शक्तिशाली हो सकें। दूसरी बात यह है कि अस्तु संतोष न्याय अनुसार चक्षुमें किरणोंका सद्भाव भी मान लिया जाय तो भी उन रश्मियोंके द्वारा चक्षुकरके अधिक बडे पर्वतकी ज्ञप्ति करना अयुक्त पडेगा। भला छोटीसी चक्षुओंकी किरणें कोसों दूरवर्ती लम्बे, चौडे, महान्, पर्वत बराबर फैलकर कैसे प्रकाश करा सकती हैं ? धतूरेके फूल समान आदिमें छोटी होकर भी आगे आगे बढती हुयीं नेत्रकिरणें महान् पर्वतोंका भी प्रकाश करा देती हैं, ऐसी प्रत्यक्षप्रमाण-विरुद्ध, कठिन, गुरु, कल्पना करनेकी अपेक्षासे तो चक्षुके अप्राप्यकारी माननेमें प्रमाणोपपन्न लाघव है। तथा वैशेषिकोंद्वारा माने गये अधिष्ठाता अणु मनकरके चक्षुओंका अधिष्ठान यानी अधिकृतपना माननेपर तो सभी प्रकारोंसे महान् पर्वतकी परिच्छित्ति सर्वथा नहीं हो सकती है। इसी बातको ग्रन्थकार वार्तिकद्वारा विशद कहते हैं।

संतोपि रश्मयो नेत्रे मनसाधिष्ठिता यदि।
विज्ञानहेतवोर्थेषु प्राप्तेष्वेवेति मन्यते ॥ ५४ ॥
मनसोणुत्वतश्चक्षुर्मयूखेष्वनधिष्ठितेः।
भिन्नदेशेषु भूयस्त्वपरमाणुवदेकशः ॥ ५५ ॥
महीयसो महीध्रस्य परिच्छित्तिर्न युज्यते।
क्रमेणाधिष्ठितौ तस्य तदंशेष्वेव संविदः ॥ ५६ ॥

तुम वैशेषिकोंके कथन अनुसार चक्षुमें रश्मियां विद्यमान भी मान लीं जाय, तो य मन इन्द्रियसे अधिष्ठित हो रहीं यदि अपनेसे सम्बन्धको प्राप्त हो रहे ही अर्थोंमें विज्ञानकी उत्पादक

कारण है, ऐसा माना जाता है, तब तो मनका अणुपना होनेके कारण चक्षुकी अनेक और लंबी चौडी भिन्न भिन्न देशोंमें फैली हुई किरणोंमें अधिष्ठान नहीं हो सकेगा। जैसे कि एक एक परमाणु होकर बहुतसे देशोंमें फैल रहे परमाणुओंमें एक परमाणुका युगपत् अधिष्ठातापन नहीं बन पाता है, एक छोटी परमाणु एक समयमें एक ही परमाणुपर अधिकार जमा सकती है। एक परमाणु बराबर हो रहा मन असंख्य किरणोंपर अपना अधिकार कैसे भी नहीं आरोप सकता है। ऐसी दशामें अधिक लंबे चौडे महान् पर्वतकी चक्षुद्वारा ज्ञप्ति होना युक्त नहीं पडेगा। उस मनकी क्रम, क्रमसे अनेक किरणोंमें अधिष्ठिति मानी जावेगी, तब तो उस पर्वतके छोटे छोटे अंशोंमें ही अनेक ज्ञान हो सकेंगे। लम्बे चौडे एक महान् पर्वतका एक ज्ञान नहीं हो सकेगा। किन्तु एक महान् पर्वतका एक चाक्षुषप्रत्यक्ष हो रहा है। पर्वतकी एक एक अणुको क्रमसे जानते हुये तो अनन्त वर्षोंमें भी पर्वतको जान लेना नहीं संभवता है।

निरंशोवयवी शैलो महीयानपि रोचिषा।
नयनेन परिच्छेद्यो मनसाधिष्ठितेन चेत् ॥ ५७ ॥
न स्यान्मेचकविज्ञानं नानावयवगोचरम्।
तद्देशिविषयं चास्य मनोहीनैर्दृगंशुभिः ॥ ५८ ॥

इसपर वैशेषिक यदि यों कहें कि बहुत बडा भी पर्वत अंशोंसे रहित हो रहा, एक अखण्ड अवयवी द्रव्य है, जो कि चक्षुःकिरणोंमें सम्बन्धित हो रहा संता मनकरके अधिष्ठित हो रहे चक्षुद्वारा चारों ओर जाना जा सकता है। अर्थात् लम्बा चौडा एक अखण्ड अवयवी हाथी जैसे शिरके एक कोनेमें लगी हुयी अंकुशकी छोटीसी नोकसे अधिकृत बना रहता है। महान् पर्वत भी एक अवयवी है। हम वैशेषिक उसमें अंशोंको सर्वथा नहीं मानते हैं। यदि जैन मन्तव्य अनुसार पर्वतमें अंश मान लिये जाते, तब तो जिस अंशमें चक्षुःकिरण सम्बन्धित होती, उतने ही अंशका ज्ञान हो सकता था। सम्पूर्ण अंशोंमें समवेत हो रहे अवयवीका ज्ञान नहीं हो पाता। किन्तु जब अनेक अवयवोंसे एक अखण्ड नवीन अवयवी पर्वत निरंश बन चुका तो फिर किसी भी एक स्थलमें किरणोंका संयोग हो जानेपर और चक्षुकिरणोंमेंसे किसी भी एक किरणमें मनका अधिष्ठान हो जानेपर महान् एक पर्वतका चाक्षुषप्रत्यक्ष सुलभतासे हो सकता है। इसमें झंझटकी कौनसी बात है ? इस प्रकार वैशेषिकोंके कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि रंग विरंगे चित्रमें या अनेक रंगके छींट वस्त्रमें अनेक अवयवोंके विषय करनेवाला और उस उस देशमें वर्त रहे अवयवोंको विषय कर जाननेवाला चित्रज्ञान तो मनके अधिष्ठातृत्वसे रहित हो रहीं चक्षुःकिरणोंकरके नहीं हो सकेगा, अर्थात्—भिन्न भिन्न देशोंमें पडे हुये चित्र विचित्र रंगके अवयवोंका एक ही समय चित्रज्ञान तो

तब हो सकता है, जब कि अनेक अवयवोंपर उसी समय नेत्र-किरणें पढें। और उन अवयवोंमें संयुक्त हो रहीं सम्पूर्णकिरणोंके साथ मनकी भी युगपत् अधिष्ठिति होय। किन्तु छोटासा-परमाणु बराबर मन भला अनेकदेशीय किरणोंमें युगपत् कैसे अधिष्ठान कर सकता है? यहां चित्रज्ञानमें तो एक अखण्ड अवयवी मानकर निर्वाह नहीं हो सकता है। अथवा जहां भूमिपर फैले हुये अनेक आम्रफलों या पुष्पोंका एक चाक्षुषज्ञान युगपत् किया जा रहा है, वहां भी सजातीय, विजातीय अनेक अखण्ड अवयवियोंमें एक ज्ञान कैसे हो सकेगा? अनेक चरम अवयवियोंका मिलकर एक बड़ा अवयवी फिर तो बन नहीं सकता है। तथा अनेक देशमें पडे, हुये सजातीय, विजातीय, फल, पुष्पोंमें सम्बन्धित हो रहीं न्यारी न्यारी चक्षुःकिरणोंपर एक अणु मनका अधिकार (कब्जा) नहीं हो सकेगा। अनेक किरणोंके साथ मनसंयुक्त ही नहीं हो सकता है। और मनरहित किरणों करके भिन्नदेशवाले अनेक काले, पीले, नीले, हरे अवयवोंमें एक चित्रका चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। किन्तु प्रामाणिकपुरुषोंको एक चित्रज्ञान होता तो है। अतः वैशेषिकोंका एक निरंश अवयवीके आश्रय लेनेका कथन युक्त नहीं है।

शैलचंद्रमसोश्चापि प्रत्यासन्नदविष्ठयोः ।
सहज्ञानं न युज्येत प्रसिद्धमपि सद्धियाम् ॥ ५९ ॥
कालेन यावता शैलं प्रयांति नयनांशवः ।
केचिच्चंद्रमसं नान्ये तावतैवेति युज्यते ॥ ६० ॥

दूसरी बात यह है कि चक्षुकिरणों द्वारा विषयकी प्राप्ति माननेपर तुम वैशेषिकोंके यहां अतिनिकटपर्वतका और अधिकदूरवर्ती चन्द्रमाका एक साथ ज्ञान युक्तिसहित नहीं हो सकेगा, जो कि समीचीनज्ञान करनेवाले प्रामाणिक पुरुषोंके यहां भी प्रसिद्ध हो रहा है। नयनकी कितनी ही किरणें जितने कालकरके पर्वतको प्राप्त हो रहीं हैं, उतने ही समय करके अन्य कोई किरणें जाकर चन्द्रमाको प्राप्त हो जांय, यह तो समुचित नहीं होगा। कारण कि निकटवर्ती पर्वत तो झट आंखोंसे प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु अधिक दूर हजारों कोसतक चन्द्रमाके पास चक्षुकिरणें झट नहीं पहुंच सकती हैं। किन्तु सभी बुद्धिमान् पुरुषोंको चन्द्रमा और पर्वतका या शाखा और चन्द्रमाका युगपत् चाक्षुषज्ञान हो रहा है। इतने निकट अर्थों और दूरपदार्थोंमें चक्षुकिरणोंका प्राप्त होना और एक अणुमनका उन किरणोंमें संयुक्त होकर अधिकार जमाना अयुक्त है। किन्तु द्वितीयाके चन्द्रमाको शाखाके अवलम्बसे दिखा देते हैं। अथवा उदय हो रहे पूर्ण चन्द्रको पर्वतके ऊपर साथ साथ देखते हैं। थोडी थोडीसी देरमें पलक मार रही यानी भयवश निमेष उन्मेष कर रही चक्षुकी किरणोंका इतना शीघ्र चन्द्रमातक पहुंचना प्रयोगविज्ञानसे सिद्ध

नहीं होता है। मोटरकारकी लालटेनोंका प्रकाश कुछ देरमें दूरतक फैलता है। यों त्रैराशिक लगानेपर चन्द्रमातक नेत्रकिरणोंके जानेमें अधिक समय लगेगा। उन्मीलन करते ही झट चन्द्रमाको नहीं देख सकोगे। किन्तु आंख खोलते झट सन्मुख चन्द्रमा देख लिया जाता है।

तयोश्च क्रमतो ज्ञानं यदि स्यात्ते मनोद्वयं।
नान्यथैकस्य मनसस्तदधिष्ठित्यसंभवात् ॥ ६१ ॥

आप वैशेषिक यदि उन पर्वत और चन्द्रमाका ज्ञान क्रमसे होता हुआ कहें तब तो तुम्हारे यहां दो मन अवश्य हो जायंगे। अर्थात्—जितने ही कालमें कुछ नयनकिरणें पर्वततक पहुंचती हैं। उतने ही कालमें अन्य किरणें चन्द्रमातक पहुंच जाती हैं। जैनोंने भी तो एक परमाणुका मन्दगतिसे एक प्रदेशतक गमन एक समयमें माना है, और शीघ्र गतिसे चौदह राजूतक परमाणु एक समयमें चली जाती मानी है। इसपर हम जैन उन वैशेषिकोंसे कहेंगे कि यों दो मन तुमको मानने पडेंगे। अन्यथा यानी दो मनको माने विना दोनोंका ज्ञान नहीं हो सकेगा। कारण कि छोटेसे एक मनकी उन दोनोंके ऊपर अधिष्ठिति होना असम्भव है। चक्षु किरणोंकी क्रमसे प्राप्ति माननेपर भी दो मन इन्द्रियोंका मानना आवश्यक पड जायगा। किन्तु वैशेषिकोंने प्रत्येक आत्माके लिये एक एक ही मन नियत हो रहा अभीष्ट किया है।

विकीर्णानेकनेत्रांशुराशेरप्राप्यकारिणः।
मनसोधिष्ठितौ कायस्यैकदेशेपि तिष्ठतः ॥ ६२ ॥
सहाक्षपंचकस्यैतत्किं नाधिष्ठायकं मतं।
यतो न क्रमतोभीष्टं रूपादिज्ञानपंचकम् ॥ ६३ ॥
तथा च युगपज्ज्ञानानुत्पत्तेरप्रसिद्धितः।
साध्ये मनसि लिंगत्वं न स्यादिति मनः कुतः ॥ ६४ ॥

वैशेषिक कहते हैं कि मन इन्द्रिय तो अप्राप्यकारी है। अतः शरीरके एक देशमें भी ठहर रहे अप्राप्यकारी मनका फैली हुयीं अनेक नेत्रकिरणोंकी राशिके ऊपर अधिष्ठातृत्व होना संभव जाता है। इसपर तो हम जैन कहेंगे कि खस्ता कचौडी या महोवेके सुप्रतिष्ठित पान खानेपर एक साथ उपयुक्त हो रही पाच इन्द्रियोंका अधिष्ठापक यह मन क्यों नहीं मान लिया जाता है ? जिससे कि क्रमसे अभीष्ट किये गये रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द इनके पाच ज्ञान एक साथ नहीं हो सके। अर्थात् अप्राप्यकारी मनकी एक समयमें अनेक पदार्थोंके ऊपर अधिष्ठिति माननेपर एक साथ पांचों

ज्ञान हो जाने चाहिये और तैसा होनेपर युगपत् ज्ञानके अनुत्पादकी अप्रसिद्धि हो जानेसे मनको साध्य करनेमें " युगपत् ज्ञानानुत्पत्ति " यह ज्ञापक हेतु नहीं हो सकेगी। ऐसी दशामें भला अतीन्द्रिय अनिन्द्रिय मनकी सिद्धि कैसी होगी ? भावार्थ—" युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगं "। पांचों इन्द्रियोंसे पांचों ज्ञान हो जानेकी योग्यता होनेपर भी एक समयमें एक ही ज्ञान होता है, अनेक ज्ञान नहीं उपजते हैं। अतः सिद्ध है कि जिस इन्द्रियके साथ यह अणु मन संयुक्त होगा, उसी इन्द्रियसे ज्ञान कराया जायगा। शेष इन्द्रियां यों ही व्यर्थ बैठी रहेंगी। किन्तु अब तो वैशेषिकोंके मन्तव्य अनुसार ही पांचों ज्ञान हो जाने चाहिये।

मनोऽनधिष्ठिताश्चक्षूरश्मयो यदि कुर्वते।
स्वार्थज्ञानं तदप्येतद्दूषणं दुरतिक्रमम् ॥ ६५ ॥

चौअनवीं " संतोपि " इत्यादि वार्तिकसे लेकर अबतक इन्द्रियोंके ऊपर मनकी अधिष्ठिति होकर ज्ञान करानेका विचार किया। अब वैशेषिक यदि यह पक्ष पकडें कि मन इन्द्रियसे अधिष्ठित नहीं हो रही ही चक्षुःकिरणें यदि अपने और पदार्थोंके ज्ञानको उत्पन्न कर देती हैं, तो भी यही दूषण लागू रहेगा। इस दूषणका आतिक्रमण करना दुःसाध्य है। अर्थात् मनका अधिष्ठान नहीं माननेपर तो अधिक सुकमतासे युगपत् (एकदम) पांचों ज्ञान हो जाने चाहिये, जो कि किसी भी विद्वान्ने इष्ट नहीं किये हैं। " एकस्मिन्न द्वावुपयोगौ "। एक समयमें एक चेतनागुणकी दो पर्यायें यानी दर्शन, ज्ञान, या चाक्षुष, रासन प्रत्यक्ष आदिक कोई भी इनमेंसे दो नहीं हो सकती हैं। अतः चक्षुका अप्राप्यकारीपन सिद्ध नहीं हुआ।

ततोक्षिरश्मयो भित्त्वा काचादीन्नार्थभासिनः।
तेषामभावतो भावेप्युक्तदोषानुषंगतः ॥ ६६ ॥
काचाद्यंतरितार्थानां ग्रहणं चक्षुषः स्थितम्।
अप्राप्यकारितालिंगं परपक्षस्य बाधकम् ॥ ६७ ॥

तिस कारण यह निर्णीत हुआ कि चक्षुकी रश्मियां काच, आदिको तोड, फोडकर भीतर घुस जाती हैं, और प्राप्त हुये अर्थका चाक्षुषप्रतिभास करा देती हैं। यह वैशेषिकोंका सिद्धान्त युक्त नहीं है। क्योंकि उन नेत्रोंकी रश्मियोंका अभाव है। यदि उनका सद्भाव भी मान लिया जायगा तो पूर्वमें कहे गये दोषोंका प्रसंग आवेगा। जब कि काच, स्फटिक, आदिकसे आच्छादित हो रहे अर्थोंका चक्षुके द्वारा ग्रहण करना प्रमाणप्रतिष्ठित हो चुका है, जो कि

सोलहवीं वार्तिकसे आरम्भा था। वही चक्षुके अप्राप्यकारीपनका ज्ञापक हेतु होता हुआ वैशेषिक, नैयायिक, आदि दूसरे विद्वानोंकरके स्वीकार किये गये प्राप्यकारीपनके पक्षका बाधक है।

एवं पक्षास्याध्यक्षबाधामनुमानबाधां च प्ररूप्यागमबाधां च दर्शयन्नाह।

इस प्रकार वैशेषिकोंद्वारा माने गये चक्षुके प्राप्यकारीपन पक्षकी प्रत्यक्षप्रमाणसे हो रही बाधाका और अनुमान प्रमाणोंसे आरही बाधाका अच्छा निरूपणकर अब आगमप्रमाणसे आरही बाधाको दिखलाते हुये ग्रन्थकार श्रीविद्यानन्द आचार्य स्पष्ट कथन करते हैं, जो कि उन्होंने नौवीं या दशवीं वार्तिकसे सूचित कर दिया था।

स्पृष्टं शब्दं श्रृणोत्यक्षमस्पृष्टं रूपमीक्षते।
स्पृष्टं बद्धं च जानाति स्पर्शं गंधं रसं तथा ॥ ६८ ॥
इत्यागमश्च तस्यास्ति बाधको बाधवर्जितः।
चक्षुषोप्राप्यकारित्वसाधनः शुद्धधीमतः ॥ ६९ ॥

" पुट्ठं सुणोदि सद्दं, अपुट्ठं पुणवि पस्सदे रूवं। गंधं रसं च पासं, पुट्ठं बद्धं **विजाणादि** " श्री महावीर स्वामीकी आम्नायसे, चले आये हुये प्राचीन शास्त्रोंमें कहा है कि कर्ण इन्द्रियसे छूये जा चुके शद्वको कान द्वारा जीव सुन लेता है। और चक्षुके साथ नहीं छूये जा चुके रूपको आखद्वारा संसारी जीव देखता है। तथा स्पर्शन, घ्राण, रसना, इन्द्रियोंसे छूये हुये होकर बंधे जा चुके स्पर्श, गंध, रसोंको त्वक्, नासिका, जिह्वा, इन्द्रियोंद्वारा जीव जानता है। इस प्रकारका बाधाओंसे रहित प्रामाणिक आगम उस चक्षुके प्राप्यकारीपनका बाधक है। और विशुद्ध बुद्धिवाले पुरुषोंके सन्मुख वह आगम चक्षुके अप्राप्यकारीपनका साधन करा देता है। इस ढंगसे प्रत्यक्ष अनुमान और निर्बाध आगम इन प्रमाणोंसे चक्षुके प्राप्यकारीपनकी बाधा होकर अप्राप्यकारीपना साध दिया गया है।

ननु नयनाप्राप्यकारित्वसाधनस्यागमस्य बाधारहितत्वमसिद्धमिति पराकूतमुपदर्श्य दूषयन्नाह।

यहां कोई शंका करता है कि नेत्रोंके अप्राप्यकारीपनको साधनेवाले आगमका बाधारहितपना असिद्ध है, ऐसी दूसरोंकी सशंक चेष्टाको (अनुवाद करते हुये) दिखलाकर उसको ग्रन्थकार दूषित करते हुये अग्रिम वार्तिकको कहते हैं।

मनोवद्विप्रकृष्टार्थग्राहकत्वानुषंजनं।
नेत्रस्याप्राप्यकारित्वे बाधकं येन गीयते ॥ ७० ॥

तस्य प्राप्ताणुगंधादिग्रहणस्य प्रसंजनम् ।
घ्राणादेः प्राप्यकारित्वे बाधकं केन बाध्यते ॥ ७१ ॥

यहां कोई नैयायिक या वैशेषिक यों जैनोंके आगममें बाधा उठा सकते हैं कि नेत्रको यदि अप्राप्यकारी माना जायगा तो दूरदेशवर्ती या भूत, भविष्यत्-कालवर्ती विप्रकृष्ट अर्थोंका नेत्रद्वारा ग्रहण करा देनेपनका प्रसंग आवेगा, जैसे कि अप्राप्यकारी मन इन्द्रियसे दूर देशके और कालान्तरित, पदार्थोंका ग्रहण करा दिया जाता है । अर्थात्—नेत्रोंको विषयके साथ सम्बन्ध हो जानेकी जब आवश्यकता ही नहीं रही तो सुमेरुपर्वत, स्वयंप्रभद्वीप या राम, रावण, शंख आदिका चाक्षुष प्रत्यक्ष अब हो जाना चाहिये । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नेत्रके अप्राप्यकारीपनमें जिस विद्वान् द्वारा उक्त प्रसंग प्राप्त होना बाधक कहा जाता है, उसके यहां घ्राण, स्पर्शन आदिक इन्द्रियोंके प्राप्यकारीपन अनुसार प्राप्त हो रही परमाणुके गन्ध, रस, स्पर्शके भी ग्रहण हो जानेका प्रसंग क्यों नहीं बाधक होगा ? नासिका आदिके प्राप्यकारीपनमें हुये इस बाधकको भला किस करके बाधा उठायी जा सकती है ? अर्थात्—चक्षुके अप्राप्यकारीपनमें जैसे यह प्रसंग बाधक उठाया जा सकता है कि दूर देश कालके पदार्थोंको भी चक्षु देख लेवे, उसी प्रकार घ्राण अथवा रसनाके प्राप्यकारीपनमें इस प्रसंगरूप बाधकको क्या कोई मार डालेगा कि घ्राण या रसनाके साथ परमाणु भी तो चुपट रही है । फिर उसका गन्ध या रस क्यों नहीं जाना जाता है ? बताओ । वैशेषिक इसका क्या उत्तर दे सकते हैं ! । कुछ भी नहीं ।

सूक्ष्मे महति च प्राप्तेरविशेषेपि योग्यता ।
गृहीतुं चेन्महद्द्रव्यं दृश्यं तस्य न चापरम् ॥ ७२ ॥
तर्ह्यप्राप्तेरभेदेपि चक्षुषः शक्तिरीदृशी ।
यथा किंचिद्धि दूरार्थमविदिकं प्रपश्यति ॥ ७३ ॥

इस पर वैशेषिक यदि यों कहें कि परमाणु, द्व्यणुक आदिक सूक्ष्म पदार्थ और घट, कौर इत्र, आदि स्थूल पदार्थोंमें स्पर्शन, रसना, घ्राण इन्द्रियोंकी प्राप्ति होना यद्यपि विशेषताओंसे रहित है, एकसा है, फिर भी महत्त्व परिणामयुक्त द्रव्य ही उन इन्द्रियोंद्वारा प्रत्यक्ष करने योग्य है । अन्य सूक्ष्मपदार्थोंकी इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष हो जानेकी योग्यता नहीं है, " महत्त्वं षड्विधे हेतुः " छहों प्रकारके इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षोंमे महत्त्व कारण है । महत्त्वावच्छिन्न जो पदार्थ इन्द्रिय संयुक्त होगा, उसका या उसमें रहनेवाले गुण, जाति, आदिका इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष हो जायगा शेष पदार्थोंका नहीं होगा, तब तो हम जैन भी कह देंगे कि चक्षु अप्राप्ति यद्यपि समवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोंके साथ

एकसी है, कोई भेद नहीं है, तो भी चक्षुकी शक्ति इस प्रकारकी है कि जिस शक्तिकरके किसी एक दूर अर्थको जो कि विदिशाओंमें प्रतिमुख पडा नहीं होकर सन्मुख स्थित हो रहा है, अच्छा देख लेती है। और अन्य अयोग्य अतिदूरके विप्रकृष्ट पदार्थोंको नहीं देख पाती है। शक्तिरूप योग्यता तो सर्वत्र माननी पडेगी। सर्वथा भेदवादी वैशेषिकोंके यहां कारणोंसे कार्यसमुदाय जब सर्वथा भिन्न माना गया है, तो चाहे जिस कारणसे कोई भी कार्य क्यों नहीं सम्पादित हो जाता है ? तुम्हारे यहा भी इसका समीचीन उत्तर योग्यताके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं हो सकता है। जगत्में भिन्न हो रहे और दूर पडे हुये अनेक निमित्त कारण न जाने कहां कहाके नैमित्तिकोंको बनाते रहते हैं। " स्वभावोऽतर्कगोचरः "। अतः अप्राप्ति होनेपर भी चक्षुःइन्द्रिय विचारी योग्यपदार्थका ही प्रत्यक्ष करावेगी, अयोग्य अर्थोंका नहीं।

ननु च घ्राणादींद्रियं प्राप्यकारि प्राप्तमपि तत्राणुगंधादियोगिनः परिच्छिनत्ति नास्मदादेस्तादृशादृष्टविशेषस्याभावात् महत्त्वाद्युपेतद्रव्यं गंधादि तु परिच्छिनत्ति तादृगदृष्टविशेषस्य सद्भावादित्यदृष्टवैचित्र्यात्तद्विज्ञानभावाभाववैचित्र्यं मन्यमानान् प्रत्याह।

यहां कोई शंकाकार ऐसा मान बैठे हैं कि हम अज्ञजीवोंकी घ्राण आदि इन्द्रियां तो प्राप्त हो रहे परमाणुके गन्ध, रस, स्पर्शोंको नहीं जानती हैं, किन्तु योगियोंकी प्राप्यकारी घ्राण आदि इन्द्रियां तो चुपटे हुये अणुमें प्राप्त हो रहे अणुओंकी गन्ध आदिको भी चारों ओरसे जान लेती हैं। उस प्रकारका पुण्यविशेष हम लोगोंके पास विद्यमान नहीं है। अत. अस्मद् आदिकी बहिःइन्द्रिया परमाणु, द्व्यणुकके गन्ध आदिकको नहीं जान सकती है। हा, महत्त्व, उद्भूत, रूप, अनभिभव, आदिसे सहित हो रहे द्रव्य या उसके गंध आदि गुणोंको तो जान लेती हैं। क्योंकि तिस प्रकारके महत्त्व अनेक द्रव्यवत्त्व आदिसे सहित हो रहे पदार्थोंको जाननेका पुण्यविशेष हम स्थूलदृष्टियोंके पास विद्यमान है। इस प्रकार अदृष्ट (ज्ञानावरणके क्षयोपशम, या क्षय) की विचित्रतासे उन विज्ञानोंके होने नहीं होनेकी विचित्रता बन जाती है। युक्त और युञ्जान नामक योगियोंके योगाभ्याससे उत्पन्न हुआ धर्मविशेष है। उसकी सहायतासे अणुस्वरूप परमाणु द्व्यणुकोंके गन्ध आदिका बहिःइन्द्रियों द्वारा इन्द्रियजन्य ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार मन्तव्य रखनेवाले वैशेषिकोंके प्रति आचार्य महाराज समाधान कहते हैं।

समं चादृष्टवैचित्र्यं ज्ञानवैचित्र्यकारणं।
स्याद्वादिनां परेषां चेत्यलं वादेन तत्र नः ॥ ७४ ॥

एक बात यह भी है कि पुण्य पाप कहो या प्रकरण अनुसार ज्ञानावरणका क्षयोपशम, क्षय कहो ऐसे अदृष्टकी विचित्रता ही तदुत्पन्न ज्ञानकी विचित्रताका कारण है। यह बात हम स्याद्वादियोंके

यहां और दूसरे नैयायिक वैशेषिकोंके यहां समानरूपसे मान ली गई है। इस कारण उस प्रकरणमें हमारे विवाद करनेसे क्या तात्पर्य है ? अर्थात्—झगडा बढानेसे हमें कुछ नया पदार्थ साध्य नहीं करना है। जो ज्ञानकी विचित्रताका कारण हमें साध्य करना था, वह वैशेषिकोंने परिशेषमें प्रसन्नतासे स्वीकार कर लिया है।

स्याद्वादिनामपि हि चक्षुरप्राप्यकारि केषांचिदतिशयज्ञानभृतामृद्धिमतामस्मदाद्यगोचरं विप्रकृष्टस्वविषयपरिच्छेदकं तादृशं तदावरणक्षयोपशमविशेषसद्भावात्। अस्मदादीनां तु यथाप्रतीति स्वार्थप्रकाशकं स्वानुरूपतदावरणक्षयोपशमादिति सममदृष्टवैचित्र्यं ज्ञानवैचित्र्यनिबंधनमुभयेषां। ततो न नयनाप्राप्यकारित्वं बाध्यते केनचित् घ्राणादिप्राप्यकारित्ववदिति न तदागमस्य बाधोस्ति येन बाधको न स्यात् पक्षस्य। तदेवं—

स्याद्वादियोंके सिद्धान्तमें भी नियमसे चक्षु अप्राप्यकारी है। हां, किन्हीं किन्हीं अतिशययुक्त ज्ञानको धारनेवाले और कोष्ठ, दूरात् विलोकन, आदि ऋद्धिवाले जीवोंकी तैसी योग सारिखी चक्षुयें तो उन ज्ञानोंको रोकनेवाले चाक्षुष प्रत्यक्षावरणके विशिष्ट क्षयोपशमका सद्भाव होनेसे उन विप्रकृष्ट स्वभाववाले स्वकीय विषयोंकी परिच्छेदक हो जाती हैं, जिन विषयोंको कि असमद् आदि जीवोंकी सामान्य चक्षुयें नहीं जान सकती हैं। यानी विशिष्ट क्षयोपशम होनेसे वैशेषिकोंके यहां योगियोंकी और हमारे यहा ऋद्धिमान् अतिशय ज्ञानी जीवोंकी चक्षुयें विप्रकृष्ट पदार्थोको भी जान लेती हैं। हां, हम तुम आदि सामान्य जीवोंकी चक्षुयें तो जैसा जैसा अल्प, दूर, मोटे, लम्बे चौडे, अव्यवहित, पदार्थको देखतीं हैं, वैसा प्रतीतिके अनुसार अपने विषयका प्रकाशकपना चक्षुओंको अपने अपने अनुरूप उस चाक्षुषप्रत्यक्षावरणके क्षयोपशमसे अप्राप्त अर्थका प्रत्यक्ष करा देनापन मान लिया जाता है। वह चाक्षुषप्रत्यक्ष अपनेको और स्वविषयको जान जाता है। इस प्रकार ज्ञानकी विचित्रताका कारण अदृष्टवैचित्र्य दोनों वादी-प्रतिवादियोंके यहा समान है। तिस कारण नेत्रोंका अप्राप्यकारीपना किसी भी प्रमाणसे बाधित नहीं हो पाता है, या किसी भी वादी पण्डित करके बाधित नहीं किया जा सकता है। जैसे कि नासिका, रसना आदि इन्द्रियोंका प्राप्यकारीपना अबाधित है, इस प्रकार हमारे चक्षुको अप्राप्यकारी कहनेवाले " अपुट्ठं पुणवि पस्सदे रूवं " उस आगमकी बाधा नहीं आती है, जिससे कि हमारा आगमप्रमाण तुम्हारे चक्षुके प्राप्यकारित्वको सिद्ध करनेवाले अनुमानका बाधक नहीं होवे। अर्थात्—हमने दसवीं कारिकामें चक्षुके प्राप्यकारीपनका बाधक जो आगमप्रमाण बताया था, वह सिद्ध कर दिखा दिया है। तब तो इस प्रकार यह सिद्धान्त बना कि—

प्रत्यक्षेणानुमानेन स्वागमेन च बाधितः।
पक्षः प्राप्तिपरिच्छेदकारि चक्षुरिति स्थितः ॥ ७५ ॥

कालात्ययापदिष्टश्च हेतुर्बाह्येंद्रियत्वतः ।
इत्यप्राप्तार्थकारित्वे घ्राणादेरिव वांछिते ॥ ७६ ॥

आठवीं वार्तिकके अनुसार चक्षु इन्द्रिय (पक्ष) प्राप्ति होकर अर्थका परिच्छेद करानेवाली है (साध्य) इस ढंगका वैशेषिकोंका प्रतिज्ञावाक्य तो प्रत्यक्षप्रमाण और अनुमान प्रमाण तथा श्रेष्ठ युक्तिपूर्ण समीचीन आगमप्रमाणकरके बाधित कर दिया गया सिद्ध हो चुका है। ऐसी दशामें वैशेषिकों द्वारा प्रयुक्त किया गया " बाह्य इन्द्रियपना होनेसे " यह हेतु बाधित हेत्वाभास है, यानी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों करके चक्षुका अप्राप्यकारीपना सिद्ध हो जानेपर पीछे कालमें वह हेतु प्रयुक्त किया गया है। इस प्रकार घ्राण आदिकके समान इस दृष्टान्तसे प्राप्यकारिताको वाञ्छायुक्त इष्टसाध्य करनेपर बोला गया बाह्य इन्द्रियत्व हेतु बाधित है। क्योंकि तीन प्रमाणोंसे चक्षुमें अप्राप्यकारीपना सिद्ध हो चुका है।

न हि पक्षस्यैवं प्रमाणबाधायां हेतुः प्रवर्तमानः साध्यसाधनायालमतीतकालत्वाद-न्यथातिप्रसंगात् ।

वैशेषिकोंके पक्षकी इस प्रकार प्रमाणोंसे बाधा हो चुकनेपर फिर प्रवर्त रहा हेतु तो साध्यको साधनेके लिए समर्थ नहीं है। क्योंकि हेतु अतीत काल है। साधनकालके बीत जानेपर बोला गया है। अन्यथा यानी प्रमाणोंसे अप्राप्यकारित्वके सिद्ध हो चुकनेपर पीछे बोला गया हेतु भी यदि अपने साध्य प्राप्यकारीपनको साध लेगा तो नियत व्यवस्थाओंका उल्लंघन करनारूप अतिप्रसंग-दोष हो जावेगा। अर्थात्-अग्नि शीतल है, मिश्री मीठी नहीं है, सूर्य स्थिर है, परमाणुयें नहीं है, धर्मसेवन करना परलोकमें दुःखका कारण है, स्वर्ग, नरक आदि नहीं है, इत्यादि प्रतिज्ञायें भी सिद्ध हो जावेंगी। प्रमाणोंसे सिद्ध हो चुकनेपर लट्टपोंडोंकी भांति मनमानी, घरजानी चलाना अनीति है।

एतेन भौतिकत्वादिसाधनं तत्र वारितं ।
प्रत्येतव्यं प्रमाणेन पक्षबाधस्य निर्णयात् ॥ ७७ ॥

इस उक्त कथनकरके भौतिकपना, करणपना आदि हेतु भी उस चक्षुको प्राप्यकारित्व साधनेमें निवारण कर दिये गये (किये जा चुके) समझ लेने चाहिये। क्योंकि प्रमाणोंकरके पक्षकी बाधा हो जानेका निर्णय हो रहा है।

प्राप्यकारि चक्षुर्भौतिकत्वात्करणत्वात् घ्राणादिवदित्यत्र न केवलं पक्षः प्रत्यक्षादि-बाधितः। कालात्ययापदिष्टश्चेद्धेतुः पूर्ववदुक्तः। किं तर्ह्यनैकांतिकश्चेति कथयन्नाह।

वैशेषिक अन्य अनुमानोंको बनाते हैं कि (१) चक्षु (पक्ष) प्राप्यकारी है (साध्य) भूतोंका विकार होनेसे (हेतु) घ्राण इन्द्रियके समान (दृष्टान्त) (२) चक्षु (पक्ष) प्राप्यकारी है (साध्य) ज्ञप्तिका साधकतम होनेसे (हेतु) घ्राण आदि यानी नासिका, रसना, त्वचा, श्रोत्रके समान [अन्वयदृष्टान्त] वैशेषिकोंके यहां पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये पांच द्रव्यभूत पदार्थ माने गये हैं। बहिरंग इन्द्रियोंसे ग्रहण करने योग्य विशेषगुणोंको धारनेवाले द्रव्य भूत कहे जाते हैं। तिनमें पृथ्वीसे घ्राण इन्द्रिय बनती है। जलसे रसना इन्द्रिय उपजती है। चक्षु इन्द्रिय तेजोद्रव्यका विकार है। त्वचा इन्द्रिय वायुका विवर्त है। श्रोत्र आकाशस्वरूप है, जब कि भौतिक चार इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं तो चक्षु भी प्राप्यकारी होनी चाहिये। घ्राण आदिके समान चक्षु भी ज्ञानका करण है। इस प्रकार वैशेषिकोंके इन अनुमानोंमें पक्ष यानी प्रतिज्ञा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे बाधित है। अतः पूर्वके बाह्य इन्द्रियत्व हेतुके समान भौतिकत्व और करणत्व, हेतु कालात्ययापदिष्ट (बाधित) है। केवल इतना ही कहा गया होय यही नहीं समझना। तब और क्या समझा जाय ? इसका उत्तर यही है कि उक्त हेतु व्यभिचारी भी हैं, इस बातका कथन करते हुये आचार्य वार्तिकद्वारा स्पष्ट परिभाषण करते हैं।

अयस्कांतादिना लोहमप्राप्याकर्षता स्वयं।
अनेकांतिकता हेतोर्भौतिकार्थस्य बाध्यते ॥ ७८ ॥

लोहको स्वयं नहीं प्राप्त होकर दूरसे आकर्षण करनेवाले अयस्कांत या चुम्बक और तृण, पत्ता आदिको अनतिदूरसे खेंचनेवाले मोरपंख, अथवा भीतर अपनी ओर खेंचनेवाली वायु आदि करके हेतुका व्यभिचारीपना है। अत भौतिक अर्थका प्राप्यकारीपना बाधित हो जाता है। अथवा " भौतिकत्वस्य भाव्यते " ऐसा पाठ होनेपर यों अर्थ करना कि भौतिकत्व हेतुका अयस्कांत आदि करके व्यभिचारीपना भावित किया जाता है। भौतिकत्व हेतुके अयस्कांत आदि करके आये हुये व्यभिचारको ही अग्रिम ग्रन्थद्वारा पुष्ट किया जा रहा है।

कायांतर्गतलोहस्य बहिर्देशस्य वक्ष्यते।
नायस्कांतादिना प्राप्तिस्तत्कर्वैवोक्तकर्मणि ॥ ७९ ॥

भूल हो जानेपर कभी कभी सानी या भुसके साथ सुई या छोटी कील खाई जाकर भैंस, बलधके पेटमें चली जाती है। चतुरपुरुष उनके शरीरपर चुम्बक पत्थर फेरते हैं। जहां सुई होती है, उसी स्थानसे चुम्बक पाषाण उसको बाहर खींच लेता है। प्रकरणमें यह कहना है कि भैंस, महिष, बैल आदिके शरीरमें भीतर सुई, कील, आदिक लोह प्राप्त होगया है। बाहर- देशके [में] रखे हुये अयस्कान्त, चुम्बकपाषाण, आदिके साथ उस लोहेका सम्बन्ध नहीं है तथा उक्त

आकर्षणक्रिया करनेमें उन अयस्कान्त आदिकी किरणोंकरके भी लोहके साथ चुम्बककी प्राप्ति नहीं हुई है । अत भौतिकत्व हेतु व्यभिचारी है । इस बातको हम और भी अग्रिम ग्रन्थोंमें स्पष्ट कह देंगे ।

यथा कस्तूरिकाद्रव्ये वियुक्तेपि पटादितः ।
तत्र सौगंध्यतः प्राप्तिस्तद्गंधाणुभिरिष्यते ॥ ८० ॥
अयस्कांताणुभिः कैश्चित्तथा लोहेपि सेष्यतां ।
विभक्तेपि ततस्तत्राकृष्ट्यादेर्दृष्टितस्तदा ॥ ८१ ॥
इत्ययुक्तमयस्कांतमप्राप्तं प्रति दर्शनात् ।
लोहाकृष्टेः परिप्राप्तास्तदंशास्तु न जातुचित् ॥ ८२ ॥

कोई प्रतिवादी कह रहे हैं कि पट, पत्र (कागज) आदिकसे कस्तूरी, इत्र, हींगडा आदि द्रव्यके वियुक्त होनेपर भी उन पट आदिकोंमें सुगन्धपना हो जानेके कारण जैसे उन कस्तूरी आदिककी फैली हुई गन्ध परिमाणुओंके साथ प्राप्ति [सम्बन्ध] इष्ट की जाती है, उसी प्रकार लोहेमें भी अयस्कात चुम्बककी किन्हीं किन्हीं अणुयें या छोटे छोटे स्कन्धोंके साथ वह प्राप्ति मान लेनी चाहिये । तभी तो उस चुम्बकसे विभक्त होते हुए भी उस लोहेमें उस समय आकर्षण आदि कर्म देखे जाते हैं । भावार्थ—कस्तूरी, केवडा, आदिकी गन्धसे कुछ दूर पडे हुये भी वस्त्र आदिमें उन सुगन्धी पदार्थोंके छोटे स्कन्धोंका सम्बन्ध हो जानेके कारण सुवासना उत्पन्न हो जाती मानी गयी है । उसीके समान चुम्बक पाषाणके फैलनेवाले छोटे छोटे स्कन्धोंद्वारा लोहकी प्राप्ति हो जाने पर ही लोहका आकर्षण हो सकता है, अन्यथा नहीं । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार किसी प्रतिवादीका कहना तो अयुक्त है । क्योंकि दूरसे खेंचनेवाले, असम्बन्धित हो रहे, अयस्कात चुम्बकके प्रति (की ओर) लोहका आकर्षण हो रहा देखा जाता है । चारो ओरमें किसी भी ओरसे प्राप्त हो रहे उस अयस्कातके अंश तो कभी भी नहीं देखे जाते हैं । जो कदाचित् भी प्रत्यक्ष गोचर नहीं हो रहा है, उसका मानना अयुक्त है ।

यथा कस्तूरिकाद्यर्थं गंधादिपरमाणवः ।
स्वाधिष्ठानाभिमुख्येन तान्नयंति पटादिगाः ॥ ८३ ॥
तथायस्कांतपाषाणं सूक्ष्मभागाश्च लोहगाः ।
इत्यायातमितोप्राप्तायस्कांतो लोहकर्मकृत् ॥ ८४ ॥

जिस प्रकार कि गन्धद्रव्य या अतिकटु पदार्थ आदिके परमाणुयें या छोटे छोटे स्कन्ध अपने आधारभूत गन्धवान् पदार्थकी ही अभिमुखता करके पट आदिकमें प्राप्त हो रहे सन्ते कस्तूरी आदि अर्थको उन पट आदिमें ले जाते हैं। अर्थात्–सुगन्ध आदिके सूक्ष्म अवयव दूर पडे हुये भी सुगन्धीद्रव्यको पट आदिके साथ जोड देते हैं। जैसे कि एक विलस्त दूर रखी ज्वाला-युक्त अग्निके छोटे छोटे भाग खुले हुये पेट्रोल तेलसे चुपटकर उसी अग्निके द्वारा पैट्रोलको भभका देते हैं, अथवा दूरपर कूटी जा रही, खटाई या सुन्दरव्यंजनोंके छोटे छोटे कण मुंहतक फैलकर मुंहमें लार टपका देते हैं, उसी प्रकार तो लोहमें प्राप्त हो रहे छोटे छोटे भाग अयस्कात पाषाणको आया हुआ नहीं प्रसिद्ध कर रहे हैं। इस कारणसे सिद्ध होता है कि लोहके साथ सम्बन्धित नहीं हो रहा अयस्कात पाषाण ही लोहके आकर्षणकर्मको कर रहा है। भावार्थ—कस्तूरीके परमाणुओंकी अपने अधिष्ठानके अनुसार वस्त्रमें प्राप्ति हो रही देखी जाती हैं। किन्तु चुम्बकके सूक्ष्मभागोंका अपने अधिष्ठानके आश्रित होकर निकट जाना नहीं प्रतीत हो रहा। अतः अप्राप्यकारी मनके समान चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है।

ननु यथा हरीतकी प्राप्य मलमंगाद्विरेचयति तथायस्कांतपरमाणवः शरीरांतर्गतं शल्यं प्राप्याकर्षंति शरीरादिति मन्यमानं प्रत्याह।

पुनः यहां व्यंग्यसे चक्षुका प्राप्यकारित्व सिद्ध कर रहे किसीकी शंका है कि जिस प्रकार बडी हर्ड हाथ या पेटमें प्राप्त होकर शरीरके सभी अंग उपांगोंसे मलका विशेषरूपसे रेचन (हंगना) करा देती है। अर्थात्—बहुतसे पौद्गलिक पदार्थोंके अंश सर्वदा यहां वहां फैलते रहते हैं। उनके संसर्ग अनुसार पदार्थोंमें अनेक नैमित्तिक या औपादानिक विपरिणाम हो जाते हैं। हर्डके छोटे छोटे अवयव शरीरमें सर्वत्र फैलकर मलको प्राप्त होकर गुदद्वारसे बाहर निकाल देते हैं। तिसी प्रकार चुम्बक पाषाणके परमाणुयें भी प्राप्त होकर शरीरके भीतर प्रविष्ट हो गयी सलाई, सूई, कीलको प्राप्त होकर शरीरसे बाहर खींच लेते हैं। इस प्रकार मान रहे प्रतिवादीके प्रति आचार्य महाराज समाधान कहते हैं।

प्राप्ता हरीतकी शक्ता कर्तुं मलविरेचनं।
मलं न पुनरानेतुं हरीतक्यंतरं प्रति ॥ ८५ ॥

मलको प्राप्त होकर हर्ड मलका विरेचन करनेके लिये तो समर्थ है। किन्तु फिर उस मलको अन्य हर्डके प्रति लानेके लिये समर्थ नहीं है। अर्थात्—हाथ या पेटमें रखी हुयी हरीतकी अपने सूक्ष्म कणोंकरके शरीरमें फैले हुये मलके पास पहुंच गयी है, यह मान भी लिया जाय किन्तु पेटमें रखी हुयी अन्य हरीतकीके प्रति उस फैले हुये मलको प्राप्त नहीं करा सकेगी। व्यवहारमें ऐसा देखा जाता है कि चारो ओरसे मल एकत्रित होकर पेटमें आ जाता है, और गुदद्वारसे निकल

जाता है। अतः शरीरमें चारों ओर जाकर मलको खेंच खेंचकर लाना हर्डका कार्य नहीं है। बात यह है कि पेटमें या हाथमें रखी हुयी हरीतकी मलको नहीं प्राप्त होकर भी दूसरे ही मलको मलाशयमें पहुंचाकर रेचना करा देती है। तथैव चुम्बक पाषाण भी लोहका आकर्षण करा देता है, तब तो चक्षुका अप्राप्यकारीपन सिद्ध हो गया। प्राप्तिका ही एकान्त रखना प्रशस्त नहीं है। आचार्य महाराजने भी व्यङ्गयसे चक्षुका अप्राप्यकारित्व साधदिया है।

तर्हि यथाननान्निर्गतो वायुः पद्मनालादिगः प्राप्य पानीयमाननं प्रत्याकर्षति तथायस्कांतांतरगाः परमाणवो बहिरवस्थितायस्कांतावयविनो निर्गताः प्राप्य लोहं तं प्रत्येवाकर्षतीति शंकमानं प्रत्याह।

अन्योक्ति द्वारा चक्षुके अप्राप्यकारित्वको साधनेकी अभिलाषा रखता हुआ कोई पंडित अन्य दृष्टान्त देकर चुम्बकका प्राप्यकारीपना साध रहा है कि तब तो मुखसे निकल चुकी वायु जैसे कमलनाल या यवनाल अथवा बासकी पमोली आदिमें प्राप्त हो रही संती ही सम्बन्धित हो रहे जल ठंडाई, दूध, धूंआ, आदि पीने योग्य पदार्थको मुखद्वारके प्रति आकर्षण करती है, तिसी प्रकार अयस्कातके अन्तरंग परमाणुयें या चुम्बक और लोहेके अन्तरालमध्यमें पडे हुये चुम्बक परमाणुयें ही बाहिर स्थिर हो रहे अयस्कांत अवयवीसे निकलते सन्ते ही शरीरके भीतर लोहेको प्राप्त होकर उस लोहेको चुम्बक अवयवीके प्रति खेंच लेते हैं। इस प्रकार शंका करते हुये प्रतिवादीके प्रति आचार्य महाराज कहते हैं।

आकर्षणप्रयत्नेन विनाननकृतानिलः।
पद्मनालादिगोंभांसि नाकर्षति मुखं प्रति ॥ ८६ ॥

चक्षुके अप्राप्यकारित्वको सिद्ध करनेमें स्याद्वादियोंकी ओरसे दिये गये अयस्कात दृष्टान्तको पद्मनालकी वायुका दृष्टान्त देकर बिगाडना ठीक नहीं है, अथवा भौतिकत्व हेतुका अयस्कांत करके हुये व्यभिचारदोषका निवारण यवनालकी वायुसे नहीं हो सकता है। क्योंकि मुखसे की गयी वायु कमलनली आदिमें प्राप्त हो रही भी आकर्षण प्रयत्नके विना जलोंको मुखके प्रति नहीं खेंच सकती है। भावार्थ—मुखकी वायुके छोटे भाग पद्मनालमें होकर जलके साथ चुपट रहे तुम्हारे कहनेसे मान भी लिये जाय किन्तु उस प्राप्त हुए जलका मुखकी ओर खेंचना भला प्रयत्नके विना कैसे हो सकता है? वस्तुतः यह विज्ञानयुक्त दीखता है कि मुखमें ही स्थिर हो रही वायु आकर्षण प्रयत्नकरके दूरस्थित अप्राप्त जलको खींच लेती है। अतः यह आकर्षण वायुका दृष्टान्त उलटा चक्षुके अप्राप्यकारित्वको पुष्ट करता है। खींचते समय मुखवायुका बाहिर निकलना नहीं अनुभूत होता है। हां, बाहरसे वायु, जल, तृण, आदिक वहीं मुखवायुसे ही आकर्षण द्वारा खेंच लिये जाते देखनेमें आ रहे हैं।

तर्हि पुरुषप्रयत्ननिरपेक्षा यथादित्यरश्मयः प्राप्य भूगतं तोयं तमेव प्रति नयंति तथायस्कांतपरमाणवोपीत्यभिमन्यमानं प्रत्याह ।

पुनः वैशेषिक चुम्बकपाषाणस्वरूप व्यभिचारस्थलको बिगाडनेका निंद्य प्रयत्न करते हैं कि उक्त प्रकारसे नहीं सही, तब तो यों सही कि सूर्यकी किरणें पुरुषके प्रयत्नकी नहीं अपेक्षा रखती हुयीं ही जिस प्रकार पृथ्वीमें प्राप्त हो रहे जलको संपूर्णकर उस सूर्यके प्रति ही ले जातीं (मगा लेती) हैं, उसी प्रकार अयस्कातकी परमाणुयें भी प्राप्त होकर लोहको अपने निकट खेंच लेती हैं । इस प्रकार अभिमानपूर्वक स्वीकार कर रहे प्रतिवादीके प्रति आचार्य महाराज स्पष्ट उत्तर कहते हैं, सो सुनो ।

सूर्यांशवो नयंत्यंभः प्राप्य तत्सूर्यमंडलं ।
चित्रभानुत्विषो नास्तमिति स्वेच्छोपकल्पितम् ॥ ८७ ॥

सूर्यकी किरणें पृथ्वीपर नीचे उतरकर जलको प्राप्त होकर फिर उस सम्बन्धित जलको सूर्यमंडलके प्रति प्राप्त करा देती हैं, ऐसा तुम मानते हो । किन्तु वे सूर्यकिरणें अस्ताचलको प्राप्त हो रहीं सूर्यमंडलके प्रति खेंच कर नहीं प्राप्त करा देती हैं । यह तो अपनी इच्छासे चाहे जो गढ लिया गया विज्ञान है । बात यह है कि सूर्यकिरणें भी सूर्यमें ही बैठी हुयीं होकर हजारों कोस दूर पडे हुये असम्बन्धित जलको खेंच लेती हैं । वह जल शुष्क हो जाय या बादल बनकर बरस जाय अथवा अन्य पौद्गलिक वायु आदि पदार्थरूप परिणत हो जाय यह निमित्त मिलनेके अधीन होने वाली व्यवस्था है । जैनसिद्धान्त अनुसार किसी भी द्रव्यके गुण, पर्याय, स्वभाव, प्रभाव, किरणें उस द्रव्यसे बाहर प्रदेशोंमें नहीं फैल सकते हैं । अग्निकी लपटें अग्निमें ही रहती हैं । अग्निके निकट वर्त रहे पौद्गलिक पदार्थ उस अग्निके निमित्तसे अत्युष्ण या चमकीले हो गये हैं । व्यवहारी जन कदाचित् उपचारसे उसको भी अग्नि कह देते हैं । वस्तुतः अग्नि अपने ही द्रव्यशरीरमें है । उसी प्रकार सूर्य या दीपककी किरणें सूर्य या दीपकलिकादेशसे एक अणु बराबर भी बाहर नहीं जाती हैं । भला द्रव्यके गुण, स्वभाव, शक्तियां, प्रभाव, विना आश्रयके बाहर जावें भी तो आश्रय विना केवल कैसे रह सकते हैं ? भ्राताओ ! सूर्य स्वयं चमकीला पदार्थ है । उसके नीचे या चारों ओर हजारों कोसतक फैल रहे अन्य पुद्गलस्कन्धोंका ही चाकचक्ययुक्त परिणाम हो गया है । यदि इन्द्र या ऋद्धिधारी योगी सूर्यके निकटवर्ती (आसपासके) पुद्गल स्कन्धोंको निकालकर स्थान खाली करदे तो सूर्यका प्रकाश यहां कथमपि नहीं आसकता है । किन्तु यह सम्पूर्ण पुद्गलोंका निकाल देना असम्भव है । यही दीपककी किरणोंमें व्यवस्था करना, अर्थात्—दीपकका निमित्त पाकर इतस्ततः फैले हुये अन्य चमकने योग्य पुद्गल ही चमकदार परिणत हो जाते हैं । प्रकाश, उद्योत, प्रभा, दीप्तिका निमित्त कारण न मिलनेपर वे अन्य पुद्गल काले रंगके होकर अन्धकाररूप परिणत हो जाते हैं ।

शुक्ल वस्त्रोंको काजलके शीघ्र काला कर देता है। किन्तु काला अन्धेरा शनैः शनैः पदार्थोंको काला अथवा पीला आदि रंगका बना देता है। काले अन्धेरेसे काला ही पदार्थ रंगा जाय, या रंगा ही जाय यह कोई नियम नहीं है। देखो! सूर्यके शुक्ल आलोकसे कोई पदार्थ नीला, कोई पीला, कोई काला आदि रंगवाले परिणम जाते हैं। कोई वैसे ही रूपमें बने रहते हैं। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध अचिन्त्य है। न जाने कैसेसे अन्य कैसा ही पदार्थ बन जाय, कोई आश्चर्य नहीं। अन्धकार दूसरोंका रंग, रस, गन्ध, नहीं बदले तो भी कोई सिद्धान्त नहीं बिगडता है। सूक्ष्मतासे विचारा जाय तो अन्धकार और प्रकाशमें धरे हुये पदार्थोंके परिणाम न्यारे न्यारे हैं। पशु, पक्षी, बालक अण्डा, या अन्य खाद्य, पेय, फूल फल, अङ्कुर, आदिकी परिणतियां अंधेरे या उजीतेमें भिन्न भिन्न हैं। प्रकरणमें यह कहना है कि सूर्यकिरणें अप्राप्त होकर भी जलको सूर्यमण्डलकी ओर आकर्षण शक्तिके अनुसार खींच लेती हैं। अतः उक्त प्रतिवादियोंकी ओरसे दिये गये दृष्टान्त हमारे अप्राप्यकारीपनके अनुकूल ही पडे हैं। दूरवर्ती अप्राप्त पदार्थका प्रतिबिम्ब दर्पण ले लेता है। यंत्र, तंत्र, दूरसे बैठे हुये ही कार्य करते रहते हैं। तथैव चक्षु भी अयस्कांतपाषाणके समान अप्राप्यकारी है।

निःप्रमाणकमुदाहरणमाश्रित्यायस्कांतस्य प्राप्यकारित्वं व्यवस्थापयन् कथं न स्वेच्छाकारी? तदागमात्सिद्धमिति चेन्न, तस्य प्रत्यागमेन सर्वत्र दृष्टेष्टाविरुद्धेन प्रमाणतामात्मसात्कुर्वता प्रतिहतत्वात् स्वयं युक्त्यननुगृहीतस्य प्रमाणत्वानभ्युपगमाच्च न ततस्तत्सिद्धिः यतोयस्कांतस्य प्राप्यकारित्वसिद्धौ तेनानैकांतिकत्वं भौतिकत्वस्य न स्यात्।

प्रमाणोंके आघातको नहीं सहनेवाले हुई आदि अप्रमाणीक उदाहरणोंका आश्रय लेकर अयस्कांतचुम्बकके प्राप्यकारीपनकी व्यवस्था कराता हुआ वृद्धवैशेषिक अपने मनमाने इच्छापूर्वक कार्यको करनेवाला क्यों नहीं समझा जायगा? जो मनमानी अयुक्त बातें गढा करता है, वह खिलाडी छोकरेके समान किसी भी निर्णीत पदार्थकी व्यवस्थाको नहीं करा सकता है। यदि प्रतिवादी यों कहें कि उस वैशेषिकके माने हुये आगमसे चुम्बकपाषाणका प्राप्यकारीपना सिद्ध है। आचार्य कह रहे हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि तुम्हारे अयुक्तआगमके प्रतिकूल हो रहे और प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे सर्वत्र अविरुद्ध होनेके कारण प्रमाणपनेको अपने अधीन करनेवाले श्रेष्ठ आगमकरके उस वैशेषिकोंके आगमका पूर्वप्रकरणमें प्रतिघात कर दिया जा चुका है। और जो आगम स्वयं युक्तियोंसे अनुग्रह प्राप्त नहीं हो रहा है, उसको प्रमाणपना स्वीकृत नहीं किया गया है। अन्यथा झूठी गप्पाष्टक, कहानियां और किम्वदन्तियोंको भी प्रामाण्य आजायगा। तिस कारण उन हुई, मुखवायु, सूर्यकिरण, विना तारका तार आदि दृष्टान्तोंसे उस प्राप्यकारीपनकी सिद्धि नहीं हो पाती है, जिससे कि अयस्कांतको प्राप्यकारीपना सिद्ध हो जानेपर उस अयस्कांतकरके भौतिकत्वहेतुका अनैकान्तिक हेत्वाभासपना न होय। अर्थात्—भौतिकत्व हेतु अयस्कांतकरके व्यभिचारी है, जो कि हमने अठत्तरवीं वार्तिकमें कहा था। सभी पौद्गलिक पदार्थ प्राप्त होकर ही आकर्षण आदि क्रियाओंको करावें,

यह आग्रह प्रशस्त नहीं है। तीर्थकर महाराजके जन्मकल्याणके समय दूरवर्ती अनेक स्थानोंपर घंटानाद, सिंहनाद, आसनकम्प आदि होने लग जाते हैं। पचासों कोस दूर बैठे हुये इष्टजनकरके स्मरण किये जानेपर कदाचित् आंख फैकना, अंगूठा खुजाना आदि क्रियायें हो जाती हैं। ऋतु-परिवर्तनके अवसरपर दूरवर्ती निमित्तोंसे न जाने कैसे कैसे नैमित्तिक भाव प्राप्तिके विना ही होते रहते हैं। यों अठत्तरमी कारिकासे प्रारम्भ कर भौतिकत्व हेतुका अयस्कान्त आदिकरके आये व्यभिचार दोषको यहांतक पुष्ट कर दिया है।

तथैव करणत्वस्य मनसा व्यभिचारिता।
मंत्रेण च भुजंगाद्युच्चाटनादिकरेण वा ॥ ८८ ॥

तिस ही प्रकार करणत्व-हेतुका भी मन इन्द्रिय और सर्प, सिंह, स्त्री, शत्रु आदिके उच्चाटन, निर्विषीकरण, वशीकरण, स्तम्भन, मोहन, विद्वेषण आदिको करनेवाले मंत्रकरके व्यभिचारीपना आता है। अर्थात्—भौतिकत्व हेतुके समान करणत्वहेतु भी मन और मंत्र करके व्यभिचारी है।

शब्दात्मनो हि मंत्रस्य प्राप्तिर्न भुजगादिना।
मनागावर्तमानस्य दूरस्थेन प्रतीयते ॥ ८९ ॥

बार बार घुमाकर बोले जा रहे या थोडा भी नहीं घट बढ रहे शब्दस्वरूप मंत्रकी दूरदेशमें स्थित हो रहे सर्प आदिके साथ प्राप्ति तो थोडी भी नहीं प्रतीत हो रही है। किन्तु मन या मंत्र ये करण तो अवश्य हैं। पौद्गलिक मंत्र तो भौतिक भी है। हां, मनको वैशेषिकोंने मूर्तोंमें गिनाया है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन ये पांच पदार्थ अपकृष्ट परिमाणवाले होनेसे मूर्तद्रव्य माने गये हैं। वैशेषिकोंने शब्दस्वरूप मन्त्रको गुणपदार्थ माना है।

प्राप्यकारि चक्षुः करणत्वाद्दात्रादिवदित्यत्राप्यंशतः सर्वान् प्रत्युद्योतकरेणोक्तो हेतुरनैकांतिको मनसा मंत्रेण च सर्पाद्याकृष्टिकारिणा प्रत्येयः पक्षश्च प्रमाणबाधितः पूर्ववत्।

चक्षु (पक्ष) दृश्यविषयके साथ सम्बन्ध कर उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष करानेवाली है (साध्य) करणपना होनेसे (हेतु) हंसिया, गडसा, छुरिका आदिके समान (अन्वय दृष्टान्त) इस प्रकारके यहां अनुमानमें एक एक अंशसे सभी इन्द्रियोंके प्रति या सम्पूर्ण वादियोंके प्रति वैशेषिकोंके प्रशस्त-पादभाष्यपर टीका रचनेवाले उद्योतकर विद्वान्करके कहा गया करणत्व हेतु तो मन और सर्प आदिका आकर्षण करनेवाले मंत्रकरके व्यभिचारी है। ऐसा विश्वाससहित निर्णय कर लेना चाहिये। मन और मंत्र दोनों प्राप्त नहीं होकर दूरसे ही कार्य करते रहते हैं। दूसरी बात यह है कि उद्योत-कर पण्डितके इस अनुमानका पक्ष बिचारा प्रत्यक्ष, अनुमान, आगमप्रमाणोंसे बाधित भी है।

जैसे कि पहिले बाह्य इन्द्रियत्व हेतुद्वारा उठाया गया अनुमान आठवीं वार्तिकमें बाधाग्रस्त कर दिया गया है ।

तदेवं चक्षुषः प्राप्यकारित्वे नास्ति साधनं ।
मनसश्च ततस्ताभ्यां व्यंजनावग्रहः कुतः ॥ १० ॥

तिस कारण इस प्रकार चक्षु और मनका प्राप्यकारीपना सिद्ध करनेमें नैयायिक या वैशेषिकोंके यहां कोई समीचीन ज्ञापक हेतु नहीं है । मनके प्राप्यकारीपनको तो वे प्रथमसे ही इष्ट नहीं करते हैं । तिस कारण उन चक्षु और मनसे व्यंजनावग्रह कैसे हो सकता है ? अर्थात् कथमपि नहीं । अतः " न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् " यह सूत्र युक्त है ।

यत्र करणत्वमपि चक्षुषि प्राप्यकारित्वसाधनाय नालं च तत्रान्यत्साधनं दूरोत्सारितमेवेति मनोवदप्राप्यकारि चक्षुः सिद्धं । ततश्च न चक्षुर्मनोभ्यां व्यंजनस्यावग्रह इति व्यवतिष्ठते ।

जहां चक्षुके प्राप्यकारित्वकी साधनेमें वैशेषिकोंद्वारा अव्यर्थ, रामबाणके समान मान लिया गया करणत्व हेतु भी जब चक्षुमें प्राप्यकारित्वको साधनेके लिये समर्थ नहीं है तो फिर वहां कोई अन्य दूसरे भौतिकत्व, बाह्य इन्द्रियत्व, आसन्नप्रकाशकत्व, विप्रकृष्टार्थग्राहकत्व हेतु तो दूर ही फेंक दिये गये, ऐसा समझ लेना चाहिये । चक्षुकिरणोंका दूर फेंकना तो दूर रहा, किन्तु लगे हाथ प्राप्यकारित्वको साधनेवाले हेतु ही हेत्वाभास बनाकर बहिष्कृत कर दिये गये हैं । अतः मनके समान चक्षु इन्द्रिय भी अप्राप्यकारी सिद्ध हो चुकी और तिस कारण चक्षु और मनकरके अस्पष्ट व्यंजनावग्रह नहीं हो पाता है । इस प्रकार श्रीउमास्वामी महाराजका सूत्र निर्दोष व्यवस्थित हो जाता है ।

दूरे शद्वं शृणोमीति व्यवहारस्य दर्शनात् ।
श्रोत्रमप्राप्यकारीति केचिदाहुस्तदप्यसत् ॥ ११ ॥
दूरे जिघ्राम्यहं गंधमिति व्यवहृतीक्षणात् ।
घ्राणस्याप्राप्यकारित्वप्रसक्तिरिष्टहानितः ॥ १२ ॥

दृश्य और स्वसम्वेद्य, आत्मस्थ, पदार्थोंको स्पष्ट जाननेवाले चक्षु और मनको अप्राप्यकारित्वका पुरस्कार प्राप्त हो चुकनेपर दाल भातमें मूसर डालनेकी नीतिका अवलम्ब लेकर कोई महाशय श्रोत्रको भी अप्राप्यकारित्वका पारितोषिक दिलाना चाहते हैं । वे अनुमान बनाते हैं कि दूर क्षेत्रमें पड़े हुये शब्दको मैं सुन रहा हूं, इस प्रकार व्यवहारके देखनेसे (हेतु) श्रोत्र इन्द्रिय (पक्ष)

अप्राप्यकारी है (साध्य) इस प्रकार जो कोई मीमांसक महाशय कह रहे हैं, वह भी कहना भी सत्य नहीं है। क्योंकि यों तो दूरदेशमें स्थित हो रही गन्धको मैं सूंघ रहा हूं, इस प्रकार होता हुआ व्यवहार भी देखा है (हेतु)। अतः नासिकाको (पक्ष) अप्राप्यकारीपना (साध्य) सिद्ध हो जानेका प्रसंग आवेगा और तब तो इष्टसिद्धान्तकी हानि हो जायगी। नासिकाका अप्राप्यकारीपना तो वादीप्रतिवादी दोनोंने भी अभीष्ट नहीं किया है। अतः श्रोत्रका अप्राप्यकारीपन सिद्ध करना प्रशस्त नहीं है। मन इन्द्रिय मतिज्ञानद्वारा धर्म, अधर्म द्रव्य आदिको भी परोक्ष जानलेती है। " श्रुतमनिन्द्रियस्य " इस सिद्धान्त अनुसार मन अत्यन्त परोक्ष पदार्थोंको भी विषय करने वाला माना है। किन्तु वह अप्राप्यकारी है।

गंधाधिष्ठानभूतस्य द्रव्यप्राप्तस्य कस्यचित्।
दूरत्वेन तथा वृत्तौ व्यवहारोत्र चेन्नृणाम् ॥ ९३ ॥
समं शब्दे समाधानमिति यत्किंचनेदृशं।
चोद्यं मीमांसकादीनामप्रातीतिकवादिनाम् ॥ ९४ ॥

प्रकृष्ट गन्धवाले द्रव्यको अधिष्ठानभूत मानकर उसकी वासनासे वासित हो रहे किसी दूरवर्ती प्राप्त हो रहे द्रव्यका ही सम्बन्ध हो जानेपर दूरपनेसे तिस प्रकारके ज्ञानकी प्रवृत्ति हो जाती है और तैसा होनेपर मनुष्योंके इस गन्धमें दूरवर्ती गन्धको जानलेनेका व्यवहार हो जाता है। अर्थात्—मूल प्रकृष्ट गन्धयुक्त—द्रव्यकी गन्धसे सुवासित पौद्गलिकपदार्थका सम्बन्ध होनेपर ही घ्राण इन्द्रिय सूंघती है। इस प्रकार कहनेपर तो शब्दमें भी वही समाधान सदृश है। यों प्रतीतिके अनुसार नहीं कहनेवाले मीमांसक, वैशेषिक, आदिकोंके द्वारा जो कोई भी ऐरे गैरे सकटाक्ष प्रश्न उठाये जायेंगे, उनका समाधान गन्धद्रव्यके दृष्टान्तसे कर दिया जायगा। अथवा श्रोत्रपर दिये गये शंकासमाधान उसीके समान घ्राण इन्द्रियपर भी लागू हो जायेंगे।

कुड्यादिव्यवधानेपि शब्दस्य श्रवणाद्यदि।
श्रोत्रमप्राप्यकारीष्टं तथा घ्राणं तथेष्यताम् ॥ ९५ ॥
द्रव्यांतरितगंधस्य प्राप्तसूक्ष्मस्य तस्य चेत्।
घ्राणप्राप्तस्य संवित्तिः श्रोत्रप्राप्तस्य नो ध्वनेः ॥ ९६ ॥
यथा गंधाणवः केचिच्छक्ताः कुड्यादिभेदने।
सूक्ष्मास्तथैव नः सिद्धाः प्रमाणध्वनिपुद्गलाः ॥ ९७ ॥

भीति या झोंपडी आदिके व्यवधान होनेपर भी शद्बका श्रवण होता है (हेतुः) अतः श्रोत्र (पक्ष) यदि अप्राप्यकारी (साध्य) इष्ट किया जा रहा है, तब तो नासिका इन्द्रिय भी तिस प्रकार अप्राप्यकारी इष्ट कर लिया जावे। भीति और प्रासाद पंक्तियोंका व्यवधान होते हुये भी सडी हुयी नालियों, हींग, लहसुन, प्याजके छौंककी गन्ध सूंघ ली जाती है। एतावता क्या घ्राण भी अप्राप्यकारी हो जायगी ? यदि तुम यों कहो कि भीति आदिसे व्यवहित हो रहे गन्धयुक्त सूक्ष्मद्रव्यकी घ्राणके साथ प्राप्त हो रहेकी ही सम्वित्ति होती है, अर्थात् जो सूंघे जा चुके हैं, वे गन्धद्रव्यके चारो ओर फैले हुये सूक्ष्म अंश ही हैं। कुछ भीति, छप्पर उनका व्यवधान नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार तुम्हारे कहनेपर तो हम स्याद्वादियोंके यहां भी कर्ण इन्द्रियके साथ सम्बन्धित हो रहे शद्बका ही श्रावणप्रत्यक्ष हुआ कहा जाता है। प्रथम ही दूरप्रदेशमें उत्पन्न हुये शद्बकी पौद्गलिक लहरें फैलतीं, फैलतीं, कानके निकट आ जाती हैं। कभी कभी पौद्गलिक शद्बोंके आनेमें एक, दो मिनट भी लग जाते हैं। हजार हाथ दूरपर धो रहे धोबीके मोंगरेका शद्ब दस सैकिण्ड पीछे सुननेमें आता है। दो कोस दूरपर चल रही तोपकी, जलरही बारूदका प्रकाश दीख जानेके आधी मिनट पीछे तोपका शद्ब सुनाई पडता है। छोटा मोटा व्यवधान शद्बको आधा चौथाई सुनाई आ जाने देता है। दूरपना और छोटे छोटे व्यवधान होते हुये भी शद्बकी लहरें बन्दूककी गोलीकी गतिके समान क्रमसे उत्पन्न होती जाती हैं। जैसे बन्दूककी गोली कुछ दूर जाकर वेगके मन्द हो जानेसे गिर पडती है। अथवा मध्यमें किसी कठोर पदार्थके साथ टकरा जानेसे आगे नहीं जा पाती है, वैसी ही शद्बरचनाकी व्यवस्था है। अतः गन्ध अणुओंके समान सूक्ष्म शद्बपुद्गल भी प्रमाणोंसे सिद्ध हो रहे हैं। गन्ध और शद्बपर शंकासमाधान एकसा है। जिस प्रकार कितनी ही गंधपरमाणुयें भीत आदिको छेदने भेदनेमें समर्थ हैं, उस ही प्रकार हम स्याद्वादियोंके यहां शब्दस्वरूप सूक्ष्मपुद्गल भी प्रमाणोंसे सिद्ध हैं। पौद्गलिक शब्दोंकी गति भी प्रसिद्ध है।

पुद्गलपरिणामः शब्दो बाह्येंद्रियविषयत्वात् गंधादिवदित्यादि प्रमाणसिद्धाः शब्दपरिणतपुद्गलाः इत्यग्रे समर्थयिष्यामहे। ते च गंधपरिणतपुद्गलवत् कुड्यादिकं भित्वा स्वेंद्रियं प्राप्नुवंतः परिच्छेद्या इति न तेषामप्राप्तानामिंद्रियेण ग्रहणं।

शब्द (पक्ष) पुद्गलका परिणाम है (साध्य), बाह्य इन्द्रियका विषय होनेसे (हेतु), गन्ध, रस आदिके समान [अन्वय दृष्टांत] इत्यादिक प्रमाणोंसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि पुद्गलद्रव्य ही शद्बस्वरूप पर्यायको धारती है। तभी तो फोनोग्राफ यंत्रकी चूडी या तवेमें पौद्गलिकशद्ब-सम्बन्धित होकर निमित्त मिलानेसे प्रकट हो जाते हैं। विद्युत् शक्तिसे प्रेरे हुये और तारका आश्रय पाकर शद्बपुद्गल दूरतक चले आते हैं। तारके विना भी शद्ब दौडते हैं। तीव्र शद्बोंसे कर्णइन्द्रियका आघात या धक्का लगना देखा जाता है। कानमें कूकू ऐसा महान् शद्ब करनेसे

श्रोत्रको भारी चोट पहुंचती है। अत्यधिक तीव्र शद्बसे गर्भपात, गृहका फट जाना, पर्वत शिलापात, भी हो जाते हैं। अतः शद्ब पौद्गलिक है। आकाशका अमूर्त गुण नहीं है, यह सिद्ध हो चुका। इस सिद्धान्तको अग्रिम पाचवें अध्यायमें और भी विस्तारके साथ समर्थन करा देवेंगे। यहां संक्षिप्त संकेतसे ही संतोष कर लेना चाहिये। तथा वे सूक्ष्म शद्बपुद्गल पदार्थ तो गन्धस्वरूप परिणमे पुद्गल द्रव्यके समान भींति, छप्पर, परकोटा, आदिको भेद कर अपनेको प्रत्यक्ष करनेवाली कर्ण इन्द्रियको प्राप्त हो रहे सन्ते ही जानने योग्य हैं। इस कारण अप्राप्त हो रहे पुद्गलोंका श्रोत्रइन्द्रियसे ग्रहण नहीं होता है। काच लगे हुये किवाडोंमेंसे वक्ताका मुख स्पष्ट दीखता है। किन्तु शद्ब सुनाई नहीं पडते हैं। इसका कारण शद्बोंका काच भेद कर नहीं आना या स्वल्प आना है। अतः मीमांसक और नैयायिक वैशेषिकोंका शद्बके विषयमें मन्तव्य अच्छा नहीं है।

कथं मूर्ताः स्कंधाः श्रावणस्वभावाः कुड्यादिना मूर्तिमता न प्रतिहन्यंते इति चेत् तवापि वायवीया ध्वनयः शब्दाभिव्यंजकाः कथं ते न प्रतिहन्यंते इति समानं चोद्यं।

यहां आक्षेप है कि रूप, रस, आदिसे सहित हो रहे मूर्तपौद्गलिक शद्ब ही कर्ण इन्द्रियसे सुनने योग्य स्वभावको धारते हुये भला कैसे मूर्तिमान् भींति आदि करके प्रतिघातको प्राप्त नहीं होते हैं ? मूर्तका मूर्तसे प्रतिघात अवश्य होना चाहिये। जैसा कि गजमस्तकका पर्वतसे प्रतिघात हो जाता है। इस प्रकार मीमांसकोंकी ओरसे कटाक्ष हो जानेपर तो हम जैन भी कहते हैं कि तुम्हारे यहां भी शद्बको अभिव्यक्त करनेवालीं मानी गयी और वायुकी बनी हुयीं वे मूर्तध्वनियां ही भला क्यों नहीं भींति, छत्त आदिकरके प्रतिघातको प्राप्त हो जाती हैं ? बताओ, जिससे कि शद्ब सुनाई न पडे। हमारे समान तुम्हारे ऊपर भी सकटाक्ष प्रश्न वैसा ही खडा रहता है।

तत्प्रतिघाते तत्र शद्बस्याभिव्यक्तेरयोगादनभिव्यक्तस्य च श्रवणासंभवादप्रतिघातः तस्य कुड्यादिना सिद्धस्तदंतरितस्य श्रवणान्यथानुपपत्तेरिति चेत्, तत एव शद्बात्मनां पुद्गलानामप्रतिघातोस्तु दृष्टपरिहारात्। दृष्टो हि गंधात्मपुद्गलानामप्रतिघातस्तद्वच्छब्दानां न विरुध्यते।

यदि मीमांसक इस चोद्यका परिहार यों करें कि भींति आदिकसे वायुनिर्मित उन ध्वनियोंका यदि प्रतिघात हो जाना माना जायगा तो उस भित्तिकरके व्यवहित हो रहे प्रदेशमें प्रथमसे विद्यमान हो रहे नित्य, व्यापक शद्बकी अभिव्यक्ति हो जानेका योग्य नहीं बन सकेगा। और ऐसा होनेसे नहीं प्रकट हुये शद्बका कर्ण इन्द्रियद्वारा सुनना असम्भव पड जायगा। अतः उस वायुरचित ध्वनिका झोंपडी आदिकरके प्रतिघात नहीं होना अर्थापत्तिसे सिद्ध है। क्योंकि उस कोट, भींति आदिसे व्यवहित हो रहे शद्बका सुना जाना अन्यथा यानी व्यंजक वायुओंका अप्रतिघात हुये विना नहीं बन सकेगा। इस कारण वायुस्वरूप ध्वनियोंका भीतर आजाना प्रतिरोधके विना हम मानलेते हैं। इस प्रकार मीमांसकके कहनेपर तो हम जैन भी कहते हैं कि तिस ही

कारण यानी भींतिके भीतर शद्बका सुना जाना अन्यथा यानी शद्बका अप्रतिघात हुये विना असम्भव है। अतः शद्बस्वरूप पुद्गलोंका डेरा, कोट आदिके साथ अप्रतिघात हो जाओ, ऐसा माननेपर ही उस चोद्यका दृढरूपसे परिहार हो सकता है। अन्यथा नहीं। गन्धस्वरूप पुद्गलोंका भी छोटी पतली भींति आदि करके प्रतिघात नहीं होता हुआ देखा गया है। चादी सोनेके भूषण या तावे पीतलके भाडे अथवा मूल्यवान् राजकीय पत्रों (स्टाम्प, रजिष्ट्री, डिग्री,) को भींति या भूमिमें गढकर रखनेमें विशेष अन्तर पड जाता है। इसमें वायुका आना जाना या कमती आना, नहीं आना, ही कारण हैं। अतः गन्धपुद्गलोंके समान उन शद्बपुद्गलोंका भी घुस आना विरुद्ध नहीं पडता है। वैसा ही प्रत्यक्षप्रमाणसे होता दीख रहा है।

यदि पुनरमूर्तस्य सर्वगतस्य च शद्बस्य परिकल्पनात्तद्व्यंजकानामेवाप्रतिघाताच्छ्रवण-मित्यभिनिवेशः तथा गंधस्यामूर्तस्य कस्तूरिकादिद्रव्यविशेषसंयोगजनितावयवा व्यंजकामूर्तद्रव्यांतरेणाप्रतिहतास्तथा घ्राणहेतवः इति कल्पनानुपज्यमाना कथं निवारणीया ?

यदि फिर मीमांसक इस प्रकारका आग्रह करें कि हमारे यहां शद्ब सर्वव्यापक और अमूर्त माना गया है। अतः शद्ब तो वहां भीतर पहिलेसे ही है। किन्तु व्यंजक वायुओंके नहीं होनेसे अबतक उसका सुनना नहीं होता था। उन शब्दोंके व्यंजक वायुओं हीके अप्रतिघात (अरोक) हो जानेसे अब शब्दोंका श्रवण हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि तिस प्रकार सिद्धान्त कल्पित करनेपर तो हमारी पीछे पीछे प्रसंग प्राप्त हो रही यह कल्पना भी कैसे निवारी जा सकेगी कि अमूर्त गन्धके भी कस्तूरी, हींगडा आदि द्रव्यविशेषोंके संयोगसे उत्पन्न हुये अवयव ही व्यंजक हैं और अन्य मूर्तद्रव्योंसे नहीं प्रतिघातको प्राप्त हो रहे संते तिस प्रकार गन्धके सूंघे जानेमें नासिकाके सहकारी कारण हैं। अर्थात्–शब्दके समान गन्धको भी अमूर्त, व्यापक, मान लिया जायगा। ध्वनिके समान गन्धव्यंजक पदार्थोंका ही जाना आना कल्पित किया जा सकता है। कोई रोकने वाला नहीं है। मीमांसकोंके ऊपर जैनोंकी ओरसे यह कटाक्ष हुआ।

गंधस्यैवं पृथिवीगुणत्वविरोध इति चेत् शब्दस्यापि पुद्गलत्वविरोधस्तथा परैः शब्दस्य द्रव्यांतरत्वेनाभ्युपगमाददोष इति चेत्तथा गंधोपि द्रव्यांतरमभ्युपगम्यतां प्रमाणबलायातस्य परिहर्तुमशक्तेः। स्पर्शादीनामप्येवं द्रव्यांतरत्वप्रसंग इति चेत्, तान्यपि द्रव्यांतराणि संतु।

मीमांसक कहते हैं कि इस प्रकार गन्धको अमूर्त, व्यापक, माननेपर तो गन्धको पृथ्वीका गुणपना कहनेका विरोध होगा। अर्थात्–हमने और नैयायिकोंने गन्धको पृथ्वीका गुण माना है। अतः हम गन्धको अमूर्त या व्यापक नहीं कह सकते हैं। इस प्रकार मीमांसकके कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि तिस प्रकार शब्दको भी अमूर्त व्यापक माननेपर तो पुद्गलपनेका विरोध होगा। अर्थात्–शब्दको पौद्गलिकपना जब हम जैनोंके यहां सिद्ध हो चुका है तो मीमांसक शब्दको अमूर्त और व्यापक कैसे मान सकोगे ? इस प्रकार मीमांसक यदि यों कहें कि जिस प्रकार हमारे सिद्धान्तमें

यानीं हम मीमांसकोंने शब्दको भिन्न द्रव्यपनेसे स्वीकार कर लिया है। अतः वैशेषिकोंकरके न्यारा सिद्धान्त मान लेनेपर हमारे ऊपर कोई दोष नहीं आता है। गन्धको पृथ्वीका गुण या शब्दको आकाशके गुण माननेवाले वैशेषिकोंके यहां भले ही कोई दोष आता होय, हमें क्या ? तिस प्रकार मीमांसकके कहनेपर तो हम स्याद्वादी कह देंगे कि यों तो गन्ध भी एक भिन्नद्रव्य स्वीकार कर लिया जाय कोई दोष नहीं आता है। प्रमाणकी सामर्थ्यसे आगये पदार्थका परिहार केवल स्वेच्छापूर्वक निषेध करदेनेसे ही नहीं किया जा सकता है। इसपर मीमांसक यदि यों कहें कि यों तो स्पर्श, रस आदिकोंको भी न्यारा न्यारा द्रव्यपना हो जानेका प्रसंग होगा। इस प्रकार मीमांसकके कहनेपर तो हम स्याद्वादी कहते हैं कि वे स्पर्श आदिक भी न्यारे न्यारे द्रव्य हो जाओ, कोई क्षति नहीं है। गुण और द्रव्यका कथंचित् तादात्म्य है। अतः द्रव्यके स्वरूप तो गुणोंमें भी लागू हो सकते हैं। पुद्गलके गुण भी मूर्त कहे जाते हैं।

निर्गुणत्वात्तेषामद्रव्यत्वमिति चेत्, तत एव शद्बस्य द्रव्यत्वं माभूत् महत्त्वादिगुणाश्रयत्वाच्छद्बे द्रव्यत्वमिति चेत्तत एव गन्धस्पर्शादीनां द्रव्यत्वमस्तु। तेषूपचरितमहत्त्वादय इति चेत् शद्बेप्युपचरिताः संतु। कुतः शद्बे तदुपचार इति चेत् गंधादिषु कुतः ? स्वाश्रयमहत्त्वादिति चेत् तत एव शद्बेपि।

मीमांसक कहते हैं कि गुणोंमें पुनः दूसरे गुण नहीं रहते हैं। अतः गुणरहितपना होनेके कारण उन स्पर्श, रस आदि गुणोंको द्रव्यपना नहीं घटित हो पाता है। इस प्रकार कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि तिस ही कारणसे शद्बको भी द्रव्यपना मत होओ। शद्ब भी तो वैशेषिकोंके यहां रूप, रस आदिके समान गुण माना गया है। अन्य गुणोंका आधार नहीं होनेसे वह भी द्रव्य नहीं हो सकता है। यदि तुम शद्बको महत्त्व, स्थूलत्व, आदि गुणोंका आश्रयपना हो जानेसे शद्बमें द्रव्यपना मानोगे तब तो हम कहेंगे कि तिस ही कारण गन्ध, स्पर्श आदिकोंको भी द्रव्यपना हो जाओ। शद्बके समान गन्ध, उष्णस्पर्श आदि भी कुछ दूरतक स्थूल होकर महान् फैले हुये प्रतीत होते हैं। जो गुणवान् हैं वे द्रव्य होने चाहिये। इसपर मीमांसक कहते हैं कि उन गन्ध, उष्णस्पर्श आदिकोंमें तो उपचारसे प्राप्त हुये महत्त्व, स्थूलत्व आदि गुण कल्पित कर लिये हैं। वस्तुतः उष्णद्रव्य या गन्धद्रव्य ही महान् या स्थूल हैं। उनकी स्थूलता, महत्ता ही समवेतत्व या एकार्थसमवाय सम्बन्धसे गुणमें आरोपित कर ली जाती है। इस प्रकार मीमांसकके कहनेपर तो हम जैन बोलेंगे कि शद्बमें भी महत्त्व आदिक गुण वस्तुतः नहीं माने जावें, उपचारसे आरोपित कर लिये गये महत्त्व आदिक गुण शद्बमें रहें। इसपर मीमांसक यदि यों पूंछे कि शद्बमें किस हेतुसे उन महत्त्व आदिकोंका उपचार किया जायगा ? बताओ। अर्थात्—पुरुषमें यष्टिका या बालकमें अग्निका अथवा वीरपुरुषमें सिंहका उपचार तो निमित्तोंसे किया जाता है। उसके समान यहां शद्बमें उपचार करनेका निमित्त भला क्या है ? इस प्रकार पूंछनेपर तो हम जैन भी मीमांसकोंसे पूंछते हैं

कि गन्ध, स्पर्श आदिकोंमें महत्त्व आदि गुणोंके रहनेका उपचारनिमित्त क्या है ? बताओ । इसपर मीमांसक यदि यों उत्तर देवे कि अपने आधारभूत द्रव्योंके महत्त्वसे आधेय हो रहे गन्ध आदिमें भी महत्त्व उपचरित हो जाता है । इस प्रकार कहनेपर तो हम स्याद्वादी भी उत्तर दे देवेंगे कि शब्दमें भी अपने आधार पुद्गलके महत्त्वसे महत्त्व उपचरित कर लिया जावेगा । आधारके धर्म आधेयमें आ जाते हैं ।

मुख्यमहत्त्वादेरसंभवः शब्दे किमवगतः ? त्वयापि गंधादौ स किमु निश्चितः । गंधादयो न मुख्यमहत्त्वाद्युपेताः शश्वदस्वतंत्रत्वादभाववदित्यतोनुमानात्सदसंभवो निश्चित इति चेत्, तत एव शब्देपि स निश्चीयतां ।

मीमांसक पूंछते हैं कि शब्दमें उपचरित महत्त्व माना जा रहा है । सो क्या मुख्य महत्त्व, स्थूलत्व, घोरत्व, तारत्व आदिका असंभव शब्दमें आप जैनोंने जान लिया है ? जिससे कि आप महत्त्व आदिकको मुख्यरूपसे नहीं मानकर उपचारसे मान रहे हैं ? बताओ। इस प्रकार मीमांसकोंके कहनेपर हम जैन भी पूंछते हैं कि तुम मीमांसकोंने भी क्या गंध आदिकोंमें वह मुख्य महत्त्व आदिकका अभाव क्या निश्चित कर लिया है ? जिससे कि गन्ध, स्पर्श, आदिमें उपचरित महत्त्व आदि गुण गढे जा रहे हैं । इसपर मीमांसक यदि यों अनुमान बनाकर गन्ध आदिमें मुख्य महत्त्वका अभाव सिद्ध करें कि गन्ध आदिक गुण (पक्ष) मुख्यरूपसे महत्त्व, ह्रस्वत्व, आदि गुणोंसे युक्त नहीं है (साध्य), सर्वदा स्वतंत्र नहीं होनेसे (हेतु) जैसे कि अभाव पदार्थ (अन्वयदृष्टान्त), इस अनुमानसे पराधीन हो रहे गन्ध आदिकोंमें उन मुख्य महत्त्व आदिकोंका असंभव निश्चित कर लिया गया है । इस प्रकार मीमांसकोंके कहनेपर तो हम जैन कह देंगे कि तिस ही कारण शब्दमें भी मुख्यरूपसे महत्त्व आदिकोंका वह असम्भव निर्णीत कर लिया गया समझो । शब्द भी सर्वदा परतंत्र होनेके कारण अभावके समान होता हुआ मुख्य महत्त्व आदिको नहीं धारसकता है । शब्द अन्य द्रव्योंके आश्रित रहता है । उस द्रव्यके गुण एकार्थ समवायसे शब्दमें भी आरोपित कर लिये जावें । उस मुख्य महत्त्वके माननेकी क्या आवश्यकता पडी है ? मुख्य महत्त्वका प्रयोजन उपचरित महत्त्वसे सध जायेगा ।

शब्दे तदसिद्धेर्न तन्निश्चयः सर्वदा तस्य स्वतंत्रस्योपलब्धेरिति चेत् गन्धादावपि तत एव तदसिद्धेः । कुतस्तु तन्निश्चयः तस्य क्षित्यादिद्रव्यतंत्रत्वेन प्रतीतेरस्वतंत्रत्वसिद्धिरिति चेत् शब्दस्यापि वक्तृभेर्यादिद्रव्यतंत्रस्योपलब्धेरस्वतंत्रत्वसिद्धेरस्तु ।

मीमांसक कहते हैं कि सदा परतंत्रपना हेतु तो शब्दमें नहीं रहता है । अतः पक्षमें नहीं रहनेवाले उस स्वरूपासिद्ध हेतुसे महत्त्व आदि गुणोंका मुख्यरूपसे नहीं रहना शब्दमें निश्चय करने योग्य नहीं है । क्योंकि सदा ही स्वतंत्र होकर रहनेवाले उस शब्दकी उपलब्धि हो रही है । इस

प्रकार मीमांसकोंके कहनेपर तो हम जैन भी यह कहे बिना नहीं मानेंगे कि गन्ध, स्पर्श आदिमें भी तिस ही कारण हेतुकी असिद्धि हो जानेसे उस मुख्यमहत्त्वके असम्भवकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। गन्ध आदि गुण भी तो स्वतन्त्र दीख रहे हैं। पुन. मीमांसक बोलते हैं कि तुम जैनोंने उन गन्ध आदिकोंकी स्वतंत्र उपलब्धि होनेका निश्चय भला कैसे कर लिया ? बताओ। वे गन्ध आदि तो सदा पृथ्वी, वायु, आदि द्रव्योंके अधीन हो रहेपनसे प्रतीत किये जा रहे हैं। स्थूल, महती, पृथ्वीका गन्ध, स्थूल, महान्, जाना जा रहा है। फैली हुयी अग्निका उष्ण स्पर्श लम्बा, चौडा, जाना जा रहा है। इस कारण हम मीमांसकोंका अस्वतंत्रपना हेतु गन्ध, स्पर्श आदिमें तो सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार मीमांसकोंके कहनेपर हम भी अपनी टेवके अनुसार कह देंगे कि वक्ता, नगाडा, मृदंग, मंजीरा, आदि द्रव्योंके अधीन हो रहे शब्दकी भी उपलब्धि हो रही है। अतः अस्वतंत्रपन हेतुकी शब्दमें सिद्धि हो जाओ और ऐसा हो जानेपर शब्दमें मुख्यरूपसे महत्त्वगुण नहीं ठहर सकेगा। गन्ध आदिके समान उपचारसे ही महत्त्व आदि रह सकेंगे, सो सोच लेना। " सिद्धेरस्तु " पाठ होनेपर यों अर्थ कर लिया जाय कि अस्वतन्त्रपनकी सिद्धि हो जानेसे शब्दमें मुख्यरूपसे महत्त्व आदि नहीं ठहर सकेंगे।

तस्य तदभिव्यंजकध्वनिनिबंधनत्वात्तंत्रत्वोपलब्धेरिति चेत् तर्हि क्षित्यादिद्रव्यस्यापि गंधादिव्यंजकवायुविशेषनिबंधनत्वात्तु गंधादेस्तंत्रत्वोपपत्तिः । शब्दस्य वक्तुरन्यत्रोपलब्धेर्न तंत्रत्वं सर्वदेति चेत् गंधादेरपि कस्तूरिकादिद्रव्यादन्यत्रोपलंभात्तत्परतंत्रत्वं सर्वदा माभूत्।

उस प्रथमसे विद्यमान हो रहे शब्दकी मात्र अभिव्यक्ति करनेमें कुछ चारों ओरसे प्रकट करनेवाली ध्वनिरूप वायुको कारणपना होनेसे उस शब्दको वायुकी पराधीनता दीख रही है। अत वस्तुत शब्द स्वतंत्र है। यदि इस प्रकार मीमांसक कहेंगे तब तो हम भी कह देंगे कि पृथ्वी, जल, अग्नि आदि द्रव्योंको भी गन्ध, स्पर्श, आदिके व्यंजक वायुविशेषोंका कारणपना होनेसे ही गन्ध आदिको उन पृथ्वी आदिकी पराधीनता बन रही है। वैसे तो गन्ध स्पर्श आदिक सदा स्वतन्त्र हैं। तब तो मीमांसकोंका अस्वतन्त्रत्व हेतु असिद्ध हेत्वाभास होगया। पुनरपि मीमांसक कहे जाते हैं कि वक्ताके देशसे अन्य देशोंमें भी वक्ताके शब्दोंकी उपलब्धि हो रही है। तोपके स्थलसे कोसों दूर भी तोपका शब्द सुनाई देता है। विना तारका तार, या फोनोग्राफमें भी रहस्य है। अत' वक्ता, भेरी, तोप आदिके सदा अधीन शब्द नहीं है। इस प्रकार मीमांसकोंके कहने पर तो हम कहते हैं कि गन्ध, स्पर्श, आदिका भी कस्तूरी, अग्नि, इत्र, आदि द्रव्योंके देशसे अन्य देशोंमें उपलब्ध होता है। अत गन्ध आदि भी उन कस्तूरी आदिकके सदा पराधीन नहीं माने जावें। ऐसी दशा होनेपर गन्ध आदिमें मुख्य महत्त्व आदि गुणोंका अभाव साधनेके लिये दिया गया अस्वतन्त्रपना हेतु असिद्ध हो जाता है।

ततोन्यत्रापि सूक्ष्मद्रव्याश्रिता गंधादयः प्रतीयंते इति चेत् शब्दोपि ताल्वादिभ्योऽन्यत्र सूक्ष्मपुद्गलाश्रित एव श्रूयत इति कथमिव स्वतंत्रः । तदाश्रयद्रव्यस्य चक्षुषोपलब्धिः स्यादिति चेत् गंधाद्याश्रयस्य किं न स्यात् ? सूक्ष्मत्वादिति चेत् तत एव शब्दाश्रय द्रव्यस्यापि न चक्षुषोपलब्धिरिति सर्वं समं पश्यामः । ततो यदि गंधादीनां शश्वदस्वतंत्रत्वान्महत्त्वाद्युपेतत्वाभावादाख्यातो न द्रव्यत्वं तदा शब्दस्यापि न तत् ।

फिर भी मीमासक यों बोले कि उस गंधवाले या स्पर्शवान् द्रव्यके क्षेत्रसे अन्य स्थानोंमें भी फैले हुये सूक्ष्मद्रव्यके आश्रित होकर वर्त रहे ही गन्ध, स्पर्श, आदिक प्रतीत हो रहे हैं । तिस प्रकार कहनेपर तो हम स्याद्वादी कहेंगे कि यों तो शब्द भी तालु, कण्ठ, मुख, ढोल, तोप आदिकसे अन्य प्रदेशोंमें फैले हुये सूक्ष्मपुद्गलोंके आश्रित हो रहे ही सुने जा रहे हैं । यही जैन सिद्धान्त भी है । इस प्रकार भला वह शब्द स्वतंत्र कैसा कहा जा सकता है ? अर्थात् गन्धके समान शब्द भी छोटे छोटे पुद्गलस्कन्धोंके आश्रित होकर रहता हुआ ही दूरतक सुनाई पडता है । अन्यथा नहीं । इसपर मीमासक यदि यों कटाक्ष करें कि उस शब्दके आश्रय हो रहे पौद्गलिकद्रव्यकी चक्षुइन्द्रियके द्वारा उपलब्धि हो जानी चाहिये । अर्थात् जैसे पुद्गलनिर्मित घट, पुस्तक, आदि पदार्थ चक्षुसे दीखते हैं, उसी प्रकार पौद्गलिकशद्वाश्रय भी आखोंसे दीख जाना चाहिये । इस प्रकार मीमासकोंके द्वारा चोद्य उठानेपर तो हम भी उनके ऊपर प्रश्न उठा सकते हैं कि दूरतक फैल रहे गन्ध, रस, आदिके आश्रय हो रहे पृथ्वी आदि पदार्थोंकी भी चक्षुद्वारा उपलब्धि क्यों नहीं हो जाती है ? गन्धवाले या रसवाले पदार्थमें रूप तो अवश्य है ही, फिर खुली इत्रकी शीशीकी दूरतक फैली हुयी सुगन्धका आश्रय पृथ्वीद्रव्य भला चक्षुसे क्यों नहीं दीख जाता है ? बताओ । यदि आप मीमासक इसका उत्तर यों देवें कि गन्धके आश्रयद्रव्य सूक्ष्म हैं । अतः स्थूलदर्शी जीवकी चक्षुसे उनकी ज्ञप्ति नहीं हो पाती है । ऐसा कहनेपर तो हम भी उत्तर कर देवेंगे कि शब्दके आश्रय पुद्गलद्रव्यकी भी सूक्ष्म होनेके कारण चक्षुके द्वारा उपलब्धि नहीं हो पाती है । इस प्रकार शब्द और गन्ध आदिमें किये गये सभी आक्षेप और समाधान हमारे तुम्हारे यहा समान हैं, ऐसा हम देख रहे हैं । तिस कारण यदि गन्ध आदिकोंके " सदा अस्वतंत्रपना " इस ज्ञापक हेतुकरके महत्त्व, ह्रस्वत्व आदिसे सहितपनेका अभाव साधा जायगा और इस कारण गुणरहित हो जानेसे उन गन्ध आदिकोंको द्रव्यपना नहीं बन सकेगा, किन्तु गुणपना सिद्ध होगा, तब तो हम दैगंबर कहेंगे कि शब्दको भी सदा अस्वतंत्र नहीं होनेके कारण मुख्य महत्त्व आदिसे सहितपना नहीं बन सकेगा । अत एव वह शब्द भी द्रव्य नहीं हो सकेगा । हमारे आपादन किये गये गन्ध और तुम्हारे शब्दतत्त्वमें कोई अन्तर नहीं दीखता है । शब्दके वाक्यस्फोट, पदस्पोट, वर्णस्फोटके समान गन्धगुणके भी कई गन्धस्फोट माने जा सकते हैं । वस्तुत. विचार करनेपर गन्धके समान शब्द भी पौद्गलिक तत्त्व सिद्ध होगा । प्रत्यक्षसिद्ध हो रहे पुद्गलनिर्मित शब्दमें अधिक सम्वाद बढाना व्यर्थ है ।

ननु शब्दस्याद्रव्यत्वेप्यसर्वगतद्रव्याश्रयत्वे कथं सकृत्सर्वत्रोपलंभः ? यथा गंधादेः, समानपरिणामभृतां पुद्गलानां स्वकारणवशात् समंततो विसर्पणात् ।

मीमांसक प्रश्न उठाते हैं कि शब्दको स्वतंत्रद्रव्यपना नहीं मानते हुये भी आप जैन अव्यापक द्रव्यके आश्रय रहनेवालापन यदि मानोगे तो बताओ कि एक ही समयमें सर्वत्र कोसोंतक चारो ओर शब्दका उपलंभ कैसे होगा ? बताओ । डेल या घडा एक ही होता हुआ एक बारमें सर्वत्र नहीं दीख सकता है और शब्दको व्यापक, नित्य, माननेपर सबको एक बारमें उसका प्रत्यक्ष हो सकता है, जो कि दीख रहा है । इसका उत्तर हमारी ओरसे यही है कि जैसे गन्ध, स्पर्श, आदिका अद्रव्य होते हुए और असर्वगत द्रव्यके आश्रित होते हुए भी कुछ दूरतक सब ओर उपलम्भ हो जाता है । बात यह है कि एकसा सुगन्धित या उष्णनामके समान परिणामको धारनेवाले पक्तिबद्ध पुद्गलोंका अपने अपने कारणोंके वशसे दशों दिशाओंमें सब ओरसे फैलना हो जाता है । तीव्र सुगन्ध, दुर्गन्धवाले पदार्थोंके निकटवर्ती पुद्गलोंकी वैसी ही सुगन्ध, दुर्गन्धरूप परिणति दूरतक होती जाती है । कुछ परिणतियां तो इतनी सूक्ष्म हैं कि चक्रवर्ती, देव या ऋद्धिधारी पुरुषोंकी भी इन्द्रियां उनको नहीं जानपाती हैं । यही व्यवस्था शद्बमें भी लगा लेना । वक्ताके मुखसे शद्बके निकलते ही शद्बपरिणतियोग्य पुद्गल स्कन्धोंका सब ओर लहरोंके सदृश शद्बनामक परिणाम हो जाता है । जिस जीवको जितने दूरके शद्बको सुननेकी योग्यता प्राप्त है, वह अपने क्षयोपशम अनुसार उन शद्बोंको सुन लेता है । और दूरतक फैली हुयी शेष परिणतिया व्यर्थ जाती हैं । यों अनन्तपरिणाम हमारे तुम्हारे काम नहीं आनेकी अपेक्षा व्यर्थ सारिखे दीखते हैं । एतावता उन परिणतियोंका अभाव नहीं कहा जा सकता है । भोज्यपदार्थोंमें मध्यवर्ती अनेक रसोंके तारतम्यको लिये हुये सातर उपजते रहते हैं । उन आगे पीछेके रसोंका स्वाद हमको नहीं आता है । न सही, किन्तु उनकी अक्षुण्णसत्ताको कोई अनाहूत नहीं कर सकता है । मोटे ग्रासमें जो जिव्हाको छू गया स्वल्प पतला पत्तर है, उसका तो रस चखाजाता है । शेष बहुभाग विना आस्वादित हुये यों ही गटक लिया जाता है । क्या करें । सुन्दर लेखनी (नेजेकी कलम) के ऊपर भागमें सर्वत्र पाता बनानेकी कठिनशक्ति है । किन्तु शतांश भागको छोडकर शेष सर्व कठिन बहुभाग व्यर्थ जाते हैं । सर्व बीजोंकी या मनुष्योंकी सभी सन्तानउत्पादक-शक्तिया सफल नहीं हो पाती हैं । छोटेसे शद्बकी भी परिणति हजारों कोस दूरतक पुद्गलोंको यथाक्रमसे तमतरता लिये हुये शद्बमय कर देती है । किन्तु परिमित देशमें वर्त रहा ही शद्ब सुनाई पडता है । इसमें अन्तरग, बहिरग कारण अनेक उपयोगी हो रहे हैं । हां, निमित्त मिला देनेपर दूरतक भी सुनाई पड सकता है ।

वृक्षाद्यन्तरहितानां विसर्पणं कथं न तेषामिति चेत् यथा गंधद्रव्यस्कंधानां तथा परि-

णामात् । तदेवं गंधादिकृतप्रतिविधानतया दूरादारेकोत्करः शब्दे समस्तो नावतरतीति तद्वत्प्राप्तस्येंद्रियेण ग्रहणं निरारेकमवतिष्ठते तथा प्रतीतेरित्याह ।

यदि मीमांसक यों कहें कि वृक्ष, पर्वत, आदिसे व्यवधानको प्राप्त हो रहे उन शद्बोंका फैलना कैसे नहीं हो जायगा ! अथवा वृक्षसे टकराकर जैसे डेल वहीं गिर पडता है, आगे नहीं जा पाता है, उसी प्रकार वृक्ष, भींति आदिसें टकराकर शद्ब भी वहीं गिर जाना चाहिये, फैलना नहीं चाहिये । "कथं नु स्यात्" पाठ होनेपर यों अर्थ करलिया जाय कि वृक्षसे व्यवहित हो रहे उन शद्बोंका फैलजाना भला कैसे हो सकता है ? बताओ। इस प्रकार कहनेपर तो हमारा यही समाधान है कि गन्धद्रव्यके स्कन्धोंका भी तिस प्रकार टकराकर वहीं गिर जाना या नहीं फैलना अथवा फैलजाना जैसे नहीं होता है, उसी प्रकार पौद्गलिक शद्ब स्कन्धोंका भी तिस प्रकार परिणाम हो जानेसे विसर्पण हो जाता है। कोई कोई मन्दशद्ब विचारे मन्दगन्धके समान नहीं भी फैल पाते हैं । निमित्तोंके अनुसार नैमित्तिकभाव बनते हैं । तिस कारण इस प्रकार पौद्गलिक शद्बपर किये गये कटाक्षोंका गन्ध आदिके लिये किये गये मीमांसकोंके प्रतिविधानरूप करके उत्तर हो जाता है । अर्थात्—पौद्गलिक गन्ध, स्पर्श आदिका जो उत्तर आप देंगे वही शद्बके विषयमें हमारा उत्तर होगा । कानमें अधिक दूध या रेतके घुस जानेपर जैसे कान भर जाता है, उसी प्रकार पौद्गलिक शद्बोंके प्रविष्ट हो जानेपर कर्ण भरपूर हो जायंगे, इस कटाक्षका उत्तर भी गन्धद्रव्यके अनुसार कर लेना । सुगन्ध, दुर्गन्धके पौद्गलिक स्कन्धोंका प्रवेश हो जानेपर नासिका इन्द्रिय जैसे नहीं ठुस जाती है, वैसे ही कान इन्द्रिय भी शद्बसे नहीं भरपूर हो जाती है । पुद्गलके मोटे, छोटे, पतले, गाढे, स्थूल, सूक्ष्म आदि झटिति परिवर्तन हो जाते हैं । बादरबादर आदि छःऊ प्रकारके पुद्गल मिथः परावर्तन कर जाते हैं । डेलके समान शद्बोंसे भी कानको चोट पहुंचना उस नासिकाके दृष्टान्तसे ही प्रतिविधान करने योग्य है । इस प्रकार समस्त शंकाओंका पुंज शद्बमें दूर हीसे अवतीर्ण नहीं हो पाता है । गन्धके उत्तरसे सम्पूर्ण शंकाऐं दूर फेंक दी जाती हैं । इस कारण उस गन्धके समान सम्बन्धित हुये ही शद्बका कर्ण इन्द्रियकरके ग्रहण होना निःसंशय प्रतिष्ठित हो जाता है । क्योंकि तिस प्रकार होता हुआ प्रतीत हो रहा है । इसी बातको ग्रन्थकार श्रीविद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्त्तिक-द्वारा स्पष्ट कहते हैं ।

तत्रारेकोत्करः सर्वो गन्धद्रव्ये समं स्थितः ।
समाधिश्चेति न व्यासेनास्माभिरभिधीयते ॥ ९८ ॥

तिस शब्दमें उठायी गयी सम्पूर्ण शंकाओंकी राशि वैसीकी वैसी ही गन्धद्रव्यमें आकर समानरूपसे उपस्थित हो जाती है और उस गन्धद्रव्यका समाधान जो किया जायगा वही समाधान पौद्गलिक शब्दद्रव्यमें लागू होगा । इस प्रकार संक्षेपसे कहकर हमने विस्तारके साथ इसका

कथन नहीं किया है । शंकासमाधानका भार हमने मीमांसकके ऊपर ही धर दिया है। पुद्गलद्रव्यकी पर्याय शब्द है, यह जगत्प्रसिद्ध सिद्धान्त है ।

प्रपंचतो विचारितमेतदन्यत्रास्माभिरिति नेहोच्यते ।

हमने उस तत्त्वका अधिक विस्तारके साथ अन्य ग्रन्थोंमें विचार कर दिया है। इस कारण अब यहां नहीं विशेष कथन किया जाता है । अतः श्रोत्र इन्द्रिय प्राप्यकारी है और चक्षु इन्द्रिय मनके समान अप्राप्यकारी है । अतः चक्षु और मनसे व्यंजनावग्रह नहीं हो पाता है ।

इस सूत्रका सारांश ।

" न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् " इस सूत्रके परिभाष्य प्रकरणोंकी संक्षेपसे सूची इस प्रकार है कि अस्पष्ट अतएव परोक्षज्ञान व्यंजनावग्रहके प्रसंगप्राप्त कारणोंका निषेध करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराजके मुखपद्मसे इस सूत्रजलका बहना आवश्यक है । अन्यथा अभीष्ट नियम नहीं हो सकता था । कटु औषधिके अरुचिपूर्वक शीघ्र भक्षण करते समय पहिले रसनाद्वारा व्यंजनावग्रह होता है । पश्चात् विशेष उपयोग लगानेपर औषधिके अर्थावग्रह, ईहा आदि ज्ञान होते हैं । अव्यक्त नहीं जानकर पदार्थोंको व्यक्त ही जाननेवाले चक्षु और मनसे व्यंजनावग्रह नहीं हो पाता है । प्राप्तिके समान अप्राप्ति भी अनेक प्रकारकी हैं । अप्राप्तिमें नञ्का अर्थ पर्युदास है । विषयके साथ चक्षुकी अप्राप्तिसे मन इन्द्रियकी अप्राप्ति न्यारी जातिकी है । अभिमुख हो रहे अप्राप्त अर्थको चक्षु जानती है और मन अभिमुख, अनभिमुख, प्राप्त, अप्राप्त अर्थोंको भी जान लेता है । अभाव भी भावकारणोंके समान कार्यकी उत्पत्तिमें सहायक हो जाते हैं । भित्ति आच्छादन, वस्त्र आदिका अभाव चाक्षुषप्रत्यक्षमें कारण है । सर्प, सिंह या कूटप्रवन्धक राजवर्ग आदिका अभाव निराकुल अध्ययन, अध्यापन, धन उपार्जन, आदि कार्योंका सहायक है । कार्यत्वावच्छेदकावच्छेदेन प्रतिबन्धकाभावको कारण माना गया है । ज्ञानका प्रधान अन्तरंग कारण क्षयोपशम या क्षय ही है । इसके आगे वैशेषिकोंके माने गये व्यक्तिरूप या शक्तिरूप चक्षुओंका प्राप्यकारीपन खण्डित किया है । प्रत्यक्ष, अनुमान, आगमप्रमाणोंसे चक्षुके प्राप्यकारित्वकी बाधा आती है । प्राप्त हो रहे अंजन, तिल, आदिको चक्षु नहीं जान पाती है, इसका अच्छा विचार चलाया है । मन इन्द्रियका अप्राप्यकारित्व प्रसिद्ध ही है । स्फटिक आदिको नहीं तोडकर स्फटिकके भीतरकी वस्तुओंका चाक्षुष प्रत्यक्ष हो जाता है । यदि चक्षुओंकी किरणें अतिकठोर और लोहसे भी अभेद्य स्फटिकको फोडकर भीतर घुस जाती हैं, तो रूई या मलिनजलसे ढके हुये पदार्थको तो वे बडी सुलभतासे जानलेंगी । यहां वैशेषिकों द्वारा मानी गयी स्फटिककी उत्पादविनाशप्रक्रियापर अच्छा आघात किया गया है । नैयायिक, वैशेषिकप्रभृति कोई कोई विद्वान् वस्तुस्थितिका तिरस्कार

कर या प्रत्यक्ष प्रसिद्धपदार्थकी अवज्ञा कर अपनी पक्षपुष्टिके लिये अप्रामाणिक पदार्थोंकी कल्पना कर बैठते हैं। वस्तुव्यवस्था भले ही नष्ट भ्रष्ट हो जाय, उनका मनमानी आग्रह सधना चाहिये। नैयायिकोंद्वारा मानी गयी स्फटिककी नाश, उत्पादप्रक्रियापर परीक्षक विद्वानोंको हंसी आती है। क्योंकि स्फटिक बडी देरतक वहका वही दीख रहा है। यहांका विचार चमत्कारयुक्त है। जब कि भाव, अभाव दोनोंसे वस्तु गुम्फित हो रही है तो अन्तरालसहित उत्पाद विनाश दीखने चाहिये। किन्तु स्फटिक, काच, अभ्रक आदिमें ऐसा होता नहीं है। उन अविकल्पोंके सदा अव्यवहित दर्शन स्पर्शन होते रहते हैं। बाह्यइन्द्रियत्व हेतुके बाह्य पदसे मनका व्यवच्छेद भी क्यों किया जाता है ? मन भी तो दुःख आदिको संयुक्तसमवाय आदि सम्बन्धसे प्राप्त होकर ही जानता है। अतीत, अनागत दूरवर्ती पदार्थोंके साथ भी कालिक, दैशिक परम्परासम्बन्ध बन रहे हैं। ऐसी दशामें वैशेषिकोंको इन्द्रियत्व हेतु ही देना चाहिये था। मनुष्य, स्त्री आदिके नयनोंकी किरणें दीखती भी तो नहीं हैं। अदृश्य माननेपर तो रात्रिमें सूर्यकिरणें भी तिरोभूत होती हुयीं मान ली जांय, मनुष्यके शिरपर भी सींगोंका सद्भाव गढ लिया जाय। तैजसत्व हेतु भी चक्षुकी किरणोंको सिद्ध नहीं कर सकता है। अनेक दोष आते हैं। अतैजस होकर भी सूर्य या चन्द्रमाकी किरणें प्रतीत हो रही हैं। दूसरे तैजसगूढ अंगारकी किरणें नहीं दीख रही हैं। चक्षुके तैजसत्वको साधनेवाले हेतु भी प्रशस्त नहीं हैं। चन्द्र माणिक्य आदिसे व्यभिचार होता है। अंजन, घृत बादाम तैल आदिकमें तेजोद्रव्यकी सम्भावना करना अनीति है। चन्द्र उद्योत तो तैजस कथमपि नहीं है। सूर्यविमान भी मूलमें अनुष्ण (शीतल) है। उसकी प्रभा उष्ण है। मनुष्यकी आखोंमें उष्णस्पर्श और भास्वररूप नहीं दीखता है, दोनोंका अनुद्भूत होना किसी भी तेजोद्रव्यमें वैशेषिकोंने नहीं माना है। यों थोडी, बहुत, उष्णता या चमक सभी जीवित शरीरोंमें पायी जाती है। सुवर्ण भी पार्थिव है। क्योंकि वह भारी है, पीला है। स्पर्शन या रसना इन्द्रियके प्राप्यकारित्वको देखकर चक्षुमें भी वही सिद्धान्त करना अनुचित है। मनुष्यका मुख तो प्राप्त कवल (कौर) को पकडता है। किन्तु अजगर सापका मुख दूरसे खेंचकर मत्स्यको पकड लेता है। मनुष्य भी अधिक प्यास लगनेपर प्रयत्नकरके अधिक पानीको मुखद्वारा शीघ्र खींच लेता है। चक्षुकी छोटी किरणें मान भी ली जाय तो भी महान् पर्वत, नदी आदिको प्राप्त नहीं कर सकती हैं। यहां धतूरेके फूल समान किरणोंके फैलने या एक पर्वतको निरंश, अवयवी, मानलेनेका निराकरण कर शाखा और चंद्रमाके युगपत् ज्ञान हो जानेसे चक्षुका अप्राप्यकारित्व पुष्ट किया गया है। छोटेसे द्रव्यकी किरणें अपने द्रव्यदेशमें ही रह सकती हैं। बाहर नहीं फैल जायंगी। प्रकाण्ड विद्वान्की विद्वत्ता उसकी आत्मामें ही ठहरेगी। हां, उसके निमित्तसे विद्वत्ताका प्रभाव पडकर नैमित्तिक भाव तो अन्यदेशीय पदार्थोंमें भी उपज सकते हैं, जो कि अन्य पदार्थोंके ही उपादेय परिणाम कहे जायंगे। अनुमान और आगमप्रमाणसे भी चक्षुका अप्राप्त अर्थ प्रकाशत्व साधा गया है। प्रतीतिके अनुसार

वस्तुकी व्यवस्था करनी चाहिये । अदृष्टकी विचित्रतासे ज्ञानकी विचित्रता है । सम्पूर्ण पदार्थ जगत्में विद्यमान हैं, किन्तु पुण्य, पापका ठाठ सर्वत्र फैल रहा है । प्राप्ति, अप्राप्ति, अकिंचित्कर हैं । सेठकी अंटीमें भले ही एक रुपया भी नहीं है और रोकडियाके पास लाखों रुपये हैं । एतावता क्या पच्चीस रुपये मासिकके भृत्य रोकडियाको मुद्रासम्बन्ध हो जानेसे ही लक्षाधिपति कहा जा सकता है ? नहीं । इसके आगे भौतिकत्व, करणत्व आदि हेतुओंसे भी वैशेषिकोंकी अभीष्टसिद्धि नहीं हो सकी है । अयस्कान्त चुम्बक अप्राप्त लोहेको दूरसे खींच लेता है । हई, नली, सूर्यकिरणें आदि दृष्टान्तोंसे अप्राप्यकारीपन सिद्ध नहीं होता है । मंत्र तंत्र अप्राप्त होकर ही उच्चाटन, वशीकरण आदि कार्योंको करते हैं । उद्योतकर चन्द्रमामें जाड्यविशेष है । कविलोक ड और ळ में कदाचित् अभेद मान लेते हैं । चक्षु और मनसे व्यंजनावग्रह नहीं होता है । चक्षुके समान श्रोत्रको अप्राप्यकारी कहना असत्य है, अन्यथा घ्राणको भी अप्राप्यकारित्व बन बैठेगा । गन्धद्रव्यके सूक्ष्म अवयव निकलकर या उसके निमित्तसे बहिःप्रदेशोंमें फैले हुये पुद्गल स्कन्धोंका गन्धिल परिणाम हो जानेपर सम्बन्धित हुये पदार्थको ही नासिका जानती है । उसी प्रकार पौद्गलिक शब्दको प्राप्त कर ही श्रोत्र इन्द्रिय सुनती है । यहां शब्दको पौद्गलिकत्व सिद्ध करनेपर मीमांसक और वैशेषिकोंने बडी उछल कूद मचाकर शब्दके पौद्गलिकत्वका निरास करनेमें भारी मुंहकी खायी है । कुटी आदिकसे प्रतिघात आदि कटाक्षोंका गन्ध अणुओंकरके निराकरण कर दिया जाता है । मीमांसकोंके यहां माने गये शब्दके व्यापकपन और अमूर्त्तपनका पूर्वप्रकरणोंमें प्रत्याख्यान किया जा चुका है । महत्त्व, ह्रस्वत्व, आदिक धर्म तो गन्ध द्रव्यके समान शब्दमें भी समझ लेना । प्रायः सम्पूर्ण पदार्थ अपने निकटवर्त्ती या दूरवर्त्ती योग्य पदार्थोंपर अपने नैमित्तिकभाव उत्पन्न करा देते हैं । शब्दकी उत्पाद प्रक्रिया भी वैसी ही समझना चाहिये । शब्दपरिणतियोग्य पुद्गलवर्गणाएं लोकमें भरी हुयीं हैं । जहां नहीं होगीं वहां नगाडा बजानेपर भी शब्द नहीं बनेगा । वक्ताके कण्ठ, तालु, आदिमें उचित व्यापार कर देनेसे अकार, इकार, आदि वर्ण बन जाते हैं । अथवा मृदंगपर हाथका अभिघात (संयोगविशेष) करनेसे वहां देशमें अनक्षरात्मक शब्द उत्पन्न हो जाता है । वे शब्द कुछ क्षणोंतक ठहरकर नष्ट हो जाते हैं । सरोवरके बीचमें डाल दिया गया डेल जैसे चारों ओर गोल लहरें जलमें बनाता है, वैसे ही वक्ता, मृदंग, आदिका शब्द भी दसों ओर अखण्ड अवयवीरूप लम्बे चौडे पौद्गलिक शब्दको रचता है । यदि दसों दिशाओंमें दश शब्दोंको बनाता होता तो हमें पहिलेसे ही दस शब्द सुनाई पडते, किन्तु ऐसा नहीं है । एक अखण्ड अवयवी शब्दपुद्गलके किसी भी भागका कर्ण इन्द्रियसे सम्बन्ध हो जानेपर पूरे शब्दको हम सुन लेते हैं, जैसे कि घडा या पर्वतके एक उरले भागको देख लेनेपर अखण्ड अवयवी घट या पर्वतका एक चाक्षुषप्रत्यक्ष हो जाता है । यह शब्दोंकी नैमित्तिकधारा बहुत दूरतक फैलीं हुयीं शब्द वर्गणाओंको तरतमभावसे शब्दमय बनाती जाती है । अपनी नैमित्तिक-कारणरूप योग्यताके अनुसार शब्दधाराका बनना आगे

चलकर रुक जाता है। कभी कभी तो पहिले उत्पन्न देशके मूलशब्द नष्ट हो जाते हैं। और दूर देशोंके नैमित्तिक शब्द सुनाई पडते रहते हैं। नैमित्तिक भाव अनेक प्रकारके होते हैं। कच्ची ईंटमें अग्निके निमित्तसे उत्पन्न होगयी रक्तिमा पुनः अग्निके पृथक् हो जानेपर भी सैकडों वर्षतक ठहरती है। हां, जपाकुसुमके सन्निधानसे हुयी स्फटिकमें लाली तो निमित्तके दूर कर देनेपर शीघ्र ही नष्ट हो जाती है, तथा मन्दकषायी भद्रजीवके सद्गुरु महाराजका उपदेश कुछ अधिक कालतक ठहरता है। कोई कोई नैमित्तिकभाव निमित्तके हट जानेपर शीघ्र या देरमें नष्ट होते हैं। अपने अपने अनेक स्वभावोंके अनुसार पदार्थोंकी विचित्र परिणतियां हैं। दीपक या सूर्यप्रकाशके समान शब्द भी निमित्तके पृथक्भूत कर देनेपर अधिककालतक नहीं ठहर पाता है। हां, कुछ समयोंतक ठहर जाता है। सूर्यके छिप जानेपर या दीपकके बुझ जानेपर भी उनका प्रकाश कुछ क्षणों पीछे नष्ट होता है। वस्तुतः विचारा जाय तो प्रकाशका निमित्तकारण ही दीप है। उपादान कारण तो सब ओर भरी हुई प्रकाशने योग्य पुद्गलवर्गणायें हैं। वे निमित्तके नष्ट हो जानेपर भी उपादानकी तैसी परिणति हो जानेसे कुछ देरतक प्रकाशित रह सकती हैं। वक्ताके मुखदेशसे उत्पन्न हुआ, वही शब्द श्रोताके कानतक आवे यह नियम नहीं। यहां भी मध्यवर्ती शब्दपरिणतियोग्य वर्गणायें ही शब्दोंकी उपादान कारण हैं। यदि लम्बा चौडा एक अवयवी शब्द पुद्गल बन गया है तब तो उसी शब्दका सैकडों मनुष्योंको श्रवण हो सकता है। किन्तु यदि छोटे छोटे अनेक शब्द हुए हैं तो श्रोताको सदृश शब्दोंका श्रवण होगा। यही दशा अनक्षर शब्दोंकी उत्पत्तिमें लगा लेना। वीन, हारमोनियमके पातोंमेंसे होकर निकली हुयी ध्वनिवायु ही निषाद, ऋषभ, गांधार, षड्ज, पञ्चम, धैवत, मध्यम, स्वरोंरूप परिणमजाती है। प्रतिध्वनियोंमें पौद्गलिक शब्दोंका आघात होकर वैसी ही परावर्तित परिणतियां करना भी अभीष्ट है। " देवदत्त गामानय " इस वाक्यके पूर्व पूर्व वर्णका नाश होकर संस्कार युक्त हो रहे उत्तरोत्तर वर्णोंके श्रावणप्रत्यक्षोंसे अन्तमें पूर्ण शब्दबोध हो जाता है। ज्ञान भी एक विलक्षण प्रकारका अवयवी है। इसका प्रकरण लम्बा है। फिर किसी अवसर पर ग्रन्थकारद्वारा स्वयं वखान किया जायगा। गन्धके सूक्ष्मद्रव्योंका समाधान पौद्गलिकशब्दोंपर न्यायविहित है। पौद्गलिक शब्दका आखोंसे दीख जाना, वृक्षसे टकराना, कान भरजाना, एक श्रोताके कानमें घुस जानेपर दूसरे श्रोताओंको सुनाई नहीं पडना, आदि उलाहनोंका उत्तर वही गन्ध परमाणुओंवाला है। छिद्र नहीं करते हुये भी भीतिमेंसे सूक्ष्मस्वभाव होनेके कारण शब्द बाहर निकल आते हैं, जैसे कि मिट्टीके घडेमेंसे पानी निकलकर बाहर घडा गीला हो जाता है। काचमेंसे घाम निकल आती है। इस प्रकरणको विस्तारके साथ लिखा गया है। सूक्ष्मपुद्गलोंके अधीन होता हुआ शब्द सुना जा रहा है। मीमांसकोंका शब्दको अमूर्त और सर्वगत कहना प्रमाणोंसे बाधित है। अतः निःसंशय होकर शब्दको पौद्गलिक साधते हुये आचार्यने श्रोत्रका प्राप्यकारित्व पुष्ट किया है। तथा

अप्राप्यकारी चक्षु और मनसे व्यंजनावग्रह नहीं होनेका उपसंहार करदिया गया है। यहांतक मतिज्ञानके भेदप्रभेदोंका वर्णन युक्तियोंसे साधा है। महान् आचार्य श्री विद्यानन्द स्वामीकी अगाध विद्वत्ता अर्चनीय है। लोकप्रसिद्ध विज्ञान द्वारा आगमगम्य पदार्थोंका हस्तामलकवत् विस्तृत ज्ञान करा दिया है। यह उसीका आशीर्वादजन्य फल है।

ज्ञानं ह्यनात्मचिदचित्सहकार्यधीनानायत्तवृत्तमपकर्षमियात्प्रकर्षं।
चामाप्य विज्जनकपौद्गलिकेऽक्षिचित्ते न व्यञ्जना स्फुरदवग्रहकारणे स्तः ॥ १ ॥

——×——

यहांतक दो परोक्ष ज्ञानोंमेंसे मतिज्ञानका वर्णन कर दूसरे क्रमप्राप्त श्रुतज्ञानका निरूपण करनेके लिये श्रीउमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको स्वकीय उपज्ञ आत्मासे उतारकर ज्ञानसुधा-पिपासु भव्यजीवोंके हृदयमन्दिरमें विराजमान करते हैं।

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥ २० ॥

श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ अर्थसे अर्थान्तरका ज्ञान श्रुतज्ञान है। यह श्रुतज्ञानका लक्षण पारिभाषिक श्रुतशब्दसे ही निकल पडता है। वह श्रुतज्ञान मति-पूर्वक होता है, अर्थात्—श्रुतज्ञानका निमित्तकारण मतिज्ञान है। श्रुतज्ञानके मूलमें दो भेद हैं। एक अंगबाह्य दूसरा अंगप्रविष्ट भेद है। सर्वज्ञके साक्षात् शिष्य गणधर या प्रशिष्य अन्य आचार्योंद्वारा अल्पज्ञ जीवोंके अनुग्रहार्थ स्मृत रखा गया स्वल्पवचन-विन्यास तो अंगबाह्य है। और बुद्ध्यतिशय ऋद्धिसे युक्त हो रहे गणधर महाराज द्वारा पीछे पीछे सर्वज्ञोक्त स्मृत की गयी महती ग्रन्थरचना अंगप्रविष्ट है। तिनमें कालिक, उत्कालिक, आदि भेदोंकरके अंगबाह्य अनेक प्रकारका है। अंगप्रविष्ट तो आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तकृद्दश, अनुत्तरोपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र, दृष्टिवाद, इन भेदोंसे बारह प्रकारका है। अथवा सौलह सौ चौतीस करोड तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी १६३४८३०७८८८ अपुनरुक्त अक्षरोंका सम्पूर्ण श्रुतके एक कम एकट्ठि प्रमाण अक्षरोंमें भाग देनेसे एक सौ बारह करोड तिरासी लाख अठावन हजार पांच ११२८३५८००५ बन गये पद तो अंगप्रविष्टके हैं। और शेष बच रहे आठ करोड एक लाख आठ हजार एक सौ पिचत्तर अक्षरोंका अंगबाह्य है।

किमर्थमिदमुपदिष्टं मतिज्ञानप्ररूपणानंतरमित्याह।

मतिज्ञानका बढिया निरूपण करनेके अव्यवहित उत्तर ही इस सूत्रका श्री उमास्वामी महाराजने किस प्रयोजनके लिये उपदेश किया है? इस प्रकार समीचीन जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य महाराज समाधान कहते हैं कि—

किं निमित्तं श्रुतज्ञानं किं भेदं किं प्रभेदकम् ।
परोक्षमिति निर्णेतुं श्रुतमित्यादि सूत्रितम् ॥ १ ॥

उस परोक्ष श्रुतज्ञानका निमित्त कारण क्या है ? और उस श्रुतज्ञानके भेद कौन और कितने हैं ? तथा परोक्ष श्रुतज्ञानके भेदोंके भी उत्तरभेद कितने और कौन कौन हैं ? इस प्रकारकी जिज्ञासाओंका निर्णय करनेके लिये " श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् " यह सूत्र श्री उमास्वामीद्वारा निरूपण किया गया है ।

किं निमित्तं श्रुतज्ञानं नित्यशब्दनिमित्तमन्यनिमित्तं चेति शंकामपनुदति मतिपूर्वकमिति वचनात् । किं भेदं तत् ? षड्भेदं द्विभेदमित्यभेदं वेति संशयं सहस्रप्रभेदं द्वादशप्रभेदमनेकभेदं वेति चारेकामपाकरोति द्व्यनेकद्वादशभेदमिति वचनात् ।

किस पदार्थको निमित्त कारण मानकर श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है ? इस प्रकार प्रश्न होनेपर कोई मीमांसक विद्वान् यदि इसका यों उत्तर करें कि अपौरुषेय वेदके नित्यशब्दोंको निमित्त पाकर अल्पज्ञ जीवोंके आगमज्ञान होता है और किसी विद्वान्के यहां यह उत्तर सम्भावनीय होय कि अन्य पुण्यविशेष या भावनाज्ञान अथवा आशीर्वाद, ईश्वर आदिको निमित्तकारण मानकर शास्त्रज्ञान हो जाता है । इस प्रकारकी शंकाका " मतिपूर्वं " इस वचनसे निराकरण हो जाता है । अर्थात्— मतिज्ञानस्वरूप निमित्तसे श्रुतज्ञान उपजता है । नित्यशब्दोंसे या पुण्यकर्म आदिसे नैमित्तिक श्रुत नहीं बनता है । सूत्रके उत्तरार्द्धका फल यह है कि उस श्रुतज्ञानके कितने भेद हैं ? इस प्रश्नके उत्तरमें कतिपय विद्वान् यों संशयमें पडे हुये हैं कि श्रुतज्ञानके छह भेद हैं । ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, धनुर्वेद, आयुर्वेद, हैं । या शिक्षा, व्याकरण, कल्प, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष ये वेदके छह अंग हैं । तीन वेद और तीन उपवेद होकर भी छह भेद हो जाते हैं तथा श्रुतज्ञानके ब्राह्मण भाग और मंत्रभाग ये दो भेद हैं अथवा अद्वैतवादियोंके अनुसार वेदका कोई भेद नहीं है । एक ही प्रकारका ब्रह्मप्रतिपादक वेद है । औपाधिक भेद मूलपदार्थको भिन्न प्रकारका नहीं कर सकते हैं । इस प्रकारके संशयका " द्व्यनेकद्वादशभेदम् " के द्वि इस वचनसे निवारण हो जाता है । अर्थात्—वह श्रुतज्ञान मूलमें दो भेदवाला है । उसके छह आदि भेद नहीं हैं । तथा तीसरी बात यह है कि कोई कोई मीमांसक वेदोंकी सहस्रशाखायें मानकर वेदके उत्तर प्रभेद हजार मानते हैं । " सहस्रशाखो वेदः " । अन्य कोई व्याकरण, न्याय, साहित्य, सिद्धान्त, इतिहास, ज्योतिष, मंत्र, आदि प्रभेदोंसे आगमके बारह उत्तरभेद मानते हैं । किन्हीं विद्वानोंने अन्य भी अनेक उत्तर भेद स्वीकार किये हैं । कोई ऐसे भी हैं, जो उत्तरभेदोंको मानते ही नहीं हैं । इस प्रकारकी शंकाका निरास तो " द्व्यनेकद्वादशभेदम् " इस सूत्रार्द्धके " अनेकद्वादशभेदम् " वचनसे हो जाता है । अर्थात्—श्रुतज्ञानके दो भेदोंके उत्तरभेद अनेक और बारह हैं, न्यून अधिक नहीं हैं ।

तत्र किमिदं श्रुतमित्याह ।

उस सूत्रके उद्देश्यदलमें पडा हुआ यह श्रुत क्या पदार्थ है ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं ।

श्रुतेऽनेकार्थतासिद्धे ज्ञानमित्यनुवर्तनात् ।
श्रवणं हि श्रुतज्ञानं न पुनः शब्दमात्रकम् ॥ २ ॥

श्रुत शब्दके अनेक अर्थ हैं । शास्त्र, निर्णीत अर्थ, सुना गया शब्द, आदि कतिपय अर्थ सहितपना सिद्ध होते हुये भी " मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् " इस सूत्रसे ज्ञानम् शब्दकी अनुवृत्ति चली आनेके कारण भावरूप श्रवणद्वारा निर्वचन किया गया श्रुतका अर्थ श्रुतज्ञान है । किन्तु फिर कानोंसे सुना गया केवल शब्द ही श्रुत नहीं है । अर्थात्—" श्रवणं श्रुतं " इस प्रकार भावमें क्त प्रत्यय कर व्युत्पन्न करा दिया गया श्रुतपद तो ज्ञानम्की अनुवृत्ति होनेसे रूढिके अधीन होता हुआ किसी विशेषज्ञानको कह रहा है । हां, वाच्योंके प्रतिपादक शब्द भी श्रुतपदसे पकडे जाते हैं । किन्तु केवल शब्दोंमें ही श्रुतपदको परिपूर्ण नहीं कर देना चाहिये ।

कथमेवं शब्दात्मकं श्रुतमिह प्रसिद्धं सिद्धान्तविदामित्याह ।

कोई पूछता है कि विशेषज्ञानको यदि श्रुत कहा जाता है तो इस प्रकार स्याद्वाद सिद्धान्तको जाननेवाले विद्वानोंके यहां इस प्रकरणमें शब्द आत्मक श्रुत भला कैसे पकडा जा सकता है ? जो कि स्याद्वादियोंके यहां शब्दमय द्वादशाङ्ग–श्रुत प्रसिद्ध है । श्रुतपदसे ज्ञानको पकडनेपर तो शब्द छूट जाते हैं । और शब्दको ग्रहण करनेपर ज्ञान छूट जाता है । दोनोंका ग्रहण करना तो शब्दशक्तिसे कष्टसाध्य है । इस प्रकार प्रश्न होनेपर आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं कि—

तच्चोपचारतो ग्राह्यं श्रुतशब्दप्रयोगतः ।
शब्दभेदप्रभेदोक्तः स्वयं तत्कारणत्वतः ॥ ३ ॥

सूत्रकार गुरुवर्यने स्वयं गम्भीर श्रुतशब्दका प्रयोग किया है । इससे सिद्ध है कि मुख्यरूपसे श्रुतका अर्थ श्रुतज्ञान है । और उपचारसे वह शब्द आत्मक श्रुत भी श्रुतशब्द करके ग्रहण करने योग्य है । तभी तो शब्दोंके होनेवाले दो भेद और अनेक या बारह प्रभेद भगवान् सूत्रकारने स्वयं कह दिये हैं । यदि ज्ञानका ही ग्रहण इष्ट होता तो शब्दके होनेवाले भेद प्रभेदोंका वचन नहीं किया गया होता । अत. उपचारसे शब्द आत्मक श्रुत भी अवश्य ग्राह्य है । निमित्त और प्रयोजनके विना उपचार नहीं प्रवर्तता है । अत यहां उस श्रुतज्ञानके कारण हो रहे शब्दको ही श्रुत कह

दिया है, जैसे प्राणके कारण अन्नको प्राण कह दिया जाता है। गुरुके शब्दोंसे शिष्यको श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। इस कारण यह कारणमें कार्यका उपचार है। कार्यभूत श्रुतज्ञानके श्रुतत्वधर्मका कारणभूत शब्दमें आरोप कर दिया गया है। अथवा कारणभूत हो रहे श्रुतज्ञानके कार्य होते हुये शब्दको भी श्रुत कह दिया जाता है। वक्ताके आत्मीय श्रुतज्ञानसे वक्ता स्वयं कण्ठ, तालु, आदि द्वारा वाचक शब्दोंको बनाता है। अत. श्रुतज्ञानके कार्य शब्द हुये, यह कार्यमें कारणका उपचार है। जैसे कि धनको ही पुण्य कह दिया जाता है। अथवा " आत्मा वै जायते पुत्रः " यह व्यवहार हो रहा है। भावार्थ—वक्ताके श्रुतज्ञानका कार्य और श्रोताके श्रुतज्ञानका कारण होनेसे शब्द भी श्रुत कहे जा सकते हैं। " तत् श्रुतज्ञानं कारणं यस्य " अथवा " तस्य श्रुतज्ञानस्य कारणं " इस प्रकार बहुव्रीहि या तत्पुरुष समासद्वारा " तत्कारणं " की व्युत्पत्ति कर देनेसे उक्त अभिप्राय ध्वनित हो जाते हैं।

तच्च शब्दमात्रं श्रुतमिह ज्ञेयमुपचारात् द्व्यनेकद्वादशभेदमित्यनेन शब्दसंदर्भस्य भेदप्रभेदयोर्वचनात् स्वयं सूत्रकारेण श्रुतशब्दप्रयोगाच्च। स हि श्रूयतेस्मेति श्रुतं प्रवचनमित्यस्येष्टार्थस्य संग्रहार्थः श्रेयो। नान्यथा स्पष्टज्ञानाभिधायिनः शब्दस्य प्रयोगार्हत्वात्।

यहां वह श्रुत तो शब्दमात्र है, यह उपचारसे समझना चाहिये। क्योंकि उस श्रुतके दो भेद हैं। तथा अनेक और बारह प्रभेद हैं। इस कथनकरके सूत्रकारने शब्दसम्बन्धी रचना विशेषके ही सम्भवनेवाले भेदप्रभेदोंका कथन किया है। तथा दूसरी बात यह है कि सूत्रग्रन्थ बनानेवाले श्री उमास्वामी महाराजने स्वयं श्रुतशब्दका प्रयोग किया है। अर्थात्—एक तो बात यह है कि अंगबाह्य, अंगप्रविष्ट या अनेक, बारह, ये भेद प्रभेद तो शब्दके ही हो सकते हैं। श्रुतज्ञानमें तो शब्दद्वारा होते हुये ये भेदप्रभेद भले ही माने गये हैं, मौलिक नहीं। दूसरी बात यह भी है कि सूत्रकारने श्रुत शब्दका प्रयोग किया है, जो कि " श्रुश्रवणे " धातुसे कर्ममें क्त प्रत्यय करनेपर बना, बडी सुलभतासे शब्दश्रुतको कहनेके लिये अभिमुख बैठा हुआ है। जो (शब्द) कर्ण इन्द्रिय द्वारा सुना जा चुका है, वह श्रुत अवश्य है। यों निर्वचन किया गया शब्दमय श्रुतप्रवचन (शास्त्र) है। इस प्रकारके इस इष्ट अर्थका संग्रह करनेके लिये वह श्रुत शब्दका प्रयोग करना श्रेष्ठ है। ज्ञान और शब्द दोनोंमें प्रवर्तनेवाले श्रुतपदका प्रयोग करना अन्य प्रकारोंसे समुचित नहीं हो सकता है। यों यदि ज्ञान ही अर्थ सूत्रकारको अभीष्ट होता तो स्पष्ट रूपसे ज्ञानको कहनेवाले ज्ञान, प्रमाण, वेदन, श्रुतज्ञान, आदि पदोंका ही प्रयोग कर देना योग्य था। भाव और कर्ममें निष्ठा प्रत्यय कर ज्ञान और शब्द दोनोंको कहनेवाले श्रुतका प्रयोग करना उचित नहीं था, किन्तु प्रयोग किया है। कोरे द्वैविध्य या संशयके जनक पदोंके प्रयोगद्वारा क्लिष्ट कल्पना करते बैठना किसको अभीष्ट है? अतः अर्थापत्तिसे सिद्ध हो जाता है कि मुख्यरूपसे श्रुतज्ञान और गौणरूपसे शब्द आत्मक श्रुत इष्ट है।

कुतः पुनरुपचारः तत्कारणत्वात् । श्रुतज्ञानकारणं हि प्रवचनं श्रुतमित्युपचर्यते । मुख्यस्य श्रुतज्ञानस्य भेदप्रतिपादनं कथमुपपन्नं तज्ज्ञानस्य भेदप्रभेदरूपत्वोपपत्तेः द्विभेदप्रवचनजनितं हि ज्ञानं द्विभेदं अंगबाह्यप्रवचनजनितस्य ज्ञानस्यांगबाह्यत्वात् अंगप्रविष्टवचनजनितस्य चांगप्रविष्टत्वात् ।

फिर आप आचार्य महाराज आप यह बताओ कि शद्बमें श्रुतपनेका उपचार कैसे किया गया ? " गंगायां घोषः " यहां गंगाका निकटवर्ती होनेसे गंगापदकी गंगातीरमें लक्षण हो जाती है । शूर, क्रूर, चंचल, मनुष्यमें वैसे धर्मोका सादृश्य होनेसे सिंह, भेडिया या अग्निका उपचार सहायता आदिके लिये कर दिया जाता है । वैसा यहां उपचारका निमित्त और फल क्या है ? बताओ । इसपर आचार्य महाराज उत्तर कहते हैं कि श्रुतज्ञानका कारण वह शद्ब है । " तस्य कारणं " ऐसा होनेसे शद्बमय श्रुत है । क्योंकि श्रोताओंके श्रुतज्ञानका कारण नियमसे प्रवचन है । अतः वह शद्ब उपचारसे श्रुतप्रमाण कह दिया जाता है । कार्यके धर्म कारणमें होने ही चाहिये । बहुव्रीहि समास करके दूसरा अर्थ भी निकाल लेना । यदि कोई यहां यों पूंछे कि जब दो आदि भेद प्रभेद शद्बमय श्रुतके सम्भवते हैं, तो श्रुतज्ञानके भेदप्रभेदोंका उक्त रीत्या प्रतिपादन करना भला कैसे युक्तियुक्त सधेगा ? बताओ । इसपर हमारा यही उत्तर है कि भेदप्रभेदवाले उन शद्बोंसे उत्पन्न हुये श्रुतज्ञानके भी उन दो आदिकोंको भेदप्रभेद-स्वरूपपना बन जाता है । दो भेदवाले शद्बमय प्रवचनसे उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान इन अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट भेदोंसे दो भेदवाला है । मध्यमपदके अक्षरोंका भाग देनेपर शेष बच रहे आठ करोड एक लाख आठ हजार एकसौ पचहत्तर (८०१०८१७५) अक्षरोंका स्वरूप शद्बमय श्रुतप्रवचनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान अंगबाह्य है । और बारह अंगोंमें प्रविष्ट हो रहे कुछ न्यून १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ इतने अपुनरुक्त अक्षर अथवा इनसे कितने ही (संख्याते) गुने पुनरुक्तअक्षरों या एकसौ बारह करोड तिरासी लाख अट्ठावन हजार पांच (११२८३५८००५) मध्यम पदोंस्वरूप शद्बश्रुत प्रवचनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान तो अंगप्रविष्ट है । यों दो प्रकारके प्रवचनसे दो भेदवाला श्रुतज्ञान युक्त बन जाता है ।

तथानेकद्वादशप्रभेदवचनजनितं ज्ञानमनेकद्वादशप्रभेदकं कालिकोत्कालिकादिवचनजनितस्यानेकप्रभेदरूपत्वात्, आचारादिवचनजनितस्य च द्वादशप्रभेदत्वादिदमुपचरितं च श्रुतं ह्यनेकद्वादशभेदमिहैव वक्ष्यते ।

तथा अंगबाह्य भेदके अनेक प्रभेद और अंगप्रविष्ट भेदके बारह प्रभेदस्वरूप वचनसे जन्म लेता हुआ ज्ञान तो अनेक प्रभेद और बारह प्रभेदवाला व्यवहृत होता है । देखिये । स्वाध्यायकालमें नियतकालवाले वचन कालिक हैं । और स्वाध्याय कालके लिये अनियत कालरूप वचन उत्कालिक हैं । इनके भेद सामायिक, उत्तराध्ययन आदिक हैं । ऐसे कालिक आदि वचनोंसे उत्पन्न हुआ अंग-

बाह्य ज्ञान प्रभेदरूप है। और अठारह हजार, छत्तीस हजार, आदि मध्यम पदोंस्वरूप आचारांग, सूत्रकृतांग आदि वचनोंसे उत्पन्न हुआ अंगप्रविष्ट ज्ञानको बारह प्रभेदसहितपना है। इस कारण यह शब्दस्वरूप श्रुत उपचरित प्रमाण है। इस शब्दश्रुतके द्रव्य रूपसे दो भेद तथा अनेक और बारह प्रभेद यहां ही ग्रन्थमें स्पष्ट कह दिये जायंगे। ये सब भेद शब्दस्वरूप द्वादशांग वाणी और अंगबाह्यवाणीके हैं। इतने संख्यात अक्षर या पदों अथवा संयुक्त पुनरुक्त पदोंसे उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान अनन्त है।

द्विभेदमनेकद्वादशभेदमिति प्रत्येकं भेदशब्दस्याभिसंबधात् तथा चतुर्भेदो वेदः षडंगः सहस्रशाखः इत्यादि श्रुताभासनिवृत्तिरप्रमाणत्वमत्यक्षत्वादिनिवृत्तिश्च कृता भवति कथमित्याह।

द्वन्द्व समासके आदि या अन्तमें पडे हुये पदका प्रत्येकपदमें सम्बन्ध हो जाता है। अतः यहां भी " अनेकद्वादशभेदम् " इस समासित पदके अन्तमें पडे हुये भेदशब्दका तीनोंमें समन्तात् सम्बन्ध हो जानेसे दो भेद, अनेक भेद और बारह भेद ऐसा अर्थ हो जाता है। और तैसा होनेपर अतिप्रसङ्गोंकी व्यावृत्ति कर दी जाती है। अन्यमती विद्वान् वेदरूप श्रुतके ऋग्, यजुर्, साम, अथर्व, ये चार भेद मानते हैं, अथवा चार वेदोंके शिक्षा, व्याकरण, कल्प, निरुक्त, छन्दः, ज्योतिष, ये छह अंग स्वरूप प्रभेद मानते हैं, या वेदोंकी हजार शाखायें स्वीकार करते हैं। कूर्मपुराणमें वेदोंकी शाखाओंका इस प्रकार वर्णन है। " **एकविंशतिभेदेन ऋग्वेदं कृतवान् पुरा। शाखानां तु शतेनाथ यजुर्वेदमथाकरोत्। सामवेदं सहस्रेण शाखानां च विभेदतः। आथर्वाणमथो वेदं विभेदनवकेन तु** "। भगवान् व्यासने ऋग्वेदके प्रथम इक्कीस भेद किये, पीछे यजुर्वेदके १०० सौ भेद, सामवेदके हजार १००० भेद और पीछे अथर्वके नौ ९ भेद किये। इस कूर्मपुराणके लेखानुसार वेदोंकी सब शाखा ग्यारह सौ तीस ११३० हैं। कोई कोई ११३१ या ११३७ भी मानते हैं। इतर पण्डित आत्मतत्त्व प्रतिपादक ईश, केन, तित्तिरि, आदि दश उपनिषदों या अन्य उपनिषदोंको भी स्वीकार करते हैं। इत्यादि भेद प्रभेदवाले श्रुत आभासकी निवृत्ति उक्त भेद प्ररूपणसे हो जाती है। " तत्प्रमाणे " सूत्रसे प्रमाणपदकी अनुवृत्ति चले आनेसे दो, अनेक, बारह भेदवाले श्रुतके अप्रमाणपनेकी निवृत्ति हो जाती है। और " आद्ये परोक्षम् " कह देनेसे श्रुतको प्रत्यक्षप्रमाणपनेकी निवृत्ति हो जाती है। श्रुतज्ञानमें अवग्रह, ईहा आदिपना भी निषिद्ध हो जाता है। " मतिपूर्वं " ऐसा कह देनेसे अवधि आदि प्रत्यक्षप्रमाणरूप निमित्तोंसे श्रुतकी उत्पत्ति होना प्रतिषिद्ध कर दिया गया है। तथा श्रुतज्ञान किसी भी ज्ञानको पूर्ववर्त्ती नहीं मानकर स्वतंत्र तथा मति या केवलज्ञानके समान उपज बैठता है, इस अनिष्ट प्रसंगकी भी " मतिपूर्वं " कह देनेसे निराकृति कर दी गयी है। कैसे या किस प्रकार कर दी गयी है ? इसकी उपपत्तिको स्वयं ग्रन्थकार स्पष्ट कहते हैं, सो सुनलो।

सम्यगित्यधिकारात्तु श्रुताभासनिवर्तनम् ।
तस्याप्रामाण्यविच्छेदः प्रमाणपदवृत्तितः ॥ ४ ॥
परोक्षाविष्कृतेस्तस्य प्रत्यक्षत्वनिराक्रिया ।
नावध्यादिनिमित्तत्वं मतिपूर्वमिति श्रुतेः ॥ ५ ॥

" तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं " इस सूत्रसे सम्यक् इस पदका अधिकार चला आता है । इस कारणसे तो वेद, व्यासोक्त पुराण आदिक शास्त्रसदृश दीख रहे श्रुताभासोंकी निवृत्ति हो जाती है । और " तत्प्रमाणे " सूत्रसे प्रमाणपदकी अनुवृत्ति हो जानेके कारण उस श्रुतके अप्रमाणपनेका विच्छेद कर दिया जाता है । आदिके दो ज्ञान परोक्ष हैं । इस प्रकार पूर्वमें ही श्रुतको परोक्षपना प्रकट कर देनेसे उस श्रुतके प्रत्यक्षपनका निराकरण हो जाता है । इसी प्रकार " मतिपूर्वं " यों कण्ठोक्त सूत्रका श्रवण होनेसे श्रुतमें अवधि, मनःपर्यय आदि निमित्तोंसे उत्पन्न होनापन नहीं सध पाता है । अतः मतिपूर्वं, सम्यक्, परोक्षं, प्रमाण, श्रुत इस वाक्यार्थद्वारा अनिष्टनिवृत्ति होते हुये श्रुतका स्वरूप निरूपण हो जाता है ।

न नित्यत्वं द्रव्यश्रुतस्य भावश्रुतस्य वा न नित्यनिमित्तत्वमिति सामर्थ्यादवसीयते मतिपूर्वत्ववचनादवध्याद्यनिमित्तत्ववत् ।

शद्बस्वरूप द्रव्यश्रुतको अथवा लब्धि उपयोगस्वरूप भावश्रुतको नित्यपना तो नहीं है । तथा व्यापक, कूटस्थ नित्य, शद्बोंस्वरूप निमित्तसे उत्पन्न होना भी श्रुतोंको प्राप्त होता नहीं है । यह बात सूत्रकी सामर्थ्यसे ही अर्थापत्तिद्वारा निश्चित कर ली जाती है । क्योंकि सूत्रकारका श्रुतज्ञानको मतिपूर्वकपनेका वचन है । जैसे कि अवधि आदिक निमित्तोंका नैमित्तिकपना श्रुतमें नहीं है । अर्थात्—प्रवाहरूपसे द्रव्यश्रुत या भावश्रुत भले ही नित्य रहें, किन्तु व्यक्तिरूपसे श्रुत अनित्य है । और अनित्य मतिज्ञानसे उपजता है । केवलज्ञानसे भी पुरुषार्थद्वारा परम्परया शद्बश्रुत उत्पन्न हो जाता है । अनित्य शद्बोंसे भावश्रुत हो जाता है । अवधि आदि तो श्रुतके निमित्त नहीं हैं ।

श्रुतनिमित्तत्वं श्रुतस्यैवं बाध्येतेति न शंकनीयं । कुतः ?

कोई शंका करता है कि इस प्रकार मतिज्ञानको ही श्रुतका निमित्त मान लेनेपर तो फिर श्रुतज्ञानके पीछे उस श्रुतज्ञानको निमित्त मानकर उपजनेवाले द्रव्यश्रुत या भावश्रुतकी उत्पत्तिमें बाधा आती है । लक्षण अव्याप्त हुआ जाता है । आचार्य कहते हैं कि ऐसी तो शंका नहीं करना चाहिये । कारण कि (क्योंकि) ।

पूर्वशब्दप्रयोगस्य व्यवधानेपि दर्शनात् ।
न साक्षान्मतिपूर्वस्य श्रुतस्येष्टस्य बाधनम् ॥ ६ ॥
लिंगादिवचनश्रोत्रमतिपूर्वात्तदर्थगात् ।
श्रुताच्छ्रुतमिति सिद्धं लिंग्यादिविषयं विदाम् ॥ ७ ॥

कुछ दो एक पदार्थोका व्यवधान हो जानेपर भी पूर्वशब्दका प्रयोग होना देखा जाता है। जैसे कि मथुरासे पूर्व पटना है, अथवा धारणाके पूर्वमें अवग्रहज्ञान रहता है, कुशूलके पूर्व शिवक है, आदि। तभी तो अव्यवहित पूर्वमें अव्यवहितपद सार्थक हो सकता है। इस कारण जिस श्रुतमें साक्षात्‌रूपसे मतिज्ञान निमित्त हो रहा है, अथवा श्रुतजन्य श्रुतज्ञानमें परम्परासे मतिज्ञान निमित्त कारण हो रहा है, उस इष्ट श्रुतके संग्रह या उत्पत्तिकी कोई बाधा प्राप्त नहीं है। " मतिपूर्व " कहनेसे साक्षात् मतिपूर्वक और परम्परामतिपूर्वक दोनोंका ग्रहण हो जाता है। विद्वानोंके यहा यह बात प्रसिद्ध है कि धूमका चाक्षुष मतिज्ञान होकर उस मतिज्ञानके निमित्तसे हुआ व्याप्ती अग्निका ज्ञान तो साक्षात् मतिपूर्वक श्रुतज्ञान है। और परार्थानुमान करते समय किसी आप्त पुरुषके धूम-शब्दका कानोंसे मतिज्ञान कर उसके वाच्य अर्थ धूआका पहिला श्रुतज्ञान अव्यवहित मतिज्ञानपूर्वक उठाया जाता है। पीछे प्रथम श्रुतज्ञानसे उपजा दूसरा अग्नि, आदिका श्रुतज्ञान तो परम्परा मतिज्ञान-पूर्वक उत्पन्न हुआ कहा जाता है। लिंग आदिके वचनको पूर्वमें श्रोत्र मतिज्ञानसे जानकर उसके वाच्य अर्थको विषयी होकर प्राप्त हो रहे पहिले श्रुतज्ञानसे साध्य आदिको विषय करनेवाला दूसरा श्रुतज्ञान विद्वानोंके यहा इस प्रकार प्रसिद्ध हो रहा है। उस दूसरे श्रुतज्ञानसे अनुमेयपन धर्मको जाननेवाला तीसरा श्रुतज्ञान भी उत्पन्न हो सकता है। हेतुमालासे जहा मूलसाध्यको साधा जाता वहा दस, पन्द्रह भी श्रुतज्ञान उत्तरोत्तर होते जाते हैं। उन सबके पहिले होनेवाला मतिज्ञान उनका परम्परया निमित्तकारण हो रहा है। तभी तो कार्यके अव्यवहित पूर्वकालमें रहनेवाला समर्थ कारण पद नहीं देकर आचार्य महाराजने पूर्वपद प्रयुक्त किया है। सूत्रकार तो वादी प्रतिवादी सबके अन्तर्यामी हैं।

नन्वेवं केवलज्ञानपूर्वकं भगवदर्हत्प्रभाषितं द्रव्यश्रुतं विरुध्यत इति मन्यमानं प्रत्याह।

पुनः दूसरी शंका है कि इस प्रकार भी कहनेपर जैनोंके यहा भगवान् अर्हन्तदेवद्वारा अच्छे भाषण किये गये शब्द आत्मक द्रव्यश्रुतको केवलज्ञानपूर्वकपना जो माना जा रहा है, वह विरुद्ध पड जायगा। क्योंकि आप तो श्रुतके पूर्वमें मतिज्ञान या श्रुतज्ञान ही स्वीकार करते हैं। किन्तु देवाधिदेव भगवान्‌के शब्दमय द्रव्यश्रुतके पूर्वमें तो केवलज्ञान है। व्यवहित या अव्यवहितरूपसे मतिज्ञान वहा पूर्ववर्ती नहीं है। अतः फिर अव्याप्ति हुयी। इस प्रकार मान रहे शंकाकारके प्रति आचार्य महाराज स्पष्ट समाधान कहते हैं।

न च केवलपूर्वत्वात्सर्वज्ञवचनात्मनः ।
श्रुतस्य मतिपूर्वत्वनियमोत्र विरुध्यते ॥ ८ ॥
ज्ञानात्मनस्तथाभावप्रोक्ते गणभृतामपि ।
मतिप्रकर्षपूर्वत्वादर्हत्प्रोक्तार्थसंविदः ॥ ९ ॥

सर्वज्ञ प्रतिपादित वचनस्वरूप श्रुतको केवलज्ञानपूर्वक हो जानेसे इस प्रकरणमें श्रुतको मतिपूर्वकपनेके नियमका कोई विरोध नहीं पडता है। क्योंकि ज्ञान आत्मक श्रुतका श्री उमास्वामी महाराजने तिस प्रकार मतिज्ञानपूर्वकपना अच्छे ढंगसे कहा है। ऐसा होनेपर सभी श्रुतज्ञानोंको साक्षात् या परम्परासे मतिपूर्वकपना सध जाता है। श्रीअर्हंत भगवानका द्रव्यश्रुत तो भले ही केवलज्ञानपूर्वक रहे, कोई क्षति नहीं है। केवली महाराजके भावश्रुतज्ञान हो जानेका तो असम्भव है। शेष सर्वजीवोंके मतिज्ञानपूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है। चार ज्ञानको धारनेवाले गणधर महाराजोंके भी अर्हंतभाषित अर्थकी श्रुतज्ञानरूप सम्वित्तिको प्रकर्षमतिज्ञानपूर्वकपना है। अर्थात्–श्री अर्हंतके सर्वांगसमुद्भव अर्धमागधी भाषाका कर्ण इन्द्रियोंसे बढिया मतिज्ञान कर ही पीछे वाच्य और गम्यमान असंख्य प्रमेयोंका श्रुतज्ञान गणधरदेव करते हैं। गणधरदेवके यद्यपि प्रथमसे ही श्रुतज्ञान हो चुका है। फिर भी अर्हंतदेवने केवलज्ञानद्वारा जिन सूक्ष्मपर्यायोंका प्रत्यक्ष कर लिया है, उन प्रज्ञापनीय, अनभिलाप्य, सूक्ष्मपर्यायोंका श्रीतीर्थंकर महाराजकी दिव्यध्वनिके निमित्तसे गणधरकी आत्मामें विशेषज्ञान हो जाता है। तभी तो असंयमी चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सौधर्म इन्द्र, लौकान्तिकदेव, सर्वार्थसिद्धिके देवोंके श्रुतज्ञान और संयमी मुनि महाराजके पूर्ण श्रुतज्ञान तथा गणधरोंके श्रुतज्ञान एवं क्षपकश्रेणीके श्रुतज्ञानोंमें अविभागप्रतिच्छेदोंका तारतम्य है। केवलज्ञानके अविभागप्रतिच्छेद जैसे उत्कृष्ट अनन्तानन्त संख्यावाले नियत हैं, उस प्रकार पूर्ण श्रुतज्ञानके अविभागप्रतिच्छेद एक संख्यामें नियत नहीं हैं। न्यून, अधिक, भी हैं। हां, मोटे रूपसे इन सबको पूर्णश्रुतज्ञानी कह दिया जाता है। जैसे शास्त्रीय परीक्षाके तेतीससे प्रारम्भ कर सौ लब्धाङ्क तक प्राप्त करनेवाले सभी छात्रोंको एकसा " शास्त्री " कह देते हैं। अभिप्राय यह है कि भगवान्के शब्दोंको कर्ण इन्द्रियसे अच्छा सुनकर श्रावणमतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान गणधरोंके भी होता है। गणधरोंके लिये कोई न्यारा (स्पेशल) मार्ग नहीं है।

श्रुतज्ञानं हि मतिपूर्वं साक्षात्पारंपर्येण वेति नियम्यते न पुनः शब्दमात्रं यतस्तस्य केवलपूर्वत्वेन विरोधः स्यात्। न च गणधरदेवादीनां श्रुतज्ञानं केवलपूर्वकं तन्निमित्तशब्दविषयमतिज्ञानातिशयपूर्वकत्वात्तस्येति निरवद्यं।

ज्ञानस्वरूप श्रुत ही साक्षात् अथवा परम्पराकरके पूर्ववर्ती हो रहे मतिज्ञानसे उत्पन्न होता है, ऐसा नियम किया जा रहा है। किन्तु फिर सम्पूर्ण शब्द आत्मक श्रुत भी मतिपूर्वक है, यह नियम नहीं किया जा रहा है, जिससे कि उन सर्वज्ञ वचनोंको केवलज्ञानपूर्वकपना होनेके कारण विरोध दोष आ जाय। अर्थात्—द्रव्यश्रुतके पूर्वमें केवलज्ञानके हो जानेसे श्रुतज्ञानके मतिपूर्वकपनका पूर्वापरमें कोई विरोध नहीं आता है। गणधर देव, भरतचक्रवर्ती, समवसरणमें बैठे हुये अन्य मुनि, श्रावक, इन्द्र, सिंह, आदिकोंको उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान भी केवलज्ञानपूर्वक नहीं है। किन्तु उस श्रुतज्ञानके निमित्तकारण हुये सर्वज्ञ उक्त शब्दोंको विषय करनेवाले कर्ण इन्द्रियजन्य विशिष्ट अतिशयवाले मतिज्ञानको अव्यवहित पूर्ववर्ती मानकर उन गणधर आदिकोंके वह श्रुतज्ञान उत्पन्न हो रहा है। इस कारण अव्याप्ति आदि दोषोंसे रहित यह श्रुतज्ञानका लक्षणसूत्र निर्दोष है।

मतिसामान्यनिर्देशान्न श्रोत्रमतिपूर्वकं।
श्रुतं नियम्यतेऽशेषमतिपूर्वस्य वीक्षणात् ॥ १० ॥
श्रुत्वा शब्दं यथा तस्मात्तदर्थं लक्षयेदयं।
तथोपलभ्य रूपादीनर्थं तन्नांतरीयकम् ॥ ११ ॥

सूत्रकारने मतिपूर्व ऐसा निर्देश कहकर सामान्यरूपसे सम्पूर्ण मतिज्ञानोंका संग्रह कर लिया है। अतः केवल श्रोत्रइन्द्रियजन्य मतिज्ञानको ही पूर्ववर्ती मानकर श्रुतज्ञान उत्पन्न होय, ऐसा नियम नहीं किया जा सकता है। कारण कि रूपका चाक्षुषज्ञान, रस या रसवान्का रासन ज्ञान अथवा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदिक सभी प्रकारके मतिज्ञानोंस्वरूप पूर्ववर्ती निमित्तोंसे श्रुतज्ञानोंकी उत्पत्ति होती हुयी देखी जाती है। यह श्रुतज्ञानी जीव या श्रुतशब्दप्रयोक्ता वक्ता जिस प्रकार शब्दको सुनकर उससे उसके वाच्य अर्थको लक्षित कर देता है। तिस ही प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियोंद्वारा रूप, स्पर्श आदि अर्थोंको मतिज्ञानसे जानकर उन अर्थोंके अविनाभावी अर्थान्तरोंकी भी श्रुतज्ञानद्वारा लक्षणा कर लेता है। अर्थात्—कर्ण इन्द्रियके समान अन्य पांचों इन्द्रियोंसे भी मतिज्ञान होकर उसको पूर्ववर्ती निमित्त कारण हो जानेपर द्रव्यश्रुत या भावश्रुत उपज जाते हैं। हां, मोक्ष, मोक्षकारण, और संसार, संसारकारण, तत्त्वोंका विशेषरूपसे विवेचन तो वचन या शास्त्रों द्वारा होता है। अतः श्रुतकी बहुभाग प्रवृत्ति श्रोत्र इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञानमें हो रही है। एतावता अन्य इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक होनेवाले श्रुतोंका निराकरण नहीं किया जा सकता है।

यथा हि शब्दः स्ववाच्यमविनाभाविनं प्रत्याययति तथा रूपादयोपि स्वाविनाभाविनमर्थं प्रत्याययंतीति श्रोत्रमतिपूर्वकमिव श्रुतज्ञानमीक्ष्यते। ततो न श्रोत्रमतिपूर्वकमेव तदिति नियमः श्रेयान्, मतिसामान्यवचनात्।

जिस ही प्रकार शब्द अपने अविनाभावी वाच्य अर्थका नियमसे निश्चय करा देता है, उसी प्रकार रूप, रस, आदिक भी अपने साथ अविनाभाव रखनेवाले दूसरे अर्थोंकी प्रतीति करा देते हैं। इस प्रकार श्रोत्रमतिपूर्वक श्रुतज्ञानके समान ही चाक्षुष आदि मतिपूर्वक भी श्रुतज्ञान होते देखे जाते हैं। किसी विद्वान् रोगी, धनाढ्य, जितेन्द्रिय, व्यभिचारी, चोरके मुखको देखकर विज्ञ पुरुष उनको वैसा वैसा होनेका श्रुतज्ञान कर लेते हैं। कस्तूरी, हींगडा आदिकी गन्धको सूंघकर उन द्रव्योंका या उनके प्रकर्ष अपकर्षका ज्ञान हो जाता है। बात यह है कि प्रत्यक्षज्ञान अविचारक है। सबसे बडा प्रत्यक्ष जो केवलज्ञान है, वह भी विचार नहीं कर सकता है। विचार करनेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान ही माना गया है। अतः रसना या घ्राण इन्द्रियोंसे केवल गन्ध, रसका ही शुद्ध ज्ञान होता है, जो कि सच पूंछो तो अवक्तव्य है। गन्ध है या रस है, इस प्रकारके विचार भी तो श्रुतज्ञान है। किन्तु क्या किया जाय, शिष्यको व्युत्पत्ति करानेके लिए अवक्तव्य पदार्थका भी शब्दद्वारा निरूपण करना पडता है। शिष्यके समझ जानेपर यह अवक्तव्य तत्त्व है, ऐसा समीचीन बोध करा दिया जाता है। भगवान् केवलज्ञानी भी सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रत्यक्ष कर अपनी दिव्यभाषासे श्रोताओंकी आत्माओंमें श्रुतज्ञान उपजा देते हैं। इसमें भी यही रहस्य समझ लेना। वस्तुतः तत्त्व तो अवाच्य है। हां, यों ही सुनते, समझते, तत्त्वके अन्तस्तलपर ज्ञानी पहुंच जाता है। क्या किया जाय, राजमार्ग यही है। यों कह देना तो प्रकृष्ट आचार्यको ही शोभता है कि "यत्परैः प्रतिपाद्योहं यत्परान् प्रतिपादये। उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः"। यहां यों कहना है कि यह कस्तूरीकी गन्ध है, यह नींबूका रस है, चूल्हेकी अग्निसे पजावेकी अग्नि अत्युष्ण है, यह मखमल या मलमल अच्छी है, दो रुपया या एक रुपया गजके मूल्यकी है, यह मुर्गेका शब्द है, मोरका नहीं है, इत्यादि विचार सब श्रुतज्ञान हैं। मूर्ख, बधिर, अन्धे जीवोंके अन्य इन्द्रियजन्य मतिज्ञानोंसे अनेकानेक श्रुतज्ञान उपजते देखे जाते हैं। तिस कारण वह श्रुतज्ञान केवल श्रोत्रमतिपूर्वक ही है, यह नियम करना श्रेष्ठ नहीं है। अन्यथा अन्धे, बहिरे, पण्डितोंके श्रुतज्ञानोंमें या अन्य भी जीवोंके श्रुतज्ञानोंमें लक्षण नहीं घटनेसे अव्याप्ति हो जायगी सो नहीं हो सकती है। क्योंकि सार्व सूत्रकार महाराजने सामान्य मतिज्ञानोंके संग्रहार्थ "मतिपूर्वं" ऐसा सामान्यकरके मति यह वचन कहा है, जो कि सभी मतिज्ञानोंको श्रुतको निमित्त हो जा सकना कह रहा है।

न स्मृत्यादि मतिज्ञानं श्रुतमेव प्रसज्यते।
मतिपूर्वत्वनियमात्तस्यास्य तु मतित्वतः ॥ १२ ॥
श्रुतज्ञानावृतिच्छेदविशेषापेक्षणस्य च।
स्मृत्यादिष्वंतरंगस्याभावान्न श्रुतताास्थितिः ॥ १३ ॥

इस प्रकार स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, धारणा आदिक मतिज्ञान ही श्रुतज्ञान हो जांय, यह प्रसंग तो नहीं प्राप्त होता है। क्योंकि सूत्रकारने उस श्रुतज्ञानको मतिपूर्वकपनेका नियम किया है। किन्तु ये स्मृति आदिक तो स्वयं मतिज्ञानरूप ही हैं। हां, यदि इन स्मरण आदिके पूर्वमें साक्षात् या परम्परासे मतिज्ञान वर्त गया होता, तब तो ये श्रुत कहे जा सकते थे। किन्तु ये स्मरण आदिक तो मूलमें ही स्वयं मतिज्ञान स्वरूप हैं। स्वयं देवदत्तका शरीर ही तो देवदत्तका पुत्र नहीं हो सकता है। श्रुतज्ञानावरण कर्मके विशेष क्षयोपशमकी अपेक्षा श्रुतज्ञानको होती है। श्रुतज्ञानका वह अन्तरंग कारण है। जैसे कि मिथ्यादर्शनका अन्तरंग कारण पौद्गलिक मिथ्यात्वकर्म है और बहिरंग कारण मिथ्याज्ञान है। स्मृति आदिक तो अपने अन्तरंग कारण मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमविशेषसे उत्पन्न होते हैं। अत. स्मृति आदिकोंमें श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशमस्वरूप अन्तरंग कारण के नहीं होनेसे श्रुतपना व्यवस्थित नहीं हो पाता है।

मतिर्हि बहिरंगं श्रुतस्य कारणं अंतरंगं तु श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषः। स च स्मृत्यादेर्मतिविशेषस्य नास्तीति न श्रुतत्वम्।

जिस कारणसे कि मतिज्ञान तो द्रव्यश्रुत या भावश्रुतका बहिरंग कारण है। श्रुतका अन्तरंग कारण तो श्रुतज्ञानावरण कर्मका विशेष क्षयोपशम है। क्षयोपशमकी विशेषता यही है कि उस कालमें प्रतिपक्षी कर्मोंकी उदीरणा नहीं हो सके। या श्रुतज्ञानीको नींद, मूक, रोग, चिंतायें आदि नहीं सता सकें, मन्दज्ञानियोंके मन्द क्षयोपशमकी अपेक्षा उसका क्षयोपशम बढिया होय, ऐसा श्रुतज्ञानावरण कर्मका विशेष क्षयोपशम तो विशेषमतिज्ञान स्वरूप हो रहे स्मृति आदिकोंके नहीं है। इस कारण स्मृति आदिकोंको श्रुतपना नहीं प्राप्त हो पाता है। यह अतिव्याप्ति दोषका निवारण कर दिया गया।

मतिपूर्वं ततो ज्ञेयं श्रुतमस्पष्टतर्कणम्।
न तु सर्वमतिव्याप्तिप्रसंगादिष्टबाधनात् ॥ १४ ॥

जो कोई प्रतिवादी अविशदरूप तर्कणा करनेको श्रुतज्ञान कहते हैं, उनको भी उस अस्पष्ट तर्कण लक्षणसे वह मतिपूर्वक होता हुआ ही अस्पष्ट सम्वेदन श्रुत समझना चाहिये। किन्तु सभी अविशद सम्वेदनोंको श्रुत नहीं समझ लेना चाहिये। अन्यथा यानी मतिपूर्वक होनेवाले या इन्द्रियपूर्वक होनेवाले अथवा व्याप्तिज्ञानपूर्वक होनेवाले एवं अवग्रहपूर्वक हुये आदिक सभी अविशदज्ञानोंको यदि श्रुत माना जायगा, तब तो रासन, स्पार्शन मतिज्ञान, अनुमान, ईहा, आदिक अस्पष्ट ज्ञानोंमें अतिव्याप्ति दोष हो जानेका प्रसंग होगा और ऐसा होनेसे इष्टसिद्धान्तमें बाधा उपस्थित हो जायगी जो कि अभीष्ट नहीं है।

श्रुतमस्पष्टतर्कणमित्यपि मतिपूर्वं नानार्थप्ररूपणं श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमापेक्षमित्यवगंतव्यमन्यथा स्मृत्यादीनामस्पष्टाक्षज्ञानानां च श्रुतत्वप्रसंगात् सिद्धांतविरोधापत्तिरिति सूक्तं मतिपूर्वं श्रुतं ।

पदार्थोंका अविशद वेदन (तर्कण) करना श्रुतज्ञान है। यह लक्षण " मतिपूर्व " विशेषण लगा देनेपर तो ठीक बैठ जायगा, अन्यथा नहीं। तथा श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमविशेषकी अपेक्षासे उत्पन्न हुआ, और अविनाभावी अनेक अर्थान्तरोंका प्ररूपण करनेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान है, यह समझ लेना चाहिये। अन्यथा यानी ऐसा नहीं माननेपर दूसरे प्रकारोंसे माना जायगा तो स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदिक तथा अन्य इन्द्रियोंसे जन्य अस्पष्ट मतिज्ञानोंको भी अस्पष्ट सम्वेदन होनेके कारण श्रुतपनेका प्रसंग आ जावेगा और ऐसा हो जानेसे जैनसिद्धान्तके साथ विरोध हो जानेकी आपत्ति खडी हो जाती है। इस कारण निःस्वार्थ उपकारी श्री उमास्वामी महाराजने यह सूत्र बहुत ही अच्छा कहा है कि मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है। बहिरंग कारण मतिज्ञानसे और अन्तरंग कारण श्रुतज्ञानावरण क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ अविशदज्ञान श्रुतज्ञान है, यह इसका तात्पर्य है। अतः अतिव्याप्ति नहीं हो सकी।

तच्च। — और वह निर्दोष सिद्ध किया जा चुका श्रुतज्ञान तोः—

द्विभेदमंगबाह्यत्वादंगरूपत्वतः श्रुतम्।
अनेकभेदमत्रैकं कालिकोत्कालिकादिकम् ॥ १५ ॥
द्वादशावस्थमंगात्मतदाचारादिभेदतः।
प्रत्येकं भेदशद्धस्य संबंधादिति वाक्यभित् ॥ १६ ॥

" श्रुतं मतिपूर्वं " इतने सूत्रार्द्धका व्याख्यान कर अब " द्यनेकद्वादशभेदम् " इस उत्तरार्द्धका भाष्य करते हैं कि वह श्रुतज्ञान अंगबाह्य स्वरूपसे और अंगरूपपनेसे दो भेदवाला है। इनमें पहिला एक तो कालिक, उत्कालिक, सामायिक, स्तव, आदिक अनेक भेदवाला है। तथा अंग स्वरूप वह श्रुतज्ञान तो आचार, सूत्रकृत, स्थान आदि भेदोंसे बारह अवस्था युक्त हो रहा है। या बारहभेदोंमें अवस्थित है। द्वन्द्वके अन्तमें पडे हुये भेदशद्वका प्रत्येकमें सम्बन्ध हो जानेसे दो भेद, अनेक भेद, और बारह भेद, इस प्रकार भिन्न भिन्न तीन वाक्य हो जाते हैं। जो कि भेद और उत्तरभेदोंके लिये उपयोगी हैं।

मुख्या ज्ञानात्मका भेदप्रभेदास्तस्य सूत्रिताः।
शद्वात्मकाः पुनर्गौणाः श्रुतस्येति विभिद्यते ॥ १७ ॥

इस सूत्रमें श्रुतज्ञानके कहे गये भेदप्रभेद मुख्य रूपसे तो ज्ञानस्वरूप सूचित किये गये हैं। हां, फिर श्रुतके शद्व–आत्मक भेद तो गौण होते हुये यहां सूत्रमें कहे गये हैं। इस प्रकार श्रुतके मुख्यरूपसे ज्ञानस्वरूप और गौणरूपसे शद्वस्वरूप विशेष भेद करलेना चाहिये। वस्तुतः जैन सिद्धान्तमें ज्ञानको ही प्रमाण इष्ट किया है। किन्तु ज्ञानके कारणोंमें प्रधान कारण शद्व है। जैसे कि शरीरके अवयवोंमें नेत्र प्रधान हैं। मोक्ष या तत्त्वज्ञानके उपयोगी अथवा विशिष्ट विद्वत्ता सम्पादनार्थ शद्व ही आवश्यक पडते हैं। अतः " तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात् " शिष्यके ज्ञानका कारण और वक्ताके ज्ञानका कार्य होनेसे उस ज्ञानका प्रतिपादक वचन भी उपचारसे प्रमाण कह दिया जाता है। वैसे ही यहां शद्वको भी श्रुतका गौणरूपसे भेद, प्रभेद, मान लिया गया है।

तत्र श्रुतज्ञानस्य मतिपूर्वकत्वेपि सर्वेषां विमतिपत्तिमुपदर्शयति।

तिस प्रकरणमें श्रुतज्ञानका मतिपूर्वकपना सम्पूर्ण वादियोंके यहां सिद्ध हो चुकनेपर भी किसी किसीके यहां विवादग्रस्त हो रहे इस विषयको ग्रन्थकार दिखलाते हैं। अथवा श्रुतज्ञानके मतिपूर्वकपनेमें सभी वादियोंका विवाद नहीं है, इसको प्रकट करे देते हैं। " अविप्रतिपत्ति " पाठ अच्छा है।

शद्वज्ञानस्य सर्वेपि मतिपूर्वत्वमादृताः।
वादिनः श्रोत्रविज्ञानाभावे तस्यासमुद्भवात् ॥ १८ ॥

सम्पूर्ण भी वादी विद्वान् शद्वजन्य वाच्य अर्थज्ञानरूप श्रुतज्ञानका मतिपूर्वकपना आदर सहित मान चुके हैं। क्योंकि कर्ण इन्द्रियजन्य मतिज्ञानके नहीं होनेपर उस शाद्वबोधकी भले प्रकार उत्पत्ति नहीं हो पाती है। शद्वश्रवण, संकेतस्मरण, ये सभी वाच्यार्थ ज्ञानोंमें कारण पड जाते हैं। यों व्यतिरेकबलसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका कार्यकारणभाव सध जाना प्रायः सबको अभीष्ट है। किन्तु, जैनोंके व्यापक पूर्वापरीभावसे यह वादी विद्वानोंके द्वारा अभीष्ट किया गया कार्यकारणभाव संकुचित है। यह ध्यानमें रखना। मायायुक्त चंचल जगत्में न जाने किस किस ढंगसे अनेकरूप धारनेवाले पण्डितजन पैंतरे बदलते रहते हैं। किन्तु वीतरागकी उपासना करनेवाले ठोस विद्वान् तो अपने न्यायमार्गपर ही आरूढ रहकर त्रिलोक, त्रिकालमें, अबाधित हो रहे तत्त्वोंका प्रतिपादन करते रहते हैं। अन्तमें सत्यकी ही विजय होगी।

भवतु नाम श्रुतज्ञानं मतिपूर्वकं याज्ञिकानामपि तत्राविमतिपत्तेः। " शद्वादुदेति यज्ज्ञानमप्रत्यक्षेऽपि वस्तुनि। शाद्वं तदिति मन्यंते प्रमाणांतरवादिनः " इति वचनात्, शद्वात्मकं तु श्रुतं वेदवाक्यं न मतिपूर्वकं तस्य नित्यत्वादिति मन्यमानं प्रत्याह।

मीमांसक ऐसा मान रहे हैं कि वह श्रुतज्ञान (लौकिक) भले ही मतिज्ञानपूर्वक रहो कोई क्षति नहीं है। ज्योतिष्टोम, आदि यज्ञोंकी उपासना करनेवाले हम मीमांसकोंके यहां भी उसमें कोई

विप्रतिपत्ति (विवाद) नहीं है । हमारे ग्रन्थोंमें इस प्रकार कथन किया है कि प्रत्यक्ष नहीं भी हो रहे पदार्थमें शद्वसे संकेतस्मरणद्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, आगमज्ञानको न्यारा प्रमाण माननेवाले विद्वान् उस ज्ञानको शाब्दबोध इस नामसे स्वीकार करते हैं । किन्तु वह शब्दात्मक श्रुत तो वेदोंके वाक्य हैं । वे तो मतिज्ञानको पूर्ववर्ती मानकर नहीं उत्पन्न हुये हैं । क्योंकि वे वेदके वाक्य नित्य हैं । इस प्रकार अपने मनोनुकूल मान रहे मीमांसकोंके प्रति आचार्य महाराज परमार्थ तत्त्वको धरते हुये कहते हैं ।

शद्वात्मकं पुनर्येषां श्रुतमज्ञानपूर्वकं ।
नित्यं तेषां प्रमाणेन विरोधो वहुचोदितः ॥ १९ ॥

जिन मीमांसकोंके यहां शब्द आत्मक श्रुत पुनः ज्ञानपूर्वक नहीं माना जाकर नित्य माना गया है, उन याज्ञिकोंके यहां प्रमाणोंकरके विरोध आता है । इसको हम बहुत प्रकारसे पूर्व प्रकरणोंमें कह चुके हैं अथवा प्रमाणोंसे विरोध दोष आनेकी बहुत प्रेरणा कर चुके हैं । अब भी इतना सुन लो कि—

प्रत्यक्षबाधनं तावदग्निमीले पुरोहितं ।
इत्येवमादिशद्वस्य ज्ञानपूर्वत्ववेदनात् ॥ २० ॥

तिन प्रमाणोंमेंसे पहिले प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा तो बाधा यों उपस्थित हो जाती है कि " अग्निमीले (ड) पुरोहितं " इस प्रकारके अन्य भी वैदिक शब्दोंका ज्ञानपूर्वकपना जाना जा रहा है । अग्निकी या पुरोहितकी मैं स्तुति कर रहा हूं । इत्यादिक शब्दजन्यज्ञान तो शब्दका श्रावण प्रत्यक्षकर और उस अर्थके साथ शब्दका संकेत स्मरण कर पीछे ही आगमज्ञान होता हुआ जाना जा रहा है । अथवा " अग्निमीडे आदि शब्दों (वैदिक) की भी उत्पत्ति ज्ञानपूर्वक हो रही प्रतीत है ।

तद्व्यक्तेः ज्ञानपूर्वत्वं स्वयं संवेद्यते न तु ।
शद्वस्येति न साधीयो व्यक्तेः शद्वात्मकत्वतः ॥ २१ ॥

यदि मीमांसक यों कहें कि शब्दोंकी अभिव्यक्ति करनेके लिए ही ज्ञान पूर्ववर्ती हो जाते हैं अथवा शब्दकी अभिव्यक्ति ही ज्ञानपूर्वक होती हुई, स्वयं जानी जा रही है, शब्दको ज्ञानपूर्वकपना नहीं है, शब्द तो नित्य हैं, आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार मीमांसकोंका कहना अधिक अच्छा नहीं है । क्योंकि शब्दोंकी अभिव्यक्तिको भी तो शब्द आत्मकपना निश्चित है । घटकी अभिव्यक्ति घटस्वरूप ही पडेगी । अतः मतिज्ञानने शब्दकी अभिव्यक्तिकी मानो शब्दश्रुतको ही बनाया समझो ।

शद्बादर्थांतरं व्यक्तिः शद्बस्य कथमुच्यते ।
संबंधाच्चेति सम्बन्धः स्वभाव इति सैकता ॥ २२ ॥

यदि मीमांसक शब्दकी उस अभिव्यक्तिको शब्दसे न्यारा पदार्थ स्वीकार करेंगे, तब तो वह शब्दका प्रकट होना भला शब्दका है, यह कैसे कहा जा सकता है ? भिन्न हो रहा महिषका सींग तो घोडेका नहीं कहा जा सकता है । विन्ध्यपर्वतसे सर्वथा भिन्न पडा हुआ सह्य पर्वत तो विन्ध्याचलका है ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता है । इसपर यदि मीमांसक यों कहें कि शब्द और अभिव्यक्तिका सम्बन्ध हो जानेसे वह अभिव्यक्ति शब्दकी कह दी जायगी, जैसे कि भेद होते हुए भी देवदत्तकी टोपी ऐसा व्यवहार हो जाता है । इस प्रकार मीमांसकोंके कहनेपर तो हम जैन पूछेंगे कि शब्द और अभिव्यक्तिका वह सम्बन्ध भला स्वका भावस्वरूप स्वभाव ही माना जायगा, और इस प्रकार माननेपर तो फिर वही शब्द और अभिव्यक्तिका एकपना प्राप्त हो जाता है । अतः अभिव्यक्तिके समान वैदिकशब्द भी ज्ञानसे उत्पन्न हुये कहे जायंगे ।

शद्बव्यक्तेरभिन्नैकसंबंधात्मत्वतो न किम् ।
संबंधस्यापि तद्भेदेऽनवस्था केन वार्यते ? ॥ २३ ॥

शब्दके उसकी प्रकटताके साथ होनेवाले सम्बन्धको यदि प्रतियोगी अनुयोगी दोनों पदार्थोंसे अभिन्न माना जायगा, तब तो अभिन्न एक सम्बन्ध आत्मकपना हो जानेसे क्यों नहीं शब्द और अभिव्यक्ति दोनों एक हो जायंगे ? हथेलीस्वरूप सम्बन्धीके साथ अभेद हो जानेपर मध्यमा और अनामिका अंगुलियोंका भी कथंचित् अभेद हो जाता है । एक बडी टंकीमेंसे सैकडों नलोंमें वह रहा पानी एकमएक समझा जाता है । यदि शद्ब और व्यक्तिके बीचमें पडे हुये सम्बन्धका भी उन प्रतियोगी, अनुयोगी दोनोंसे भेद माना जायगा तो अनवस्था दोष किसके द्वारा निवारा जा सकता है ? अर्थात्—भिन्नसम्बन्धको जोडनेके लिये अन्य सम्बन्धकी आवश्यकता होगी और सम्बन्धियोंसे भिन्न पडे हुये अन्य सम्बन्धको भी " उनका यह है ", इस प्रकार व्यवहार करानेके लिये चौथे, पांचवें आदि सम्बन्धोंकी आकांक्षा बढती ही जायगी, यह अनवस्था दोष होगा । इसका निवारण मीमांसकोंके बूते नहीं हो सकता है ।

भिन्नाभिन्नात्मकत्वे तु संबंधस्य ततस्तव ।
शद्बस्य बुद्धिपूर्वत्वं व्यक्तेरिव कथंचन ॥ २४ ॥

यदि स्याद्वादनीतिका अनुसरण करते हुये मीमांसक यों कहें कि शद्ब और उसकी अभिव्यक्तिके मध्यमें पडा हुआ सम्बन्ध तो प्रतियोगी अभिव्यक्ति और अनुयोगी शद्बसे कथंचित्

भिन्न और कथंचित् अभिन्न स्वरूप है, तब तो हम कहेंगे कि तिस ही कारण तुम्हारे यहां अभिव्यक्तिके समान शद्वको भी किसी अपेक्षासे बुद्धिपूर्वकपना प्राप्त हुआ। शद्व और अभिव्यक्तिका जिस अंशमें अभेद है, उसी अंशमें बुद्धिसे जैसे अभिव्यक्ति उपजती है, अभेद सम्बन्ध हो जानेके कारण वैसे ही मतिज्ञानसे शद्व भी उपज बैठेगा। अतः शद्व चाहे वैदिक हों अथवा लौकिक हों मंत्र हों, कोई भी होंय, वे अनित्य हैं। शद्व वस्तुतः पुद्गलकी पर्याय हैं। इसको हम साधचुके हैं।

व्यक्तिर्वर्णस्य संस्कारः श्रोत्रस्याथोभयस्य वा।
तद्बुद्धितावृतिच्छेदः साप्येतेनैव दूषिता ॥ २५ ॥

जिस प्रकार भस्म या मिट्टीसे रगड देनेपर कांसे, पीतलके भांडोंका संस्काररूप अभिव्यक्ति हो जाती है, उसी प्रकार मीमांसक यदि अकार, गकार, आदि वर्णोंके संस्कार हो जानेको शद्वकी अभिव्यक्ति कहेंगे ? या श्रोत्र इन्द्रियके अतिशयाधानरूप संस्कारको शद्वकी अभिव्यक्ति मानेंगे ? अथवा वर्ण और श्रोत्र दोनोंके संस्कारयुक्त हो जानेको शद्वकी अभिव्यक्ति कहेंगे ? जो कि संस्कार उस शद्वके ज्ञान हो जानेका आवरण करनेवाले वायु या कर्म आदिका अपनयनरूप विच्छेदस्वरूप माना जावेगा। आचार्य कह रहे हैं कि वह संस्कार और अभिव्यक्ति भी इस उक्त कथनसे दूषित करदी गयी हैं। शद्वको कूटस्थ नित्य माननेपर और श्रोत्रको नित्य आकाशस्वरूप स्वीकार करनेपर उनका आवरण करनेवाला कोई नहीं सम्भवता है। ग्रन्थके प्रारम्भमें दूसरी, तीसरी वार्तिकोंके व्याख्यान अवसर पर इसका अच्छा विचार किया जा चुका है।

विशेषाधानमप्यस्य नाभिव्यक्तिर्विभाव्यते।
नित्यस्यातिशयोत्पत्तिविरोधात्स्वात्मनाशवत् ॥ २६ ॥
कलशादेरभिव्यक्तिर्दीपादेः परिणामिनः।
प्रसिद्धेति न सर्वत्र दोषोयमनुषज्यते ॥ २७ ॥

पदार्थोंके संस्कार दो प्रकारके होते हैं। सुवर्ण, पीतल आदिके या रांपीसे शुष्क चमडेका संस्कार तो उनके ऊपर लगे हुये मल, आवरण, दोषोंका दूरीकरण कर देनेसे हो जाते हैं। किन्तु दालमें जीरा, हींगडेका छोंक देनेसे या वस्त्रमें केतकी, इत्र आदिकी सुवासनायें कर देनेसे, सडकपर पानी छिडक देनेसे, अथवा बालोंमें पुष्पतेल डालनेसे, जो संस्कार किये जाते हैं, वे संस्कारित पदार्थोंमें कुछ अतिशयोंका धरदेना रूप हैं। पहिली कारिकामें शद्वके श्रावणप्रत्यक्षोंको रोकनेवाले वायु आदिक आवारकोंका निवारण किया जाना-स्वरूप अभिव्यक्तिका विचार कर दिया गया है। अब यदि मीमांसक इस शद्वके विशेष अतिशयोंका आधान करदेना-रूप अभिव्यक्ति

मानेंगे वह भी विचार करनेपर निर्णीत नहीं हो सकेगी। क्योंकि सर्वथा कूटस्थ नित्य शद्बके अतिशयोंकी उत्पत्ति होनेका विरोध है, जैसे कि कूटस्थ नित्यपदार्थकी स्वात्माका नाश हो जाना विरुद्ध है। अपने पूर्वस्वभावोंका त्याग उत्तरस्वभावोंका ग्रहण और स्थूल द्रव्यरूपसे स्थिरता इस प्रकारके परिणामवाले पदार्थमें तो उत्पाद, या विनाश बन सकते हैं। किन्तु मीमांसकोंके यहां माने गये सर्वथा नित्य शद्बमें नवीन अतिशयों या विशेषताओंका आधान नहीं हो सकता है। देखो, पहिलेसे अंधेरेमें रखे हुये कलश, मूढा, दण्ड, आदिक परिणामी पदार्थोंकी तो दीपक, विद्युत आदिकसे अभिव्यक्ति होना प्रसिद्ध हो रहा है। अतः परिणामी नहीं भी हो रहे पदार्थोंकी अभिव्यक्ति हो जायगी, इस दोषका प्रसंग सर्वत्र (कहीं भी नहीं) नहीं लगता है। अर्थात्—परिणामी पदार्थकी परिणामी पदार्थसे अभिव्यक्ति सम्भवती है। शद्ब अपने प्राचीन स्वभाव हो रहे नहीं सुने गयेपनका त्याग करे और नवीन श्रावणस्वभावको ग्रहण करे, तब कहीं परिणामी शद्बकी व्यंजकोंसे अभिव्यक्ति हो सकती है। अभिव्यंजक पदार्थ भी परिणामी होना चाहिये। दीपक अपने पहिलेके अघटप्रकाशपनस्वभावको छोडे और घटप्रकाशकपनको ग्रहण करे, तब कहीं घटका व्यंजक बने। अतः सर्वत्र तीन लक्षणवाले परिणामी पदार्थमें अभिव्यंज्य-अभिव्यंजकभाव बनता है। कूटस्थमें नहीं।

नित्यस्य व्यापिनो व्यक्तिः साकल्येन यदीष्यते।
किं न सर्वत्र सर्वस्य सर्वदा तद्विनिश्चयः॥ २८॥
स्वादृष्टवशतः पुंसां शाद्बज्ञानाविचित्रता।
व्यक्तेपि कार्त्स्न्यतः शद्बे भावे सर्वात्मके न किम्॥ २९॥

हम मीमांसकोंसे पूंछते हैं कि सभी भूत, भविष्य, वर्तमान, कालोंमें वर्त रहे नित्य शद्बका तथा लोक, अलोकमें सर्वत्र ठसाठस ठहर रहे व्यापक शद्बकी यदि सम्पूर्णरूपसे अभिव्यक्ति हो जाना आप इष्ट करेंगे? तो बताओ, सर्वदेशोंमें सर्वदा ही कर्ण इन्द्रियवाले सब जीवोंको उस शद्बका विशेषरूपसे निश्चय क्यों नहीं हो जाता है? जब कि एक स्थानपर अभिव्यंजक द्वारा शद्ब प्रकट हो चुका है, तो सर्वत्र, सर्वदा, सबको उस अखण्ड, निरंश शद्बके श्रवण करनेमें विलम्ब नहीं होना चाहिये। इसका उत्तर मीमांसक यदि यों कहें कि कृत्स्न (परिपूर्ण) रूपसे शद्बके अभिव्यक्त हो जानेपर भी जीवोंके अपने अपने पुण्य, पापके वशसे शद्बसम्बन्धी ज्ञान होनेकी विचित्रता हो जाती है। जैसे कि गुरु, पुस्तक, विद्यालय, प्रबन्ध, आदिके एकसा ठीक ठीक होनेपर भी छात्रोंके न्यारी न्यारी जातिके क्षयोपशम होनेसे व्युत्पत्तियोंकी विचित्रता हो जाती है। इस प्रकार मीमांसकोंके कहनेपर तो हम जैन आपत्ति देंगे कि जैसे शद्बको व्यापक और नित्य माना जाता है, वैसे ही लगे हाथ शद्बको सर्व पदार्थ आत्मक भी मानलिया जाय, अथवा सांख्य मत अनुसार " सर्वं सर्वात्मकं "

या " या सर्वं सर्वत्र विद्यते " कह दिया जाय। शद्बके घट, पट, जीव, सुखस्वरूप हो जानेपर या घट आदिके सर्वत्र व्यापक हो जानेपर भी अदृष्टके वशसे ही नियत व्यक्तिमें शद्बका ज्ञान तो हो ही जायगा। अतः अभाव पदार्थको नहीं मानकर सम्पूर्ण भावोंको सर्व आत्मक क्यों नहीं मानलिया जाय। यदि अपने अपने द्रव्य, भाव, अनुसार सभी पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें स्थित हो रहे माने जायंगे तो शद्ब, घट, सभी पदार्थ अपने परिमित देश और नियत कालमें तिष्ठ रहे निर्णीत करने चाहिये। बुभुक्षाके अनुसार ही पेट पसारना उचित है। अधिक भक्षी या सर्वभक्षीकी दुर्गति अवश्यम्भाविनी है।

देशतस्तदभिव्यक्तौ सांशता न विरुध्यते।
व्यंजकायत्तशद्बानामभिन्ने सकलश्रुतिः॥ ३०॥

यदि दूसरा विकल्प उठाकर मीमांसक उस शद्बकी साकल्येन अभिव्यक्ति नहीं मानकर एक देशसे अभिव्यक्ति होना मानेंगे, तब उक्त दोषका निवारण तो हो जायगा, किन्तु व्यंग्य शद्ब और व्यंजक वायु आदिमें अंशसहितपना बन बैठेगा, कोई विरोध नहीं आता है। अर्थात्— मृदंगके सौ दो सौ हाथ तक निकट देशमें शद्ब प्रकट हो जायगा, और अन्य सैकडों कोसोंमें भरा हुआ वह शद्ब अप्रकट बना रहेगा। ऐसी दशामें शद्बके अनेक अंश हुये जाते हैं, जो कि मीमासकोंने माने नहीं हैं। हां, हम स्याद्वादियोंके यहां शद्बको सांश माननेमें कोई विरोध नहीं आता है। व्यंजक वायुओंके अधीन होकर वर्त रहे शद्बोंको अभिन्न माननेपर तो सम्पूर्ण वर्णोंकी युगपद् (एकदम) श्रुति हो जायगी। एक विवक्षित देशमें सम्पूर्ण अकार, इकार, ककार आदि वर्णोंके प्रकट हो जानेसे मिला हुआ घिचिरपिचिर संकुल श्रवण होगा, जो कि कभी मेले, पैठ आदि अवसरोंमें कुछ दूरसे सुननेपर भले ही होय, किन्तु अन्य समयोंमें न्यारे न्यारे शुद्ध वर्णोंकी श्रुति होती रहती है। यह वर्णोंके अनित्य, अव्यापक, माननेपर ही घटित होता है।

तस्य क्वचिदभिव्यक्तौ व्यापारे देशभाक् स्वतः।
नानारूपे तु नानात्वं कुतस्तस्यावगम्यताम्॥ ३१॥
स्वाभिप्रेताभिलापस्य श्रुतेरन्योन्यसंश्रयः॥
सिद्धे व्यंजकनानात्वे विशिष्टवचसः श्रुतिः॥ ३२॥
प्रसिद्धायां पुनस्तस्यां तत्प्रसिद्धिर्हि ते मते।
यदि प्रत्यक्षसिद्धेयं विशिष्टवचसः श्रुतिः॥ ३३॥
शेमुषीपूर्वतासिद्धिर्वाचां किं नानुमन्यते।

यदि मीमांसक उस व्यंजकका शद्बके किसी ही अंशमें अभिव्यक्ति करनेके निमित्त व्यापार करना इष्ट करेंगे, तब तो वह शद्ब स्वतः ही छोटे छोटे देशोंको धारनेवाला हो गया निरंश नहीं रहा अथवा मीमांसक अखण्ड एक वर्णके अभिव्यंजक कण्ठ तालुओंसे अकार, इकार भागकी अभिव्यक्ति होना स्वीकार करेंगे, उकार ऋकारकी नहीं, तो भी शद्बमें स्वतः देश अंशोंका धारण करना प्राप्त हो गया। एक ही वर्णके इकार, अकार, उकार आदि नानास्वरूप स्वीकार करेंगे, तो उस शद्बका या उसके व्यंजकोंका अनेक रूपपना कैसे जाना जा सकेगा? उत्तर दो। यदि मीमांसक यह उत्तर कहें कि श्रोताओंको अपने अपने अभीष्ट हो रहे शद्बोंका श्रवण होता देखा जाता है। अतः वर्ण और उनके व्यंजक कारण अनेकरूप सिद्ध हो जाते हैं, इसपर तो हम तुम्हारे मतमें अन्योन्याश्रय दोष उठाते हैं कि व्यंजकोंका अनेकपना सिद्ध हो जानेपर तो विशिष्ट अनेक वचनोंका श्रवण होना सिद्ध होय और फिर विशेष विशिष्ट वचनोंका श्रवण प्रसिद्ध होनेपर तो उन व्यंजकोंका नानापन सिद्ध होय। यदि मीमांसक यों कहें कि विशिष्टवचनोंके सुननेको हम अनेक व्यंजकोंके अधीन मानकर नहीं साधते हैं, किन्तु यह विशिष्ट वचनोंका श्रवण तो सभी जीवोंको प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध है। अतः अन्योन्याश्रय दोष लागू नहीं होता है। इसपर तो हम जैन कहेंगे कि प्रत्यक्षप्रसिद्ध होनेके कारण ही वचनोंका मतिपूर्वकपना सिद्ध है, यह क्यों नहीं सरलतासे मान लिया जाता है? ।

ननु ज्ञाननिमित्तत्वं वाचामुच्चारणस्य नः ॥ ३४ ॥
सिद्धं नापूर्णरूपेण प्रादुर्भावः कदाचन ।
कर्तुरस्मरणं तासां तादृशीनां विशेषतः ॥ ३५ ॥
पुरुषार्थोपयोगित्वभाजामपि महात्मनां ।
नैवं सर्वनृणां कर्तुः स्मृतेरप्रतिषिद्धितः ॥ ३६ ॥
तत्कारणं हि काणादाः स्मरंति चतुराननं ।
जैनाः कालासुरं बौद्धा स्वाष्टकात्सकलाः सदा ॥ ३७ ॥

मीमांसक ही अपने पक्षका अवधारण करते जा रहे हैं कि " दर्शनस्य परार्थत्वात् " दर्शन यानी अभिधान तो दूसरोंके लिये हुआ करता है। अतः हमारे यहां वचनोंका उच्चारण करना दूसरोंके ज्ञानोंका निमित्तकारण माना गया है। अपूर्व नवीनस्वरूपसे बुद्धिद्वारा शब्दोंका कभी भी उत्पाद होना सिद्ध नहीं है। क्योंकि तिस प्रकारके उन अपौरुषेय वचनोंके बनानेवाले कर्त्ताका विशेषरूपसे स्मरण नहीं होता है। आत्माके पुरुषार्थ करनेमें उपयोगसहितपनेको धारनेवाले महात्मा-

वेदाध्ययनवाच्यत्वं वेदाध्ययनपूर्वताम् ॥ ४३ ॥
न वेदाध्ययने शक्तं प्रज्ञापयितुमन्यवत् ।

मीमांसक अनुमान बनाते हैं कि सर्व वेदाध्ययन (पक्ष) गुरु अध्ययनपूर्वकं (साध्य) वेदाध्ययनवाच्यत्वात् (हेतु) अधुनाध्ययनवत् (अन्वयदृष्टान्त) वेदोंका पढना सदासे ही गुरुओंके अध्ययनपूर्वक ही चला आ रहा है । क्योंकि उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदिसे सहित होकर वैदिक मंत्रोंका उच्चारणपूर्वक अध्ययन गुरुवर्यके शब्दोंसे ही कहा जाता है, जैसे कि वर्तमान कालमें परम्परासे चले आये गुरुओंसे ही वेदका अध्ययन हो रहा है । अर्थात्–जैसे मल्हार, भैरवी, सोहनी आदि रागोंका उच्चारण पूर्वगुरुओंको जो प्राप्त हुआ था, वह उसके पहिलेके गुरुओंकी आम्नायसे चला आया हुआ ही आजतक धारारूपसे वह रहा है । श्लोक, ग्रन्थ या लेने देनेके खातेको तो लिखकर भी हम स्वतंत्रतासे पढ सकते हैं । किन्तु स्वरोंका आरोह अवरोह या भिन्न भिन्नरूपसे अलौकिक उच्चारण करना तो गुरुपर्वक्रमसे ही प्राप्त हो सकता है । बहुतसे वाच्यका हम उच्चारण कर सकते हैं । किन्तु अनेक संकेत अक्षरविन्यास करके भी हम उनको पूर्णरूपसे लिख नहीं सकते हैं । गवैया लोगोंका भिन्न भिन्न रागोंका गाना यदि लिख लिया जाय तो सभी बढिया गवैया हो जायंगे । रोने या हंसने अथवा खांसीके शद्व तथा मृदंग घनगर्जन, तोता, घोडा, आदिके शद्व लेखनी, मषी, द्वारा लिखे नहीं जा सकते हैं । हां, दूसरोंसे सुनकर उनका कुछ अनुकरण मुखसे किया जा सकता है । यही दशा वैदिक शद्बोंकी है । वेदका अध्ययन गुरुओंकी परिपाटीसे ही प्राप्त होता है । अतः वैदिक शद्व अनादि अनिधन है । इस प्रकार मीमांसकोंके कहनेपर हम जैन कहते हैं कि वेदाध्ययन वाच्यपना हेतु वेदाध्ययन पक्षमें वेदाध्ययन पूर्वकपनेको बढिया समझानेके लिये समर्थ नहीं है । जैसे कि अन्य हेतु वेदाध्ययनपूर्वकपना साधनेके लिये समर्थ नहीं हैं । अथवा अन्य नैयायिक आदिकोंके यहां वेदका अध्ययन अनादिकालसे आरहा नहीं माना जा रहा है ।

यथा हिरण्यगर्भः सोऽध्येता वेदस्य साध्यते ॥ ४४ ॥
युगादौ प्रथमस्तद्वद्बुद्धादिः स्वागमस्य च ।
साक्षात्कृत्यागमस्यार्थं वक्ता कर्तागमस्य चेत् ॥ ४५ ॥
अग्निरित्यग्निरित्यादेर्वक्ता कर्ता तु तादृशः ।

जिस प्रकार मीमांसकोंद्वारा युगकी आदिमें वेदका सबसे प्रथम अध्ययन करनेवाला ब्रह्मा साधा जाता है, उसी प्रकार बुद्ध, कपिल, आदिक भी युगकी आदिमें अपने अपने आगमके अध्ययन करनेवाले माने जा रहे हैं । फिर वेदको ही अपौरुषेय माननेमें कौन ऐसा रहस्य

घुसा हुआ है ? बताओ। इसपर यदि मीमांसक यों कहें कि बुद्ध आदिक तो आगमके अर्थका विशद प्रत्यक्ष कर उस अर्थके वक्ता हैं। अतः वे तो आगमके बनानेवाले कर्ता ही समझे जायंगे, किन्तु वेदके हमारे माने हुये वक्ताओं द्वारा अतीन्द्रिय अर्थोका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। अतः वेदके अध्येता या अध्यापक केवल अनुवादक समझे जायेंगे। इस प्रकार मीमांसकोंके कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि वैदिक अग्नि शद्बका और लौकिक अग्नि इत्यादि शद्बोंका जो कोई वक्ता है, वही वक्ता अग्नि इस शद्बका कर्ता है। और तैसा ही अग्निशद्ब वेदमें सुना जा रहा है। अतः वहां भी तो वक्ता ही कर्ता समझा जायगा, अतः सहस्र शाखावाला वेद स्वर्गमें पहिले ब्रह्माकरके बहुत दिनतक पढा जाता है। फिर वहांसे उतर कर मनुष्यलोकमें मनु आदि ऋषियोंके लिये प्रकाश दिया जाता है। और फिर स्वर्गमें जाकर चिरकाल पढा जाता है। यह ब्रह्मा, मनु, आदिकी संतान अनादिसे चली आ रही मानना व्यर्थ है। जबतक मूलमें कोई अतीन्द्रिय अर्थोका विशद प्रत्यक्ष करनेवाला नहीं माना जायगा, तबतक अन्धपरम्परासे तैसा ज्ञान चला आना असम्भव है। मध्यकालवर्ती अनेक पण्डित या व्याख्याता रागी, द्वेषी, अज्ञानी, होते चले आये हैं, तभी तो हिंसा, अहिंसावादी, भावना-नियोगवादी, ब्रह्मकर्मवादी, आदिक भेद अभीतक अड्डा जमाये हुये हैं। अतः वर्ण, पद, समुदायस्वरूप वेदका कर्ता मानना अनिवार्य है।

पराभ्युपगमात्कर्ता स चेद्वेदे पितामहः ॥ ४६ ॥
तत एव न धातास्तु न वा कश्चित्समत्वतः ।
नानधीतस्य वेदस्याध्येतास्त्यध्यापकाद्विना ॥ ४७ ॥
न सोस्ति ब्राह्मणोत्रादाविति नाध्येतृतागतिः ।

यदि मीमांसक यों कहें कि बुद्ध, नैयायिक, आदिक दूसरे विद्वानोंने तो अपने अपने आगमके कर्ता स्वयं बुद्ध आदिक स्वीकार किये हैं। अतः दूसरोंके कहनेसे ही उन आगमोंका वह कर्ता माना जा चुका है। इस प्रकार कहनेपर तो हम स्याद्वादी कहेंगे कि वेदमें भी वैशेषिक विद्वान् ब्रह्माको कर्ता मानते हैं। इस अंशमें उनका स्वीकार करना क्यों नहीं मान लिया जाता है ? यदि मीमांसक यों कहें कि तिस ही कारण विधाता भी कर्ता नहीं रहो तथा और भी कोई वेदका कर्ता नहीं रहो, क्योंकि सब अतीन्द्रिय ज्ञानसे रहित होते हुये सम (एकसे) हैं। पहिले नहीं पढे हुये वेदका अध्ययन करनेवाला कोई भी छात्र तो पढानेवाले अध्यापकके विना अध्ययन नहीं कर पाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो मीमांसकोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि यहां इस युगकी आदिमें कोई ऐसा ब्राह्मण नहीं है, या ब्रह्मा सिद्ध नहीं है, जिसका कि पढनेवालापन जान लिया जाय। अतः वेदके अध्येतापनका ज्ञान नहीं हो सकता है।

स्वर्गेऽधीतान् स्वयं वेदाननुस्मृत्येह संभवी ॥ ४८ ॥
ब्रह्माध्येता परेषां वाध्यापकश्चेद्यथायथं ।
सर्वेऽपि कवयः संतु तथाध्येतार एव च ॥ ४९ ॥
इत्यकृत्रिमता सर्वशास्त्राणां समुपागता ।

मीमांसक कहते हैं कि स्वर्गमें जाकर स्वयं पढे जा चुके वेदोंको पीछे पीछे स्मरण कर यहां मर्त्यलोकमें ब्रह्मा वेदोंका अध्ययन करनेवाला संभव जाता है। और दूसरे मनु, याज्ञवल्कि आदि ऋषियोंका यथायोग्य अध्यापक भी हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि यदि मीमांसक यों कहेंगे तब तो तिसी प्रकार सम्पूर्ण कविजन भी स्वकृत काव्योंके पढनेवाले ही हो जाओ, अर्थात्—छोटे छोटे पुस्तक या श्लोकों अथवा पद्योंको बनानेवाले कवि लोगोंका भी ब्रह्माद्वारा अदृश्यरूपसे अध्यापन करना बन जाओ। इस प्रकार सम्पूर्ण छोटे बडे शास्त्रोंका अकृत्रिमपना अच्छे ढंगसे प्राप्त हो गया। छोटे, मोटे, छंद, गीत, कविता, गढनेवालोंकी तुकबन्दियां भी नित्य, अपौरुषेय, बन बैठेगीं, जो कि मीमांसकोंके यहां भी नित्य नहीं मानी गयीं हैं।

स्वयं जन्मांतराधीतमधीयामहि संप्रति ॥ ५० ॥
इति संवेदनाभावात्तेषामध्येतृता न चेत् ।
पूर्वानुभूतपानादेस्तदहर्जातदारकाः ॥ ५१ ॥
स्मर्तारः कथमेवं स्युस्तथा संवेदनाद्विना ।

गीत, छंद, ग्राम्यगीत, छोटी, बडी, पुस्तकोंको बनानेवाले विद्वानोंको तो इस प्रकारका सम्वेदन नहीं होता है कि अन्य पूर्वजन्ममें पढे जा चुके गीत आदिकोंको हम इस वर्तमान जन्ममें पढ रहे हैं। अतः उन कवियों या शास्त्ररचयिताओंको अध्येतापन नहीं है। इस प्रकार मीमांसकोंके कहनेपर तो हम आपादन करेंगे कि क्योंजी, यों तो तैसे सम्वेदनके विना उसी दिनके उत्पन्न हुये बच्चे फिर पहिले जन्मोंमें इष्ट साधकपनेसे अनुभूत किये गये स्तन्यपान, अपने मुखद्वारकी ओर दूधको ले जाना, हाथोंसे पकडनेका अनुसन्धान रखना, आदि क्रियाओंके स्मरण करनेवाले भला कैसे हो सकेंगे ? अर्थात्—पूर्वजन्मोंमें किये जा चुके कृत्योंका अब सम्वेदन होय तभी उसके अनुसार इस जन्ममें क्रियायें की जांय। ऐसा कोई नियम नहीं है। गहरी चोटके कारण स्थान, समय आदिका स्मरण होनेपर ही पीछे फोडेमें पीडा होय और उनका स्मरण नहीं होनेपर न होय, ऐसा नियम बांधना प्रतीतिविरुद्ध है। अतः सम्वेदन किये विना भी उत्तर जन्मोंमें पूर्वजन्मकी स्मृतियां उद्भूत हो सकती हैं। ऐसी दशामें सभी पुस्तकें, गीत आदिक नित्य, अकृत्रिम हो जायंगे।

स्मृतिर्लिंगविशेषाच्चेत्तेषां तत्र प्रसाध्यते ॥ ५२ ॥
कवीनां किं न काव्येषु पूर्वाधीतेषु सान्वया ।

यदि मीमांसक यों कहें कि वैदिक शब्दों और अर्थोंकी तो उन ब्रह्मा, मनु, आदिको विशेष रूपसे स्मृति होती है। अतः उत्तरजन्ममें विशेष सम्वेदन होनेके कारण उन मनु आदिकोंके उन वेदोंमें विशेष स्मृतिस्वरूप ज्ञापकलिंगसे पूर्वजन्मका अध्ययन प्रकृष्ट रूपसे अनुमान द्वारा साध दिया जाता है। किन्तु कवियोंको विशेषस्मृति नहीं होनेके कारण अपने बनाये गये गीत, कविता, आदिका पूर्वजन्मोंमें अध्ययन करना नहीं साध्य किया जासकता है। इस प्रकार कहनेपर तो हम कहेंगे कि कवियोंकी भी पूर्वजन्मोंमें पढे हुये ही वर्तमानकालीन काव्योंमें अन्वय सहित चली आरही, वह विशेष स्मृति क्यों नहीं मानली जाय ? कवि या भाटोंके बनाये हुये कवित्तोंमें भी पूर्व जन्मका अध्ययन कारण माना जा सकता है। तब तो वेदके समान वे छन्द भी अकृत्रिम हो जायंगे, बहुतसे वैदिकवाक्य भी तो गीतोंके समान हैं।

यदि ह्युत्पत्तिर्वर्णेषु पदेष्वर्थेष्वनेकधा ॥ ५३ ॥
वाक्येषु चेह कुर्वंतः कवयः काव्यमीक्षिताः ।
किं न प्रजापतिर्वेदान् कुर्वन्नेवं सतीक्षितः ॥ ५४ ॥
कश्चित्परीक्षकैर्लोकैः सद्भिस्तद्देशकालगैः ।
तथा च श्रूयते सामगिरा सामानि रुग्गिराट् ॥ ५५ ॥
ऋचः कृता इति केयं वेदस्यापौरुषेयता ।

यदि मीमांसक यों कहें कि अकार, ककार आदि वर्णोंमें या सुबन्त, तिङन्त, पदोंमें अथवा परस्परमें एक दूसरेकी अपेक्षा रख रहे पदोंके निरपेक्ष समुदायरूप वाक्योंमें इनके अर्थोंके होते सन्ते अनेक प्रकारसे उत्पत्ति होना देखा जाता है, और उन वर्ण, पद, वाक्योंकी जोड मिलाकर नवीन काव्यको करते हुये कविजन देखे गये हैं, अथवा इसी जन्ममें विशेष व्युत्पत्तिको प्राप्त कर कवि लोग नये नये काव्योंको बना देते हैं, यों काव्य, गीत आदिक पौरुषेय हैं, वेद ऐसे नहीं हैं। इस ढंगसे मीमांसकोंके कहनेपर हम जैनोंको कहना पडेगा कि इस प्रकार होनेपर तो ब्रह्मा भी वेदोंको कर रहा क्यों नहीं देखा गया कहा जाता है ? वेदोंके बनते समय उस देश, उस कालमें प्राप्त हुये रागद्वेषविहीन सज्जन लौकिक परीक्षकोंकरके वेदका कर्ता भी कोई पुरुष देखा गया है। वेद, वेदांग, श्रुति, स्मृति, पुराण, आदिक कोई भी अकृत्रिम नहीं हैं। और तिस प्रकार

सुना भी जाता है कि सामवेदकी वाणी करके साममंत्रोंको पढा जाता है। उससे अनेक रोगोंका निवारण हो जाता है। ऋग्वेदकी ऋचायें अमुक ऋषियोंके द्वारा बनायी गयीं हैं। वेदोंकी उत्पत्तिके लिये शुक्ल यजुर्वेदमें लिखा है कि "ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुषः सजातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥ १ ॥ तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्। पशूंस्तांश्चक्रेवायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये॥ २ ॥ तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांऽसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ ३ ॥ तस्मादश्वा अजायन्त येके चोभयपादतः। गावोह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः॥ ४ ॥ इस प्रकार श्रुतियें जब उत्पन्न हुयीं सुनी जा रही हैं, तो भला यह वेदका अपौरुषेयपना कहा रहा? सामवेदको गानेवाले या ऋचाओंके बनानेवाले यज्ञ आदि ही उनके कर्ता हैं।

प्रत्यभिज्ञायमानत्वं नित्यैकान्तं न साधयेत्॥ ५६ ॥
पौर्वापर्यविहीनेर्थे तदयोगाद्विरोधतः।
पूर्वदृष्टस्य पश्चाद्या दृश्यमानस्य चैकताम्॥ ५७ ॥
वेत्ति सा प्रत्यभिज्ञेति प्रायशो विनिवेदितम्।

वेदका नित्यपना सिद्ध करनेके लिये मीमांसक लोग प्रत्यभिज्ञान द्वारा जान लिया गयापन हेतु देते हैं। अर्थात्—वेद नित्य है, क्योंकि यह वही है, इस प्रकार एकत्व प्रत्यभिज्ञान सदासे वेदका होता चला आया है। इसपर हम जैनोंका विचार है कि वह प्रत्यभिज्ञानका विषयपना हेतु भी वेदके एकान्तरूपसे नित्यपनेको सिद्ध नहीं करावेगा। कारण कि पूर्व, अपर, अवस्थाओंसे रहित हो रहे कूटस्थ पदार्थमें उस एकत्व प्रत्यभिज्ञानके होनेका अयोग है। क्योंकि विरोध दोष आता है। कूटस्थ तो जैसाका तैसा ही रहेगा रोमाग्रमात्र भी पलट नहीं सकता है। पहिले यदि प्रत्यभिज्ञानका विषय नहीं था, तो प्रत्यभिज्ञान उठानेपर भी प्रत्यभिज्ञान द्वारा ज्ञेय नहीं हो सकता है। पहिले देखा जा चुकापन और अब देखा जा रहापन, ये परिवर्तित धर्म कूटस्थमें नहीं टिक सकते हैं। दृष्ट होगा तो दृष्ट ही रहेगा, और यदि दृश्यमान हो गया तो सदा दृश्यमान ही सबको बना रहेगा। पहिले कालमें देखे हुये पदार्थकी पीछे वर्तमानमें देखे जा रहे पदार्थके साथ एकताको जो ज्ञान जानता है, वह प्रत्यभिज्ञान है। इस प्रकार प्रायः कई बार हम पूर्व प्रकरणोंमें विशेषरूपसे निवेदन कर चुके हैं। अत कथंचित् पूर्व, उत्तर अवस्थाओंको थोडा पलटते हुये कालांतरस्थायी पदार्थमें प्रत्यभिज्ञान होना सम्भवता है।

दृष्टत्वदृश्यमानत्वे रूपे पूर्वापरे न चेत्॥ ५८ ॥
भावस्य प्रत्यभिज्ञानं न स्यात्तत्राश्वशृंगवत्।

तदनित्यात्मकः शब्दः प्रत्यभिज्ञानतो यथा ॥ ५९ ॥
देवदत्तादिरित्यस्तु विरुद्धो हेतुरीरितः ।

यदि मीमांसक यों कहें कि वैदिकशब्दोंकी पूर्वकालमें दृष्टता या श्रुतता और वैदिक शब्दों का वर्तमानमें दृश्यमानपना या श्रूयमाणपना ये दो स्वरूप कोई पहिले पीछेके नहीं हैं, ये तो केवल औपाधिक भाव हैं । अतः शब्दकी कूटस्थनित्यताका बालाग्र भी टूटना नहीं होता है । इस प्रकार उनके कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि यदि पदार्थोंको अपनी गांठके स्वरूपोंसे रहित माना जायगा, तब तो घोडेके सींग समान किसी भी पदार्थका वहां प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकेगा । यदि उन पदार्थोंमें प्रत्यभिज्ञान होना माना जायगा, तब तो उन कालांतरस्थायी पदार्थोंके पलट रहे उस पदार्थके स्वरूप ही माने जायंगे और तिस कारण कोई भी शब्द जिस प्रकार प्रत्यभिज्ञान होनेसे अनित्य आत्मक सिद्ध हो जाता है, उसी प्रकार देवदत्त, जिनदत्त, आकाश आदिक भी प्रत्यभिज्ञायमान हेतुसे नित्य, अनित्य आत्मक सिद्ध हो जाओ । इस प्रकार तो मीमांसकोंका प्रत्यभिज्ञायमानत्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास कह दिया गया समझना चाहिये । वस्तुतः विचारा जाय तो रसोई घरमें व्याप्ति ग्रहण किये जा चुके धूएंके सादृश्यसे पर्वतीय धूमकरके अग्निकी प्रतिपत्ति कर ली जाती है । उसी प्रकार सदृश शब्दोंसे उनके वाच्य अर्थोंका शाब्दबोध कर लिया जाता है । शब्द सर्व अनित्य हैं ।

दर्शनस्य परार्थत्वादित्यपि परदर्शितः ॥ ६० ॥
विरुद्धो हेतुरित्येवं शब्दैकत्वप्रसाधने ।

मीमांसकोंने यह कहा था कि उपाध्यायके कहे गये शब्दोंको शिष्य सुन रहा है । वाच्य अर्थका बोध करानेके लिये बोले गये शब्द तो दूसरोंके हितार्थ ही होते हैं । संकेतकालका शब्द ही व्यवहारकालमें बना रहेगा । तभी संकेत अनुसार शाब्दबोध करासकता है । अन्यथा संकेत ग्रहण किये गये शब्दसे न्यारे शब्दको सुनकर तो भ्रान्तज्ञान उत्पन्न हो जायगा । इस प्रकार शब्द-स्वरूप दर्शनका परार्थपना हो जानेसे शब्दका एकपना बढिया साधनेमें दिया गया । इस प्रकार " दर्शनस्य परार्थत्व " यह दूसरोंका दिखलाया गया हेतु भी विरुद्धहेत्वाभास है । क्योंकि शब्दके सादृश्यको लेकर वाक्यका अर्थबोध किया जा सकता है । सर्वथा नित्यपन इस अभीष्ट साध्यसे विरुद्ध हो रहे कथंचित् नित्य, अनित्यनपनके साथ व्याप्ति रखनेवाला उक्त हेतु है ।

ततोऽकृतकता सिद्धेरभावान्नयशक्तितः ॥ ६१ ॥
वेदस्य प्रथमोऽध्येता कर्तेति मतिपूर्वतः ।

पदवाक्यात्मकत्वाच्च भारतादिवदन्यथा ॥ ६२ ॥
तदयोगाद्विरुध्येत संगिरौ च महानसः ।
सर्वेषां हि विशेषाणां क्रिया शक्या वचोत्तरे ॥ ६३ ॥
वेदवाक्येषु दृश्यानामन्येषां चेति हेतुता ।
युक्तान्यथा न धूमादेरग्न्यादिषु भवेदसौ ॥ ६४ ॥
ततः सर्वानुमानानामुच्छेदस्ते दुरुत्तरः ।

तिस कारण नय या युक्तियोंकी शक्तिसे वेदके अकृत्रिमपनेकी सिद्धिका अभाव हो जानेसे वेद पौरुषेय सिद्ध हो जाता है । वेदका सबसे पहिले पढनेवाला विद्वान् ही (पक्ष) उसका कर्ता है (साध्य) मानस मतिज्ञान या उसके भी पूर्ववर्ती विद्वानोंके शास्त्रश्रवणरूप मतिज्ञानको पूर्ववर्ती कारण मानकर उत्पन्न होनेसे (हेतु) भारत, भागवतपुराण, रत्नकरण्ड आदि ग्रन्थोंके समान । अथवा दूसरा अनुमान यों कर लेना कि वेदका प्रथम अध्येता ही (पक्ष) वेदका कर्ता है (साध्य), पद, वाक्य, आत्मकपना होनेसे (हेतु) जैसे कि महाभारत, मनुस्मृति आदि ग्रन्थ सकर्तृक हैं । अर्थात्–मतिपूर्वकपना होने और वर्ण, पद, वाक्यस्वरूप होनेसे वेद पौरुषेय है । पुरुषके कण्ठ, तालु, आदि स्थान या प्रयत्नोंसे नवीन बनाया गया है । अन्यथा यानी वेदको सकर्तृक माने विना उस मतिपूर्वकपनेका और पद, वाक्य, आत्मकपनेका विरोध हो जावेगा (व्यतिरेक व्याप्ति), जैसे कि लम्बे चौडे पर्वतमें या बढिया पर्वतमें महानसका विरोध है, जिस कारण कि सम्पूर्ण विशेषोंकी क्रिया अन्य वचनोंमें की जा सकती है । भावार्थ—एक भ्रमण या गमनक्रियाको देखकर वैसी दूसरी क्रियाओंमें भी सादृश्यमूलक ज्ञान कर लिया जाता है । ये ही दशा वेदवाक्योंमें समझ लेनी चाहिये । वेदवाक्योंमें भी देखे गये (सुने गये) अथवा अन्य सदृशशब्दोंको भी शाब्दबोध ज्ञापक हेतुपना युक्त है । अन्यथा यानी सादृश्य अनुसार दूसरे हेतुओंको ज्ञापकहेतु नहीं माना जावेगा, तब तो अग्नि आदि साध्योंको साधनेमें दिये गये धूम आदिकोंको वह ज्ञापकहेतुपना नहीं बन सकेगा और तिस कारण तुम्हारे यहां सम्पूर्ण अनुमानोंका मूलोच्छेद हो जायगा । इसका उत्तर तुम अति कठिनतासे भी नहीं दे सकते हो । अतः श्रुतशब्दोंके सदृश शब्दोंको सुनकर भी शाब्दबोध हो जाता है । अतः वेदको अनित्य मानना ही श्रेष्ठ है ।

प्रमाणं न पुनर्वेदवचसोऽकृत्रिमत्वतः ॥ ६५ ॥
साध्यते चेद्भवेदर्थवादस्यापि प्रमाणता ।

यदि मीमांसक पुनः यों कहें कि वेदोक्त वचनोंको अकृत्रिमपना होनेसे प्रमाणपना साधा जाता है। ऐसा कहनेपर तो हम दिगम्बर जैन कहेंगे कि यों तो कर्मकाण्ड प्रतिपादक मंत्रोंकी स्तुति करनेवाले अर्थवाद वाक्योंको भी प्रमाणपना प्राप्त हो जावेगा। "सर्वज्ञः सर्ववित्" इत्यादि मंत्रोंकरके ज्योतिष्टोम आदि याज्ञकर्मोंकी स्तुति की गई है। हे कर्म! तुम सबको जाननेवाले हो, यज्ञकर्ता जीवोंको स्वर्ग आदिमे नियतरूप जानकर भेज देते हो, तुम अद्वैत हो, अनुपम हो, तुम्हारे समान कोई भी अनेक पदार्थ नहीं हैं। तुम्हारा ही श्रवण मनन, ध्यान, करना चाहिये, आदि। किन्तु सर्वज्ञ प्रतिपादक या अद्वैतप्रतिपादक वेदवाक्योंको मीमांसकोंने अनादिकालके अकृत्रिम होते हुये भी प्रमाण नहीं माना है। अतः व्यभिचारदोष हुआ।

अदुष्टहेतुजन्यत्वं तद्वत्प्रामाण्यसाधने।
हेत्वाभासनमित्युक्तमपूर्वार्थत्वमप्यदः॥ ६६॥

मीमांसकों द्वारा वेदवचनको प्रमाणपना साधनेमें दिया गया दुष्ट हेतुओंसे अजन्यपना हेतु भी उसी अकृत्रिमपन हेतुके समान व्यभिचारी हेत्वाभास है। यह भी उक्त कथनकरके कह दिया गया समझो। अर्थात्—निर्दोष हेतुओंसे जन्यपना यह भावप्रधान अर्थ अपौरुषेय वेदमें नहींका नञ्को जन्य पदमें अन्वितकरके अदुष्टहेतुजन्यत्वका अर्थ दुष्ट हेतुओंसे नहीं जन्यपना वेदवाक्योंमें धरा जायगा तो भी अर्थवाद (स्तुतिपरक वैदिकमंत्र) वाक्योंकरके व्यभिचार तदवस्थ रहा तथा वह अपूर्व अर्थोका ग्राहकपना हेतु भी वेदके प्रामाण्यको नहीं साध सकता है। अर्थवाद वाक्योंसे व्यभिचार दोष आता है। स्तुतिवाक्य भी तो नवीन अपूर्व अर्थोंको विषय करनेवाले हैं। अतः अनेक वादियोंके यहा इष्टप्रमाणोंमें प्रमाणताको साधनेके लिये प्रयुक्त किये जा रहे अकृत्रिमपन, अदुष्टहेतुजन्यत्व, अपूर्वार्थ ग्राहकपन, ये तीन ज्ञापक हेतु तो वेदवचनोंको प्रमाणपना साधनेमें दूषित कर दिये गये हैं।

बाधवर्जितता हेतुस्तत्र चेल्लैंगिकादिवत्॥ ६७॥
किमकृत्रिमता तस्य पोष्यते कारणं विना।

उन वेद वचनोंमें प्रमाणपना साधनेके लिये बाधवर्जितपना हेतु यदि कहा जायगा तब तो हम जैन कहेंगे कि लिंगजन्य अनुमान या प्रत्यक्षप्रमाण आदिके समान वेद वचनोंके अनित्य होते हुये भी प्रमाणपना सरलतया निर्वाहित हो सकता है। फिर विनाकारण ही उस वेदका अकृत्रिमपना क्यों पुष्ट किया जा रहा है? बताओ। अर्थात्—मीमांसकों द्वारा वेदको प्रामाण्य साधनेके लिये वैदिक शब्दोंकी नित्यता या अकृत्रिमपना साधा जा रहा है। किन्तु वेदको नित्य नहीं मानते हुये भी अनित्य या कृत्रिम अनुमान, प्रत्यक्ष, अर्थापत्ति आदिकी प्रमाणताके समान वेद भी अनित्य होकर

प्रमाण बन जायगा, कोई क्षति नहीं दीखती है। कारणके विना ही वेदके ऊपर अकृत्रिमपनेका अशोभन बोझ क्यों व्यर्थ लादा जाता है ? अनुमान आदिके समान वैदिक वचनोंमें भी अपने बाधक कारणोंका रहितपना प्रमाणताका सम्पादक है।

पुंसो दोषाश्रयत्वेन पौरुषेयस्य दुष्टता ॥ ६८ ॥
शक्यते तज्जसंवित्तेरतो बाधनशंकनं ।
निःसंशयं पुनर्बाधवर्जितत्वं प्रसिध्यति ॥ ६९ ॥
कर्तृहीनवचो वित्तेरित्यकृत्रिमतार्थकृत ।
परेषामागमस्येष्टं गुणवद्वक्तृकत्वतः ॥ ७० ॥
साधीयसीति यो वक्ति सोपि मीमांसकः कथं ।
समत्वादक्षलिंगादेः कस्यचिद्दुष्टता दृशः ॥ ७१ ॥
शद्बज्ञानवदाशंकापत्तेस्तज्जन्मसंविदः ।
मिथ्याज्ञाननिमित्तस्य यद्यक्षादेस्तदा न ताः ॥ ७२ ॥
तादृशः किं न वाक्यस्य श्रुत्याभासत्वमिष्यते ।

मीमांसक कहते हैं कि जगत्के पुरुष तो राग, द्वेष, अज्ञान, स्वार्थ, पक्षपात, ईर्षा आदि अनेक दोषोंके आश्रय हो रहे हैं। अतः पुरुषोंके प्रयत्नोंसे उत्पन्न हुये पौरुषेय वचनोंको दुष्टता है। शद्बोंको बनानेवाले हेतु पुरुष दुष्ट हैं। अतः ऐसे उन दोषयुक्त हेतुओंसे उत्पन्न हुये शाद्ब-बोधके बाधकोंकी शंका की जा सकती है। सच पूंछो तो संशयरहित होकर बाधवर्जितपना तो फिर कर्ताहीन अपौरुषेय वचनोंसे उत्पन्न हुयी सम्वित्तिको ही प्रसिद्ध हो रहा है। इस कारण वेदका अकृत्रिमपना विशेष प्रयोजनका साधन कर रहा है। वेदका अकृत्रिमपना व्यर्थ नहीं है। पुरुषको कर्ता माननेपर बाधकोंकी या दोषोंकी शंका रही आती है। किन्तु " न रहे बास और न बजे बासुरी " इस लोकनीतिके अनुसार वेदका कर्ता ही नहीं मानना श्रेष्ठ मार्ग है। दूसरे वादी जैनोंके यहां आगमका गुणवान् वक्ता द्वारा उच्चारित शद्बोंसे जन्यपना होनेके कारण प्रमाणपना इष्ट किया गया है। इस क्लेशसाध्य मार्गकी अपेक्षा वेदका अकृत्रिमपना अधिक श्रेष्ठ है। मायावी, बकभक्त और फटाटोप दिखानेवाले पुरुष इस जगत्में बहुत हैं। गुणवान् पुरुषोंका निर्णय करना दुःसाध्य है। दोषोंकी सम्भावना उनमें बनी रहती है। तभी तो हमने वेदोंको नित्य मानलिया है।

" आख फूटी पीर गयी " । ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार जो प्रतिवादी कह रहा है, वह भी समीचीन विचार करनेवाला मीमांसक कैसे समझा जाय ? यों स्थूलबुद्धिवाले पुरुषों द्वारा किसी पदार्थका दुःसाध्यपन निर्णय हो जानेसे तो परमाणु पुण्य, पाप, आकाश, आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंकी भी जड कट जायगी । अतः प्रमाणपना साधनेके लिये अकृत्रिमपनेपर अधिक बल मत डालो । नहीं तो प्रत्यक्षके कारण इन्द्रिया और अनुमानके कारण ज्ञापक हेतु तथा उपमानके कारण सादृश्य आदिकको भी समानपनेसे नित्यता माननेका प्रसंग आजावेगा । किसी दोषी पुरुषके द्वारा बोले गये शद्बसे उत्पन्न हुये ज्ञानसमान किसी किसी पुरुषोंके नेत्रोंके भी चाकचक्य, कामल, आदि दोषोंसे सहितपना देखा जाता है । कोई कोई हेतु अविनाभावरहित देखे गये हैं । सदृशपना भी कहीं दोषयुक्त देखा जाता है । अतः उन चक्षु, लिंग, सादृश्य आदिसे उत्पन्न हुये सभी ज्ञानोंको अप्रमाणपनकी आशकाका प्रसंग प्राप्त हो जायगा । तब तो मीमांसकों द्वारा इन्द्रियालिंग आदिको भी नित्य माननेके लिये कमर कसनी पडेगी । किन्तु मीमांसकोंने इन्द्रिय आदिकोंको नित्य नहीं माना है । " त्याज्या न यूकाभयतो हि शाटी " जुआंके डरसे धोती पहरना नहीं छोडा जाता है । यदि मीमांसक यों कहें कि मिथ्याज्ञानके निमित्त हो रहे अक्ष, लिंग आदिकसे समीचीन ज्ञानके कारण अक्ष आदिक न्यारे हैं । अतः समीचीन अनित्य चक्षु आदिकोंसे उत्पन्न हुयीं वे सम्वित्तियां दुष्ट कारणजन्य नहीं हैं । हा, दुष्ट इन्द्रिय आदिकोंसे उत्पन्न हुये प्रत्यक्ष आदिक तो प्रत्यक्षाभास, अनुमानाभास, उपमानाभास कहे जाते हैं । तब तो हम जैन कह देंगे कि तिस प्रकारके दोषयुक्त पुरुषोंके वाक्योंको भी श्रुति आभासपना क्यों नहीं इष्ट कर लिया जाय ? दोषयुक्त पुरुषोंके वाक्यसे उत्पन्न हुआ ज्ञान श्रुताभास है । अथवा वेदकी श्रुतियां भी जो बाधासहित अर्थोको कर रही है, वे श्रुति--आभास हैं । सर्वत्र सदोष निर्दोष, गुणी गुणरहित, सज्जन दुर्जन, पापी पुण्यवान्, सबाध निर्बाध पदार्थ पाये जाते हैं । विवेकी पुरुष उक्त कारणोंका विवेचन सुलभतासे कर लेते हैं । अतः अक्ष, लिंग आदिके समान वैदिक शद्बोंको भी नित्य माननेकी आवश्यकता नहीं । हा, निर्दोष कारणसे जन्यपना और बाधारहितपना वचनोंमें ढूंढ लेना चाहिये ।

गुणवद्वक्तृकत्वं तु परैरिष्टं यदागमे ॥ ७३ ॥
तत्साधनांतरं तस्य प्रामाण्ये कांश्चन प्रति ।
सुनिर्बाधत्वहेतोर्वा समर्थनपरं भवेत् ॥ ७४ ॥
तन्नो न पौरुषेयत्वं भवतस्तत्र तादृशं ।

अदुष्टकारण जन्यत्वमें नञ्का अर्थ पर्युदासग्रहण करनेपर गुणवान् है वक्ता जिसका, ऐसा गुणवत् वक्तृकपना तो दूसरे स्याद्वादी विद्वानोंकरके आगममें जो इष्ट किया गया है, अथवा कृत्रिम,

स्मृति, जैमिनी सूत्र आदि आगमोंमें दूसरे मीमांसकोंने गुणवान् वक्ताके द्वारा प्रतिपादितपना जो अभीष्ट किया है, वह तो वेदका किन्हीं किन्हीं विद्वानोंके प्रति प्रमाणपना साधनेमें एक दूसरा साधन उपस्थित हो जाता है। अथवा भले प्रकार जानलिये गये बाधारहितपन हेतुसे भी उस प्रमाणपनको साधनेवाले ज्ञापकोंका उत्कृष्ट समर्थन हो जावेगा। तिस कारण हमारे यहां और आपके यहां तिस सारिखा दूषित कारणजन्य या बाधासहित पौरुषेयपना वहा समीचीन श्रुतमें नहीं माना जाय। हां, अदुष्टकारणजन्यत्व, अपूर्वार्थत्व, बाधावर्जितत्व उस सदागममें घटित हो जाते हैं, जिसका कि वक्ता गुणवान् पुरुष है। वही कहा गया है कि " तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्। अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् "।

मंत्रार्थवादनिष्ठस्यापौरुषेयस्य बाधनात् ॥ ७५ ॥
वेदस्यापि पयोदादिध्वनेर्नैष्फल्यदर्शनात् ।

कर्मप्रतिपादक मंत्रोंकी प्रशंसा करनेमें श्रद्धा लगा रहे अर्थवाद मंत्रोंके अपौरुषेयताकी बाधा हो जाती है। वे अपौरुषेय होते हुये भी बाधारहितपन नहीं होनेके कारण तुम्हारे यहा प्रमाण नहीं माने गये हैं। तथा अपौरुषेयपना कोई प्रमाणताका साधक नहीं है। चोरी, व्यभिचार, आदि कुकर्मोंके उपदेश या गाली, कुवचन, आदि भी दुष्टसम्प्रदाय अनुसार सदासे चले आरहे हैं। एतावता ही उनमें प्रामाण्य नहीं आजाता है। बादलोंका गर्जना, बिजलीका कडकना, समुद्रका पूत्कार करना इत्यादि ध्वनियोंका निष्फलपना देखा जाता है। अत. तुम्हारे माने हुये अपौरुषेय वेदको भी निष्फलपना प्राप्त होगा अकृत्रिमपना या प्राचीनता अथवा अर्वाचीनता कोई समीचीनताके प्रयोजक नहीं हैं। पुरुषोंके द्वारा नहीं बनाये गयेपनका शब्दोंमें कोई मूल्य नहीं है। आधीमें या वृक्ष गिरनेमें अनेक अपौरुषेय शब्द व्यर्थ होते रहते हैं। कोई कानी कोडीमें भी नहीं पूंछता है।

सत्यं श्रुतं सुनिर्णीतासंभवद्बाधकत्वतः ॥ ७६ ॥
प्रत्याक्षादिवदित्येतत्सम्यक् प्रामाण्यसाधनं ।
कदाचित्स्यादप्रमाणं शुक्तौ रजतबोधवत् ॥ ७७ ॥

अत॰ यहांतक यह सच्चा सिद्धान्त पुष्ट हुआ कि शब्द आत्मक या ज्ञान आत्मक श्रुत (पक्ष) सत्य है, (साध्य) बाधकोंके असम्भव होनेका भले प्रकार निर्णय किया जा चुका होनेसे (हेतु), प्रत्यक्ष, अनुमान आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त) इस प्रकार यह प्रमाणपनेका साधन समीचीन है। अर्थात्—शास्त्रोंकी समीचीनताको साधनेके लिये बाधकोंके असम्भवका अच्छा निर्णय होना रूप हेतु निर्दोष है। हा, कभी कभी झूंटे शास्त्र अप्रमाण भी हो जाते हैं। जैसे कि सीपमें हुआ

चांदीका ज्ञान (प्रत्यक्षाभास) अप्रमाण है। जो श्रुत प्रमाण नहीं है, उसमें बाधकोंका उत्थान हो जाता है। जैसे कि सीपमें हुये चांदीके ज्ञानमें " यह चादी नहीं है " इस प्रकारका बाधक-प्रमाण उठ बैठता है (व्यतिरेकदृष्टान्त)।

नापेक्षं संभवद्बाधं देशकालनरांतरं।
स्वेष्टज्ञानवदित्यस्य नानैकांतिकता स्थितिः॥ ७८॥

मीमांसकोंके यहां अपने अभीष्ट प्रत्यक्ष आदि ज्ञानोंमें जैसे बाधकोंकी सम्भावना नहीं है। उसी प्रकार समीचीन श्रुतमें भी देशान्तरमें या दूसरे कालोंमें अथवा अन्य पुरुषोंकरके बाधायें सम्भवनेकी अपेक्षा नहीं है। अग्नि यहां उष्ण है तो सम्राट् या इन्द्रके यहां भी उष्ण मिलेगी। ढेंकी यदि स्वर्ग या नरकमें भी चली जाय तो वहां भी कूटनेका काम करेगी। इस कालमें जैसे हितैषी पुरुष परोपकार करते हैं, कालान्तरोंमें भी वे या वैसे पुरुष परोपकृतिपरायण रहते हैं। आधुनिक ऐहिक पुरुषोंके समान देशान्तर, कालान्तरके मनुष्य भी एकसी प्रमाणपन, अप्रमाणपनेकी व्यवस्था करते हैं। अतः समीचीन श्रुत तो सभी देश सम्पूर्णकाल और अखिल व्यक्तियोंकी अपेक्षासे बाधारहित है। अतः सुविश्चतासम्भवद्बाधकपन इस हेतुके व्यभिचारीपनकी व्यवस्थिति नहीं हो सकी।

न च हेतुरसिद्धोयमव्यक्तार्थवचोविदः।
प्रत्यक्षबाधनाभावादनेकांते कदाचन॥ ७९॥
अनुमेयेऽनुमानेन बाधवैधुर्यनिर्णयात्।
तृतीयस्थानसंक्रांते त्वागमावयवेन च॥ ८०॥

और यह असम्भवद्बाधकपना हेतु असिद्ध हेत्वाभास भी नहीं है। यानी पक्षमें ठहर जाता है। अव्यक्त यानी अविशदरूपसे अर्थको कहनेवाले वचनोंसे उत्पन्न हुये श्रुतज्ञानकी प्रत्यक्ष प्रमाणों द्वारा बाधा हो जानेका अभाव है। समीचीन शास्त्रद्वारा कहे गये अनेकान्तमें किसी कालमें भी प्रत्यक्षप्रमाणोंसे बाधा उपस्थित नहीं होती है। अनेकान्तवादी जैनों द्वारा शास्त्रसिद्ध अनेकान्तका अनुमान करलिया जाता है। अतः अनुमान प्रमाणसे जानलिये गये अनेकान्तमें अनुमानकरके भी बाधा आजानेके रहितपनेका निर्णय हो रहा है। और प्रत्यक्ष, अनुमान इन दो प्रमाणोंसे न्यारे तीसरे आगमगम्य स्थानमें संक्रान्त हो रहे प्रमेयमें तो आगम प्रमाणोंके भागोंकरके बाधारहितपनेका निर्णय हो रहा है। भावार्थ—प्रत्यक्ष योग्य, अनुमानगोचर और आगमविषय पदार्थोंमें प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, प्रमाण तो प्रत्युत श्रुतके साधक हो रहे हैं। वे समीचीन श्रुतके कभी बाधक नहीं हैं। पहिले प्रत्यक्षित और दूसरे अनुमेय पदार्थोंसे अतिरिक्त हो रहे परोक्ष, अत्यन्तपरोक्ष, सम्पूर्ण

पदार्थोंको तृतीय स्थान आगमप्रमाणसे घेर लिया गया माना है। अतः स्याद्वादियो
श्रुतज्ञानका कोई भी बाधक नहीं है। अतः बाधारहितपना ही श्रुतकी सत्यताका ज्ञापक

परागमे प्रमाणत्वं नैवं संभाव्यते सदा।
दृष्टेष्टबाधनात्सर्वशून्यत्वागमबोधवत् ॥ ८१ ॥

दूसरे नैयायिक, मीमांसक आदि पण्डितोंके स्वीकार किये गये आगममें प्रमा
नहीं सम्भावित हो रहा है। क्योंकि उन दूसरोंके आगमोक्त तत्त्वोंमें प्रत्यक्ष, अनुमान,
करके बाधा उपस्थित होती है। जैसे कि सभी पदार्थोंके शून्यपने या उपप्लुतपनेको पु
आगमज्ञानोंकी प्रमाणता इन प्रत्यक्ष अनुमानोंसे बाधित है। युक्ति, तर्क, शास्त्र, अनु
रहित वचनोंको कहनेवाले वे प्रसिद्ध भगवान् श्रीअर्हत देव ही निर्दोष, होकर सर्वज्ञ
देवका प्रतिपादित किया गया आगम ही प्रमाण है। श्री जिनेन्द्रदेवके मतरूपी अमृत
चखाकर बाह्य हो रहे हैं, या अपने आप्तके अभिमानमें दग्ध हो रहे हैं, उनक
प्रत्यक्षसे ही बाधित है। भुरसा पुरुष यदि अमृत औषधिसे दूर भाग जाय तो उसके
बाधा पड रही सबको दीखती है।

भावाद्येकांतवाचानां स्थितं दृष्टेष्टबाधनं।
सामंतभद्रतो न्यायादिति नात्र प्रपंचितम् ॥ ८२ ॥

कपिल, शून्यवादी, नैयायिक, अद्वैतवादी बौद्ध, मीमांसक, वैशेषिक, आदि
द्वारा माने गये भावएकान्त, अभावएकान्त, भेदएकान्त, अभेदएकान्त, क्षणिकएकान्त
आदि एकान्तोंको प्रत्यक्ष, अनुमान, आदि प्रमाणोंसे बाधा आ जाना व्यवस्थित हो रहा
जीवोंको चारों ओरसे कल्याण करनेवाले श्री समन्तभद्राचार्यकी देवागमस्तोत्रमें कई
एकान्तवचनोंका प्रमाणोंसे बाधित हो जाना जैसे कि प्रसिद्ध हो रहा है। इस
प्रकरणमें हमने अधिक विस्तारपूर्वक विचार नहीं चलाया है। भगवान् समन्तभद्राच

तथा उसीके समान और भी यथायोग्य अवसरपर आगे इस ग्रन्थमे भी श्री गुरुवर्य समन्तभद्रस्वामीकी शिक्षाके अनुसार वह विस्तार कर दिया जावेगा। इस तत्त्वार्थ–मोक्षशास्त्रमें प्रतिपादित किये गये और परमागमके विषयभूत हो रहे सूक्ष्मतत्त्वोंका सब स्थलोंपर युक्तिकरके साधन कर दिया जावेगा। अतः मीमांसक, नैयायिक आदिकोंके माने हुये आगमप्रमाण युक्त नहीं हैं। स्याद्वादियोंकरके कहा गया द्रव्यश्रुत और भावश्रुत श्रेष्ठयुक्तियोंसे सिद्ध हो जाता है।

प्रोक्तभेदप्रभेदं तच्छ्रुतमेव हि तद्दृढं।
प्रामाण्यमात्मसात्कुर्यादिति नश्चिंतयात्र किम् ॥ ८४ ॥

वह श्रुत ही इस सूत्रमें दो, अनेक, बारह भेद प्रभेदोंसे युक्त होता हुआ भले प्रकार कह दिया गया है। और वह श्रुत ही नियमकरके दृढ प्रमाणपनेको अपने अधीन कर सकेगा। इस प्रकार अब यहां हमको अधिक चिन्ता करके क्या प्रयोजन पडा है? भावार्थ—अधिक परिश्रमके विना ही जब जैनेन्द्राभिमत द्रव्य, भाव, श्रुत सिद्ध हो जाते हैं तो इसके लिये हमको अधिक चिन्ता नहीं करनी चाहिये।

तदेवं श्रुतस्यापौरुषेयतैकांतमपाकृत्य कथंचिदपौरुषेयत्वेपि चोदनायाः प्रामाण्यसाधनासंभवं विभाव्य स्याद्वादस्य च सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वं प्रामाण्यसाधनं व्यवस्थाप्य सर्वथैकांतानां तदसंभवं भगवत्समंतभद्राचार्यन्यायाद्भावाद्येकांतनिराकरणप्रवणादावेद्य वक्ष्यमाणाच्च न्यायात्संक्षेपतः प्रवचनप्रामाण्यदार्ढ्यमवधार्य तत्र निश्चितं नामात्मसात्कृत्य संप्रति श्रुतस्वरूपप्रतिपादकमकलंकग्रंथमनुवादपुरस्सरं विचारयति।

तिस कारण इस प्रकार श्रुतकी मीमांसकों द्वारा गढी गयी अपौरुषेयताके एकान्तका खण्डन कर और विधि लिङन्त वेदवाक्योंके अपौरुषेयपना होते हुये भी कैसे भी प्रामाण्यकी सिद्धिके असम्भवका विचार कर तथा स्याद्वादसिद्धान्तके ही प्रमाणपनेकी वस्तुभूत साधन हो रही भले प्रकार निश्चित कियी गयी बाधकोंकी असम्भवताको व्यवस्थापित कर एवं च सर्वथा एकान्तवादोंको उस प्रामाण्यके असम्भवका भाव, अभाव, नित्यपन, अनित्यपन, आदि एकान्तोंके निराकरण करनेमें प्रवीण हो रहे भगवान् श्री समन्तभद्राचार्यके न्यायसे निवेदन कर और भविष्यमें सामन्तभद्रकी शिक्षा अनुसार कहे जानेवाले न्यायसे संक्षेपकरके यथार्थ प्रवचनके प्रमाणपनकी दृढताका निर्णय कराकर उसमें निश्चितपनेको भला अपने अधीन कर, अब इस समय श्रुतके स्वरूपको प्रतिपादन करनेवाले श्री अकलंकाचार्यके ग्रन्थका अनुवादपूर्वक विचार करते हैं। भावार्थ—यहांतक श्रुतकी अपौरुषेयताका खण्डन करा दिया गया है। वेदको अपौरुषेय माननेपर भी मेघध्वनि आदिके समान प्रमाणपनेकी सिद्धि होना असम्भव है। इसका भी विचार कर दिया गया है। तथा

स्याद्वादियोंके आगमको ही प्रमाणपनेकी सिद्धि होती है। बाधकप्रमाणोंके असम्भवका भले प्रकार निश्चित हो जाना ही प्रमाणपनेका प्रयोजक साधन है। यह व्यवस्था करा दी गयी है। सर्वथा एकान्तोंमें वैसा प्रमाणपना असंभव है। भगवान् श्री समन्तभद्राचार्यकी भावादि एकान्तोंके निराकरणमें प्रवीण हो रही नीतिसे और भविष्यमें कही जानेवाली नीतिसे सर्वथा एकान्तोंमें प्रमाणता सिद्ध नहीं हो पाती है। अतः चारों ओर कल्याणोंको प्रसारनेवाले न्यायसे आर्हत प्रवचनको ही प्रमाणपना दृढ निर्णीत किया जाता है। यह सक्षेपसे हमने कह दिया है। उस मर्माचीन श्रुतके भेद प्रभेद उक्त सूत्र अनुसार समझ लेने चाहिये। प्रामाण्यका निश्चय वहां भले प्रकार आत्मा अधीन किया जाकर अब श्री अकलंक देवके ग्रन्थका अनुवाद करते हुये विचार चलाते हैं। इस प्रकार ल्यप् प्रत्ययवाले छह न्यारे न्यारे वाक्य बनाकर उक्त कथनका उपसंहार करदिया है। और भविष्य कथनकी प्रतिज्ञा कर दी है। अब यहां दूसरे प्रकरणका आरम्भ किया जाता है।

अत्र प्रचक्षते केचिच्छ्रुतं शद्बानुयोजनात् ।
तत्पूर्वनियमाद्युक्तं नान्यथेष्टविरोधतः ॥ ८५ ॥
शद्बानुयोजनादेव श्रुतं हि यदि कथ्यते ।
तदा श्रोत्रमतिज्ञानं न स्यान्नान्यमतौ भवम् ॥ ८६ ॥
यद्यपेक्ष्य वचस्तेषां श्रुतं सांव्यवहारिकं ।
स्वेष्टस्य बाधनं न स्यादिति संप्रतिपद्यते ॥ ८७ ॥

यहां कोई अकलंक देव ऐसा कह रहे हैं कि शद्बकी पीछे योजना लग जानेसे वह ज्ञान श्रुत हो जाता है। इसपर हम दो विकल्प उठाते हैं कि शद्बकी योजना कर देनेसे श्रुत ही होता है ? अथवा श्रुतशद्बकी अनुयोजनासे ही हो जाता है ? श्रुत ही शद्बकी योजनासे होता है, इस प्रकार पहिला नियम करनेसे तो श्री अकलकदेवका कहना युक्तिपूर्ण है। कोई विरोध नहीं है। शद्बकी योजना करनेके पीछे जो कोई वाच्य अर्थके ज्ञान गुरु या शिष्यके होंगे वे सब श्रुतज्ञान ही तो हैं। यदि अन्यथा यानी शद्बकी अनुयोजनासे ही श्रुत होता है, ऐसा उत्तर अवधारण लगाया जायगा, तब तो इष्टसिद्धान्तसे विरोध पड़ेगा। क्योंकि श्रुतज्ञानको यदि शद्बकी अनुयोजना करनेसे ही श्रुतपना कहा जायगा, तब तो श्रोत्र इन्द्रियजन्यज्ञान मतिज्ञान नहीं हो सकेगा। क्योंकि शद्बके श्रावणप्रत्यक्षको श्रोत्र मतिज्ञान कहते हैं। उसमें शद्बकी योजना लग जानेसे तो वह श्रुत बन बैठेगा। दूसरी बात यह है कि ज्ञानमें घट है, पट है, पण्डित है,

चेला है, काला है, नीला है, आदि शद्वोंकी योजनासे ही यदि श्रुतपना व्यवस्थित किया जायगा तो श्रोत्रसे अन्य चक्षु, रसना, घ्राण, आदि इन्द्रियजन्य मतिज्ञानोंको निमित्त पाकर उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान नहीं हो सकेगा। भावार्थ—शद्वकी योजनासे ही यदि श्रुत समझा जायगा, तब तो श्रोत्र मतिपूर्वक ही श्रुत होगा। चक्षु आदि मतिपूर्वक श्रुत नहीं हो सकेगा। किन्तु ये बात जैनसिद्धान्तके विरुद्ध पडती है। हां, शद्वकी योजनासे ही श्रुत होता है। इस प्रकार उन अकलंकदेवके वचन यदि समीचीन व्यवहारकी अपेक्षा करके बखाने गये हैं तब तो अपने इष्टसिद्धान्तको बाधा नहीं आ सकेगी। क्योंकि अन्य इन्द्रियजन्य मतिज्ञानोंको निमित्त-कारण मानकर होते हुये श्रुतज्ञान भी भले प्रकार जाने जा रहे हैं। बात यह है कि श्रुतमें शद्व योजनाका नियम करना आवश्यक नहीं है। अवाच्य पदार्थोंके अनेक श्रुतज्ञान होते हैं। स्पर्शन आदि इन्द्रियोंसे अर्थोंका मतिज्ञान कर अनन्त अर्थान्तरोंका ज्ञान होता है। वह सब श्रुत ही है। उपशम श्रेणी, क्षपकश्रेणीमें जो ध्यान हो रहे हैं, वे सब श्रुतज्ञानके समुदाय हैं। वहां शद्व नहीं बोले जा रहे हैं। शोकग्रस्त, वेदनापीडित या मनमें कळपते हुये मनुष्यको शद्वयोजनाके विना ही असंख्य श्रुत हो रहे हैं।

न सोस्ति प्रत्ययो लोके यः शद्वानुगमादृते।
इत्येकांतं निराकर्तुं तथोक्तं तैरिहेति वा ॥ ८८ ॥
ज्ञानमाद्यं स्मृतिः संज्ञा चिंता चाभिनिबोधिकं।
प्राग्नामसंश्रितं शेषं श्रुतं शद्वानुयोजनात् ॥ ८९ ॥

अथवा शद्वाद्वैतवादी कहते हैं कि लोकमें ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं है जो कि शद्वके पीछे पीछे अनुगमन करनेके विना ही हो जाय, सभी ज्ञान और ज्ञेय शद्वमें अनुविद्ध हो रहे हैं। इस प्रकारके शद्वैकान्तका निराकरण करनेके लिये यहां उन अकलंक देवने तिस प्रकार शद्वकी योजनासे पहिले तक मतिज्ञान होता है। और पीछे शद्वकी योजना लगा देनेसे श्रुतज्ञान हो जाता है। ऐसा कहा है, सो अकलंककथन ठीक ही है। इन्द्रियोंद्वारा स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, शद्व, सुख आदिके ज्ञान तो मतिज्ञान हैं। और यह उससे कोमल है, यह उससे अधिक मीठा है, यह उससे न्यून काला है, यह कस्तूरीकी गन्ध उग्र है, पुष्पकी गन्ध मन्द है, इत्यादिक शद्वयोजना कर देनेपर हुये वे ज्ञान श्रुतज्ञान समझे जाते हैं। शिष्यको समझानेके लिये भले ही हम चार ज्ञानोंको उपचारसे शद्व द्वारा कहे जाने योग्य कह दें, किन्तु वस्तुतः देखा जाय तो श्रुतज्ञानके अतिरिक्त किसी भी ज्ञानमें शद्वयोजना नहीं लगती है। श्रीअकलंक देवका यही अभिप्राय है कि शद्वकी योजनासे पहिले पहिले हुये अवग्रह आदिक और स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, तथा अभिनिबोध ये सब ज्ञान आदिमें हो

रहे मतिज्ञानस्वरूप हैं। किन्तु शब्दकी अनुयोजना कर देनेसे नाम करके आश्रित हो जानेपर तो द्वितीय बचे हुये श्रुतज्ञानरूप वे हो जाते हैं। यह सिद्धान्त स्थित हो चुका।

अत्राकलंकदेवाः प्राहुः " ज्ञानमाद्यं स्मृतिः संज्ञा चिंता चाभिनिबोधिकं। प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् "। इति तत्रेदं विचार्यते मतिज्ञानादाद्यादाभिनिबोधिकपर्यंताच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनादेवेत्यवधारणं श्रुतमेव शब्दानुयोजनादिति वा ? यदि श्रुतमेव शब्दानुयोजनादिति पूर्वनियमस्तदा न कश्चिद्विरोधः शब्दसंसृष्टज्ञानस्याश्रुतज्ञानत्वव्यवच्छेदात्।

उक्तका विवरण यों है कि इस प्रकरणमें श्री अकलंकदेव महाराज प्रकृष्टरूपसे भाषण कर रहे हैं कि नाम योजनासे पहिले हुये स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, और अनुमानज्ञान तो आदिमें हुये परोक्ष मतिज्ञानरूप हैं। और शब्दोंकी पीछे योजना कर देनेसे तो द्वितीय शेष रहे परोक्ष श्रुतस्वरूप हैं। इस प्रकार अकलंकदेवके उस व्याख्यानमें यह विचार चलाया जाता है कि अवग्रहको आदि लेकर अनुमानपर्यन्त व्यवस्थित हो रहे आदिम मतिज्ञानसे शेष रहा श्रुत (उद्देश्य) क्या शब्दकी पीछे पीछे योजना कर देनेसे ही हो जाता है, इस प्रकार एव लगाकर अवधारण किया जाता है ? अथवा श्रुत ही शब्दोंकी अनुयोजनासे होता है। इस प्रकार एवकार लगाकर अवधारण किया जाता है ? बताओ। यदि " श्रुतम् शब्दानुयोजनात् " यहां श्रुत ही शब्दकी अनुयोजनासे होता है, इस प्रकार प्रथम विधेयदलमें एवकार द्वारा नियम किया जायगा, तब तो हमें श्री अकलंकदेवके व्याख्यानमें कोई विरोध नहीं है। क्योंकि शब्दके साथ सम्सर्गको प्राप्त हो रहे ज्ञानके श्रुतसे भिन्न अश्रुतज्ञानपनेका तिस ही प्रकार अवधारण करनेसे व्यवच्छेद होना सम्भवता है। भावार्थ—शब्दकी योजनासे जो ज्ञान होगा वह श्रुत ही होगा। श्रुतभिन्न किसी मतिज्ञान, अवधिमनःपर्यय या केवलज्ञानस्वरूप नहीं हो सकता है। हम प्रेरणा करते हैं कि श्रीअकलंकदेवकी सिद्धान्तअविरुद्ध-चर्चाओंको अविलम्ब स्वीकार कर लेना चाहिये।

अथ शब्दानुयोजनादेव श्रुतमिति नियमस्तदा श्रोत्रमतिपूर्वकमेव श्रुतं न चक्षुरादिमतिपूर्वकमिति सिद्धांतविरोधः स्यात्। सांव्यवहारिकं शाब्दं ज्ञानं श्रुतमित्यपेक्षया तथा नियमे तु नेष्टबाधास्ति चक्षुरादिमतिपूर्वकस्यापि श्रुतस्य परमार्थताभ्युपगमात् स्वसमयसंप्रतिपत्तेः।

यदि अब शब्दकी अनुयोजनासे ही श्रुत होता है। इस प्रकार नियम किया जायगा तब तो श्रोत्र इन्द्रियजन्य मतिज्ञानस्वरूप निमित्तसे ही तो श्रुतज्ञान हो सकेगा। चक्षु, रसना आदि इन्द्रियोंसे जन्य मतिज्ञानोंको निमित्त कारण मानकर श्रुतज्ञान नहीं हो सकेगा। किन्तु रसना आदि इन्द्रियोंसे परम्परया तथा अन्य प्रकारोंसे भी अनेक अवाच्य अर्थोके हो रहे श्रुतज्ञान जगत्में प्रसिद्ध हैं।

अतः उक्त प्रकार नियम करनेपर सिद्धान्तसे विरोध आवेगा। हां, उपदेश देना सुनना, या शास्त्रको पढना, बाचना, आगमगम्य प्रमेयोंको युक्तियोंसे समझाना आदिक समीचीन व्यवहारमें चालू हो रहे तो शब्दजन्यज्ञान सभी श्रुत है। इस अपेक्षा करके यदि तिस प्रकार शब्दयोजनासे ही श्रुत है, इस प्रकार नियम किया जायगा, तब तो इष्टसिद्धान्तसे कोई बाधा नहीं आती है। क्योंकि चक्षु आदिसे उत्पन्न हुये मतिज्ञानको पूर्ववर्ती कारण मानकर उत्पन्न हुये भी श्रुतोंको परमार्थरूपसे श्री अकलंकदेवने स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार अपने सिद्धान्तकी समीचीन प्रतिपत्ति हो जाती है। स्याद्वादसिद्धान्तकी अक्षुण्णप्रतिष्ठा बनी रहनी चाहिये।

अथवा " न सोस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितं ॥ " इत्येकांतं निराकर्तुं प्राग्नामयोजनादाद्यमिष्टं न तु तन्नामसंसृष्टमिति व्याख्यानमाकलंकमनुसर्तव्यं। तथा सति यदाह परः " वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती। न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी " इति तदपास्तं भवति, तया विनैवाभिनिबोधिकस्य प्रकाशनादित्यावेदयति।

अथवा श्री अकलंकदेवका भाषण संभवत' इस अपेक्षासे सुसंगत कर लेना चाहिये कि शब्दानुविद्धवादी कहते हैं कि जहां स्थलपर जो अर्थ रखा है या आत्मामें जिस पदार्थका ज्ञान हो रहा है, वहां वह शब्द अवश्य है। और जहां शब्द है, वहां अर्थ भी अवश्य है। तभी तो गुड, मिष्टान्न, निम्बू रस, आदि शब्दोंके बोलनेपर ही मुखसे लार टपक पडती है। अधिक प्रिय या अधिक अप्रिय पदार्थोंके स्थलपर आदर-अनादरसूचक शब्द स्वयं मुखसे निकल जाते हैं। चुपके चुपके मालाके ऊपर भगवान्का नाम जप लेते हैं। शब्द और ज्ञानका अजहत् सम्बन्ध है। जगत्में वह ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं है, जो कि शब्दका अनुगमन करनेके विना ही हो जाय। मालामें पोये गये मोतियोंके समान सम्पूर्ण पदार्थ बींधे हुये होकर ही मानूं शब्दमें प्रतिष्ठित हो रहे हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार शब्दके एकान्तका निराकरण करनेके लिये नामयोजनाके पहिले तो आदिम मतिज्ञान इष्ट किया गया है। किन्तु नामके संसर्गसे युक्त हो रहा वह ज्ञान मतिज्ञान नहीं है, किन्तु श्रुत है, इस प्रकारका अकलंकदेवके द्वारा सूजे गये व्याख्यानका श्रद्धापूर्वक अनुकरण करना चाहिये। और तिस प्रकार होनेपर यानी शब्दोंके संसर्गसे रहित मतिज्ञानकी सिद्धि हो चुकनेपर यह मन्तव्य भी उस शब्दैकान्तवादीका निराकृत कर दिया जाता है, जो कि परवादी अपने घरमें बखान रहा है कि सर्वदा नित्य रहनेवाला शब्दस्वरूपपना यदि ज्ञानोंमेंसे उछालकर दूर कर दिया जावेगा, तब तो ज्ञानका प्रकाश ही प्रकाशित नहीं हो सकेगा। क्योंकि वह शब्दस्वरूपपना ही तो ज्ञानमें अनेक प्रकारके विचारोंको करनेवाला है। श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि सभी अनभिलाप्य या प्रज्ञापनीय भावोंमें तो शब्दयोजना स्वीकार करना अनुचित है। उस शब्दयोजनाके विना भी अवग्रह आदिक और स्मृति आदिक मतिज्ञान जगत्में

प्रकाश रहे हैं। अर्थ और शद्बका कोई अजहत् सम्बन्ध भी नहीं है। मोदक, लक्षमुद्रा, रत्न, सुमेरु, समुद्र आदि शद्बोंके बोले जानेपर भी वहा वे मोदक आदिक अर्थ नहीं दीखते हैं। एवं क्षीर, घृत, बूरा, मिश्री, आदिके रसोंका तारतम्यपूर्वक ज्ञान, सुख, होनेपर भी उनके वाचक शद्ब नहीं सुने जा रहे हैं। शद्ब तो जगत्में संख्यात ही हैं। किन्तु प्रमेय और प्रमाण अनन्त हैं। अतः शद्बोंद्वारा समझाने योग्य ज्ञानसे अनन्तगुणा ज्ञान अनभिलाप्य पडा हुआ है। शद्बयोजनासे रिक्त पडे हुये मतिज्ञानको ग्रन्थकार स्वयं बढाकर निवेदन करे देते हैं, जिससे कि यह प्रमेय और भी अधिक स्पष्ट हो जायगा।

वाग्रूपता ततो न स्याद्योक्ता प्रत्यवमर्शिनी।
मतिज्ञानं प्रकाशेत सदा तद्धि तया विना ॥ ९० ॥

तिस कारणसे सिद्ध होता है कि जो शद्बानुविद्धवादियोंने ज्ञानमें वाग्रूपताको ही विचार करनेवाला कहा था, वह युक्त नहीं है। क्योंकि उस शद्बस्वरूपपनके विना भी वह मतिज्ञान नियमसे सदा प्रकाश करता रहता है। इन्द्रिय और मनसे जो ज्ञान होते हैं। वे अर्थविकल्पस्वरूप आकारसे सहित अवश्य हैं। किन्तु शद्बानुविद्ध नहीं हैं। भले ही कोई अपने मतिज्ञानको दूसरोंके प्रति प्रकट करनेके लिये यह काला रूप है, मेरी आत्मामें पीडा है, पेडा मीठा है, ऐसा निरूपण कर दे, किन्तु विचार करनेपर यह सब श्रुतज्ञान हो जायगा। मतिज्ञानके साथ अविनाभाव रखनेवाले श्रुतज्ञानमें ही शद्बयोजना लगी है। सविकल्पक मति, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान ये सब स्वकीय शरीरमें अवक्तव्य हैं। श्रुतज्ञानका अल्पभाग ही शद्बयोजनाको धारता है।

न हींद्रियज्ञानं वाचा संसृष्टमन्योन्याश्रयप्रसंगात्। तथाहि। न तावदज्ञात्वा वाचा संसृजेदतिप्रसंगात्। ज्ञात्वा संसृजतीति चेत् तेनैव संवेदनेनान्येन वा ? तेनैव चेदन्योन्याश्रयणमन्येन चेदनवस्थानं।

इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ मतिज्ञान तो शद्बोंके साथ संसर्गयुक्त हो रहा नहीं है। अन्यथा अन्योन्याश्रय दोष हो जानेका प्रसंग होगा। इसीको स्पष्ट कर कहते हैं कि पहिले नहीं जानकर तो वचनोंके साथ ज्ञानका संसर्ग नहीं हो सकेगा, क्योंकि अतिप्रसंग हो जायगा। अर्थात्—विना जाने ही शद्बोंका संसर्ग लग जानेसे तो चाहे जिस अज्ञात पदार्थको वचनोंद्वारा बोल दिया जायगा। कीट, पतंग, पशु, पक्षी, बालक, भी अज्ञात अनन्त पदार्थोंके शद्बयोजक बन जायंगे। यदि इस अतिप्रसंगके निवारणार्थ पदार्थको जानकरके शद्बका संसर्ग हो जाता है, इस प्रकार मानोगे, तब तो हम पूंछेगे कि उस ही शद्बसंसृष्ट होने वाले सम्वेदन करके ज्ञान होना मानोगे ? अथवा क्या अन्य किसी ज्ञानकरके इंद्रियज्ञानको जानकर उसके साथ वचनोंका संसर्ग होना इष्ट करोगे ? बताओ। यदि प्रथमपक्ष अनुसार उस ही ज्ञानकरके जान लेना माना जायगा तब तो

अन्योन्याश्रय दोष आता है। क्योंकि उसी ज्ञानसे इन्द्रियज्ञानका जानना सिद्ध होय और इन्द्रिय ज्ञानके हो चुकनेपर उसका जानना सिद्ध होय अर्थात् शद्बका संसर्ग हो चुकनेपर ज्ञान होय और ज्ञान होचुकनेपर शद्बका संसर्ग होना तो पक्ष ले रक्खा ही है। आत्माश्रय दोष भी लागू होगा। यदि द्वितीय पक्षके अनुसार अन्य सम्वेदन करके इन्द्रियज्ञानको जाना जायगा, तब तो अनवस्था होगी, क्योंकि अन्यज्ञानको भी जानकर वचनोंका संसर्ग तब लगाया जायगा जब कि तृतीयज्ञानसे उस अन्य ज्ञानको जान लिया जायगा। इस ढंगसे ज्ञानोंके ज्ञापक चतुर्थ, पंचम, आदि ज्ञानोंकी आकांक्षा बढती बढती दूर जाकर भी अवस्थिति नहीं होगी। अतः कथमपि इन्द्रियजन्य ज्ञानोंके साथ वचनोंका संसर्ग नहीं होता है। वे अपने डीलमें अवाच्य होकर प्रतिष्ठित हो रहे हैं। यह सिद्धान्त पुष्ट हुआ।

अत्र शद्बाद्वैतवादिनामज्ञत्वमुपदर्श्य दूषयन्नाह।

इस अवसर पर शद्बाद्वैतवादी विद्वानोंका अज्ञपना दिखलाकर उनको दोषयुक्त करते हुये आचार्य महाराज कहते हैं।

वैखरीं मध्यमां वाचं विनाक्षज्ञानमात्मनः।
स्वसंवेदनमिष्टं नोन्योन्याश्रयणमन्यथा ॥ ९१ ॥
पश्यंत्या तु विना नैतद्व्यवसायात्मवेदनम्।
युक्तं न चात्र संभाव्यः प्रोक्तोन्योन्यसमाश्रयः ॥ ९२ ॥

शद्बाद्वैतवादियोंका जो स्वमन्तव्य है, उसको उनके ही मुखसे सुनिये कि वैखरी और मध्यमा नामक दो वाणियोंके विना तो हमने भी इन्द्रियजन्य ज्ञान इष्ट किया है। और आत्माका स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष भी वैखरी और मध्यमावाणीकी शद्बयोजनाके विना ही अभीष्ट किया है। अन्यथा पूर्वमें दिया गया अन्योन्याश्रय दोष हमारे ऊपर लग जायगा। किन्तु पश्यन्ती—नामक वाणीके विना तो इन्द्रियजन्य मतिज्ञान और आत्माका स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष ये निश्चयआत्मक ज्ञान होना युक्त नहीं हैं। इस पश्यन्ती वाणीसे इन्द्रियजन्यज्ञान और आत्मज्ञानको अनुविद्ध माननेपर यहां पहिले अच्छा कहा गया अन्योन्याश्रय दोष तो नहीं सम्भवता है। भावार्थ—शद्बाद्वैतवादियोंका अनुभव है कि सम्पूर्ण ज्ञान शद्बानुविद्धपना स्वरूपसे ही सविकल्पक है। श्रोत्र इन्द्रियसे ग्रहण करने योग्य मोटी वैखरी वाणी और अन्तर्जल्पस्वरूप मध्यमावाणीसे ज्ञानको संसृष्ट माननेपर तो अन्योन्याश्रय दोष होता है। जान चुकनेपर तो शद्बसंसर्ग होय और शद्बसंसर्ग हो चुकनेपर जाना जाय, किन्तु अकार, ककार, आदि वर्ण या पद, वाक्य, प्रकृति, प्रत्यय आदिके विभागोंसे रहित हो रही पश्यन्ती नामक वाणीके विना कोई भी इन्द्रियज्ञान अथवा आत्मज्ञान नहीं हो पाता है। जैसे कि आकाशके

साथ किसी पदार्थका संसर्ग करनेके लिये झंझटोंके मिलानेकी आवश्यकता नहीं है। उसी प्रकार पश्यन्ती नामक वाणीका संसर्ग करनेके लिये ज्ञानको जानने, शब्दोंको सुनने आदिकी आकांक्षा नहीं है। अतः वैखरी और मध्यमाके संसर्ग करनेमें अच्छे ढंगसे कह दिया गया अन्योन्याश्रय दोष यहां पश्यन्तीके संसर्गमें असम्भव है।

व्यापिन्या सूक्ष्मया वाचा व्याप्तं सर्वं च वेदनं।
तया विना हि पश्यंती विकल्पात्मा कुतः पुनः ॥ १३ ॥
मध्यमा तदभावे क्व निर्बीजा वैखरी स्वात्।
ततः सा शाश्वती सर्ववेदनेषु प्रकाशते ॥ १४ ॥

अभीतक शब्दाद्वैतवादी ही कहे जा रहे हैं कि और शब्द ज्योतिःस्वरूप होकर सबके अन्तरंगमें प्रकाश रही, नित्य, व्यापक, सूक्ष्मा, नामकी वाणीकरके तो सम्पूर्ण ही ज्ञान व्याप्त हो रहे हैं। कारण कि उस सूक्ष्माके विना तो फिर विकल्पस्वरूप पश्यन्तीवाणी भी कहांसे होगी? और उस पश्यन्तीवाणीके अभाव हो जानेपर पुनः वह बीजरहित हुयी मध्यमावाणी भला कहां ठहरी? और मध्यमा शब्दके विना भला वैखरी कहां टिक सकती है? निमित्त विना नैमित्तिक नहीं। तिस कारण वह सर्व वाणियोंकी आद्यजननी सनातन, नित्य, सूक्ष्मा वाणी सम्पूर्ण ज्ञानोंमें प्रकाशती रहती है। इन्द्रिय, अनिन्द्रिय ज्ञानोंमें जो भी कुछ प्रकाश होता दीख रहा है। सब सूक्ष्मावाणीरूप नानीकी सुतास्वरूप पश्यन्ती मैयासे प्राप्त हुआ समझो।

इति येपि समादध्युस्तेप्यनालोचितोक्तयः।
शब्दब्रह्मणि निर्भागे तथा वक्तुमशक्तितः ॥ १५ ॥
न ह्यवस्थाश्चतस्रोस्य सत्या द्वैतप्रसंगतः।
न च तासामविद्यात्वं तत्त्वासिद्धौ प्रसिद्ध्यति ॥ १६ ॥

अब आचार्य महाराज कहते हैं कि इस उक्त प्रकार जो भी कोई शब्दाद्वैतवादी समाधान करेंगे वे भी विना विचारे हुये अयुक्त भाषण करनेवाले हैं। क्योंकि भागरहित, निरंश, अखण्ड शब्द ब्रह्ममें तिस प्रकार वाणीके चार भेद कर कहनेके लिये अशक्ति है। अर्थात्—निरंश शब्द ब्रह्म अकेला चार भेदोंसे नहीं कहा जा सकता है। चार भेदोंसे कहनेपर उसके चार भाग हुये जाते हैं। जो कि अद्वैतवादियोंको अभीष्ट नहीं हैं। इस शब्दब्रह्मकी भिन्न भिन्न चार अवस्थायें सत्य नहीं हैं। क्योंकि चार अवस्थाओंको सत्य माननेपर तो द्वैतका प्रसंग हो जायगा। उन चार

अवस्थाओंको अविद्यापना भी शद्बब्रह्मके परमार्थरूपसे तत्पने यानी विद्यापनेकी सिद्धि नहीं होनेपर प्रसिद्ध नहीं हो पाता है।

चतुर्विधा हि वाग्वैखरी मध्यमा पश्यन्ती सूक्ष्मा चेति। तत्राक्षज्ञानं विनैव वैखर्या मध्यमया चात्मनः प्रभवति स्वसंवेदनं च अन्यथान्योन्याश्रयणस्य दुर्निवारत्वात्। तत एवानवस्थापरिहारोपि।

उक्त छह वार्तिकोंका विवरण करते हैं। तहां शद्वाद्वैतवादियोंके मन्तव्यका अनुवाद यों है कि वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और सूक्ष्मा इन भेदोंसे शद्ववाणी निश्चयसे चार प्रकारकी है। मनुष्य, पशु, पक्षी आदिकोंके बोलने, सुननेमें आ रही स्थूलवाणी वैखरी है। और जाप देते समय या चुपके पाठ करते समय अन्तरंगमें जल्प की गयी श्वास उच्छ्वासकी नहीं अपेक्षा रखती हुयी पतली वाणी मध्यमा है। तथा वर्ण, पद, मात्रा, उदात्त, आदि विभागोंसे रहित हो रही वाणी सूक्ष्मा है, जो कि पदार्थोंका जानना स्वरूप है। एवं अन्तरंग ज्योतिस्वरूप सूक्ष्मावाणी जगत्में सर्वदा सर्वत्र व्याप रही है। तिन वाणियोंमेंसे वैखरी और मध्यमाके विना भी इन्द्रियजन्यज्ञान और आत्माका स्वसम्वेदनप्रत्यक्ष उत्पन्न हो जाता है। अन्यथा हम शद्वाद्वैतवादियोंके ऊपर आये हुये अन्योन्याश्रयदोषका निवारण कठिनतासे भी नहीं हो सकेगा। और तिस ही कारण यानी इन्द्रियज्ञान और आत्मज्ञानका मध्यमा वैखरी वाणियोंके साथ संसर्ग नहीं माननेसे ही अनवस्थादोषका परिहार भी सुलभतासे हो जाता है। अन्योन्याश्रय दोष जहां लगता है परस्परकी अपेक्षा हटाकर उत्तरोत्तर अन्योंकी अपेक्षा लगा देनेसे झट वहां अनवस्थादोष भी लग ही जाता है। उसी प्रकार अनवस्थाका परिहार भी हो जाता है, जैसे कि अन्योन्याश्रय टल गया था।

न चैवं वाग्रूपता सर्ववेदनेषु प्रत्यवमर्शिनीति विरुध्यते पश्यंत्या वाचा विनाक्षज्ञानादेरप्यसंभवात्। तद्धि यदि व्यवसायात्मकं तदा व्यवसायरूपां पश्यंतीवाचं कस्तत्र निराकुर्यादव्यवसायात्मकत्वप्रसंगात्। न चैवमन्योन्याश्रयोनवस्था वा युगपत्स्वकारणवशाद्वाक्संवेदनयोस्तादात्म्यमापन्नयोर्भावात्।

इस प्रकार माननेपर हम शद्वाद्वैतवादियोंके प्रति यदि कोई यों कटाक्ष करे कि सम्पूर्ण ज्ञानोंमें विचार करनेवाली मानी गयी वाग्रूपता तो यों विरुद्ध पड जायगी, जब कि आप इन्द्रियज्ञान और आत्मज्ञानमें दो वाणियोंका निषेध कर रहे हैं। इसपर हम शद्वाद्वैतवादिओंका यह कहना है कि यह विरोध हमारे ऊपर नहीं आ सकता है। कारण कि पश्यंती वाणीके विना इन्द्रियज्ञान, आत्मज्ञान, ज्ञानज्ञान, आदिका भी असम्भव है। अर्थात्—इन्द्रियज्ञान आदिमें पश्यंती वाणीके साथ तादात्म्य हो जानेसे वाक्स्वरूपपना अभीष्ट किया है। भले ही वे मध्यमा वैखरीस्वरूप नहीं हों, जब कि वे इन्द्रियज्ञान आदिक यदि निश्चयआत्मक हैं, तब व्यवसायस्वरूप पश्यंती

वाणीका उनमेंसे कौन निराकरण कर सकेगा ? अन्यथा इन्द्रियज्ञान आदिकोंको अनिश्चयआत्मकपन हो जानेका प्रसंग होगा किन्तु हम शब्दाद्वैतवादियोंके समान जैनोंने भी इन्द्रियज्ञान, आत्मज्ञानको निश्चयआत्मक स्वीकार किया है । वह निश्चयस्वरूप प्राप्त होना पश्यन्ती वाणीका ही माहात्म्य है । इस प्रकार हम अद्वैतवादियोंके यहां अन्योन्याश्रय अथवा अनवस्थादोष नहीं आता है । क्योंकि अपने कारणोंके वशसे तदात्मकपनेको प्राप्त हो रहे ही वचन और ज्ञानोंकी युगपत् उत्पत्ति हो रही मानी गयी है ।

यत्पुनरव्यवसायात्मकं दर्शनं तत्पश्यंत्यापि विनोपजायमानं न वाचाननुगतं सूक्ष्मया वाचा सहोत्पद्यमानत्वात् तस्याः सकलसंवेदनानुयायिस्वभावत्वात् । तया विना पुनः पश्यंत्या मध्यमाया वैखर्याश्चोत्पत्तिविरोधादन्यथा निर्बीजत्वप्रसंगात् । ततस्तद्बीजमिच्छता तदुत्पादनशक्तिरूपा सूक्ष्मा वाक् व्यापिनी सततं प्रकाशमानाभ्युपगंतव्या । सैवानुपरिहरत्यभिधानाद्यपेक्षायां भवेदन्योन्यसंश्रय इति दूषणं " अभिलापतदंशानामभिलापविवेकतः । अप्रमाणप्रमेयत्वमवश्यमनुपज्यते " इत्यनवस्थानं च अभिलापस्य तद्भागानां वा पराभिलापेन वैखरीरूपेण मध्यमारूपेण च विनिर्बाधसंवेदनोत्पत्तेरप्रमाणप्रमेयत्वानुषंगाभावादिति ये समादधते, तेऽप्यनालोचितोक्तय एव, निरंशशब्दब्रह्मणि तथा वक्तुमशक्तेः । तस्यावस्थानां चतसृणां सत्यत्वेऽद्वैतविरोधात् । तासामविद्यात्वाददोष इति चेन्न, शब्दब्रह्मणोंऽशस्य विद्यात्वसिद्धौ तदवस्थानामविद्यात्वाप्रसिद्धेः ।

शब्दाद्वैतवादी ही अपने मतको प्रकट किये जा रहे हैं कि जो फिर अविकल्पक या अनिश्चय आत्मक सत्, चित्, सामान्य आलोचनस्वरूप दर्शन है, वह उस पश्यन्ती वाक्के विना भी उपज रहा है । किन्तु सभी वाणियोंसे अनुगत नहीं होय यह नहीं समझना । कारण कि चैतन्य ज्योतिस्वरूप सूक्ष्मा वाणीके साथ अन्वित हो रहा ही दर्शन उपज रहा है । वह सूक्ष्मावणी तो सम्पूर्ण सम्वेदनोंके साथ अनुयायी होकर लगे रहना स्वभाववाली है । सर्वव्यापक उस सूक्ष्माके विना तो फिर पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, की उत्पत्ति हो जानेका विरोध है । सब वाणियोंका आद्य कारण सूक्ष्मा है । यदि आद्य कारणके विना ही कार्य हो जावे तो सूक्ष्माके विना पश्यन्तीके हो जानेपर और पश्यन्तीके विना मध्यमाके उपज जानेपर तथा मध्यमाके विना वैखरीकी उत्पत्ति हो जानेपर उक्त कार्योंको बीजरहितपनेका प्रसंग हो जायगा कारणोंके विना तो किसीके यहां भी कार्य होता हुआ नहीं माना गया है । तिस कारण उन तीनों वाणियोंके बीजभूत कारणको चाहनेवाले विद्वानोंकरके उन पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, को उत्पन्न करानेकी शक्तिस्वरूप और सर्वदा, सर्वत्र, व्यापिनी होकर प्रकाश कर रही ऐसी सूक्ष्मा वाणी अवश्य स्वीकार करना चाहिये । वही आकाशके समान नित्य होकर सर्वत्र व्यापरही सूक्ष्मा वाणी ही वाचकशब्द, संकेतस्मरण, आदिकी अपेक्षा होनेपर

वही आकाशके समान नित्य होकर सर्वत्र व्याप रही सूक्ष्मा वाणी ही वाचक शब्द, संकेतस्मरण, आदिकी अपेक्षा होनेपर अन्योन्याश्रय हो जायगा, इस दूषणका शीघ्र परिहार कर देती है। अर्थात्– प्रमेयके ज्ञानको शब्दकी अपेक्षा पडेगी और शब्दयोजना करनेके लिये प्रमेयके ज्ञानकी अपेक्षा होगी। इस अन्योन्याश्रय दोषका निवारण वह सूक्ष्मा वाणी कर देती है। कारण कि सूक्ष्मावाणीका ज्ञानके साथ तादात्म्य हो रहा है। अतः पुनः शब्दयोजना या ज्ञान करनेकी आवश्यकता नहीं रहती है। देवदत्तका ज्ञान देवदत्त इन चार या नौ वर्णोंसे अन्वित हो रहा है। किन्तु फिर इन वर्णोंको अन्य ज्ञानसे अन्वित नहीं होना पडता है। उष्ण इमर्तीके चारों ओर लगी हुयी चाशनीके समान सूक्ष्मा वाणीका सभी ओरसे तादात्म्य हो रहा है। तथा अनवस्था दूषणका भी परिहार भी वही कर देती है। वाचक देवदत्त शब्द और उसके दकार, एकार, वकार, आदि अंशोंके वाचक पुनः अन्य शब्दोंका विचार करनेसे अवश्य ही प्रमाणरहितपन और प्रमेयरहितपनका प्रसंग आ जावेगा। भावार्थ– सभी वाचक शब्द और ज्ञायक ज्ञानोंमें यदि शब्दका अनुविद्धपना माना जावेगा तो विशिष्ट मनुष्यका वाचक देवदत्त शब्द है। और देवदत्त शब्दमें पडे हुये दे या त आदिके वाचक भी पुनः शब्दान्तर उपस्थित होयंगे और उन शब्दान्तरोंके लिये भी तीसरी जातिके वाचकशब्द आते जायंगे। यदि वाचक- शब्द और उसके अंश वर्णोंके लिये पुनः अन्य वाचकोंका पृथग्भाव माना जायगा तो पहिले देवदत्त नामक मनुष्यके लिये भी आद्यमें वाचकशब्द उठानेकी आवश्यकता नहीं है। अतः प्रमेयके ज्ञापक ज्ञान और उससे अनुविद्ध हो रहे शब्द तथा शब्दोंके भी वाचक अन्य शब्द एवं अन्य शब्दोंके भी अंशोंको कहनेवाले शब्दान्तरोंका विचार करनेपर जगत्में न कोई प्रमाण व्यवस्थित हो सकता है। और किसी भी देवदत्त आदि प्रमेयकी सिद्धि नहीं हो सकती है। इस प्रकारकी अनवस्था हम शब्दाद्वैतवादियोंके यहां नहीं होती है। क्योंकि वाचकशब्द और उसके वर्ण, मात्रास्वरूप भागोंका दूसरे वैखरी स्वरूप और मध्यमास्वरूप वाचकशब्दोंकरके सर्वथा बाधाओंसे रहित सम्वेदन उत्पन्न हो रहा है। अतः प्रमाणरहितपन और प्रमेयरहितपनका प्रसंग नहीं आ पाता है। तीसरी कोटिपर जाकर आकांक्षा नहीं रहनेसे अनवस्था टूट जाती है। वैखरी और मध्यमा वाणीके उपजनेतक आकांक्षा बढी रहेगी। पश्चात् मध्यमा या स्थूलवाणी वैखरीके लिये भी पुनः वाचकोंको ढूंढनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वे वाणियां सूक्ष्मासे सर्वदा अन्वित हो रहीं ही उपजती हैं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार जो शब्दाद्वैतवादी अभिमानके साथ समाधान कर रहे हैं, वे (शब्दानुविद्धवादी) भी विचार किये विना ही जल्प करनेवाले हैं। क्योंकि अंश, स्वभाव, शक्तिया, तिर्यग् अंश, ऊर्ध्व अंश इन भागोंसे सर्वथा रहित हो रहे अखण्ड शब्दब्रह्ममें तिस प्रकार नित्य, अनित्यस्वरूप चार वाणियोंका अथवा एक सूक्ष्माको निमित्त कारण और अन्य तीनको नैमित्तिक कार्य मानना या निश्चय आत्मक अनिश्चय आत्मकज्ञान, दर्शन, भेद करना कहा नहीं जा सकता है। उक्त प्रकारके भेदयुक्त निरूपण तो सांश पदार्थमें सम्भवते हैं। निःस्वभावमें नहीं।

हम जैन उन शद्बाद्वैतवादियोंके प्रति प्रश्न उठाते हैं कि उस शद्ब ब्रह्मकी वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और सूक्ष्मा ये चार अवस्थायें यदि सत्य हैं, तब तो शद्बब्रह्मके अद्वैत होनेका विरोध है। सत्य चार अवस्थायें तो स्पष्टरूपसे द्वैतको साध रही हैं। यदि तुम यों कहो कि शद्बब्रह्म तो एक ही अखण्ड है। वे चार अवस्थायें अविद्यास्वरूप हैं। जबतक संसारी जीवके अविद्या लगी रहती है, तबतक चार भेद दीखते हैं। किन्तु निरंश ब्रह्मका साक्षात्कार हो जानेपर भेद नष्ट हो जाता है। अत. हमारे ऊपर कोई दोष नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि निरंश शद्बब्रह्मको समीचीन विद्यापन सिद्ध हो चुका तो उसकी अवस्थाओंको अविद्यापनकी प्रसिद्धि नहीं हो सकती है। विद्याके विवर्त भी विद्यास्वरूप हैं। चेतन अखण्ड आत्माके हस्त, पाद, आदि प्रदेशवर्ती आत्मप्रदेश या ज्ञान, दर्शन, सुख, इच्छा आदि अंश अचेतन नहीं हैं। मिश्रीके टुकडे कटु नहीं।

तद्धि शद्बब्रह्म निरंशमिंद्रियप्रत्यक्षादनुमानात्स्वसंवेदनप्रत्यक्षादागमाद्वा न प्रसिध्यतीत्याह।

वह शद्बाद्वैतवादियों करके माना गया शद्बब्रह्म तत्त्व भला अंशोंसे रहित है, यह मन्तव्य तो इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षोंसे, अनुमान प्रमाणसे, स्वसम्वेदनप्रत्यक्षसे अथवा आगमप्रमाणसे नहीं प्रसिद्ध हो पाता है। इस बातको स्वयं ग्रन्थकार स्पष्ट कहते हैं।

ब्रह्मणो न व्यवस्थानमक्षज्ञानात् कुतश्चन ।
स्वप्नादाविव मिथ्यात्वात्तस्य साकल्यतः स्वयम् ॥ १७ ॥

स्पार्शनप्रत्यक्ष, चाक्षुषप्रत्यक्ष, आदिक किसी भी इन्द्रियजन्य ज्ञानसे तो शद्बब्रह्मकी व्यवस्थिति नहीं हो पाती है। क्योंकि उन इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षोंको सम्पूर्णरूपसे मिथ्यापना है। ऐसा स्वयं शद्बाद्वैतवादियोंने स्वप्न, मूर्छित, मदोन्मत्त, अपस्मार, (मृगीरोग) भूतावेश आदिक अवस्थाओंमें हो रहे इन्द्रिय प्रत्यक्षोंके मिथ्यापनके समान सभी इन्द्रिय प्रत्यक्षोंको झूंठा कहा है। झूंठे ज्ञानसे समीचीन प्रमेय माने गये शद्बब्रह्मकी सिद्धि नहीं हो सकती है। जब सम्पूर्ण ही इन्द्रिय प्रत्यक्ष मिथ्याज्ञान होगये तो शब्दब्रह्मको साधनेके लिए कोई भी जागते हुए पण्डितका प्रत्यक्ष-प्रमाणशेष नहीं रहा।

नानुमानात्ततोर्थानां प्रतीतेर्दुर्लभत्वतः ।
परप्रसिद्धिरप्यस्य प्रसिद्धा नाप्रमाणिका ॥ १८ ॥

दूसरे अनुमानप्रमाणसे भी शब्दब्रह्मकी सिद्धि नहीं हो पाती है। क्योंकि प्रतिवादियोंने कहा है कि " अनुमानादर्थनिर्णयो दुर्लभ. " उस अनुमानसे अर्थोंकी प्रतीति होना दुर्लभ है।

अनुमेयको सामान्यरूपसे तो व्याप्तिग्रहण करते समय ही जान चुके थे। अब अनुमानकाल में पुनः सामान्यरूपसे जाननेमें सिद्धसाधन दोष होता है और अनुमेयको विशेषरूपसे जाननेके लिए हेतुका अनुगम गृहीत नहीं हो चुका है। जहां जहां धूआ है, वहां वहां तृणोंकी लम्बी शिखा-वाली पर्वतीय अग्नि है। इस प्रकार विशेष अग्निके साथ धूमका अनुगम नहीं हो रहा है। अन्यथा व्यभिचार दोष हो जायगा। दूसरे नैयायिक, मीमांसक, या जैनोंकी मानी गयी प्रसिद्धि भी तो इस अद्वैतवादीके यहां प्रसिद्ध नहीं है। अर्थात्—अनुमानप्रमाण माननेवाले वादियोंकी प्रक्रियाको अद्वैतवादियोंने माना नहीं है, जिससे कि समीचीन लिंगसे साध्यका प्रमाणज्ञान हो जाय। वह अन्य वादियोंकी प्रसिद्धि तो अप्रमाणीक मानी गयी है। अतः अनुमानसे भी तुम्हारे ही विचार अनुसार निरंश शब्दब्रह्मकी सिद्धि नहीं हो सकी।

स्वतः संवेदनात्सिद्धिः क्षणिकानंशवित्तिवत्।
न परब्रह्मणो नापि सा युक्ता साधनाद्विना ॥ ९९ ॥

बौद्धोंके माने गये क्षणिक, निरंश, ज्ञानकी जैसे स्वसम्वेदन प्रत्यक्षसे सिद्धि होना तुम शब्दाद्वैतवादियोंने नहीं माना है, उसीके समान नित्य, व्यापक शब्द परमब्रह्मकी भी स्वतः सम्वेदन प्रत्यक्षसे सिद्धि नहीं हो पाती है। दूसरी बात यह है कि साधनके विना यों ही कोरी मानली गयी ब्रह्मकी सिद्धि युक्तिसहित भी नहीं है। अन्यथा हेतुके विना वचनमात्रसे चाहे जिस अश्वविषाण आदि अयुक्तपदार्थकी सिद्धि बन बैठेगी, जो कि किसी भी विद्वान्के यहां नहीं मानी गयी है।

आगमादेव तत्सिद्धौ भेदसिद्धिस्तथा न किम्।
निर्बाधादेव चेत्तत्त्वं न प्रमाणांतरादृते ॥ १०० ॥
तदागमस्य निश्चेतुं शक्यं जातु परीक्षकैः।
न चागमस्ततो भिन्न समस्ति परमार्थतः ॥ १०१ ॥
तद्विवर्तस्त्वविद्यात्मा तस्य प्रज्ञापकः कथं।
न चाविनिश्चिते तत्त्वे फेनबुद्बुदवद्विदा ॥ १०२ ॥

यदि आगम प्रमाणसे ही उस शब्दब्रह्मकी सिद्धि मानी जायगी तब तो तिस प्रकार आगमसे भेदकी सिद्धि भी क्यों नहीं हो जावेगी? पदार्थोंको नाना सिद्ध करनेवाले "अत्थि अणंता जीवा" "ते कालाणू असंखदव्वाणि" "परमाणूइं अणंताइं" "जीवादोणंत गुणा" "संसारिणो मुक्ताश्च" आदि आगम विद्यमान हैं। यदि बाधकोंसे रहित हो रहे

आगमसे अद्वैत शद्वब्रह्मकी ही सिद्धि होना इष्ट करोगे तब तो हम कहेंगे कि उस आगमका वह बाधारहितपना तो परीक्षकोंकरके अन्य अनुमान, तर्क आदि प्रमाणोंके विना कभी भी निश्चित नहीं किया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि तुम्हारे यहां उस शद्वब्रह्मसे भिन्न हो रहा परमार्थरूपसे कोई समीचीन आगम भी तो नहीं माना गया है, जिससे कि शद्वब्रह्मकी सिद्धि करली जाय। ब्रह्म और आगमका कथंचित् भेद माननेपर ही गम्यगमकपना बन सकता है। अन्यथा नहीं। यदि आगमको उस शद्वब्रह्मका विवर्त माना जायगा तब तो अविद्यास्वरूप होता हुआ यह आगम उस परमब्रह्मका भले प्रकार ज्ञापक कैसे हो सकता है ? अर्थात्—नहीं। अवस्तुभूत पदार्थसे वस्तुभूत तत्त्वकी सिद्धि नहीं हो सकती है। झूठे, कल्पित, मोदक तो सन्धुक्षित उदराग्निकी ज्वालाको शान्त नहीं कर सकते हैं। यों बालकोंके लिये विप्रलम्भ करानेके समान कोरा सन्तोष देना विद्वानोंको समुचित नहीं है। अन्य भेदयुक्त प्रमाणान्तरोंसे आगका निर्बाधपना जबतक विशेषरूपसे निश्चित न होगा तबतक झागके बबूले समान अद्वैत शद्वब्रह्मकी सिद्धि नहीं हो सकती है। अर्थात्— प्रमाणोंके विना ही किसी पदार्थको बलात्कारसे साध दिया जाय तो वह झागके बबूलासमान अधिक देरतक परीक्षकोंके सामने टिक नहीं सकता है। अथवा तत्त्वका विशेषतया निश्चय नहीं होते सन्ते भेदकरके फेनसे अभिन्न हो रहे बबूलेके समान शद्वब्रह्मकी ज्ञप्ति नहीं कराई जा सकती है।

मायेयं बत दुःपारा विपश्चिदिति पश्यति।
येनाविद्या विनिर्णीता विद्यां गमयति ध्रुवम् ॥ १०३ ॥
भ्रांतेर्बीजाविनाभावादनुमात्रैवमागता।
ततो नैव परं ब्रह्मास्त्यनादिनिधनात्मकम् ॥ १०४ ॥
विवर्तेतार्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।
भ्रान्तिबीजमनुस्मृत्य विद्यां जनयति स्वयं ॥ १०५ ॥

शद्ब अद्वैतवादी कहते हैं कि वस्तुतः जलके समान शद्बब्रह्म एक है। उसके अनेक बबूलेके समान भेदकरके जीवोंको झूंठा प्रतिभास हो रहा है। खेदके साथ कहना पडता है कि यह संसारी जीवके लम्बी चौडी जिसका पार कठिनतासे पाया जाय ऐसी माया लगी हुयी है। विद्वान् जन वास्तविक तत्त्वको देख लेते हैं जिससे कि विशेषरूपसे निर्णीत करी गयी अविद्या उस विद्याका दृढरूपसे ज्ञापक करा देती है। क्योंकि विना भित्तिके भ्रान्तज्ञान उत्पन्न नहीं होते हैं। अतः सब मिथ्याज्ञान, सम्यग्ज्ञानोंका बीज भूत शब्दब्रह्म है। अब आचार्य कहते हैं कि भ्रान्तियोंका बीजके साथ अविनाभाव माननेसे तो इस प्रकार यहां अनुमान प्रमाण ही आगया और ऐसा होनेपर हेतु, पक्ष, दृष्टान्त आदिको मान

लेनेसे द्वैत हो जावेगा। बीजभूतब्रह्म और नैमित्तिक अविद्यायें मानी गयीं। अतोऽपि द्वैत सिद्ध हो जाता है। तिस कारण अनादि, अनन्तस्वरूप हो रहा शब्द परब्रह्म कैसे भी सिद्ध नहीं हो पाता है, जिससे कि तुम्हारा यह कहना शोभा देवे कि वह शब्दब्रह्म ही घट, पट, आदि अर्थ परिणामोंकरके पर्यायोंको धारता है। यों जगत्की प्रक्रिया चलती है वह शब्दब्रह्म ही भ्रान्तिके निमित्त कारणोंका अनुसरणकर स्मरण किया जाकर पश्चात् स्वय विद्याको उत्पन्न कर देता है। यह अद्वैतवादियोंका कथन द्वैतके सिद्ध होनेपर ही युक्त ठहरेगा।

न हि भ्रांतिरियमखिलभेदप्रतीतिरित्यनिश्चये तदन्यथानुपपत्त्या तद्बीजभूतं शब्दतत्त्वमनादिनिधनं ब्रह्म सिध्यति। नापि तदसिद्धौ भेदप्रतीतिर्भ्रांतिरिति परस्पराश्रयणात्कथमिदमवतिष्ठते " अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरं। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ " इति यतस्तस्य चतस्रोवस्था वैखर्यादयः संभाव्यंते सत्योऽसत्यो वा। न च तदसंभवेनायं सर्वत्र प्रत्यये शब्दानुगमः सिध्येत् सूक्ष्मायाः सर्वत्र भावात्। यतोभिधानापेक्षायामक्षादिज्ञानेन्योन्याश्रयोऽनवस्था च न स्यात्सर्वथैकांताभ्युपगमात्।

देवदत्त, जिनदत्त, घट, पट, आदिक संपूर्ण भेदोंको प्रकाशनेवाली यह प्रतीति भ्रान्तिस्वरूप है। इस प्रकार जबतक निश्चय नहीं होगा, तबतक उस भ्रान्तिकी अन्यथा अनुपपत्ति करके उसका बीजभूत अनादि, अनन्त, व्यापक, शब्दब्रह्म तत्वसिद्ध नहीं हो सकता है, तथा जबतक अद्वैत शब्दब्रह्मकी सिद्धि नहीं होवेगी, तबतक देवदत्त आदिकी भेदप्रतीति भी भ्रान्तिरूप सिद्ध नहीं हो सकती है। इस ढंगसे परस्पराश्रय दोष हो जानेसे यह वक्ष्यमाण अद्वैतवादियोंका ग्रन्थ कैसे व्यवस्थित हो सकता है कि शब्दतत्वस्वरूप परमब्रह्म अनादिकालसे चला आया हुआ जो अनन्तकालतक अक्षीण होता हुआ प्रवर्तता रहेगा। घट, पट, आदि अर्थ स्वरूपोंकरके वह शब्द ब्रह्म ही परिणाम धारता है। जिन परिणामोंसे कि गृह, कलश, पुस्तक, बाल, वृद्ध, स्वर्ग, नरक आदि भेदरूप जगत्की प्रक्रिया बनती है। भावार्थ—भेदप्रतीतियोंके भ्रमरूप सिद्ध हो जानेपर शब्दाद्वैत सिद्ध होय और अद्वैतके सिद्ध हो चुकनेपर भेदप्रतीति भ्रमस्वरूप बने। इस प्रकार इतरेतराश्रय दोष हो जानेसे यों अद्वैतवादियोंके मन्तव्य अनुसार शब्दब्रह्मका नित्यपना और दृश्य जगत्स्वरूपकरके उसका परिणाम होना सिद्ध नहीं हो पाता है, जिससे कि उस शब्दब्रह्मकी वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती, सूक्ष्मा ये चार सद्रूप अथवा असद्रूप अवस्थायें सम्भव हो जांय। यानी शब्दब्रह्मके सिद्ध नहीं होनेपर उसकी अवस्थायें आकाश पुष्पकी सुगन्धियों समान नहीं सिद्ध होती हैं। और उन चार अवस्थाओंके असम्भव हो जानेसे सम्पूर्ण ज्ञानोंमें यह शब्दोंका अनुगम करना तो नहीं साधा जा सकेगा कि सूक्ष्मा वाणी सभी ज्ञानोंमें विद्यमान है। अर्थात्—ज्ञानोंमें शब्दकरके अनुविद्धपना नहीं है, जिससे कि अन्य वाचक शब्दोंकी अपेक्षा करते करते इन्द्रियजन्य, लिंग-

जन्य आदि ज्ञानोंमें अन्योन्याश्रय और अनवस्था दोष नहीं हो सके। अर्थात्—ज्ञानको चारों ओरसे शद्धसे गुथा हुआ माननेपर अन्योन्याश्रय और अनवस्था दोष आते हैं। क्योंकि शद्धाद्वैतवादियोंने सभी प्रकारोंसे शद्धानुविद्धपनेका एकान्त चारों ओर स्वीकार कर लिया है। अत. जान करके शद्धका संसर्ग करनेपर उसी सम्वेदन और अन्य सम्वेदनों द्वारा जाननेमें उक्त दोष उपस्थित हो जाते हैं। यहांतक ' वाग्रूपता ततो न स्यात् ' इस कारिकाके प्रथमसे उठाये गये प्रकरणका उपसंहार करदिया गया है।

स्याद्वादिनां पुनर्वाचो द्रव्यभावविकल्पतः ।
द्वैविध्यं द्रव्यवाग्द्वेधाद्रव्यपर्यायभेदतः ॥ १०६ ॥
श्रोत्रग्राह्यात्र पर्यायरूपा सा वैखरी मता ।
मध्यमा च परैस्तस्याः कृतं नामांतरं तथा ॥ १०७ ॥

अब आचार्य महाराज इस वचनके विषयमें जैनसिद्धान्त दिखलाते हैं कि स्याद्वादियोंके यहां तो फिर द्रव्यवाक् और भाववाक्स्वरूप भेदोंसे वचनोंका दो प्रकार सहितपना है। तिनमें द्रव्यवाक् तो द्रव्य और पर्यायके भेदसे दो प्रकारकी है। यहां प्रकरणमें दूसरे शद्धाद्वैतवादी विद्वानों करके जो श्रोत्र इन्द्रियसे ग्रहण करने योग्य वाणी मानी गयी हैं, वे पर्यायरूप वाक् हैं। दूसरोंने उस पर्यायरूप वाणीका तिस प्रकार वैखरी और मध्यमा ये दूसरे नाम करलिये हैं। अत. शद्ध मात्र भेद है। तात्पर्य अर्थ एक ही है। पुद्गलकी कर्ण इन्द्रियसे ग्रहण करने योग्य पर्यायको शद्ध माना गया है।

द्रव्यरूपा पुनर्भाषावर्गणाः पुद्गलाः स्थिताः ।
प्रत्ययान्मनसा नापि सर्वप्रत्ययगामिनी ॥ १०८ ॥
भाववाग्व्यक्तिरूपात्र विकल्पात्मनिबंधनं ।
द्रव्यवाचोभिधा तस्याः पश्यंतीत्यनिराकृता ॥ १०९ ॥

दूसरी द्रव्यस्वरूपवाणी तो फिर भाषावर्गणास्वरूप स्थित हो रहे पुद्गल हैं, जो कि कण्ठ, तालु आदिको निमित्त पाकर अकार, ककार, अक्षरात्मक या अनक्षरात्मकशद्ध परिणम जाते हैं। अतः यह द्रव्यवाक् तो ज्ञानसे और मनके द्वारा भी सम्पूर्ण ज्ञानोंमें अनुगम करनेवाली नहीं है। फिर अद्वैतवादियोंने व्यर्थ ही कहा था कि ज्ञानोंमें प्रकाशनेवाला पदार्थ वाग्रूपपना ही है। दूसरा भेद जो भाववाक् किया गया है वह तो यहां पौद्गलिक या आत्मीय व्यक्तिस्वरूप होता हुआ

विकल्पज्ञान और द्रव्यवाक्के आत्मलाभका कारण है। भाववाक् भी व्यक्तिस्वरूप और शक्तिस्वरूप होकर दो प्रकार है। उस भाववाणीकी संज्ञा यदि अद्वैतवादियोंने पश्यन्ती धर दी है तो उसका निराकरण नहीं किया जाता है। भावार्थ—शद्वाद्वैतवादियोंने विकल्पस्वरूप निश्चयात्मक पश्यन्ती वाणी मानी है। हम जैन भी वीर्यान्तराय और मतिश्रुत ज्ञानावरण कर्मोंके क्षयोपशम होनेपर तथा अंगोपाग नामकर्मके उदयको पूर्णलाभ प्राप्त कर विकल्पोंका यथायोग्य अन्तर्जल्प करते हैं। वह पश्यन्ती या भाववाक् प्रकट होती हुयी द्रव्यवाणीका कारण है। यह भाववाक्का पहिला व्यक्तिरूप भेद हुआ।

वाग्विज्ञानावृतिच्छेदविशेषोपहितात्मनः।
वक्तुः शक्तिः पुनः सूक्ष्मा भाववागभिधीयताम् ॥ ११० ॥
तया विना प्रवर्तते न वाचः कस्यचित्क्वचित्।
सर्वज्ञस्याप्यनंताया ज्ञानशक्तेस्तदुद्भवः ॥ १११ ॥
इति चिद्रूपसामान्यात्सर्वात्मव्यापिनी न तु।
विशेषात्मतयेत्युक्ता मतिः प्राङ्नामयोजनात् ॥ ११२ ॥
शद्वानुयोजनादेव श्रुतमेवं न बाध्यते।
ज्ञानशद्वाद्विना तस्य शक्तिरूपादसंभवात् ॥ ११३ ॥

भाववाक्का दूसरा भेद शक्तिभाववाक् है। वचनोंसे जन्य शाब्दबोधज्ञानको आवरण करनेवाले कर्मोंके विशेष क्षयोपशमसे उपाधिग्रस्त हो रहे वक्ता आत्माकी जो शक्ति है वह शक्तिस्वरूप भाववाक् शब्दाद्वैतवादियोंकरके सूक्ष्मावाणी कही गयी दीखे हैं। क्योंकि उस शक्तिरूप सूक्ष्मावाणीके विना किसी भी जीवके कहीं भी वचन नहीं प्रवर्तते हैं। सर्वज्ञ भगवान्के भी अनन्तज्ञान, शक्ति या वीर्यशक्तिके होनेसे ही उस द्वादशागवाणीकी उत्पत्ति हो रही मानी गयी है। अर्थात्—प्रतिपक्षी कर्मोंके क्षयोपशम या क्षयके हो जानेपर प्रमेयोंका वाचन करानेके लिये या शब्दोंको यथायोग्य बनानेके लिये उत्पन्न हुयी पुरुषार्थ शक्ति ही शब्दोंकी जननी है। उसका भले ही सूक्ष्मा नाम धरलो, कोई क्षति नहीं है। इस प्रकार सामान्य चैतन्यस्वरूपकी अपेक्षासे उस शक्तिस्वरूप सूक्ष्मावाणीको सम्पूर्णभाषाभषी आत्माओंमें व्यापक हो रही हम मान सकते हैं। किन्तु विशेष विशेषस्वरूपनेसे तो सर्वव्यापक वह नहीं है। जैसा कि शब्दाद्वैतवादियोंने कहा था, दो इन्द्रियवाले जीवोंकी वाणी शक्तिसे पंचेन्द्रियजीवोंकी विशेषशक्तिया न्यारी न्यारी हैं। इस प्रकार नामयोजनासे पहिले स्मृति

आदिक ज्ञान मतिज्ञानस्वरूप कहे गये हैं। सभी ज्ञानोंमें नामका संसर्ग अनिवार्य नहीं है। अतः शब्दकी पीछे योजना कर देनेसे ही श्रुत होता है, इस प्रकारका नियम भी उक्त अपेक्षा लगानेपर बाधित नहीं हो जाता है। कारण कि शक्तिस्वरूप ज्ञान वाणीके विना उस परार्थश्रुतकी उत्पत्ति असम्भव है।

लब्ध्यक्षरस्य विज्ञानं नित्योद्घाटनविग्रहं।
श्रुताज्ञानेपि हि प्रोक्तं तत्र सर्वजघन्यके ॥ ११४ ॥
स्पर्शनेंद्रियमात्रोत्थमत्यज्ञाननिमित्तकं।
ततोक्षरादिविज्ञानं श्रुते सर्वत्र संमतम् ॥ ११५ ॥

सर्व ज्ञानोंमें उत्कृष्ट केवल ज्ञान है। और सम्पूर्ण ज्ञानोंमें छोटा ज्ञान सूक्ष्म निगोदियाका जघन्यज्ञान है। सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव अपने सम्भवनीय छह हजार बारह जन्मोंमें भ्रमण करता हुआ, अन्तके जन्ममें यदि तीन मोडेवाली गोमूत्रिका गतिसे मरे तब प्रथम मोडाके समयमें सर्व जघन्यज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञानमें अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं। क्योंकि शक्तिके अंशोंकी जघन्यवृद्धिको अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं। " अविभागपडिच्छेओ जहण्ण उड्ढी पएसाणं "। यह सबसे छोटा ज्ञान भी जघन्य अन्तरोंसे अनन्तगुणा है। अत. इस ज्ञानमें अनन्तानन्त अविभाग-प्रतिच्छेद माने गये हैं। स्पर्शन इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक यह लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान है। ये कारण कार्यस्वरूप दोनों ज्ञान कुज्ञान हैं। किसी भी जीवको कदापि इससे न्यूनज्ञान प्राप्त होनेका अवसर प्राप्त नहीं हुआ और नहीं होगा। इतना श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम सदा ही बना रहेगा। अतः लब्धि यानी सबसे छोटे क्षयोपशमसे यह ज्ञान अक्षर यानी अविनश्वर है। इतना ज्ञान भी यदि नष्ट हो जाय तो आत्मद्रव्यका ही नाश हो जायगा। अतः यह जघन्य श्रुतज्ञान नित्य ही उघड रहे शरीरवाला है। यानी इसके ऊपर कोई आवरण करनेवाला कर्म नहीं है। जघन्यज्ञान निवारण है। इसके ऊपरके श्रुतभेदोंको पर्यायावरण, पर्यायसमासावरण, आदि कर्म ढकते हैं। अत लब्ध्यक्षर-ज्ञानवाले जीवके हो रहा नित्य प्रकाशमान शरीरवाला जघन्य विज्ञान है। सर्वज्ञानोंमें जघन्य कहे जा रहे कुश्रुतज्ञानमें भी पूर्वमें कहा गया शक्तिरूप श्रुत अवश्य भले प्रकार विद्यमान हैं। सूक्ष्मनिगोदिया जीवके केवल स्पर्शन इन्द्रियसे उत्पन्न हुये मत्यज्ञानको निमित्तकारण मानकर जघन्यज्ञान होता है। तिस कारण सिद्ध होता है, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, आदि विज्ञान भी सामान्य चिद्रूप-करके व्याप्त हैं। सम्पूर्ण श्रुतोंमें ज्ञानस्वरूपशद्बकी अनुयोजना करना हमको सम्मत है।

नाकलंकवचोबाधा संभवत्यत्र जातुचित्।
तादृशः संप्रदायस्याविच्छेदाद्युक्त्यनुग्रहात् ॥ ११६ ॥

अतः इस प्रकरणमें श्री अकलंकदेवके वचनकी बाधा कभी भी नहीं सम्भवती है। क्योंकि तिस प्रकारके सर्वज्ञोक्त चले आरहे सम्प्रदाय (आम्नाय) का विच्छेद नहीं हुआ है। तथा शद्वकी योजनासे ही श्रुत होता है। इस सिद्धान्तमें भी पूर्वोक्त अनुसार युक्तियोंका अनुग्रह हो रहा है। शद्वकी योजनासे श्रुत ही होता है। इस पूर्वनियमको तो आचार्य महाराज सर्वथा इष्ट कर ही चुके हैं।

ननु न श्रोत्रग्राह्या पर्यायरूपा वैखरी मध्यमा च वागुक्ता शद्वाद्वैतवादिभिर्यतो नामांतरमात्रं तस्याः स्यान्न पुनरर्थभेद इति। नापि पश्यंती वाग्वाचकविकल्पलक्षणा सूक्ष्मा वा वाक्शद्वज्ञानशक्तिरूपा। किं तर्हि। स्थानेषूरःप्रभृतिषु विभज्यमाने विवृते वायौ वर्णत्वमापद्यमाना वक्तृप्राणवृत्तिहेतुका वैखरी। " स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णत्वपरिग्रहा। वैखरी वाक् प्रयोक्तॄणां प्राणवृत्तिनिबन्धना " इति वचनात्।

यहांपर शद्वानुविद्धवादीका पक्ष लेकर कोई विद्वान् अपने मतका अवधारण करते हुये कहते हैं कि श्रोत्रसे ग्रहण करने योग्य वेखरी और मध्यमा वाणी जो शद्वाद्वैतवादियोंने कही है, वह जैनोंद्वारा मानी गयी पर्यायरूप वाणी नहीं है, जिससे कि उसके केवल नामका अन्तर समझकर उस पर्यायवाणीका दूसरा नाम ही मध्यमा या वैखरी हो जाय। किन्तु फिर अर्थभेद नहीं हो सके और इस प्रकार जैन लोग अपने मतानुसार कहनेवाले शद्वाद्वैतवादियोंकी उक्तियोंपर अधिक प्रसन्नता प्रकट करें तथा वाचकोंका विकल्पस्वरूप पश्यन्ती वाणी भी नहीं मानी गयी है। हमारे यहांपर पश्यन्तीका लक्षण न्यारा है। अतः हम जैनमतके अनुसार कह रहे हैं, ऐसा हर्ष नहीं मनाओ अथवा हम शद्वाद्वैतवादियोंके यहां शद्वशक्तिस्वरूप या व्यक्तिस्वरूप सूक्ष्मावाणी नहीं मानी गयी है। जो कि जैनोंके यहां वक्ताकी शक्तिस्वरूप होकर भाववाक् होती हुयी उनकी प्रसन्नताका कारण बने तो शद्वाद्वैतवादियोंके यहां वैखरी आदिक कैसी मानी गयी हैं ? इसका उत्तर यह है छाती, कंठ, तालु इत्यादि स्थानोंमें विभागको प्राप्त हो रहे वायुके रुककर फट जानेपर वह जो वायु हकार, ककार, इकार, आदि वर्णपनेका परिग्रह कर लेती है, वह वैखरी वाक् है। शद्वप्रयोक्ता जीवोंके श्वासोच्छ्वासकी प्रवृत्तिको कारण मानकर वैखरीवाणी उपजती है। हमारे ग्रन्थोंमें ऐसा वचन है कि तालु आदि स्थानोंमें वायुके विभाग हो जानेपर वर्णपनेका परिग्रह करती हुयी और शद्व प्रयोक्ताओंकी प्राणवृत्तिको कारण मानती हुयी वैखरीवाणी है। जैसे कि तुम्बी, वीन, वासुरी आदिके छेदोंमेंसे मुखवायु विभक्त होती हुयी मिष्टस्वरोंमें परिणत हो जाती है। तथैव कानोंसे सुनने योग्य मोटी वैखरीवाणी शद्वब्रह्मका विवर्त है। तुम जैनोंके यहां पौद्गलिक शद्व तो ऐसे नहीं माने गये हैं। अतः हमारा तुम्हारा मिलान भला कहा जाय तो कैसे कहा जाय ? " कृतवर्णत्वपरिग्रहा " यों श्लोकके एक पादमें नौ अक्षर हुये जाते हैं, जो कि क्वचित् इष्ट किये गये हैं। अथवा " कृतवर्णपरिग्रहा " पाठ ही साधु है ॥

तथा मध्यमा केवलमेव बुद्ध्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी वक्तृप्राणवृत्तिमतिक्रम्य प्रवर्तमाना निश्चिता " केवलं बुद्ध्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी, प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्त्तते " इति वचनात् । पश्यन्ती पुनरविभागा सर्वतः संहृतक्रमा प्रत्येया । सूक्ष्मात्र स्वरूपज्योतिरेवान्तरवभासिनी नित्यावगन्तव्या । " अविभागा तु पश्यंती सर्वतः संहृतक्रमा । स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागवभासिनी ॥ १ ॥ " इति वचनात् । ततो न स्याद्वादिनां कल्पयितुं युक्ताश्चतस्रोऽवस्थाः श्रुतस्य वैखर्यादयस्तदनिष्टलक्षणत्वादिति केचित् ।

अभी कोई विद्वान् ही कहे जाते हैं कि तथा हम शब्दाद्वैतवादियोंकी मानी हुयी मध्यमा वाणी तो केवल बुद्धिको ही उपादान कारण मानकर उत्पन्न होती है । क्रमसे होनेवाले अपने स्वरूपके अनुसार हो रही चली आ रही है, और वक्ताकी प्राणवृत्तिका अतिक्रमण कर प्रवर्त रही निर्णीत हो चुकी है । हमारे दर्शनमें यों लिखा है कि केवल बुद्धिको उपादान कारण मानकर उपजी और क्रमरूपसे अनुपात कर रही तथा श्वासोच्छ्वासकी प्रवृत्तिका अतिक्रमण कर मध्यमा वाणी प्रवर्त रही है । फिर तीसरी पश्यन्ती वाणी तो विभागरहित होती हुयी सब ओरसे वर्ण, पद, आदिके क्रमका सकोच करती हुई समझनी चाहिये और यहां चौथा सूक्ष्मवाक् तो शब्द ब्रह्मस्वरूपकी ज्योति (प्रकाश) ही है । वह सूक्ष्मा अन्तरंगमें सदा प्रकाश रही नित्य समझनी चाहिये । इन दोनों वाणियोंके लिये हमारे ग्रन्थोंमें इस प्रकार कथन है कि जिसमें सब ओरसे क्रमका उपसंहार किया जा चुका है और विभाग भी जिसमें नहीं है, वह तो पश्यन्ती है, अर्थात्—अकार, ककार आदि वर्णके विभागरहित और वर्ण पदोंके बोलनेके क्रमसे रहित पश्यन्ती है और शब्द ज्योतिः—स्वरूप ही सूक्ष्मावाणी है, जो कि अन्तरङ्गमें प्रकाश कर रही है । स्याद्वादियोंने तो ऐसी द्रव्यवाक् भाववाक् तो नहीं मानी हैं । तिस कारण स्याद्वादियोंके यहां श्रुतकी वैखरी, मध्यमा आदिक चार अवस्थायें कल्पना करनेके लिए किया गया पण्डिताईका परिश्रम समुचित नहीं है । क्योंकि जैनोंके माने हुए वचनोंके वे लक्षण हम शब्दाद्वैतवादियोंको इष्ट नहीं हैं । इस प्रकार कोई शब्दानुविद्धवादी कह रहे हैं ।

तेऽपि न प्रातीतिकोक्तयः । वैखर्या मध्यमायाश्च श्रोत्रग्राह्यत्वलक्षणानतिक्रमात् । स्थानेषु विधृतो हि वायुर्वक्तृणा प्राणवृत्तिश्च वर्णत्वं परिग्रहत्यावैखर्याः कारणं । वर्णत्वपरिग्रहस्तु लक्षणं स च श्रोत्रग्राह्यत्वपरिणाम एव । इति न किञ्चिदनिष्टं । तथा केवला बुद्धिर्वक्तृप्राणवृत्त्यतिक्रमश्च मध्यमायाः कारणं तु लक्षणं क्रमरूपानुपातित्वमेव च तत्र श्रोत्रग्रहणयोग्यत्वाविरुद्धमिति न निराक्रियते ।

अब आचार्य महाराज उत्तर देते हैं कि वे विद्वान् भी प्रतीतियोंसे युक्त भाषण करनेवाले नहीं हैं । क्योंकि वैखरी और मध्यमाको शद्ववादियोंने श्रोत्रसे ग्रहण करने योग्य स्वीकार किया है ।

और हम स्याद्वादियोंके यहां पर्यायरूप द्रव्यवाक् भी कर्ण इन्द्रियसे ग्राह्य मानी गयी हैं। अतः कर्ण इन्द्रियसे ग्रहण करने योग्यपना, इस लक्षणका उल्लंघन नहीं हुआ है। आपने तालु आदि स्थानोंमें फैल रही वायु और वक्ताओंकी श्वासोच्छ्वासप्रवृत्ति ही वर्णपनेको परिग्रहण कर रही वैखरी वाणीके कारण माने हैं। वैखरीका लक्षण वर्णपनेका परिग्रह कर लेना है। और वह तो कान इन्द्रियद्वारा ग्राह्य हो जानापनस्वरूप परिणति ही है। जगत्में फैली हुयीं भाषावर्गणायें या शब्द-योग्यवर्गणायें पहिले कानोंसे सुनने योग्य नहीं थीं, अक्षर पद या ध्वनिरूप पर्याय धारनेपर वे कानोंसे सुनने योग्य हो जाती हैं। इस प्रकार हमको और तुमको कुछ भी अनिष्ट नहीं है। अर्थात्-हमारी श्रोत्रसे ग्राह्य हो रही पर्यायवाणी और तुम्हारी वैखरीवाणी एकसी मान ली गयी। तथा केवल बुद्धि ही मध्यमाकी उपादान कारण तुमने मानी है और प्राणवृत्तियोंका अतिक्रमण करना तो मध्यमाका निमित्त कारण माना गया है। तथा वर्ण, पद आदिके क्रमसे अपने स्वरूपका अनुगम करना ही यह मध्यमाका लक्षण भी श्रोत्रद्वारा ग्रहण करने योग्यपनसे विरुद्ध नहीं पडता है। इस कारण आपकी मध्यमाका निराकरण नहीं किया जाता है। स्याद्वादियोंके यहां पर्यायरूप अन्त-र्जल्पस्वरूप शब्द कानोंसे सुनने योग्य माने हैं।

पश्यन्त्याः सर्वतः संहृतक्रमत्वमविभागत्वं च लक्षणं। तच्च यदि सर्वथा तदा प्रमाणविरोधो, वाच्यवाचकविकल्पक्रमविभागयोस्तत्र प्रतिभासनात्। कथंचित्तु संहृतक्र-मत्वमविभागत्वं च तत्रेष्टमेव, युगपदुपयुक्तश्रुतविकल्पानामसम्भवाद्वर्णादिविभागाभावाच्चा-नुपयुक्तश्रुतविकल्पस्येति। तस्य विकल्पात्मकत्वलक्षणानतिक्रम एव।

शब्दाद्वैतवादियोंने पश्यन्तीका लक्षण क्रमोंका संहार किया जाना और विभागरहितपना किया है। इस पर हमें पूंछना है कि वाणियोंमें वह क्रमका संहार और अविभाग यदि सर्वथा रूपसे माने गये हैं, तब तो प्रमाणोंसे विरोध आवेगा। क्योंकि उन शब्दोंमें विकल्पज्ञानके अनुसार वाच्य और वाचकोंका क्रम तथा वर्ण, पद आदिकोंके विभागोंका प्रतिभास हो रहा देखा जाता है। हां, संहृत क्रमपना और विभागरहितपना यदि कथंचित् माना जाय सो तो हमें भी वहां शब्दमें इष्ट ही है। उपयोगको प्राप्त हो रहे श्रुतके अनेक विकल्पोंका एक ही समयमें असम्भव है। सुमेरु पर्वत, ऊर्ध्वलोक, छठे गुणस्थानके भाव, अष्टसहस्री आदिका प्रबोध, युगपत् हो सकता है। किन्तु वाच्य वाचकके क्रमका संहार हो जाता है। भोजन कर रहे या विनोद कर रहे न्यायशास्त्रके वेत्ता विद्वान्में न्यायशास्त्रकी व्युत्पत्ति है। किन्तु श्रुतके विकल्पोंका उपयोगरूप परिणाम आत्मामें नहीं है। उस अनुपयुक्त हो रहे श्रुतके विकल्पके वर्ण, पद, पंक्ति, आदिका यों विभाग उस समय नहीं है। अतः उस पश्यन्ती वाणीके विकल्पस्वरूपपने लक्षणका हमारी मानी हुयी भाववाणीसे अतिक्रमण कैसे भी नहीं हो पाता है। कथञ्चित् लक्षणैक्य ही है।

सूक्ष्मायाः पुनरन्तःप्रकाशमानस्वरूपज्योतिर्लक्षणत्वं कथंचिन्नित्यत्वं च नित्योद्घाटितान्निरावरणलब्ध्यक्षरज्ञानाच्छक्तिरूपाच्च चित्सामान्याश्च विशिष्यते । सर्वथा नित्याद्वयरूपत्वं तु प्रमाणविरुद्धस्य वेदितमायम् । इत्यलं प्रपंचेन ।

फिर चौथी सूक्ष्माका लक्षण तुमने अन्तःप्रकाशमान ज्योतिःस्वरूप किया है, और उसको नित्य माना है, तहां कथंचित् नित्यपना ठीक है । हम स्याद्वादियोंके यहां नित्य उद्घाटित हो रहे और केवलज्ञानके समान निरावरण तथा क्षयोपशमलब्धिसे अविनाशी हो रहे, ऐसे सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके भी शक्तिरूप चैतन्य सामान्यसे अथवा अन्य क्षयोपशमिक शक्तिरूप लब्धियोंसे तुम्हारी सूक्ष्मा वाणीका कोई विशेष नहीं दीख रहा है । हां, सभी प्रकारोंसे उस सूक्ष्मावाणीको नित्य और अद्वैतस्वरूप मानोगे सो तो प्रमाणविरुद्ध है । अर्थात्—प्रमाणोंसे विरुद्ध हो रहे पदार्थको ही सर्वथा नित्यपना या अद्वैतस्वरूपपना भले ही कह दिया जाय, किन्तु प्रमाणसे उत्पन्न हो रही वस्तुमें सर्वथा नित्यपन या अद्वैतपन नहीं बनते हैं । इस बातको हम बहुत बार निवेदन कर चुके हैं, या समझा चुके हैं । तिस कारण यहां अधिक विस्तार करनेसे कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा ।

" श्रुतं शद्बानुयोजनादेव " इत्यवधारणस्याकलंकाभिप्रेतस्य कदाचिद्विरोधाभावात् । तथा संप्रदायस्याविच्छेदाद्युक्त्यनुग्रहाच्च सर्वमतिपूर्वकस्यापि श्रुतस्याक्षरज्ञानत्वव्यवस्थितेः ।

शद्बकी अनुयोजनासे ही श्रुत होता है, इस प्रकार श्री अकलंकदेवको अभिप्रेत हो रहे अवधारणका कभी भी विरोध नहीं पडता है । श्रोत्रसे अतिरिक्त अन्य इन्द्रियोंसे जन्य मतिज्ञान-द्वारा हुये अर्थान्तरके ज्ञानमें या अवाच्य श्रुतज्ञानमें अथवा अन्य श्रुतोंमें भी भाववाक्रूप चैतन्य शब्दोंकी योजना कर देनेसे ही श्रुतपना व्यवस्थित हो सकता है, अन्यथा नहीं । पूर्वसे चली आरहीं तिस प्रकारकी आम्नायोंकी विच्छित्ति नहीं हुयी है । इस कारण और युक्तियोंका अनुग्रह हो जानेसे भी सम्पूर्ण मतिज्ञानोंको पूर्ववर्ती कारण मानकर भी उत्पन्न हुये श्रुतको अक्षरज्ञानपना व्यवस्थित होगया है । यानी भावशद्बोंकी योजना कर देनेसे ही वे श्रुत हो सके हैं ।

अत्रोपमानस्यान्तर्भावं विभावयन्नाह ।

शद्बकी अनुयोजनासे ही श्रुत होता है अथवा श्रुत ही शद्बकी अनुयोजनासे होता है । इसका विचार कर अब नैयायिकोंद्वारा पृथक् प्रमाण माने गये उपमानके अन्तर्भावका विचार कराते हुये आचार्य महाराज स्पष्ट व्याख्यान कहते हैं ।

कृतातिदेशवाक्यार्थसंस्कारस्य क्वचित्पुनः ।
संवित्प्रसिद्धसाधर्म्यात्तथा वाचकयोजिता ॥ ११७ ॥

प्रकाशितोपमा कैश्चित्सा श्रुतान्न विभिद्यते ।
शद्बानुयोजनात्तस्याः प्रसिद्धागमवित्तिवत् ॥ ११८ ॥

एकत्र श्रुतस्यान्यत्र सम्बन्धोतिदेशः । किसी वनवासी पुरुषने ग्रामीणके लिये कहा कि गौके सदृश पशु तो गवयपद द्वारा कहा जाता है । पीछे ग्रामीणने किसी बन या खेतमें रोझको देखा, उस रोझमें जो गौके सदृशपनेका ज्ञान है, वह उपमितिका करण उपमान प्रमाण है । " प्रसिद्ध साधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् " यह गौतम सूत्र है । गौके सदृश गवय होता है, इस अतिदेश वाक्यके अर्थका किये गये भावनानामक संस्कारवाले पुरुषको फिर कहीं रोझ व्यक्तिमें प्रसिद्ध गौके समान धर्मपनेसे तिस प्रकार " यह गवय है " इस प्रकार गवय वाचकशद्बकी योजनापूर्वक जो ज्ञान होता है, वह किन्हीं नैयायिक विद्वान् करके उपमानप्रमाण प्रकाशित किया गया है । किन्तु " यह गवयपदसे वाच्य है " इस प्रकार हुयी वह उपमा तो श्रुतसे विभिन्न नहीं हो रही है । क्योंकि उस उपमितिके शद्बकी अनुयोजना लग रही है । जैसे कि अन्य प्रसिद्ध हो रहे शद्बानुयोगी आगमज्ञान इस श्रुतसे भिन्न नहीं हैं । भावार्थ—श्रुतमें ही उपमानप्रमाण गर्भित हो जाता है । " श्रुतं शद्बानुयोजनात् " यह लक्षण यहां घटित हो जाता है ।

प्रमाणान्तरतायान्तु प्रमाणनियमः कुतः ।
संख्या संवेदनादीनां प्रमाणांतरता स्थितौ ॥ ११९ ॥

यदि उपमान प्रमाणको नियत प्रमाणोंसे न्यारा प्रमाणपना माना जायगा तब तो तुम्हारे यहां प्रमाणोंका नियम कैसे हो सकेगा ? पचास, चालीस प्रमाण माननेपर भी परिपूर्णता नहीं हो सकेगी । संख्याके ज्ञान, रेखाओंके ज्ञान, आदिकोंको भी न्यारा प्रमाण माननेकी व्यवस्था करनेका प्रसंग होगा । जितने रुपयेकी मनभर (चालीस सेर) कोई वस्तु आती है, उतने ही आनोंकी ढाई सेर आवेगी । इस प्रकार अतिदेश वाक्यको स्मरण कर रहा मुनीम अवसरपर परिमित पदार्थोंका गणित लगा लेता है । " नौ सात त्रेसठ " इस प्रकार पहाडेको याद कर संस्कार रखनेवाला विद्यार्थी सात सात की नौ विछीं हुयीं पंक्तियोंको देखकर त्रेसठ संख्याका ज्ञान कर लेता है । रेखागणितके नियम अनुसार विष्कम्भके वर्गको दशगुना करनेपर उसका वर्गमूल निकालनेसे परिधि निकल आती है । ऐसा स्मरण रखता हुआ बालक जम्बूद्वीप लवणसमुद्रकी आदि गोल पदार्थोंकी परिधिका ज्ञान करलेता है । किन्तु ये ज्ञान न्यारे प्रमाण तो नहीं माने गये हैं । श्रुतमें गतार्थ हैं ।

प्रत्यक्षं द्व्यादिविज्ञानमुत्तराधर्यवेदनं ।
स्थविष्ठोरुदविष्ठाल्पलघ्वासन्नादिवित्त्व चेत् ॥ १२० ॥

नोपदेशमपेक्षेत जातु रूपादिवित्तिवत् ।
परोपदेशनिर्मुक्तं प्रत्यक्षं हि सतां मतं ॥ १२१ ॥

यदि तुम नैयायिक दो, दश आदि संख्याओंके ज्ञानको अथवा ऊपर नीचेपनके ज्ञानको तथा अतिस्थूलपन, मोटापन, अधिक दूरपन, अल्पपन, लघुपन, निकटवर्तीपन, लम्बापन, गुरुत्व, आदिके ज्ञानोंको प्रत्यक्ष प्रमाणरूप मानोगे, तब तो हम जैन कहेंगे कि उक्त कहे हुये ज्ञान कभी भी उपदेशकी अपेक्षा नहीं करेंगे, जैसे कि रूप, रस, आदिके प्रत्यक्षज्ञानोंको अन्यके उपदेशकी अपेक्षा नहीं है । सम्पूर्ण ही सज्जन विद्वानोंके यहां प्रत्यक्षज्ञान नियमसे परोपदेश करके रहित माना गया है । भावार्थ—१ पन्द्रह छक्का नब्बे २ उच्च कक्षाके छात्र ऊपर रहते हैं, और नीचली श्रेणीके विद्यार्थी नीचे रहते हैं, ३ मानली गयी इतनी मोटाईसे अधिक मोटा हो रहा मनुष्य या वृक्ष अधिक स्थूल कहा जाता है, ४ यह खेत उस खेतसे अधिक विस्तीर्ण है, ५ यह मार्ग उस मार्गसे अधिक दूर पडता है, ६ यह आम्रफल उस अमरूदसे छोटा है, ७ सोनेसे चांदी हलकी होती है, ८ यह ग्राम उस ग्रामसे निकट है, ९ यह नदी उस कुल्यासे लम्बी है, १० धातुओंमें पारा सबसे भारी है, इत्यादि वृद्धवाक्योंके संस्कारको धारनेवाले पुरुषोंके उत्पन्न हुये ज्ञानोंको यदि प्रत्यक्ष कह दिया जायगा तो इनमें परोपदेशकी आवश्यकता नहीं पडेगी । अन्यप्रतीतियोंका व्यवधान नहीं कर जो साक्षात् विशदज्ञान है, वह प्रत्यक्ष है । किन्तु अन्यज्ञानोंकी या परोपदेशोंकी इन ज्ञानोंमें तो आकांक्षा हो रही है । अतः उक्त ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकते हैं । किन्तु विशेष श्रुतस्वरूप हैं ।

तत्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरपेक्षते ।
परोपदेशमध्यक्षं संख्यादिविषयं यदि ॥ १२२ ॥
तदोपमानतः सैतत् प्रमाणान्तरमस्तु वः ।
नोपमानार्थता तस्यास्तद्वाक्येन विनोद्भवात् ॥ १२३ ॥

यदि आप नैयायिक यों कहें कि किसी वनवासी भीलने एक नागरिकको कहा कि गायके समान ही गवय होता है । नागरिक कचित् गायके समान धर्मवाले अर्थको इन्द्रियोंसे देखता हुआ निर्णय करता है कि इस अर्थकी वाचक गवय संज्ञा है और यह रोझ व्यक्ति गवय संज्ञावान् है, यों संज्ञा और संज्ञीके सम्बन्धकी प्रतिपत्ति ही परोपदेशकी अपेक्षा करती है । छत्तीस, त्रेसठि आदिका ज्ञान तो परोपदेशकी अपेक्षा नहीं करता है । अतः संख्या, अधिकस्थूलपना, दूरतरपना इत्यादिको विषय करनेवाला वह ज्ञान प्रत्यक्ष ही है, कोई अतिरिक्त प्रमाण नहीं है । अब आचार्य

कहते हैं कि तब तो उपमान प्रमाणसे अतिरिक्त वह सम्बन्धकी प्रतिपत्ति ही तुम नैयायिकोंके यहां प्रमाणान्तर हो जाओ, यह न्यारा प्रमाणपना दोष तदवस्थ रहा। उस उपमानवाक्यके विना ही उस सम्बन्ध प्रतिपत्तिकी उत्पत्ति हो जाती है। अतः उपमानप्रमाणमें उसका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है, जब कि वह उपमानका विषय नहीं हो सकी है। उपमानप्रमाण बननेके लिये वही समर्थ माना गया है, जिसकी उपमानवाक्यका स्मरण करते हुये उत्पत्ति होवे। इसके अतिरिक्त अन्य ज्ञान तो उपमानमें गतार्थ नहीं हो सकते हैं।

आगमत्वं पुनः सिद्धमुपमानं श्रुतं यथा।
सिंहासने स्थितो राजेत्यादिशद्बोत्थवेदनं ॥ १२४ ॥

हां, फिर संख्या, स्थूलत्व, आदिके ज्ञानोंको जिस प्रकार आगमपना सिद्ध हो जाता है, उसी प्रकार उपमान प्रमाणको भी श्रुतपना समझो। सिंहासनपर जो बैठा हुआ होय उसको राजा समझना, डेरी ओर छोटे आसनपर बैठे हुयेको मंत्री समझना, इत्यादिक आप्त शद्बोंको सुनकर पुनः राजसभामें जाकर उन शद्बोंके संस्कारसे उत्पन्न हुये उन उन व्यक्तियोंमें राजा, मंत्री, आदिके ज्ञानको जिस प्रकार श्रुतपना है, उसी प्रकार उपमानको भी श्रुतपना सिद्ध है। अर्थान्तरकी अभेदविवक्षा अनुसार कतिपय प्रत्यभिज्ञान मतिज्ञान समझे जाते हैं। किन्तु प्रकृत अर्थसे भिन्न माने जा रहे आर्थान्तरकी प्रतिपत्ति करनेवाले उपमान या प्रत्यभिज्ञान सभी श्रुतज्ञान हैं।

प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानं, गौरिव गवय इति ज्ञानं। तथा वैधर्म्याद् योऽगवयो महिषादिः स न गौरिवेति ज्ञानं। साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थः। अयं स गवयशद्बवाच्यः पिंड, इति सोऽयं महिषादिरगवयशद्बवाच्य इति वा साधर्म्यवैधर्म्योपमानवाक्यादिसंस्कारस्य प्रतिपाद्यस्योपजायते। इति द्वेधोपमानं शद्बात्प्रमाणान्तरं ये समाचक्षते तेषां द्व्यादिसंख्याज्ञानं प्रमाणान्तरं, गणितज्ञसंख्यावाक्याहितसंस्कारस्य प्रतिपाद्यस्य पुनर्द्व्यादिषु संख्याविशिष्टद्रव्यदर्शनादेतानि द्व्यादीनि तानीति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिर्द्व्यादिसंख्याज्ञानप्रमाणफलमिति प्रतिपत्तव्यं।

गौतमऋषिके बनाये हुये न्यायसूत्रमें कहा है कि प्रसिद्ध हो रहे पदार्थके साधर्म्यसे अप्रसिद्ध साध्यको साधना उपमान प्रमाण है, जैसे कि गौके सदृश गवय होता है, यह ज्ञान उपमान है। तथा प्रसिद्ध पदार्थके विलक्षण धर्मसहितपनेकरके भी अप्रसिद्ध साध्यका साधना उपमान है, जैसे कि जो गौ या गोसदृश गवयसे भिन्न भैंसा, ऊंट, हाथी आदिक पशु हैं। वे गौके सदृश नहीं हैं, यह ज्ञान भी उपमान है। ऐसा टीकाकारोंने वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञानका उपसंख्यान किया है कि साधर्म्य और वैधर्म्यकरके संज्ञा और संज्ञीके सम्बन्धकी प्रतिपत्ति हो जाना उपमान प्रमाणका प्रयोजन

(फल) है। अथवा वनमें दीख रहा यह पशुपिंड ही वह गवयपदसे वाच्य है। इस प्रकार ज्ञान होना सादृश्य उपमानका फल है। अथवा यह अंगुलीनिर्दिष्ट भैंसा, ऊंट आदिक पशु उस गवय शद्बके वाच्य नहीं हैं। इस प्रकार वैसादृश्य–उपमानका फल हैं। प्रसिद्ध पदार्थके समान धर्म अथवा विलक्षण धर्मसहितपनकी उपमाको कहनेवाले वाक्य, संकेत, चित्रदर्शन, आदिका अनुभव कर पुनः भावना संस्कार रखनेवाले प्रतिपाद्य (शिष्य) के उपमानज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार दो प्रकारके उपमानको जो नैयायिक शद्बप्रमाणसे न्यारा प्रमाण अच्छे ढंगपूर्वक बखान रहे हैं, उनके यहां दो, छत्तीस आदिक संख्याओंका ज्ञान भी न्यारा प्रमाण हो जायगा। देखिये, गणित विद्याको जाननेवाले विद्वान्करके कहे गये संख्याओंके वाक्योंका संस्कार धारण किये हुये प्रतिपाद्यको पुन. दो आदि संख्यावाले नवीन स्थलोंपर वैसी संख्याओंसे विशिष्ट हो रहे द्रव्योंके देखनेसे ये दो दूनी चार हैं, ये पन्द्रह छक्का नब्बे रुपये हैं, इत्यादिक उसी प्रकार पहिले देखे हुये उन दो आदि संख्याओंके समान हैं, इस प्रकार संज्ञा संज्ञियोंके सम्बन्धकी प्रतिपत्ति हो जाती है। वह दो आदि संख्याओंका ज्ञानस्वरूप प्रमाणका फल है, यह अतिप्रसंग समझ लेना चाहिये।

तथोत्तराधर्यज्ञानं सोपानादिषु, स्थविष्ठज्ञानं पर्वादिषु, महत्त्वज्ञानं स्ववंशादिषु, दविष्ठज्ञानं चंद्रार्कादिष्वल्पत्वज्ञानं सर्षपादिषु, लघुत्वज्ञानं तूलादिषु, प्रत्यासन्नज्ञानं स्वगृहादिषु, संस्थानज्ञानं त्र्यस्त्र्यादिषु, वक्रर्ज्वादिज्ञानं च क्वचित्प्रमाणांतरमायातं।

तथा सोपान (जीना) नसैनी, पटल, श्रेणी (कक्षा) आदिमें ऊपर नीचेपनका ज्ञान भी भिन्न प्रमाण मानना पडेगा। पवोली, गाठ, सन्दूक, आदिमें अधिक स्थूलपनका ज्ञान और अपने घरके वास, इक्षुदण्ड, कपाट, आदिमें महान्पनका ज्ञान तथा चन्द्रमा, सूर्य, मंगल, आदिकोंमें बहुत दूरपनेका ज्ञान एवं सरसों, तिल, बाजरा, वटबीज आदिमे अल्पपनेका ज्ञान और रूई, फसूकर, फेन आदिमें हलकेपनका ज्ञान तथा अपने गृह, बाग, कोठी, आदिमें निकटवर्तीपनेका ज्ञान तथैव तिकौनिया या तिकोने, चौकोने, गोल, लम्बे, आदि आकारवाले पदार्थोंमें तैसी पहिले दिखाई गयी रचनाका ज्ञान तथा कहीं कहीं लकुट, लेखनी आदिमें टेडेपन, सूधेपन आदिके ज्ञान भी दूसरे न्यारे न्यारे प्रमाण बन जायंगे। यह प्रसंग आकर प्राप्त हो गया। सहारनपुरमें चार बजे बम्बईसे डाक गाडी आती है। यह सुनकर पुनः किसी दिन चार बजे स्टेशनपर जाकर वहां खडी हुयी गाडीको देखकर बम्बईसे आई हुयी डाकगाडीका ज्ञान कर लिया जाता है। सामुद्रिक शास्त्र या ज्योतिषशास्त्रके अनुसार चिन्होंको देखकर विद्या, आयुष्य, धन, पुत्र, आदिकी प्राप्तिका ज्ञान कर लिया जाता है। नैयायिकोंके यहां ये सब न्यारे प्रमाण बन बैठेंगे। सादृश्य उपमान या बडी प्रेरणा होनेपर माने गये वैसादृश्य–प्रत्यभिज्ञानमें तो इनका अन्तर्भाव हो नहीं सकता है।

परोपदिष्टोत्तराधर्यादिवाक्याहितसंस्कारस्य विनेयजनस्य पुनरौत्तराधर्यदर्शनादिदं तदौत्तराधर्यादीति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तेस्तत्फलस्य भावाच्च हि संख्याज्ञानादि प्रत्यक्षमिति युक्तं वाक्, परोपदेशापेक्षाविरहप्रसंगात् रूपादिज्ञानवत्, परोपदेशविनिर्मुक्तं प्रत्यक्षमित्यत्र सतां संप्रतिपत्तेः।

अज्ञात पुरुषको किसी हितैषीने सोपान (जीना) का ज्ञान उपदेश द्वारा कराया कि अमुक सीढी ऊंची है, और अमुक सीढी नीची है, इत्यादि वाक्योंके संस्कारोंका आधान रख चुके हुये विनीत पुरुषको फिर ऊपर और अधर धर्मवाले पदार्थका दर्शन हो जानेसे, यह वही उत्तरपना और अधरपना आदिक हैं। इस प्रकार उस उपमानके संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध प्रतिपत्तिरूप फलका सद्भाव है। अतः आप नैयायिक बतलाओ कि इनका कौनसे प्रमाणमें अन्तर्भाव करोगे? संख्याज्ञान, स्थूलपनका ज्ञान, आदिक ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण हो जायं, यह तो कहनेके लिये युक्त नहीं पडेगा। क्योंकि यों तो इन उक्त ज्ञानोंको परोपदेशकी अपेक्षा रखनेके अभावका प्रसंग हो जायगा, जैसे कि रूप, रस आदिके प्रत्यक्षज्ञान अन्यके उपदेशोंकी अपेक्षा नहीं रखते हैं। सम्पूर्ण प्रत्यक्षप्रमाण परोपदेशोंकी विशेषरूप करके अपेक्षा करनेसे सर्वथा रहित हैं। इस प्रसिद्ध सिद्धान्तमें सम्पूर्ण सज्जन विद्वानोंको भली भांति प्रतिपत्ति हो रही है। किन्तु संख्याके ज्ञान करनेमें गणित शास्त्रोंके करणसूत्रकी या पहाडेकी आकांक्षा हो रही है। यह बासकी पंबोली स्थूल है। यह बास लंबा है। सरसों छोटी है, इत्यादि ज्ञानोंमें स्मरण या छह चौक चौबीस, जितने रुपयोंकी एक सेर उतने ही आनोंकी एक छटाक, आदि परोपदेशोंकी अपेक्षा हो रही है। अतः ये उक्तज्ञान कथमपि प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकते हैं।

यदि पुनः संख्यादिविषयज्ञानं प्रत्यक्षमपरोपदेशमेव तत्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तेरेव परोपदेशापेक्षानुभवादिति मतं तदा सैव संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिः प्रमाणान्तरमस्तु, विनोपमानवाक्येन भावादुपमानेऽन्तर्भावयितुमशक्यत्वात्।

यदि फिर नैयायिकोंका यह मन्तव्य होय कि संख्या स्थूलता, महत्ता, अल्पता, ऊंचा, नीचापन, आदि को विषय करनेवाले ज्ञान तो प्रत्यक्ष प्रमाण ही हैं। इनमें परोपदेशकी कोई अपेक्षा नहीं हुयी है। हां, उनके संज्ञासंज्ञी सम्बन्धकी प्रतिपत्तिको ही परोपदेशकी अपेक्षा रखनेका अनुभव हो रहा है। अब आचार्य महाराज कहते हैं कि तब तो वह संज्ञा और संज्ञावाले अर्थोंके सम्बन्धकी ज्ञप्ति होना ही न्यारा प्रमाण हो जाओ। जब कि वे प्रतिपत्तियां समीचीन ज्ञान हैं तो आपके नियत हो रहे चार प्रमाणोंसे अतिरिक्त प्रमाण मानना चाहिये। उपमान वाक्यके विना ही हो जानेके कारण उपमान प्रमाणमें तो अन्तर्भाव करानेके लिये असमर्थपना है। भावार्थ—गौके समान गवय होता है। मुद्गपर्णी औषधिके सदृश दूसरी औषधि विषको दूर करदेती है। इस प्रकार यथा, इव, वत्

प्रत्यय सादृश्य तुल्यता इनसे कहा गया उपमान तो उक्त वाक्योंमें नहीं है। यहां तो गणितशास्त्रके संस्कार या स्वयं पहिले देखे हुये छोटेपन, बडेपन, दूरपन, लघुपन, आदिके उपदेश अथवा अनुभव कार्यकारी हो रहे हैं। ऐसी दशामें तुम्हारे माने हुये उपमानमें उक्त संख्या आदिके ज्ञानोंका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है। लिंगदर्शन, व्याप्तिस्मरण आदिके विना उक्तज्ञान हो रहे हैं। अत अनुमानमें गर्भित नहीं कर सकते हो। अतः परिशेषसे शाब्दज्ञानमें उनका गर्भ करना अनिवार्य पड जायगा। अथवा उपमानके समान स्वतंत्र न्यारे न्यारे प्रमाण विवश होकर मानने पडेंगे, अन्य कोई उपाय नहीं है।

ननु चाप्तोपदेशात्प्रतिपाद्यस्य तत्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरागमफलमेव ततोऽप्रमाणांतरमिति चेत्तर्ह्याप्तोपदिष्टोपमानवाक्यादपि तत्प्रतिपत्तिरागमज्ञानमेवेति नोपमानं श्रुतात्प्रमाणान्तरं।

नैयायिक अपने पक्षका ही अवधारण करते हुये कह रहे हैं कि यथार्थ वक्ताके उपदेशसे उत्पन्न हुयी शिष्यको वह संज्ञासंज्ञियोंके सम्बन्धकी प्रतिपत्ति तो आगमज्ञानका फल ही है। तिस कारण वह न्यारा प्रमाण नहीं है। प्रमाके करणोंको प्रमाणपना कहना ढूंढना चाहिये, प्रमितियोंके प्रमाणपनकी परीक्षामें अवसर खोना अच्छा नहीं है। प्रमाणोंके फल तो अनेक प्रतिपत्तियां हैं। उनको कहांतक प्रमाण माना जा सकता है। जैनोंने भी प्रमाणके फल अज्ञाननिवृत्ति, हान उपादान, और उपेक्षाको प्रमाणस्वरूप नहीं मानकर अभाव, त्याग, ग्रहण, और अनिच्छास्वरूप कार्य कहा है। देखो, व्याप्तिज्ञान प्रमाण है, और वह्निकी प्रमिति उसका फल है। उस वह्निकी प्रमाको पुनः प्रमाण माननेकी आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार नैयायिकोंके कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि आप्तपुरुषद्वारा उपदेश किये गये उपमान वाक्यसे हो रही उस सादृश्य विशिष्ट गौ या गोविशिष्ट सादृश्यकी प्रतिपत्ति भी आगमप्रमाण ही हो जाओ। इस प्रकार श्रुतसे निराला उपमानप्रमाण नहीं हो सका। नैयायिकोंने जो यह कहा था कि प्रमाणके फलमें प्रमाणपनेका अन्वेषण नहीं करना चाहिये। इसपर हमारा यह कहना है कि प्रमाणसे अभिन्न हो रहे फल प्रमाणरूप ही हैं। अज्ञाननिवृत्ति कोई तुच्छ पदार्थ नहीं है। वह प्रमाण स्वरूप ही है। व्याप्तिका ज्ञान व्याप्तिको जाननेमें प्रमाण है। अग्निके अनुमानज्ञानकी उत्पत्तिमें व्याप्तिज्ञान निमित्त कारण है। सच पूछो तो अग्निकी अनुमिति ही अनुमान प्रमाण है। धूमज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है। वन्हि और धूमका व्याप्तिज्ञान तो तर्क है, और वन्हिज्ञान अनुमान प्रमाण है। ज्ञान ही प्रमाण हो सकते हैं। इसको हम कह चुके हैं। कोई भी प्रमाणज्ञान चाहे वह किसी पदार्थका फल होय, किन्तु अपने विषयकी प्रमितिका करण होनेसे अवश्य प्रमाण बन बैठता है। प्रमिति, ज्ञप्ति, अनुमिति, आदि धर्मोंसे तदात्मक हो रहा वह प्रमाण उपजता है। अतः उपमान वाक्यसे हुयी वह सम्बन्ध प्रतिपत्ति भी आगम प्रमाण होगी, यह विश्वास रखो। फल कह देनेसे तुम छुट्टी नहीं पा सकते हो।

सिंहासनस्थो राजा मंचके महादेवी सुवर्णपीठे सचिवः एतस्मात्पूर्वत एतस्मादुत्तरत एतस्माद्दक्षिणत एतन्नामेत्यादिवाक्याहितसंस्कारस्य पुनस्तथैव दर्शनात्सोऽयं राजेत्यादि-संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिः। षडाननो गुहश्चतुर्मुखो ब्रह्मातुंगनासो भागवतः क्षीराम्भोवि-वेचनतुण्डो हंसः सप्तच्छद इत्यादिवाक्याहितसंस्कारस्य तथा प्रतिपत्तिर्वा यथागमज्ञानं तथा तद्वदेवोपमानमवसेयं विशेषाभावात् ।

उपमान, उपमेय सूचक वाक्योंके विना ही अन्य प्रतियोगित्व, सामीप्य, तत्रस्थितपना, आदिके द्वारा सूचना देनेवाले आप्तवाक्योंसे हुये इन वक्ष्यमाण ज्ञानोंको आप नैयायिक यदि आगम-ज्ञान कहते हैं तो उपमान वाक्यसे उत्पन्न हुआ उपमान प्रमाण भी आगमज्ञान हो जाओ " आप्त-वाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः " आप्तके वाक्योंको निमित्त पाकर जो ज्ञान उपजता है, वह आगम है। पहिले ही पहिले राजसभामें जानेवाले किसी नवपुरुषको दरबारमें आने जानेवाले किसी हितैषी मित्रने समझा दिया कि मध्यमें सन्मुख रखे हुये सिंहासनपर जो महान् पुरुष बैठा हुआ दीखे उसको राजा समझना और उसके डेरी ओर सुवर्णके उच्चासनपर बैठी हुयी स्त्रीको पट्टरानी समझो तथा दो हाथ लम्बे चौडे और आधे हाथ ऊंचे सुवर्णके पीठ (कुर्सी) पर मंत्री बैठा करता है। इससे पूर्व देशमें और इससे उत्तरकी ओर तथा इससे दक्षिणकी ओर इस इस नामवाले पदवीधर पुरुष विराजते हैं। कोई ग्रामोंके अधिपति हैं। नगरोंके अधिपति अमुक व्यक्ति हैं, इत्यादिक आप्तवाक्यके संस्कारोंको धारण करता हुआ पुरुष पुनः अन्यदा राजसभामें जाकर तिस ही प्रकार देखता है, और यह वही राजा है, यह स्त्री महादेवी है, यह सुवर्ण पीठपर बैठा हुआ मंत्री (दीवान) है, इत्यादि पहिली गृहीत की गयीं संज्ञायें और सन्मुख स्थित हो रहे संज्ञावाले जनोंके सम्बन्धकी प्रतिपत्ति कर लेता है। वैष्णव पुराणोंमें प्रसिद्ध हो रहे छह मुखोंसे युक्त कार्तिकेयको गुह समझना चाहिये। जिसके चार मुख होंय वह ब्रह्मा है, उन्नत नासिकावाला पक्षी तो विष्णु भगवान्का वाहन हो रहा गरुडपक्षी भागवत है। मिले हुये क्षीर (दूध) और जलके पृथग्भाव करनेमें दक्ष हो रही चोंचको धारनेवाला पक्षी हंस होता है। सात सात पत्तोंके गुच्छोंको धारनेवाला जो वृक्ष है, वह सप्तच्छद समझा जायगा। तीन तीन पत्तेवाला ढाक वृक्ष होता है। छह पैरवाला कीट भ्रमर है। छोटी ग्रीवावाला और ऐंचाताना पुरुष धूर्त होता है, इत्यादि वाक्योंके संस्कारको धार रहे पुरुषको तिस प्रकार राजा, कार्तिकेय, आदिकी प्रतिपत्ति होना यदि आगमज्ञान माना गया है, तो उन्हींके समान उपमानको भी आगमज्ञान निर्णय कर लो। उपमान नामका ही एक प्रमाणभेद मानना लाभकर नहीं है। क्योंकि हंस, सप्तच्छद आदिके आगमज्ञानोंसे गौके सादृश्यज्ञानरूप उपमानमें कोई विशेषता नहीं पाई जाती है। आप्तवाक्योंके धारण किये गये संस्कारोंद्वारा तिस प्रकार प्रतिपत्ति होना सर्वत्र एकसा है। कोई अन्तर नहीं है।

यदि पुनरुपमानोपमेयभावप्रतिपादनपरत्वेन विशिष्टादुपमानवाक्यादुत्पद्यमानं श्रुतात्प्रमाणान्तरमित्यभिनिवेशस्तदा रूप्यरूपकभावादिप्रतिपादनपरत्वेन ततोऽपि विशिष्टाद्रूपकादिवाक्यादुपजायमानं विज्ञानं प्रमाणान्तरमनुमन्यतां, तस्यापि स्वविषयप्रमितौ साधकतमत्वाविसंवादकत्वाभावादप्रमाणत्वायोगात् ।

यदि फिर नैयायिकोंका इस प्रकार आग्रह होय कि इव, यथा, समान, सदृश, तुल्य आदि शब्दोंकरके सूचित किये गये उपमान उपमेय भावको प्रतिपादन करनेमें तत्पर होनेके कारण विशेषताओंको धार रहे उपमान वाक्यसे उत्पन्न हो रहा उपमान प्रमाण तो श्रुतसे न्यारा प्रमाण ही है। गौ, गवय, मुख, चन्द, आदि उपमान उपमेयके प्रतिपादक वाक्योंसे अतिशय युक्त चमत्कारी ज्ञान होता है। तब तो हम जैन सिद्धान्ती कहेंगे कि रूपक अलंकार, उत्प्रेक्षा अलंकार, सहोक्ति अलंकार युक्त आप्तवाक्यों द्वारा कहे गये रूप्यरूपकभाव, उपमितउपमेयभाव आदिको प्रतिपादन करनेमें तत्परपना होनेके कारण उस उपमान वाक्यसे भी विशिष्ट हो रहे रूपक, उत्प्रेक्षा, अनन्वय, आदिके वाक्योंसे उत्पन्न हुआ विज्ञान भी न्यारा प्रमाण मानना पीछे आवश्यक पड जायगा। उन रूपक, समासोक्ति आदि वाक्योंद्वारा उत्पन्न हुये विज्ञानोंको भी अपने विषयकी चमत्कृतिजनक प्रमितिमें साधकतमपना है। विसंवादकपना नहीं है, अतः अप्रमाणपनेका अयोग है। अर्थात्—ये रूपक आदि वाक्योंसे उत्पन्न ज्ञान अवश्य प्रमाण हैं। सैकडों अर्थालंकारोंके एक देश उपमालंकारयुक्त वाक्य जन्य ज्ञानको यदि एक स्वतंत्र प्रमाण मान लिया जायगा तो शेष बहुभाग अलंकार युक्त वाक्योंसे उत्पन्न हुये ज्ञान भी न्यारा न्यारा प्रमाणपना चाहेंगे। सुयोग्य पिता अपने न्यायमार्गी पुत्रोंको धन बांटनेमें पक्षपात नहीं कर सकता है। अन्यथा धर्माधिकारी राजा द्वारा वह दण्डनीय होगा।

अथ रूपकाद्यलंकारभाजोऽपि वाक्यविशेषादुपजातमर्थज्ञानं श्रुतमेव प्रवचनमूलत्वाविशेषादिति मतिस्तदोपमानवाक्योपजनितमपि वेदनं श्रुतज्ञानमभ्युपगन्तव्यं तत एवेत्यलं प्रपंचेन।

इसपर नये ढंगसे नैयायिक यदि यों कहें कि रूपक, प्रतिवस्तु, उपमा, आदिक अलंकारोंको धारनेवाले भी वाक्य विशेषोंसे उत्पन्न हुआ अर्थज्ञान तो श्रुत ही है। क्योंकि प्रवचनको मूल कारण मानकर उत्पन्न हुआ ज्ञानपना उक्त ज्ञानोंमें विशेषताओंसे रहित है। जिनके प्रकृष्ट वचन हैं, उन आप्त पुरुषोंके द्वारा उच्चारित किये गये वचनोंके निमित्तसे रूपक आदि उपाधियोंसे युक्त ज्ञान हो जाते हैं। प्रकृष्टं वचनं यस्य ऐसा विग्रह करनेसे उक्त अर्थ निकलता है अथवा प्रकृष्टं वचनं प्रवचनं ऐसी वृत्ति करनेपर वाक्यद्वारा ही रूपक आदि सहित अर्थोंके ज्ञान हो जाते हैं। अर्थात्—" श्रुतस्कंधे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम् ", यहां मनरूपी बन्दरको श्रुतरूपी स्कन्ध (पीढि) में रमण कराओ। यह रूपक है, मुख मानू चंद्र ही है, आरोप्यआरोपक भावसे आक्रान्त हो रहे

पदार्थोंमें रूपक माना गया है। पृथक् पृथक् कहे हुये दो वाक्योंका जहां वस्तुस्वभाव करके सामान्यका कथन किया जाता है, वह प्रतिवस्तु–उपमा है, जैसे कि स्वर्गलोकका पालन करनेमें एक इन्द्र ही समर्थ है, तथैव छह खण्डोंके पालनेमें एक भरतचक्रवर्ती ही समर्थ है। इसी प्रकार गगन गगनके ही आकारवाला है। समुद्र समुद्रसरीखा ही गंभीर है, इत्यादिक अनन्वय अलंकारके उदाहरण हैं। इन अलंकारोंसे युक्त हो रहे कविवाक्योंको सुनकर जो ज्ञान होगा, वह शाब्दबोधमें अन्तर्भूत हो जायगा। इस प्रकार नैयायिकोंका मन्तव्य होनेपर तो हम जैन भी टकासा उत्तर देदेंगे कि तब तो गौके सदृश रोझ होता है। चंद्रमाके समान मुख है, इत्यादिक सादृश्य लक्ष्मीके उल्लासको धारनेवाले उपमान वाक्योंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान भी श्रुतज्ञान है। इस सिद्धांतको भी तिस ही कारण यानी प्रवचनरूप निमित्तसे उत्पन्न हुए होनेके कारण श्रुतज्ञानपना इष्ट कर लेना चाहिये। रूपक आदिको अंगूठा दिखाकर अकेले उपमानको ही न्यारा प्रमाण मानना निरापद मार्ग नहीं है। इस प्रकरणमें अधिक विस्तार करनेसे पूरा पडो, हमारा प्रयोजन सिद्ध होगया। अधिक कहना व्यर्थ है।

प्रतिभा किं प्रमाणमित्याह।

किसीका प्रश्न है कि कल मेरा भाई आवेगा, गेंहू मन्दा जायगा, चांदीका भाव चढ जायगा, इत्यादिक सत्य होनेवाले समीचीन विषयोंकी स्फूर्ति हो जाती है। सभाचतुर विद्वान् समयपर प्रतिभाद्वारा समयोचित कथन कर सभ्यजनोंके ऊपर विशेष प्रभाव डाल देते हैं। कविजन प्रतिभा बुद्धिके बलसे प्रसाद गुणयुक्त चमत्कारक अर्थको लिये हुये पदोंकी योजना शीघ्र कर लेते हैं। किन्हीं विद्वानोंने प्रतिभा ज्ञानको स्वतंत्र प्रमाण माना है। अब आप जैन बतलाइये, कि वह प्रतिभा तुम्हारे यहां कौनसा प्रमाण है? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज स्पष्ट समाधान कहते हैं।

उत्तरप्रतिपत्त्याख्या प्रतिभा च श्रुतं मता।
नाभ्यासजा सुसंवित्तिः कूटद्रुमादिगोचरा ॥ १२४ ॥

देश, काल, प्रकरण, अनुसार उत्तरकी शीघ्र प्रतिपत्ति हो जाना प्रतिभा नामका ज्ञान है। और वह प्रतिभा हमारे यहां श्रुत ही मानी गयी है। क्योंकि अभ्यन्तर या बहिरंगमें शब्दयोजना करनेसे वह प्रतिभा उत्पन्न हुयी है। अतः श्रुतज्ञानमें ही उसका अन्तर्भाव है। हां, शब्दोंके विना ही अत्यन्त अभ्याससे जो शीघ्र ही उत्तरप्रतिपत्तिस्वरूप अच्छा सम्वेदन हो जाय वह प्रतिभा तो श्रुत नहीं है। किन्तु मतिज्ञान है। जैसे कि शिखर, धान्यराशि, कोल्हन या वृक्ष, कुञ्जी, आदिको विषय करनेवाली प्रतिभा मतिज्ञान है। प्रज्ञा, मेधा, मनीषा, प्रेक्षा, प्रतिपत्ति, प्रतिभा, स्फूर्ति, आदिकज्ञान सब मतिज्ञानके विशेष हैं। हां, शब्दकी योजना लग जानेपर अर्थसे अर्थान्तरका ज्ञान

हो जानेके कारण वे श्रुतज्ञान बन जाते हैं । स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, आदि भी शब्दयोजना हो जानेपर श्रुतज्ञान कहे जाते हैं ।

उत्तरप्रतिपत्तिः प्रतिभा कैश्चिदुक्ता सा श्रुतमेव, न प्रमाणान्तरं, शब्दयोजना-सद्भावात् । अत्यन्ताभ्यासादाशुप्रतिपत्तिरशब्दजा कूटद्रुमादावकृताभ्यासस्याशुप्रवृत्तिः प्रतिभा परैः प्रोक्ता । सा न श्रुतं, सादृश्यप्रत्यभिज्ञानरूपत्वात्तस्यास्तयोः पूर्वोत्तरयोर्हि दृष्टदृश्यमानयोः कूटद्रुमयोः सादृश्यप्रत्यभिज्ञा झटित्येकतां परामृषन्ती तदेवेत्युपजायते । सा च मतिरेव निश्चितेत्याह ।

विशिष्ट क्षयोपशम अनुसार प्रथमसे ही उत्तरकी समीचीन प्रतिपत्ति हो जाना प्रतिभा है । किन्हीं लोगोंने उसको न्यारा प्रमाण कहा है । किन्तु हम जैनोंके सिद्धान्त अनुसार वह प्रतिभा श्रुतज्ञान ही कही गयी हुयी मानी गयी है । श्रुतसे न्यारे प्रमाणस्वरूप नहीं है । क्योंकि वाचक शब्दोंकी योजनाका सद्भाव है । किन्तु अत्यन्त अभ्यास हो जानेसे कृषकजनोंको पहाडकूट, वृक्ष, झोंपडी, आदिमें शब्द बोले बिना ही जो उनकी शीघ्र प्रतिपत्ति हो जाती है । तथा प्रवृत्तिका अभ्यास नहीं किये हुये भी पुरुषको झटिति, कूट, वृक्ष, जल, आदिमें उस प्रतिभाके अनुसार प्रवृत्ति हो जाती है । दूसरोंके द्वारा अच्छी कही गयी जो यह अनभ्यासी पुरुषकी प्रतिभा है, वह तो श्रुत नहीं है । क्योंकि वह प्रतिपत्ति तो सादृश्यप्रत्यभिज्ञान-रूप होनेके कारण मतिज्ञानस्वरूप है । पहिले कहीं देखे हुये और बीचमें अभ्यास छूट जानेपर भी नवीन देखे जा रहे कूट, द्रुम आदिमें सादृश्यप्रत्यभिज्ञानस्वरूप–प्रतिभा द्वारा प्रवृत्ति हो गयी है । पहिले कहीं देख लिये गये और अब उत्तरकालमें देखे जा रहे कूट, वृक्ष आदिके एकपनका परामर्श कराती हुयी " यह वही है " इस प्रकार झट सादृश्य प्रत्यभिज्ञा उपज जाती है । वह मतिज्ञान ही निश्चित कर दी गयी है । कोई कोई प्रतिभा अनुमान–मतिज्ञान स्वरूप भी हो जाती है । अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदिके अविनाभावी हेतुओंसे अन्नकी तेजी मन्दीको, प्रतिभाशाली व्यापारी जान लेते हैं । अतः प्रतिभाका मतिके भेदोंमें या श्रुतमें अन्तर्भाव हो जाता है । हां, ये वैसे ही कूट, वृक्ष आदिक हैं, ऐसा विषय करनेवाली प्रतिभा तो प्रत्यभिज्ञा है । इस बातका ग्रन्थकार स्पष्ट निरूपण करे देते हैं । सो सुन लो ।

सोऽयं कूट इति प्राच्योदीच्यदृष्टेक्षमाणयोः ।
सादृश्ये प्रत्यभिज्ञेयं मतिरेव हि निश्चिता ॥ १२५ ॥
शब्दानुयोजनात्त्वेषा श्रुतमस्त्वक्षवित्तिवत् ।
संभवाभावसंवित्तिरर्थापत्तिस्तथानुमा ॥ १२६ ॥

नामासंसृष्टरूपा हि मतिरेषा प्रकीर्तिता।
नातः कश्चिद्विरोधोऽस्ति स्याद्वादामृतभोगिनां॥ १२७॥

यह वही कूट है, इस प्रकार पूर्वकालवर्ती देखे गये और उत्तरकालवर्ती देखे जा रहे उसी एक पदार्थमें हो रही प्रतिभा तो एकत्व प्रत्यभिज्ञानस्वरूप है। तथा पूर्वकालमें देखे गये कूटके सदृश दूसरे कूटके वर्तमान कालमें देखनेपर सादृश्य विषयमें हो रही यह प्रतिभा तो सादृश्य प्रत्यभिज्ञानस्वरूप मतिज्ञान ही निश्चित कियी गयी है। किन्तु शब्दकी अनुयोजनासे उत्पन्न हुयी यह प्रतिभा तो श्रुतज्ञान है। ऐसा समझो जैसे कि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुये मतिज्ञान भी यदि शब्दकी योजनासे प्रप्लवित किये जाय तो वे श्रुतज्ञान हो जाते हैं। तिस ही प्रकार सम्भव प्रमाण, अभाव सम्वेदन, अर्थापत्ति प्रमाण, तथा अनुमान प्रमाण भी समझ लेना। अर्थात्—सौमें पचास हैं, पसेरी अन्नमें दो सेर अन्न अवश्य होंगे, ब्राह्मण है तो विद्या अवश्य होगी, इत्यादि ज्ञान सम्भवप्रमाण हैं। अष्टसहस्री ग्रन्थको पढ चुका छात्र देवागमस्तोत्रका ज्ञाता अवश्य हो चुका होगा। चार बज गये हैं, तो तीन अवश्य ही बज चुके होंगे, ऐसी प्रतिपत्तिओंको कोई कोई पौराणिक पण्डित न्यारा सम्भवप्रमाण मानते हैं। तथा प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शाब्द, अर्थापत्ति, इन पाच प्रमाणोंके द्वारा वस्तुका सद्भाव नहीं गृहीत होनेपर पुनः जिस प्रमाणसे उस प्रतियोगी वस्तुका अभाव साध दिया जाता है, वह अभावप्रमाण है। अभावके आधारभूत वस्तुका ग्रहण कर और प्रतियोगीका स्मरणकर इन्द्रियोंकी अपेक्षा विना ही मनसे नास्तित्वका ज्ञान हो जाता है। मीमांसक अभाव प्रमाण को न्यारा छठा प्रमाण मानते हैं। वेदके कर्त्ता और सर्वज्ञके अभावको वे अभाव प्रमाणसे साधते हैं। तथा अर्थापत्तिको भी उन्होंने न्यारा प्रमाण माना है, छह प्रमाणोंसे जान लिया गया अर्थ जिस पदार्थके विना नहीं हो सके, उस अदृष्ट अर्थकी कल्पना करानेवाले ज्ञानको अर्थापत्ति कहते हैं। वह्निके कार्य दाहका प्रत्यक्ष कर अग्निमें दहनशक्तिका प्रत्यक्षपूर्वक अर्थापत्तिसे ज्ञान कर लिया जाता है। दूसरी देशसे देशान्तरको प्राप्त हो जानारूप हेतुसे सूर्यकी गतिका अनुमान कर अनुमानपूर्वक अर्थापत्तिद्वारा सूर्यमें गमनशक्तिका ज्ञान हो जाता है। यद्यपि सूर्यका गमन अधिक देरतक देखने पर चक्षु इन्द्रियसे जाना जा सकता है। किंतु कौन ऐसा ठलुआ बैठा है, जो कि घंटों ही सूर्यको देखता फिरे तथा चक्षु इन्द्रिय करके सूर्यको देखनेपर चकाचौंध हो जानेसे सूर्यका देखना अति कष्टसाध्य भी है। तीसरी श्रुतज्ञान (आगमज्ञान) पूर्वक अर्थापत्ति इस प्रकार है कि मोटा या स्थूल वक्षःस्थलवाला देवदत्त दिनमें नहीं खाता है, इस आप्तवाक्यको सुनकर देवदत्तके रात्रिभोजनका ज्ञान अर्थापत्तिसे कर लिया जाता है। चौथी दृश्यमान गवयके साथ सादृश्यको धारनेवाले गौमें ज्ञानग्राह्यताका परिज्ञान हो जाता है। यानी सादृश्यविशिष्ट गौ या गोविशिष्ट—सादृश्य तो उपमानसे जान लिया गया है। गौके समान गवय होता है। केवल सास्ना (गलकंबल) रोझमें

नहीं है, किन्तु उपमान ज्ञान द्वारा प्राप्यपना गौ या सादृश्यमें है; यह तो अर्थापत्ति से ही जाना जा सकता है। एवं पहिली अर्थापत्तिसे जान ली गयी शद्बमें वाचक सामर्थ्यसे अनादि अनन्त कालतक शद्बव्यवहारकी प्रसिद्धिके लिये शद्बका नित्यपना द्वितीय अर्थापत्तिसे जाना जाता है। यह पांचवीं अर्थापत्तिपूर्वक अर्थापत्ति है। अभाव प्रमाण द्वारा घरमें जीवित चैत्रका अभाव जानकर चैत्रका बाहर रहना छठी अभावप्रमाणपूर्वक अर्थापत्तिसे जाना जाता है। इस प्रकार यह अर्थापत्ति प्रमाण है। तथा अविनाभावी हेतुसे साध्यका ज्ञान होना अनुमानप्रमाण माना गया है। सम्भव, अभाव, अर्थापत्ति, अनुमान, इतिहास, उपमान, आदिको विद्वानोंने न्यारा न्यारा स्वतंत्र प्रमाण माना है। किन्तु ये सब शद्बयोजनासे रहित होते हुये मतिज्ञान माने गये हैं। और नामके संसर्गसे युक्त होते हुये ये सम्पूर्ण सम्यग्ज्ञान श्रुतज्ञान भले प्रकार कह दिये जाते हैं। इस कारण अनेकान्त नीति अनुसार स्याद्वादरूप अमृतका भोग करनेवाले जैनोंके यहां कोई भी विरोध नहीं आता है। अन्य धर्मोंसे द्वेष रखनेका विषबीज जिन्होंने खा लिया है, उन्हें तो सर्वत्र विरोध दीखेगा। यहां तो अपेक्षाओंसे अनेक धर्मआत्मक पदार्थोंकी सिद्धि प्रमाणोंद्वारा प्रतिपन्न हो चुकी है। एक धर्मका दूसरे धर्मके साथ यदि उपलम्भ नहीं होता तो विरोध होना सम्भव था। अन्यथा नहीं। अमृतका भोजन करनेवालोंके साथ विरोध करनेवाला एकान्तवादी स्वयं मारा जायगा।

नामासंसृष्टरूपा प्रतिभा संभववित्तिरभाववित्तिरर्थापत्तिः स्वार्थानुमा च पूर्वं मतिरित्युक्ता। नामसंसृष्टा तु सम्प्रति श्रुतमित्युच्यमाने पूर्वापरविरोधो न स्याद्वादामृतभाजां सम्भाव्यते, तथैव युक्त्यागमानुरोधात्। तदेवं पूर्वोक्तया मत्या सह श्रुतं परोक्षं प्रमाणं सकलमुनीश्वराविश्रुतमुन्मूलितनिःशेषदुर्मतनिकरमिह तत्त्वार्थशास्त्रे समुदीरितमिति परीक्षकाश्चेतसि धारयन्तु स्वप्रज्ञातिशयवशादित्युपसंहरन्नाह।

नामयोजनाके संसर्गसे रहित-स्वरूप हो रहीं प्रतिभा बुद्धि, सम्भववित्ति, अभाववित्ति, अर्थापत्ति, स्वार्थानुमिति, प्रत्यभिज्ञानस्वरूप उपमिति, तर्कमति आदिक बुद्धियोंको पहिले "मतिस्मृति-" आदि सूत्रमें मतिज्ञानस्वरूप ऐसा कह दिया गया है। और अब वाचकशद्ब नामोंके संसर्गसे युक्त हो रहीं प्रतिभा आदिक बुद्धियोंको श्रुतपना ऐसा कहा जा रहा है। स्याद्वाद रूपी अमृतका सेवन करनेवाले अनेकान्तवादी जैनोंके यहां इस प्रकार पूर्ववर्ती और पश्चिमवर्ती ग्रन्थमें कोई विरोध दोष नहीं सम्भावित होता है। क्योंकि तिस प्रकार ही युक्ति और आगमके अनुरोधसे निर्णीत हो रहा है। अर्थात्—प्रतिभा, सम्भव, आदिकज्ञान तो शद्बयोजना नहीं कर देनेपर हुये मतिज्ञान हैं। और शद्बयोजनाके साथ हो रहे प्रतिभा आदिकज्ञान तो श्रुत हैं। तिस कारण इस प्रकार पूर्वमें कही गयी मतिके साथ यह इस सूत्रमें कहा गया श्रुतज्ञान ये दोनों अविशद प्रकाशी होनेसे परोक्ष प्रमाण हैं। यह सिद्धान्त सम्पूर्ण मुनीश्वरोंमें प्रसिद्ध है। मतिज्ञान और

श्रुतज्ञानके भेदप्रभेदोंकी भले प्रकार सिद्धि हो जानेसे सम्पूर्ण प्रतिवादियोंके दूषित खोटे मतोंका समुदाय निराकृत कर दिया है । ऐसे परोक्ष प्रमाणका " आद्ये परोक्षम् " और " मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ता " यहां से लेकर " श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् " यहांतक तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथमें भले ढंगसे श्री उमास्वामी महाराजने निरूपण किया है । परीक्षक जन इस बातको अपनी दूरगामिनी प्रज्ञा बुद्धिके चमत्कारकी अधीनतासे चित्तमें धारण करलो । महात्मा पुरुषोंके प्रसाद पानेका अवसर सर्वदा नहीं मिलता है । परम गुरुओंके आशीर्वाद भाग्यवानोंको ही कदाचित् प्राप्त होते हैं। तीसरे आह्निकके अन्तमें इसी बातका उपसंहार प्रकरण संकोच करते हुए श्रीविद्यानंद आचार्य महाराज आशीर्वादके समान स्पष्टवाणी बोलते हैं ।

इति श्रुतं सर्वमुनीशविश्रुतं । सहोक्तमत्यात्र परोक्षमीरितं ।
प्रमाणमुन्मूलितदुर्मतोत्करं । परीक्षकाश्चेतसि धारयन्तु तम् ॥१२८॥

प्रामाणिक सम्पूर्ण ऋषीश्वरोंमें प्रख्यात हो रहे श्रुतज्ञानको यहां तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथमें मतिज्ञानके साथ रखते हुए दोनों ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं । इस प्रकार युक्ति और आगमके अनुसार उमास्वामी महाराजने वखान दिया है । तभी तो मति और श्रुत इन दो परोक्ष प्रमाणोंकरके शब्दाद्वैतवादी, आदि विद्वानोंके दूषित मतोंके समुदायको लीलामात्रसे उखाडकर फेंक दिया है । इस कारण डंकेकी चोटके साथ परीक्षा कर चुके । हम परीक्षक सज्जनोंके प्रति साग्रह सूचना देते हैं कि ऐसे प्रमाण प्रसिद्ध उस परोक्ष प्रमाणको चित्तमें निर्धारण करो जिससे कि अज्ञान अन्धकारका विनाश होकर ज्ञानसूर्यका उदय होवे ।

इति तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे प्रथमस्याध्यायस्य तृतीयमाह्निकम् ।

इस प्रकार परोक्ष प्रमाणके प्रकरणकी समाप्ति करते हुये श्री विद्यानन्द स्वामीके तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार ग्रन्थमें प्रथम अध्यायका तीसरा प्रकरणोंका समुदायस्वरूप आह्निक परिपूर्ण हो चुका है ।

इस सूत्रका सारांश ।

इस सूत्रमें संक्षेपसे प्रकरण यों दिये गये हैं कि प्रथम ही परोक्ष प्रमाणके दूसरे भेदकी प्रतिपत्ति करानेके लिये श्रुतके निमित्त कारण और भेदप्रभेदोंके निर्णयार्थ सूत्रका प्रारम्भ करना आवश्यक बताया गया है । श्रुतके प्रतिपादक शब्दोंकी अपेक्षा श्रुतज्ञानके भी दो आदिक भेद हो जाते हैं । श्रुतज्ञान ऐसा स्पष्ट शब्द नहीं कहकर सूत्रकार महाराजका केवल श्रुत प्रयोग करना साभिप्राय है । छह अंग या सहस्र शाखावाले वेदकी सिद्धि वैसी नहीं हो पाती है, जैसी कि मीमांसकोंने मानी है । सम्यक् शब्दका अधिकार चला आ रहा है । सूत्रमें कहे गये एक एक पदकी सफलता और व्यभिचारनिवृत्तिको दिखलाते हुये शब्द आत्मक श्रुतको केवलज्ञान पूर्वक भी पुष्ट किया है । यह बात भव्यजीवोंके बडे लाभकी है । सम्पूर्ण इन्द्रियोसे हुये सभी मतिज्ञानरूप निमित्तोंसे श्रुत हो जाता है । मतिज्ञान पूर्वक न होनेसे स्मृति आदिक ज्ञान श्रुत नहीं हैं । श्रुतका " अस्पष्टतर्कण " लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है । शब्दस्वरूप श्रुतको गौण रूपसे प्रमाणपना इष्ट कर लिया है । इसके आगे मीमांसकोंके माने हुये नित्यश्रुतका प्रत्याख्यान करना प्रारम्भ किया है,

कारणोंके द्वारा शद्बकी उत्पत्ति नहीं मानकर अभिव्यक्ति माननेमें अनेक दोष आते हैं। एक देशसे या सकल देशसे अभिव्यक्ति माननेपर शद्बको अंशसहितपना प्राप्त होता है। कर्त्ताका अस्मरण हेतु असिद्ध है। अन्य वादियोंको वेदके कर्त्ताका स्मरण हो रहा है। वेदाध्ययन वाच्यपना हेतु समीचीन नहीं है। वेदका उच्चारण करते हुये ऊपर नीचे हाथ उठाकर नमाकार " त्वं " आदि अनर्थक शद्बोंके उच्चारणकी लीला दिखलाना केवल बालविलास है। सम्भव है मंत्र प्रयोगोंमें उदात्त, अनुदात्त, के उच्चारणसे शद्बोंका शुद्धप्रयोग क्वचित् हो जाय, किन्तु एतावता शद्बस्वरूप वेद अनादि अपौरुषेय नहीं हो सकता है। स्वर्गमें पढकर मर्त्यलोकमें पढाना ऐसी बातें केवल श्रद्धागम्य हैं। परीक्षाकी कसोटीपर कसनेसे छिन्न भिन्न हो जायगी। नैयायिक, वैशेषिक, बौद्ध, जैन तो वेदोंके कर्त्ताको अभीष्ट करते हैं। इस प्रकार अनेक युक्तियोंसे वेदके श्रुतपनेका निराकरण कर गुणवान् वक्ताके द्वारा कहे गये वाक्योंमें ही बाधारहितपन आदिक सिद्ध किये हैं। श्री समन्तभद्र भगवान्की नीति अनुसार सर्वथा एकान्त वादियोंका निराकरण कर श्री अकलंकदेवके मन्तव्यका विचार किया है। यहां युक्तियोंसे अकलंक सिद्धान्तको श्रीविद्यानन्द आचार्यने साध लिया है। शब्दानुविद्धवादियोंका मत प्रशस्त नहीं है। वैखरी आदिक भेद तो जैनसिद्धान्त अनुसार माननेपर ही सधते हैं, अन्यथा नहीं। जगत्को शब्द ब्रह्मका विवर्त मानना प्रमाणोंसे बाधित है। द्रव्यवाक् और भाववाक्में सम्पूर्ण भेद प्रविष्ट हो जाते हैं। उपमान प्रमाण भी श्रुतमें गर्भित हो जाता है। शब्दयोजनासे सहित हो रहे, स्थूलपन आदिके आपेक्षिक ज्ञान श्रुतज्ञान ही हैं। उपमा, रूपक, तुल्ययोगिता, आदिसे आक्रान्त हो रहे वाक्योंसे उत्पन्न हुये ज्ञान श्रुतज्ञान है। उत्तरकी प्रतिपत्ति हो जाना रूप प्रतिभा या सम्भव, अर्थापत्ति, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदिक सभी ज्ञान इन शब्दोंकी योजना लग जानेपर श्रुत हो जाते हैं। क्योंकि अर्थसे अर्थान्तरका ज्ञान हो जाना यह श्रुतका लक्षण घटित हो जाता है। हां, नामका संसर्ग नहीं लगते हुए उत्पन्न हो रहे, उक्त ज्ञान तो मतिज्ञानस्वरूप हैं। यह पक्का सिद्धान्त समझो। स्वपरकल्याणको चाहनेवाले परीक्षकोंकरके पदार्थका निर्णय हो चुकनेपर उसको हृदयमें धार लेना चाहिये। ऐसी पूज्य पुरुषोंकी आज्ञा है। इस प्रकार ज्ञानोंका निरूपण करते समय मतिश्रुतरूप परोक्षज्ञानोंका विशद कथन करनेवाले तृतीय आह्निकको श्रीविद्यानंद आचार्यने प्रसन्नतापूर्वक पूर्ण किया है।

द्रव्येक्षानाद्यनन्तो निखिलमतिनिदानोऽङ्गबाह्याङ्गभेदो।
निर्दोषो दुःखतप्तासुमदवनपटुर्निष्कलङ्काशिषेद्धः॥
विद्यानन्दाकलङ्कोक्त्यमृतकिरणभृत्प्रातिभाद्यैः कलाढ्यो।
भावाद्येकान्तवाणीतिमिरततिभिदे द्योततां वै श्रुतेन्दुः॥ १॥

इति श्लोकवार्तिक भाषाटीकायां तत्त्वार्थचिन्तामणौ श्रुतज्ञानविवरणं समाप्तम्।

श्युमास्वामिसमन्तादिभद्रयोः सूक्तयो भृशम्।
सर्वज्ञसम्प्रदायाप्ताः प्रामाण्यात्ताश्चकासतु॥ १॥

——x——

तत्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारांतर्गत श्लोकसूची.

— तृतीय खंड —

86

———x———

यदि प्रकृतज्ञानके उत्पादक कारणोंका निर्दोषपना अन्य ज्ञानसे जाना जायगा और उस अन्य ज्ञानकी भी निर्दोष कारणोंसे हुई उत्पत्तिको तीसरे ज्ञानसे जाना जायगा तब तो तीसरे ज्ञानकी प्रमाणताको पुष्ट करनेके लिये निर्दोष कारणोंसे उसका जन्यपना जानना आवश्यक पडेगा। इस प्रकार चौथे पांचवें आदि ज्ञानोंकी आकांक्षा बढ जानेसे अनवस्था दोष होगा। क्योंकि हेतुओंके दोषरहित-पनको जाननेवाले ज्ञानकी भी प्रमाणता तभी आवेगी, जब कि उसके भी स्वकीय कारणोंमें दोषरहित-पनेका ज्ञान हो जाय और उस ज्ञानकी भी प्रमाणता निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न हुये अन्य ज्ञान द्वारा हो सकेगी। यही धारा असंख्य ज्ञानोंतक चली जायगी। नहीं जाना गया ज्ञान तो अन्यका ज्ञापक होता नहीं। बहुत दूर भी जाकर अनवस्थाके निवारणार्थ यदि किसी एक ज्ञानको उस निर्दोष कारणोंसे जन्यपनेका ज्ञान न होते हुये भी प्रमाणपना इष्ट कर लोगे तो उस दूरवर्त्ती ज्ञानके समान ही सबसे पहिले हुये ज्ञानको भी निर्दोष कारणोंसे जन्यपनके ज्ञान विना ही वह प्रमाणता क्यों न हो जावे? अतः प्रमाणके स्वरूपमें अदुष्ट कारणोंसे आरब्धपना यह विशेषण अव्यभिचारीपनसे सफल नहीं है। अर्थात्–व्यभिचारदोषकी निवृत्ति कर देता तब तो सफल हो सकता था। अन्यथा नहीं। यहां तो निर्दोष कारणोंका जानना ही दुर्गम हो रहा है। अतः वह प्रमाणका स्वरूप कथन करनेवाला भी नहीं माना जा सकता है।

एवं न बाधवर्जितत्वमदुष्टकारणारब्धत्वं लोकसंमतत्वं वा प्रमाणस्य विशेषणं सफलमपूर्वार्थवत्। स्वार्थव्यवसायात्मकत्वमात्रेण सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वात्मना प्रमाणत्वस्य वा व्यवस्थितेरपि परीक्षकैः प्रतिपत्तव्यम्।

इस प्रकार बाधवर्जितपना, निर्दोष कारणोंसे बनायापन, लोकमें भले प्रकार प्रतिष्ठित होरहा पन ये प्रमाणके लक्षणमें मीमांसकों द्वारा कहे गये विशेषण सफल नहीं हैं, जैसे कि अपूर्वार्थ विशेषण व्यर्थ है। नैयायिक लोगोंने भी क्वचित् लोकसम्मतपना प्रमाणका विशेषण अभीष्ट किया है। किन्तु लोकमें कैई प्रमाणविरुद्ध रीतियां भी प्रचलित हो रही हैं, अतः वे विशेषण व्यर्थ हैं। केवल स्व और अर्थका निश्चय करा देना स्वरूप करके अथवा बाधक प्रमाणोंके असम्भवका भले प्रकार निश्चित हो जाना स्वरूप करके भी प्रमाणपनेकी व्यवस्था है। यह परीक्षकोंको श्रद्धान करने योग्य है।

स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति केचन।
यतः स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुं नान्येन शक्यते ॥ ९५ ॥
तेषां स्वतोप्रमाणत्वमज्ञानानां भवेन्न किम्।
तत एव विशेषस्याभावात्सर्वत्र सर्वथा ॥ ९६ ॥

प्रमाणके लक्षणका निर्णय कर अब प्रमाणपनेकी ज्ञप्ति, उत्पत्ति और कार्यका विचार चलाते हैं। जैनसिद्धान्तके अनुसार अभ्यास अवस्थामें प्रमाणपनेकी ज्ञप्ति स्वतः मानी गयी है। अर्थात्— ज्ञानको जानते समय ही उसमें रहनेवाले प्रमाणपनको भी जान लिया जाता है। ज्ञानको प्रमाणको, और प्रामाण्यको जाननेका एक ही समय है। प्रतिभास भी एक ही है। और अनभ्यास दशामें ज्ञानका प्रमाणपना दूसरे ज्ञापक कारणोंसे जाना जाता है। ज्ञानके प्रवृत्तिरूप कार्यमें भी यही व्यवस्था है। अप्रमाणपनकी भी यही दशा है। हा, प्रमाणपन और अप्रमाणपनकी उत्पत्ति तो अन्य कारणोंसे ही होती है। मीमासकोंके यहा प्रमाणपना स्वतः औत्सर्गिक माना गया है। और संशय आदिमें अप्रमाणपना अपवादरूप होकर अन्य कारणोंसे उत्पन्न हुआ माना है। ऐसा कोई यानी मीमासक कह रहे हैं कि सम्पूर्ण प्रमाणोंको प्रमाणपना स्वतः ही प्राप्त (ज्ञात) हो जाता है। अर्थात्—सामान्य ज्ञानके कारणोंसे ही प्रमाणपना बन जाता है। अतिरिक्त हेतुओंकी आवश्यकता नहीं पडती है। कारण कि स्वरूपसे नहीं विद्यमान हो रही शक्ति तो अन्य कारणोंसे नहीं की जा सकती है। मिट्टीमे भी जलधारण शक्ति है। वह घट अवस्थामें व्यक्त हो जाती है। ऐसे ही ज्ञानमें प्रमाणपनेकी शक्ति विद्यमान है। ऐसा नहीं है कि पहिले सामान्यज्ञान उत्पन्न होवे और पीछे कारणोंसे उस ज्ञानमें प्रमाणपना चुपका दिया जाय। अब आचार्य कहते हैं कि उन मीमासकोंके यहा तिस ही कारण संशय आदि अज्ञानोंका अप्रमाणपना भी स्वतः क्यों न हो जावे। क्योंकि सर्व ज्ञानोंमे सभी प्रकारसे कोई विशेषता नहीं है। क्या अप्रमाणपनेकी शक्ति पीछेकी जा सकती है ! अर्थात्—नहीं। जैसे प्रमाणपना स्वतः पूर्वसे ज्ञात हुआ विद्यमान हैं, तैसे ही अप्रमाणपना भी पहिलेसे ही विद्यमान रहना चाहिये था। फिर मीमासक अप्रमाणपनेको परसे उत्पन्न हुआ या जाना गया क्यों कहते हैं ? बताओ। जैनसिद्धान्तके अनुसार तो दोनों प्रमाणपन और अप्रमाणपन परसे ही पैदा होते हैं। हम ऐसा नहीं मानते है कि ज्ञानके सामान्य कारणोंसे पहिले ज्ञान उत्पन्न होय और पीछे निर्दोष कारणोंसे प्रमाणपना और सदोष कारणोंसे अप्रमाणपना उनमें जडादिया जाय, किन्तु निर्दोष या गुणवान् कारणोंसे पहिलेसे ही प्रमाणात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। और सदोष कारणोंसे पूर्वसे ही अप्रमाणज्ञान बनता है, जैसे कि चन्द्रविमान पहिले ही से काले, नीले पीले और शुक्लवर्णके रत्नोंसे बना हुआ है। कविजन उसको कलंकलाञ्छन कहते हैं। और सूर्य एक वर्णके रत्नोंसे ही पहिले ही से अनादि निष्पन्न हुआ है। संतान क्रमसे आये हुए जीवोंके उच्च आचरण और नीच आचरणरूप उच्च गोत्र और नीच गोत्रमें भी यही प्रक्रिया है।

यथार्थबोधकत्वेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम्।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते ॥ ९७ ॥